प्रेमचंद

क़लम का सिपाही



लेखक की कुछ और रचनाएँ

उपन्यास
- बीज
- नागफनी का देश
- हाथी के दाँत

कहानी संग्रह
- इतिहास
- कस्बे का एक दिन
- भोर से पहले
- मठघरे
- गीली मिट्टी

अनुवाद
- अग्निदीक्षा
- आदिविद्रोही
- रवीन्द्रनिबंधमाला

आलोचना
- नयी समीक्षा

यात्रा
- सुबह के रंग

प्रेमचंद

कलम का सिपाही

अमृतराय

हंस प्रकाशन
इलाहाबाद



मूल्य — बीस रुपया

प्रकाशक — हंस प्रकाशन इलाहाबाद

मुद्रक — सम्मेलन मुद्रणालय इलाहाबाद

आवरण सज्जा — कृष्ण चंद्र श्रीवास्तव

प्रथम संस्करण — प्रेमचंद स्मृति दिवस १९६२

देश की जवान पीढ़ी को

चित्र-सूची

भूमिका

पाँच साल के अपने परिश्रम का यह फल आपके हाथों में देते हुए मुझे बड़ी खुशी हो रही है।

यह काम अब से बहुत पहले होना चाहिए था (जबकि उनका आँखों-देखा हाल कहनेवाले कुछ और लोग मिल जाते) और अच्छा होता अगर दूसरे किसी ने किया होता। लेकिन पता नहीं क्यों जीवनी लिखने से हमारे लोग कतराते हैं। सभी उन्नत देशों में यह विधा बहुत आगे बढ़ी हुई है पर हमारी भाषा इसमें बिल्कुल कंगाल है। या तो हम जानते ही नहीं कि अच्छी जीवनी होती क्या है या कुछ इस तरह की गाँठ हमारे लिखनेवालों के मन में पड़ी हुई है कि जीवनी साहित्य की कोई सृजनात्मक विधा नहीं है—या फिर भय कोरा भय पथ की दुर्गमता का। जो भी बात हो यह एक अटल सच्चाई है कि हमारे यहाँ जीवनियों का एक सिरे से अकाल है, जबकि

योरप की भाषाओं में यह चीज़ आसमान पर पहुँची हुई है। कोई बड़ा साहित्यकार नहीं है, कलाकार नहीं है, वैज्ञानिक नहीं है, जननायक नहीं है जिसकी कई-कई जीवनियाँ एक से एक अच्छी न हों। स्टिफ़न ज़्वाइग जितना अपनी कहानियों के बल पर ज़िन्दा रहेगा उतना ही बाल्ज़ाक की अपनी जीवनी के बल पर ज़िन्दा रहेगा। आन्द्रे मोरुआ की लिखी हुई शली की जीवनी 'एरियल' किसने नहीं पढ़ी? अर्विंग स्टोन की लिखी हुई वैन गो की जीवनी 'लस्ट फ़ॉर लाइफ़' किसने नहीं पढ़ी? एमिल लुडविग का नाम किसने नहीं सुना जो सिर्फ़ अपनी जीवनियों के बल पर योरप के साहित्य में अपनी एक ख़ास जगह बनाये हुए है? हर साल सैकड़ों हज़ारों की तादाद में जीवनियाँ निकलती आती हैं। एक ही आदमी की पच्चीसों जीवनियाँ मिल सकती हैं। अच्छी से अच्छी प्रतिभाएँ उनको लिखती हैं, पढ़नेवाले उपन्यासों से भी ज़्यादा चाव से उनको पढ़ते हैं। लेकिन हमारा तो ढंग ही निराला है। हमारे यहाँ तो अभी बेचारी जीवनी अछूत की तरह ड्योढ़ी के उस पार खड़ी है—अन्दर आने की मनाही है!

इन पाँच बरसों में मेरे कितने ही शुभचिन्तकों ने मुझसे पूछा होगा—अमृत जी, आप अपनी कोई चीज़ नहीं लिख रहे हैं?

कभी तो मुझे कुछ झुँझलाहट सी महसूस हुई, लेकिन अक्सर मैं मुस्कराकर रह गया। मैं कहना चाहता था कि यह मेरी ही चीज़ है जो मैं लिख रहा हूँ कि यह भी एक उपन्यास ही है जिसका नायक प्रेमचंद नाम का एक आदमी है, फ़र्क़ बस इतना ही है कि यह आदमी मेरे दिमाग़ की उपज नहीं है, हाड़ मांस का एक पुतला है जो इस धरती पर डोल चुका है और समय की पगडंडी पर अपने पैरों के कुछ निशान छोड़ गया है, उसको मारने-जिलाने की जैसे मन चाहे तोड़ने-मरोड़ने की आज़ादी मुझे नहीं है, घटना प्रसंगों का आविष्कार करने की छूट मुझे नहीं है, कितने ही मोटे-मोटे रस्सों से [illegible] अच्छी तरह (या बुरी तरह) खूँटे से बँधा हुआ हूँ। लेकिन मुझे उसकी शिकायत नहीं है क्योंकि मैं जानता हूँ कि पूर्ण स्वच्छन्दता

उपन्यास की कहानी कहते समय भी नहीं रहती वहाँ भी कहानी कहनेवाला जीवन के खूँटे से प्रतीति के खूँटे से बँधा ही रहता है। एक न एक संयम-अनुशासन हर सृजन के साथ लगा हुआ है। लेकिन सृजन के सुख में उससे कोई बाधा नहीं उपस्थित होती क्योंकि जहाँ तक मैं समझ पाया हूँ सृजन का असल सुख इसमें नहीं है कि कथाकार अपने कल्पना-लोक में अबाध विचरण कर सके बल्कि इसमें कि वह वह वास्तविकता को अपनी कल्पना से स्फूर्त और संचित कर सके मूक-बधिर तथ्यों को वाणी दे सके जीवन के सन्दर्भ में अपने चरित्रों का देख सके, पहचान सके खोज सके। वह सुख मुझे यहाँ भी मिला और भरपूर मिला।

सच तो यह है कि यह काम हाथ में लेते ही यही चीज मेरे लिए पहली चुनौती बनी। वह चीज क्या है उसका पता लगाना, जिससे यह अति-सामान्य जीवन एक विशेष व्यक्ति का जीवन बनता है। कोई चमक-दमक यहाँ नहीं है न कोई नाटकीय तत्त्व न कोई रोचक जीवन-प्रसंग न प्रेम और साहस के बीच कोई संघर्ष—नितान्त बँधा-टका जीवन एक गरीब स्कूल मास्टर का या वैसे ही गरीब लेखक-संपादक का। फिर भी कुछ तो है जो विशेष है। वह क्या है? उसी को जीवन के सन्दर्भ में देख सकने और दिखा सकने में मुझको रचनाकार का सच्चा सुख मिला है।

किताब लिखनी जब शुरू हुई तब कितनी ही बार मेरे हाथ पैर फूल गये। मैं समझ ही न पाता था कि मैं इसमें लिखूँगा क्या किताब आगे बढ़े तो कैसे बढ़े। लेकिन तब इसी पीड़ा और उद्वेग में से अचानक यह सूत्र मेरे हाथ लगा कि इस व्यक्ति के जीवन को उसके देश और समाज के जीवन से जोड़कर जो देखा तब जैसे सारे बंद दरवाजे एकाएक खुल गये और इस अति-सामान्य जीवन का एक नया आयाम एक नयी अर्थवत्ता मिल गयी। उसी का बखान का यत्न मैंने किया है। सफलता मुझे मिली या नहीं मिली या कितनी मिली इसका निर्णय तो आप करेंगे। हाँ यह मैं जरूर कहना चाहता हूँ कि इस काम को इतनी देर से शुरू करने के पीछे यहाँ मेरी अपनी मजबूरियाँ

रही है वहाँ यह भी एक बड़ा कारण रहा है कि मैं तभी इस काम को उठाना चाहता था जब मुझे अपने तईं यह विश्वास हो कि मैं अलग हटकर, थोड़ा निरपेक्ष होकर इस व्यक्ति को देख सकता हूँ।

बहुत बार लेखक की अपनी डायरियों और जर्नलों से जीवनीकार को बहुत मदद मिल जाया करती है। प्रेमचंद को डायरी या जर्नल लिखने की आदत न थी। इस तरह जीवनी की सामग्री का एक बड़ा कोष एक सिरे से खत्म हो गया।

दूसरा एक कोष पत्रों का होता है। वह भी बहुत कुछ नष्ट हो गया क्योंकि पत्रों को सँभालकर रखने की आदत न इधर मुंशीजी को थी न उधर दूसरों को। तो भी जो कुछ चिट्ठियाँ भाग्यवश बची रह गयीं जिनमें सबसे बड़ा खजाना 'ज़माना' के सम्पादक मुंशी दयानरायन निगम को लिखी हुई चिट्ठियों का है (जिसके मिलने की दिलचस्प कहानी मैंने यथास्थान लिखी है) उसका मैंने पूरा-पूरा इस्तेमाल किया है।

चिट्ठियों के अलावा मुझे सबसे ज़्यादा मदद लोगों के संस्मरणों से मिली है—संस्मरण जो पुस्तक रूप में प्रकाशित हैं या पत्र-पत्रिकाओं में बिखरे हुए हैं या आकाशवाणी से जब-तब प्रसारित किये गये। उन सब बंधुओं के प्रति मैं अपना आभार प्रकट करता हूँ। और आभार प्रकट करता हूँ भाई कैलाशनाथ श्रीवास्तव के प्रति जिनकी निष्ठा और लगन से ही मुंशीजी की खोयी हुई सर्विस बुक मिली जिससे मुझे अपने काम में बहुत मदद मिली। इतना ही नहीं गोरखपुर के जुबिली इंटर कालेज (प्रेमचंद के समय के नार्मल स्कूल) के प्रधान आचार्य की हैसियत से कैलाशनाथ जी ने प्रेमचंद की स्मृति को जीवित रखने के लिए बहुत कुछ किया जो सबके लिए निश्छल तथा और लगन का एक आदर्श प्रस्तुत करता है। उन्होंने मेरे संकेत पर पुराने रजिस्टरों की मदद से प्रेमचंद के छात्रों को प्रश्न तालिका भेजकर उनसे बयान मँगाये। उनमें से बहुतेरे अब इस दुनिया में नहीं हैं लेकिन जो हैं उन्होंने बड़ी मुस्तैदी से अपने बयान भेजे जिनसे मुंशीजी के गोरखपुर-कालीन

जीवन के संबंध में कुछ बड़े उपयोगी और प्रामाणिक तथ्य मिले। मैं उन सबके प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ।

श्री मुरारीलाल जी केडिया के प्रति भी मैं अपना आभार प्रकट करता हूँ जिनके निजी संग्रह रामरत्न पुस्तकालय में मुझे प्रेमचंद की कुछ पाण्डुलिपियाँ और इण्टर-बी० ए० आदि परीक्षाओं के सर्टिफ़िकेट देखने को मिले।

उर्दू पत्रिकाओं में खोयी हुई मुंशीजी की कहानियों और लेखों के संकलन में मुझे प्रोफ़ेसर एहतेशाम हुसेन और डाक्टर क़मर रईस से जो मदद मिली उसके लिए मैं उनके प्रति भी अपना आभार प्रकट करता हूँ।

कहना न होगा कि मुझे अपने काम में सबसे ज़्यादा मदद माता शिवरानी देवी से मिली है उनकी पुस्तक से और उनकी सदेह उपस्थिति से लेकिन इसके लिए मैं उनका आभार मानूँ ऐसी धृष्टता मुझसे न होगी। सब कुछ तो उन्हीं का है।

हाँ अपने गुरुदेव प्रोफ़ेसर सतीशचंद्र देब और भाई महादेव साहा का आभार मुझे ज़रूर मानना चाहिए। उनका अंकुश न होता तो इस काम में अभी और भी शायद कुछ देर लगती। उनकी चिट्ठियाँ और बातें मुझे बराबर बहुत बल देती रही हैं।

और भी कितने ही बंधुओं ने कितने ही रूपों में मुझको उपकृत किया है। मैं उन सबका हृदय से आभारी हूँ।

—अमृतराय

क़लम का सिपाही

दक्षिण के एक हिन्दी-प्रेमी चन्द्रहासन प्रेमचंद से मिलने काशी आये। पता लगाकर शाम के वक़्त उनके मकान पर पहुँचे। बाहर थोड़ी देर ठहरकर चीं-चूं करने पर भी कोई जवाब न आया तो दरवाज़े पर आये और झाँककर भीतर कमरे में देखा। एक आदमी जिसका चेहरा बड़ी-बड़ी मूँछों में खोया हुआ-सा था, फ़र्श पर बैठकर तन्मय भाव से कुछ लिख रहा था। आगंतुक ने सोचा प्रेमचंदजी शायद इसी आदमी को बोलकर लिखाते होंगे। आगे बढ़कर कहा — मैं प्रेमचंदजी से मिलना चाहता हूँ। उस आदमी ने झट नज़र उठाकर ताज्जुब से आगंतुक की ओर देखा, क़लम रख दी और ठहाका लगाकर हँसते हुए कहा — बड़े-बड़े मुलाक़ात करेंगे क्या! बैठिए और मुलाक़ात कीजिए

बस्ती के ताराशंकर आज़ाद मुंशीजी से मिलने लखनऊ पहुँचे। उन दिनों वह अमीनुद्दौला पार्क के सामने एक मकान में रहते थे। मकान के नीचे ही आज़ाद साहब को एक आदमी मिला धोती-बनियान पहने। आज़ाद ने उससे पूछा — मुंशी प्रेमचंद कहाँ रहते हैं, आप बता सकते हैं? उस आदमी ने कहा — चलिए मैं आपको उनसे मिला दूँ।

वह आदमी आगे-आगे चला आज़ाद पीछे-पीछे। ऊपर पहुँचकर उस आदमी ने आज़ाद को बैठने के लिए कहा और अंदर चला गया। ज़रा देर बाद कुर्ता पहनकर निकला और बोला — अब आप प्रेमचंद से बात कर रहे हैं

पटने में एक साहित्यिक गोष्ठी है। मुंशीजी को उसका सभापति बनाया गया है। आज वह पटना आनेवाले हैं। बहुत-से लोग उनके स्वागत को स्टेशन पर पहुँचे हुए हैं लेकिन मज़े की बात यह है कि उनमें से किसी ने उनको पहले देखा नहीं है, बस एक तसवीर देखी है उसी का सहारा है।

एक्सप्रेस आयी। देख लिया। कहीं नहीं।

पंजाब मेल आयी। देख लिया। नहीं नहीं।

इतवार की शाम को बैठक थी और सबेरे छः बजे के क़रीब एक और एक्सप्रेस आती थी। अब बस यही आख़िरी आसरा था।

ट्रेन आयी लगी और चली गयी। सैकड़ों आदमी उतरे और चढ़े पर प्रेमचंद नहीं आये नहीं आये। गोष्ठीवालों के प्राण नहों में समा गये — अब क्या करेंगे कैसे लोगों को मुँह दिखायेंगे।

उदास सूरत मुसाफ़िरख़ाने की तरफ़ बढ़े। देखा सीढ़ी के पास एक अधेड़ सज्जन जिनके बाल कुछ सफ़ेद हो चले थे और जो सफ़र की थकावट से कुछ खिन्न-से हो रहे थे गुमसुम खड़े हैं और कुली उनका ट्रंक सर पर और बिस्तर हाथ में लिये पूछ रहा है — बाबू कहाँ चलें?

इस मुसाफ़िर को उन लोगों ने कल रात ही को पंजाब मेल से उतरते देखा था मगर पहचानते कैसे

कोई विशेषता जो नहीं है उसमें।

अपने आस-पास ऐसा एक भी चिह्न वह नहीं रखना चाहता जिससे पता चले कि वह दूसरे साधारण जनों से ज़रा भी अलग है। कोई तिलक-त्रिपुण्ड से अपने विशेषत्व की घोषणा करता है कोई रेशम के कुर्ते और उत्तरीय के बीच से झाँकनेवाले अपने पुरवर्ष से कोई अपनी साज-सज्जा के अनोखेपन से कोई अपनी किसी ख़ास अदा या ढब से यहाँ तक कि एक यत्न-साधित, सतर्क सरलता भी होती है जो स्वयं एक प्रदर्शन या आडम्बर बन जाती है शायद सबसे अधिक विरक्तिकर — देखो इतना बड़ा इतना नामी आदमी होकर मैं कितनी सादगी से रहता हूँ! प्रेमचंद की सरलता सहज है। उसमें कुछ तो इस देश की पुरानी मिट्टी का संस्कार है, कुछ उनका नैसर्गिक शील है, संकोच है कुछ उनकी गहरी जीवनदृष्टि है और कुछ उनका सच्चा आत्मगौरव है जो किसी तरह के आत्म-प्रदर्शन या विज्ञापन को उनके नज़दीक घटिया बना देता है। नहीं वह कस्तूरी मृग नहीं है जिसे अपने भीतर की कस्तूरी का पता न हो। उसे पता है कि उसके भीतर ऐसा भी कुछ है जो मूल्यवान् है, उसका अपना है नितान्त अपना मौलिक विशेष। वही उसका मोती है माणिक है। कोई इस

मोती-माणिक को उसके उपयुक्त रत्नजटित-मंजूषा में रखता है यह आदमी उसे टीन के बकस में रखता है — इसलिए नहीं कि वह उसकी क़दर कम करता है बल्कि इसलिए कि बहुत ज़्यादा करता है। टीन के बकस में वह मोती ज़्यादा सुरक्षित है। यहाँ से कौन उसे चुरा सकता है, किसका ध्यान जायेगा उस पर! इसीलिए तो अपनी धोती और मैली-सी एक फतुही पहने, तीसरे दर्जे के मुसाफ़िरख़ाने में बैठा हुआ-सा, टीन के बकस में अपना वह मोती जतन से छिपाये वह इतनी बेफ़िक्री से आगे-पीछे, दायें-बायें सबका नाम-धाम पूछता है, उनके सुख-दुख, हारी-बेमारी, बूढ़े-बूढ़े, रोज़ी-रोज़गार की बातें करता है और कोई हँसी की बात हो तो इतने ज़ोर से ठहाका लगाता है कि आस-पास बैठे हुए लोग चौंक पड़ते हैं और दीवारें हिल जाती हैं। शायद उसकी इस बेलौस हँसी में कहीं एक हल्की-सी चुहल भी छिपी हुई है — देखा, कैसा बुद्धू बनाया इन सबों को! कोई भाँप भी नहीं सका कि मेरे पास इस टीन के बकस में ऐसा एक मोती भी था जिससे दुनिया ख़रीदी जा सकती थी!

उसके ख़मीर में बच्चों जैसी शरारत का भी ख़ासा एक पुट है जो अक्सर उसके लिखने में उभर आता है, इसलिए कभी-कभी लगता है कि अपनी इस सादगी में शायद उसे लुका-छिपी के खेल का भी कुछ मज़ा मिलता है!

जिस निहायत साधारण, रूखी-सूखी दिनचर्या से उसकी ज़िन्दगी का साँचा बना था उसको देखते हुए शायद उस मोती के पानी को, उसकी चमक को बराबर बनाये रखने का दूसरा कोई उपाय भी न था। यह खुरदरी निश्छल सादगी शायद एक कवच थी जो प्रकृति ने स्वयं उसको बनाकर दिया था ताकि उस मोती की चमक कभी मन्द न हो — वैसे ही जैसे बादाम की मीठी गिरी को बचाये रखने के लिए उस पर एक कड़ा खोल चढ़ाना पड़ा।

ज़रा देखिए यह बयान जिसमें मुंशी जी अपने एक दोस्त को अपने हालात नोट करा रहे हैं —

तारीख़ पैदाइश संवत् १९३७। बाप का नाम मुंशी अजायब-लाल। सुकूनत मौज़ा मढ़वाँ, लमही मुत्तसिल पांडेपुर, बनारस। इब्तदाअन् आठ साल तक फ़ारसी पढ़ी, फिर अंग्रेज़ी शुरू की।

पंजाब मेल आयी। देख लिया। कहीं नहीं।

इतवार की शाम को बैठक थी और सबेरे छः बजे के क़रीब एक और एक्सप्रेस आती थी। अब बस यही आख़िरी आसरा था।

ट्रेन आयी, लगी और चली गयी। सैकड़ों आदमी उतरे और चढ़े पर प्रेमचंद नहीं आये, नहीं आये। गोष्ठीवालों के प्राण नहों में समा गये — अब कहाँ जायेंगे, कैसे लोगों को मुँह दिखायेंगे।

उदास, क्षुब्ध, मुसाफ़िरख़ाने की तरफ़ बढ़े। देखा, सीढ़ी के पास एक अधेड़ सज्जन, जिनके बाल कुछ सफ़ेद हो चले थे और जो सफ़र की थकावट से कुछ खिन्न-से हो रहे थे, गुमसुम खड़े हैं और कुली उनका ट्रंक सर पर और बिस्तर हाथ में लिये पूछ रहा है — बाबू, कहाँ चलें?

इस मुसाफ़िर को उन लोगों ने कल रात ही को पंजाब मेल से उतरते देखा था, मगर पहचानते कैसे!

कोई विशेषता भी नहीं है उसमें।

अपने आस-पास ऐसा एक भी चिह्न वह नहीं रखना चाहता जिससे पता चले कि वह दूसरे साधारण जनों से ज़रा भी अलग है। कोई तिलक-त्रिपुण्ड से अपने विशेषत्व की घोषणा करता है, कोई रेशम के कुर्ते और उत्तरीय के बीच से झाँकनेवाले अपने ऐश्वर्य से, कोई अपनी साज-सज्जा के अनोखेपन से, कोई अपनी किसी ख़ास अदा या ढब से, यहाँ तक कि एक यत्न-साधित स्वयं सरलता भी होती है जो स्वयं एक प्रदर्शन या आडम्बर बन जाती है, शायद सबसे अधिक विरक्तिकर — देखो इतना बड़ा इतना नामी आदमी होकर मैं कितनी सादगी से रहता हूँ! प्रेमचंद की सरलता सहज है। उसमें कुछ तो इस देश की पुरानी मिट्टी का संस्कार है, कुछ उसका नैसर्गिक शील है, संकोच है, कुछ उसकी गहरी जीवनदृष्टि है और कुछ उसका सच्चा आत्मगौरव है जो किसी तरह के आत्म-प्रदर्शन या विज्ञापन को उसके नज़दीक घटिया बना देता है। नहीं, वह कस्तूरी मृग नहीं है जिसे अपने भीतर की कस्तूरी का पता न हो। उसे पता है कि उसके भीतर ऐसा भी कुछ है जो मूल्यवान् है, उसका अपना है, नितान्त अपना, मौलिक, विशेष। वही उसका मोती है, माणिक है। कोई इस

मोती-माणिक को उसके उपयुक्त रत्नजटित-मंजूषा में रखता है, यह आदमी उसे टीन के बक्स में रखता है — इसलिए नहीं कि वह उसकी क़दर कम करता है बल्कि इसलिए कि बहुत ज़्यादा करता है। टीन के बक्स में वह मोती ज़्यादा सुरक्षित है। वहाँ से कौन उसे चुरा सकता है, किसका ध्यान जायेगा उस पर! इसीलिए तो वर्दमी धोती और मैली-सी एक फतुही पहने तीसरे दर्जे के मुसाफ़िरख़ाने में बैठा हुआ-सा टीन के बक्स में अपना वह मोती जतन से छिपाये वह इतनी बेफ़िक्री से आगे-पीछे दायें बायें, सबका नाम-गाम पूछता है उनके सुख-दुख हारी-बेगारी सूखे-बूड़े रोज़ी-रोज़गार की बातें करता है और कोई हँसी की बात हो तो इतने ज़ोर से ठहाका लगाता है कि आस-पास बैठे हुए लोग चौंक पड़ते हैं और दीवारें हिल जाती हैं। शायद उसकी इस बेलौस हँसी में कहीं एक हल्की-सी चुहल भी छिपी हुई है — देखा कैसा बुद्धू बनाया तुम सबों को! कोई भाँप भी नहीं सका कि मेरे पास इस टीन के बक्स में ऐसा एक मोती भी था जिससे दुनिया ख़रीदी जा सकती थी!

उसके ख़मीर में बच्चों वाली शरारत का भी ख़ासा एक पुट है जो अक्सर उसके लिखने में उभर आता है इसलिए कभी-कभी लगता है कि अपनी इस सादगी में शायद उसे लुका-छिपी के खेल का भी कुछ मज़ा मिलता है!

जिस नितान्त साधारण, बँधी-रुँधी दिनचर्या से उसकी ज़िन्दगी का ढाँचा बना था उसको देखते हुए शायद उस मोती के पानी को, उसकी चमक को बराबर बनाये रखने का दूसरा कोई उपाय भी न था। यह गहरी निश्छल सादगी शायद एक कवच थी जो प्रकृति ने स्वयं उसको बनाकर दिया था ताकि उस मोती की चमक कभी मन्द न हो — जैसे ही जैसे बादाम की मीठी गिरी को बनाये रखने के लिए उस पर एक कड़ा खोल चढ़ाना पड़ा।

ज़रा देखिए यह मसौदा जिसमें मुंशी जी अपने एक दोस्त को अपने हालात नोट करा रहे हैं —

'तारीख़ पैदाइश संवत् १९३७। बाप का नाम मुंशी अजायबलाल। सुकूनत मौज़ा मढ़वाँ लमही मुत्तसिल पांडेपुर, बनारस। इब्तदाअन् आठ साल तक फ़ारसी पढ़ी फिर अंग्रेज़ी शुरू की।

बनारस के कालेजिएट स्कूल से एण्ट्रेंस पास किया। वालिद का इंतक़ाल पन्द्रह साल की उम्र में हो गया वालिदा सातवें साल गुज़र चुकी थीं। फिर तालीम के सीग़े में मुलाज़िमत की। सन् १९०१ में लिटररी ज़िन्दगी शुरू की फिर छः सतरें इसके बारे में कि कब कौन किताब लिखी किस्सा ख़तम पैसा हज़म। और जब आत्मकथा लिखने पर आये तो पहले सब को आगाह कर दिया—

मेरा जीवन सपाट समतल मैदान है जिसमें कहीं-कहीं गढ़े तो हैं पर टीलों पर्वतों घने जंगलों गहरी घाटियों और खँडहरों का स्थान नहीं है। जो सज्जन पहाड़ों की सैर के शौक़ीन हैं उन्हें तो यहाँ निराशा ही होगी।

मानो कि जिसे आना हो समझ बूझकर आये।

और सच तो यह है कि अगर ऐसी कुछ बात ही न आ पड़ती तो शायद उस व्यक्ति ने अपने बारे में इतना भी न लिखा होता। कोई पूछता तो शायद यह कह देता मेरी ज़िन्दगी में ऐसा है ही क्या जो मैं किसी को सुनाऊँ। बिलकुल सपाट समतल ज़िन्दगी है वैसी ही जैसी देश के और करोड़ों लोग जीते हैं। एक सीधा-सादा गृहस्थी के पचड़ों में फँसा हुआ तंगदस्त मुदर्रिस जो सारी ज़िन्दगी क़लम घिसता रहा इस उम्मीद में कि कुछ आसूदा हो सकेगा मगर न हो सका। उसमें क्या है जो मैं किसी को सुनाऊँ। मैं तो नदी किनारे खड़ा हुआ नरकुल हूँ हवा के थपेड़ों से मेरे अन्दर भी आवाज़ पैदा हो जाती है। बस इतनी-सी बात है। मेरे पास अपना कुछ नहीं है जो कुछ है उन हवाओं का है जो मेरे भीतर बजीं। मेरी कहानी तो बस उन हवाओं की कहानी है उन्हें जाकर पकड़ो। मुझे क्यों तंग करते हो।

१

बनारस से आजमगढ़ जानेवाली सड़क पर, शहर से करीब चार मील दूर, एक छोटा-सा गाँव है लमही मौजा मढ़वाँ। पन्द्रह-बीस घर कुर्मियों के, दो-एक कुम्हार, एकाध ठाकुर, तीन-चार मुसलमान (जिनमें पुरुषों में मथुरा और स्त्रियों में रमसेई, सुनरा और कौशिल्या-जैसे नाम हैं!) और नौ-दस घर कायस्थों के—यही इस गाँव की कुल आबादी है।

यों तो इक्का-दुक्का कायस्थ भी अपने हाथ से हल चला लेते हैं लेकिन बस इक्का-दुक्का। खेती-किसानी कुर्मियों का काम है। कायस्थों की शान में इससे बट्टा लगता है। वे यहाँ के अकेले पढ़े लिखे लोग हैं और अपनी इसी क़ाबलियत के बल पर अभी कुछ बरस पहले तक गाँव पर राज करते रहे हैं। मगर अब कुछ तो कुर्मियों में शिक्षा के साथ अपने अधिकारों की चेतना जागने के कारण और कुछ कायस्थों की आपसी फूट के कारण उनके राज्य की चूलें हिल गयी हैं और उनका दबदबा काफ़ी कम हो गया है। ताहम आज भी सबसे ज़्यादा पढ़ा-लिखा वर्ग कायस्थों का ही है। उनमें वकील हैं मुख़्तार हैं पेशकार और अहलमद हैं, मुहर्रिर हैं, स्टाम्पफ़रोश हैं, पटवारी हैं, स्कूल के मुदर्रिस हैं। कहना न होगा कि उन्होंने ज़माने के साथ तरक़्क़ी की है क्योंकि एक वक़्त था कि उनमें यहाँ-वहाँ बस एक-दो डाकमुंशी और ज़्यादातर डाकिये थे। मगर वह पुरानी बात है।

सुनते हैं कि अब से कोई दो सौ बरस पहले एक कोई लाला टीकाराम थे। वह क्या थे कहाँ के कहाँ जिये कहाँ मरे—यह सब कुछ भी ठीक नहीं मालूम। लेकिन संभव है कि वह लमही के पास ऐरे नामक गाँव के रहे हों क्योंकि इतना मालूम है कि उनकी तीसरी पुश्त में मुंशी गुरसहाय लाल पटवारी होकर ऐरे से लमही आये।

लाला टीकाराम के दो बेटे थे लाला मनियार सिंह और लाला महराज सिंह। मनियार सिंह शायद लावल्द मर गये। महराज सिंह के दो बेटे हुए (बेटियाँ किसकी

हुई नहीं मालूम क्योंकि बेटियों के बारे में शजरा खामोश है।)—राम लाल और मैकू लाल। मैकू लाल के छः बेटे हुए, जिनमें से चौथे गुरसहाय लाल थे। यही गुरसहाय लाल पटवारी मुकर्रर होकर लमही आये। उनके साथ ही उनके भतीजे हरनारायन लाल आये और फिर इन्हीं दो लोगों से वह सारे कायस्थ घराने पैदा हुए जो इस वक्त लमही में मौजूद हैं।

मुंशी गुरसहाय लाल के चार बेटे हुए—कौलेश्वर लाल, महावीर लाल, अजायब लाल और ललितनारायन लाल।

मुंशी जी ठेठ कायस्थ और ठेठ पटवारी आदमी थे। पढ़े लिखे उतना ही थे जितना कि पटवारी के लिए जरूरी था मगर कामकाज में किसी से भी भर पटकर न थे। आने के साथ ही उन्होंने अपना मकान बनवाने के लिए गाँव के एक छोर पर जमीन हासिल की और एक बड़ा-सा कच्चा मकान बनवाया।

पटवारी में अगर अक्ल हुई तो उसे गाँव का राजा ही समझना चाहिए एक तरह से—जैसे चाहे स्याह-सफ़ेद करे, कोई उसका हाथ पकड़नेवाला नहीं। धीरे-धीरे मुंशी गुरसहाय लाल के पास साठ बीघे की अपनी काश्तकारी हो गयी जो उन्होंने अपने दूसरे बेटे महावीर लाल के नाम लिखवा दी। यों भी घर में खाने-पीने की कमी न थी। पीने की बात कहना जरूरी है क्योंकि मुंशी गुरसहाय लाल बहुत खूब पीनेवाले थे। पैसा जरूरत भर घर में था ही, गाँव में ही होती थी, दो आने की एक बोतल मिलती थी और वही दो आने का सेर भर कलिया।

पैसा तो उन्होंने ठर्रे की उन बोतलों में शायद कुछ खास नहीं बहाया लेकिन हाँ नशे की हालत में वह अपनी बीवी की दुर्गत अक्सर किया करते थे जैसा कि शराबी आम तौर पर करते हैं।

लड़कों को अपनी माँ के साथ बाप का यह बुरा बर्ताव बहुत खलता लेकिन भीतर ही भीतर कुढ़कर घुट जाते। एक महावीर ही ऐसे थे जिनमें इतना दम-खम था कि चाहते तो एक बार पिल पड़ते। अपने नाम के अनुरूप वही अपने सब भाइयों में सबसे हट्टे-कट्टे लम्बे-तड़ंगे [illegible] जवान थे। उनके बारे में कहा जाता है कि जब गाँव में कोई बैल नाथना होता और कोई उसको वश में न कर पाता तो महावीर का आवाहन किया जाता। महावीर फ़ौरन धोती का फेंटा कसकर कमर में बाँधते हुए मौके पर पहुँच जाते। पाँच-सात-दस मिनट तक बैल से उनकी कुश्ती होती फिर वह बैल को जमीन पर गिराकर उसके ऊपर चढ़ बैठते और चढ़े बैठे रहते जब तक कि उसको नाथने की क्रिया पूरी न हो जाती, मजाल थी कि मिनक जाय!

यह भी कुछ उनके नाम का ही प्रताप था कि महावीर अपनी माँ के अनन्य भक्त थे। अजायब लाल भी अपनी माँ को प्यार करते ही थे लेकिन वह शरीर से

और फ़क़त मन से भी दुर्बल थे। महावीर अक्खड़ किसान थे शरीर और मन दोनों से मज़बूत। शायद इसीलिए बाप ने अपनी कुल साठ बीघे काराज़ी महावीर के ही नाम लिखवायी थी क्योंकि लोक और ज़मीन के बारे में मशहूर है कि ये दोनों उसी आदमी के पास रहती हैं जिसका शरीर ताक़तवर और लाठी मज़बूत होती है।

महावीर लाल अपने बाप के बहुत न सही लेकिन जब मुंशी गुरसहाय लाल अपनी बीबी को पीट चलते और वह बेचारी बेज़बान गाय की तरह चुपचाप पिटती रहती तो महावीर से अपनी माँ की यह दुर्दशा देखी न जाती और वह गुस्से से काँपते हुए जाकर दोनों हाथों से अपने बाप की गर्दन दबोच लेते और दाँत पीसकर कहते—मत करता है

मगर ख़ैर, वैसी कोई दुर्घटना नहीं हुई और मुंशी गुरसहाय लाल जब भी मरे अपनी मौत मरे। लेकिन हाँ महावीर उनको पकड़कर बाहर घसीट ज़रूर ले जाते। आये दिन यह नाटक घर में हुआ करता लेकिन मारपीट बन्द नहीं हुई और इसी तरह पटवारगिरी करते ठर्रा पीते और बीबी को धुनकते हुए मुंशी गुरसहाय लाल पचपन-साठ की उम्र तक जिये।

और जब वह मरे तो पट्टीदारों ने खासकर मुंशी हरसरायन लाल ने जो अपने बाबा के साथ ही ऐरे से लमही आये थे और जिन्हें शायद मन ही मन इस बात का मलाल था कि पटवारगिरी खुद उनको क्यों नहीं मिली (जिसके तुफ़ैल में आज वह साठ बीघे काराज़ी महावीर लाल के नाम लिखी हुई थी और जो ग़रीब की आँखों में काँटे की तरह गड़ रही थी) महावीर लाल की पट्टी पढ़ाना शुरू किया कि अगर तुम अपनी ज़मीन से इस्तीफ़ा दे दो तो आज अपने बाप की जगह पटवारी बन सकते हो।

महावीर लाल के बड़े भाई कौलेसर लाल बीस बरस के होकर पहले ही इस दुनिया से सिधार चुके थे और पटवारगिरी के सीग़े में उन दिनों ऐसा कुछ क़ायदा था कि बेटा अगर पटवारियान पास हो तो बाप की गद्दी पर पहला हक़ उसी का होता था। महावीर लाल यों ही कुछ अटर पटर पढ़ थे और पटवारियान पास करना तो दूर रहा उसके पास फटके तक नहीं थे। लेकिन पट्टीदारों ने जब पट्टी पढ़ायी तो महावीर लाल को जिनकी अक़्ल भी उतनी ही मोटी थी यह बात जँच गयी और फिर उन्होंने किसी से पूछा न जाँचा गये और अपनी साठ बीघे ज़मीन से इस्तीफ़ा दे आये। मुंशी हरसरायन लाल की आँख का काँटा दूर हो गया। पटवारगिरी न मिलनी थी न मिली।

अब चारों भाइयों के बीच कम छः बीघा ज़मीन बची जो मुंशी गुरसहाय लाल अपने पोते यानी महावीर के बेटे बलदेव लाल के नाम अलग से लिख गये थे।

खेती-किसानी के नाम से पूरे खानदान में अब बस इतनी ही ज़मीन बच रही थी। सब लड़के खेती से लग जायें यह शायद मुंशी गुरसहाय लाल का मंशा भी न था। कायस्थ की जात नौकरी के लिए है। और फिर पैसा भी तो नौकरी में ही मिलता है, खेती में तो बस मट्ठा हाथ आता है। खेती के लायक़ शरीर भी भगवान ने एक को ही दिया था महाबीर को। तो फिर ठीक है एक बेटा खेती करेगा बाक़ी तीनों नौकरी करेंगे। दोनों हाथ में लड्डू रहेगा। अनाज भी इफ़रात पैदा होगा और पैसा भी इफ़रात आयेगा।

महाबीर खेती में लग गये और बाक़ी तीनों यानी कौलेसर, अजायब और उदितनरायन ने इतना पढ़ लिया कि नौकरी कर सकें थोड़ी-सी उर्दू-फ़ारसी और थोड़ी-सी अँग्रेज़ी।

यह एक संयोग ही था कि भाइयों में सबसे बड़े कौलेसर लाल डाकमुंशी बने। फिर क्या कहना था कुछ रोज़ बाद उन्होंने अजायब लाल को भी डाकमुंशी बनवा दिया। फिर अजायब लाल ने यही नेकी अपने से छोटे उदितनरायन के साथ की और इस तरह तीनों भाई देखते-देखते डाकमुंशी बन गये। कहना मुश्किल है कि क्यों सब भाइयों को एक के बाद एक डाकमुंशियाने का ही चसका रोग लगा। कुछ तो शायद इसलिए कि इस काम में दूसरे किसी महकमे से कम घिसाई करनी पड़ती थी और कुछ शायद इसलिए कि यह काम साफ़-सुथरा था। ऊपरी आमदनी की गुंजाइश तो नहीं के बराबर थी मगर इज़्ज़त काफ़ी थी। [illegible] थी भी समझिये डाकमुंशी गाँव का एक ख़ास आदमी था। उसी की मार्फ़त गाँववालों का सम्बन्ध बाहर की दुनिया से रहता था। कमाने के लिए लोग बाहर जाते ही रहते। कभी उनकी चिट्ठी आती और जब बहुत दिन न आती तो यहाँ से उनको चिट्ठी भेजनी होती। कभी कुछ रुपया मनिआर्डर से आता। डाकमुंशी इन सब का हाकिम था और जहाँ अब से सौ बरस पहले सारे गाँव में दो ही चार आदमी अपने दस्तख़त बना सकते रहे हों डाकमुंशी का काम लिफ़ाफ़ा-पोस्टकार्ड बाँटने से ही ख़त्म न हो जाता था बहुत बार चिट्ठियाँ भी उसी को लिखनी पड़ती थीं। ख़तनवीसी का यही तक़ाज़ा था और इसके एवज़ में गाँव के लोग थोड़ी-बहुत घी-मट्ठा साग-सब्ज़ी रस-गुड़ भी पहुँचा दिया करते।

मुंशी अजायब लाल ने यों भी तबीयत नेक पायी थी। लीक पकड़कर चलनेवाले आदमी थे लेकिन उस लीक पर अगर उनकी चाल से किसी का कुछ भला होता हो तो उसमें कभी पीछे न रहते। घर-बाहर सब जगह वह अपनी बिसात भर दूसरों की मदद करते। जैसे किसान हों किसानी थी दस रुपये पर नौकर हुए थे चालीस तक पहुँचते-पहुँचते रिटायर हो गये।

उनके बड़े भाई कौलेश्वर लाल जवानी में ही मर गये थे। उनकी विधवा स्त्री अपने बच्चे को लेकर बहुत दिन घर पर ही रही। लेकिन फिर उनके साथ भी वही हुआ जो सच या झूठ हमारे समाज में प्रायः हर विधवा युवती के साथ होता है। रिश्ते के एक भतीजे को लेकर उनकी बदनामी हुई, महावीर लाल की पत्नी ने अभूतपूर्व मनोयोग से अपनी जिठानी के चारित्रिक स्खलन का अनुसंधान और प्रचार किया—यहाँ तक कि बेचारी गाँव छोड़कर चुनार चली गयीं और वहाँ दो-एक सेठों की लड़कियों को पढ़ाकर (थोड़ा-बहुत जैसी वह जानती थीं) अपनी जिन्दगी के दिन काटने लगीं।

उनके लड़के मोती लाल को भी अपने पिता की ही आयु मिली। वह भी अपनी स्त्री की गोद में एक साल का बेटा और तीन लड़कियाँ छोड़कर तीस बरस की ही उमर में इस दुनिया से उठ गये। मुंशी अजायब लाल ने अपनी उस छोटी कमाई में से बरसों अपनी इस भतीज-बहू को पाँच रुपया महीना दिया। इसी तरह अपने चाचा ईश्वरीलाल की विधवा स्त्री को भी—जिन्हें सब कदियई चाची कहते थे—उन्होंने आजीवन दो रुपया महीना दिया।

उनके छोटे भाई उदितनरायन लाल, जिन्हें मुंशी अजायब लाल ने ही डाकमुंशी बनवाया था, डाकखाने का रुपया ग़बन करने के जुर्म में पकड़े गये। उनको छुड़ाने के लिए बहुत कोशिश-पैरवी हुई मगर बेकार, और उन्हें सात बरस की सजा हो गयी। सरकारी रक़म एक हज़ार रुपया, बड़ी-बड़ी मुश्किलों से ज़मानतों ने भरी। अब सवाल उनके बाल-बच्चों की परवरिश का था। मुंशी अजायब लाल इसमें भी सबसे आगे-आगे रहे। उदितनरायन के घर में उनकी पत्नी थी, एक लड़का था और दो लड़कियाँ। लड़का बलदेवनरायन सबसे बड़ा था और बिलकुल आवारा था। घर से भाग गया और सदा के लिए लापता हो गया। बड़ी लड़की की शादी उदितनरायन कर चुके थे, वह अपने घर रहती थी। छोटी लड़की अभी छोटी थी। उदितनरायन सजा काटकर घर आये ज़रूर लेकिन शर्म के मारे उनकी आँख न उठती थी और फिर जो वह ग़ायब हुए तो ऐसे कि दुबारा किसी ने उनका मुँह न देखा। उनके बाल-बच्चों की देख रेख मुंशी अजायब लाल ने ज़िन्दगी भर की। छोटी लड़की का ब्याह भी उन्होंने किया।

उनके व्यक्तित्व में असाधारण कुछ भी न था, बस इतना था कि आदमी भले थे, छल-कपट से दूर रहते थे। उनके माँ-बाप के बारे में जो कुछ पता चलता है उससे मालूम होता है कि उनकी प्रकृति में अपने पिता से अधिक अपनी माँ का अंश था जो कि एक शान्त, साध्वी स्त्री थीं। उन्होंने कभी अपनी पत्नी के साथ वैसा दुर्व्यवहार नहीं किया जैसा उनके पिता अपनी पत्नी के साथ आये दिन किया करते

उनके बड़े भाई कौलेसर लाल जवानी में ही मर गये थे। उनकी विधवा स्त्री अपने बच्चे को लेकर बहुत दिन घर पर ही रहीं। लेकिन फिर उनके साथ भी वही हुआ जो सच या झूठ हमारे समाज में प्रायः हर विधवा युवती के साथ होता है। रिश्ते के एक भतीजे को लेकर उनकी बदनामी हुई, महावीर लाल की पत्नी ने अभूतपूर्व मनोयोग से अपनी जेठानी के चारित्रिक स्खलन का अनुसंधान और प्रचार किया—यहाँ तक कि बेचारी गाँव छोड़कर चुनार चली गयीं और वहाँ दो-एक सेठों की लड़कियों को पढ़ाकर (थोड़ी-बहुत कैथी वह जानती थीं) अपनी ज़िन्दगी के दिन काटने लगीं।

उनके लड़के मोती लाल को भी अपने पिता की ही आयु मिली। वह भी अपनी स्त्री की गोद में एक साल का बेटा और तीन लड़कियाँ छोड़कर तीस बरस की ही उमर में इस दुनिया से उठ गये। मुंशी अजायब लाल ने अपनी उस छोटी कमाई में से बरसों अपनी इस ग़रीब-बहू को पाँच रुपया महीना दिया। इसी तरह अपने चाचा ईसरीलाल की विधवा स्त्री को भी जिन्हें सब करियई चाची कहते थे उन्होंने आजीवन दो रुपया महीना दिया।

उनके छोटे भाई उदितनरायन लाल जिन्हें मुंशी अजायब लाल ने ही डाकमुंशी बनवाया था डाकख़ाने का रुपया ग़बन करने के जुर्म में पकड़े गये। उनको छुड़ाने के लिए बहुत कोशिश-पैरवी हुई मगर बेकार, और उन्हें सात बरस की सज़ा हो गयी। सरकारी रक़म एक हज़ार रुपया बड़ी-बड़ी मुश्किलों से बरसों में भरी। अब सवाल उनके बाल-बच्चों की परवरिश का था। मुंशी अजायब लाल इसमें भी सबसे आगे-आगे रहे। उदितनरायन के घर में उनकी पत्नी थी एक लड़का था और दो लड़कियाँ। लड़का जगतनरायन सबसे बड़ा था और बिलकुल आवारा था। घर से भाग गया और सदा के लिए लापता हो गया। बड़ी लड़की की शादी उदितनरायन कर चुके थे वह अपने घर रहती थी। छोटी लड़की अभी छोटी थी। उदितनरायन सज़ा काटकर घर आये ज़रूर लेकिन शर्म के मारे उनकी आँख न उठती थी और फिर जो वह ग़ायब हुए तो ऐसे कि दुबारा किसी ने उनका मुँह न देखा। उनके बाल-बच्चों की देख रेख मुंशी अजायब लाल ने ज़िन्दगी भर की छोटी लड़की का ब्याह भी उन्होंने किया।

उनके व्यक्तित्व में असाधारण कुछ भी न था बस इतना था कि आदमी भले थे छल-कपट से दूर रहते थे। उनके माँ-बाप के बारे में जो कुछ पता चलता है उससे मालूम होता है कि उनकी प्रकृति में अपने पिता से अधिक अपनी माँ का अंश था जो कि एक शान्त साध्वी स्त्री थीं। उन्होंने कभी अपनी पत्नी के साथ वैसा दुर्व्यवहार नहीं किया जैसा उनके पिता अपनी पत्नी के साथ आये दिन किया करते

थे। मामूली पढ़े-लिखे आदमी थे। गीता और शास्त्र भी देखे थे। पर धार्मिक अनुष्ठानों में उन्हें ज़्यादा विश्वास न था। कहते थे उनमें ढोंग ज़्यादा है, तत्व कम। धर्म का मतलब वह सदाचार समझते थे जिसे उन्होंने शक्ति भर अपने जीवन में बरता। कभी किसी से झगड़े नहीं, हाँ छोटा-मोटा भला बहुतों का किया। अपने नातेदारों में जगदम्बा के पिता बृजकिशोर लाल और बिन्धेसरी के पिता रजपाल लाल को अपनी कोशिश से चिट्ठीरसाँ बनवाया और ज़रूरत पड़ने पर लोगों को रुपये-पैसे देने में भी अपनी औक़ात भर कंजूसी नहीं की। हमेशा नज़र नीची करके चले। गाँव की बहू-बेटियों को अपनी बहू-बेटी समझा। कभी किसी झगड़े में अगर लोगों ने उनको पंच बनाया तो बिना इसका या उसका मुँह देखे अपनी बेलौस राय दी। और वैसा ही आदर भी उनको अपने समाज में मिला।

संयोग से पत्नी भी उनको अपने अनुरूप ही मिलीं। देखने में जितनी सुन्दर, स्वभाव की उतनी ही कोमल। सुन्दर इतनी कि शायद इतनी सुन्दर स्त्री परिवार में फिर कभी नहीं आयी—खूब गोरी, मँझोला क़द, भरा हुआ इकहरा शरीर, आँखें बड़ी नहीं पर सुन्दर, उठी हुई सुडौल नाक, लंबे-लंबे बाल, मीठी आवाज़। काशी विश्वविद्यालय के पास एक गाँव है करौंदी, वहीं की लड़की थीं। पिता शायद किसी ज़मींदार के कारिन्दा थे। सुन्दर, गोरे, तगड़े। लेकिन बस यह शरीर ही था उनके पास जो कारिन्दा बनने के योग्य था, आत्मा बिलकुल दूसरे ही साँचे में ढली थी। जिस कारिन्दे की तबीयत में नेकी हो, शराफ़त हो, सच्चाई हो, झुकावट हो, वह भी कोई कारिन्दा है! इतना ही नहीं, उनके बारे में यह भी सुना जाता है कि वह साहित्यिक रुचि के आदमी थे और शायद कुछ किताबें भी उन्होंने लिखीं जिन्हें दुनिया की रोशनी देखना नसीब न हुआ। कहते हैं कि उनकी बेटी आनन्दी ने अपना रूप-रंग-स्वभाव सब कुछ उन्हीं से पाया था। उन्हें कभी किसी से झगड़ा करते नहीं देखा गया और न वह दूसरी औरतों की तरह इधर की बात उधर लगाने में या टोले-पड़ोसवालों की निन्दा में ही रस लेती थीं। शीलवती घरेलू स्त्री थीं। अपने पति के समान ही सदा हर किसी की सहायता के लिए तत्पर। पढ़ी भी मामूली ही पढ़ी-लिखी थीं, बस थोड़ी-सी हिन्दी पर उतनी उन्होंने अपनी ननद-बहू को भी सिखला दी।

घर के काम काज में वह ज़रूर [illegible] थीं। खाना बहुत अच्छा पकाती थीं और सीने पिरोने में भी बेजोड़ थीं। उनके हाथ की बखिया में जो सफ़ाई थी वह तो फिर देखी ही नहीं गयी।

लेकिन एक दुःख उनको बड़ा था। उनके बच्चे नहीं जीते थे। दो लड़कियाँ

हुईं और दोनों जाती रहीं। तब लमही की औरतों ने शोर मचाया कि आनन्दी का अपने मैके जाना ठीक नहीं है, वहाँ भूत लगते हैं।

अब यह चाहे भूत की बात हो चाहे मात्र संयोग, तीसरी लड़की जो आनन्दी को, लमही में पैदा हुई, जिसका नाम सुग्गी रखा गया, वह जिन्दा रही और उसके छः-सात बरस बाद लमही के उसी कच्चे पुश्तैनी मकान में जो मुंशी गुरसहाय लाल ने बनवाया था, सावन बदी १० संवत् १९३७, शनिवार ३१ जुलाई सन् १८८० को इस लड़के का जन्म हुआ जिसे बाद को दुनिया ने प्रेमचंद के नाम से जाना। लड़का खूब ही गोरा-चिट्टा था। सब बहुत खुश थे। पिता ने पुलककर उसका नाम रखा धनपत और ताऊ ने नवाब।

बस एक बात खटक रही थी : लड़का तेतर था यानी तीन लड़कियों की पीठ पर हुआ था और ऐसी संतान के बारे में लोगों का विश्वास है कि वह माँ-बाप में से किसी एक को खाये बिना नहीं रहती। भगवान ने ऐसी कुशंका का तत्काल कोई परिचय न दिया लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि यह भी प्रकृति का एक अच्छा व्यंग्य था। जिस लड़के को आगे चलकर आजीवन समाज की मुर्दा रूढ़ियों से जूझना था, वह स्वयं एक मुर्दा रूढ़ि की छाया में पैदा हुआ।

२

बेचारी माँ दो लड़कियाँ गँवा चुकी थी और अब बस यही दो बच्चे थे — मुन्नी और नवाब। मुन्नी नवाब से छः-सात साल बड़ी थी। उसको भी माँ कुछ कम प्यार नहीं करती थी, लेकिन नवाब में तो जैसे उसके प्राण ही बसते थे। कुछ तो शायद इसलिए भी कि वह सबसे छोटा था और लड़का था। माँ को हरदम यही डर लगा रहता कि कोई उसके बेटे को नजर लगा देगा, कुछ जादू टोना कर देगा। लड़का चंचल था भी — जिसे 'टोनहा' कहते हैं। हरदम झाड़-फूँक करवाती रहती, राई-नोन से नजर उतरवाती रहती — और डिठौना तो नवाब को पाँच-छः साल की उम्र तक लगाया जाता रहा। माँ का वश चलता तो वह कभी बेटे को अपने आँचल से अलग न होने देती।

इस तरह बचपन के कुछ वर्ष माँ के प्यार की शीतल छाँह में बहुत ही मधुर बीते। माँ के लाड़ले थे और शरारत कहिए या चुहल, उनकी घुट्टी में पड़ी थी। आये दिन कुछ-न-कुछ हुआ करता और घर पर उलाहना पहुँचता। एक रोज ऐसा हुआ कि लड़के भाई-भाई खेल रहे थे। नवाब को शरारत सूझी, उसने ललाम के ही एक लड़के रामू की हजामत बनाते-बनाते बाँस की कमानी से उसका कान काट लिया। कान कटा तो खैर नहीं, मगर खून धक्कर भलभल भलभल बहने लगा। रामू रोता-पीटता अपनी माँ के पास पहुँचा। माँ ने बेटे के कान से खून बहते देखा तो आगबबूला हो गयी और एक हाथ से रामू को पकड़े भनभनाती पटकती नवाब की माँ के पास उलाहना देने पहुँची। नवाब ने जैसे ही उसकी आवाज सुनी, खिड़की के पास दुबक गया। माँ ने पुचकारते हुए उसको ढूँढ लिया और पकड़कर चार झापड़ रसीद किये। पूछा — रामू का कान तूने क्यों काटा? नवाब ने निहायत भोलेपन से जवाब दिया — पता नहीं कैसे कट गया, मैं तो उसकी हजामत बना रहा था!

फसल के दिनों में किसी के खेत में घुसकर ऊख तोड़ लाना, मटर उखाड़ लाना — यह तो रोज की बात थी। इसके लिए खेतवालों की गालियाँ भी खानी पड़ती थी, लेकिन लगता है कि उन गालियों से ऊख और मीठी, मटर और मुलायम



नमही की कोठरी जिसमें जन्म हुआ
हिन्दी कवि त्रिलोचन और चेक विद्वान् स्मेकल खड़े हैं।

लमही का एक दृश्य



प्रेमचंद का अपना बनवाया मकान

हो जाती थी। लमही चूँकि सदा से बहुत ग़रीब गाँव रहा है इसलिए कोई इस चीज़ को दरगुज़र भी न करता था और अक्सर इस बात का उलाहना आता। घर में डाँट-फटकार भी होती लेकिन एक-दो रोज़ के बाद फिर वही रंग-ढंग।

ढेला चलाने में भी नवाब बहुत मीर थे टिकोरे पेड़ में आते और उनकी चाँदमारी शुरू हो जाती। ऐसा ताककर निशाना मारते कि दो-तीन ढेलों में आम ज़मीन पर नज़र आता। पेड़ का रखवाला चिल्लाता ही रह जाता और नवाब की मण्डली आम बिन-बटोरकर चम्पत हो जाती। और सबसे ज़्यादा मज़ा तो निशानेबाज़ी में तब आता जब आम पकना शुरू हो जाते। ढेर आँखें सब आम के पेड़ों को ताके रहतीं और जहाँ किसी डाल में कोई कोंपल दिखा नहीं कि ढेलेबाज़ी शुरू। मजाल है कि दो-तीन चक्कों में वह नीचे न आ जाय। रखवाला चिल्लाता है तो चिल्लाने दो गाली देता है देने दो हमें आम से मतलब है कि उसकी गाली से! जब तक अपना लाठी-डण्डा लेकर वह आयेगा हम कहीं के कहीं होंगे। अपनी मण्डली में नवाब का निशाना मशहूर था इस मामले में वह अपनी टोली के सारे लड़कों का सरताज था। आज तक लोग उसका बखान करते हैं — वैसे ही जैसे उनके गुल्ली-डण्डे का। सुनते हैं उनका टोल अच्छी तरह जमकर बैठ जाता था तो गुल्ली डेढ़ सौ गज़ की ख़बर लेती थी। लेकिन वह ज़रा बाद की बात है अभी तो हाथ में इतना दम न था।

घर के सामने जहाँ अब मुंशीजी का बनवाया हुआ अपना मकान है एक बहुत ही पुराना बहुत ही बड़ा इमली का पेड़ था। उसके नीचे लाला (महावीर लाल) की मड़ैया तो थी ही खेलने के लिए भी खूब जगह थी साफ़-सुथरी। वहाँ इमली के चियों और महुए के कोइनों से खेल होता और कबड्डी की बाज़ी जमती।

इसी तरह बचपन के सुहाने दिन बीत रहे थे कभी लमही में तो कभी पिता के साथ कहीं और। उस कहीं और में ही एक जगह कज़ाकी नाम का एक डाक हरकारा उसकी ज़िन्दगी में आया और हमेशा के लिए अपनी याद और अपना दाग़ छोड़ गया —

●मेरी बाल-स्मृतियों में कज़ाकी एक न मिटनेवाला व्यक्ति है। आज चालीस साल गुज़र गये (कहानी सन् १९२९ में लमही में बैठकर लिखी जा रही है जब कि मुदर्रिसी के तेईस तूफ़ानी सालों की बेतहाशा भागमभाग के बाद लेखक उस ज़िन्दगी को अलविदा कहकर फिर अपने बचपन के परिवेश में लौट आया है [illegible] सुस्ता रहा है और पुरानी स्मृतियाँ धीमी धीमी बयार की तरह आकर उसको सहला रही हैं) लेकिन कज़ाकी की मूर्ति अभी तक आँखों के सामने नाच रही है।

होती तो हम सजा से बचने का कोई और ही उपाय सोचते। मौलवी साहब को चिड़ियों का शौक़ था। मकतब में श्यामा, बुलबुल, दहियल और बयाओं के पिंजरे लटकते रहते थे। हमें सबक़ याद हो या न हो पर चिड़ियों को याद हो जाते थे। हमारे साथ ही यह भी पढ़ा करती थीं। इन चिड़ियों के लिए बेसन पीसने में हम लोग खूब उत्साह दिखाते थे। मौलवी साहब सब लड़कों को पतिंगे पकड़ लाने की ताकीद करते रहते थे। इन चिड़ियों को पतिंगों से विशेष रुचि थी। कभी-कभी हमारी बला पतिंगों ही के सिर चली जाती थी। उनका बलिदान करके हम मौलवी साहब के रौद्र रूप को प्रसन्न कर लिया करते थे।●

भगवान को प्रसाद चढ़ाये बिना कब वरदान मिला है और गुरु की सेवा किये बिना कब किसे विद्या आयी है। पुराना क़ायदा तो कम से कम यही था। और भी बहुत-सी ख़िदमतें अंजाम देनी होती होंगी मसलन् बकरी के वास्ते हरी हरी पत्तियाँ तोड़ लाना, बाज़ार जाकर सौदा-सुलुफ़ ले आना — और इनका ज़िक्र करना तो बिलकुल ही बेकार है, उसके बिना कभी किसी को कुछ भी आया है!

पढ़ाई का तरीक़ा वही पुराना रहा होगा जो कि बाद के तमाम नये प्रयोगों के बावजूद शायद सबसे अच्छा था यानी रटन्त। गणित के मास्टर साहब पहाड़ा रटाते थे और दर्जे भर के लड़के झूम-झूमकर समवेत गायन की तरह पहाड़े रटते थे — सात के सात, सात दूनी चौदह, सात तियां इक्कीस ... संस्कृत के पण्डित जी गच्छति गच्छतः गच्छन्ति, रामः रामौ रामाः रटाते थे और मौलवी साहब आमदनामा लेकर माज़ी और मुज़ारे, हाल और मुस्तक़बिल, अम्र और नहीं के तमाम सीग़ों में सैकड़ों मसदरों और मसादरों की गिरदान करवाते थे — आमद आमदन्द आमदी आमदेद आमदम आमदेम। गोयद गोयन्द गोयी गोयेद गोयम गोयेम। (क्या अजब कि यह चीज़ मौलवी साहब के दहियलों और बयाओं की ज़बान पर लड़कों से पहले चढ़ जाती थी!) जब आमदनामा ख़त्म हो जाता तब सादी के गुलिस्ताँ बोस्ताँ और करीमा-मामुकीमा की बारी आती। फ़ारसी पढ़ाने का यह क़ायदा आज सैकड़ों साल से दुनिया में चल रहा है। नवाब ने भी इसी क़ायदे से फ़ारसी पढ़ी और नालायक़ियाँ तो जो होनी थीं होती रहीं, ताहम ऐसा लगता है कि मौलवी साहब ने नवाब की फ़ारसी की जड़ काफ़ी मज़बूत कर दी। उर्दू के बारे में कहा जाता है कि उर्दू पढ़ायी नहीं जाती, मगर में आती है, पढ़ायी तो फ़ारसी जाती है। जो भी बात हो, इसमें शक नहीं कि इन मौलवी साहब ने उनकी फ़ारसी की बुनियाद ख़ूब पक्की कर दी थी कि उस पर यह महल खड़ा हो सका। बाक़ायदा तौर पर जब इण्टर और बी० ए० करने की नौबत आयी

उस वक्त नवाब राय को यह तय करने में एक मिनट नहीं लगा कि एक विषय ज़रूर फ़ारसी होना चाहिए।

इस तरह थोड़ा-बहुत पढ़ते और सारे दिन मटरगश्ती करते खेलते-कूदते मज़े में दिन बीत रहे थे।

और इन्हीं दिनों की बात है कि उन्होंने और हलधर (बलभद्र) ने मिलकर घर से एक रुपया उड़ाया था। अब ज़रा उसकी दास्तान उन्हीं से सुनिए

● मुँह-हाथ धोकर हम दोनों घर आए और डरते डरते अन्दर झाँका। अगर कहीं इस वक्त तलाशी की नौबत आयी तो फिर भगवान ही मालिक है। लेकिन सब लोग अपना-अपना काम कर रहे थे। कोई हमसे न बोला। हमने नाश्ता भी न किया चबेना भी न लिया किताब बगल में दबायी और मदरसे का रास्ता लिया।

बरसात के दिन थे। आकाश पर बादल छाए हुए थे। हम दोनों खुश-खुश मकतब चले जा रहे थे हजारों मंसूबे बाँधते थे हजारों हवाई किले बनाते थे। यह अवसर बड़े भाग्य से मिला था। इसलिए रुपये को इस तरह खर्च करना चाहते थे कि ज़्यादा से ज़्यादा दिनों तक चल सके। उन दिनों पाँच आने सेर बहुत अच्छी मिठाई मिलती थी और शायद आध सेर मिठाई में हम दोनों अफर जाते लेकिन यह ख़याल हुआ कि मिठाई खायेंगे तो रुपया आज ही गायब हो जायगा। कोई सस्ती चीज़ खानी चाहिए जिसमें मज़ा भी आवे पेट भी भरे और पैसे भी कम खर्च हों। आखिर अमरूदों पर हमारी नज़र गयी। हम दोनों राज़ी हो गए। दो पैसे के अमरूद लिये। सस्ता समय था बड़े-बड़े बारह अमरूद मिले, हम दोनों के कुर्तों के दामन भर गये। जब हलधर ने खटकिन के हाथ में रुपया रखा तो उसने सन्देह से देखकर पूछा — रुपया कहाँ पाया लाला? चुरा तो नहीं लाये?

जवाब हमारे पास तैयार था। ज़्यादा नहीं तो दो-तीन किताबें पढ़ ही चुके थे। विद्या का कुछ-कुछ असर हो चला था। मैंने झट से कहा — मौलवी साहब की फ़ीस देनी है। घर में पैसे न थे तो चाचा जी ने रुपया दे दिया। ●

मदरसे पहुँचे।

● हम अभी सबक पढ़ ही रहे थे कि मालूम हुआ आज तालाब का मेला है दोपहर से छुट्टी हो जायगी। मौलवी साहब मेले में बुलबुल लड़ाने जायेंगे। यह खबर सुनते ही हमारी खुशी का ठिकाना न रहा। बारह आने तो बैंक में जमा ही कर चुके थे साढ़े तीन आने में मेला देखने की ठहरी। खूब बहार रहेगी। मज़े से रेवड़ियाँ खायेंगे गोलगप्पे उड़ायेंगे झूले पर चढ़ेंगे और शाम को घर पहुँचेंगे।

लेकिन मौलवी साहब ने एक कड़ी शर्त यह लगा दी थी कि सब लड़के छुट्टी के पहले अपना-अपना सबक सुना दें। जो सबक न सुना सकेगा उसे छुट्टी न मिलेगी। नतीजा यह हुआ कि मुझे तो छुट्टी मिल गयी पर हलधर क़ैद कर लिये गये। और कई लड़कों ने भी सबक सुना दिये थे वे सभी मेला देखने चल पड़े। मैं भी उनके साथ हो लिया। पैसे मेरे ही पास थे इसलिए मैंने हलधर को साथ लेने का इन्तज़ार न किया। तय हो गया था कि वह छुट्टी पाते ही मेले में आ जायें और दोनों साथ साथ मेला देखें। मैंने वचन दिया था कि जब तक वह न आयेंगे एक पैसा भी खर्च न करूँगा लेकिन क्या मालूम था कि दुर्भाग्य कुछ और ही लीला रच रहा है। मुझे मेला पहुँचे एक घण्टे से ज़्यादा गुज़र गया पर हलधर का कहीं पता नहीं। क्या अभी तक मौलवी साहब ने छुट्टी नहीं दी या रास्ता भूल गये? आँखें फाड़-फाड़कर सड़क की ओर देखता था। अकेले मेला देखने में जी भी नहीं लगता था। यह संशय भी हो रहा था कि कहीं चोरी खुल तो नहीं गयी और चाचाजी हलधर को पकड़कर घर तो नहीं ले गये। आखिर जब शाम हो गयी तो मैंने कुछ रेवड़ियाँ खायीं और हलधर के हिस्से के पैसे जेब में रखकर धीरे-धीरे घर चला। रास्ते में ख़याल आया मकतब होता चलूँ। शायद हलधर अभी वहीं हों मगर वहाँ सन्नाटा था। हाँ एक लड़का खेलता हुआ मिला। उसने मुझे देखते ही ज़ोर से क़हक़हा मारा और बोला — बचा घर आओ तो कैसी मार पड़ती है! तुम्हारे चचा आये थे। हलधर को मारते-मारते ले गये हैं। अजी ऐसा तानकर घूँसा मारा कि मियाँ हलधर मुँह के बल गिर पड़े। यहाँ से घसीटते ले गये हैं। तुमने मौलवी साहब की तनख्वाह दे दी थी वह भी ले ली। अभी कोई बहाना सोच लो नहीं तो बेभाव की पड़ेगी।

मेरी सिट्टी पिट्टी भूल गयी बदन का लहू सूख गया। वही हुआ जिसका मुझे शक हो रहा था। पैर मन मन भर के हो गये। घर की ओर एक एक क़दम चलना मुश्किल हो गया। देवी देवताओं के जितने नाम याद थे सभी की मानता मानी — किसी को लड्डू किसी को पेड़े किसी को बताशे। गाँव के पास पहुँचा तो गाँव के डीह का सुमिरन किया क्योंकि अपने हलके में डीह ही की इच्छा सर्व प्रधान होती है।

यह सब कुछ किया लेकिन ज्यों ज्यों निकट आता दिल की धड़कन बढ़ती जाती थी। घटायें उमड़ी आती थीं। मालूम होता था आसमान फटकर गिरा ही चाहता है। देखता था — लोग अपने अपने काम को छोड़-छोड़कर भागे जा रहे हैं गाय भी पूँछ उठाकर घर की ओर उछलते कूदते चले जाते हैं। चिड़ियाँ अपने घोंसले की ओर उड़ी चली आती थीं लेकिन मैं उसी मन्द

गति से चला जाता था मानो पैरों में शक्ति नहीं। जी चाहता था ज़ोर का बुख़ार चढ़ आये या कहीं चोट लग जाय लेकिन कहने से धोबी गधे पर नहीं चढ़ता। बुलाने से मौत नहीं आती बीमारी का तो कहना ही क्या। कुछ न हुआ और धीरे धीरे चलने पर भी घर सामने आ ही गया। अब क्या हो? हमारे द्वार पर इमली का एक बड़ा वृक्ष था मैं उसी की आड़ में छिप गया कि ज़रा और अँधेरा हो जाय तो चुपके से घुस जाऊँ और अम्माँ के कमरे में चारपाई के नीचे जा बैठूँ। जब सब लोग सो जायँगे तो अम्माँ से सारी कथा कह सुनाऊँगा। अम्माँ कभी नहीं मारतीं। ज़रा उनके सामने झूठ-मूठ रोऊँगा तो वह और भी पिघल जायँगी। रात कट जाने पर फिर कौन पूछता है। सुबह तक सब का गुस्सा ठण्डा हो जायगा। अगर ये मंसूबे पूरे हो जाते तो इसमें सन्देह नहीं कि मैं बेदाग़ बच जाता। लेकिन वहाँ तो विधाता को कुछ और ही मंज़ूर था। मुझे एक लड़के ने देख लिया और मेरे नाम की रट लगाते हुए सीधे मेरे घर में भागा। अब मेरे लिए कोई आशा न रही। लाचार घर में दाख़िल हुआ तो सहसा मुँह से एक चीख़ निकल गयी जैसे मार खाया हुआ कुत्ता किसी को अपनी ओर आता देखकर भय से चिल्लाने लगता है। बरोठे में पिता जी बैठे थे। पिता जी का स्वास्थ्य इन दिनों कुछ ख़राब हो गया था। छुट्टी लेकर घर आये हुए थे। यह तो नहीं कह सकता कि उन्हें शिकायत क्या थी पर वह मूँग की दाल खाते थे और सन्ध्या समय शीशे के गिलास में एक बोतल में से कुछ उँडेल उँडेलकर पीते थे। शायद यह किसी तजुर्बेकार हकीम की बतायी हुई दवा थी। दवाएँ सब बसानेवाली और कड़वी होती हैं। यह दवा भी बुरी ही थी पर पिता जी न जाने क्यों इस दवा को ख़ूब मज़ा ले-लेकर पीते थे। हम जो दवा पीते हैं तो आँखें बन्द करके एक ही घूँट में गटक जाते हैं पर शायद इस दवा का असर धीरे-धीरे पीने में ही होता हो। पिता जी के पास गाँव के दो-तीन और कभी-कभी चार-पाँच और रोगी भी जमा हो जाते और घण्टों दवा पीते रहते थे। रोगियों की मजलिस जमा थी, मुझे देखते ही पिता ने लाल-लाल आँखें करके पूछा—कहाँ थे अब तक?

मैंने दबी ज़बान से कहा—कहीं तो नहीं।

अब चोरी की आदत सीख रहा है? बोल तूने रुपया चुराया कि नहीं?

मेरी ज़बान बन्द हो गयी। सामने नंगी तलवार नाच रही थी। शब्द भी निकलते हुए डरता था।

पिता जी ने ज़ोर से डाँटकर पूछा—बोलता क्यों नहीं? तूने रुपया चुराया कि नहीं?

मैंने जान पर खेलकर कहा — मैंने कहाँ

मुँह से पूरी बात भी न निकल पायी थी कि पिता जी विकराल रूप धारण किये बाँस घसीटते झपटकर उठे और हाथ उठाये मेरी ओर चले। मैं ज़ोर से चिल्लाकर रोने लगा — ऐसा चिल्लाया कि पिताजी भी सहम गये। उनका हाथ उठा ही रह गया। शायद समझे कि जब अभी से इसका यह हाल है तब तमाचा पड़ जाने पर कहीं इसकी जान ही न निकल जाय। मैंने जो देखा कि मेरी हिकमत काम कर गयी तो और भी गला फाड़-फाड़कर रोने लगा। इतने में मण्डली के दो-तीन आदमियों ने पिताजी को पकड़ लिया और मेरी ओर इशारा किया कि भाग जा! बच्चे बहुधा ऐसे मौक़े पर और भी मचल जाते हैं और व्यर्थ मार खा जाते हैं। मैंने बुद्धिमानी से काम लिया।

लेकिन अन्दर का दृश्य इससे कहीं भयंकर था। मेरा तो ख़ून सर्द हो गया। हलधर के दोनों हाथ एक खम्भे से बँधे थे सारी देह धूल धूसरित हो रही थी और वह अभी तक सिसक रहे थे। शायद वह आँगन भर में लोटे थे। ऐसा मालूम हुआ कि सारा आँगन उनके आँसुओं से भीग गया है। चाची हलधर को डाँट रही थीं और अम्माँ बैठी मसाला पीस रही थीं। सबसे पहले मुझपर चची की निगाह पड़ी। बोलीं — लो वह भी आ गया। क्यों रे, रुपया तूने चुराया था कि इसने?

मैंने निश्शंक होकर कहा — हलधर ने।

अम्माँ बोलीं — अगर उसी ने चुराया था तो तूने घर आकर किसी से कहा क्यों नहीं?

अब झूठ बोले बग़ैर बचना मुश्किल था। मैं तो समझता हूँ कि जब आदमी को जान का ख़तरा हो तो झूठ बोलना क्षम्य है। हलधर मार खाने के आदी थे, दो-चार घूँसे और पड़ने से उनका कुछ न बिगड़ सकता था। मैंने मार कभी न खायी थी। मेरा तो दो ही चार घूँसों में काम तमाम हो जाता। फिर हलधर ने भी तो अपने को बचाने के लिए मुझे फँसाने की चेष्टा की थी। नहीं तो चची मुझसे यह क्यों पूछतीं — रुपया तूने चुराया था या हलधर ने? किसी भी सिद्धान्त से मेरा झूठ बोलना इस समय स्तुत्य नहीं तो क्षम्य ज़रूर था। मैंने छूटते ही कहा — हलधर कहते थे किसी से बताया तो मार ही डालूँगा।

अम्माँ — देखा वही बात निकली न! मैं तो कहती ही थी कि बच्चे की ऐसी आदत नहीं, पैसा तो वह हाथ से छूता ही नहीं लेकिन सब लोग मुझी को उल्लू बनाने लगे।

हल — मैंने तुमसे कब कहा था कि बतलाओगे तो मारूँगा?

मैं—वहीं तालाब के किनारे तो।●

थोड़ी-सी पढ़ाई भी ढेरों उछलकूद। खिलंदड़ेपन की इन्तहा नहीं। कभी नम्बर मामू का भाव है तो कभी आपस में ही घुड़दौड़ हो रही है। रामू रघुनाथ गिरधी पचारन बाबूराम, गोवर्धन और और भी न जाने कितने पूरी फ़ौज थी। तीन महीने मुतवातिर आमों की दस्तेबाज़ी चलती। इतने कच्चे आम खाये जाते कि फ़सल भर चोटी चल-चलकर मुँह फचका रहता। आम में खटाई पड़ जाती तो फिर पना भी शुरू हो जाता। किसी के यहाँ से नमक आता किसी के यहाँ से जीरा किसी के यहाँ से हींग किसी के यहाँ से भूनी हँडिया के लिए पैसा। फिर कोई हँडिया लाने चला जाता बाक़ी लोग बाँस की पत्ती बटोरने में लग जाते। पास ही बँसवारी थी। फिर आग सुलगायी जाती आम भूने जाते। पना बनाने का पूरा एक शास्त्र था और इस शास्त्र के वो ही एक आचार्य थे। उनमें नवाब नहीं थे। पर हाँ हिस्सा लेने में सबसे आगे रहते थे। यह तो गर्मी का नक्शा था। जाड़े के दिनों में ढेरों ऊख चाट जाते। उसी में यह भी बाज़ी लगी हुई है कि ऊख की पेंच कौन सबसे बड़ी निकाल सकता है! कभी कोल्हाड़े में चले गये जहाँ गुड़ बन रहा होगा वहाँ चखुए रस से (जो खोई को फिर से पानी में भिगोकर तैयार किया जाता है) तबीयत तर की या कच्चा गुड़ लेकर दाँत से उसके लड़ने का मज़ा देखा। गुड़ से मुंशीजी को बेहद प्रेम है। गुड़ मिठाइयों का बादशाह है। सारी ज़िन्दगी गुड़ का यह प्रेम इसी तरह बना रहा। खाने के साथ थोड़ा-सा गुड़ ज़रूरी था।

गुड़ की चोरी का एक निहायत दिलचस्प क़िस्सा अपने बचपन का मुंशीजी ने होली की छुट्टी में सुनाया है—

अम्माँ तीन महीने के लिए अपने मैके या मेरी ननिहाल गयी थीं और मैंने तीन महीने में एक मन गुड़ का सफ़ाया कर दिया था। यही गुड़ के दिन थे। नाना बीमार थे अम्माँ को बुला भेजा था। मेरा इम्तिहान पास था इसलिए मैं उनके साथ न जा सका जाते वक़्त उन्होंने एक मन गुड़ लेकर एक मटके में रखा और उसके मुँह पर एक सकोरा रखकर मिट्टी से बन्द कर दिया। मुझे सख़्त ताक़ीद कर दी कि मटका न खोलना। मेरे लिए थोड़ा-सा गुड़ एक हाँडी में रख दिया था। वह हाँडी मैंने एक हफ़्ते में सफ़ाचट कर दी। सुबह को दूध के साथ गुड़ दोपहर को रोटियों के साथ गुड़ तीसरे पहर दानों के साथ गुड़ रात को फिर दूध के साथ गुड़। यहाँ तक जायज़ खर्च था जिस पर अम्माँ को भी कोई एतराज़ न हो सकता। मगर स्कूल से बार-बार पानी पीने के बहाने घर में आता और दो-एक पिंडियाँ निकालकर खा लेता। उसकी बजट में कहाँ गुंजाइश थी। और

मुझे गुड़ का कुछ ऐसा चस्का पड़ गया कि हर वक्त वही नशा सवार रहता। मेरा घर में आना गुड़ के सिर शामत आना था। एक हफ्ते में हाँडी ने जवाब दे दिया। मगर मटका खोलने की सख्त मनाही थी और अम्माँ के घर आने में अभी पौने तीन महीने बाकी थे। एक दिन तो मैंने बड़ी मुश्किल से जैसे-तैसे सब्र किया लेकिन दूसरे दिन एक आह के साथ सब्र जाता रहा और मटके की एक मीठी चितवन के साथ होश रुखसत हो गया।

फिर तो इस बेमुरौवत की चाट ने क्या-क्या नाच नचाया है —

अपने को कोसता धिक्कारता — गुड़ तो खा रहे हो मगर बरसात में सारा शरीर सड़ जायगा गंधक का मलहम लगाये घूमोगे कोई तुम्हारे पास बैठना भी न पसन्द करेगा! कसमें खाता विद्या की माँ की स्वर्गीय पिता की गऊ की ईश्वर की

कुछ भी काम न आया तो बड़े भक्तिभाव से ईश्वर से प्रार्थना की — भगवान् यह मेरा चंचल लोभी मन मुझे परेशान कर रहा है मुझे शक्ति दो कि उसको वश में रख सकूँ। मुझे अष्टधातु की लगाम दो जो उसके मुँह में डाल दूँ!

मगर सब बेसूद। कोठरी में ताला लगाकर एक बार उसकी चाभी दीवार की संधि में डाल दी जाती है और दूसरी बार कुएँ में फेंक दी जाती है, मगर तब भी रिहाई नहीं मिलती और वह मन भर का मटका पेट में समा जाता है!

इस तरह की दिलचस्पियों की नवाब को कुछ कमी न थी। कभी दो चार लोग जाकर पोखरी से मछली मार लाये और भूनकर खा गये। और कभी इमली के नीचे चटाचट गोलियों की गोटें होतीं जिसमें हार-जीत चित-पट होता जो कि तकदीर के चित-पट से रत्ती भर घटकर नहीं था क्योंकि उसमें भी बाजाब्ता दबाने वाले और हारे जाते कोई दरिद्र हो जाता कोई मालामाल हो जाता — मतलब यह कि दिलचस्पी के सामानों की कुछ कमी न थी और हाँ रात को दादी से कहानी सुनी जाती और अक्सर होता कि कहानी कहते समय दादी का मुँह भैया (बलभद्र) की तरफ क्यों मुड़ जाता है।

इस तरह माँ और दादी के लाड़-प्यार में लिपटे हुए दिन बड़ी मस्ती में बीत रहे थे जब कि आसमान से इस सुख का इतना सुख न देखा गया और उसी साल माँ ने बिस्तर पकड़ लिया। मुंशी अजायब लाल की ही तरह वह भी संग्रहणी की पुरानी मरीज थीं। इस बार का हमला प्राणलेवा साबित हुआ। मुंशी अजायब लाल उन दिनों इलाहाबाद में थे और यहीं नवाब की माँ बीमार पड़ीं। छः महीने बीमार रहीं। नवाब तब आठवें साल में चल रहा था और उसकी बहन सुग्गी चौदह-पन्द्रह की थी। उसी साल उसका ब्याह मिर्जापुर के पास कहीं नाम के

गाँव में हुआ था। गौना भी हो गया था। माँ के मरने के आठ-दस रोज पहले आयीं। दादी भी आयीं जो कि लमही में रहती थीं। नवाब माँ के सिरहाने बैठा पंखा झलता रहता और उसके चचेरे बड़े भाई बलदेव लाल जो बीस बरस के नौजवान थे और एक अंग्रेज के यहाँ टेनिस की गोली उठाने पर नौकर थे दवा दारू के इंतजाम में रहते। काफ़ी इलाज हुआ लेकिन व्यर्थ।

नवाब के आठवें साल में वह चल बसीं और उसी दिन वह नवाब जिसे माँ पान के पत्ते की तरह फेरती थी, खिलौना ल्याकर घर से निकलने देती थी और आँचल में छिपाये फिरती थी कभी सर्दी से कभी गर्मी से कभी सिहानेवालों की डीठ से, देखते-देखते सयाना हो गया। अब उसके सर पर तपता हुआ नीला आकाश था, नीचे जलती हुई सूखी धरती थी, पैरों में जूते न थे, बदन पर साबित कपड़े न थे, इसलिए नहीं कि एकाएक पैसे का टोटा पड़ गया बल्कि इसलिए कि इन सब बातों की फ़िक्र रखनेवाली माँ की आँखें मुँद गयी थीं। बाप यों भी कब माँ की जगह ले पाता है, उस पर से वह काम के बोझ से दबे रहते। उनके पैर में चक्कर तो जैसे था ही, हर साल दो साल छः महीने में उनका तबादला होता रहता, कभी बाँदा तो कभी बस्ती, कभी गोरखपुर तो कभी कानपुर, कभी इलाहाबाद तो कभी लखनऊ, कभी जौनपुर तो कभी बड़हलगंज, किसी एक जगह जमकर रहने न पाते। ऊपर से काम का बोझ, खासी परेशान ज़िन्दगी थी। बेटे को उनके साथ की, उनकी दोस्ती की भी ज़रूरत हो सकती है — इसके लिए न तो उनके पास हिम्मत थी और न समय। 'कज़ाकी' में लेखक ने शायद अपनी ही बात बच्चे के मुँह से कहलवायी है —

बाबूजी बड़े गुस्सेवर थे। उन्हें काम बहुत करना पड़ता था, इसी से बात बात पर झुँझला पड़ते थे। मैं तो उनके सामने कभी आता ही न था, वह भी मुझे कभी प्यार न करते थे। घर में वह केवल दो बार घण्टे घण्टे भर के लिए भोजन करने आते थे, बाकी सारे दिन दफ़्तर में लिखा करते थे। उन्होंने बार-बार एक सहकारी के लिए अफ़सरों से विनय की थी, पर इसका कुछ असर न हुआ था। यहाँ तक कि तातील के दिन भी बाबूजी दफ़्तर ही में रहते थे। बाबूजी मुझे प्यार तो कभी न करते थे पर पैसे खूब देते थे। शायद अपने काम में व्यस्त रहने के कारण मुझसे पिण्ड छुड़ाने के लिए इसी नुस्ख़े को सबसे आसान समझते थे। प्यार, दोस्ती, संग-साथ नवाब को जो कुछ मिलता अपनी माँ से मिलता, भले पैसे का नाम सुनते ही उनकी त्योरियाँ बदल जाती हों। सो माँ अब नहीं रही। माँ जैसा ही कुछ प्यार बड़ी बहन से मिलता था, वह अपने घर चली गयी। नवाब की दुनिया घर के भीतर सूनी हो गयी। पिताजी का तो वही हाल था। घंटे

मगर शाम को घर लौटते और बोतल लेकर बैठ जाते। पीते अपनी मात्रा भर ही थे मगर हर शाम पीते थे। एक छोटी-सी गिलसिया थी वही उनका नपना थी।

सूनी दुनिया में बराबर कौन रह सकता है। ज़िन्दगी खुद उसे भरने का उपाय कर देती है, जैसे कि हर घाव वह भर देती है। कुछ स्मृतियों की बैसाखी लेकर चलने लगते हैं और गुज़रे वक़्तों के भूत आकर उनकी दुनिया को भर देते हैं। नवाब तो अभी बच्चा था, बहुत ही शरीर, बहुत ही खिलंदड़ और सारी ज़िन्दगी उसके सामने पड़ी थी।

पत्नी के मरने के कुछ ही दिन बाद मुंशी अजायब लाल बीमार पड़े। ठीक होने भी न पाये थे कि फिर तबादले का हुक्म आया। नयी जगह सूने घर में नवाब को ले जाना पागलपन होता, इसलिए नवाब को फिर लमही में ही रखने की ठहरी। इलाहाबाद से चलने लगे तो उन्होंने बलदेव से भी साथ आने को कहा। पर बलदेव साथ नहीं आये। कुछ ही वक़्त बाद उनके साहब की जो डाक-तार विभाग का कोई बड़ा अफ़सर था, इन्दौर को बदली हुई। वह बलदेव लाल को भी जो मुंशी अजायब लाल के चले जाने के बाद उन्हीं के यहाँ रहते थे, अपने साथ इन्दौर लेता गया और उन्हें तार का साइनमैन बनवा दिया। वह पन्द्रह बरस इन्दौर में रहे आये और घर का मुँह नहीं देखा। बाद को अपने छोटे भाई बलभद्र को भी उन्होंने अपने पास बुलाकर अपने ही समान साइनमैन बनवा दिया पर बलभद्र कच्ची उम्र में ही चल बसे।

नवाब की अब फिर अपनी वही पुरानी दुनिया थी — वही मौल्वी साहब और वही खेत-मैदान, ऊख-मटर, आम इमली, दौड़ भाग, गुल्ली-मोंगी। फ़र्क बस इतना था कि सर पर अब और भी कोई न था। माँ तो कभी किसी काम के लिए टोकती भी थी, डाँटती भी थी, दादी तो बस लाड़ करती थीं। कुछ तो शायद इसलिए भी कि माँ अभी हाल में ही मरी थी, उस ग़म को बच्चा अगर खेल-कूद में भूल जाये।

लिहाज़ा जैसे जैसे समय बीतता गया, उम्र के साथ-साथ आवारागर्दी भी बढ़ती गयी। दो बरस बाद पिता ने फिर ब्याह कर लिया था लेकिन उससे नवाब का अकेलापन न बढ़ना था न घटा और वह अलग अपनी दुनिया में घूमता रहा, खेलता रहा, दादी से कहानी सुनता रहा। किसी क़दर वह एक जंगली पौद की बाढ़ थी, बिलकुल निर्बाध उन्मुक्त। हम उसका अच्छा पहलू कह सकते हैं। लेकिन कुछ बुरा पहलू भी था — बारह-तेरह बरस की उम्र तक पहुँचते-पहुँचते उसे सिगरेट-बीड़ी का चस्का लग चुका था और अपने ही गन्दों में उन बातों का

मालूम हो गया था जो कि बच्चों के लिए घातक है। बिना माँ के बच्चे का ऐसा ही हाल होता है। न हो, तो अचरज की बात है। पता नहीं माँ का प्यार किस रहस्यपूर्ण ढंग से बच्चे का परिष्कार किया करता है। दोनों में से किसी को पता नहीं चलता पर वह छाया अपना काम करती रहती है। वह प्यार छिन जाये, सर पर से वह हाथ हट जाये तो एक ऐसी कमी महसूस होती है जो बच्चे को अन्दर से तोड़ देती है। और उसके साथ ही बहुत से सपने, बहुत-सी मूर्तियाँ टूट जाती हैं जिनको बनाने में बरसों लगे थे।

यह कमी कितनी गहरी, कितनी तड़पानेवाली रही होगी जो सारी जिन्दगी यह आदमी उससे उबर नहीं सका और वह टीस बराबर पहाड़ों से टकरानेवाली सारस की आवाज की तरह उसकी रचनाओं में गूँजती रही। बार-बार उसने ऐसे पात्रों की सृष्टि की जिनकी माँ सात-आठ साल की ही उम्र में जाती रही और फिर दुनिया सूनी हो गयी। 'कर्मभूमि' में अमरकान्त कहता है:

जिन्दगी की वह उम्र जब इंसान को मुहब्बत की सबसे ज्यादा जरूरत होती है, बचपन है। उस वक्त पौधे को तरी मिल जाय तो जिन्दगी भर के लिए उसकी जड़ें मजबूत हो जाती हैं। उस वक्त खुराक न पाकर उसकी जिन्दगी खुश्क हो जाती है। मेरी माँ का उसी जमाने में देहान्त हुआ और तब से मेरी रूह को खुराक नहीं मिली। वही भूख मेरी जिन्दगी है।

दूसरी माँ के आ जाने से बात कुछ नहीं बदली, उल्टे उसका अकेलापन और बढ़ गया क्योंकि अब वह दादी के साथ लमही में नहीं बल्कि अपनी नयी माँ के साथ गोरखपुर में रह रहा था और पिता को बेटे की ओर ध्यान देने का और भी कम समय मिल रहा था। शायद अपनी कुछ उसी मनोदशा को उन्होंने 'कर्मभूमि' में यों व्यक्त किया है:

समरकान्त ने मित्रों के कहने-सुनने से दूसरा विवाह कर लिया था। उस सात साल के बालक ने नयी माँ का बड़े प्रेम से स्वागत किया, लेकिन उसे जल्द मालूम हो गया कि उसकी नयी माँ उसकी जिद और शरारतों को उस क्षमादृष्टि से नहीं देखती जैसे उसकी माँ देखती थी। वह अपनी माँ का अकेला लाड़ला था। बड़ा जिद्दी, बड़ा नटखट। जो बात मुँह से निकल जाती, उसे पूरा करके ही छोड़ता। नयी माताजी बात-बात पर डाँटती थीं। यहाँ तक कि उसे माता से द्वेष हो गया। जिस बात को वह मना करतीं, उसे अदबदाकर करता। पिता से भी ढीठ हो गया। पिता और पुत्र में स्नेह का बन्धन न रहा।

यह मनःस्थिति ठीक वह थी जिसमें लड़के के बिलकुल बहक जाने का पूरा सामान था, लेकिन प्रकृति जैसे अपने और तमाम जंगली फूल-पौधों को नष्ट होने

है सताती है जिनकी सैर-तफ़रीह के लिए कोई खासी नहीं होता, उसी तरह इस आवारा छोकरे को भी सता रही थी। उसको बचाने के लिए उसने ढंग भी ऐसा ही अख्तियार किया जो उसकी प्रतिभा के अनुकूल था।

बस एक हल्का-सा मोड़ दे दिया। आवारागर्दी अब भी चल रही थी — मगर मोटी-मोटी किताबों के पन्नों में, जिनका रस छन-छनकर उसके भीतर के किस्सागो को खुराक पहुँचा रहा था। जो भूख उसके भीतर न जाने कब से, शायद जन्म से ही चल रही थी, जिसे नानी की कहानियों ने और उकसा दिया था, अब मज़ाक खुद उसके लिए खुराक जुटा रहा था — और इस तरह फिर वह आवारागर्दी खतम ? गली में रह गयी, गुल्ली डण्डा और सतरंगी की जगह तिलिस्म और ऐयारी की मोटी-मोटी किताबों ने ले ली, ऐसी कि पूरी एन्साइक्लोपीडिया समझ लीजिए। एक आदमी तो अपने साठ वर्ष के जीवन में उनकी नकल भी करना चाहे तो नहीं कर सकता, रचना तो दूर की बात है। यह मौलाना फ़ैज़ी के 'तिलिस्म होशरुबा' की तारीफ़ है जिसके पचीसों हज़ार पन्ने तेरह साल के नवाब ने दो-तीन बरस के दौरान में पढ़े और और भी न थामे, जितना कुछ चाट डाला जैसे रेनाल्ड की 'मिस्ट्रीज़ आफ़ द कोर्ट आफ़ लण्डन' की पचीसों किताबों के उर्दू तर्जुमे, मौलाना सज्जाद हुसेन की हास्य-कृतियाँ, 'उमराव जान अदा' के लेखक मिर्ज़ा रुसवा और रतननाथ सरशार के ढेरों किस्से। उपन्यास खतम हो गये तो पुराणों की बारी आयी। नवलकिशोर प्रेस ने बहुत से पुराणों के उर्दू अनुवाद छापे थे, उन पर टूट पड़े।

कोई पूछे कि इतनी सब किताबें इस लड़के को मिलती कहाँ थीं?

रेती पर एक बुकसेलर बुद्धिलाल नाम का रहता था। मैं उसकी दुकान पर जा बैठता था और उसके स्टाक से उपन्यास ले-लेकर पढ़ता था। मगर दुकान पर सारे दिन तो बैठ न सकता था, इसलिए मैं उसकी दुकान से अंग्रेज़ी पुस्तकों की कुंजियाँ और नोट्स लेकर अपने स्कूल के लड़कों के हाथ बेचा करता था और उसके मुआवज़े में दुकान से उपन्यास घर लाकर पढ़ता था। दो-तीन वर्षों में मैंने सैकड़ों ही उपन्यास पढ़ डाले होंगे।

गरज़ कि बाद में, बहुत बाद में, कुछ दोस्तों ने उन्हें रिसाली बीड़ा का जो मज़ाक लिया था उसका यह पूर्वाभास था। इसमें ऐसा एक पूर्वाभास तो घर में तीन बरस पहले मिला, जब लिला जी की शादी के मौके पर नवाब ने लोगों की दिल-चस्पी के लिए या बैतबाज़ी की प्रतियोगिता में, जो कि कायस्थों की शादी में न तब कोई अनहोनी चीज़ थी न अब है, ऐसी ग़ज़लें सुनायी थीं कि बराती-घराती दंग रह गये। उस वक्त नवाब मिशन स्कूल में आठवीं जमात में पढ़ते थे और ... दर्जा बढ़ाया था। फिर गोरखपुर वह आये, उससे भी दो बरस पहले, पाँच

गये थे और उनकी अंग्रेजी पढ़ाई रावत पाठशाला में शुरू हुई। उन दिनों उनकी नयी माँ के भाई विजयबहादुर भी वहीं रहते थे। उनसे नवाब की बहुत बनती थी उम्र भी लगभग एक ही थी। अक्सर दोनों बालमियाँ के मैदान में निकल जाते और पतंगों के पेंच देखते। नयी माँ का पहला बच्चा गुलाबराय तब डेढ़ दो-साल का था और मुमकिन है कि उसकी आमद ने घर से नवाब का लगाव और कम कर दिया हो। यहीं लगभग दो बरस बाद उनके दूसरे बच्चे महताब का जन्म हुआ।

जहाँ तक नवाब की बात है उसको घर से यों ही बहुत कम मतलब था और अब तो उसके पास होश उड़ा देनेवाले तिलिस्मों की अलग अपनी एक दुनिया थी और हातिमताई और अमीर हमज़ा जैसे संगी-साथी थे जिनके संग-संग वह कभी भेस बदलकर अँधेरे तहख़ानों में घूमता था और अक्सर जंगलों व रेगिस्तानों में भटकता फिरता था।

पढ़ाई का यह हाल था तो कैसे मुमकिन था कि कुछ लिखने का भी ख़याल नवाब के दिल में न आता जब कि बीज पहले से ही मौजूद था। लेकिन बड़े आश्चर्य की और काफ़ी गहरे आशय की बात है कि तेरह साल का नवाब जब लिखने बैठा तो उसने तिलिस्म और ऐयारी की राह नहीं पकड़ी बावजूद उन सैकड़ों किताबों के जिन्हें वह घोलकर पी चुका था और जो निश्चय ही उसके दिमाग़ पर छायी रही होंगी। कोई ताक़त थी जो ख़ुद उससे बड़ी थी। उसका हाथ पकड़कर उसे सामाजिकता के उस रास्ते पर ले गयी जिसे भविष्य में उसका अपना ख़ास रास्ता बनना था जिसे अपने पैरों से रौंद-रौंदकर उसने पक्का किया जिस पर उसके पैरों के गहरे निशान हैं जो कभी मिटनेवाले नहीं हैं। शुरू की कुछ कहानियों में सामाजिकता के साथ-साथ कहानी के ढाँचे में यह तिलिस्मी ऐयारी रंग भी थोड़ा-बहुत बोला मगर उसकी पहली रचना जो उसका परिचय-पत्र था इस चीज़ से क़तई पाक है।

यह रचना उसकी पहली रचना जिसे शायद चिराग़ अली के सिपुर्द कर दिया गया अपने तरह की एक बेजोड़ चीज़ थी जिस पर शायद किसी बड़े लेखक को भी शर्म न आती। उसके रचे जाने की कहानी मुंशी जी ने बहुत रस ले-लेकर कही है—

• मेरे एक नाते के मामू[1] कभी-कभी हमारे यहाँ आया करते थे। अधेड़ हो गये थे लेकिन अभी तक बिन-ब्याह थे। पास में थोड़ी-सी ज़मीन थी मकान था लेकिन घरनी के बिना सब कुछ सूना था। इसीलिए घर पर जी न लगता था

---

१ नाम छिपा गये हैं। सुनते हैं कि यह मुंशी रूपनारायण नाम के एक सज्जन थे विजयबहादुर के फुफेरे भाई।

नातेदारियों में घूमा करते थे और सदैव यही आशा रखते थे कि कोई उनका ब्याह करा दे। इसके लिए सौ दो सौ खर्च करने को भी तैयार थे। क्यों उनका विवाह नहीं हुआ यह आश्चर्य था। अच्छे खासे हृष्ट-पुष्ट आदमी थे, बड़ी-बड़ी मूँछें, औसत कद, साँवला रंग। गाँजा पीते थे जिससे आँखें लाल रहती थीं। अपने ढंग के धर्मनिष्ठ भी थे। शिवजी को रोजाना जल चढ़ाते थे और मांस-मछली नहीं खाते थे।

आखिर एक बार उन्होंने भी वही किया जो बिन-ब्याहे लोग अक्सर किया करते हैं — एक चमारिन के नयन-बाणों से घायल हो गये। वह उनके यहाँ गोबर पाथने, बैलों को सानी-पानी देने और इसी तरह के दूसरे फुटकर कामों के लिए नौकर थी। जवान थी, छबीली थी, मामू साहब का तृषित हृदय मीठे जल की धारा देखते ही फिसल पड़ा। बातों-बातों में उससे छेड़-छाड़ करने लगे। वह इनके मन का भाव ताड़ गयी, ऐसी अल्हड़ न थी, और नखरे करने लगी। केशों में तेल भी पड़ने लगा, चाहे सरसों का ही क्यों न हो। आँखों में काजल भी चमका, ओठों पर मिस्सी भी आयी और काम में ढिलाई भी शुरू हुई। कभी दोपहर को आयी और झलक दिखाकर चली गयी, कभी साँझ को आयी और एक तीर चलाकर चली गयी। बैलों को सानी-पानी मामू साहब खुद दे देते, गोबर दूसरे उठा ले जाते। युवती से बिगड़ते क्योंकर, यहाँ तो अब प्रेम उदय हो गया था। होली में उसे प्रथानुसार एक साड़ी दी, मगर अब की गजी की साड़ी न थी, खूबसूरत-सी सवा दो रुपये की चुंदरी थी। होली की त्योहारी भी मामूल से चौगुनी कर दी और यह सिलसिला यहाँ तक बढ़ा कि वह चमारिन ही घर की मालकिन हो गयी।

एक दिन संध्या समय चमारों ने आपस में पंचायत की। बड़े आदमी हैं तो हुआ करें, क्या किसी की इज्जत लेंगे? एक तो लाला के बाप थे कि कभी किसी मेहरिया की ओर आँख उठाकर न देखा (हालाँकि यह सरासर गलत था) और एक यह हैं कि नीच जात की बहू-बेटियों पर भी डोरे डालते हैं। समझाने-बुझाने का मौका न था। समझाने से लाला मानेंगे तो नहीं, उलटे और कोई मामला खड़ा कर देंगे। इनके कलम घुमाने की तो देर है। इसलिए निश्चय हुआ कि लाला साहब को ऐसा सबक देना चाहिए कि हमेशा के लिए याद हो जाय। इज्जत का बदला खून से ही चुकता है, लेकिन मरम्मत से भी कुछ उसकी पुरौती हो ही सकती है।

दूसरे दिन शाम को जब चमारिन मामू साहब के घर आयी तो उन्होंने अन्दर का द्वार बन्द कर दिया। महीनों के असमंजस, झिझक और धार्मिक संघर्ष के बाद आज मामू साहब ने अपने प्रेम को व्यावहारिक रूप देने का निश्चय किया था।

चाहे कुछ ही जाय कुल मरजाद रहे या जाय बाप-दादा का नाम डूबे या उतराय !

उधर चमारों का जत्था ताक में था ही। इधर किवाड़ बन्द हुए, उधर उन्होंने खटखटाना शुरू किया। पहले तो मामू साहब ने समझा कोई असामी मिलने आया होगा किवाड़ बन्द पाकर लौट जायगा लेकिन जब आदमियों का शोर गुल सुना तो घबड़ाये। जाकर किवाड़ों की दराज से झाँका कोई बीस-पचीस चमार लाठियाँ लिये द्वार रोके खड़े किवाड़ों को तोड़ने की कोशिश कर रहे थे। अब करें तो क्या करें, भागने का कोई रास्ता नहीं चम्पा को कहीं छिपा नहीं सकते। समझ गये कि शामत आ गयी। आशिकी इतनी जल्द गुल खिलायगी यह क्या जानते थे नहीं इस चमारिन पर दिल को आने ही क्यों देते। उधर चम्पा इन्हीं को कोस रही थी—तुम्हारा क्या बिगड़ेगा मेरी तो इज्जत लुट गयी। घरवाले मूँड ही काटकर छोड़ेंगे। कहती थी अभी किवाड़ न बन्द करो हाथ-पाँव जोड़ती थी मगर तुम्हारे सिर पर तो भूत सवार था। कैसी मुँह में कालिख लगी कि नहीं ?

मामू साहब बेचारे इस कला में कभी न आये थे। कोई पक्का खिलाड़ी होता तो सौ उपाय निकाल लेता लेकिन मामू साहब की तो जैसे सिट्टी-पिट्टी गुम गयी। बरौठे में थर-थर काँपते हनुमान चालीसा का पाठ करते हुए खड़े थे। कुछ न सूझता था।

और उधर द्वार पर कोलाहल बढ़ता जा रहा था यहाँ तक कि सारा गाँव जमा हो गया। बाम्हन ठाकुर, कायस्थ सभी तमाशा देखने और हाथ की खुजली मिटाने आ पहुँचे। इससे ज्यादा मनोरंजक और स्फूर्तिदायक तमाशा और क्या होगा कि एक मर्द और एक औरत को साथ घर में बन्द पाया जाय ! बड़ी सुभीता गया किवाड़ तोड़े गये और मामू साहब भूसे की कोठरी में छिपे हुए मिले। चम्पा आँगन में खड़ी रो रही थी। द्वार खुलते ही भागी। कोई उससे नहीं बोला। मामू साहब भागकर कहाँ जाते ? वह जानते थे उनके लिए भागने का रास्ता नहीं है। मार खाने के लिए तैयार बैठे थे। मार पड़ने लगी और बेभाव की पड़ने लगी। जिसके हाथ जो कुछ लगा—जूता छड़ी छाता लात घूँसा सभी अस्त्र चले। यहाँ तक कि मामू साहब बेहोश हो गये और लोगों ने उन्हें मुर्दा समझकर छोड़ दिया। अब इतनी दुर्गत के बाद वह कब भी गये तो गाँव में नहीं रह सकते और उनकी जमीन पट्टीदारों के हाथ आयेगी।

एक महीने तक तो वह हल्दी और गुड़ पीते रहे। ज्योंही चलने-फिरने लायक हुए, हमारे यहाँ आये। अपने गाँववालों पर डाके का इस्तगासा दायर करना चाहते थे।

मगर उन्होंने कुछ दीनता दिखायी होती तो शायद मुझे हमदर्दी हो जाती

चलते समय भी रामचन्द्र जी को कुछ नहीं मिला जब कि माधारीलाल तमाखू को मुफ़्त ज्ञान क्या-क्या मिला था।

मेरे पास दो आने पैसे पड़े हुए थे। मैंने पैसे उठा लिये और जाकर शरमाते-शरमाते रामचन्द्र को दे दिये। उन पैसों को देखकर रामचन्द्र को जितना हर्ष हुआ वह मेरे लिए आशातीत था। टूट पड़े मानो प्यासे को पानी मिल गया।

वही दो आने पैसे लेकर तीनों मूर्तियाँ विदा हुईं। केवल मैं ही उनके साथ क़स्बे के बाहर तक पहुँचाने आया।●

बचपन की अबोध ममता और वैसी ही अबोध कातरता

लेकिन अब हम उस दौर की चौखट पर पहुँच गये हैं जब कि नवाब का बचपन अपनी कड़वी मीठी स्मृतियों के साथ बड़ी तेज़ी से पीछे छूटता जा रहा है। अभी उसकी उम्र चौदह साल है बचपन के बीत जाने की उम्र नहीं है, केवल वय:संधि है। पर यह सब अब थोड़े दिनों का खेल है। माँ को मरे छ: साल बीत चुके हैं। इस बीच उसने बहुत कुछ देखा है सहा है, सीखा है और अकाल प्रौढ़ता जो कुछ तो उसकी प्रतिभा का भूल-चोल है और कुछ उसकी परिस्थितियों का उसका दर वाज़ा खटखटा रही है।

इस बार मुंशी अजायबलाल गोरखपुर में बहुत लंबे टिक गये थे इतना शायद इसके पहले और कहीं भी रहने का मौक़ा नहीं मिला था लगभग चार साल। इस बीच नवाब ने मिशन स्कूल से आठवाँ दर्जा ज्यों-त्यों पास कर लिया था। पढ़ने में मगर स्कूली किताबों में जी न लगता था क्योंकि तिलिस्मी कहानियों की जगह न होना उड़ा रखना था और जो मज़ा हातिमताई की सैर में था वह भला मास्टर साहब की मदद में कहाँ। लस्टम-पस्टम पास हो जाते थे लेकिन हाँ हिसाब एक मुश्किल होता था जिसके नाम से शरीर का हुलस सूखता था।

ख़ैर, तो नवाब ने आठवाँ पास कर लिया और तभी मुंशी अजायबलाल की बड़ी बीमारी शुरू हो गयी। उनकी सेहत पिछले दिनों बहुत गिर गयी थी और बराबर गिरती जा रही थी। दूसरी पत्नी से उनका पहला लड़का गुलाब राय दो तीन साल का था। और दूसरा महताब हाल में ही पैदा हुआ था। नवाब को अब नवें दर्जे में नाम लिखाना था जो कि बनारस में ही संभव था। पिताजी ने पूछा कितना ख़र्च पड़ेगा? नवाब ने कहा—पाँच रुपया दे दिया कीजिएगा।

मगर पाँच रुपये में मज़ा क्या होता। बड़ी मुश्किल का सामना था। वो भी पहले की पुल बराबर बनी हुई थी—

● पाँव में जूते न थे। देह पर साबित कपड़े न थे। महँगी अलग — दस सेर

के भी थे। स्कूल से साढ़े तीन बजे छुट्टी मिलती थी। काशी के क्वीन्स कालेज में पढ़ता था। हेडमास्टर ने फ़ीस माफ़ कर दी थी। इम्तहान सिर पर था और मैं बाँस के फाटक एक लड़के को पढ़ाने जाता था। जाड़ों के दिन थे। चार बजे पहुँचता था। पढ़ाकर छः बजे छुट्टी पाता। वहाँ से मेरा घर देहात में पाँच मील पर था। तेज़ चलने पर भी आठ बजे से पहले घर न पहुँच सकता। और प्रातःकाल आठ ही बजे फिर घर से चलना पड़ता था नहीं वक़्त पर स्कूल न पहुँचता। रात को खाना खाकर कुप्पी के सामने पढ़ने बैठता और न जाने कब सो जाता। फिर भी हिम्मत बाँधे हुए था।

अब तक बचपन मर चुका था—यानी लड़के के कंधे पर शादी का जुआ रखने का वक़्त आ गया था। पिता लड़के को मेंबरा के पुल का बारह आनेवाला चमरौधा जूता और चार आने गज़ का नया कपड़ा न पहना सके लेकिन उसकी शादी तो कर ही सकता है! पन्द्रह बरस तब शादी के लिए ऐसी कम उम्र भी न समझी जाती थी। गाँव में न जाने कितने थे जिनकी शादी इसी उम्र में हुई थी मुंशी अजायबलाल कैसे अपने बेटे की न करते लोग नाम न धरते! सेहत भी ठीक न चल रही थी अपने पीछे भी लड़के को खूँटे से बाँध देने का ख़याल भी मुमकिन है दिल में रहा हो। सम्भव है पत्नी ने बार-बार आग्रह किया हो कि लड़का अब सयाना हुआ उसका ब्याह कर देना चाहिए। बहू घर में ले आने का मोह किसे नहीं होता। पूरब में जल्दी ब्याह कर देने का चलन भी है। पक्की बात इतनी है कि यह शादी लगायी नवाब के नाना साहब ने थी नाना साहब यानी मुंशी अजायबलाल के नये ससुर साहब। यह भी मुमकिन है कि नाना साहब ने अपने किसी मित्र का भला करने के विचार से या अन्य किसी कारण से यह सम्बन्ध स्थिर किया हो। जो भी बात रही हो यह विवाह बस्ती ज़िले की मेंहदावल तहसील में बस्ती शहर से दस मील दूर रमवापुर,सरकारी गाँव के एक छोटे-मोटे ज़मींदार के घर ठीक हुआ। बड़े आदमी हैं। लड़की बहुत अच्छी है। सब बहुत ख़ुश थे नवाब सबसे ज़्यादा। मारे उत्साह के मण्डप छाने के लिए बाँस भी ख़ुद उसी ने काटे। ख़ुशी उसके भीतर छलकी पड़ रही थी और शायद बाँस की जड़ पर कुल्हाड़ी चलाते समय वह कुछ गुनगुना भी रहा था। पिछले बरसों में उसने जो सैकड़ों किताबें पढ़ी थीं उनमें कितने ही शाही लकड़हारे आये थे अपनी प्रेमिका की तलाश में भिखमंगों का भेस बनाये जंगलों और रेगिस्तानों की ख़ाक छानते हुए सुन्दर राजकुमार आये थे एक से एक सुन्दरी राजकुमारियाँ आयी थीं जिनके आगे चाँद भी शरमाता था। वही सब चीज़ें उसने पढ़ी थीं वही तसवीरें उसके मन में थीं। उसका दिल किलोलें कर रहा था और हवा में जगती मुरादों की और रसवन्ती की ख़ुशबू थी। वही

चलते समय भी रामचन्द्र जी को कुछ नहीं मिला जब कि आबादीजान वगैरह को मुँह माँगे क्या-क्या मिला था।

मेरे पास दो आने पैसे पड़े हुए थे। मैंने पैसे उठा लिये और जाकर शरमाते शरमाते रामचन्द्र जी को दे दिये। उन पैसों को देखकर रामचन्द्र को जितना हर्ष हुआ वह मेरे लिए आशातीत था। टूट पड़े मानो प्यासे को पानी मिल गया।

वहीं दो आने पैसे लेकर तीनों मूर्तियाँ बिदा हुईं। केवल मैं ही उनके साथ कस्बे के बाहर तक पहुँचाने आया।●

बचपन की अबोध ममता और वैसी ही अबोध कातरता

लेकिन अब हम उस दौर की दीवार पर पहुँच गये हैं जब कि नवाब का बचपन अपनी कड़वी मीठी स्मृतियों के साथ बड़ी तेजी से पीछे छूटता जा रहा है। अभी उसकी उम्र चौदह साल है, बचपन के बीत जाने की उम्र नहीं है, केवल वय:संधि है। पर यह सब अब थोड़े दिनों का खेल है। माँ को मरे छः साल बीत चुके हैं। इस बीच उसने बहुत कुछ देखा है, सहा है, सीखा है और अकाल-प्रौढ़ता जो कुछ तो उसकी प्रतिभा का आत्म-बोध है और कुछ उसकी परिस्थितियों का, उसका दरवाजा खटखटा रही है।

इस बार मुंशी अजायबलाल गोरखपुर में बहुत लम्बे टिक गये थे, इतना शायद इसके पहले और कहीं भी रहने का मौका नहीं मिला था, लगभग चार साल। इस बीच नवाब ने मिशन स्कूल से आठवाँ दर्जा ज्यों-त्यों पास कर लिया था। ज़हीन थे मगर स्कूली किताबों में जी न लगता था क्योंकि तिलिस्मी कहानियों की वजह से होश उड़ा रहता था और जो मज़ा हातिमताई की नज़्म में था वह भला मास्टर साहब की संगत में कहाँ। अव्वल-दोयम पास हो जाते थे लेकिन हाँ, हिसाब एक मुस्तकिल हौआ था जिसके नाम से शरीर का हलक सूखता था।

खैर, तो नवाब ने आठवाँ पास कर लिया और तभी मुंशी अजायबलाल की बदली जमनिया की हो गयी। उनकी सेहत पिछले दिनों बहुत गिर गयी थी और बराबर गिरती जा रही थी। दूसरी पत्नी से उनका पहला लड़का गुलाब तब दो-तीन साल का था। और दूसरा महताब हाल में ही पैदा हुआ था। नवाब को अब नवें दर्जे में नाम लिखाना था जो कि बनारस में ही संभव था। पिताजी ने पूछा कितना खर्च लगेगा? नवाब ने कहा—पाँच रुपया दे दिया कीजिएगा। मगर पाँच रुपये में भला क्या होता। यही मुश्किल का सामना था। तो भी पढ़ने की धुन बराबर बनी हुई थी—

● पाँव में जूते न थे। देह पर साबित कपड़े न थे। मँहगी अलग—दस सेर

के भी थे। स्कूल से साढ़े तीन बजे छुट्टी मिलती थी। क्वीन्स कालेज में पढ़ता था। हेडमास्टर ने फ़ीस माफ़ कर दी थी। इम्तहान सिर पर था और मैं बाँस के फाटक एक लड़के को पढ़ाने जाता था। जाड़ों के दिन थे। चार बजे पहुँचता था। पढ़ाकर छः बजे छुट्टी पाता। वहाँ से मेरा घर देहात में पाँच मील पर था। तेज़ चलने पर भी आठ बजे से पहले घर न पहुँच सकता। और प्रातःकाल आठ ही बजे फिर घर से चलना पड़ता था नहीं वक़्त पर स्कूल न पहुँचता। रात को खाना खाकर कुप्पी के सामने पढ़ने बैठता और न जाने कब सो जाता। फिर भी हिम्मत बाँधे हुए था।

अब तक बचपन मर चुका था—यानी लड़के के कंधे पर शादी का जुआ रखने का वक़्त आ गया था। पिता लड़के को अँगरेज़ के पुल का बारह आनेवाला चमरौधा जूता और चार आने गज़ का नया कपड़ा न पहना सके लेकिन उसकी शादी तो कर ही सकता है! पन्द्रह बरस तब शादी के लिए ऐसी कम उम्र भी न समझी जाती थी। गाँव में न जाने कितने थे जिनकी शादी इसी उम्र में हुई थी। मुंशी अजायबलाल कैसे अपने बेटे की न करते लोग नाम न धरते! सेहत भी ठीक न चल रही थी अपने जीते जी लड़के को खूँटे से बाँध देने का ख़याल भी मुमकिन है दिल में रहा हो। सम्भव है पत्नी ने बार-बार आग्रह किया हो कि लड़का अब सयाना हुआ उसका ब्याह कर देना चाहिए। बहू घर में लाने का मोह किसे नहीं होता। पूरब में जल्दी ब्याह कर देने का चलन भी है। पक्की बात इतनी है कि यह शादी लगायी नवाब के नाना साहब ने थी नाना साहब यानी मुंशी अजायबलाल के नये ससुर साहब। यह भी मुमकिन है कि नाना साहब ने अपने किसी मित्र का भला करने के विचार से या अन्य किसी कारण से यह सम्बन्ध स्थिर किया हो। जो भी बात रही हो यह विवाह बस्ती ज़िले की मेंहदावल तहसील में बस्ती शहर से दस मील दूर रमवापुर,सरकारी गाँव के एक छोटे-मोटे ज़मींदार के घर ठीक हुआ। बड़े आदमी हैं। लड़की बहुत अच्छी है। सब बहुत ख़ुश थे नवाब सबसे ज़्यादा। मारे उत्साह के मण्डप छाने के लिए बाँस भी ख़ुद उन्हीं ने काटे। ख़ुशी उनके भीतर छलकी पड़ रही थी और शायद बाँस की जड़ पर कुल्हाड़ी चलाते समय वह कुछ गुनगुना भी रहा था। पिछले बरसों में उसने जो सैकड़ों किताबें पढ़ी थीं उनमें कितने ही शाही लकड़हारे आये थे अपनी प्रेमिका की तलाश में भिखमंगों का भेस बनाये जंगलों और रेगिस्तानों की ख़ाक छानते हुए सुन्दर राजकुमार आये थे एक से एक सुन्दरी राजकुमारियाँ आयी थीं जिनके आगे चाँद भी शरमाता था। वही सब चीज़ें उसने पढ़ी थीं वही तसवीरें उसके मन में थीं। उसका दिल किलोलें कर रहा था और हवा में जंगली गुलाबों की और रातरानी की ख़ुशबू थी। वही

अब वह ऐसा नादान नहीं था उसे सब पता था कि शादी क्या चीज़ होती है, कितनी रंगीन कैसी ख़ूबसूरत। उसने अपनी इतिहास की किताबों में और अपने राजा रानी के क़िस्सों में पढ़ा था कैसे एक सुन्दरी की चितवन पर सल्तनतें लुट गयीं ख़ून की नदियाँ बह गयीं इसी बात के लिए कि शहज़ादा उस माहे-जबीं से उस चन्द्रमुखी से शादी करना चाहता था। उसके तमाम सपने जिन पर पिछले साल डेढ़ साल में ज़माने की थोड़ी-बहुत धूल पड़ गयी थी एक बार फिर जवान हो गये और उसके हाथ की कुल्हाड़ी और भी तेज़ी से चलने लगी।

शादी हुई, शादी में ख़ूब धूमधाम भी हुई, नये-नये मज़ाक़ भी हुए जो अक्सर इस मौक़े पर होते हैं ख़ासकर पूरब में और नवाब ने ख़ूब रस ले-लेकर तुर्की-ब-तुर्की उनका जवाब भी दिया फिर विदाई हुई और नवाब (!) अपनी चोरी अपनी लैला को ऊँट-गाड़ी पर बिठाकर (हाँ ऊँटगाड़ी! नियति कभी अधूरा व्यंग्य नहीं करती!) अपने घर ले चला। घर पहुँचकर उसने अपनी बीवी की सूरत जो देखी तो उसका ख़ून सूख गया। उम्र में वह नवाब से ज़्यादा थी मगर वह तो ऐसी कोई बात नहीं लैला भी तो मजनूँ से बड़ी थी! काली थी मगर सुनते हैं लैला भी तो काली थी!

मगर क़िस्सा और चीज़ है ज़िन्दगी और चीज़। यथार्थ का यह एक और गहरा धक्का था जो नवाब को लगा। देखते ही शकल से नफ़रत हो गयी — भद्दी थुलथुल फूहड़। इतना ही नहीं उनके चेहरे पर चेचक के गहरे-गहरे दाग थे और एक टाँग कुछ छोटी थी जिसके कारण ग़रीब को लचककर चलना पड़ता था। महीने में एकाध बार हनुमाती भी चढ़ती थीं जब उन पर भूत प्रेत आते थे। सुनते हैं दिमाग़ में कुछ ख़लल भी था क्योंकि लड़ाई होने पर अपने पति से कहती थीं — हम तुम्हें गदहा छानने के पगहे से बँधवाकर मँगा लेंगे! ऐसे-ऐसे जादू टोने हैं हमारे पास!

नाना साहब ने पन्द्रह साल के इस ख़ूबसूरत नवाब के लिए ऐसी उम्र में ज़्यादा काली भद्दी थुलथुल चेचकरू अफ़ीम खानेवाली लचककर चलनेवाली औरत ही क्यों चुनी यह रहस्य उनके साथ ही चला गया। लेकिन इसमें शक नहीं कि जिस जिसने देखा उसके मुँह से एक सर्द आह निकल गयी। कहाँ नवाब कहाँ यह औरत का कार्टून! यहाँ तक कि मुंशी अजायब लाल से भी नहीं रहा गया और उन्होंने हिम्मत बटोरकर अपनी पत्नी से कह दिया — लालाजी ने मेरे लड़के को कुएँ में ढकेल दिया। मेरा गुलाब-सा लड़का और उसकी यह बीवी! मैं तो उसकी दूसरी शादी करूँगा। पत्नी ने कहा — देखा जायगा।
और उनके लिए बात वहीं ख़तम हो गयी। लेकिन नवाब के लिए बात

इतनी आसानी से कैसे खत्म होती। वह तो गाँठ जोड़कर उन्हें अपने साथ लाया था।

पर वही गाँठ अब चुनरी से छूटकर दिल में आ लगी थी। कौन जाने उस गाँठ में दो-एक गिरह सास-बहू के झगड़ों ने भी डाल दी हों जो आये दिन होते रहते थे। मुमकिन है नवाब जैसा आदमी उस स्त्री के साथ भी निबाह कर ले जाता लेकिन वह खुद अपनी लाश ढोने जैसी बात होती और अब जब कि थोड़ा निर्वैयक्तिक ढंग से विचार कर सकना सम्भव है यह शायद अच्छा ही हुआ कि मन और शरीर से इतनी बेमेल स्त्री के साथ निबाह करने का मौका नहीं आया। जिन्दा वह बहुत बाद तक रहीं, नवाब ने जब दूसरी शादी की तब तक उन्हें इस घर में दस बरस हो चुके थे लेकिन नवाब का शायद कभी उनसे कोई संबंध नहीं रहा। वह कभी लमही रहतीं और कभी अपने मैके चली जातीं। पर नवाब को किसी बात से कोई मतलब न था। तीन चार बरस तो वह ज्यादातर लमही में ही रहीं पर जब नवाब ने अपनी नौकरी की जिन्दगी शुरू की और उन्हें अपने साथ नहीं ले गये तो वह भी मैहरावल चली गयीं और अधिकतर वहीं रहने लगीं। कभी-कभी लमही भी आ जाती थीं। कई बार इस बात की कोशिश हुई कि नवाब उन्हें अपने पास बुलाकर रखें। शायद इसी सिलसिले में एक बार यह बात भी उड़ी कि उन्हें लड़का हुआ है जिसका नाम उनके घरवालों ने रामदास राम रखा है — कितना ठेठ भुनियाना नाम पर कितना सार्थक[1] मुमकिन है यह बात सिर्फ इसलिए उड़ायी गयी हो कि नवाब पर और भी कुछ दबाव पड़े। लेकिन अगर यह बात सच भी हो कि वह स्त्री जानकी मैया के समान ही निर्दोष थी तो भी शायद इस मामले में प्रेमचन्द को मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र के समान दोषी ठहराना भी अन्याय हो क्योंकि यह प्रसंग केवल दुःख का है — उस पुरानी, सामंती विवाह प्रणाली का और उससे भी अधिक उस व्यक्ति या उन व्यक्तियों का जिन्होंने यह बनमेल सम्बन्ध स्थिर किया या उसके लिए सहमति दी। मुंशी अजायब लाल भी उसके नैतिक दायित्व से बच नहीं सकते। बुढ़ौती में यह एक जबर्दस्त धक्का उनको लगा और कुछ अजब नहीं कि उसने उनके अंत को और पास ला दिया हो क्योंकि वह नवाब की शादी के डेढ़ बरस के भीतर ही कई महीने की बीमारी के बाद इस दुनिया से छप्पन बरस की अवस्था में सिधार गये जब कि उनके पिता छियत्तर बरस की आयु पाकर मरे थे और उनकी माँ भी अभी केवल चार-पाँच बरस पहले मरी थीं।

[1] नवाब नवें में थे जब उनका ब्याह हुआ। अपने खास दानी १८ ७ में उन्हें

मैट्रिक का इम्तहान देना था। लेकिन उसी साल पिता बीमार पड़े और इस दुनिया से उठ गये। नतीजा यह हुआ कि नवाब उस साल इम्तहान नहीं दे पाये। उसके अगले साल नवाब ने मैट्रिक का इम्तहान दिया। सेकंड डिवीज़न में पास हुए। जो भी मजबूरियाँ नवाब की रही हों सेकंड क्लास का नतीजा यह हुआ कि क्वीन्स कालेज में उसका प्रवेश पाना एक समस्या बन गया क्योंकि प्रवेश तो चाहे मिल भी जाता पर फ़ीस नियम के अनुसार केवल अव्वल दर्जेवालों की ही माफ़ हो सकती थी और फ़ीस देकर पढ़ने की स्थिति नवाब की नहीं थी।

● संयोग से उसी साल हिन्दू कालेज खुल गया। मैंने इस नये कालेज में पढ़ने का निश्चय किया। प्रिन्सिपल थे मिस्टर रिचर्डसन। उनके मकान पर गया। वह पूरे हिन्दोस्तानी वेश में थे। कुर्ता और धोती पहने फ़र्श पर बैठे कुछ लिख रहे थे मगर मिजाज को तब्दील करना इतना आसान न था। मेरी प्रार्थना सुनकर — आधी ही कहने पाया था — बोले कि घर पर मैं कालेज की बातचीत नहीं करता, कालेज में आओ। ख़ैर, कालेज में गया। मुलाक़ात तो हुई पर निराशाजनक। फ़ीस माफ़ न हो सकती थी। अब क्या करूँ? अगर प्रतिष्ठित सिफ़ारिशें ला सकता तो शायद मेरी प्रार्थना पर कुछ विचार होता लेकिन देहाती युवक को शहर में जानता ही कौन था?

रोज़ घर से चलता कि कहीं से सिफ़ारिश लाऊँ पर बारह मील की मंज़िल मारकर शाम को घर लौट आता। किससे कहूँ कोई अपना पुछत्तर न था।

कई दिनों के बाद एक सिफ़ारिश मिली। एक ठाकुर इन्द्रनारायण सिंह हिन्दू कालेज की प्रबन्धकारिणी सभा में थे। उनसे जाकर रोया। उन्हें मुझ पर दया आ गयी सिफ़ारिशी चिट्ठी दे दी। उस समय मेरे आनन्द की सीमा न थी। खुश होता हुआ घर आया। दूसरे दिन प्रिन्सिपल ने मेरी तरफ़ तीव्र नेत्रों से देखकर पूछा — इतने दिनों कहाँ थे?

— बीमार हो गया था।

— क्या बीमारी थी?

मैं इस प्रश्न के लिए तैयार न था। अगर ज्वर बताता हूँ तो शायद साहब मुझे झूठा समझें। ज्वर मेरी समझ में हल्की-सी चीज़ थी जिसके लिए इतनी लम्बी ग़ैरहाज़िरी अनावश्यक थी। कोई ऐसी बीमारी बतानी चाहिए जो अपनी कष्ट साध्यता के कारण दया को भी उभारे। उस वक्त मुझे और किसी बीमारी का नाम याद न आया। ठाकुर इन्द्रनारायण सिंह से जब मैं सिफ़ारिश के लिए मिला तो उन्होंने अपने दिल की धड़कन की बीमारी की चर्चा की थी। वह शब्द मुझे याद आ गया। मैंने कहा — पैलपिटेशन आफ़ हार्ट सर!

साहब ने विस्मित होकर मेरी ओर देखा और कहा — अब तुम बिलकुल अच्छे हो ?

— जी हाँ।

— अच्छा प्रवेशपत्र भरकर लाओ।

मैंने समझा बेड़ा पार हुआ। फ़ार्म लिया खानापूरी की और पेश कर दिया। उस समय साहब कोई क्लास ले रहे थे। तीन बजे मुझे फ़ार्म वापस मिला। उस पर लिखा था — इसकी योग्यता की जाँच की जाय।

यह नई समस्या उपस्थित हुई। मेरा दिल बैठ गया। अँग्रेज़ी के सिवा और किसी विषय में पास होने की मुझे आशा न थी और बीजगणित और रेखागणित से तो रूह काँपती थी। जो कुछ याद था वह भी भूल-भाल गया था लेकिन दूसरा उपाय ही क्या था। भाग्य का भरोसा करके क्लास में गया और अपना फ़ार्म दिखाया। प्रोफ़ेसर साहब बंगाली थे। अँग्रेज़ी पढ़ा रहे थे। वाशिंग्टन इर्विंग का रिप वान विंकिल था। मैं पीछे की क़तार में जाकर बैठ गया और दो ही चार मिनट में मुझे ज्ञात हो गया कि प्रोफ़ेसर साहब अपने विषय के ज्ञाता हैं। घण्टा समाप्त होने पर उन्होंने आज के पाठ पर मुझसे कई प्रश्न किये और मेरे फ़ार्म पर 'सन्तोषजनक' लिख दिया।

दूसरा घण्टा बीजगणित का था इसके प्रोफ़ेसर भी बंगाली थे। मैंने अपना फ़ार्म दिखाया। नयी संस्थाओं में प्रायः वही छात्र आते हैं जिन्हें कहीं जगह नहीं मिलती। यहाँ भी वही हाल था। क्लासों में अयोग्य छात्र भरे हुए थे। पहले रेले में जो आया वह भर्ती हो गया। भूख में साग-पात सभी रुचिकर होता है। अब पेट भर गया था। छात्र चुन-चुनकर लिये जाते थे। इन प्रोफ़ेसर साहब ने गणित में मेरी परीक्षा ली और मैं फ़ेल हो गया। फ़ार्म पर गणित के खाने में 'असन्तोषजनक' लिख दिया।

मैं इतना हताश हुआ कि फ़ार्म लेकर फिर प्रिंसिपल के पास न गया। सीधा घर चला गया। गणित मेरे लिए गौरीशंकर की चोटी थी। कभी उस पर न चढ़ सका

ख़ैर, मैं निराश होकर घर तो लौट आया लेकिन पढ़ने की लालसा अभी तक बनी हुई थी। घर बैठकर क्या करता ? किसी तरह गणित को सुधारूँ और कालेज में भर्ती हो जाऊँ, यही धुन थी। इसके लिए शहर में रहना ज़रूरी था।

संयोग से एक वकील साहब के लड़के को पढ़ाने का काम मिल गया। पाँच रुपया वेतन ठहरा। मैंने दो रुपये में अपना गुज़र करके तीन रुपये घर पर देने का निश्चय किया। वकील साहब के अस्तबल के ऊपर एक छोटी-सी कच्ची कोठरी

थी। उसी में रहने की आज्ञा ले ली। एक टाट का टुकड़ा बिछा दिया बाजार से एक छोटा-सा लैम्प लाया और शहर में रहने लगा। घर से कुछ बर्तन भी लाया। एक वक्त खिचड़ी पका लेता और बर्तन धो-माँजकर लाइब्रेरी चला जाता। गणित तो बहाना था उपन्यास आदि पढ़ा करता। पंडित रतननाथ दर का फ़साना आज़ाद उन्हीं दिनों पढ़ा। चन्द्रकान्ता सन्तति भी पढ़ी। बंकिम बाबू के उर्दू अनुवाद जितने पुस्तकालय में मिले सब पढ़ डाले।

जिन वकील साहब के लड़कों को पढ़ाता था उनके साले मेरे साथ मैट्रिकुलेशन में पढ़ते थे। उन्हीं की सिफ़ारिश से मुझे यह पद मिला था। उनसे दोस्ती थी इसलिए जब ज़रूरत होती पैसे उधार ले लिया करता था। वेतन मिलने पर हिसाब हो जाता था। कभी दो रुपये हाथ आते कभी तीन। जिस दिन वेतन के दो-तीन रुपये मिलते मेरा संयम हाथ से निकल जाता। प्यासी तृष्णा हलवाई की दुकान पर खींच ले जाती। दो-तीन आने पैसे खाकर ही उठता। उसी दिन घर जाता और ढाई रुपये दे आता। दूसरे दिन से फिर उधार लेना शुरू कर देता। लेकिन कभी-कभी उधार माँगने में भी संकोच होता और दिन का दिन निराहार व्रत रखना पड़ जाता।

इस तरह चार-पाँच महीने बीते। इस बीच एक बजाज से दो-ढाई रुपये के कपड़े लिये थे। रोज़ उधर से निकलता था। उसे मुझ पर विश्वास हो गया था। जब महीने दो-महीने निकल गये और मैं रुपये न चुका सका तो मैंने उधर से निकलना ही छोड़ दिया। चक्कर देकर निकल जाता। तीन साल के बाद उसके रुपये अदा कर सका। उसी ज़माने में शहर का एक बेलदार मुझसे कुछ हिन्दी पढ़ने आया करता था। एक बार मैंने उससे भी आठ आने पैसे उधार लिये थे। वह पैसे उसने मुझसे मेरे घर, गाँव में जाकर पाँच साल बाद वसूल किये। मेरी अब भी पढ़ने की इच्छा थी लेकिन दिन-दिन निराश होता जाता था। जी चाहता था कहीं नौकरी कर लूँ। पर नौकरी कैसे मिलती है और कहाँ मिलती है यह न जानता था।

जाड़ों के दिन थे। पास एक कौड़ी न थी। दो दिन एक-एक पैसे का चबेना खाकर काटे थे। मेरे महाजन ने उधार देने से इनकार कर दिया था या संकोचवश मैं उससे माँग न सका था। चिराग़ जल चुके थे। मैं एक बुकसेलर की दुकान पर एक किताब बेचने गया। चक्रवर्ती गणित की कुंजी थी। दो साल हुए ख़रीदी थी। अब तक उसे बड़े जतन से रखे हुए था पर आज चारों ओर से निराश होकर, मैंने उसे बेचने का निश्चय किया। किताब दो रुपये की थी लेकिन एक पर सौदा ठीक हुआ। मैं रुपया लेकर दुकान से उतरा ही था कि एक बड़ी बड़ी मूँछोंवाले सौम्य पुरुष ने जो उस दुकान पर बैठे हुए थे मुझसे पूछा — कहाँ पढ़ते हो? *

तक़दीर का खेल भी अजब अनोखा है। कहाँ तो कैसे-कैसे पापड़ बेल रहे थे अगले वक़्त की रोटी का ठिकाना नहीं था और कहाँ अब परोसी हुई थाली सामने रक्खी थी।

सवाल पूछनेवाले सज्जन चुनार के एक छोटे-से मिशन स्कूल के हेडमास्टर थे। उन्हें मैट्रिक पास एक मास्टर की तलाश थी। वेतन था अठारह रुपया। कहने भर की देर थी नवाब ने लपककर मंजूर कर लिया। जैसे दिन उसने देखे थे उनके सामने नवाब का यह कहना कुछ ग़लत नहीं था कि अठारह रुपये उस समय मेरी निराश व्यथित कल्पना की ऊँची से ऊँची उड़ान से भी ऊपर थे।

यह सन् १८९९ की बात है। पिता को मरे भी अब दो बरस हो रहा था। घर पर बस उनकी नयी माँ और उनका एक तीन साल का बच्चा था — बड़ा बच्चा मुताब दो-ढाई बरस पहले जाता रहा था। खेती अव्वल तो थी ही कितनी, और फिर खानेवाले भी कुछ कम न थे। घर में भूनी भाँग नहीं थी और कमानेवाला अकेला नवाब। अपनी नयी माँ से उसे बहुत सुख नहीं मिला यह और बात है, लेकिन अब जब कि पिता की आँखें मुँद गयी थीं उनकी परवरिश की अपनी बिसात भर उनको आराम से रखने की जिम्मेदारी उसी की थी।

नवाब ने अगले ही रोज़ जाकर सब कुछ पक्का कर लिया और तीन-चार रोज़ के भीतर चुनार पहुँच गया जो कि बनारस से चालीस मील दूर, मिर्ज़ापुर के पास एक क़स्बा है।

छोटी-सी ख़ामोश जगह थी। नये-नये पहुँचे थे। मिज़ाज में कुछ शर्मीलापन भी था ही। पढ़ने का चस्का लग ही चुका था। किसी से ज़्यादा कुछ मतलब न रखते थे बस अपने काम से काम।

साथ में चाची के छोटे, सौतेले भाई विजयबहादुर भी थे। अपनी बहन के साथ ही वह भी आ गये थे और फिर वहीं रह गये। उम्र में वह नवाब से चार-पाँच साल छोटे थे पर दोनों में बहुत बनती थी क्योंकि विजयबहादुर भी बहुत नेक, मिलनसार और मुहब्बती तबियत के आदमी थे। ज़्यादा दिन जिन्दा नहीं रहे पर जब तक रहे नवाब के साथ ही रहे। जहाँ जहाँ नवाब का तबादला हुआ वहाँ वहाँ विजयबहादुर उनके साथ गये।

वेतन से पूरा न पड़ता था इसलिए नवाब ने पाँच रुपये का एक ट्यूशन भी कर लिया था। लड़का घर आकर पढ़ जाता था। उस छोटी-सी जगह में नवाब की [illegible] बहुत मशहूर हो गयी थी।

नवाब को अपने पढ़ने-पढ़ाने से फ़ुर्सत न मिलती थी घर का इन्तज़ाम विजय-बहादुर के ज़िम्मे था। पैसे जो मिलते थे वह महीने के शुरू में ही ख़र्च हो जाते थे।

फिर उधार पर चलता था। बोर्डिंग हाउस का बनिया था उसी से रसद उधार ली जाती।

तभी की बात है, एक बार नवाब विजयबहादुर के साथ घर आये यानी लमही। जाड़े के दिन थे। चार-पाँच दिन घर रहे। चलने लगे तो रास्ते के लिए चाची से रुपये माँगे। चाची ने कहा — रुपये सब खर्च हो गये।

बड़ी मुश्किल थी। गाँव में उधार कसे भी तो किससे? लिहाजा मजबूर होकर अपना गरम कोट बेचने की ठानी।

गाड़ी के बहुत पहले दोनों गाँव से चल दिये और शहर आकर नवाब ने अपना कोट दो रुपये में बेचा जो कि एक साल पहले बड़ी मुश्किलों से बनवाया था! सूखी पहनकर उस गरम कोट को बड़े जतन से रखा था। और वह दो रुपये में बिक गया।

इस सब के बावजूद जिन्दगी जैसी कुछ भी बहुत अच्छी थी।

एक रोज स्कूल की टीम का फुटबाल मैच मिलिटरी के गोरों की एक टीम से हुआ। गोरे शायद हार गये। स्कूल के लड़कों ने जोर-शोर से हिप हिप हुर्रे का नारा लगाना शुरू किया। गोरे खिसियाये हुए तो थे ही यह चीज उनको कटे पर नमक छिड़कने जैसी मालूम हुई। इन काले आदमियों की यह मजाल! एक गोरे ने किसी खिलाड़ी को बूट से ठोकर मार दी। मैच देखनेवालों में नवाब भी था। गोरे को बूट चलाते भी उसने देखा। जिस्म बहुत मजबूत नहीं था तो क्या दिल तो मजबूत था और फिर अपने ही मैदान पर खेल हो रहा था। चढ़ती जवानी की उम्र नवाब का खून खौल पड़ा — इसकी यह हिम्मत! सिर्फ इसलिए कि हम काले हैं हिन्दोस्तानी हैं! फिर क्या था उसने आव देखा न ताव लपटकर मैदान में गड़ी हुई एक झण्डी उखाड़ ली और बेतहाशा उन पर पिल पड़ा। लड़कों ने जो उसको आगे-आगे देखा तो खेलनेवाले और तमाशाई सब मैदान में कूद पड़े और उन गोरों की ऐसी पिटाई की कि उन्हें छठी का दूध याद आ गया सारी अकड़फूँ धरी रह गयी।

मैदान जब खाली हुआ तो स्कूलवालों को सबसे ज्यादा ताज्जुब इस बात का हुआ कि इस मार्के में पहल उस शर्मीले नौजवान मुदर्रिस ने की थी जिसे खेलने से बहुत कम मतलब था और जो हमेशा अपनी किस्से-कहानी की किताबों में डूबा रहता था।

लेकिन उससे भी ज्यादा ताज्जुब इस शर्मीले, [illegible] नौजवान की दिलेरी पर उस वक्त होता है जब साठ-पैंसठ बरस पहले के चुनार का नक्शा आँखों के सामने आता है। उग्र ने जो हिन्दी के जाने-माने लेखक हैं और चुनार के ही रहने-वाले हैं अपनी खबर में उस वक्त के चुनार की यह एक हल्की-सी झलक दी है —

उन दिनों क़िलों की क़द्र थी अन्त चुनार में अंग्रेज़ आये। जब मैं पाँच-सात साल का था तब चुनार के क़िले में गोरा-तोपख़ाना पल्टन रहती थी। बहुत दिनों तक चुनार में रिटायर्ड गोरे सपरिवार रहा करते थे। लोअर लाइन्स नामक अपनी एक बस्ती उन्होंने क़ासिमों के क़स्बे की पिछली सीमा पर बसा रखी थी। सन् १९ ५ में चुनार की पाँच-सात हज़ार की आबादी के सिरहाने दो-दो गिरजाघर थे। एक परेड ग्राउण्ड की छावनी के पास जर्मन मिशनरियों का रोमन कैथलिक चर्च और दूसरा प्रोटेस्टैंट चर्च शहर के बीच में था। ईसाई या अंग्रेज़ों की संख्या शहर में चाहे जितनी रही हो पर उनका प्रभाव कितना था इसकी सूचना ये चर्च देते थे। मेरे स्वर्गीय पिता जिस मन्दिर में पूजन किया करते थे उनके बहुत पास खड़े होकर पाँच-सात की वय में मैंने गोरे सोल्जरों के तोपख़ाने की मार्च मन में देखी थी। क़िले से परेड ग्राउण्ड तक ये गोरे सिपाही मार्च करते हुए अक्सर आया करते थे। बैण्ड में मिलिटरी बैण्डवालों की परेड तो मुझे आज भी भूली नहीं है। कई प्रकार के बाजेवाले सभी गोरे, ड्रम — ओह! — कितना बड़ा! इन बैण्ड वाले सिपाहियों के बीच में बाघम्बर धारण किये हाथ में छड़ी-जैसी कोई वस्तु हिलाता चलता था एक मोटा पुरुष सचमुच ब्रह्मपुत्र कोई देवस्नेही योग! सब चुनारवालों को ये गोरे महाकाल के साकार रूप से जैसे लगते थे। अक्सर लोग इनकी छाया से भी दूर भागते थे। लोअर लाइन्स से गुज़रने वाले ग़रीब ग्रामीण चुनारियों को ये रिटायर्ड या सिपाही गोरे कारण अकारण बात में बड़ी तरह पीट दिया करते थे। औरतें तो लोअर लाइन्स में जाने की हिम्मत कर ही नहीं सकती थीं। गंगा पार से शहर में विविध वस्तु बेचने आनेवाली अहीरिनों कोइरिनों बनारिनों को अक्सर उन्मत्त गोरे छीन लेते थे एवं पकड़-पकड़ कर व प्रयुक्त — रेप

उसका मोल लेना ठीक बात नहीं है। अपने काम से काम रखना चाहिए। लेकिन आँखों के आगे सरीहन बदमाशी हो रही हो तो इंसान चुप भी कैसे रहे। गुस्सा देखकर उस आदमी को जैसे फिर किसी बात का होश नहीं रह जाता था और ढंग लाकर, तिलमिलाकर कूद पड़ने के अलावा फिर और कुछ न सूझता।

और यह, बीस साल बाद के पहले पाँच हो के महान बाप मुंशीजी के यहाँ से उखड़ जाने का कारण बनी। सुनते हैं कि वहाँ उसी स्कूल में एक कोई इसी नाम के मौलवी साहब थे। स्कूल के अधिकारी उनके साथ कोई बेमाफ़ी कर रहे थे जो मुंशीजी को बर्दाश्त नहीं हुई। उन्होंने बेधड़क मौलवी साहब का साथ दिया मुझे साफ़ जमकर। बात बढ़ी। मुंशीजी भी मौलवी साहब के साथ निकाल दिये गये।

३

चुनार के मिशन स्कूल से निकलकर मुंशीजी जिनकी उम्र उस समय बीस साल की, साल भर के अन्दर ही फिर बनारस पहुँचे और किसी नये काम की तलाश शुरू हुई।

क्वीन्स कालेज में बेकन साहब प्रिंसिपल थे। शिक्षा-विभाग में बड़ा असर रखते थे, एक ग़रीब नौजवान को ठीके से लगाना उनके लिए मुश्किल बात न थी। नवाब के बारे में उनका ख़याल भी अच्छा था। सीधा सच्चा ज़हीन मेहनती लड़का है। मगर बहुत ग़रीब है।

बेकन साहब ने यहाँ-वहाँ दो-एक ख़त लिखे और मुंशीजी की नियुक्ति २ जुलाई १९   को बहराइच के ज़िला स्कूल में पाँचवें मास्टर के पद पर हुई। वेतन बीस रुपये महीना। सरकारी नौकरी का सिलसिला शुरू हुआ। चुनार की मास्टरी मुदर्रिसी के इस लंबे ड्रामे का रिहर्सल थी।

बहराइच में मुंशीजी को ज़्यादा दिन नहीं रहना पड़ा। ढाई महीने बाद ही उनकी बदली प्रतापगढ़ के लिए हो गयी। २१ सितम्बर से उन्होंने प्रतापगढ़ के ज़िला स्कूल में फ़र्स्ट एडीशनल मास्टर का काम सम्हाला। वेतन वही बीस जो कि घर की ज़रूरतों के लिए काफ़ी न था। रुपया बराबर घर भेजना पड़ता था। चाची अपने बेटे के साथ नहीं रहती थीं। प्रतापगढ़ में उन लोगों को अपने साथ रखने का सवाल नहीं पैदा होता था क्योंकि मुंशीजी खुद ताल्लुके के ठाकुर साहब की हवेली के एक कमरे में रहते थे। उनके दो लड़कों को पढ़ाते थे और उन्हीं के यहाँ रहते थे। ट्यूशन से अब भी छुटकारा न था। लेकिन यह ट्यूशन और ट्यूशनों जैसा न था क्योंकि ताल्लुके के वह ठाकुर साहब बिल्कुल घर के लड़के की तरह उनको मानते थे। और उनका भी संबंध अपने शिष्यों से गुरु-शिष्य का न होकर दोस्ती का ही ज़्यादा था। इस तरह प्रतापगढ़ में मुंशीजी की ज़िन्दगी काफ़ी इत्मीनान से गुज़र रही थी। न कहीं जाते थे न आते थे। घर से स्कूल और स्कूल से घर।

मिलने-जुलनेवालों में पहला नंबर बाबू राधाकृष्ण का था जो आगे चलकर अवध चीफ़ कोर्ट के जज हुए। उनसे मुंशीजी की बहुत बनती थी। बराबर आनी

गयी चीज़ें उन्हें सुनाते थे। बाबू राधाकृष्ण साहित्यरसिक तो थे ही खुद भी शेर कह लेते थे।

पण्डित जयराम शास्त्री संस्कृत के पण्डित थे वहीं ठाकुर साहब की हवेली पर वह भी रहते थे बराबर का साथ था पर सांस्कृतिक पृष्ठभूमि बिल्कुल भिन्न होने के कारण उनके साथ मुंशीजी की मैत्री साहित्यिक मत्री का रूप न ले पाती थी जैसी कि बाबू राधाकृष्ण के साथ थी।

अपना खाना मुंशीजी कभी खुद ही पका लेते थे मगर ज़्यादातर तो लड़कों के साथ हवेली पर ही उनका खाना भी होता।

पढ़ना-लिखना यही उनकी ज़िन्दगी थी। और पढ़ने से ज़्यादा वह लिखते थे। अक्सर रात को बड़ी देर तक लिखते रह जाते।

लड़कों की और उनकी उम्र में बहुत ज़्यादा फ़र्क़ न था पर लड़के उनका बड़ा अदब करते और वह भी उनको बड़ी मुहब्बत से पढ़ाते खासकर अँग्रेज़ी और उर्दू। लड़कों से ज़्यादा मेहनत न करवाते।

परतापगढ़ का पानी भी उनको रास आ गया था। जब तक रहे एक बार भी बीमार नहीं पड़े। प्रसन्न थे संतुष्ट थे लिखने-पढ़ने में दिन बीत रहे थे।

लेकिन अब यह सिर्फ़ गोरखपुर-जैसा पढ़ने का चस्का न था बल्कि एक ऐसे आदमी का पढ़ना था जो कि अपने भीतर एक नयी बरक्ती महसूस कर रहा था। अब से सात बरस पहले तेरह साल के एक लड़के ने अपने किसी मामा से बदला लेने के लिए उनकी छीछालेदर को नाटक की शकल दी थी। बात आयी-गयी हो गयी थी। लेकिन अब वह अपनी रगों में एक नयी ही सुरसुराहट और अपने दिल में एक नयी ही तड़प महसूस कर रहा था जो अपने लिए ज़बान माँगती थी। मगर वह ज़बान उस चीज़ को दे तो कैसे दे?

पिछले बरसों में उसने न जाने कितना कुछ पढ़ा था लेकिन उसमें ज़्यादातर राजा-रानी के क़िस्से थे तिलिस्म और एयारी के क़िस्से थे। पढ़ने में वह बहुत अच्छे लगते थे मगर लिखना वह कुछ और चाहता था। उस तरह के क़िस्से फिर से लिखकर क्या होगा। ठीक है उनसे दिलबहलाव होता है मगर सवाल यह है कि हम आखिर कब तक इसी तरह दिलबहलाव करते रहेंगे। इस तरह तो इतिहास के पन्नों से हमारा नाम भी मिट जायगा। ज़रा अपने समाज की हालत भी तो देखो—कैसी मुर्दे की नींद सो रहा है! उसका दिल बहलाने की ज़रूरत है कि झकझोरकर उसको जगाने की? न जाने कब से सो रहा है इसी तरह। क्या क़यामत तक सोता रहेगा! यह तो मौत है सरासर! अगर कुछ लिखना ही है तो ऐसा कुछ लिखो जिससे यह मौत और ग़फ़लत की नींद कुछ टूटे, यह मुर्दनी कुछ दूर हो।

कितनी बुरी हालत है हमारे हिन्दू समाज की। आदमी को आदमी नहीं समझा जाता। एक आदमी के छू जाने से दूसरे आदमी की जात चली जाती है। यह क्या जिन्दा क़ौमों के लक्षण हैं?

यह सब इन्हीं बड़े-बड़े तिलकधारी ब्राह्मणों की पुजारियों महन्तों मठाधीशों की कारस्तानी है। कहने को चतुर्वेदी हैं, त्रिवेदी हैं यह हैं, वह हैं, लेकिन हैं निरे शिव सोटा पढ़ पत्थर, एक वेद की भी शकल जो उन्होंने देखी हो। बस अपने घर माल से काम हलुआ-पूरी उड़ाये जाओ चैन की बंसी बजाये जाओ। भाँग-बूटी छानो जितनी मन चाहे शराब ढुँकाओ सुन्दर-सुन्दर रमणियों को लेकर विहार करो मन्दिर के भीतर रंडी-पतुरिया नचाओ — इससे बड़ी भक्ति धर्म उपासना और क्या है। पतुरिया नचाने से भगवान भ्रष्ट नहीं होते चमार-पासी उनका दर्शन कर ले तो भगवान भ्रष्ट हो जाते हैं। वैसे कहने को वह पतितपावन हैं। महन्तजी की तिजोरी में बंद।

छोड़ो इन मरदूद पंडों-महन्तों को, एक नज़र इस ग़रीब औरत जात पर भी तो डालो। क्या मट्टी पलीद की है बेचारियों की। कहने को कह दिया — जहाँ नारियों की पूजा होती है वहाँ देवता वास करते हैं। लेकिन कोई पूछे कि आपने किसी तरह का कोई अधिकार नारियों को दिया? बराबरी का दर्जा न देते लेकिन कुछ तो ऐसे अधिकार देते कि नारी पुरुष के अत्याचारों से अपनी रक्षा कर सकती। वह सब कुछ नहीं। उसकी सच्ची स्थिति दासी के अलावा और कुछ नहीं है। स्वामी अच्छा मिला तो वाह-वाह बुरा मिला तो रोये अपनी तक़दीर को। कुछ कर नहीं सकती। हर हालत में वह किसी न किसी पुरुष की आश्रिता है अपने पैरों पर खड़े होने का उसको अधिकार नहीं है। शिक्षा का भी अधिकार उसे नहीं है — पुरुष की बराबरी जो करने लग जायगी! शूद्र और नारी के कान में वेद का स्वर पड़ने से पातक लगता है! उसे अशिक्षित रक्खो निपट असहाय रक्खो घर की चहारदीवारी में बन्द करके रक्खो। उसका उपयोग इतना ही है कि वह भोग्या है रमणी है और अगर इससे बढ़कर कोई उपयोग है तो यही कि वह जननी है। वह एक चीज़ है जिससे सन्तान की पुरुष की सम्पत्ति के उत्तराधिकारी की प्राप्ति होती है। उसका अपना कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं है उसकी अपनी किसी इच्छा को समाज मान्यता देने के लिए तैयार नहीं है इसीलिए तो कन्या और गौ का स्थान एक है — चाहे जिसके साथ बाँध दो। पाँच साल की लड़की का ब्याह पचास साल के बुड्ढे के साथ हो सकता है। लड़की ने पति का मुँह भी न देखा हो तो क्या ब्याह का मतलब भी वह न समझती हो तो क्या पति के मरने पर (या उसके द्वारा छोड़ दिये जाने पर) जब वह एक बार विधवा हो गयी तो हो गयी उसका कोई

उपचार नहीं है। उसे फिर विधवा के समान ही सारी ज़िन्दगी रहना है यानी अपनी सारी प्राकृतिक इच्छाओं को मारकर मुर्दे की तरह ज़िन्दा रहना है। ऐसा ही समाज का विधान है और उसमें किसी प्रकार की छूट नहीं है। अगर कभी किसी समय वह कमज़ोरी दिखलाती है यानी प्रकृति के तकाज़ा के आगे झुकने पर मजबूर होती है — किसी आदमी से प्यार करने लगती है या गर्भवती हो जाती है या किसी के साथ भाग जाती है — तो फिर समाज उसका मुँह भी देखना पाप समझता है। फिर वह समाज के लिए मरे के समान है और बहुत बार तो मौत के घाट उतार भी दी जाती है। उस दण्ड-व्यवस्था में रत्ती भर क्षमा नहीं है। ऐसा सब अप्राकृतिक विधान न होता तो छिपे-छिपे समाज में इतना सब पाप पनपता कैसे! कितनी ही विधवाएँ और समाज की सतायी हुई स्त्रियाँ कोठों पर पहुँच जाती हैं। समाज यह सब अपनी आँखों के आगे होते देखता है लेकिन तो भी उसके कान पर जूँ नहीं रेंगती। अपनी ज़िम्मेदारियों की तरफ़ से कितना बेख़बर लेकिन बेकसों को सताने के लिए कितना तेज़। करना धरना कुछ नहीं लेकिन किसी से कोई ग़लती हो भर जाय कच्चा ही चबा जायगा! विधवाओं पर तो उसकी विशेष कृपा है — उस दुनियादारी स्त्री की दूसरी बहनें ही उस पर चौकीदारी करती हैं और ग़रीब औरत अगर कहीं दुर्भाग्य से अपनी लीक से ज़रा भर भी डिग गयी तो फिर उसकी ख़ैरियत नहीं। पहले तो वह औरतें ही उस वचन तानों से छेद-छेदकर मार डालतीं और अगर इतने से वह नहीं मरी तो फिर उसका और कुछ उपाय किया जायगा।

इस तरह की कितनी कहानियाँ नवाब की आँखों के आगे से गुज़र चुकी थीं और हर बार गुस्से से उसकी आँखें जलने लगी थीं। यही सब अनमेल ब्याह की कहानियाँ विधवा स्त्री की दुर्दशा की कहानियाँ समाज को खोखला करनेवाली लेनदेन और दूसरी कुरीतियों की कहानियाँ — जिनके चलते कितने ही ग़रीब माँ-बाप अपनी बेटी के हाथ पीले भी नहीं कर पाते और इसी दुख में घुल-घुलकर मर जाते हैं — सब उसके भीतर मचल रही थीं। रास्ता नया था। वह समझ न पाता था किधर बढ़े कैसे बढ़े। लेकिन यही उसके भीतर की माँग थी। महज़ दिलबहलाव की चीज़ें वह नहीं लिखेगा। वह ऐसी कहानियाँ लिखेगा जिन्हें पढ़कर इस मुर्दा समाज में कुछ हरकत पैदा हो। किस्सागोई का फ़न वह उन पुरानी किताबों से सीखेगा मगर बात अपनी कहेगा। देश की बड़ी-बड़ी बातें वह क्या जाने मगर औरत जात के साथ नीच कहलानेवाली जातों के साथ जो बेइंसाफ़ियाँ उसकी आँखों के सामने होती हैं समाज के मक्कार, ढोंगबाज़ लोभी लम्पट, दुराचारी लोगों की जिस तरह समाज में तूती बोलती है उस सब की तरफ़ से वह कैसे आँखें मूँद ले।

आर्य समाज का इस समय काफ़ी ज़ोरशोर था। प्रचारक लोग घूमते रहते। जगह जगह सभाएँ होतीं, जल्से होते, सनातनी पंडितों से शास्त्रार्थ होते। बाल-विवाह की बुराइयाँ बतलायी जातीं, अनमेल ब्याह की ख़राबियाँ बतलायी जातीं, *विधवा विवाह के शास्त्रीय प्रमाण जुटाये जाते,* करारदाद की निन्दा की जाती। यह सवाल बिलकुल दूसरा है कि इन बातों में कितना हिस्सा ज़बानी जमाख़र्च था और कितने पर ख़ुद अगुआ लोग अमल करने को तैयार थे। बातें ज़्यादा थीं, अमल कम। जो लोग मंच पर खड़े होकर धुआँधार व्याख्यान देते थे और शादी में लेन-देन की प्रथा को बुरा कहते थे, ख़ुद चोरी चोरी वही काम करते थे, लेते भी थे और देते भी थे। विधवाओं की दुर्दशा पर आठ आठ आँसू रोते थे, लेकिन ख़ुद इसके लिए तैयार न थे कि किसी विधवा से ब्याह कर लें या अपने बेटे का ब्याह कर दें या कि अपनी विधवा बेटी का ब्याह फिर से करने का साहस अपने भीतर पा सकें। होता ज़्यादातर वही था जो सदा से होता आया था, मगर बातें बड़ी-बड़ी होती थीं। यही चीज़ घुन की तरह आर्य समाज के आन्दोलन को खा गयी और सनातन धर्म की मूँछें न हिलीं। लेकिन फिर भी यह एक नयी जागृति थी, इक्का दुक्का आदर्शवादी कभी कुछ कर भी गुज़रता था। ऐसी हालत में फिर भला कैसे मुमकिन था कि नौजवान मुंशीजी का मन इस नयी जागृति की ओर न खिंचता। ख़ुद अपनी ज़िन्दगी में उसने जो कुछ भोगा था, चौगिर्द टोले-पड़ोस में इस तरह के जो क़िस्से होते देखे थे सुने थे, उस सब के आधार पर वह इस नयी चीज़ की तरफ़ मुड़ा और सच्चे मन से झुका। अच्छे-बुरे तो हर आन्दोलन में होते हैं, इसके लिए किसी आन्दोलन को ज़िम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता। बातों के शेर ज़्यादा होते हैं, ज़िन्दगी में उस चीज़ को बरतनेवाले मुट्ठी भर। यह तो हमेशा का क़िस्सा है। *हर आन्दोलन में यही होता है। देखना यह है कि जो कुछ ये लोग कहते हैं,* उसमें सार है या नहीं। दूर जाने की क्या ज़रूरत है, सबसे पहले तो ख़ुद उसकी ज़िन्दगी में उसका प्रमाण मौजूद था। आख़िर क्या पड़ी थी मुंशी अजायब लाल को जो बेटी-बेटे के रहते हुए बुढ़ौती में जाकर दुबारा ब्याह किया? सेहत भी आपकी ख़ासा ख़स्ता थी, रोज़ गिलसिया भर दाक न चढ़ाते तो चलना-फिरना दूभर हो जाता, लेकिन शादी करने से बाज़ न आये। ताज्जुब है मित्रों में किसी ने समझाया भी नहीं कि भैया यह क्या करते हो, क्यों अपने गले की यह फाँसी मोल लेते हो। भगवान के दिये तुम्हारे दो बच्चे हैं, अब तुम्हें और क्या चाहिए। राम का नाम लो और इस हरकत से बाज़ आओ, इसमें सिवाय ख़्वारी के और कुछ तुम्हें *हाथ न लगेगा।* न किसी ने समझाया न ख़ुद आपको अक़्ल आयी। अजी छोड़ो भी, ऐसी भी क्या हवस कि उस पर इंसान क़ाबू न रख सके, उम्र भी तो आपकी

मुलाहिज़ा फ़रमाइए, पचास साल का आपका सिन है और आप चले हैं फिर ब्याह रचाने। है कुछ इन्तहा इस अहमकपने की! ज़रा कोई पूछे उनसे आपसे तो दो बरस भी बीबी के बिना नहीं रहा गया और आप जाकर एक नयी बीबी ब्याह लाये समाज ने ज़रा भी कनौतियाँ नहीं खड़ी कीं लेकिन अगर किसी औरत ने ऐसी ही उम्र में पहुँचकर दुबारा शादी की होती तो आपका समाज उसे ज़िन्दा रहने देता? इस उम्र की बात तो जाने दीजिए, आप तो भरी जवानी में बेवा लड़की को शादी नहीं करने देते। उसे संयम का पाठ पढ़ाते हैं। सारा संयम सारा इन्द्रिय निग्रह उसी के लिए है आपके लिए कुछ नहीं है? भूख बस आपको लगती है औरत को भूख नहीं लगती? आपसे तो उस बुढ़ौती में भी दो बरस नहीं रहा गया और जवान औरत सारी ज़िन्दगी अपनी पहाड़ जैसी जवानी लिये बैठी रहे। वह क्या काठ की बनी है, पत्थर की बनी है! मगर ख़ैर, आपको किसी ने ब्याह करने से रोका नहीं और आपने ब्याह किया। लेकिन हुआ वही जो होना था। आप ख़ुद तो सिधार गये लेकिन मेरे पैर में सदा के लिए बेड़ी बाँध गये। सदा के लिए मैं खूँटे से बँध गया। क्या-क्या तमन्नाएँ थीं घूमने की फिरने की दुनिया देखने की — सब धरी की धरी रह गयीं। अभी एक ही पैर में बेड़ी थी दूसरा पैर आज़ाद था। लेकिन वह भी आपसे न देखा गया दूसरे पैर की बेड़ी का भी इन्तज़ाम आप ख़ुद ही कर गये। बतलाइए नवीं में पढ़ता था मैं क्या बस्ती थी मेरी शादी की? वह भी कोई शादी की उम्र है? और शादी भी कैसी औरत से! रूप-रंग शिक्षा-संस्कार — हर चीज़ से कोरी। कोई उसके साथ निबाह करे भी तो कैसे। लड़ाका ऊपर से। ज़िन्दगी नाश हो गयी। जो उम्र दुनिया देखने में ज़िन्दगी के नये तजुर्बों का हासिल करने में ख़र्च होनी चाहिए थी वह बैल की तरह काम करने में घर के आये दिन के झगड़े चुकाने में ख़र्च हो गयी। एक दिन के लिए मैंने नहीं जाना कि ज़िन्दगी में सुकून या इत्मीनान किस चीज़ को कहते हैं।

यह ठीक है कि उसकी तबीयत बहुत घुमक्कड़ नहीं थी लेकिन तो भी कुछ न कुछ घूमने-फिरने की इच्छा तो हर आदमी के दिल में होती है। और जब वह चीज़ उतनी भी न मिली तो उसका दर्द उसकी टीस होनी स्वाभाविक थी। और शायद ज़िन्दगी भर बनी रही — बावजूद इसके कि धीरे-धीरे, वक़्त बीतने के साथ परिस्थितियों के भँवर में पड़कर घर पर बन्द रहना उसका अभ्यास और उसके स्वभाव की विवशता बन गयी। इस चीज़ का एक हल्का-सा परिचय उस ख़त से मिलता है जो उन्होंने १२ दिसंबर सन् २९ को अपने एक नौजवान मित्र रामजी के पास भेजा था। रामजी डाकख़ाने में काम करते थे। वह उनकी नौकरी के शुरू-शुरू के दिन थे। ऐसा कुछ मौक़ा आया कि उनके महकमे के लोग अपने कुछ

आदमियों को काम के सिलसिले में देश के बाहर भेजना चाहते थे। कोई ज़बर्दस्ती न थी। कोई अगर जाना चाहे तो जा सकता था। रामजी खुद कुछ तय न कर पाते थे लिहाज़ा उन्होंने मशविरे के लिए आपके पास लिखा। उसका जवाब देते हुए आपने अंग्रेज़ी में लिखा —तुम्हारा ख़त पाकर खुशी हुई। काम के सिलसिले में तुम बाहर जाने के लिए नाम लिखाओ इसमें मुझे कोई आपत्ति नहीं है। शर्त यही है कि इससे तुम्हारी तरक्क़ी के रास्ते खुलते हों। खाने और मकान के साथ साठ रुपये महीना बुरा नहीं है। तुम अगर पाँच बरस भी रह गये तो क़रीब तीन हज़ार रुपये बचा लोगे जिसकी यहाँ कोई उम्मीद नहीं है। इसके अलावा यह भी है कि तुम्हें नये-नये देश और नये-नये लोगों को देखने के मौके मिलेंगे और तुम जब घर लौटोगे तो ज़िन्दगी की एक ज़्यादा अच्छी समझ के मालिक होगे।

रामजी गये नहीं, घर के लोगों ने जाने नहीं दिया लेकिन आज भी ज़िक्र निकलने पर उनको मुंशीजी के ख़त का यही जुमला बार-बार याद आता है और बड़ी हसरत के साथ याद आता है। वही हसरत शायद मुंशीजी के दिल में भी जब कि उन्होंने यह बात लिखी थी कुछ ऐसी बात कि बेटे, मैं तो कहीं जा-आ न सका लेकिन अगर तुमको इस चीज़ का मौक़ा मिल रहा हो तो उसे हाथ से मत जाने दो।

मतलब यह कि आर्यसमाज जिन बुराइयों के ख़िलाफ़ लड़ रहा था —जैसा भी लड़ रहा था —उन सब बुराइयों का नुक़सान यह खुद अपनी ज़िन्दगी में कर रहा था। बाप ने बुढ़ौती में ब्याह किया और अपनी देखा छोड़ गये एक लड़के के साथ जिसकी परवरिश की ज़िम्मेदारी उसे ढोनी पड़ी और ऐसी उम्र में ढोनी पड़ी जब कि हर शख़्स कुलाँचें लगाना चाहता है। खुद उसकी शादी बचपन में कर दी गयी एक निहायत अनमेल फूहड़ शादी जिसको निबाहने की ज़िम्मेदारी और निबाह न पाने की ख़लिश उसे झेलनी पड़ी। यह तो खुद एक ज़िन्दा मिसाल था हिन्दू समाज की बदहाली का। लिहाज़ा आर्यसमाज में उसकी दिलचस्पी पूरी थी। वस्तों में तो और जाते ही थे शायद वह आर्यसमाज के बाक़ायदा सदस्य भी थे। परतापगढ़ का हाल तो पक्का नहीं मालूम लेकिन इसके कुछ ही साल बाद हमीरपुर में वह आर्यसमाज के बाक़ायदा मेम्बर थे। ६ फ़रवरी १९१३ को महोबा से मुंशी दयानरायन निगम को भेजे गये एक ख़त में और बहुत-सी बातों के साथ उन्होंने लिखा था—अब रहा रुपयों का ज़िक्र। मुझे इस वक़्त चन्दाँ ज़रूरत नहीं है। मगर मेरे ज़िम्मे हमीरपुर आर्यसमाज के दस रुपये बाक़ी हैं। बार-बार तक़ाज़ा हुआ है मगर अपनी तिही-दस्ती ने इजाज़त न दी कि अदा कर दूँ। आप अगर afford कर सकें तो बराहेरास्त मेरे नाम से हमीरपुर आर्यसमाज के सेक्रेटरी

के नाम दस रुपये का मनीआर्डर कर दें।   यहाँ अब जलसा भी अनक़रीब
होनेवाला है।

जिस जलसे का इस ख़त में ज़िक्र है शायद उसी में मौलवी महेश प्रसाद को
जानने का और मुंशी प्रेमचन्द से पहली बार मिलने का इत्तफ़ाक़ हुआ था। वह लिखते
हैं   सन् १९१२ में प्रेमचन्दजी हमीरपुर ज़िले म शिक्षा विभाग के सब-डिप्टी
इंस्पेक्टर थे। महोबा में रहते थे। मुझे ठीक याद नहीं कि मई का महीना था या
जून का जब कि मुझे आर्यसमाज के एक प्रचारक के रूप में महोबा जाना पड़ा था।
उस समय मुझे उन्हीं के यहाँ ठहरना पड़ा था। उनके ज़रिए ही मुझे ईसाइयों के
उस काम के बारे में बहुत कुछ जानकारी हासिल हुई थी जो कि उस समय महोबे
में ही नहीं बल्कि हमीरपुर ज़िले में भी हो रहा था। उन्होंने बताया था कि हमारी
सामाजिक बुराइयों का ही फल है कि महोबा और बुन्देलखण्ड की दूसरी जगहों
में हिन्दुओं के अनेक लड़की-लड़के ईसाइयों के घरों में पहुँच गये हैं।

मुंशीजी के लिए यह सिर्फ़ कहने की एक बात न थी बल्कि सीने पर बैठा हुआ
एक बोझ था और उन्होंने इन्हीं दिनों 'ख़ून सफ़ेद' नाम की कहानी लिखी। कहानी
यह है कि जादोराय का लड़का साधो परिस्थिति के चक्र में पड़कर पादरियों के
साथ चला जाता है। कई बरस उन्हीं के साथ रहता है। वह लोग उसको ईसाई
बना लेते हैं। फिर एक रोज़ उसको अपने घर की अपने माँ-बाप की सुध आती है
और वह किसी दूर-दराज़ जगह से अपने घर पहुँचता है। माँ-बाप तो अब भी उसके
माँ-बाप हैं लेकिन बीच में बिरादरी आकर खड़ी हो गयी है या दुबारा हिन्दू बन जाने
के बाद भी पूरी तरह उसको अपने बीच लेने के लिए तैयार नहीं है। नतीजा होता
है कि वह भाग्य के-से स्वर में यह कहता हुआ कि 'जिनका ख़ून सफ़ेद है उनके बीच
में रहना व्यर्थ है' फिर वहीं चला जाता है जहाँ से आया था। कहानी कुछ ख़ास
अच्छी नहीं है लेकिन हाँ उससे इस बात का पता ज़रूर चलता है कि मुंशीजी का
मन किस तरह बन रहा था। मन की इस बनावट में आर्यसमाज के अलावा कुछ
हाथ शायद उस सोशल रिफ़ार्म लीग का भी था जो रानाडे और गोखले के नेतृत्व
में काफ़ी महत्वपूर्ण काम कर रही थी। उसका भी उद्देश्य सामाजिक कुरीतियों को
दूर करना था वही कुरीतियाँ जिनके चलते उनके पैरों में चक्की के ये मोटे-मोटे
पाट बँध गये थे वर्ना वह भी चिड़ियों की तरह आज़ाद होता।

नहीं तो वह यहाँ परताबगढ़ में पड़ा था और वहाँ घर पर समझो में उसकी
दूसरी माँ पिता की बपौती की शादी की बेवा और ख़ुद उसकी बीवी बैठी थी
जिससे उसकी शादी पन्द्रह साल की उम्र में हुई थी। उसकी परवरिश की ज़िम्मेदारी
पूरी थी लेकिन सुख एक भी नहीं उल्टे आये दिन की कलह। चलो उस सबसे तो

बसा हुआ हूँ यहीं पर। पढ़ता हूँ पढ़ाता हूँ जो जी में आता है वो अक्सर बोल देता हूँ। मेरे सुख के लिए यही बहुत काफ़ी है। लेकिन यह सब मन को बहलाने की बातें हैं। असल चीज़ यह है कि उसको अपनी ज़िन्दगी उखड़ी हुई मालूम होती थी और अब वह यह भी समझने लगा था कि इसकी ज़िम्मेदारी किसी एक व्यक्ति पर नहीं बल्कि समाज के पिछड़ेपन और उसकी कुरीतियों पर है। इसके लिए अपनी ताक़त भर कुछ न कुछ करना होगा। किसी के हाथ में कोई हथियार है, किसी के हाथ में कोई। कुछ लोग व्याख्यान देने में निपुण होते हैं, वह घूम-घूमकर अपने व्याख्यानों से लोगों को जगाते फिरते हैं। कुछ लोग संगठन करने की कला जानते हैं, वह इस बिखरे हुए समाज को संगठन की डोर में बाँधकर लोगों के दिमाग़ों के बन्द खिड़की-दरवाज़े खोलते हैं। मुझसे यह चीज़ें नहीं बन सकतीं। पर मेरे हाथ में कलम है। लोग क़िस्से-कहानियाँ पढ़ना भी बहुत पसन्द करते हैं। मैं अपने क़िस्सों-कहानियों से लोगों को उनके समाज के असली रूप को उनकी आँखों के सामने लाऊँगा और उन्हें सोचने के लिए मजबूर करूँगा। इतना अगर मैं कर सका तो समझूँगा कि मेरी ज़िन्दगी अकारथ नहीं गयी। अपनी क़ौम की जाति की देश की सेवा करने से बड़ी बात और क्या है। जीने को तो सभी जीते हैं कोई आराम से कोई तकलीफ़ से। कोई शाही टुकड़े खाता है, कमख़ाब पहनता है और महलों में रहता है। कोई जौ की रोटी और बथुए का साग खाकर और फटी मिर्ज़ई पहनकर अपनी फूटी हुई मड़ैया में अपनी ज़िन्दगी के दिन गुज़ार देता है। यह सबकी अपनी-अपनी बात है, दुनिया को उस सबसे कुछ सरोकार नहीं। जो मालदार है वह किसी का घर नहीं भर देता और जो दरिद्र है वह किसी का कुछ छीन नहीं लेता। दुनिया तो सिर्फ़ एक बात जानती है, उसी काँटे से वह सबको तोलती है — उसकी ख़ातिर कौन कितना जिया या नहीं जिया। अपने लिए तो जानवर भी जी लेता है, जो दूसरों के लिए जिये वही असल आदमी है। करोड़पती मर जाता है, कुत्ता भी नहीं भूँकता। और ज़िन्दगी भर चीथड़ा लगाकर घूमनेवाले सच्चे बैरागी की समाधि पर लोग सिजदा करते हैं, फल और बताशे चढ़ाते हैं। दुनिया अपने ऊपर की गयी भलाई को कभी नहीं भूलती। और फिर यह तो किसी पर भलाई करने की बात नहीं है। जिस मिट्टी में मेरा जन्म हुआ उसका झाड़ झंखाड़ साफ़ करने की ज़िम्मेदारी मेरी भी तो है। न सही मैं कहीं का महात्मा लेकिन अपनी बिसात भर काम तो हर शख़्स कर सकता है। सेतुबंध बनाते समय वह गिलहरी जो अपने मुँह में एक तिनका लेकर पहुँची थी भगवान रामचन्द्र ने उसकी भी कुछ कम क़द्र न की थी। आराम और आसाइश की ज़िन्दगी पा लेना मुश्किल हो सकता है लेकिन नामुमकिन नहीं है। मगर सबसे बड़ा सवाल तो यह

है कि आराम और आसाइश लेकर आदमी करे भी क्या? उस रास्ते तो जो गया सो गया। मैं उस रास्ते नहीं जाऊँगा। सच कहता हूँ वैसी कोई तमन्ना मेरे दिल में नहीं है। मेरे लिए तो यही अपनी सीधी-सादी ज़िन्दगी सबसे अच्छी है, न ऊधो के लेन में न माधो के देने में, न दुनिया की हाय हाय से कोई मतलब। अपने घर बैठे मोटा-झोटा जो मिल जाये खा लो और कोने में बैठकर अपना काम करो। इससे अच्छा कुछ भी नहीं है।

बहुत लोगों से मिलने-जुलने की आदत उसे कभी न थी। किताबें ही उसकी सबसे अच्छी साथी थीं। जो वक़्त पढ़ाने से बचता वह अपने पढ़ने और लिखने में खर्च होता। लेकिन अब एक फ़िक्र उसे सताने लगी थी — यही कि अब उसे ट्रेनिंग पास कर लेना चाहिए। ज़िन्दगी भर अब यही मास्टरी करनी है, ट्रेनिंग हासिल किये बिना काम न चलेगा। बहुत अच्छा होता कि सारा समय लिखने पढ़ने को दिया जा सकता लेकिन सिर्फ़ किताबें लिखकर तो रोटी नहीं चल सकती। उसके लिए तो कुछ न कुछ करना ही होगा। और जब कुछ न कुछ करना ही है तो फिर उसमें सबसे अच्छी यही मास्टरी है। और मास्टरी के लिए ट्रेनिंग ऐन ज़रूरी है। उस वक़्त सूबे का सबसे पहला और अकेला ट्रेनिंग कालेज इलाहाबाद में था। परतापगढ़ खुद इलाहाबाद ज़िले की तहसील था और दोनों के बीच सिर्फ़ बत्तीस मील की दूरी थी। लिहाजा धनपत ने इलाहाबाद जाकर ट्रेनिंग लेने का निश्चय किया और लगभग दो बरस परतापगढ़ में रहने के बाद महकमे से दो साल की छुट्टी लेकर इलाहाबाद पहुँचा और ६ जुलाई १९०२ को ट्रेनिंग कालेज की प्रेपेरेटरी क्लास में दाख़िल हुआ। एण्ट्रेन्स पास लोग एक साल इसी क्लास में पढ़ते थे और दूसरे साल जूनियर क्लास में। जूनियर और सीनियर क्लास के प्यूपिल टीचर साथ-साथ पढ़ते थे। नाटे क़द (पाँच फ़ुट चार इंच) और इकहरे जिस्म का वह चौड़ी-चौड़ी हड्डियोंवाला मज़बूत नौजवान जल्दी ही सबकी नज़रों पर चढ़ गया। उसकी वेशभूषा बहुत सादी थी यानी पाजामा और अचकन या बन्द गले का लंबा कोट, सर पर साफ़ा। और जिस तरह वेशभूषा सादी थी उसी तरह उसकी आदतें और उसका स्वभाव भी सीधा-सच्चा और बनावट से परे था। उसकी आवाज़ बुलन्द थी और शरीर में बल की भी कमी न थी — पंजा लड़ाने पर पेंसलियों को मोड़ना मामूली आदमी के लिए आसान बात न थी। ख़ामख़्वाह किसी से दबना भी उसने न सीखा था लेकिन इस सब के बावजूद वह सबसे बहुत घुलकर, अदब के साथ और मुहब्बत से मिलता। होस्टल में लड़ना-झगड़ना तो दरकिनार उसको कभी किसी से असभ्य या रूखे ढंग से बात करते भी नहीं देखा गया। नौकरों के साथ भी वह बहुत अच्छी तरह पेश आता था।

पढ़ने का उसको मर्ज़ था और पढ़ते-लिखते वक़्त वह अक्सर अपना कमरा भीतर से बन्द कर लिया करता था। खेलकूद में भी वह जी खोलकर हिस्सा लेता था लेकिन उसके असल प्राण अपने लिखने-पढ़ने में बसते थे।

और इन्हीं दिनों उनका एक छोटा उपन्यास 'असरारे मआबिद' (देवस्थान रहस्य) बनारस के एक साप्ताहिक उर्दू पत्र 'आवाज़-ए-ख़ल्क़' में ८ अक्तूबर १९०३ से धारावाहिक छपना शुरू हुआ। और इसे एक अनोखा संयोग ही कहना चाहिए कि जिस ८ अक्तूबर को उनकी पहली रचना रोशनी में आयी, उसी ८ अक्तूबर को तैंतीस साल बाद उनकी आँखें इस दुनिया की रोशनी पर बंद हुईं!

इस उपन्यास में एक महन्त जी और उनके चेले-चपाटों की पोल खोली गयी है। नाच-गाने की महफ़िल जमी हुई है।

*रात का वक़्त। अभी इस काली बला की पहली ही मंज़िल है। दूर से मीठे सुरों की आवाज़ सुनायी पड़ती है। मालूम होता है कि कोई कोकिल-कण्ठी गौर वर्णा सुन्दरी प्रेमिका खूब दिल खोल-खोलकर गा रही है (रंगीले बलम काहे करो चतुराई) दर्शकों को भाव बता-बताकर लुभा रही है। तारीफ़ों की बौछार हो रही है, रुपयों की भरमार हो रही है। वाह-वाह की सदा बुलन्द है, हर शख़्स का दिल मुतंव्वर[1] है। महफ़िल के लोग संगीत की शराब से मख़मूर हैं, जलसे के मीमत अंगूठी शराब से चूर हैं। महफ़िल का चिराग़ दिल की तड़प के मारे बेक़रार है, परवाना उस पर जान से निसार है। तमाम लेकर मदहोश [redacted] दीवार भी हमातन-गोश[2] है।

यह आवाज़ श्री महादेव त्रिलोकीनाथ के मंदिर से आ रही है।

इस वक़्त श्रीमान् बाबा त्रिलोकीनाथ माथे पर लाल चंदन का टीका लगाये पीले रेशम की भड़कीली मिर्ज़ई डाटे बैठे हैं। गले में अनमोल मोतियों की एक मोहनमाला पड़ी हुई है। सिर पर एक जड़ाऊ टोपी अजीब शान से रखी हुई है। उनके खूनी दाँतों ने बेचारे बेगुनाह पान के बीड़ों का खून इतना ज़्यादा किया है कि खून की लाली क़ातिलों के गले का हार होकर बार-बार उनकी तरफ़ उँगली दिखा रही है और चूँकि ये ख़ूँख़ार दाँत खून करने के आदी हो गये हैं, उन्हें बिना किसी बेगुनाह के खून से हाथ रँगे चैन नहीं ... यह जो आप महंतजी के माथे पर लाल निशान देख रहे हैं, वह चंदन के निशान नहीं बल्कि इस बात को सिद्ध कर रहे हैं कि हज़रत ने न्याय और धर्म का खून कर डाला है। आप जो इनके गले में मोहन माला देख रहे हैं वह असल में लोभ का फंदा है जो आपको खूब कसकर पकड़े

---

१ आनन्दित २ सतर्क

हुए हैं। सिर पर तिरछी रखी हुई टोपी आपकी अक़्ल के दिवालियेपन को ज़ाहिर कर रही है। आपके शरीर पर रंग-बिरंगी मिर्ज़ई नहीं है बल्कि अंधविश्वासियों को सब्ज़ बाग़ दिखाने का यंत्र है जो आपके हृदय के अंधकार और भीतरी कालेपन के ऊपर पर्दे की तरह पड़ा हुआ है या मुरीदों को लाल बरबादा दिखाने का औज़ार है जो भीतर की कालिमा को संन्यास और वैराग्य के पर्दे में छिपा रहा है, या धोखे की टट्टी है जो भक्तों को जाल में फँसाने के लिए फैलायी गयी है।•

पूत के पाँव पालने में! मुंशीजी का भरपूर रंग इसी पहली चीज़ में मौजूद है — वही पैनी सामाजिक दृष्टि वही बात कहने का फड़कता हुआ अंदाज़। सरशार को मुंशीजी जिस तरह घोलकर पी गये थे वही अब उनके लिखने में उतर आया था। सरशार के क़िस्से जिस तरह गली-कूचे मेले-ठेले यहाँ-वहाँ सब जगह रमते टहलते और उनकी तसवीर उतारते हुए चलते हैं वही चीज़ यहाँ है, समाज के विभिन्न अंगों की वही सजीव चित्रमय पकड़। अंतर इतना ही है (और वह बड़ा अंतर है) कि मुंशीजी में विद्रोही तत्व अधिक है। मगर ढंग उन्होंने सोलहों आने सरशार का ही अपनाया है।

यह देखिए औरतों की एक टोली शिवरात्रि के मेले में जा रही है —

•तमाम औरतें कपड़े-लत्ते से लैस हैं नाक-चोटी से दुरुस्त ज़ेवरों से गोंडनी की तरह लदी हुईं, मारे ज़ेवरों के जिस्म पर तिल रखने की जगह नहीं। आज वह क़ीमती जोड़े निकाले गये हैं जो बराठी कहलाते हैं और जो शादी-ब्याह के मौक़े पर ठाट-बाट से पहने जाते हैं। उनमें हरेक बेजोड़ है कोई छाँटने क़ाबिल नहीं। कस्तूरी में बसी हुई चोटियाँ जो स्नान करने के बाद कंधों पर बिखेर दी गयी हैं, उनकी सुन्दरता को और भी बढ़ाती हैं। हरेक स्त्री के सुन्दर और सुकुमार हाथों में एक बहुत अच्छा पीतल का कमण्डल लटक रहा है जिसमें पूजा का सामान है।

ये चंचल चपल औरतें आपस में हँसती-बोलती दिल्लगी-मज़ाक़ करती चली जा रही थीं। आपस में छेड़-छाड़ भी होती थी बोली-ठोली भी मारी जाती थी तरह बातें भी कही जाती थीं ताने-तिश्ने की भी नौबत आ जाती थी फिर मिलाप हो जाता था। इसी बीच एक बुड्ढे महाशय मिले। उनकी चाल-ढाल उन तीखे बुड्ढों की सी थी जो आजकल लखनऊ में ख़ाक छानते फिरते हैं या उन मुहम्मदशाही नौजवान आशिक़मिज़ाजों की-सी जो गलियों में बटेरें लड़ाया करते थे। सफ़ेद दाढ़ी लहरें मारती हुई। एक कुब्बानुमा टोपी सर पर, कामदानी का अँगरखा बदन पर। आपने जो इन परियों को देखा तो आँखों में दीदार का शौक़ पैदा हुआ और मुँह में पानी भर आया •

कहीं तालाब किनारे रंगीन तबीयत के नौजवान आँखें सेंक रहे हैं, कहीं भँगेड़ियों की टोली बैठी है, भंग घोटी जा रही है और भंग की तरंग में क़सीदे पढ़े जा रहे हैं, कहीं तवायफ़ महंतजी को चपतिया रही है और कहीं उसके हवाली मवाली उसके सिर चढ़ौतियाँ कर रहे हैं, कहीं धूर्त स्वामीजी सुनार के बेटे को वशीकरण का जंतर-मंतर दे रहे हैं और कहीं उस तवायफ़ के हवाली-मवाली उसके नक़ली कण्ठे को असली करके बेचने की तिकड़म में लगे हैं, कहीं मियाँ-बीबी में तकरार हो रही है और बीबी मियाँ के साथ न जाने के लिए तरह-तरह के छल-छंद कर रही है, कहीं टोले-पड़ोस की औरतें झूठमूठ टेसुए बहा रही हैं — सब कुछ बेहद जानदार, बेहद दिलचस्प और उस सब पर इत्मीनान के साथ रुकता-ठहरता क़िस्सा बिलकुल दरबार के रंग में आगे बढ़ता है, कथानक ढीला है या कमज़ोर है इसकी मुंशीजी को रत्ती भर चिन्ता नहीं है।

४

अप्रैल १९०४ में मुंशीजी ने ट्रेनिंग का इम्तहान अव्वल दर्जे में पास कर लिया —हाँ गणित न पढ़ा सकने की बात इस सर्टिफिकेट में भी दर्ज कर दी गयी!

लगभग उन्हीं दिनों 'धनपत राय श्रीवास्तव' ने उर्दू और हिन्दी की स्पेशल वर्नाक्युलर परीक्षा भी पास की।

और शायद इन्हीं दिनों मुंशीजी की चिट्ठी-पत्री मुंशी दयानरायन निगम के साथ शुरू हुई जिन्होंने हाल में ही 'ज़माना' शुरू किया था। उनको लिखने वालों की तलाश थी इनको अपने लिए किसी पत्र की जिसमें वह बेधड़क लिख सकें। धीरे-धीरे इस संबंध ने एक बड़ी गहरी दोस्ती का रूप ले लिया जो मरते दम तक चली। लेकिन अभी तो बस खत-किताबत तक बात थी, शक्ल भी शायद एक दूसरे की उन्होंने न देखी थी।

आग़ाज़ए सफ़र में अभी यह किस्सा चल ही रहा था कि मुंशीजी के लिए ट्रेनिंग का सिलसिला खत्म करके वापस प्रतापगढ़ जाने का वक्त आ गया। १ अप्रैल १९०४ को मुंशीजी अपनी जगह पर लौट गये। लेकिन नौ महीने बाद ही ट्रेनिंग कालेज के प्रिंसिपल केम्प्स्टर ने जो इस शान्त परिश्रमी मीठे और मिलनसार नौजवान से बहुत खुश था मुंशीजी को ट्रेनिंग कालेज से लगे हुए माडल स्कूल का हेडमास्टर बनाकर फिर इलाहाबाद बुला लिया। पचीस साल के नौजवान के लिए माडल स्कूल की हेडमास्टरी कोई छोटी चीज न थी। माडल स्कूल सचमुच माडल स्कूल था—लड़कों के खेलने-कूदने पढ़ने-लिखने के सरंजाम के खयाल से भी और पढ़ाई के स्टैण्डर्ड के खयाल से भी। पढ़ाई को आसान और दिलचस्प बनाने के लिए नयी से नयी तरकीबें जो विलायत में ईजाद होतीं उनको यहाँ अमल में लाने की कोशिश की जाती। और मुंशीजी ने बड़ी उमंग और बड़ी तनदिही से उस भरोसे को सच करके दिखाया जो केम्प्स्टर ने उनके प्रति दिखलाया था।

लेकिन मुंशीजी को अभी यहाँ मुश्किल से तीन महीने हुए थे कि मई १९०५ में उनका तबादला कानपुर के लिए हो गया—उसी पचीस रुपये पर, डिस्ट्रिक्ट स्कूल में आठवें मास्टर के पद पर। मगर खैर, नौकरी के यह सब सिलसिले तो

चलते ही रहे, नवाब का लिखना भी अपनी सम गति से बराबर चलता रहा। अपनी ज़िन्दगी का ख़ाका अब उसकी आँखों के सामने साफ़ था। उसी हद तक यह भी साफ़ था कि लिखने का काम भी चाहे कम चाहे ज़्यादा बराबर दिनचर्या के रूप में चलना चाहिए। खाना-पीना सोना-जागना ज़िन्दगी के और सब काम जब बिला नाग़ा होते हैं तब लिखने के काम में ही नाग़ा क्यों हो — इस अनुशासन की डोर में अपने को बाँधना अब उसने शुरू कर दिया था। और जैसे-जैसे दिन गुज़रते गये वैसे-वैसे यह अनुशासन और पक्का होता गया। अच्छा ही हुआ कि वह मुहूर्त देखकर लिखने के लिए बैठनेवालों में न था वर्ना तो उसकी ज़िन्दगी जैसी थी शायद कभी वह शुभ मुहूर्त उसकी ज़िन्दगी में न आता क्योंकि परेशानियों से छुट्टी तो उसको एक दिन के लिए भी नहीं मिली। चाँद-सूरज जाड़ा-गर्मी-बरसात — प्रकृति में ऐसी कौन-सी चीज़ है जिसका वक़्त बँधा हुआ नहीं है? तो फिर आदमी भी कैसे इस नियम से बच सकता है आख़िर वह भी तो उसी ख़ाक का पुतला है। लिखना अगर महज़ दिमाग़ की खुजली मिटाना नहीं है बल्कि ज़िन्दगी है तो उसे भी ज़िन्दगी के तमाम और मसलों के बीच ज़िन्दा रहना होगा। इसकी तदबीर करनी होगी। इसके लिए अपने आपसे लड़ना होगा। दिमाग़ को दिल को इस बात की ट्रेनिंग देनी होगी। आसान काम नहीं है यह। इत्मीनान ज़िन्दगी में कहाँ है इत्मीनान तो बस मौत में है। मास्टरी उसकी जीविका थी और लिखना उसका जीवन। जीविका जब वह नहीं भी रही तब भी जीवन अपनी उसी धीर-गम्भीर चाल से चलता रहा क्योंकि वही एकमात्र वही उसकी ख़ुशी थी उसका सुख उसका संतोष उसकी सार्थकता। बहुत से दूसरे सुविधा-सम्पन्न लिखनेवालों की तरह उसने कभी जीवन और कला को दो अलग-अलग ख़ानों में बाँटकर नहीं रक्खा। शायद यही उसकी कमज़ोरी थी और यही उसकी सबसे बड़ी ताक़त। उसने ज़िन्दगी में बहुत दुख देखा था और शायद उस दुख को सह सकने के लिए ही प्रकृति ने उस उन्मुक्त हँसी का कवच दे दिया था। यह कवच उसके पास न होता तो वह कभी का टूटकर ख़त्म हो गया होता। क्या थी उसकी ज़िन्दगी — उलझे हुए धागे का एक गोला। माँ कबकी सिधार गयी बाप का साया सर से उठे भी पाँच सात साल हो गये। घर पर सौतेली माँ और उसका बेटा और एक अपनी बीवी बदज़बान फूहड़ झगड़ालू। सास-बहू के आये दिन के झगड़े फूलना मूलना। आराम एक नहीं और मुसीबतों का एक दफ़्तर सर पर। पच्चीस रुपये तनख़्वाह में से दस-बारह रुपये अपने पास रखकर बाक़ी घर रवाना कर देने पड़ते। न खाने का सुख न पहनने का लेकिन कभी तेवर मैला न हुआ। इतना ही नहीं दर्द जितना ही बढ़ता था हँसी उतनी ही बुलन्द से बुलन्दतर होती जाती थी।

यहाँ तक कि ट्रेनिंग कालेज के उनके सहपाठी बाबू लालकिशन साहब के मस्क़ाज में आपकी और स्वर्गीय बाबू गिरिजाकिशोर साहब असिस्टेंट कमिश्नर आबकारी की वजह से हमारा छोटा-सा क़ाफ़िला क्लब बन गया था जिसका रोज़ाना इजलास मेरे ही कमरे में हुआ करता था। उसमें शायद और भी दो-एक साहब थे लेकिन इस वक्त खयाल नहीं आता। बहरहाल उनमें सभी हँसनेवाले थे मगर अमृतराय ग़ज़ब करते थे। जब हँसते तो खूब हँसते और क़हक़हे पर क़हक़हा लगाते चले जाते नहीं यह बनी हुई, खोखली हँसी न थी। खोखली हँसी फ़ौरन पकड़ में आ जाती है वह खुद अपने खोखलेपन का ढिंढोरा पीटती चलती है। उसमें सच्चे-झूठे की तमीज करना इतना मुश्किल काम नहीं है। चाँदी की तरह खनकती हुई, ठनकती हुई यह हँसी जिसमें चेहरे पर खून छलक आता है और आँखों के आसपास झुर्रियाँ पड़ जाती हैं झूठी नहीं हो सकती।

लेकिन यह नादान बच्चे की हँसी भी नहीं है जो दुनिया के दुख-दर्द का सर्द गर्म का हाल नहीं जानता। यह एक ग़म उठाये हुए वाक़िफ़ आदमी की हँसी है जिसने दुनिया में बहुत कुछ देखा है बहुत कुछ सहा है और जानता है कि एक मुकाम पर पहुँचकर रोना और हँसना एक हो जाता है। मगर वाक़िफ़ आदमी ही की तरह उसे इस बात का भी पता है कि जहाँ खुद अपनी तकलीफ़ में आदमी का हँसना अच्छा मालूम होता है वहाँ दूसरे की तकलीफ़ में उससे कुछ और ही उम्मीद की जाती है। तब वह हँसता नहीं हमदर्दी करता है और अपनी सकत भर उस दूसरे आदमी की मदद के लिए दौड़ता है। एक उसकी निजी जिन्दगी है दूसरी उसकी समाजी जिन्दगी। दोनों का अपना अलग अलग अपनी अलग नैतिकता है। एक जगह टेसुए ढरकाना बे-महल है तो दूसरी जगह हँसना बे-महल है। ठीक कहा रहीम ने अपने मन की बिथा मन में ही राखो गोय। क्या होगा दूसरे से कहकर, कोई बाँट तो लेगा नहीं उल्टे सब हँसेंगे। तो मैं इसका मौक़ा ही किसी को क्यों दूँ। मुझे कुत्ते ने काटा है तो मैं अपने दर्द की रेवड़ी सारे ज़माने में बाँटता फिरूँ! दूसरे मुझ पर हँस सकें, इसके पहले मैं खुद हँसूँगा और इस ज़ोर से हँसूँगा कि छत गिर पड़ेगी। *कितनी अच्छी बात कही है उस अंग्रेज़ कवि ने — हँसो तो सारी दुनिया तुम्हारे साथ हँसती है और रोओ तो अकेले रोओ।* लिहाज़ा मैं हँसूँगा ताकि सारी दुनिया मेरे साथ हँस सके — जहाँ तक मेरी अपनी जिन्दगी की बात है। लेकिन जहाँ मैं समाज का एक अंग हूँ और मेरा दर्द अकेले मेरा नहीं बल्कि समाज के बड़े दर्द का ही एक नन्हा-सा टुकड़ा है या मैं देखता हूँ कि किसी पर जुल्म हो रहा है वहाँ मैं चुप नहीं रह सकता और न हँसकर ही छुट्टी पा सकता हूँ। सही या ग़लत उसकी यह पुख्ता समझ है कि साहित्य को लिखनेवाले की निजी जिन्दगी से नहीं

उसकी समाजी जिन्दगी से सरोकार होता है। साहित्य के बारे में उसकी यह समझ पहले रोज़ से लेकर आख़िरी रोज़ तक रही। इसलिए फ़िराक़ गोरखपुरी की बात सुनकर ज़रा भी ताज्जुब नहीं होता कि मुंशी प्रेमचन्द को उर्दू ग़ज़लों से कुछ ख़ास मुहब्बत न थी बल्कि इसी बात को लेकर दोनों दोस्तों में नोक-झोंक चोटें भी हो जाती थीं। ताहम मुंशीजी अपने इस शायर दोस्त की तमाम दलीलों के बाद भी अपनी जगह से हिलने को तैयार न थे। जैसा कि उन्होंने बहुत बाद को अपने मित्र उर्दू के प्रसिद्ध साहित्यकार इम्तयाज़ अली ताज को १४ सितम्बर १९२ के अपने ख़त में लिखा था — मैं लिटरेचर को मैस्कुलिन देखना चाहता हूँ फ़ेमिनिज़्म ख़्वाह वह किसी सूरत में हो मुझे पसन्द नहीं। इसी वजह से मुझे टैगोर की अक्सर नज़्में नहीं भातीं। यह मेरा भीतरी नुक़्स है, क्या करूँ। अशआर[1] भी मुझे वही अपील करते हैं जिनमें कोई जिद्दत[2] हो। ग़ालिब के रंग का मैं आशिक़ हूँ। अज़ीज़ लखनवी के गुलकदे की खूब सैर की थी मगर बदक़िस्मती से आज तक एक शेर भी मौज़ूँ नहीं कर सका। न जी चाहता है। ग़ालिबन शायराना हिस[3] दिल में है ही नहीं।

इस ख़त के कई बरस बाद इन्द्रनाथ मदान के एक सवाल का जवाब देते हुए भी कि बँगला साहित्य क्यों दिल को ज़्यादा छूता है उन्होंने लगभग यही बात कही थी — उसमें एक स्त्रियोचित गुण पाया जाता है जिसे मैं अपने स्वभाव के प्रतिकूल पाता हूँ

लेकिन उनके मन की यह बनावट कुछ एक दिन की न थी। जबसे लिखना पढ़ना शुरू किया तभी से यह चीज़ बहुत गहराई से उनके अन्दर घर कर गयी थी और ताज़िन्दगी रही। इसीलिए जब ज़माना ने जिससे उनका बहुत गहरा संबंध शुरू से ही रहा नवंबर १९२९ में अपना शायरी नम्बर निकाला तो मुंशी जी से नहीं रहा गया — इसलिए और भी कि वह प्रखर संघर्ष का समय था — और उन्होंने एक बहुत तेज़ शिकायती ख़त अपने दोस्त मुंशी दयानरायन निगम को लिखा। ख़त बहुत दिलचस्प है और उससे मुंशीजी के मन की बनावट और उनके साहित्यिक ख़याल पर बहुत नयी और अछूती रोशनी पड़ती है। ख़त चूँकि कुछ झगड़े का है इसलिए हमेशा की तरह बरादरम (मेरे भाई) के संबोधन से शुरू न होकर, बहुत बिफरे हुए अंदाज़ में इस तरह शुरू होता है —

● मकर्रम बन्दा जनाब एडीटर साहब ज़माना तसलीम।

---

१ शेर का बहुवचन २ मौलिक गुण ३ संवेदनशीलता

रिसाला ज़माना का माह नवम्बर का पर्चा देखकर मेरे दिल में चन्द ख़यालात पैदा हुए जिन्हें अर्ज़ कर देना मैं अपना फ़र्ज़ समझता हूँ। उम्मीद है कि जनाब को नागवार न होगा। इस ज़माने में जब कि गूनागूँ[1] अख़लाक़ी[2] सियासी[3] मआशरती[4] और इक़्तसादी[5] मसायल[6] हमारी तमामतर तवज्जो[7] के मुस्तहक़[8] हैं मुझे यह देखकर अफ़सोस हुआ कि रिसाला ज़माना का क़रीब-क़रीब एक पूरा नंबर महज़ ग़ालिब के कलाम[9] के तब्सिरे[10] की नज़र हो गया। मैं ग़ालिब की उस्तादी का क़ायल हूँ। अगरचे शायरी का मज़मूम[11] पहलू ग़ालिब की शायरी में मुक़ाबिलतन्[12] कम है। मगर फिर भी इतना ज़्यादा है कि बइस्तसना[13] उन हज़रात के जो मजनूनी शायरी के रंग में रंगे हुए हैं और सभी तबाओं[14] को मौजूदा मेयार[15] और ज़ौक़े सही[16] से गिरा हुआ नज़र आता है।

लिटरेचर का मौज़ू[17] है तहज़ीब[18] अख़लाक़[19] मुहासिबए जज़बात[20] इन्किशाफ़े हक़ायक़[21] और वारदात-ओ-कैफ़ियाते क़ल्ब[22] का इज़हार।[23] जो शायरी हुस्न व इश्क़ को आईना व शाना[24] कजर व महयार[25] सब्ज़ा व ख़त[26] दहन[27] व कमर के तख़य्युल[28] से मुलव्वस[29] करती हो वह हरगिज़ इस क़ाबिल नहीं कि आज हम उसका विर्द[30] करें। जिनकी उफ़्तादे तबीयत[31] इस रंग की है उन्हें अख़्तियार है ग़ालिब या नासिख़ रिन्द और अमानत का वज़ीफ़ा पढ़ें। लेकिन ज़माना के मुख़्तलिफ़ुत्तबा[32] नाज़रीन[33] को इस विर्द और वज़ीफ़े में शरीक होने के लिए मजबूर करना कहाँ का इंसाफ़ है? मिर्ज़ा जाफ़र अली ख़ाँ साहब ने अपने तब्सिरे में ग़ालिब के कलाम का इंतख़ाब पेश किया है मगर इस इंतख़ाब में भी बेशतर ऐसे अशआर हैं जिन्हें ज़ौक़े सलीम[34] हरगिज़ क़ाबिले सताइश[35] न समझेगा। मुलाहिज़ा हो —

आ गया सामने नज़्ज़ारा गुले नरगिस से
आँख उठाकर जो कभी तुमने इधर देख लिया।

---

१ तरह तरह की २ नैतिक ३ राजनीतिक ४ सामाजिक ५ आर्थिक ६ समस्याएँ ७ समग्र ध्यान ८ अधिकारी ९ काव्य १० चर्चा ११ बुरा १२ अपेक्षाकृत १३ अपवाद १४ तबीयतों १५ समय की कसौटी १६ स्वस्थ रुचि १७ विषय १८ संस्कृति १९ नैतिकता २० भावों की अभिव्यक्ति २१ सत्य का उद्घाटन २२ दिल की हालतों २३ प्रकट करना २४ कंघी २५ इम्मामत प्रसंग २६ चेहरे पर मसों का भीगना २७ मुँह २८ कल्पना २९ लपेट देती ३० माला जपें ३१ तबीयत का रुझान ३२ अलग अलग तबीयतों वाले ३३ पाठकों ३४ सुरुचि ३५ स्तुत्य

मौज की रियायत से नरगिस को लाकर सामने मज़ारा को मुझे नरगिस से भर देना, इसमें क्या जुदरते बयान[1] है ! क्या हक़ीक़त[2] है ! समझ में नहीं आता।

क़ासिदों के पाँव तोड़े बदगुमानी ने मेरे
ख़त दिया लेकिन न बतलाया निशाने कूए दोस्त।

क्यों नहीं बतलाया ? थी आपकी हिमाक़त या नहीं ? आपको ख़ौफ़ हुआ कहीं माशूक़ क़ासिद का दम न भरने लगे। वाह रे माशूक़ और वाह रे आशिक़ दोनों ज़िन्दा दरगोर[3] !

इसी रंग में यह ख़त अभी और भी काफ़ी लंबा है लेकिन शायद इतने ही से यह बात साफ़ हो गयी होगी कि साहित्य का मतलब यह क्या समझता है। नाज़ नख़रे, चोंचलेबाज़ी, सर्द आहों का धुआँ, लफ़्ज़ों की फुलझड़ी, उपमाओं का जमघट, कोरा उक्ति-वैचित्र्य — इन चीज़ों को वह कभी साहित्य के ऊँचे आसन पर नहीं बिठाल सका। यह नहीं कि उनके मज़े से वह बेगाना हो, आख़िरकार यही चीज़ें तो उसकी घुट्टी में पड़ी थीं। लेकिन नहीं, उन चीज़ों का ज़माना लद गया, अब मुल्क और क़ौम को कुछ दूसरी ही ख़ुराक चाहिए। रंग और चटख़ारा दे सको उसमें से जितना दे सको लेकिन बात कहो अपने समाज के दुख-दर्द की, उन भयानक सवालों की जिनकी आग में तुम्हारी बहनें, तुम्हारे भाई, तुम्हारी क़ौम जल रही है। बहुत हो चुका आहों का धुआँ अब इस धुएँ को देखो जो तुम्हारी बेकस बहन, तुम्हारे मज़लूम भाई की चिता से उठ रहा है।

असरारे मआबिद तो आवाज़ए ख़ल्क़ में क्रमशः छप ही रहा था, शायद इन्हीं दिनों परताबगढ़ के इन्हीं महीनों में मुंशीजी ने अपना अगला उपन्यास हमख़ुर्मा व हमसवाब लिखा। १० जनवरी १९०५ को परताबगढ़ से मुंशी दयानरायन निगम को भेजे गये ख़त में जिस नाविल का ज़िक्र है ('मैं बड़े इश्तियाक़'[4] से मुन्तज़िर[5] हूँ कि आपने मेरा नाविल पढ़ा या नहीं।) और बीस रोज़ बाद फिर इलाहाबाद से जिसकी याददेहानी करते हुए उन्होंने अंग्रेज़ी में लिखा था — दो महीने से ज़्यादा हुआ कि मुझे अपने उपन्यास की पाण्डुलिपि आपके पास अवलोकनार्थ भेजने का सौभाग्य हुआ था इस आशा में कि आप मेरे लिए एक प्रकाशक जुटाने की कृपा करेंगे। मुझे याद है कि वह दिसम्बर की आठ तारीख़ थी जब कि मैंने किताब आपके पास भेजी थी — वह उपन्यास शायद हमख़ुर्मा व हमसवाब ही है।

---

१ नवीन कल्पना   २ सत्यतापरक   ३ क़ब्र में   ४ आतुरता
५ प्रतीक्षा में

खुद मुंशीजी ने बहुत बरस बाद २९ जनवरी १९२१ को अपने दोस्त इम्तियाज़ अली ताज को लिखा था — हाँ हमखुर्मा व हमसवाब और किशना वगैरह मेरी इब्तदाई तसानीफ़[1] हैं। पहली किताब तो लखनऊ के नवलकिशोर प्रेस ने छापा की थी दूसरी किताब बनारस के मेडिकल हाल प्रेस ने। ये ग़ालिबन सन् १९ की तसानीफ़ हैं।

इस खत के भी दस-बारह बरस बाद अपनी आत्मकथा जीवन-सार में उन्होंने लिखा — मेरा एक उपन्यास १९ २ में निकला और दूसरा १९ ४ में।

१७ जुलाई १९२९ के खत में उन्होंने निगम साहब को लिखा — सन् १९०१ से लिटररी ज़िन्दगी शुरू की। रिसाला ज़माना में लिखता रहा। कई साल तक मुतफ़र्रिक़ मज़ामीन लिखे। सन् १९ ४ में एक हिन्दी नाविल प्रेमा लिख कर इण्डियन प्रेस से छापा कराया।

काफ़ी परस्पर-विरोधी सी बातें हैं और कुछ अजब नहीं कि मुंशीजी की स्मृति धोखा दे रही हो। प्रेमा पर प्रकाशन का वर्ष १९ ७ अंकित है। हमखुर्मा व हमसवाब पर प्रकाशन-वर्ष अंकित नहीं है। लेकिन उसका पहला विज्ञापन सितंबर १९ ६ के ज़माना में मिलता है और फिर बराबर मिलता है। इससे यह नतीजा निकालना शायद बहुत ग़लत न होगा कि वह किताब सितंबर १९ ६ के आसपास निकली होगी। किशना का पहला इश्तहार अगस्त १९ ७ में और समालोचना अक्तूबर-नवंबर १९ ७ के ज़माना में मिलती है। रूठी रानी का क़िस्सा अप्रैल से अगस्त १९ ७ तक क्रमशः निकला।

ग़रज़ कि मुंशीजी ने जमकर ज़माना में लिखना शुरू कर दिया था और छोटी कहानी तो जैसे उन्होंने सबसे पहले १९ ७ में ही लिखी लेकिन उसके पहले छोटे-छोटे लेखों और समीक्षाओं का सिलसिला बहुत क़ायदे से चलता रहा।

हकीम बरहम के उपन्यास कृष्णकुँवर की समालोचना करते हुए मुंशीजी ने फ़रवरी १९ ५ के ज़माना में लिखा —

उपन्यास अंग्रेज़ी साहित्य-आलोचकों की राय में घटनाओं का एक संग्रह होता है। उपन्यास का क्षेत्र संप्रति बहुत विस्तृत हो गया है। कहीं तो उसमें ज़िन्दगी के किसी अहम मसले पर बहस की जाती है जिसकी मुहम्मद अली साहब ने बड़ी कामयाबी के साथ कोशिश की। कहीं उसमें मानव-स्वभाव की व्याख्या की जाती है हृदय के भावों आशाओं और निराशाओं के नक्शे उतारे जाते हैं, कहीं नैतिक बुराइयों को दूर करने की कोशिश की जाती है। उपन्यासकार कभी

---

१ आरंभिक रचनाएँ

की उसकी मजबूत पकड़, समाज के विभिन्न वर्गों और समूहों के सोचने-विचारने और बोल-चाल के टुकड़ों को पकड़ते हुए संवाद में पेश करने का उसका तरीका और मुहावरों पर चलती हुई उसकी जानदार रवाँ-दवाँ भाषा।

यह देखिए टोले-पड़ोस की पंडाइन और चौबाइन और दूसरी बूढ़ी औरतें पूर्णा को जिसका पति अभी हाल में मरा है सिखावन देने आयी हैं—

● पंडाइन (जो बुढ़ापे की वजह से झुककर छुहारे की तरह हो गयी थीं) — क्यों दुलहिन पंडितजी को गंगालाभ हुए कितने दिन बीते?

पूर्णा (डरते-डरते) — तीन महीने से कुछ ज़्यादा होता है।

पंडाइन — और अभी से तुम सबके घर आने-जाने लगीं? क्या नाम कि तुम कल सरकार के घर चली गयी थीं उनकी कुँआरी कन्या के पास दिन भर बैठी रहीं। भला सोचो तो तुमने अच्छा किया या बुरा। क्या नाम तुम्हारा और उनका अब क्या साथ! जब वह तुम्हारी सखी थीं तब थीं अब तो तुम विधवा हो गयीं। तुमको कम से कम साल भर तक घर से पाँव बाहर नहीं निकालना चाहिए था। यह नहीं कि तुम दर्शन को न जाओ अस्नान को न जाओ। अस्नान-पूजा तो अब तुम्हारा धरम ही है। हाँ किसी सुहागिन या किसी कुँआरी कन्या के ऊपर तुमको अपना छाया नहीं डालना चाहिए।

पंडाइन खामोश हुईं तो मुंशी बदरीप्रसाद की महराजिन फरमाने लगीं — क्या बतलाऊँ, बड़ी सरकार और दुलहिन कल खून का घूँट पीकर रह गयीं। बड़ी सरकार तो ईस्वर जाने बिलख-बिलख रो रही थीं कि एक तो बेचारी लड़की के दूँही जान के लाले पड़े हैं दूसरे अब राँड़-बेवा के साथ उठना-बैठना है, नहीं मालूम ईस्वर क्या करनेवाले हैं। छोटी सरकार मारे गुस्से के काँप रही थीं। बारे मैंने उनको समझाया कि आज मुआफ़ कीजिए, अभी यह बेचारी बच्चा है रीत-व्योहार क्या जाने। सरकार का बेटा जिये जब बहुत समझाया तब जाकर मानीं नहीं तो कहती थीं कि मैं अभी जाकर धक्के-धक्के निकाल देती हूँ। सो बेटा अब तुम सुहागिनों और कन्याओं के साथ बैठने जोग नहीं रहीं। अरे ईस्वर ने तुम पर बिपत डाल दी अब तुम्हारा धरम यही है कि चुपचाप अपने घर में पड़ी रहो जो कुछ मयस्सर हो खाओ पियो और, सरकार का बेटा जिये जहाँ तक हो सके धरम का काम करो।

पूर्णा ने चाहा कि अबकी कुछ जवाब दूँ कि चौबाइन साहबा ने नसीहतों का दफ़्तर खोला। यह एक मोटी बेडौल और अधेड़ औरत थी। बात-बात पर आँखें मीचा करती थीं और आवाज़ भी निहायत कर्कश थी — भला उनसे पूछो कि अभी तुम्हारे दूल्हे को उठे तीन महीने भी नहीं बीते और तुमने अभी से आइना

कंघी-चोटी सब करना शुरू कर दिया ! क्या नाम कि तुम अब विधवा हो गयीं तुमको अब आइने-कंघी से क्या सरोकार ठहरा। क्या नाम कि मैंने हजारों औरतों को देखा है जो पति के मरने के बाद गहना-पाता नहीं पहनतीं हँसना-बोलना तक छोड़ देती हैं न कि आज तो सुहाग उठा और कल सिंगार-पटार होने लगा। क्या नाम कि मैं अस्लो-पत्तो की बात नहीं जानती कहूँगी सच चाहे किसी को तीता लगे या मीठा। ●

इन्हीं खूसट बुढ़ियों में से एक की विधवा बहू रामकली है (असरारे मआबिद में इसी नाम की इसी ढब की एक छोकरी से हम मिल चुके हैं) — सोलह-सत्रह साल की युवती। उसे घर के भीतर बन्द रखा जाता है और हर-हर तरह से उसके ऊपर जकड़बन्दी है। नतीजा होता है कि वह गंगा-स्नान और पूजा-पाठ के बहाने घण्टों-घण्टों घर से बाहर रहती है और राहचलते लोगों से पनवाड़ियों से नैना लड़ाती है और साधू-महात्माओं की रेल-पेल में घुसकर भाँग-बूटी छानकर क्या नहीं करती। यही रामकली पूर्णा से बात करते हुए कहती है —

सुनती हूँ कल हमारी सास कई बूढ़ियों के साथ तुमको जलाने गयी थी। मुझे सताने से अभी तक जी नहीं भरा यह सब ऐसा दुख देती हैं कि जी चाहता है जहर खा लूँ और अगर यही हाल रहा तो एक न एक दिन यही होना है। नहीं मालूम ईश्वर का क्या बिगाड़ा था कि एक दिन भी जिन्दगी का सुख न भोगने पायी ! भला तुम तो अपने पति के साथ दो बरस तक रहीं भी मैंने तो उसका मुँह भी नहीं देखा। जब तमाम औरतों को बनाव-सिंगार किये हँसी-खुशी चलते फिरते देखती हूँ तो छाती पर साँप लोटने लगता है। विधवा क्या हो गयी घर भर की लौंडी बना दी गयी। जो काम कोई न करे वह मैं करूँ। उस पर रोज उठते जूती बैठते लात। काजल मत लगाओ मिस्सी मत लगाओ बाल मत गुँथवाओ, रंगीन साड़ियाँ मत पहनो पान मत खाओ। एक रोज एक गुलाबी साड़ी पहन ली थी तो वह चुड़ैल मारने उठी थी। जी में तो आया कि इस के बाल नोच लूँ मगर जहर का घूँट पीकर रह गयी। और वह तो वह उसकी बेटियाँ और दूसरी बहुएँ मेरी सूरत से नफ़रत रखती हैं। सुबह को कोई मेरा मुँह नहीं देखता। अभी पड़ोस ही में एक शादी हुई थी। सब की सब गहने से लद-लद गाती-बजाती गयीं एक मैं ही अभागिन घर में पड़ी रोती रही। भला बहन अब कहाँ तक कोई सब्र करे। आखिर हम भी तो आदमी हैं, हमारी भी तो जवानी है। दूसरों की खुशी चहक-महक देख खामखाह दिल में हौसले होते हैं। जब भूख लगती है और खाना नहीं मिलता तो चोरी करना पड़ती है।

और यह दरअसल बनारस की एक तमोली की दुकान है—

काठ के जीनेनुमा तख्तों पर सफ़ेद कपड़े पानी से भिगोकर बिछाये हुए थे। उस पर बँगला व देसी व मगही पान बड़ी सफ़ाई से चुने हुए थे। सामने दो बड़े-बड़े चौखटेदार आइने लगे हुए थे और एक छोटी-सी चौकी पर सुगन्धित की शीशियाँ और मसालों की डिबियाँ खूबी से सजाकर धरी हुई थीं। तमोली एक छबीला जवान था। सर पर दुपल्ली टोपी चुनकर तिरछी रखी थी बदन में जाली का चुनट पड़ा हुआ कुर्ता था। गले में सोने की ताबीज आँखों में सुर्मा माथे पर लाल टीका होंठ पर पान की लाली

सत्रह साल की युवती विधवा रामरत्ती का एक ठीहा यह भी है

नवाब ने अच्छी तरह समझ लिया है कि हिन्दू समाज का सबसे बड़ा अभिशाप निर्दोष निरपराध विधवा स्त्री है जिसे अकारण जीवन भर इतना दुख उठाना पड़ता है। वह समाज जिसमें इतना अन्याय हो ज्यादा दिन नहीं चल सकता। यह चीज बराबर एक शिव की तरह उसके मन पर बैठी रहती है। जो समाज अकारण किसी को इतना भयानक दुख और पीड़ा पहुँचा सकता है—एक तरफ स्त्रियों को और दूसरी तरफ अछूतों को—वह सचमुच अभिशप्त है और अच्छा हो कि कल के मरते आज ही उसका जनाजा निकल जाय। लेकिन नहीं वह खुद भी तो हिन्दू है और कायस्थ है। उर्दू-फ़ारसी उसकी घुट्टी में पड़ी है। उस साहित्य से उसका गहरा परिचय है। मुसलमानों के बीच वह उठता-बैठता है। उनके आचार-विचार से रीत-व्योहार से तौर-तरीकों से उसका अच्छा परिचय है। इसलिए वह जाने या न जाने मन ही मन वह अपने समाज का मिलान मुसलिम समाज से करता रहता है और जितना ही वह मिलान करता है उतना ही उसका मन उदासी से गुस्से से चिढ़ से भर उठता है क्योंकि मुसलिम समाज में कहीं ज्यादा बराबरी है भाईचारा है आदमी को आदमी समझा जाता है, समाज में स्त्री की स्थिति अधिक सुखद है, समाज उसके अधिकारों को मान्यता देता है, उसका विधान करता है हिन्दू समाज की तरह सब जबानी जमाखर्च नहीं है।

समाज के यही सब सवाल यही सब दर्द और बेचैनी नवाब की इस दौर की चीजों में नजर आती है। लेकिन अब तक वह इतना बड़ा हो चुका है कि जानता है सिर्फ़ गुस्से या झुँझलाहट से कुछ न होगा उसके लिए अपने समाज से बाक़ायदा जंग करनी होगी और यह निरी आकस्मिक बात नहीं है कि जब वह इस क़िस्से में अमृतराय और पूर्णा की शादी कराने उठता है तो वह चीज बाक़ायदा लड़ाई का रूप ले लेती है।

आज भी विधवा-विवाह आम चीज नहीं है लेकिन अगर कोई करना ही चाहे

तो शायद ऐसा न होता कि धर्मध्वजी लोग उसको मारने के लिए आयें। पर आज से पचपन-साठ बरस पहले कुछ अजब नहीं कि ऐसी हालत रही हो।

जहाँ तक नवाब के अपने ब्याह की बात थी उसमें कुछ रस बाकी न था। बस एक रिश्ता था जिसे निबाहा जा रहा था। जब से नवाब इधर परतापगढ़ और इलाहाबाद में रह रहे थे तब से साथ रहने के झमेलों से भी छुट्टी थी। दोनों सास-बहू लमही में रहती थीं और नवाब उनसे अलग-थलग लिखने-पढ़ने में अपने दिन गुजारते थे। छुट्टियों में घर जाते तो झगड़ा पड़ता। जिन्दगी में जहर घुल गया था लेकिन फिर भी निबाह किये जा रहे थे और कोई इरादा उस बीवी को छोड़ने और दुबारा घर बसाने का न था। उधर पत्नी भी परित्यक्ता-जैसा जीवन बिता रही थी और शायद इसीलिए सास-बहू के झगड़े और भी बढ़ गये थे। जिन्दगी जैसे-तैसे घिसट रही थी। लेकिन किसी को पता न था कि नियति उन सबके लिए कैसा जाल रच रही है।

५

यह सन् पाँच की मई है और मुंशीजी इलाहाबाद से तब्दील होकर कानपुर आ गये हैं।

उनके मिज़ाज में तकल्लुफ़ काफ़ी है लेकिन तबीयत जिससे खुल जाती है, खुल जाती है। मुंशी दयानरायन ने उन्हें अपने यहाँ आकर ठहरने की दावत दी है और मुंशीजी उस दावत को क़बूल करके उन्हीं के हवेली-जैसे मकान में नया चौक में रह रहे हैं। मुंशीजी ज़माना परिवार के अपने आदमी हैं और निगम साहब के दोस्त ही उनके भी दोस्त हैं। पूरा जमघट है। नौबत राय नज़र दुर्गा सहाय सरूर प्यारेलाल शाकिर और और बहुत से लोग जिनके नाम अब खो गये हैं। हर रोज़ शाम को महफ़िल जमती थी और हुस्न-ओ-इश्क़ से लेकर शोले बरसाती हुई सियासत तक दुनिया की हर चीज़ के बारे में गरम-गरम बहसें होती थीं। सभी नौजवान थे जोशीले थे शेर-ओ-शायरी के लिखने-पढ़ने के शौक़ीन थे। दीन-दुनिया की कोई चीज़ ऐसी न बचती जिस पर खुलकर बातें न होतीं। एक दूसरे की नुक्ताचीनी होती हँसी-मज़ाक़ होते क़हक़हे पर क़हक़हे उड़ते। और सिर्फ़ क़हक़हे न उड़ते बोतलों के काग भी उड़ते। सरूर और नज़र बाक़ायदा पीनेवालों में थे नवाब राय भी चाहे-न-चाहे मुँह जुठार लेते।

मुंशीजी उन लोगों में से न थे जो चार दोस्तों के बीच भी कट्टर मौलाना की तरह शराब पीने को एक बड़ा गुनाह समझते हुए, मुहर्रमी सूरत बनाये सबों को लिये बैठे रहते हैं। क्या मसरफ़ ऐसे आदमी का और अगर उसे बातचीत नहीं कर आती और हँसने से जिगर के फटने का अंदेशा रहता है तो वह जाय ही क्यों ऐसी महफ़िल में!

मगर साथ ही मुंशीजी उनमें भी न थे जिन्हें हर वक़्त अपनी ही आवाज़ सुनना अच्छा मालूम होता है। ऐसा आदमी किसी भी महफ़िल के लिए एक अज़ाब होता है और लोग उसकी सूरत से नफ़रत करने लगते हैं। इसके बरअक्स मुंशीजी महफ़िल की जान थे। उनसे महफ़िल का रंग उखड़ता नहीं जमता था।

बेशक उनके स्वभाव का एक पहलू ऐसा भी था जो काफ़ी संकोची या शर्मीला



मुंशी दयानारायन निगम

بابت ۱۳۱۶ ور - باپ کا نام منشی عجائب لال [illegible]

[illegible] - فارسی ابتدا [illegible] سال ایک فارسی پڑھا -

[illegible] - میٹریکولیشن سکول [illegible] انٹرنس پاس کیا - [illegible]

[illegible] سال کی عمر میں [illegible] سال [illegible]

[illegible] - ۱۹۰۱ سے تحریر [illegible]

[illegible] سال تک [illegible]

[illegible] شائع کیا - [illegible]

[illegible]

उर्दू हस्तलिपि

था। अजनबियों के बीच वह मुश्किल से ज़बान खोल पाते थे। लेकिन दोस्तों के बीच उनकी कायापलट हो जाती थी। हँसते थे हँसाते थे उर्दू-फ़ारसी के शेर और लतीफ़े सुनाते थे लोगों पर फ़िक़रे कसते थे लोग उन पर फ़िक़रे कसते थे आपस में किसी तरह का पर्दा न था। खुली हुई, बेबाक तबीयत पायी थी जो दोस्तों की महफ़िल में बैठकर और भी खुल जाती थी।

महफ़िल के रंग में बहने का यह हाल था कि एक रोज़ जब कि निगम साहब के यहाँ कुछ ख़ास दोस्त जमा थे और क़रीब ही किसी छत पर ग्रामोफ़ोन में बर्ट शेपर्ड का मशहूर लाफ़िंग सांग I sat in a corner बजने लगा तो कुछ देर तो मुंशीजी ख़ामोश रहे और फिर यह कहकर कि लीजिए मैं भी इसके क़हक़हे में इसका साथ देता हूँ क़हक़हा मारने लगे और बड़ी देर तक यों ही हँसते रहे।

हफ़्तों भी नहीं चंद दिनों के भीतर वह महफ़िलें मुंशीजी के ख़ून का ऐसा जुज़ बन गयीं कि जब वह गर्मी की छुट्टियों में अपने घर लमही गये तो इन सोहबतों की याद करके तड़प-तड़प गये इसलिए और भी कि जिस भी नज़र से देखिए, कानपुर की ज़िन्दगी अगर स्वर्ग थी तो घर की वह ज़िन्दगी नरक। वहाँ बस स्कूल का काम था और उससे छुट्टी पायी तो दोस्तों की महफ़िल थी हँसी-मज़ाक़ या साहित्य चर्चा थी न कोई फ़िक्र थी न परेशानी। और घर जो आये तो जैसे भिड़ के छत्ते में हाथ मार दिया सारी परेशानियाँ जिनसे दूर रहने के कारण निजात मिली हुई थी यकबारगी उनके ऊपर टूट पड़ीं और उन्होंने घबराकर मुंशी दयानरायन को जो इतने ही दिनों में उनके सबसे अच्छे दोस्त बन चुके थे एक लंबा ख़त लिखा —

बरादरम अपनी बीती किससे कहूँ। बदन छिले छिले कोफ़्त हो रही है। ज्यों-त्यों करके एक अशरा[1] काटा था कि ख़ानगी तरद्दुदात[2] का तांता बँधा। औरतों ने एक-दूसरे को जली-कटी सुनायी। हमारी मख़दूमा[3] ने जलभुनकर गले में फाँसी लगायी। माँ ने आधीरात को भाँपा दौड़ीं उसको रिहा किया। सुबह हुई, मैंने ख़बर पायी। झल्लाया बिगड़ा सख़्त मलामत की। बीबी साहबा ने जब ज़िद पकड़ी कि यहाँ न रहूँगी मैके जाऊँगी। मेरे पास रुपया न था। नाचार खेत का मुनाफ़ा वसूल किया। उनकी रुख़सती की तैयारी की। वह रो-धोकर चली गयी। मैंने पहुँचाना भी न पसन्द किया। आज उनको गये आठ रोज़ हुए, न ख़त है न पत्तर। मैं उनसे पहले ही ख़ुश न था अब तो सूरत से बेज़ार हूँ। ग़ालि-

---

१ पखवारा २ घरेलू परेशानियाँ ३ मालकिन

वरन् मवक्की की जुदाई दायमी साबित हो। खुदा करे ऐसा ही हो। मैं बिला बीबी के रहूँगा। जिन्दगी भर के मुर्दा मंजूर ही रहेगा। उधर ननिहाल से वालिदा की तरफ़ से ज़िद है कि ब्याह रचे और ज़रूर रचे। जब कहता हूँ मैं मुफ़लिस हूँ, कंगाल हूँ खाने को मयस्सर नहीं तो वालिदा साहबा कहती हैं तुम अपनी रज़ामन्दी ज़ाहिर करो तुमसे एक कौड़ी न माँगी जायगी। सुनता हूँ बीबी हसीन है, बाशऊर है जेब से खर्च के बग़ैर मिली जाती है फिर तबीयत क्यों न गुरगुराय और गुदगुदी क्यों न पैदा हो। ईश्वर जानता है दो-तीन दिन उसका ख़्याल भी देख चुका हूँ। बहरहाल अबकी तो पक्का पूरा ही करूँगा आइन्दा की बात नारायन के हाथ है। जैसी आपकी सलाह होगी वैसा करूँगा। इस बारे में अभी फिर मशविरा करने की ज़रूरत बाक़ी है।

इसी ख़त में अपने घर की और भी जो तस्वीर खींची है, वह भी देखने क़ाबिल है —

गर्मी की कैफ़ियत न पूछिए। कहलाने को साहिबे-मकान[1] हूँ। और खुदा के फ़ज़्ल से मकान भी सारे गाँव का मशहूर है मगर रहने क़ाबिल एक कमरा भी नहीं। कोठे पर आग बरसती है। बैठा और पसीना चोटी से एड़ी को चला। नीचे के कमरे सब बंद। परीशान। किसी में बैल बँधता है किसी में उपले जमा हैं। कहीं अनाज का ढेर है किसी में चाक चक्की ओखली मूसल वग़ैरह मुतफ़र्रिक़ात[2] हैं। कोई बैठे कहाँ सोये कहाँ। मजबूरन अनाज के घर में एक चारपाई की जगह निकाल ली है। उसी पर दिन-रात पड़ा रहता हूँ। अकेले घूमने कहाँ जाऊँ। बच्चे तीन-चार दिन के लिए आये हैं। हमारी मजबूरा को पहुँचाने के लिये बस्ती गये वहाँ से अपने वालिद के पास चले जायँगे। इस गर्मी में कैसा पढ़ना कैसा लिखना। सुबह के वक़्त चना-चाय पीता गर्द-गिरदानी कर लेता हूँ, बाक़ी रात दिन मैं हूँ और चारपाई। मुस्कराता पड़ा हूँ मगर कोई भी कुछ मेरे घर की लौंडी नहीं। उस पर तुर्रा यह क़लम। कहाँ हँसी मज़ाक़ में दिन कटता था कहाँ चुप की मिठाई या मूँगे का गुड़ खाकर बैठना पड़ता है। अजब चीज़[3] में जान मुसीबत है। भाई, जल्दी से छुट्टी कटे और फिर यारों के जलसे और चहचहे क़हक़हे हों। आये बीस दिन से ज़्यादा गुज़रे मगर क़सम लि जो जो ज़बान से प्यारा लफ़्ज़ बंधुक एक बार भी निकला हो।

बहुत हसरत से भरा हुआ ख़त है। कोई छोटी बात नहीं है यह कि आपके घर की एक स्त्री जो आपकी स्त्री है चाहे वैसी भी गले में फाँसी लगा ले। लेकिन

---

१ मकानवाला २ उपास्य देवता ३ भीड़ लगाये ४ पर्दे पकड़ना ५ संगट

किस तरह से उसको बयान किया है। किसी तरह की हमदर्दी उस औरत को देने के लिए वह तैयार नहीं है। दिल कितना दुखा हुआ है जो इस तरह की बात मुमकिन हो सकी! उस रोज विजयबहादुर उनको ले जाकर बस्ती जो पहुँचा आये तो नवाब के लिए वह सचमुच मर गयी—यों मरी बहुत बाद को। खत उनके जाने के आठ रोज बाद लिखा जा रहा है। आठ रोज का वक्त मन की उदासी या भारीपन को कम करने के लिए थोड़ा नहीं होता लेकिन तो भी खत से एक बेदर्दी का एहसास होता है जो उनकी पूरी तबीयत से मेल नहीं खाता मगर जाहिर है इस बात की कि यह शादी ग़रीब के जी पर कितनी भारी हो रही थी।

मुंशीजी और निगम साहब दोनों एक दूसरे की तरफ़ बड़ी तेजी से खिंचे और शायद इसकी एक बड़ी वजह यह थी कि दोनों का स्वभाव एक दूसरे से काफ़ी अलग और कहीं-कहीं विरोधी भी था। मुंशी दयानरायन चौक-काँटे से दुरुस्त दुनियादार आदमी थे पहलू बचाकर काम करते थे हर काम में अपना नफ़ा-नुकसान देख लेते थे। रहने-सहने में भी साफ़-सुथरे, क़ायदे के आदमी थे हर तरह से बहुत प्रैक्टिकल। मुंशी धनपतराय बिल्कुल उनके उल्टे थे। रहन-सहन में कतई लापरवाह न कपड़े की फ़िक्र न लत्ते की न बालों की फ़िक्र न मूँछों की। किसी भी हालत में रह लेते थे और यह चीज आदत बन गयी थी। दुनियादारी से भी उन्हें कम ही वास्ता था। जो बात सही थी सही थी और जो ग़लत ग़लत — दुनियादारी का उसमें बहुत कम दख़ल था। पहलू बचाकर काम करना सीखा ही नहीं। स्वभाव का यह बुनियादी अन्तर दोनों को काफ़ी अलग-अलग दिशाओं में ले गया, लेकिन एक चीज जो दोनों के मिज़ाज में बराबर मिलती थी वह थी उनकी वज़ादारी जो कि उस पुराने ज़माने की ही एक चीज थी और उसके साथ ही मिट गयी। दोनों अपने स्वभावों की भिन्नता को देखते हुए भी एक-दूसरे की क़ीमत समझते थे एक-दूसरे की क़द्र करते थे। बात शुरू इसी तरह हुई कि दयानरायन साहब के लिए वह एक नया प्रतिभाशाली लेखक था और मुंशीजी के लिए निगम साहब एक ऐसे पत्र के संपादक थे जो तेजी से अपना स्थान बना रहा था। लेकिन जल्दी ही उसने कुछ और ही रंगत अख़्तियार कर ली। मुंशीजी ने निगम साहब को बड़े भाई की जगह दी यों उम्र में मुंशीजी ही बड़े थे। यह बात निगम साहब को काफ़ी अजीब मालूम हुई लेकिन सच पूछिए तो अजीब इसमें कुछ भी नहीं है — मुंशीजी को सादी का वह मक़ूला अभी भूला न था जो उन्होंने अपने बचपन में पढ़ा था कि उम्र की गिनती सालों से नहीं बल्कि तजुर्बे से होती है। और चूँकि दुनिया के तजुर्बों में वह दयानरायन साहब को अपने से बड़ा समझते थे इसलिए उम्र में भी अपने से

बड़ा मानते थे। और इसीलिए, जैसा कि खुद निगम साहब ने लिखा है, बहुत से मामलों में तो जो मेरी राय होती उसी पर वह अमल करते। सारी जिन्दगी यह सिलसिला चला और निगम साहब ने भी उनके किसी मामले में दखल देने में कभी आगापीछा नहीं किया।

और अब यह एक नया मामला मुंशीजी की शादी का दरपेश था।

६

छुट्टियाँ जैसे-तैसे खतम हुईं और नवाब फिर कानपुर पहुँच गया और फिर वही दोस्तों की महफ़िलें जमने और चहचहे शुरू हुए जिनके लिए उसका दिल तड़पता था।

लेकिन वह सब महफ़िलें शेर-ओ-शायरी के पर्दे बेफ़िक्र कुँआरी ज़िन्दगी की मस्तियाँ जहाँ एक तरफ़ उसकी ज़िन्दगी के सूनेपन को भरती थीं वहाँ दूसरी तरफ़ उसे और भी बढ़ा देती थीं। अपना अकेलापन अब उसे खलने लगा था। तबीयत बहुत रंगीन न सही मगर जवान तो थी। आखिर कब तक वह इसी तरह अपनी ज़िन्दगी की गाड़ियाँ ढकेलेगा? पचीस साल का तो हुआ, घर बसाने को अब और कौन-सी उम्र आयेगी? या तो फिर उसका ख़याल ही छोड़ दिया जाय जो कि नवाब के लिए मुमकिन न था। तबीयत ही उसने वैसी न पायी थी। वह घरेलू ढंग का आदमी था और उसकी तमाम परेशानियों के बावजूद उसी में सुख पा सकता था। कुँआरेपन की मस्त बेफ़िक्र, ग़ैर-ज़िम्मेदार ज़िन्दगी के अपने मज़े हैं लेकिन वह मज़े नवाब के लिए न थे। और फिर पन्द्रह-सोलह साल की उम्र से जिस लड़के के पल्ले में गिरस्ती का जुआ पड़ गया हो वह दूसरा कुछ सोच भी तो नहीं सकता।

जब तक कि इकबारगी बगावत पर न आमादा हो जाय। मगर बगावत भी कैसे करे, पहले से भी तो कुछ ज़िम्मेदारियाँ चली आ रही हैं, माँ की, उनके बच्चों की — उनसे कैसे मुँह फेर ले? होते हैं, ऐसे भी लोग होते हैं, बहुत होते हैं, जो दूसरों की चिन्ता नहीं करते, बस अपनी खुशी अपना आराम देखते हैं। मगर नवाब उनमें से न था, न प्रकृति से और न इतने बरसों के अभ्यास से।

लिहाज़ा जब यह सब फ़साना रहना ही है तो इसका सुख भी कुछ क्यों न समझा जाय। वह तो शादी बुरी हुई, बिल्कुल नाकाम रही, बड़ा दुख दिया उसने। लेकिन अब तो खैर उससे नाता टूट गया। अच्छा ही हुआ।

मन थोड़ा हल्का था मगर कुछ था जो कसक रहा था।

कायस्थों में लड़कियों की कुछ कमी न थी और नवाब उस वक़्त एक हँसमुख ज़िन्दादिल स्वस्थ और सुन्दर, खाता-कमाता नौजवान था। चाहो शादी करने

के लिए पीछे पड़ी थीं और जेब से कुछ खर्चे बग़ैर एक हसीन और बाशऊर बीवी मिली जाती थी। नौजवान नवाब उसके सपने भी देखने लगा था। लेकिन फिर आदमी का विवेक भी तो है। कैसे रचा ले वह उस तरह का ब्याह! ऐसी बड़ी-बड़ी बातें अभी उसने अपनी किताब में लिखीं और जब अपनी बारी आयी तो भूल जाय उन सब बातों को? नहीं, उसके लिए तो यही उचित है कि अगर उसे दुबारा शादी करनी ही हो तो किसी विधवा लड़की से करे, वह चाहे कहीं का कुँआरा है! न रहा हो उससे संबंध तो क्या, ब्याह तो हुआ। यही सब बातें सलाह करने की थीं। आख़िरकार, मुंशी दयानरायन के सलाह से शादी के बारे में बड़े सोच विचार और बहुत कुछ बहस-मुबाहसे के बाद उन्होंने तय किया कि दूसरी शादी की जाय तो किसी विधवा ही से की जाय। घरवाले ख़ासकर चाची विधवा-विवाह के बहुत ख़िलाफ़ थीं। इस तरह की चीज़ घर में पहले कभी न हुई थी। बिरादरीवाले क्या कहेंगे! नाक कट जायगी! लोग कहेंगे ज़रूर कोई ऐब है लड़के में तभी तो कुँआरी लड़की नहीं मिली बिरादरी में वर्ना क्यों करता विधवा लड़की से ब्याह! चाची उन दिनों नवाब के साथ ही कानपुर में रह रही थीं और नवाब कुछ दिनों से नाज़ुक तबीयत के, सभी [illegible] मुंशी नौबतराय नज़र और एक महराजिन के साथ दयानरायन साहब के घर के पास ही मकान लेकर रह रहे थे। हर रोज़ घर में शादी का मसला छिड़ता और इसी तरह की बातें होतीं। कभी-कभी तो नवाब की तबीयत इतना ज़्यादा खिझा जाती कि वह शादी से बाज़ आने की बात सोचने लगता। लेकिन कुछ तो उम्र का तक़ाज़ा और कुछ उसकी घरेलू ढंग की तबीयत, शादी कर लेना ही उसने तय किया। लेकिन अपने इस इरादे पर वह अटल था कि विधवा ही से शादी करेगा। दूसरों की मुँहदेखी मैं नहीं कर सकता। मुझे जो बात ठीक मालूम होती है, वही मैं करूँगा जिसे शरीक होना हो हो न होना हो न हो।

तभी संयोग से एक रोज़ नवाब की नज़र किसी अख़बार में शायद बरेली के आर्यसमाजी चंदूलाल ओमिक के पर्चे में छपे हुए एक इश्तहार पर पड़ी जिसमें लिखा था कि मौज़ा सलेमपुर डाकख़ाना कलवार ज़िला फ़तेहपुर के कोई मुंशी देवीप्रसाद अपनी बाल-विधवा कन्या का विवाह करना चाहते हैं और जो सज्जन चाहें इस विषय में उनके पते पर पत्र-व्यवहार कर सकते हैं।

नवाब ने फ़ौरन उस पते पर ख़त लिखा। उसके जवाब में ख़त के साथ पचीस तीस पन्ने का एक किताबचा आया। यह किताबचा अगर और किसी वजह से नहीं तो अपनी लेखन शैली के कारण एक मार्के का और बहुत दिलचस्प दस्तावेज़ है। लेकिन और भी बड़ी बात यह है कि उससे बहुत मज़े की रोशनी उस कायस्थ

समाज पर पड़ती है जिसमें नवाब का जन्म हुआ, जिसके बीच वह पला-बढ़ा और जिसके माध्यम से उसने सबसे पहले हिन्दू समाज के मसलों को समझा। जिस समाज के अन्दर से यह दस्तावेज़ पैदा हुआ वही नवाबराय का पहला और बुनियादी समाज है। वही उसकी ज़बान है और वही उसके सोचने-विचारने का ढंग। बाद में उसकी निगाह भी फैली और उसका समाज भी फैला, ताहम उसकी घुट्टी में यही समाज था।

किताबचे पर उसका नाम दिया है : कायस्थ बाल विधवा उद्धारक, और उसके नीचे यह इबारत है—एक गुप्तनाम द्वारा लिखित जिसको मुंशी भवानी प्रसाद नायब नाज़िर दीवानी ने यूनियन प्रेस, इलाहाबाद में छपवाकर प्रकाशित किया। १९ ५।

गुप्त नाम से किताबचे को लिखना और एक वकील के नाम से उसको छपवाना यह सब कार्रवाई थी उन्हीं मुंशी देवीप्रसाद की जो अपनी बाल-विधवा कन्या शिवरानी का पुनर्विवाह करना चाहते थे। यह मुंशी देवीप्रसाद अपने गाँव के एक बहुत प्रभावशाली व्यक्ति थे। पैसा तो कुछ ख़ास न था मगर इज़्ज़त बहुत थी। दिमाग़ तो वैसा ही पाया था जैसी कि कायस्थ खोपड़ी मशहूर है मगर साथ ही मिज़ाज में कुछ ठकुरों जैसा अक्खड़पन भी था। दबंग कड़ियल आदमी थे। बहुत शरीफ़, पुराने ढंग के वज़ादार, न तो ख़ुद किसी से बेअदबी करते थे और न किसी की बेअदबी बर्दाश्त करते थे। दोस्ती की टेक निभाना भी जानते थे और दुश्मन को नेस्त-नाबूद करने में भी पीछे न रहते थे। उनके तीन लड़के थे और दो लड़कियाँ। दोनों लड़कियों का ब्याह उन्होंने छुटपन में ही दस-ग्यारह साल की उम्र तक पहुँचते-पहुँचते कर दिया था। क़िस्मत का खेल कुछ ऐसा हुआ कि छोटी लड़की शिवरानी ब्याह के तीन महीने बाद ही विधवा हो गयी। न तो वह पति के घर गयी और न उसने पति का मुँह देखा मगर फिर भी वह विधवा थी और यह उनकी ज़िन्दगी का सबसे बड़ा ग़म था। माँ-बाप दोनों अपनी इस बच्ची का मुँह देखते और कलेजा थाम लेते थे। आख़िरकार बहुत पसोपेश के बाद दोनों ने अपने मन में इस बात का फ़ैसला कर लिया कि हम अपनी बेटी का ब्याह फिर से करेंगे। आज भी यह काम आसान नहीं है, पचपन बरस पहले तो वह बग़ावत से कम न था। लेकिन मुंशी देवीप्रसाद अब इस बग़ावत पर आमादा थे। अपनी बेटी का दुख उनसे देखा न जाता था। होगा समाज का विरोध, ज़रूर होगा—हो। जो होगा देखा जायगा। एक बार फ़ैसला कर लेने पर पीछे क़दम हटानेवाले आदमी मुंशी देवीप्रसाद न थे। बिरादरी का एक-एक आदमी हमें छोड़ दे, तो भी यह ब्याह होगा। और चोरी-छिपे न होगा, इश्तहार बँटवाकर होगा। सब

लोग जान जायँ कि मुंशी देवीप्रसाद अपनी विधवा कन्या का विवाह फिर से कर रहे हैं।

लेकिन इसके लिए ज़रूरी था कि सबसे पहले इस काम के लिए फ़िज़ा तैयार की जाय। मुक़दमे में जूझने के पहले अपने काग़ज़ात सब ठीक कर लेने चाहिए ताकि बाद में बग़लें न झाँकनी पड़ें। इसी ख़याल से यह इश्तहारी पर्चा हिन्दी और उर्दू में तैयार किया गया और उसे काफ़ी बड़ी संख्या में छपाकर दूर-दूर तक भेज दिया गया। जिसे एतराज़ करना हो करे, आये हमसे बहस करे, या तो वह मुझे क़ायल कर दे कि मैं ग़लत काम कर रहा हूँ या मैं उसे वेद-पुराण और शास्त्रों की नज़ीर देकर क़ायल कर दूँगा कि ठीक बात यही है, बाक़ी सब तो पोंगा ब्राह्मणों का खेल है।

किताबचा बिलकुल आर्यसमाजी अन्दाज़ में ओंमतत्सत् के साथ शुरू होता है और उसी रंग में आगे बढ़ता है—

● प्रार्थना पत्र ख़िदमत में सब भाइयों कायस्थ चित्रगुप्तवंशी के पहुँचकर सुशोभित हो परमात्मा रोज़-ब-रोज़ तरक़्क़ी देवे।

दरख़्वास्त वास्ते सुधार करने चाल चलन व्योहार जो क़ाबिल सुधार करने के है कि जो न सुधार चाल चलन करने से महापातक होता है कि सब भाइयों को मालूम है और देखते हैं शास्त्रोक्त प्रमाण व वेदशास्त्रानुसार सब भाइयों के सामने इस पत्र द्वारा प्रकाशित करता हूँ अपने-अपने ज्ञान बुद्धि से ध्यान देकर उनके सुधारने में दिल व जान से मुस्तैद हो जाइए।

हे मेरे प्यारे क़ौमी भाइयो कायस्थ चित्रगुप्त वंशी ज़रा ध्यान देकर सुनिए कि पद्म पुराण एक प्राचीन पुराण व मुस्तनिद किताब है जिससे साबित है कि बाबा चित्रगुप्त पुरुखा याने मूरिसे आला सब भाइयों के हैं और जब से सृष्टि की रचना हुई बदर्बार महाराज धर्मराज के न्यायकारी व आमाल नेक व बद जो जैसा काम करता है तहरीर फ़रमाया करते हैं या उसी के मुताबिक़ सज़ा व जज़ा याने स्वर्ग व नर्क तजवीज़ फ़रमाते हैं। × × × ×

उन्हीं बाबा चित्रगुप्त जी के पुण्य व प्रताप व आशीर्वाद से सब उनकी औलादें कि जिनके संतान व वंश में सब भाई हैं वेदविद्या का पठन-पाठन करते रहे श्रेष्ठ कहलाते रहे व वक़्त महाराज क्षत्रियों के राज्य समय में कायस्थ भाई अपनी वेद विद्या व बुद्धि की लियाक़त से बड़े-बड़े ओहदों पर (न्यायाधीश) व राज्य कार्य के मंत्री व दीवान मुक़र्रर होते रहे और राज्य का इन्तिज़ाम माकूल करते रहे कि सबसे श्रेष्ठ व लायक़ समझे जाते रहे।

समय के उलट-फेर से कि ज़माना तरक़्क़ी का हमेशा किसी का एक ही तरह

पर नहीं कायम रहा है काल चक्र घूमा करता है   राज्य हाथ से जाता रहा पाप कर्मों का प्रचार होता गया। •

समाज का बराबर पतन होता गया और उसमें कोई सुधार इसलिए नहीं होता कि लोग बस अपने स्वार्थ के अन्धे हैं किसी को अपने समाज के भले-बुरे की चिन्ता नहीं है और हैं तो बस लंबी-चौड़ी बातें कथनी कुछ और करनी कुछ—

'आजकल शहरों व क़स्बों व नामी मुकामात में क़ौमी सभा व कमेटी व कान्फ्रेन्स वास्ते धर्म की रक्षा व क़ौमी चाल चलन व्यौहार व रीति रस्म के दुरुस्ती के लिए धार्मोक्त समाज से मुक़र्रर फ़रमाया है और वहाँ व्याख्यान व लेक्चर धर्म संबंधी दिये जाते हैं। और सब अक्सर सभा में सब भाई बैठकर सुनते हैं और सत्य-सत्य कहते हैं हाँ में हाँ गला मिलाते हैं और उन व्याख्यानों के अमल करने का न व्याख्यान देनेवालों के दिलों पर असर रहता है न व्याख्यान सुननेवाले के दिल पर असर पहुँचता है। यह तो मशहूर बात है कि जब तक कोई नसीहत याने उपदेश देनेवाला उस नसीहत व उपदेश का आमिल न होगा तब तक करनेवाला सुननेवाले के असर दिल पर नहीं पहुँचता कि अमल करे बल्कि यह कहता है कि दुसरा फ़ज़ीहत व दीगरां नसीहत करते हैं। बस हे मेरे प्यारे भाइयो जब सभा विसर्जन करके श्रोता वक्ता भाई साहेबान बाहर तशरीफ़ लाये तो न उस व्याख्यान की सुध है न उसके ध्यान की ख़बर है

और आख़िरकार इस सबका यही नतीजा हुआ जो होना था सारी मेरी किरकिरी हो गयी अब—

न वह बूट जूता है न कोट पतलून है न गुलूबंद है न टोपी पेटारीदार दस्तार है बल्कि रफ़्तार है पैरों में ख़ार है जामावीस्त से बेज़ार है घर की हालत कहना अनुचित अमसरमा रसपाल है धिक्कार धिक्कार धिक्कार आज भू आज भू आज भू अनभव पर है

इसी लानत-मलामत के बाद जो कि सब पेशबन्दी है, किस्सागो असल बात पर आता है—

• हे मेरे सजातीय भाई कायस्थ चित्रगुप्त वंशीय्यावत लोग अपने-अपने प्रत्यक्ष नैनों से यह न देखते होंगे कि जिन कन्याओं का विवाह हो गया है और दिरागमन याने गौना नहीं हुआ पति याने शौहर उनका मर गया है तो वह बाल विधवा बेचारी नाहर्र गुनाह अपनी-अपनी ज़िन्दगी किस-किस मुसीबत से काटती हैं   दूसरे वह कन्याएँ कि जिनका विवाह और दिरागमन दोनों हो गया है बहुत ही थोड़े दिन के बाद पति उनके मर गये हैं। कुछ भी ज़िन्दगी का लुत्फ़ नहीं उठाया यहाँ

तक कि सन्तान उत्पन्न होने की नौबत नहीं। तो उन बेचारियों की मुसीबत कहने में नहीं आ सकती है। उनका घर में रहना मायका क्या ससुराल दोनों ही जगह के सहकुटुम्बी माता व पिता व भ्राता सब पर पहाड़ का ऐसा बोझ भार सिर पर मालूम होता है। परन्तु कि दोनों किसिम के बाल विधवा कन्या कि जिनका विवाह मात्र हुआ है दिरागमन नहीं हुआ और शास्त्र के अनुसार उनका कन्यात्व नष्ट नहीं हुआ वह निश्चित क्वाँरी कन्या के हैं। हे मेरे भाइयो खोज करने से मालूम हुआ है व देखने में आया है कि उन कन्याओं दोनों किसिम की कि कुछ तो मुसीबत खाने-पीने से कुछ सत्संग पाकर कुछ काम के बस होकर कि कामदेव बड़ा बली शैतान है मतिभ्रम कर देता है कि बड़े बड़े मुनियों और महात्मा के हृदय में क्षोभ कर दिया है और भला इन अबलाओं की क्या गिनती है व्यभिचार करने लगती हैं याने बहुतों का कसबी हो जाना और बहुतों का घर ही में बदचलन हो जाना व बहुतों का अन्य पुरुष विरुद्ध धर्म याने दूसरे जात के साथ निकल जाना बहुतों के हमल-हराम रह जाना व उसका इसकात हमल कराना बालक का मारना वग़ैरा वग़ैरा कहाँ तक कहा जावे बड़े-बड़े घोर पाप होते हैं व हो गये कि सुनि अघ नरकहु नाक सकोरी। संसार में रूसियाही बल्कि पुरखों तक का ऐसा दाग़ धब्बा लग जाता है कि उसका मिटाना बहुत कठिन हो जाता है।

(कथित बाल विधवा कन्याओं की) हे मेरे सजातीय कायस्थ बिरादरबंधो आप लोग गौर करके बिना पक्षपात के इंसाफ कीजिए कि जब किसी पुरुष की स्त्री मर जाती है तो वह पुरुष दो-दो अथवा तीन-तीन विवाह कर लेने का अधिकारी होता है और हम बाल विधवाओं ने जो पति के पास तक नहीं गयी हैं और पति का मुँह तक नहीं देखा है पुनर्विवाह हमारे करने में आप लोग लज्जा व घृणा करते हो क्या पुरुष को काम प्रबल अधिक सताता है और हम काम को जीते हुए हैं। हे भाइयो हम स्त्रियों का नाम ही कामिनी है। वैद्यक शास्त्र से ज़ाहिर है कि पुरुष से दुगुण अधिक काम अग्नि स्त्री के होती है।

इसके बाद फिर ऋग्वेद, यजुर्वेद वशिष्ठस्मृति नारदस्मृति प्रजापतिस्मृति कात्यायनस्मृति मनुस्मृति आदि शास्त्रों से प्रमाण पर प्रमाण जुटाये गये हैं कि भिन्न भिन्न दशाओं में विधवा का पुनर्विवाह सम्भव है उचित है।

नवाब ने इस इश्तहार को पढ़ा तो उसकी तबीयत फड़क उठी इस सवाल पर खुद उसके विचारों से यह चीज़ कितना मेल खाती थी। उसने फ़ौरन लड़की की फ़ोटो की फ़रमाइश की।

देहात में तसवीर उतरवाने का तब कहाँ चलन, मगर और मुंशी देवीप्रसाद ने अपनी लड़की की तसवीर उतरवाकर कानपुर भेजी — सीधी-सादी दुबली पतली एक देहाती लड़की, बाल बिखरे हुए, माथे पर हल्का-सा घूँघट। गन्दुमी रंग जो नवाब के तपे सोने जैसे रंग के मुक़ाबले में काफ़ी दबा हुआ था, नाक-नक़्शा भी बहुत मामूली, कोई ख़ास बात नहीं, जब कि नवाब यक़ीनन दस-पाँच हज़ार में एक ख़ूबसूरत नौजवान था। लेकिन उसे सुन्दरी की तलाश न थी — उसके नख़रे उठाने की सकत भी उसमें कहाँ थी! वह तो एक सीधी-सादी घरेलू लड़की चाहता था जो उसके संग तकलीफ़-आराम झेल सके। यह लड़की जहाँ तक देखने में आता था वैसी ही थी। मुंशी दयानरायन से भी शायद मशविरा हुआ और फिर नवाब ने अपनी रज़ामन्दी लिख भेजी। अब मुंशी देवीप्रसाद ने लड़के को देखने की ख़्वाहिश ज़ाहिर की और उसे फ़तेहपुर बुलाया। नवाब पहुँचा। ससुर ने भी दामाद को पसंद किया। ज़्यादा अब तय करने के लिए था भी क्या। लेन-देन की कोई बात ही न थी। शादी उसी दम तय हो गयी। दोनों पक्ष समझ रहे थे कि उन्हें अपनी-अपनी बिरादरी का विरोध सहना पड़ेगा और दोनों तैयार थे।

आख़िर १९०५ के फागुन में शिवरात्रि के रोज़ शादी हो गयी। नवाब के साथ बारात में एक उनके छोटे भाई महताब को छोड़कर और कोई रिश्तेदार न था, बस दो-चार दोस्त और हमजोली जिनमें मुंशी दयानरायन ख़ास थे।

७

ज़िन्दगी का एक नया दौर शुरू हुआ। उधर क़ौम की ज़िन्दगी का भी एक नया दौर शुरू हो रहा था। निहाला दोस्तों की यह महफ़िलें अब सिर्फ़ हँसी-मज़ाक़ या शेर-ओ-शायरी तक सीमित न रह गयीं। पहले भी ऐसी कोई क़ैद न थी, अब तब राजनीति की गम्भीर चर्चा भी हो जाती थी। लेकिन अब वह रंग ख़ासकर मुंशीजी की वजह से कुछ और ज़्यादा उभरने लगा। दूसरे जहाँ अपनी कविता और साहित्य चर्चा में ही पूरी तरह रम बैठे थे वहाँ मुंशीजी को चैन न आता जब तक कि वह अपने देश की और संसार की घटनाओं से भी पूरी तरह संपर्क में न रहें। अख़बार पढ़ने और बहुत से अख़बार पढ़ने का उनका शौक़ पुराना था। और फिर वह अकसर 'रफ़्तारे ज़माना' नाम का स्तम्भ भी लिखते थे। ज़माने की रफ़्तार इस वक़्त सचमुच बहुत तेज़ थी। देश एक नयी करवट ले रहा था — वैसे ही जैसे अपने छोटे से पैमाने पर ख़ुद मुंशीजी की ज़िन्दगी लगभग ठीक-हिसाब एक नयी करवट ले रहा था। राष्ट्रीयता की चेतना में एक नया ज्वार आ रहा था और उस नये ज्वार को जिन लोगों ने अपने ख़ून की गर्मी और रवानी में सबसे पहले महसूस किया उन्हीं में एक मुंशीजी भी थे।

बात सिर्फ़ इतनी न थी कि उस चेतना का व्यापकतर विस्तार हो रहा था। उससे भी बड़ी बात यह थी कि वह चेतना ही बदलने लगी थी, उसके भीतर एक गुणात्मक परिवर्तन आ रहा था। उसको समझने के लिए उसकी पृष्ठभूमि को थोड़ा सा समझ लेना ज़रूरी है।

१८५७ का विद्रोह अपने ही आन्तरिक विरोधों के कारण असफल रहा और अपने ही ख़ून में डूब गया। क़रीब पच्चीस बरस के लिए लगभग पूरी तरह सन्नाटा छाया रहा। वहाबियों के आन्दोलन की तरह छिटपुट कुछ कोशिशें यहाँ-वहाँ हुईं लेकिन ब्रिटिश साम्राज्य का पत्ता पत्ता भी ढीला न हो सका। लेकिन आदमी भले न बोल सकें प्रकृति ने बोलकर बतलाया कि यह सिलसिला ग़लत है और चलनेवाला नहीं है कि एक देश के रहनेवाले दूसरे देश के रहनेवालों पर राज करें। अकालों का ताँता लग गया। करोड़ों लोग भूखे से मर गये और मरते रहे

और सरकार अपनी टीमटाम में रुपया पानी की तरह बहाती रही। असम्भव था कि ऐसी हालत में देश की आत्मा क्षुब्ध न होती और ढंग से जिन्दा रहने की कोई तदबीर न करती।

१८७१ में आनन्दमोहन बसु, सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी और इटली के स्वातंत्र्य-युद्ध के नेता मैज़िनी व गैरीबाल्डी के जीवनीकार योगेन्द्र विद्याभूषण ने मिलकर इण्डियन एसोसिएशन की स्थापना की। समय की माँग के रूप में ही उसका जन्म हुआ था इसलिए स्वाभाविक था कि उसकी ताक़त तेज़ी से बढ़ती। और वह बढ़ी। बंगाल के अनेक देशप्रेमी उसकी ओर खिंचे। १८८२ में बंकिम का आनन्दमठ प्रकाशित हुआ जिसने आगे चलकर देश को उसका वन्देमातरम गान दिया।

इण्डियन एसोसिएशन का ज़ोर इतनी तेज़ी से बढ़ रहा था कि राज्य के गोरे अधिकारी चिन्तित हो उठे। सवाल पैदा हुआ कि कैसे उसका सामना किया जाय। एक रास्ता तो कठोर दमन का था। लेकिन १८५७ के बाद फिर इतनी जल्दी दमन का वह रास्ता अख़्तियार करने में अधिकारियों की तबीयत कतरा रही थी। नतीजा हुआ कि राष्ट्र की शक्ति को बाँटने और उसे शासकों की सुविधानुसार मर्यादित रखने के विचार से अंग्रेज़ सरकार के परामर्श से सन् १८८५ में इण्डियन नैशनल कांग्रेस का जन्म हुआ। और वह काम कांग्रेस ने अपने आरम्भिक कई बरसों तक किया भी। जिस लीक पर उसे चलाया गया उसी लीक पर चली। लेकिन वह सदा न तो हो सकता था और न हुआ क्योंकि देश की चेतना जब एक बार अपनी यात्रा आरम्भ करती है तो सदा भेड़ बनाकर ही नहीं चला करती। लेकिन उस बात को अभी कुछ देर है। अभी तो देखने की चीज़ एक ही है। एक अत्यन्त प्राचीन इतिहास, दर्शन और संस्कृति की गौरवशाली परम्परावाला देश जो इस समय पराजित था, अपमानित था, तिरस्कृत था, वंचित था, अपने को फिर से पहचान रहा था, अपना भविष्य खोज रहा था। अपनी इस खोज में वह कभी इस और कभी उस दरवाज़े को खटखटा रहा था। देश की बन्दी किन्तु अपराजेय आत्मा अपने को वाणी देने के लिए छटपटा रही थी।

इस समय जो कुछ हो रहा था उसका सन्दर्भ यही था। अपनी शक्ति को पहचानो, अपने प्राचीन गौरव को पहचानो। तुम्हारे पास ऐसा भी कुछ है जो किसी के पास नहीं है। तुम किसी से घटकर नहीं हो। आत्मविश्वास से बढ़कर दूसरी कोई शक्ति संसार में नहीं है। तुम्हारी देह शृंखलित है तो क्या, तुम्हारी आत्मा मुक्त है। देह तो छीज जाती है, मर जाती है—असल चीज़ आत्मा है। आत्मा अजर है। आत्मा अमर है। आग उसे जला नहीं सकती, शस्त्र उसे काट नहीं सकते। देह तो जीर्ण वस्त्र के समान है। मनुष्य जिस प्रकार जीर्ण वस्त्र त्यागकर

नया वस्त्र धारण कर लेता है उसी प्रकार आत्मा एक देह को छोड़कर दूसरा देह धारण कर लेती है। फिर मृत्यु का क्या भय और पराजय कैसी। देखो अपने दर्शन को और अपने इतिहास को। न जाने कैसे-कैसे पराक्रमी विजेता इस भारतभूमि में आये और काल के गर्त में समा गये लेकिन भारत आज भी जीवित है।

विवेकानन्द ने जब १८९३ में अमरीका जाकर सर्व-धर्म-सम्मेलन में सब को परास्त किया और भारत की सुप्त आत्मा को वाणी दी तो भारतवासियों की छाती गर्व से फूल उठी उनका खून कुछ और तेजी से दौड़ने लगा आँखें चमकने लगीं। बिल्कुल जादू का-सा असर हुआ। देखते-देखते विवेकानन्द के लेख और भाषण देश की स्वाधीनता चाहनेवाले हर युवक के लिए एक नयी गीता बन गये। देश के मुरझाये हुए प्राण लहलहा उठे। हीनता की ग्रन्थि कटी। आत्मगौरव लहरें मारने लगा।

उधर कांग्रेस गोखले दादाभाई नौरोजी मदनमोहन मालवीय और फ़ीरोज़शाह मेहता जैसे लोगों के नेतृत्व में अपनी बँधी लीक पर चली जा रही थी। जन आन्दोलन से उसका कोई संबंध न था। साल में एक बार अधिवेशन करके सरकार से अपना कुछ दुखड़ा रो लिया जाता और कुछ समाज-सुधार की बात कर दी जाती और कभी हाथ बहुत दबे स्वर में कुछ यह याचना भी कर दी जाती कि राज्य संचालन में भी योग देने का कुछ अवसर भारतीयों को दिया जाय। और फिर सब अपने-अपने घर चले जाते साल भर के लिए छुट्टी हो जाती। कांग्रेस के जन्म से लेकर १९०५ तक की कांग्रेस कार्रवाइयों का सार देते हुए कांग्रेस के अधिकारी इतिहासकार पट्टाभि सीतारमैया स्वयं कांग्रेस के इतिहास में लिखते हैं —

कांग्रेस प्रस्तावों पर जो भाषण होते उनकी और अध्यक्ष के भाषणों की टेक यह होती कि अंग्रेज जाति मूलतः न्यायप्रिय और भली है और अगर उसे स्थिति का ठीक-ठीक पता बराबर मिलता रहे तो वह कभी सत्य और न्याय के रास्ते से विमुख नहीं हो सकती कि असल कठिनाई अंग्रेज को लेकर नहीं बल्कि एंग्लो-इंडियन को लेकर है कि बुराई व्यक्ति में नहीं व्यवस्था में है कि कांग्रेस बुनियादी तौर पर ब्रिटिश राजसिंहासन के प्रति वफ़ादार है उसका झगड़ा तो हिन्दोस्तानी नौकरशाही से है कि इंग्लैण्ड का संविधान (संसार में) सभी स्वतंत्र के जन तन्त्रात्मक अधिकारों का आश्रय-स्थल है और इंग्लैण्ड की पार्लियामेण्ट संसार भर के जनतन्त्रों की माँ है कि ब्रिटेन का संविधान सब संविधानों में श्रेष्ठ है कि कांग्रेस राजद्रोहात्मक या बाग़ी संस्था नहीं है कि भारतीय राजनीतिज्ञों का काम स्वभावतः सरकार की बात को जनता तक और जनता की बात को सरकार तक पहुँचाना है

कि भारतीयों को राज्य-संचालन के काम में योग देने का इससे अधिक अवसर देना चाहिए

स्पष्ट है कि देश के भीतर जितना क्षोभ और जितना उत्साह संचित हो रहा था उसको समटने के लिए इतना काफ़ी न था। ऐसे ही समय म भारतीय राजनीति में बाल गंगाधर तिलक का उन्प हुआ और आते ही आते गोखले से उनका टकराव हुआ। यों तो कांग्रेस की राजनीति म गोखले और तिलक दोनों का आगमन सन् १८८९ मे एक साथ ही हुआ था और जैसा कि तिलक ने गोखले की अन्त्येष्टि के समय कहा था गोखले को राजनीति में ले आने के पीछे स्वयं तिलक का भी हाथ था। लेकिन इस समय की कांग्रेसी राजनीति के साथ ज़्यादा मेल खाने के कारण गोखले की स्थिति कांग्रेस संगठन में सुदृढ़ हो गयी और तिलक बाहर-बाहर जनता म काम करते रहे और अपनी जन-राजनीति की सम्भावनाओं को टटोलते रहे। और जैसे ही उनकी शक्ति कुछ बढ़ी वैसे ही उनकी सबसे पहली टक्कर गोखले से हुई। वास्तव में गोखले और तिलक की टक्कर और बातो के साथ-साथ एक मन की दो वृत्तियों की टक्कर भी है। देश को उसका प्राप्य कैसे मिलेगा क्रान्ति से विद्रोह से जन-आन्दोलन स या सुलह-समझौते से? पहला महत्व किस चीज़ का है, समाज-सुधार का या स्वराज्य का?

यह सवाल बहुत तीखे रूप में पहली बार पूना के कांग्रेस अधिवेशन में सन् १८९५ मे उठा और संभवत तिलक की ही क्रियाशीलता से। लेकिन सच तो यह है कि इस सवाल की जड़ें कांग्रेस के जन्म में ही थीं। ऐलेन आक्टेवियन ह्यूम ने उसकी परिकल्पना समाज-सुधार की एक संस्था क रूप में ही की थी लेकिन पीछे लार्ड डफ़रिन क कहने पर उसे राजनीतिक रूप दिया गया क्योंकि शायद इसी में उसकी उपयोगिता देखी गयी। संयुक्त प्रान्त के गवर्नर सर आकलैण्ड काल्विन को संभवत इस तथ्य का पता नहीं था जब उन्होंने कहा कि कांग्रेस को समाज-सुधार तक ही अपने को सीमित रखना चाहिए। इससे प्रकट है कि कांग्रेस के लिए यह प्रश्न नया नहीं था।

गोखले आदि नरमदली लोग राजनीति की बात भी दबे स्वर में कर लेते थे लेकिन उनका आग्रह समाज-सुधार पर था। इसी सन्दर्भ में वह लोग अंग्रेज़ी शिक्षा दीक्षा इत्यादि का भी बहुत गुणगान करते रहते थे। तिलक को इस राजनीति से मौलिक विरोध था। बाल-विवाह को रोकने के लिए जब एज आफ़ कन्सेन्ट बिल आया १८९१ के आसपास तो तिलक ने डटकर उसका विरोध किया। इसकी वजह से लोगों को उनके बारे म काफ़ी ग़लतफ़हमी भी हुई और यह समझा गया कि समाज-सुधार के मामले म तिलक का दृष्टिकोण कट्टर सनातनी हिन्दू का है।

लेकिन बात यह न थी। उनके विरोध का कारण यह न था कि वह बाल-विवाह के पोषक थे बल्कि यह था कि यह सब काम खुद हम भारतीयों के करने के हैं, अंग्रेज शासकों को इस सबसे क्या मतलब। हमें जो ठीक समझ में आयेगा हम करेंगे। अभी उनसे हमारा कहना बस इतना है कि आप शासन हमारे हाथ में दीजिए। असल प्रश्न स्वराज्य का है। इस प्रश्न को दूसरे प्रश्नों के साथ उलझाइए मत। असल सवाल आजादी का सवाल पीछे न पड़ जाय इसीलिए तिलक का कहना था कि इन सब सवालों को उठाने का वक्त यह नहीं है। अंग्रेज पहले यहाँ से जायें और सत्ता हमारे हाथ में आये फिर हम लोगों को शिक्षित करके और जरूरी क़ानून बनाकर, अपनी सामाजिक और आर्थिक बुराइयाँ दूर कर लेंगे। उधर शासकों की दिलचस्पी इन बातों में शायद इसीलिए थी कि इस तरह स्वराज्य का आन्दोलन पीछे पड़ जायगा। तिलक ने इस बात को समझा।

यह नहीं कि तिलक अंग्रेजी शिक्षा-दीक्षा के महत्त्व को न समझते हों या उसे कम करके आँकते हों। अंग्रेजों के संपर्क से जो नयी रोशनी हिन्दुस्तान को मिली उसको भी वह समझते थे। अपने सार्वजनिक जीवन के पहले ग्यारह वर्ष तिलक ने देश में अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार में लगाये। इस बात को भी वह अच्छी तरह समझते थे कि देश की स्वतन्त्रता अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार से ही आयेगी। इतना ही नहीं उनका और उनके सहकर्मी विष्णुशास्त्री चिपळूणकर का विश्वास था कि अंग्रेजी भाषा शेरनी के दूध की तरह बहुत पौष्टिक आहार है। निस्संदेह तिलक भारतीय धर्म संस्कृति और परम्पराओं के बहुत बड़े पोषक थे मगर इसके साथ ही साथ वह यह भी समझते थे कि अंग्रेजी के आहार पर पलकर देश ज्यादा तेजी से स्वाधीनता की ओर बढ़ सकेगा। स्वराज्य की कल्पना भारतीयों के मन में बन सकी इसके पीछे भी वह प्रभाव है जो अंग्रेजों के इतिहास और गणतान्त्रिक चिन्तन ने जाने या अनजाने उनके ऊपर डाला है। तिलक सच्चे मन से उस बात पर विश्वास करते थे जो मैकाले ने कही थी —

यह हो सकता है कि हमारी प्रणाली के अन्तर्गत रहकर भारतीय जनता का मन इतना विकास कर जाय कि उस प्रणाली से आगे निकल जाय यह प्रणाली फिर उसे अपने भीतर आबद्ध न रख सके कि यूरोपीय ज्ञान में दीक्षित होकर वह लोग कभी आगे चलकर यूरोपीय ढंग के आईन-क़ानून दस्तूर और रिवाजों की माँग करने लग जायें। ऐसा दिन कभी आयेगा या नहीं मैं नहीं जानता। लेकिन इतना मैं जानता हूँ कि ऐसा कोई काम मैं नहीं करूँगा जिससे वह दिन न आये या उसके आने में देर लगे। जब भी वह दिन आयेगा अंग्रेज जाति के इतिहास का सबसे गौरवशाली दिन होगा।

लेकिन इसके बाद भी तिलक का दृढ़ विश्वास था कि सबसे पहली चीज़ राजनीतिक दासता से मुक्त होना है, स्वराज्य पाना है, बाक़ी सब चीज़ें उसके बाद आती हैं। इसलिए राजनीतिक स्वाधीनता की बात प्रखर स्वर में करनी चाहिए। समाज सुधार फ़िलहाल स्थगित रखे जा सकते हैं। कम से कम अंग्रेज़ शासकों से बात करने की चीज़ वह नहीं है। उनके साथ उसकी बात करना उनके जाल में फँसना है। और गोखले जैसे नरमदली लोग यही करते थे। समाज-सुधार की बातें तो वह बहुत ज़ोर-शोर से करते थे, राजनीतिक स्वाधीनता के प्रश्न पर मिनमिनाते थे। इसी जगह पर उनसे तिलक का मुख्य संघर्ष था।

दोनों के इस मौलिक विरोध को गांधीजी ने बहुत अच्छी तरह समझा था और उन्होंने जिस प्रकार उसकी व्याख्या की है उसको देखना बहुत उपयोगी होगा, विशेषतः इसलिए कि गोखले और तिलक की नीतियों का परस्पर विरोध भारतीय राजनीति के एक पूरे युग को समझने की कुंजी है।

१८९६ में जब गांधीजी पूना गये और दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों की समस्या पर एक सभा बुलाना चाहते थे तो उसके प्रसंग में वह लोकमान्य तिलक से और फिर उनके कहने पर गोखले से मिले। गांधीजी पर उन दोनों के व्यक्तित्व का संस्कार जिस रूप में पड़ा वह उनको और स्वयं गांधीजी को समझने के लिए काफ़ी रोचक और महत्वपूर्ण है।

तिलक उन्हें हिमालय के शिखर जैसे लगे, महान्, उत्तुंग, पर पास तक पहुँचना दुस्साध्य और गोखले पवित्र गंगा जैसे जिसमें इत्मीनान से डुबकी लगायी जा सकती है—

तिलक और गोखले दोनों महाराष्ट्र के, दोनों ब्राह्मण थे, दोनों चितपावन ब्राह्मण थे। दोनों ने जीवन में बड़े-बड़े त्याग किये थे। लेकिन दोनों के स्वभाव में बड़ा विशाल अन्तर था। उस समय की प्रचलित शब्दावली में गोखले नरमदली थे और तिलक गरमदली। गोखले की योजना थी वर्तमान संविधान में सुधार करना, तिलक की योजना थी उसका पुनर्निर्माण करना। गोखले को अनिवार्यतः नौकरशाही के साथ मिलकर काम करना होता था, तिलक को अनिवार्यतः उससे लड़ना पड़ता था। गोखले का सिद्धान्त था सहयोग, जहाँ तक संभव हो, और विरोध जहाँ आवश्यक हो। तिलक की नीति बाधा खड़ी करने की ओर झुकी हुई थी। गोखले को सबसे बड़ी चिन्ता शासन और उसके सुधार की थी, तिलक का सबसे बड़ा ध्येय था राष्ट्र और उसका निर्माण। गोखले का आदर्श था प्रेम और त्याग, तिलक का सेवा और कष्ट सहन। गोखले की कार्य-प्रणाली ऐसी थी जो विरोधी का हृदय जीतकर उसे अपनी ओर कर लेना चाहती थी, तिलक की ऐसी जो

उसे बिलकुल हटा ही देना चाहती थी। गोखले दूसरों की सहायता पर निर्भर करते थे तिलक केवल अपनी शक्ति पर। गोखले उच्च वर्गों और बुद्धिजीवियों की ओर ताकते थे तिलक साधारण जनता की ओर जिसकी संख्या करोड़ों में थी। गोखले का अखाड़ा धारासभा थी तिलक का मंच गाँव का मण्डप था। गोखले की अभिव्यक्ति का माध्यम अंग्रेज़ी थी तिलक की मराठी। गोखले का लक्ष्य था स्वायत्त शासन जिसके लिए भारतीयों को अंग्रेज़ों की बतायी हुई कसौटी पर खरे उतरकर अपनी योग्यता प्रमाणित करनी थी तिलक का लक्ष्य था स्वराज्य जो हर भारतीय का जन्मसिद्ध अधिकार है और जो वह लेकर रहेगा जिसके रास्ते में वह विदेशी सत्ता की किसी बाधा को स्वीकार न करेगा। गोखले अपने युग के साथ थे तिलक बहुत आगे।

गांधीजी तिलक के व्यक्तित्व के साथ शायद पूरा न्याय नहीं कर पाये और गोखले की ओर उनका हल्का-सा पक्षपात लगता है जो कि शायद स्वयं उनके मन के झुकाव को व्यक्त करता है पर तो भी इतना तो प्रकट ही है कि तिलक ने भारतीय राजनीति में एक नया स्वर लेकर प्रवेश किया। स्पष्ट है कि इस प्रकार की प्रखर राजनीति की कल्पना जन-आन्दोलन के बिना नहीं की जा सकती थी। इसीलिए हम देखते हैं कि तिलक ने आरम्भ से ही जनता को जगाना और संगठित करना आरम्भ किया। इसके लिए धर्म को भी वाहन बनाने में उन्हें कोई आपत्ति न हुई। १८९४ में उन्होंने गणपति उत्सव को एक विराट् सार्वजनिक अनुष्ठान का रूप दिया जो तब से बराबर उसी प्रकार महाराष्ट्र में मनाया जाता है। उसका कलेवर धार्मिक है और आत्मा राष्ट्रीय।

लेकिन उतने से ही तिलक को संतोष न हुआ। उसके अगले ही वर्ष उन्होंने शिवाजी उत्सव की भी स्थापना कर दी। शिवाजी को मात्र एक हिन्दू के रूप में देखना उसके साथ अन्याय करना है। वह एक वीर मराठा था जिसने मुग़ल बादशाह औरंगज़ेब से लोहा लेकर सफलतापूर्वक अपने राज्य की स्वाधीनता की रक्षा की। इस प्रसंग में यह बात फिर आकस्मिक नहीं रह जाती कि शिवाजी की सेना में मुसलमान भी थे और न यही कि शिवाजी-उत्सव में मुसलमान मराठे भी हिस्सा लेते हैं। कुछ भी हो जन-नेता तिलक के लिए यह असम्भव था कि वह शिवाजी को केन्द्र बनाकर किसी उत्सव की बात न सोचते जब कि उनके सामने अपने देशवासियों को जगाने और अन्याय व अत्याचार के खिलाफ़ उनको संगठित करने का प्रश्न था। स्वाधीनता के आन्दोलन की ये महत्वपूर्ण कड़ियाँ थीं।

इधर कांग्रेस के भीतर तिलक और गोखले के नेतृत्व में दो विरोधी प्रवृत्तियों का आपस में संघर्ष चल रहा था उधर भारत की सिपाही आत्मा गुप्त षड्यन्त्रकारी

राजनीति के रूप में भी प्रस्फुटित या विस्फोटित हो रही थी जिसका सूत्रपात महाराष्ट्र के चापेकर बंधुओं ने किया। १८९७ में उन्हें फाँसी दी गयी। लेकिन यह तो अग्नियुग का प्रारम्भ था जिसके वे दो पहले शहीद थे। इसी वर्ष तिलक पर पहली बार राजद्रोह का मुकदमा चला और उन्हें डेढ़ साल का कठोर दण्ड मिला। पर वह साल भर का दण्ड भोगकर ही बाहर आ गये। समय से पहले की इस रिहाई का कारण था वह आवेदनपत्र जो मैक्समुलर, सर विलियम हण्टर, सर रिचर्ड गार्थ मि विलियम केन दादाभाई नौरोजी और रमेशचन्द्र दत्त के हस्ताक्षर से सरकार के पास भेजा गया था। पर छूटते समय ही तिलक ने कह दिया था कि यह छः महीने की छूट अगली बार मेरे दण्ड में जोड़ दी जाय अगर उसका अवसर आये। और यही हुआ। १९ ८ में जब उन्हें माण्डले भेजा गया तो ये छः महीने सजा में जोड़ दिये गये। यह सब इस बात की सूचना थी कि भारतीय राजनीति अब एक नये युग में प्रवेश कर रही थी। कांग्रेस के भीतर भी और कांग्रेस के बाहर भी। कांग्रेस के भीतर गोखले के नरमपंथी दल के मुकाबले में तिलक का एक्सट्रीमिस्ट या नैशनलिस्ट दल बड़ी तेजी से जोर पकड़ता जा रहा था। रैण्ड और एयर्स्ट हत्याकाण्ड के प्रसंग में गोखले ने सरकार से जो माफ़ी माँगी उसके पीछे चाहे जैसी सदाशयता रही हो उसने जनता में उनकी लोकप्रियता को ज़बर्दस्त धक्का पहुँचाया और इसी अनुपात में तिलक और उनके नैशनलिस्ट दल का प्रभाव बढ़ने का यह एक और तात्कालिक कारण हुआ। इसके साथ-साथ महाराष्ट्र से ही वह आग भी चली जो चापेकर बंधुओं ने लगायी थी और जिसने बंगाल पहुँचकर एक पूरे अग्नियुग की सृष्टि की। १९ २ और १९ ५ के बीच बंगाल में बहुत-सी गुप्त समितियाँ बनीं। और जब १९ ५ में कर्ज़न ने राष्ट्रीयता की इसी बढ़ती हुई लहर को रोकने के लिए बंगाल को दो टुकड़ों में बाँटने का बंगभंग का प्रस्ताव रखा तब तो जैसे देश में आग ही लग गयी। एक तरफ़ स्वदेशी का शान्तिपूर्ण आन्दोलन शुरू हुआ और दूसरी तरफ़ जगह-जगह क्रान्तिकारियों की सरगर्मियाँ दिखायी देने लगीं।

देश में आगे जो शान्तिपूर्ण राष्ट्रीय आन्दोलन चलनेवाला था बंगाल का स्वदेशी आन्दोलन उसकी पूर्वपीठिका थी। उसने सारे देश को लेकर झकझोर दिया और उसी से देश को वह सब राजनीतिक अस्त्र मिले जिनका उपयोग राष्ट्रीय आन्दोलन ने आगे चलकर किया जिन्हें गांधीजी ने इसी स्वदेशी आन्दोलन से लेकर अपने ढंग पर विकसित किया। ये राजनीतिक अस्त्र थे — स्वदेशी वस्तुओं को अपनाना और विलायती का बहिष्कार, निष्क्रिय प्रतिरोध और असहयोग सरकारी विद्यालयों का बहिष्कार और उनके स्थान पर राष्ट्रीय विद्यालयों की

स्थापना, सरकारी अदालतों का बहिष्कार और उनके स्थान पर आपस में अपने पंच और मुखियों के जरिये अपने झगड़ों का निपटाना।

गरज कि राष्ट्रीय आन्दोलन ने एक नयी करवट ले ली थी और अब उसे वापस उस बँधी-टकी लीक पर ले चलना संभव न था जैसा कि नरमपंथी चाहते थे।

उसी वर्ष १९०५ में बनारस के कांग्रेस अधिवेशन में ही यह बात अच्छी तरह दिखायी दे गयी। कांग्रेस संगठन के भीतर नरमपंथियों का ही जोर था जो इस बात से सिद्ध था कि उस वर्ष कांग्रेस का सभापतित्व गोखले ने किया। पर गोखले के साथ न्याय करने के लिए यह बतलाना जरूरी है कि उन्होंने अपने अध्यक्षीय भाषण में निर्भीकता और सच्चाई से लार्ड लिटन के उस गुप्त पत्र का उद्धरण दिया जिसमें लिटन ने ऐसी बातें लिखी थीं जिनसे गोखले की अपनी नीति को चोट पहुँचती थी और तिलक की नीति को बल मिलता था। लिटन ने लिखा था —

हम सब इस बात को जानते हैं कि ये माँगें और ये उम्मीदें न कभी पूरी हो सकती हैं और न होंगी। हमें इन दो में से कोई एक रास्ता अपने लिए चुनना था — या तो उनका (हिन्दुस्तान के नेटिवों का) दमन करना या उन्हें धोखा देना और हमने बाद वाला रास्ता ही चुना है जिसको सच्चाई से कोई मतलब नहीं... मैं गुप्त रूप से यह पत्र लिख रहा हूँ, इसलिए मुझे यह कहने में भी संकोच नहीं है कि मेरी समझ में इंगलैण्ड की सरकार और भारत सरकार दोनों ही अब तक इस अभियोग का कोई संतोषजनक उत्तर नहीं दे सकी हैं कि उन्होंने अपने हर वायदे को तोड़ने में अपनी शक्तिभर कोई कसर उठा नहीं रखी।

स्पष्ट है कि ऐसी परिस्थिति में जो जनता राष्ट्रीय आन्दोलन की ओर झुक रही थी उसका बहुत बड़ा बहुमत तिलक के साथ आता जा रहा था जो इस बात से सिद्ध था कि स्टेशन पर गोखले के स्वागत को गिने-चुने लोग पहुँचे थे और तिलक के स्वागत को लोग ऐसे टूटे कि स्टेशन पर तिल धरने को जगह न रही। और वहीं गाड़ी से उतरते ही तिलक ने अपना नया नारा दिया जो फौरन लोगों की जबान पर चढ़ गया — लड़ो — भीख मत माँगो।

लाला लाजपतराय ने अपनी पुस्तक 'यंग इंडिया' में लिखा है कि बनारस में ही तिलक ने 'निष्क्रिय प्रतिरोध' की अपनी नीति प्रस्तुत की थी। और उसके अगले वर्ष कलकत्ता के अधिवेशन में उन्होंने अपनी उस नीति की और भी विशद व्याख्या की जिस रूप में वह बाद को जानी और समझी और बरती गयी।

तिलक के राजनीतिक जीवन में बनारस का कांग्रेस अधिवेशन एक बड़ी मंजिल है। इसके पहले अमरीका के थोरो और रूस के टाल्सटाय जैसे विचारक

एक निराकार सिद्धान्त के रूप में निष्क्रिय प्रतिरोध की बात कह चुके थे लेकिन तिलक के पहले शायद किसी ने उसको इस तरह व्यावहारिक रूप देकर एक राजनीतिक अस्त्र की तरह जनता के हाथ में नहीं पकड़ाया था। इसी अस्त्र का उपयोग गांधीजी ने १९२ के बाद कई बार अलग-अलग नामों से किया।

बहरहाल राष्ट्रीय आन्दोलन अपनी लीक से हटकर एक दूसरे, अधिक सप्राण रास्ते पर चल पड़ा था और उसका प्रभाव कांग्रेस के संगठन पर भी बावजूद उस पर माडरेटों के आधिपत्य के पड़े बिना न रहा। १९ ६ में कलकत्ता कांग्रेस के अधिवेशन के मंच से कांग्रेस के इतिहास में पहली बार स्वराज्य की मांग की घोषणा हुई। माडरेटों के लिए यह एक बड़ी हार थी — इसलिए और भी कि उनकी नाक को विफल करके तिलक की यह जीत हुई। कलकत्ता कांग्रेस के अध्यक्ष पद के लिए अधिकांश प्रदेशों से तिलक का ही नाम आ रहा था। लेकिन माडरेट किसी तरह इस बात को सह न सके तो उन्होंने तिलक के नाम को पीछे डालने के लिए एक ऐसे व्यक्ति का नाम सामने रक्खा जो अपनी सेवाओं और अपने वय दोनों ही दृष्टियों से सबका आदरणीय था — दादाभाई नौरोजी। माडरेट उनको अपना आदमी समझते थे और बहुत हद तक वह थे भी। लेकिन वह अनुभवी नेता भी थे और हवा का रुख पहचानते थे। लिहाजा उन्होंने पूरी तरह तिलक के कार्यक्रम का साथ दिया और उन्हीं के सभापतित्व में स्वराज्य की मांग कांग्रेस के मंच से पहली बार घोषित हुई। कांग्रेस के लिए उस समय यह एक बहुत बड़ा बहुत ऐतिहासिक क़दम था।

सरकार ने भी इस नयी स्थिति को समझा और उसका मुक़ाबला करने के लिए दमन की नीति का सहारा लिया। पुलिस का अत्याचार बहुत बढ़ गया। पंजाब में लाला लाजपतराय को गिरफ़्तार कर लिया गया।

कलकत्ते के बाद कांग्रेस का अगला अधिवेशन नागपुर में होने की बात स्थिर पायी थी। नागपुर तिलक का गढ़ था। नरमदली इस बात से बहुत डरे। वहाँ तो फिर तिलक की ही तूती बोलेगी और अध्यक्ष बनने से भी उनको न रोका जा सकेगा। लिहाजा नरमदलियों के नेता सर फ़ीरोज़ शाह मेहता ने जिन्हें १९ ५ में कर्ज़न ने 'सर' का ख़िताब दिया था तिकड़म करके अगले अधिवेशन का स्थान नागपुर से हटाकर सूरत करवा दिया। गरमदली इस बात पर बहुत नाराज़ हुए और ऐसी कुछ स्थिति पैदा हो गयी कि वह लोग कांग्रेस से अलग हो जायेंगे। लेकिन तिलक को यह बात मंज़ूर न थी कि कांग्रेस के भीतर फूट पैदा हो। लिहाजा आम चलकर गरम दल के लोग इस आधार पर समझौता करने के लिए राज़ी हो गये कि अगर लाला लाजपतराय को जो सूरत अधिवेशन के पहले जेल से रिहा

हो गये थे सभापति बनाया जाय तो हम लोग अधिवेशन में सम्मिलित होंगे। यह प्रस्ताव रखने के पीछे उनका स्पष्ट उद्देश्य यही था कि इस तरह हम कांग्रेस की ओर से देश के एक विद्रोही नेता का सम्मान कर सकेंगे जो अभी-अभी जेल से छूटकर आ रहा है। नरमदलियों ने ऊपर से तो हामी भरी लेकिन भीतर ही भीतर अपनी चाल चलते रहे क्योंकि वह किसी भी हालत में लाला लाजपतराय को सभापति बनाने के लिए तैयार न थे। उन्हें डर लगता था कि ऐसा करने से सरकार बहुत नाराज हो जायेगी।

आखिरकार अधिवेशन शुरू गरमदली नरमदली सभी उसमें शरीक हुए। गोखले भी तिलक भी। लेकिन तभी नरमदल वालों ने क्या किया कि कांग्रेस संगठन के भीतर अपने प्रभुत्व के बल पर उन्होंने गरमदल के साथ अपने समझौते को भुलाकर सभापति के आसन पर बंगाल के प्रसिद्ध सरकार-परस्त नरमदली नेता रासबिहारी घोष को बैठा दिया। यह चीज गरमदल वालों की सहनशक्ति के बाहर हो गयी। तिलक ने अपना नाम सभापति के पास भेजा कि उन्हें सभा की कार्रवाई शुरू होने के पहले सभापति के चुनाव के संबंध में कुछ कहने का अवसर दिया जाय। सभापति ने इस पर कोई ध्यान नहीं दिया। आखिरकार तिलक ने दूसरा कोई रास्ता न देख जबरन मंच पर जा पहुँचने का फैसला लिया। मंच पर उनका पहुँचना था और सभापति का उनको बोलने से रोकना था कि जोरों से मारपीट शुरू हो गयी। और फिर वह अधिवेशन जैसा हुआ वैसा न हुआ। गरमदल और नरमदल यहीं से बिलकुल अलग हो गये दोनों का एक दूसरे से फिर कोई संबंध न रहा।

सरकार भी भारतीय राजनीति के इस बराबर गाढ़े होते हुए विद्रोही रंग को देख रही थी। दमन की चक्की और तेज हो गयी। नये-नये कानून बन गये। नवंबर १ ७ में Prevention of Seditious Meetings Act लागू किया गया। लगभग इसी समय बंगाल में १८१८ का तीन बाईस (रूल III) पुनरुज्जीवित कर दिया गया और उसके अन्तर्गत बंगाल के स्वदेशी आन्दोलन के नेता श्याम सुन्दर चक्रवर्ती कृष्णकुमार मित्र सचीन्द्रप्रसाद बसु, अश्विनीकुमार दत्त जनता की ओर से राजा की उपाधि पाये हुए राजा सुबोध मल्लिक इत्यादि को पकड़ लिया गया और बिना उन पर मुकदमा चलाये उन्हें निर्वासित कर दिया गया।

लेकिन जैसा कि रमानाथ दास ने कहा था राजद्रोह उत्पन्न करने का इससे अच्छा कोई उपाय नहीं है कि पत्रों और सभाओं में होनेवाले स्वतन्त्र विचार विमर्श पर रोक लगा दी जाय। वही हुआ उग्र तत्व और प्रबल होने लगे। इधर कांग्रेस के भीतर गरमदल का जोर बराबर बढ़ता जा रहा था और उधर

सन् १९०७ और सन् १९११ के बीच क्रान्तिकारियों की सरगर्मियों में एक ज्वार-सा आया हुआ था। १९०८ में कलकत्ते में अलीपुर षड्यन्त्र केस हुआ जिसमें बारीन घोष और दूसरे क्रान्तिकारी पकड़े और निर्वासित किये गये। बंगाल के गवर्नर की हत्या की चेष्टा हुई। कलकत्ते के पुलिस मजिस्ट्रेट किंग्सफ़ोर्ड की हत्या की चेष्टा हुई। चन्द्रनगर के मेयर की हत्या की चेष्टा हुई। इसी तरह के और भी कई काण्ड हुए। राजनीतिक डकैतियाँ भी शुरू हो गयीं।

यही कलकत्ते का किंग्सफ़ोर्ड जब तबदील होकर मुज़फ़्फ़रपुर आया तो ३० अप्रैल १९०८ को प्रफुल्ल चाकी (उम्र १७ साल) और खुदीराम बोस (उम्र १५ साल) ने मिलकर उसकी हत्या की चेष्टा की। उन्होंने किंग्सफ़ोर्ड पर बम तो फेंका लेकिन वह बच गया और उसकी जगह मिसेज़ और मिस केनेडी नाम की दो अंग्रेज़ स्त्रियाँ माँ-बेटी मारी गयीं। प्रफुल्ल चाकी ने वहीं अपने आपको गोली मार ली। खुदीराम बोस भाग निकला और अगले दिन मुज़फ़्फ़रपुर से चौबीस मील की दूरी पर पकड़ा गया। ११ अगस्त १९०८ को उसे फाँसी दे दी गयी। पन्द्रह साल के उस वीर बालक को इस तरह फाँसी पर झूलते देखकर सारा देश सिहर उठा। घर घर खुदीराम की पूजा होने लगी। अंग्रेज़ों की न्याय परता और भारत के प्रति उनकी मंगलकामना के जो रंगमहल नरमदली राज नीतिज्ञों ने इतने बरसों में इतने जतन से खड़े किये थे सब देखते-देखते खुदीराम के खून में डूब गये।

अब दोनों पक्ष आमने-सामने खड़े थे — सरकार हर तरह से कुचलने का पक्का इरादा लेकर और विप्लवी वीर सर हथेली पर लिये शहादत का जाम लिए हुए सब कुछ झेलने को तैयार।

१ अगस्त १९०८ को श्री अरविन्द ने जिनके नाम की उस समय सारे देश में तूती बोल रही थी अपनी पत्नी को यह पत्र लिखा जो विप्लवकारियों की तत्कालीन मनःस्थिति का परिचय देता है —

मेरा ... पागलपन यह है कि जहाँ दूसरे लोग स्वदेश को एक जड़ वस्तु मानते हैं कुछ खेत-मैदान जंगल-पहाड़-नदी वहाँ मैं उसको माँ के रूप में देखता हूँ वैसी ही मैं उसकी भक्ति करता हूँ पूजा करता हूँ। माँ की छाती पर बैठकर अगर कोई राक्षस उसका रक्तपान करता हो तो उस समय बेटे का क्या कर्तव्य है? निश्चिन्त होकर आहार करता बैठे स्त्री-पुत्र के संग आमोद करे या माँ को बचाने के लिए दौड़े?

यह आग बराबर ज़ोर पकड़ती जा रही थी। आये दिन यहाँ-वहाँ बम के धड़ाके होते थे। राष्ट्रीय समाचारपत्र — जिनमें तिलक के 'केसरी' अरविन्द

घोष के 'वन्देमातरम' और विवेकानन्द के अनुज भूपेन्द्रनाथ दत्त के 'युगान्तर' का विशेष स्थान था — अक्सर आग उगलते रहते थे। सरकार के लिए बड़ी विस्फोटक स्थिति का सामना था। दमन की चक्की और भी तेज हुई। जून ८, १९ ८ को एक्सप्लोसिव सब्सटैंसेज (विस्फोटक द्रव्य) ऐक्ट और न्यूज़पेपर (इनसाइटमेण्ट टु आफ़ेन्सेज) ऐक्ट लागू किये गये। प्रेस ऐक्ट की मार से कोई न बच सका और उसके अन्तर्गत सन् १ और सन् १९ के बीच साढ़े तीन सौ प्रेस तीन सौ अखबार और पाँच सौ से ऊपर किताबें ज़ब्त की गयीं। दमन की यह चक्की इतनी तेज चली कि भारत-मंत्री लार्ड मार्ले तक उसे पचा न सके और उन्होंने वाइसराय मिण्टो को इस चीज़ के बारे में सतर्क किया। मगर साथ ही यह भी लिखना न भूले कि आप वहाँ मौक़े पर मौजूद हैं, स्थिति को ज़्यादा समझ सकते हैं मैं तो बस एक नेक सलाह दे रहा हूँ। जिसकी ज़रूरत न तो बड़े लाट मिण्टो को थी और न बंबई के छोटे लाट सैण्डहर्स्ट को जो सचमुच स्थिति का मज़ा ले रहे थे। फिर भला कैसे संभव था कि उनकी तलवार कांग्रेस के भीतर और बाहर उग्र तत्वों के सबसे बड़े नेता तिलक पर न गिरती। १३ जुलाई १९ ८ को बंबई के हाईकोर्ट में उन पर राजद्रोह का मुकदमा चलना शुरू हुआ और उन्हें जल्दी से जल्दी हिन्दुस्तानी जूरी के फ़ैसले के खिलाफ़ केवल अंग्रेज जूरी के फ़ैसले के ज़ोर पर छः साल का दण्ड देकर चुपके-चुपके माण्डले (बर्मा) भेज दिया गया। उसके साथ भारतीय राजनीति का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण युग समाप्त हुआ। पर तिलक को और उनके काम को भुलाना तो दूर रहा जनता ने उन्हें अपने हृदय में और भी गहरे बिठला लिया। तिलक के दण्ड के विरोध में बंबई के मज़दूरों की ज़बर्दस्त हड़ताल हुई जो इस बात की भी सूचना देती थी कि मज़दूर सिर्फ़ अपनी पगार की ही बात नहीं समझता देश की आज़ादी की बात भी समझता है।

तिलक छः बरस बाद माण्डले से लौटकर आये और फिर अपने उसी पुराने उत्साह से देश के काम में जुट गये। बहुत कुछ उन्होंने किया जिसे देश सदा याद रखेगा लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि भारत की स्वाधीनता की राजनीति को उनकी सबसे बड़ी देन उनका माण्डले जाने से पहले का युग है क्योंकि इसी युग में और विशेषरूप से सन् १९ ५ और १९ ८ के बीच बंगभंग और स्वदेशी के आन्दोलन की पृष्ठभूमि में राष्ट्रीय आन्दोलन को अपना स्पष्ट रूप मिला और उसे यह रूप देने में जिस एक व्यक्ति की देन सबसे बड़ी है उसका नाम है बाल गंगाधर तिलक।

भारतीय राजनीति के रंगमंच पर आकर तिलक ने कुछ ही बरसों में यह

जो विस्फोटक स्थिति पैदा कर दी थी उसका मुकाबला अंग्रेज सरकार अपनी दुरंगी नीति से कर रही थी। उग्र विद्रोही तत्वों को कुचलने के लिए तो उसके पास डंडा-गोली थी जिसका उपयोग वह इधर बरसों से कर रही थी। लेकिन उससे काम पूरा होते न देख उन्होंने नरमपंथवालों और विभाजनवादी तत्वों को फुसलाने के लिए वैधानिक अधिकारों की मृगमरीचिका दिखलानी आरम्भ की। १९०९ में मिन्टो-मार्ले रिफार्म्स प्रस्ताव के रूप में आये। उन्हें देखकर नरमदलवाले बगलें बजाने लगे क्योंकि उनके नजदीक यह उनकी वैधानिक नीति की विजय थी। वैसे डूबते को सहारा मिला और वह लोग बहुत जोर-शोर से ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत औपनिवेशिक स्वराज्य की मांग करने लगे। जब ये रिफार्म्स २५ दिसंबर १९१० को लागू किये गये तब तिलक माण्डले में थे। लेकिन देश की चेतना को वह जैसा बनाकर गये थे साधारण जनता उसके जाल में नहीं फँसी। तिलक ने जो शिक्षा दी थी वह भारतीय जनता के अन्तस्तल में बहुत गहरे जाकर बैठ गयी थी। उसे कभी भुलाया न जा सका।

क्या गुनाह है बेचारों का यही न कि वह अपने देश को आज़ाद देखना चाहते हैं ? यह तो कोई गुनाह नहीं है। सभी देश आज़ाद होना चाहते हैं। कौन चाहता है कि यहाँ आकर विदेशी राज करें। आयरलैण्डवाले तो कितने ही मामलों में अंग्रेज़ों से इतने मिलते-जुलते हैं कि तुम-हम तो उन्हें अंग्रेज़ों से अलग करके पहचान भी न सकें लेकिन उन्हें भी इंगलैण्डवालों की सरपरस्ती मंज़ूर नहीं हुई। वह भी अपने मुल्क की आज़ादी के लिए लड़ रहे हैं। इटली वाले अलग अपनी आज़ादी के लिए लड़ रहे हैं। अमरीका के अंग्रेज़ तो यहीं से जाकर बसे थे वहाँ लेकिन जब उनकी अलग क़ौम बन गयी तो फिर उन्होंने भी इन्हें मारकर अपने यहाँ से निकाला या नहीं। रूस में भी तो इसी तरह का गुप्त क्रान्तिकारी आन्दोलन है, वह नहीं चाहते ज़ार का अत्याचारी शासन। कितनी अच्छी बात कही है तिलक ने स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं उसे लेकर रहूँगा। कौन होते हैं आप यह कहनेवाले कि हम अपने देश की ज़िम्मेदारी सँभालने के क़ाबिल हुए या नहीं ? न होंगे तो ऐसी आफ़तें जो पड़ेंगी हम पर हम भुगत लेंगे आपसे कहने न जायँगे ! मगर नहीं यह सब तो कहने की बातें हैं मालिक और गुलाम के रिश्ते में ऐसा कहीं नहीं होता और कभी नहीं हुआ कि मालिक ने एक रोज़ गुलाम को इस क़ाबिल समझकर कि वह अपनी ज़िम्मेदारी ख़ुद सँभाल सकता है ताक़त उसके हाथ में ख़ुद से सौंप दी हो। मालिक तो हमेशा गुलाम को नाकारा समझता है—क्योंकि इसी में उसका फ़ायदा है। वह इतिहास का विद्यार्थी था और इतिहास में इस तरह की कोई नज़ीर नहीं मिलती। मालिक की निगाह में गुलाम क़यामत के रोज़ तक इस क़ाबिल न होगा कि उसे ख़ुद उसके भरोसे छोड़ दिया जाय। तो इसका मतलब है कि हम क़यामत के रोज़ तक गुलाम रहेंगे ? और अगर हमें यह ज़लील मंज़ूर न हो और हम आपसे कहें कि आप हमको हमारे हाल पर छोड़ दीजिए तो इसका जवाब आपके पास है फाँसी और कालापानी ! तभी तो आपने इस तरह जल्लादी पर कमर बाँधी है। हुकूमत करनेवाले सब एक-से होते हैं। गोखले ने ख़ामख़ाह आस लगा रखी है उनसे। कुछ होने जाने वाला नहीं है। तिलक का रास्ता ही ठीक है। बात समझ में आती है। आज़ादी हमेशा लड़कर ली जाती है भीख माँगने से आज़ादी नहीं मिला करती। माँग तो रहे हैं भीख इतने दिनों से मिला कुछ ! किसी को मिली है कि आप ही को मिलेगी ? क़ुर्बानी दरकार है उसके लिए। यह तो लड़ाई है बाक़ायदा। इसमें यहाँ का रहम और यहाँ की मुरौवत। सब बच्चों को बहलाने की बातें हैं। जिस दिन मुल्क क़ुर्बानी के रास्ते पर चल पड़ेगा आज़ादी रखी हुई है



१६ ७

और मुंशीजी ने सन् १९०७ में अपनी पहली छोटी कहानी लिखी, बिलकुल पहली — दुनिया का सबसे अनमोल रतन। क्या है दुनिया का सबसे अनमोल रतन ? एक प्रेमी पाने वाले पिता के दो आँसू ? नहीं। अपने पति के साथ चिता पर भस्म हो जानेवाली एक सती स्त्री की राख ? नहीं। 'ख़ून की वह आख़िरी बूँद जो देश की आज़ादी के लिए गिरे, वही दुनिया का सबसे अनमोल रतन है।

ऐसी ही कहानी 'शेख़ मख़मूर' है जो इन्हीं दिनों मुंशीजी की क़लम से निकली। बाहर का एक राजा हमला करके किसी देश को जीत लेता है। पराजित देश का राजा जब मरने लगता है तो अपना ताज और अपनी तलवार अपने बेटे को सौंप जाता है और वसीयत करता है —

यह मुल्क तुम्हारा है, यह ताज तुम्हारा है, यह रिआया तुम्हारी है। तुम इन्हें वापस लेने में जान भी लड़ा देना, दम तक कोशिश करते रहना और अगर तुम्हारी तमाम कोशिशें नाकाम हो जायें और तुम्हें भी यही बेसरोसामानी की मौत नसीब हो तो यही वसीयत तुम अपने बेटे से कर देना और यह ताज जो उसकी अमानत होगी उसको सिपुर्द कर देना।

पन्द्रह साल के लड़के खुदीराम को जब फाँसी दी गयी और किसी तरह का लिहाज़ उसकी उम्र का नहीं किया गया तो सारा देश चीख़ पड़ा एक बार। सब को यही लगा कि जैसे उन्हीं का बेटा उन्हीं का भाई चढ़ गया फाँसी पर। किसी को रहम न आया उसकी कच्ची उम्र पर ! और बातें इतनी इतनी अंग्रेज़ों के इंसाफ़ की ! सब यही हाथी के दाँत — खाने के और दिखाने के और। जब तक अपने ऊपर आँच नहीं आती तब तक हम बड़े इंसाफ़वाले हैं लेकिन जहाँ बात कुछ भी इधर से उधर हुई, फिर कहाँ का इंसाफ़ और कहाँ का क्या। तब तो फिर एक ही इंसाफ़ है कि तलवार उठाओ और एक-एक को जड़ से सुफ़ा कर दो। पहले भी यही हुआ है, अब भी यही हो रहा है। होने में कोई बुराई नहीं है, जहाँ चोप का पेशा हो वो कौमों के बीच यहाँ दूसरी किसी चीज़ की उम्मीद भी न करनी चाहिए। जो मन करता है करो और उम्मीद हम तो उनसे शिकायत भी नहीं करते। शिकायत तो हमें अपने ही लोगों से है, क्यों बरदाश्त करते हैं यह दूसरों का नामुनासिब बातें यह-वहकर ?

मुंशीजी बेतरह बिफरे हुए थे और जैसा कि निगम साहब कहते हैं —

प्रेमचन्द का राजनीतिक झुकाव गरम दल की तरफ़ था। महमदाबाद ख़ाकिन देहन हम लोग साथ ही गरम दले और एक ही जगह रहकर लेकिन वह मिस्टर तिलक के तरफ़दार थे और मैं मिस्टर गोखले और सर फ़ीरोज़ शाह

का हामी था। हर वक़्त बहस रहती थी मगर दोनों अपनी जगह क़ायम रहे। छोटे-मोटे सुधारों को वह काफ़ी न समझते थे और मिण्टो-मार्ले और माण्टेग्यू-चेम्सफ़ोर्ड की स्कीम से आश्वस्त न थे।

इसका कारण भी निगम साहब बतलाते हैं—

प्रेमचंद नाबराबर की लड़ाई में समझौते के ख़याल को मुर्दे की नज़र से देखते थे। उनका ख़याल था कि कभी जद्दोजहद के बग़ैर कुछ हासिल न होगा और वह इसके लिए अवाम को जल्द से जल्द तैयार करने की तरफ़ थे। उनका ख़याल था कि हुकूमत से सख़्त टक्कर लिये बग़ैर काम न चलेगा।

कांग्रेस के भीतर तिलक का आन्दोलन और कांग्रेस के बाहर क्रान्तिकारियों की सरगर्मियाँ और उन दोनों पर चलनेवाला सरकार का कठोर, नृशंस दमन रोज़-ब-रोज़ मुंशीजी के मन को विद्रोही बनाता जा रहा था और जब ११ अगस्त १९ ८ को खुदीराम को फाँसी हो गयी तो उनके दिल से समझौते की बात किसी तरह के समझौते की बात हमेशा के लिए रुख़सत हो गयी। उस दिन के बाद से उनके और सरकार के बीच खुदीराम की लाश थी। इस बहादुर लड़के की शहीदाना मौत हमेशा के लिए मुंशीजी के दिल में घर कर गयी और वह कभी सरकार को इस बच्चे के ख़ून के लिए माफ़ नहीं कर सके। बड़ी गहरी चोट लगी दिल को लेकिन गर्व भी कम न हुआ और मुंशीजी जो कभी किसी की तसवीर-वसवीर घर में नहीं टाँगा करते थे बाज़ार से खुदीराम की एक तसवीर ले आये और बड़े प्रेम से अपने कमरे में उसे टाँग लिया। सरकारी मुलाज़िम होकर ऐसे एक बाग़ी की तसवीर घर में टाँगना उनके हक़ में बुरा हो सकता है इसका पता भी उनको होगा ही ताहम वह तसवीर ख़रीदकर घर पर आयी और बेझिझक टाँगी गयी। इस तरह एक देशभक्त नौजवान ने एक बहादुर शहीद की मौत पर श्रद्धा के दो फूल चढ़ाये। यह रास्ता शायद कभी मुंशीजी को सही नहीं मालूम हुआ लेकिन उनसे क्या।

इस सिलसिले में यह भी ध्यान देने की बात है कि मुंशीजी भले क्रान्तिकारी आन्दोलन में शरीक न हों और उस रास्ते को सही न समझते हों लेकिन वह भी उन्हीं विवेकानन्द और मैज़िनी और गैरीबाल्डी की तरफ़ झुक रहे थे जिनकी तरफ़ क्रान्तिकारी नौजवानों की वह पीढ़ी झुक रही थी।

जुलाई १९०७ में गैरीबाल्डी का एक छोटा-सा जीवनचरित्र उन्होंने 'ज़माना' में लिखा यही जोज़ेफ़ गैरीबाल्डी जिसने इटली को गुलामी के गड्ढे से निकाला और जो इतिहास के उन इने-गिने महापुरुषों में है जो अपनी निस्स्वार्थ और

साहसभरी देशभक्ति के कारण सारी दुनिया का उपकार करनेवाले माने गये हैं। बहादुरी के कारनामों से भरी हुई उसकी रोमांचकारी ज़िन्दगी का बखान करने के बाद मुंशीजी ने एक जगह पर लिखा —

सच है, स्वदेश की सेवा सहज काम नहीं है। उसके लिए ऊँचा हौसला फ़ौलाद की दृढ़ता दिन रात मरने-पिसने का अभ्यास और हर समय जान हथेली पर लिये रहने की ज़रूरत है। जब तक यह गुण अपने स्वभाव में न समा जायें स्वदेश-सेवा का दम ज़बानी ढकोसला है।

मैज़िनी के ज़िन्दगी के हालात को नवाब ने क़िस्से की शकल में पेश किया और इसके दुनिया और हुब्बे वतन के नाम से उसकी कहानी अप्रैल १९ ८ के ज़माना में लिखी। कहानी के रूप में वह चीज़ कुछ ख़ास उतर न सकी मगर हाँ लिखनेवाले ने अपने हृदय के भाव प्रेम और श्रद्धा के उसमें अच्छी तरह उँडेल दिये। अपने देश की आज़ादी के लिए उसने अपनी मुहब्बत कुर्बान कर दी यही सारी कहानी है मगर इसको लिखनेवाले ने बहुत जोश के साथ लिखा है —

मैज़िनी अपने ख़यालों में डूबा हुआ है — आह बदनसीब क़ौम! ऐ मज़लूम इटली! क्या तेरी क़िस्मतें कभी न सुधरेंगी क्या तेरे सैकड़ों सपूतों का ख़ून ज़रा भी रंग न लायगा क्या तेरे हज़ारहा जलावतन देश के निकाले हुए जाँनिसारों की आह में ज़रा भी तासीर नहीं! क्या तू अन्याय और दासता के जाल में हमेशा गिरफ़्तार रहेगी! शायद तुझमें अभी सुधरने की स्वाधीन बनने की योग्यता नहीं आयी। शायद तेरी क़िस्मत में कुछ दिनों और ज़िल्लत और रुसवाई लिखी है!

कहने की ज़रूरत नहीं कि इटली महज़ एक बहाना है बात वह अपने ही देश की कर रहा है। और उसी रौ में कर रहा है जिसमें देश की वह तमाम नौजवान पीढ़ी कर रही थी जिसने विद्रोह और विप्लव का रास्ता अपनाया था।

इस पीढ़ी ने विवेकानन्द से कितना मनोबल पाया यह सब जानते हैं। और मुंशीजी जो कि उसी उग्र राष्ट्रीयता के साथ बह रहे थे और हिन्दू जाति के उत्कर्ष का स्वप्न देखते हुए इस ओर आये थे कैसे संभव था कि वह ज़ोरों के साथ विवेकानन्द की ओर न खिंचते। कई रूपों में विवेकानन्द उन्हें अपनी तरफ़ खींचते थे। एक तो सच्चे हिन्दू का रूप ऐसा हिन्दू जिसके मन में यह लालसा है कि आज की धन और बल से हीन हिन्दू जाति फिर पूर्वकाल की सबल समृद्ध और आसमगीरविजयिनी आर्य जाति बने।

दूसरा रूप एक सच्चे देशसेवी जनसेवी का था —

१८९७ ई० का साल सारे हिन्दुस्तान के लिए बड़ा मनहूस था। कितने ही

स्थानों में प्लेग का प्रकोप था और अकाल भी पड़ रहा था। लोग भूख और रोग से काल का ग्रास बनने लगे। देशवासियों को इस विपत्ति में देखकर स्वामीजी कैसे चुप बैठ सकते थे। आपने लाहौरवाले भाषण में कहा था—साधारण मनुष्य का धर्म यही है कि साधु-संन्यासियों और दीन-दुखियों को भरपेट भोजन कराये। मनुष्य का हृदय ईश्वर का सब से बड़ा मन्दिर है और इसी मन्दिर में उसकी आराधना करनी होगी। फलतः आपने बड़ी सरगर्मी से खैरातखाने खोलना शुरू किये। स्वामी रामकृष्ण ने देशसेवाव्रती संन्यासियों की एक छोटी-सी मण्डली बना दी थी। वह सब स्वामीजी के निरीक्षण में तन-मन से दीन-दुखियों की सेवा में लग गये। वेदान्त के प्रचार के लिए, जगह-जगह विद्यालय भी स्थापित किये गये। कई अनाथालय भी खुले

तीसरा रूप एक सचेत स्वाधीनता-प्रेमी का है। मुंशीजी ने विवेकानन्द के किसी भाषण का यह टुकड़ा नक़्ल किया—

मेरे नौजवान दोस्तो बलवान् बनो! तुम्हारे लिए मेरी यही सलाह है। तुम भगवद्गीता के स्वाध्याय की अपेक्षा फुटबाल खेलकर कहीं अधिक सुगमता से मुक्ति प्राप्त कर सकते हो। जब तुम्हारी रगें और पुट्ठे अधिक दृढ़ होंगे तो तुम भगवद्गीता के उपदेशों पर अधिक अच्छी तरह चल सकते हो। गीता का उपदेश कायरों को नहीं दिया गया था अर्जुन को दिया गया था जो बड़ा शूरवीर, पराक्रमी और क्षत्रिय-शिरोमणि था।

फिर एक दूसरे व्याख्यान का यह टुकड़ा पेश करते हैं—

यह समय आनन्द में भी आँसू बहाने का नहीं। हम रो तो बहुत चुके। इस कोमलता ने हमें इस हद तक पहुँचा दिया है कि हम रुई का गाला बन गये हैं। अब हमारे देश और जाति को जिन चीज़ों की ज़रूरत है वह है—लोहे के हाथ-पैर और फ़ौलाद के-से पुट्ठे और वह दृढ़ संकल्प शक्ति जिसे दुनिया की कोई चीज़ नहीं रोक सकती जो प्रकृति के रहस्यों की तह तक पहुँच जाती है और अपने लक्ष्य से कभी विमुख नहीं होती चाहे उसे समुद्र की तह में जाना या मृत्यु का सामना क्यों न करना पड़े।

सामाजिक सुधारों के बारे में विवेकानन्द के दृष्टिकोण का उल्लेख करते हुए उन्होंने जो बात लिखी है वह इस प्रश्न पर खुद उनके विचारों की उस नयी कड़ी का आभास देती है जो पिछले दो-चार वर्षों में जुड़ी है। लिखते हैं—

स्वामीजी सामाजिक सुधारों के पक्के समर्थक थे पर उसकी वर्तमान गति से सहमत न थे। उस समय समाज-सुधार के जो यत्न किये जाते थे वह प्रायः उच्च और शिक्षित वर्ग से ही संबंध रखते थे। पर्दे की रस्म विधवा-विवाह जाति-बंधन—यही इस समय की सबसे बड़ी सामाजिक समस्यायें हैं जिनमें सुधार होना बहुत ही ज़रूरी

है और सभी शिक्षित वर्ग से संबंध रखती है। स्वामीजी का आदर्श बहुत ऊँचा था — अर्थात् निम्न श्रेणीवालों को ऊपर उठाना, उन्हें शिक्षा देना और अपनाना। यह लोग हिन्दू जाति की जड़ हैं और शिक्षित वर्ग उसकी शाखाएँ। केवल डालियों को सींचने से पेड़ पुष्ट नहीं हो सकता। उसे हरा-भरा बनाना हो तो जड़ को सींचना होगा।

चेतना की यह एक नयी ही गहराई है और उस गम्भीर मानसिक क्रान्ति का पता देती है जिसके बीच से मुंशीजी पिछले दिनों गुज़रे थे। देश में उस समय चारों तरफ़ जो उथल-पुथल मची हुई थी और राष्ट्रीय आन्दोलन को लोकमान्य तिलक से जो नेतृत्व मिल रहा था उसमें मुंशीजी ने अपने विचारों की यात्रा में काफ़ी लंबा सफ़र तय किया था।

सब बेकार की बातें हैं, सत्ता पर जब आँच आती है सब एक बराबर हो जाते हैं। सीधी बात तिलक कहता है, देश को लड़ने के लिए तैयार करो।

मगर यह तो कहो — देश कौन है? यह मुट्ठी भर पढ़े-लिखे लोग या यह करोड़ों छोटे लोग? असल देश यही निम्न श्रेणी है। यही तो जड़ है, शिक्षित वर्ग तो उसकी शाखा है। केवल डालियों को सींचने से पेड़ पुष्ट नहीं हो सकता। उसे हरा-भरा बनाना हो तो जड़ को सींचना होगा।

बाद में जो कुछ हुआ उसका अंकुर यहीं था, चेतना का यही क्रान्तिकारी स्तर।

सचमुच बड़े अच्छे मुहूर्त में कानपुर आये थे जो चार बरस से ऊपर इस सुहाने वातावरण में रहने को मिल गया। लिखने-पढ़ने की ऐसी अच्छी फ़िज़ा बड़ी क़िस्मत से मिलती है।

सबसे पहले तो मुंशीजी की एक ज़ोरदार बहस गोरखपुर के हकीम बरहम से हो गयी। हुआ यह कि नवाबराय ने शरर और सरशार का एक मार्का लिखा था जिसमें दोनों बड़े कथाकारों के गुण-दोष पर विचार था। मगर यह चीज़ कुछ इस क़दर फैली और कुछ ऐसा ज़बर्दस्त असर उसने पढ़नेवालों पर डाला कि शरर के (जो ख़ास इस्लामी रंग में लिखते थे) चाहनेवालों और सरशार के चाहनेवालों के दो अलग गिरोह-जैसे हो गये और नवाबराय की छेड़ी हुई उस बहस से और भी बहुत सी बातें फूट निकलीं। हकीम बरहम ने शरर की तरफ़दारी करते हुए 'उर्दूए मुअल्ला' में सरशार की खूब ले-दे की। मुंशीजी ने जो यह चीज़ पढ़ी तो उनसे अपने उस्ताद की यह तौहीन बर्दाश्त न हुई और वह भी ताल ठोंककर सरशार की तरफ़ से अखाड़े में कूद पड़े। उसी पर्चे में हकीम साहब को जवाब देते हुए मुंशीजी ने लिखा —

हम हकीम साहब के कहने से इस बात को मान लेते हैं कि हज़रत शरर अरबी के फ़ाज़िल फ़ारसी के बहुत बड़े आलिम और अपने वक़्त के बहुत बड़े विद्वान हैं। बेचारा सरशार फ़ारसी में कच्चा और अरबी में नादान बच्चा है। मगर उससे हमको क्या बहस। हम सिर्फ़ यह देखना चाहते हैं कि कहानी लिखने के मैदान में किसका क़लम उड़ानें भरता है।

फिर मुंशीजी ने उपन्यास की कसौटी क़ायम की कि वह अपने ज़माने की तसवीर होता है और लिखा —

इस कसौटी को अपने सामने रखकर अगर सरशार के क़िस्सों को देखिए तो ऐसी कौन-सी ख़ूबी है जो इनमें भरपूर नहीं। सच तो यह है कि उनकी सब किताबें अपने ज़माने की सच्ची तसवीरें हैं। सांस्कृतिक जीवन का कोई ऐसा पहलू नहीं जिस पर सरशार की ज़बान ने अपने निराले ढंग से फूल न बरसाये हों। यहाँ तक कि मदारियों के खेल, भाँड़ों की नक़लें, बाज़ारू शराब पिलानेवालियों के नख़रे और ऐसी ही बेशुमार बातों की छोटी-छोटी बारीकियों में भी अद्भुत चित्रकार का कौशल दिखाया है।

हकीम बरहम साहब के इस अभियोग का जवाब देते हुए कि सरशार के उपन्यासों में न कोई उद्देश्य है न कोई विचार, मुंशीजी ने लिखा —

● जितना ही इस पर ग़ौर करता हूँ उतनी ही उलझन मालूम होती है कि इस बात पर हँसें या गम्भीरता से उसका जवाब दें। सरशार ने उन सामाजिक रोगों के उपचार का बीड़ा उठाया था जिनके पंजे में फँसकर समाज की जान निकली जा रही थी और दूसरे अनुभवी वैद्यों और हकीमों की तरह उसने भी कड़वी कसैली दवाएँ शक्कर और मिश्री में घोलकर पिलायीं। जिन लोगों के पास आँख है वह जानते हैं कि बीमारियों की रोकथाम का कोई साधन ऐसा उपयोगी और असरदार नहीं है जितना कि दिल्लगी का कोड़ा और सरशार ने बड़ी बेदर्दी से ऐसे कोड़े लगाये हैं। सरशार की बेधड़क ठिठोली डिकेन्स के गम्भीर व्यंग्य से अधिक प्रभावशाली है।

मगर शायद हकीम साहब ऐसे निष्कर्षों या नतीजों को नतीजा न समझेंगे। उनके नज़दीक उसी नाविल के पीछे निष्कर्ष, उद्देश्य और विचार भरे होते हैं जिस पर इस तरह का कोई लेबुल लगा होता है — इस उपन्यास में पर्दे के बुरे नतीजे दिखाये गये हैं। या इस उपन्यास में यह सिद्ध किया गया है कि मर्ज़ी के ख़िलाफ़ शादियों का हमेशा बुरा नतीजा होता है। मानो उपन्यास न हुए कोई दर्शन की किताब हुई जिसमें किसी न किसी थ्योरी को स्थापित करना ज़रूरी है। मज़ा तो जब है कि नतीजा ऊपर से नीचे तक भरा हो और ऐसे सरल अनायास ढंग से कि पाठक के दिलों में घुस जाये।●

और फिर साहित्य के एक बड़े सिद्धान्त की स्थापना की —

मनुष्य की भावनाओं और स्थितियों व प्रकृति के दृश्यों और चमत्कारों की तसवीर खींचना स्वयं एक निष्कर्ष या नतीजा है।

हकीम साहब के इस अभियोग का जवाब देते हुए कि सरशार के सब पात्र लखनऊ ही के स्त्री-पुरुष हैं, मुंशीजी ने कहा —

● इसमें हर्ज ही क्या है? एक शहर तो क्या एक मुहल्ले और एक परिवार में अलग-अलग स्वभावों और तौर-तरीक़ों के लोग हो सकते हैं और एक सचमुच कला का धनी उपन्यासकार उन्हीं की रोज़मर्रा ज़िन्दगी में जादू का-सा असर पैदा कर सकता है   एक ख़ास जगह के दृश्यों और संस्कृति का विस्तृत चित्र दिखाना कहीं ज़्यादा अच्छा है बजाय इसके कि सारी दुनिया के भौगोलिक नक़्शे दिखाये जायें।

मगर इसका हमेशा ख़याल रखना चाहिए कि उपन्यास लिखने की सफलता यही नहीं है कि पात्रों में केवल विशेषताएँ पैदा कर दी जायें सच्ची कारीगरी तो इसमें है कि पात्रों में जान डाल दी जाय उनकी ज़बान से जो शब्द निकलें वह ख़ुद-ब-ख़ुद निकलें निकाले न जायें जो काम वह करें, ख़ुद करें, उनके हाथ-पाँव मरोड़कर ज़बर्दस्ती उनसे कोई काम न कराया जाय। इस कसौटी पर सरशार के पात्रों को कसिए तो वह आम तौर पर खरे निकलेंगे। उनमें वही चल -फिरत है जो जीते-जागते आदमियों में हुआ करती है। उनमें वही छेड़छाड़ वही हँसी-मज़ाक़ वही गुपचुप इशारे, वही गप-शप होते हैं जो हम अपनी बेतकल्लुफ़ी की मजलिसों में किया करते हैं। उनकी एक-एक बात से हमको हमदर्दी हो जाती है। वह हमको हँसाते हैं, रुलाते हैं, चिढ़ाते हैं, सताते हैं उनके क़हक़हे की आवाज़ें हमारे कान में आती हैं, हमारे दिल में गुदगुदी पैदा होती है और हम ख़ुद-ब-ख़ुद खिलखिला पड़ते हैं। उनके रोने की दिल हिला देनेवाली आवाज़ें हम सुनते हैं और हमारी आँखों में बरबस आँसू भर आते हैं   और पात्रों को जाने दीजिए, सरशार का खोजी ही एक ऐसी अमर सृष्टि है जो दुनिया की किसी ज़बान में उसकी ज़बर्दस्त शोहरत का सिक्का बिठाने के लिए काफ़ी है। माशा अल्लाह, कैसा हँसता-बोलता आदमी है। सुबह हुई, आप उठे अफ़ीम घोली हुक्के का दम लगाया दाढ़ी फटकारी और अपने मुगदर को देखते अकड़ते अपने जोम में मस्त चले जा रहे हैं। ज्यों ही रास्ते में किसी चन्द्र-बदना सुन्दरी को धीमे-धीमे आते देखा वहीं आपकी बाँछें खिल गयीं। ज़रा और अकड़ गये। उसने जो कहीं आपके रंग-ढंग पर मुस्करा दिया तो आप फूल गये। गुमान हुआ मुझ पर रीझ गयी। फ़ौरन मूँछों पर ताव दिया और मुस्कराकर तीखी-बाँकी चितवनों से आसपास के लोगों को देखने लगे कि पाँव में ठोकर लगी और चारों ख़ाने चित। यारों ने क़हक़हा लगाया मगर

क्या मजाल कि हज़रत के चेहरे पर ज़रा भी मैल आने पाये। मर्द साक़ी उठ खड़े हुए और बस जो मीठी का नारा लगाया कुरौली म्यान से निकल पड़ी और चारों तरफ़ सुनसान हो गया सर मर्दों से अलग नज़र आने लगे और लाशें फड़कने लगीं। शाबाश लोगो! तुमको खुदा हमेशा ज़िन्दा सलामत रखे तेरे एहसानों से एक दुनिया का सर झुका हुआ है। ●

अपने एक इतने बड़े उस्ताद पर कोई अनाप-शनाप तोहमत लगाये यह भला मुंशीजी बर्दाश्त कर सकते थे? अपनी पूरी ताक़त और जोश से वह हकीम साहब के ऊपर पिल पड़े और मारते-मारते उनको बेदम कर दिया। उस्ताद की रक्षा करते में मुंशीजी खुद अपने साहित्यिक आदर्शों की रक्षा कर रहे हैं जिनको वह मज़बूती के साथ पकड़ चुके हैं।

जीवन के प्रति ऐसी ही प्रौढ़ दृष्टि इन मोतियों में नज़र आती है जो मुंशीजी ने 'विदुर नीति' की समालोचना करते हुए उसमें चुनकर पेश किये। कहना न होगा कि विदुर नीति की ये सूक्तियाँ शायद मुंशीजी की अपनी उपलब्धि अपनी आचार-संहिता भी है, वर्ना इन्हीं मोतियों पर उनकी नज़र क्यों ठहरती —

● विद्वान उसी को कह सकते हैं जो संसार के व्यापार में लिप्त रहने पर भी ऐन्द्रिक इच्छाओं और धन-सम्पदा से ऊँचा स्थान सदाचार को देता हो। जो व्यक्ति अपना अनमोल समय व्यर्थ नहीं गँवाता और विचारों पर जिसको अधिकार होता है उसे विद्वान कहते हैं। पण्डित और बुद्धिमान वही है जो संसार की आपद-विपद से ऐसा ही निश्चिन्त रहे जैसे नदी अपन में कंकड़-पत्थर फेंके जाने से रहती है।

मनुष्य के शरीर से प्राण निकालने के लिए दो नश्तर हैं जिनमें से पहला नश्तर तो कंगाल को अकूत संपत्ति की लालसा है और दूसरा है कमज़ोरी के बावजूद दूसरों पर गुस्सा करना।

इन दो व्यक्तियों को कमर में पत्थर बाँधकर नदी में डुबो देना चाहिए — एक तो ऐसे धनवान को जो अपने धन में अधिकारी व्यक्तियों को सम्मिलित न करे और दूसरे ऐसे कंगाल को जो ग़रीबी के बावजूद परमेश्वर की उपासना न करे।

दो आदमी ऐसे आकाश के परकाले होते हैं कि सूरज के लम्बे-चौड़े घेरे को भी चीर-फाड़कर ऊपर दाखिल हो सकते हैं — पहला तो प्राणायाम करनेवाला संन्यासी है और दूसरा लड़ाई के मैदान में बहादुरी के साथ दुश्मन का मुक़ाबला करके शहीद हो जानेवाला वीर।

जिस तरह शहद की मक्खी फूल को बनाये रखकर उसमें से सिर्फ़ शहद ले लिया करती है उसी तरह राजा को चाहिए कि प्रजा की स्थिति को बनाये रखकर उससे कर वसूल करे।

सदाचार से सत्पुरुषों की, अध्ययन से ज्ञान की, अच्छे आचरण से सौन्दर्य की, नेक आचरण से परिवार की, नाप-तोल से गल्ले की, फेरने से घोड़े की, देख-भाल से जानवरों की और साफ़ कपड़ों से स्त्री के सतीत्व की रक्षा होती है।

फुटकर लेख तो इस तरह के बने ही, दो नये क़िस्से भी इसी बीच छपे। एक तो राजपूताने की कहानी थी- 'रूठी रानी' जो अप्रैल से अगस्त १९ ७ तक 'ज़माना' में धारावाहिक रूप से निकली और दूसरी 'किशना' लगभग इन्हीं दिनों किताब की सूरत में बनारस के मेडिकल हाल प्रेस से छपी।

अक्टूबर १९ ७ के अंक में उसकी समालोचना करते हुए नौबत राय 'नज़र' ने लिखा —

यह एक उपन्यास है और हमारे सोशल रिफ़ार्म से ताल्लुक़ रखता है। उन्होंने औरतों में ज़ेवर के फ़िज़ूल शौक़ की अच्छी खिंचाई की है, गोया यह एक ऐसी औरत की दास्तान है जिसे ज़ेवरात का शौक़ नहीं बल्कि ख़ब्त थी... साथ ही शादी-ब्याह की कुछ रस्मों का भी ख़ाका उड़ाया गया है, ख़ासकर उधार-वार और उसका सख़्ती से वसूल करना।... किताब में जो भाषा इस्तेमाल की गयी है वह मुंशी साहब की प्रचलित लेखनशैली से बहुत कम मिलती है। शायद यह भाषा इसलिए इस्तेमाल की गयी है कि जिन लोगों का सुधार अभीष्ट है उनके लिए रोचक हो।... यह एक ऐसा उपन्यास है जिसमें कोई हीरो या हीरोइन नहीं है और उसे उपन्यास कहना कठिन है। दरअसल यह उपन्यास है भी नहीं बल्कि स्त्रियों की एक कुत्सित प्रवृत्ति का ख़ाका उड़ाया गया है जिसे अंग्रेज़ी में कैरिकेचर कहते हैं।

'किशना' निकलने के साल भर बाद 'दुनिया का सबसे अनमोल रतन' और दूसरी चार कहानियों का संग्रह 'सोज़े वतन' के नाम से निकला।

और उसके छः आठ महीने बाद, १ जून १९ ९ को ज़ब्ती का परवाना आ गया।

कानपुर छूटने का मुंशीजी को रंज था। यारों की यह सोहबतें फिर कहाँ मिलेंगी। वह हरदम का साथ उठना-बैठना, साहित्य की और राजनीति की बातें, तरह-तरह के मंसूबे। उस ज़िन्दगी का मज़ा ही और था। लगता था कि सचमुच

जिला है। अब पता नहीं वहाँ क्या हाल रहे। महोबा तो बंजर है। बुंदेलखण्ड का पहाड़ी इलाका। पढ़े-लिखे आदमी की सूरत देखने को तरस जाऊँगा।

मगर खैर, इलाज भी क्या है। सरकारी नौकरी में तबादला तो एक जरूरी शर्त है। हमीरपुर फिर भी कानपुर से उतना दूर नहीं है। हाँ रेल नहीं है, मगर उससे क्या।

नौकरी करनी है तो फिरना पड़ेगा। और फिर यह तो तरक्की हुई है, अच्छी खासी तरक्की — बीस रुपये से पचास रुपये। मगर हाँ बैठने को न मिलेगा वहाँ भी। पैर में चक्कर रहेगा हरदम।

इन्हीं दिनों कभी इलाहाबाद चले जाने की सूरत एक बार बनी थी। इण्डियन प्रेस के बाबू चिन्तामणि घोष उर्दू का एक रिसाला निकालना चाहते थे। उसी की एडिटरी के सिलसिले में। चिन्तामणि बाबू ने मुंशीजी को बुलाया। मुंशीजी आये। बातें हुईं। मुंशीजी ने उसका नाम 'फ़िरदौस' तजवीज किया। कुछ लोगों से रचनाएँ भी मँगा लीं। मगर दोस्तों ने नौकरी छोड़कर जाने की सलाह न दी। आखिरकार बात खत्म हो गयी और बाद को प्यारेलाल 'शाकिर' ने कई बरस तक उसी रिसाले को 'अदीब' के नाम से निकाला।

और मुंशीजी तो अब हमीरपुर जा रहे थे।

स्कूलों के मुआइने का काम था यही उसके आने-जाने वाले देहाती मदरसे —

एक पेड़ के नीचे जिसके इधर-उधर कूड़ा-करकट पड़ा हुआ है और जहाँ शायद बरसों से झाड़ू नहीं दी गयी एक फटे-पुराने टाट पर बीस-पच्चीस लड़के बैठे ऊँघ रहे हैं। सामने एक टूटी हुई कुर्सी और पुरानी मेज है। उस पर जनाब मास्टर साहब बैठे हुए हैं। लड़के झूम-झूमकर पहाड़े रट रहे हैं। शायद किसी के बदन पर साबित कुर्ता न होगा। धोती जाँघ के ऊपर तक बँधी हुई, टोपी मैली-कुचैली नाकें बहती चेहरे सूखे हुए। यह आर्यावर्त का मदरसा है जहाँ किसी जमाने में तक्षशिला और नालंदा के विद्यापीठ थे

मुंशीजी खुद ऐसे मदरसों में पढ़ चुके हैं और अपने आसपास बराबर देखते रहे हैं। अपनी ठेठ किसान बुद्धि से उनके बारे में सोचा भी है। हमीरपुर के लिए रवाना होने के ठीक पहले 'संयुक्त प्रान्त में आरम्भिक शिक्षा' के नाम से उन्होंने एक बड़ी गहरी सूझ-बूझ का लेख पूरी निर्भीकता से लिखा बिना इस बात की रत्ती भर चिन्ता किये कि वह खुद इसी सीग़े में सरकारी मुलाज़िम थे और उनसे बड़े हाकिम लोग नाराज हो जायँगे। इस लेख में उन्होंने अपने अनुभवों को निचोड़कर रख दिया कठिनाइयाँ भी बतलायीं और उनके बारे में

अपने सुझाव भी दिये और जहाँ खरी-खरी सुनाने की बात थी वहाँ खरी-खरी सुनायी —

हमारी आरम्भिक शिक्षा के सुधार और उन्नति के लिए सबसे बड़ी जरूरत योग्य शिक्षकों की है। और योग्य आदमी आठ रुपये या नौ रुपये माहवार के वेतन पर दुनिया के पर्दे में कहीं नहीं मिल सकते। जिस आदमी को पेट की फ़िक्र से आज़ादी ही नसीब न होगी वह तालीम की तरफ़ क्या ख़ाक ध्यान देगा? जब सरकारी मदरसों का यह हाल है तो इमदादी मदरसों का ज़िक्र क्या! उनमें कम-से-कम तीन चौथाई ऐसे हैं जिन्हें सरकार चार रुपये माहवार इमदाद देती है और उसमें एक आना मनीआर्डर का महसूल कट जाता है। तीन रुपये पन्द्रह आने में कौन महीना भर दर्दसरी गवारा करेगा! शहरों में कहारों की तनख्वाहें छ और सात रुपये माहवार हैं, बल्कि अक्सर तो इससे भी ज़्यादा। मामूली मज़दूर चार आने पैसे रोज़ कमा लेता है। मगर ग़रीब मुदर्रिस इससे भी ज़लील समझा जाता है।

काम का बोझ मुदर्रिसों पर बहुत है मदरसों के लिए घर नहीं है पाठ्यक्रम ग़लत है उसमें किसानों की ख़ास अपनी ज़रूरतों का ख़याल नहीं रक्खा गया है, शिक्षा पर पैसा ख़र्च करने में सरकार बेहद कंजूसी से काम लेती है सब कुछ कह जाना और सीधे-सीधे अपने हुक्काम पर चोट भी। ज़रा हिम्मत तो देखिए इस सब डिप्टी-इंसपेक्टर की जो अपने डायरेक्टरों तक पर हाथ साफ़ करने से बाज़ नहीं आता —

कुछ तो रुपयों की कमी है और कुछ बेजा ख़र्च। कभी-कभी सरकार ने दो-चार लाख ज़्यादा दिया भी तो वह इन्सपेक्टर और डायरेक्टरों और मैं और तू के बाँट-बखरे में पड़ जाता है और मुदर्रिस ज्यों का त्यों भूखा रह जाता है दुर्भाग्य से सरकार का ख़याल है कि मुआइना ज़्यादा होना चाहिए चाहे तालीम हो या न हो। मुआइने पर रुपया ख़र्च किया जाता है मगर तालीम की ख़बर नहीं ली जाती गवर्नमेण्ट कब यह समझेगी कि मुआइना कभी तालीम की जगह नहीं ले सकता।

और यही मुआइने का काम अब मुंशीजी के सिपुर्द किया जा रहा था। यों मुंशीजी की नज़र से देखिए तो यह काम वैसा कुछ बुरा न था।

अक्सर घोड़े पर या बैलगाड़ी पर जाना होता। और जब वह तीस साल का गोरा-चिट्टा चौड़ा-चकला जवान — चौड़ी चौड़ी कलाइयाँ चौड़ा सीना बड़ी बड़ी मूँछें — सर पर साफ़ा बाँधे निकलता तो ऐसा मालूम होता कि कोई राजकुमार या पुलिस का बड़ा हाकिम जा रहा है। अर्दली साथ होता खाना पकानेवाला साथ

होता। जिस गाँव के स्कूल का मुआइना होता वहाँ पहुँचते ही मौसम के हिसाब से कहीं किसी मैदान में या अमराई में रावटी लग जाती और देखते देखते गाँव भर में खबर फैल जाती कि इसपिट्टर साहब आये हैं। अनपढ़ देहाती आज से पचास बरस पहले की बात अंग्रेजी अमलदारी का ज़माना सब दौड़-दौड़कर सलाम-जुहार करने लगते। खाने-पीने का इंतज़ाम होने लगता। कोई दूध लाता कोई दही कोई आटा कोई दाल कोई घी। आन की आन में सब प्रबन्ध हो जाता और महराज खाना पकाने में जुट जाता।

आखिर को वह एक अफ़सर थे (स्कूलों के सब-डिप्टी-इंसपेक्टर!) और जितने बड़े अफ़सर थे उससे बड़ा गाँववाले उनको समझते थे। स्कूल का मुआइना करने आये थे। क़लम से कहीं कुछ ऐसी-वैसी बात घसीट दें तो! इसलिए हर तरह से उनको खुश करने की तदबीर की जाती जो मुंशीजी के दिल पर भारी भी गुज़रती। एक दस्तूर यह भी था कि जभी किसी जगह पहुँचने पर वहाँ के सम्मानित लोग दही-अच्छत से उनका टीका करते। टीका तो बजाय करवा लेते। पान दिया जाता पान भी खा लेते सबसे गले मिलते। मगर जब रुपया देने की बारी आती तो साफ़ इनकार कर देते।

यह सब चीज़ें उन्हें पसन्द न थीं। न तो उनकी तबीयत हाकिमाना थी और न वह चाहते थे कि कोई उनको हाकिम समझे। बराबरी के दर्जे पर सबसे मिलना ही उनके जी को भाता था। मगर तो भी हर जगह का दस्तूर-क़ायदा भी एक चीज़ होती है। उससे पूरी तरह बग़ावत करना आसान नहीं होता और यों भी बग़ावत से ज़्यादा समझौते का ही रास्ता उन्हें पसंद था। लिहाज़ा उन्होंने समझौता कर लिया था। टीका करवा लेते थे रसद-पानी की चीज़ें भी ले लेते थे मगर रुपया न लेते थे। अर्दली-महराज को जो कुछ दस्तूरी मिलती हो उस पर कोई रोक-टोक न थी।

यही हाल उस सब अनाज और दूध-घी का भी था जो महीने में घर पर पहुँचता था। देहात का इलाक़ा हाकिम को खुश करने के लिए डाली लगाने का दस्तूर न जाने कब से चला आता था। बड़ी जगह में सिर्फ़ बड़े लोगों को डाली लगायी जाती है। छोटी जगह में छोटे लोगों को भी डाली लगायी जाती है। लिहाज़ा जब यह चीज़ शुरू हुई तो मुंशीजी ने इसका विरोध किया लेकिन फिर लोगों ने समझाया कि यहाँ का यही दस्तूर है। अपने बाद आनेवालों के लिए आप क्यों मुश्किल पैदा करते हैं? इस दलील के आगे मुंशी जी ने हार मान ली मगर इतना कहा कि इन चीज़ों का इस्तेमाल मैं नहीं मेरे नौकर करेंगे।

इस्तेमाल कोई करे, देनेवाले तो यह जानते थे कि वह मुंशी धनपतराय को दे रहे हैं।

ग़रज़ कि काम बुरा नहीं था, काफ़ी इज़्ज़त थी, सैर-सपाटा भी और तनख़्वाह में चाहे महज़ कुल बीस रुपये की ही बढ़ती हुई हो पर रुतबे में तो बढ़ती ही बढ़ती थी। कानपुर में वह एक मामूली-सा मुदर्रिस था यहाँ पर वह एक हाकिम था जिसके आगे-पीछे लोग हाथ बाँधे घूमते रहते थे।

मगर इससे भी बड़ा लाभ इस नौकरी में यह था कि घूमने का ख़ूब मिलता था। बुन्देलखण्ड का इलाक़ा यों भी बहुत ख़ूबसूरत है। तमाम नदी, जंगल, पहाड़ —यू० पी० जैसे सपाट समतल मैदान नहीं। अपने घोड़े या बैलगाड़ी में एक से एक बीहड़ जगह उसको जाना होता, मगर उतना ही ज़्यादा वह अपने देश को देख रहा था जिसका मौक़ा अब तक कम मिला था। और यह देखना सिर्फ़ नदी-पहाड़ का देखना न था, बल्कि उस ज़िले की पूरी ज़िन्दगी को देखना था, उसका सुख, उसका दुख, उसकी ग़रीबी, उसकी बहादुरी —सभी कुछ।

अपने उन दौरों में, जो अक्सर इकबारगी डेढ़-डेढ़ दो-दो महीने के हो जाते थे, इस गाँव से उस गाँव, उसे क़िस्सा कहनेवालों से वहाँ की प्रचलित लोक-कथाएँ और अल्हैतों से आल्हा सुनने का भी मौक़ा मिलता जो कि ख़ास बुन्देलखण्ड की चीज़ है। उसके लिए यह एक बहुत नायाब मौक़ा था जिसका फ़ायदा वह भरपूर उठा रहा था। मुआइने का काम तो नामचार का था, चन्द मिनटों में ख़त्म हो जाता। और कभी किसी स्कूल की बुरी रिपोर्ट उन्होंने नहीं लिखी। अक्सर तो ख़ुद उन मास्टरों से ही कह देते कि आप ही अपनी रिपोर्ट तैयार कर दीजिए। दो-एक बार उनकी पत्नी ने इसके बारे में उनसे कहा भी तो हँसकर बोले —क्या करूँ, मैं जो सही-सही मुआइना करता हूँ तो मुदर्रिस लोग लड़कों के सामने पानी छोड़ जाते हैं। इसलिए अब तो यह काम मैं उन्हीं पर छोड़ देता हूँ, कम से कम यह तकलीफ़ तो उन्हें न उठानी पड़े। वह बेचारे ख़ुश भी रहते हैं और मुआइने की अच्छी रिपोर्ट होने पर उनकी तरक़्क़ियाँ भी होती हैं।

इस पर उनकी पत्नी ने कहा —तो फिर आपको रखने की ज़रूरत ही सरकार को क्या थी?

बोले —वह अपना काम करती है, मैं अपना काम करता हूँ। क्या ये बड़े बड़े अफ़सर सब देखते हैं?

सारी चुस्ती-सुस्ती की दलील थी मगर भला चाहे बुरा यही उनका तरीक़ा था और इस तरीक़े से उन्हें अपने अफ़सरों की आँखों में सुर्ख़रूई भले न मिली हो पर अपने मातहतों का प्रेम और भाईचारा तो ज़रूर मिला और ख़ूब मिला।

कि नहीं तो फिर एक क़हक़हा लगाया और उसके बाद बोले — मुंशी दयानरायन निगम के यहाँ से किताब छापी हुई थी। मालूम नहीं क्या वजह हुई कि किताब पर प्रिंटर-पब्लिशर का नाम नहीं था। ज़ाहिर है कि ऐसी ग़लती जान-बूझकर नहीं हुआ करती मगर सुनता कौन है। जाँच-पड़ताल हुई तो इसी सिलसिले में मेरा नाम भी खुल गया। ख़ुद ही सोचो एक सरकारी मुलाज़िम और सोज़े वतन जैसी बाग़ी किताब का लेखक! तौबा तौबा!! यह तो अच्छा हुआ कि किताबों पर बला टल गयी वर्ना क्या अजब था कि मामले की हवा खानी पड़ती। इतना कहकर फिर ऐसा ज़ोर का क़हक़हा लगाया कि बाज़ारवाले भी हक्का-बक्का हो गये।

ज़ाहिर है कि उस क़िस्से की कोई गहरी छाया उनके मन पर न थी। एक झोंका था जो आया और निकल गया। और उसके साथ ही कुछ खेल का-सा मज़ा कुछ यह बात कि जो खेल मैं खेल रहा हूँ उसमें यह सब तो होना ही है। मैंने अपना काम किया। किताब लिखी। उन्होंने अपना काम किया। किताब ज़ब्त की। अब फिर मुझे अपना काम करना है। उसकी तदबीर करनी होगी — क्योंकि एक बेकार की शर्त लग गयी है कि जो कुछ लिखूँ वह पहले कलेक्टर साहब को दिखाऊँ। इस तरह तो हो चुका! लेकिन अगर आप चाहते ही हैं कि चूहे-बिल्ली का खेल हो तो यही सही। फिर उसमें ईमानदारी और बेईमानी का क्या सवाल? क्यों नहीं मैं आज़ादी से अपने दिल की बात कह सकता? क्यों मानूँ आपका यह नाजायज़ हुक्म? नाजायज़ तो है ही सरासर? जो वतन की आज़ादी आपको अच्छी मालूम होती है उसी की बात मैं अपनी क़ौम के लिए करूँ तो आप मेरी गर्दन काटने के लिए तैयार हैं! यह तो फिर लड़ाई है सरासर। इसमें झूठ-सच को क्या दख़ल। अंग्रेज़ी की यह कहावत है न — लड़ाई और मुहब्बत में सब कुछ जायज़ होता है।

लिहाज़ा पहला काम तो नवाब ने यह किया कि सोज़े वतन की कुछ ही कापियाँ कलेक्टर साहब के हवाले की या आग की नज़र कर दी गयीं। मगर जो कापियाँ ज़माना के दफ़्तर में बच गयीं उन पर किसी का ध्यान नहीं गया और वह खुफ़िया तौर पर बिकती रहीं।

लेकिन यह जो शर्त कलेक्टर साहब ने लगा दी थी कि हर चीज़ जो लिखी जाय पहले उनको दिखला दी जाय और इसका कुछ न कुछ हल निकालना ज़रूरी था।

लिहाज़ा दो ही चार महीने बाद उन्होंने कुलपहाड़ से १३ मई १९१ को मुंशी दयानरायन निगम को लिखा —

नवाब राय तो ग़ालिबन कुछ दिनों के लिए इस जहान से गये।

दोबारा मालवेहाली हुई है कि तुमने मुआहिदे में भी अखबारी मज़ामीन नहीं लिखे मगर इसका मंशा हर क़िस्म की तहरीर से था। गोया मैं कोई मज़मून ख्वाह किसी मज़मून पर — हाकीवात पर ही क्यों न हो — लिखूँ मुझे पहले वह मजाज़ फ़ौज मजाब कलेक्टर साहब बहादुर की ख़िदमत में पेश करना पड़ेगा। और मुझे छठे-छमासे लिखना नहीं यह तो मेरा रोज़ का धंधा ठहरा। हर माह एक मज़मून जनाबवाला की ख़िदमत में पहुँचेगा तो वह समझेंगे कि मैं अपने फ़राइज़े सरकारी में तसाहुल करता हूँ। और काम मेरे सर थोपा जायगा। इसलिए कुछ दिनों के लिए नवाब राय मरहूम हुए। इनके जानशीं कोई और साहब होंगे। आप मेरा मज़मून किताबत कराने के बाद मुंशी सिराज अली को दे दिया करेंगे।

अब दूसरे नाम की तलाश शुरू हुई।

मुंशी दयानरायन ने 'प्रेमचंद' नाम पेश किया। इसके जवाब में मुंशी नवाब राय ने लिखा —

प्रेमचंद अच्छा नाम है। मुझे भी पसंद है। अफ़सोस सिर्फ़ यह है कि पाँच-छः साल में नवाब राय को फ़रोग़ देने की जो मेहनत की गयी वह सब अकारथ हो गयी। यह हज़रत क़िस्मत के हमेशा कोरे रहे और शायद रहेंगे।

इस तरह नवाबराय के मरहूम होने के चार-पाँच महीने बाद सन् १९११ के अक्तूबर-नवम्बर में आकर 'प्रेमचंद' का जन्म हुआ। इस नये नाम के साथ छपनेवाली पहली कहानी 'बड़े घर की बेटी' है।

इन्हीं दिनों जब इलाहाबाद के एजुकेशनल गज़ट में कुछ लिखने की बात उठी तो मुंशी जी ने निगम साहब को लिखा —

मेरे लिए कलेक्टर को हर एक मज़मून दिखाने की ऐसी शर्त लगी है कि एक मज़मून महीनों में लौटकर आता है। एजुकेशनल गज़ट में प्रेमचन्द का नाम नहीं देना चाहता। मालूम नहीं यह हज़रत हाथ-पैर सँभालने पर क्या लिखें पढ़ें। इन्हें क़िस्सागो ही रहने दीजिए। बैठे-बैठे प्रेम और वीर रस के क़िस्से लिखा करें।

---

१ भीमाप् २ सरकारी काम ३ सुस्ती ४ स्वर्गवासी ५ उत्तराधिकारी

९

महोबे की ज़िन्दगी धीरे-धीरे अपनी सम चाल पर आती जा रही थी। लेकिन एक चीज थी जो बराबर तकलीफ़ पहुँचा रही थी — घर में सास-बहू के झगड़े। शिवरानी जब तक अपने मैके में ही ज़्यादा समय बिताती थीं तब तक और बात थी। चाची ही मकान का घर सँभालती थीं और जो कुछ स्याह-सफ़ेद उनकी समझ में आता था करती थीं। कोई हाथ पकड़नेवाला न था। गिरस्ती अपने अस्टम-पस्टम ढंग से चल रही थी।

महोबे पहुँचने पर शिवरानी देवी ने भी जब अपने पति के साथ जमकर रहना शुरू किया तो सास-बहू के झगड़े शुरू हुए, वैसे ही जैसे हर घर में होते हैं — अधिकार के प्रश्न को लेकर। चाची उस घर पर अपना अधिकार समझती थीं आखिर उन्हीं ने बरसों उस घर को सँभाला था और शिवरानी देवी का भी यह समझना कि उस घर पर, उनके पति के घर पर, पहला अधिकार उन्हीं का है कुछ ग़लत नहीं था। यानी कि महाभारत के लिए भूमिका पूरी तरह तैयार थी और आये दिन कभी खाने पर से कभी कपड़े पर से कभी ख़र्च पर से महाभारत हुआ करता। जहाँ तक चाची की बात थी यह घर उनका तो था लेकिन जैसी एकान्त ममता उन्हें मकान से होनी चाहिए थी वैसी न थी और हो भी कैसे सकती थी। शिवरानी देवी को भला यह बात कैसे बर्दाश्त होती। कमाता तो उसका पति था पसीना तो उसका गिरता था और उसी के तकलीफ़-आराम का ध्यान सबसे बाद को! लकड़ी की तरह सीधी सपाट, सच्ची निडर, अक्खड़ हठीली शिवरानी को भला यह चीज कैसे न खलती। दूसरों के और जो लोग सगे होंगे होंगे उसके लिए तो सगा एक ही आदमी था। और उसी को जब इतना सब ख़र्च करने के बाद भी अपने ही घर में आराम न मिल पाता तो शिवरानी आगबबूला हो जाती। किसी की सिधाई का इतना बेजा फ़ायदा? नहीं मैं तो यह न होने दूँगी! या तो मैं यह सब कुछ ठीक करूँगी और उनको आराम दूँगी या फिर इस घर से कोई मतलब न रक्खूँगी भाड़ जाय आम मरे बाप का क्या जाता है!

लेकिन चाहे उदासीनता की स्थिति हो चाहे सक्रिय हस्तक्षेप की गार्हस्थिक

अशान्ति दोनों में थी क्योंकि असल सवाल एक म्यान में दो तलवारों का था। दूसरे सब प्रश्न सुलझ सकते थे सत्ता का प्रश्न तब तक नहीं सुलझ सकता था जब तक कि एक प्रतिद्वंद्वी हार न मान ले या मैदान छोड़कर भाग न जाय। और शिवरानी जैसी दबंग स्त्री जिसके भीतर शासन की प्रवृत्ति कूट-कूट कर भरी थी हार माननेवाली जीव न थी और आये दिन कुछ न कुछ हुआ करता था। इन्हीं सब झगड़ों से बचने के लिए प्रेमचंद अब तक बहुत-सी चीजों को दरगुजर करते आये थे लेकिन अब उन्हें भी इन झगड़ों में खिंचकर आना ही पड़ा विधि हसनन् बिल बीम बिचारी। पर क्या था शिकायतों का दफ्तर था। कभी सास बहू की शिकायत करती और कभी बहू सास की और प्रेमचंद हाँ हूँ करते हुए दोनों की बात सुन लेते। लेकिन आखिर को आदमी थे सुनते-सुनते दिमाग खराब हो जाता तो कभी बिफर भी पड़ते लेकिन ऐसे मौक़ों पर अक्सर यह होता कि वह पत्नी का पक्ष न लेकर चाची का पक्ष लेते इसलिए नहीं कि न्याय उनकी ओर होता बल्कि इसलिए कि वह बड़ी थीं असहाय थीं माँ के स्थान पर थीं और उनके प्रति मुंशी जी का उत्तरदायित्व एक विशेष प्रकार का था। लेकिन रानी ने झुकना सीखा ही न था।

इन सब चीजों से घर में जो एक अशान्ति की स्थिति रही आती थी उसकी हल्की-सी झलक मुसकराहट के रूप में उस खत में मिलती है जो प्रेमचंद ने शायद सन् १२ में मुंशी दयानरायन निगम को लिखा। संदर्भ यह है कि निगम साहब ने अपने एक साप्ताहिक पत्र का नोटिस 'जमाना' में निकाल दिया है। यही साप्ताहिक पीछे 'आजाद' के नाम से निकला। उसकी रूपरेखा के बारे में सलाह देते हुए प्रेमचंद ने लिखा कि आपका हफ्तावार 'कामरेड' के नमूने का होना चाहिए। उसमें शायद बिना कुछ लिये बराबर कोई स्तम्भ लिखने को आमंत्रित किये जाने पर प्रेमचंद ने निगम साहब को लिखा—

भगवान का नाम लेकर शुरू कीजिए। मुझसे जो मदद होगी करता रहूँगा। फ़िलहाल मेरी हालत मुझे इजाजत नहीं देती कि कुछ ईसार[1] कर सकूँ। यक़ीन मानिए, आपसे बसिदक़े[2] दिल कहता हूँ कि जब से यहाँ आया हूँ सिर्फ़ दो सौ रुपये मेरे पास जमा हुए हैं और वह भी एक सौ रुपया नाविल का मुआवज़ा है और एक सौ रुपये में कोई तीस रुपये इंडियन प्रेस से मिले शायद तीस या पैंतीस आपने दिये और इसी क़दर एजुकेशनल गजट से मिला। मेरी तनख्वाह और भत्ते में कौड़ी की बचत नहीं हुई, हाँ बचत कहिये तो कमाई कहिये तो, बीवीजान की बरसों की

---

१ त्याग २ सच्चे दिल से —१

जिस की रफ़ाए शिकायत[1] के लिए एक बड़ा नुस्ख़ा बतलाया जिसका सरमा अब तक न सूझा। इस जिरहे पर मैं क्या ईसार करूँ। पचास रुपये तनख़्वाह है, दस रुपये का औसत और, और ख़र्च में मुम्सिक[2] से काम लेता हूँ तब भी कभी फ़राग़त नहीं नसीब हुई। नहीं मालूम यहाँ कानपुर के मुक़ाबिले में क्या ख़र्च बढ़ गया है। वहाँ तीस रुपये में गुज़र हो जाता था यहाँ उसके दूने में भी रोना पड़ा हुआ है और अब बढ़े हुए अख़राजात को तोड़ना मुझ पर तो नहीं मगर दूसरों पर सितम होगा।

और यह कोई एक दिन की बात न थी। इसकी शिकायत अब से क़रीब तीन बरस पहले २ नवम्बर सन् १९ ९ के ख़त में भी उन्होंने की थी — मेरे अख़राजात रोज़-ब-रोज़ बढ़ते ही जाते हैं। अब कानपुर और महोबा दो जगह का ख़र्च सँभालना पड़ता है।

मगर ख़ैर, जैसे-जैसे घर का प्रबन्ध शिवरानी अपने हाथ में करती जा रही थीं वैसे-वैसे पैसों की बर्बादी भी कम होने लगी थी और उसी हद तक प्रेमचन्द की परेशानी भी। और एक रोज़ तो वह बिल्कुल अचम्भे में पड़ गये जब उनकी बीवी ने बैलगाड़ी ख़रीदने के लिए अपने सन्दूक से पूरे डेढ़ सौ रुपये निकालकर दे दिये। प्रेमचन्द ने ख़ुश होते हुए कहा — चलो बेड़ा पार हुआ। इसमें गाड़ी और बैल सब आ जायेंगे।

● दिन भर में दूसरे रोज़ गाड़ी और बैल दोनों आ गये। मुझसे बोले — एक बात तुम मेरी मान जाओ। कल चलो चरखारी में मेला है, देख आयें।

मैंने कहा — चलिए।

हम सब मिलाकर दस आदमी चले। हम सब बैलगाड़ी से गये, कुछ घोड़े से गये।

वहाँ जाकर डेरा डलवाया। राजा साहब के आदमियों को मालूम हुआ कि डिप्टी साहब आये हैं तो रसद उनके यहाँ से आयी। ख़ैर, शाम को खाना बना। चपरासी महराज था, उसने खाना बनाया। सब लोगों के खा चुकने पर मेला देखने की ठहरी। मैं और मेरी एक सहेली तो जनाने हिस्से में गये, आप लोग मर्दाने में गये। सर्कस वहाँ बहुत अच्छा होता था। मगर मैं तो डेढ़-दो घण्टे में ही घबरा गयी। मैं अपनी सहेली को लेकर डेरे पर चली आयी। आप लौटे कोई डेढ़ बजे। ●

इसके बाद वह लोग बरसों वहाँ रहे और कई बार मेला देखने की बात आयी लेकिन पत्नी का मन उससे उचाट हो गया था। लिहाज़ा मुंशी जी अकेले ही चले जाते। मगर जाते और जाना पसन्द करते।

---

१ शिकायत दूर करना २ कंजूसी ३ ख़र्चों

जंगल-पहाड़ की सैर रानी को भी पसन्द थी और अब तो घर में अपनी बैल-गाड़ी थी फिर क्या बात है। नवाब और रानी दोनों अपनी बैलगाड़ी पर सवार होकर किसी तरफ़ निकल जाते। दिन भर यहीं फिरते रहते। इसी तरह दिन बीत जाते। पति-पत्नी को साथ रहने का सुख ज़िन्दगी में पहली बार मिल रहा था।

महोबा प्रवास के इन्हीं आरम्भिक दिनों में शिवरानी देवी को उनकी पहली सन्तान हुई, लड़की जो दस महीने की होकर नहीं रही।

ऐसे दुख तो ज़िन्दगी के साथ लगे हैं बाक़ी आराम था। चाची ज़्यादातर अपने भाई के पास कानपुर ही रहने लगी थीं। मुंशी जी वहीं रुपये भेज देते थे। घर में काफ़ी शान्ति थी। सेहत भी मुंशी जी की अच्छी थी। कोई तकलीफ़ न थी।

और सबसे बड़ी बात तो यह थी कि लिखने का काम बराबर चल रहा था। दौरों के सिलसिले में महीनों यहाँ-वहाँ घूमना जहाँ शरीर के लिए एक कठिन परीक्षा थी वहाँ लिखने के लिए नयी-नयी सामग्री का एक अक्षय भाण्डार — और ढेरों समय।

अकबर की शायरी पर मुंशी जी जान देते थे। आने के कुछ ही महीने बाद एक लम्बे मज़मून में उन्होंने अकबर को खूब-खूब सराहा —

• आज की उर्दू शायरी एक अजीब कशमकश में गिरफ़्तार है बाद और हाली के असर में उर्दू शायरों के दो परस्पर-विरोधी स्कूल क़ायम हुए जो कई लिहाज़ से दरबारी और मुल्की के नाम से पुकारे जा सकते हैं। इन दोनों सम्प्रदायों में दो ध्रुवों की दूरी है। एक ने पुरानेपन की क़सम खा ली है और दूसरे हैं कि नई-नई बातों और आज़ादी पर मिटे हुए हैं

ख़ुशी की बात है कि इन दोनों सम्प्रदायों के बीच कुछ ऐसे कवि भी हैं जिन्होंने भाषा और कविता पर पूर्ण अधिकार रखने के साथ-साथ युग की आवश्यकताओं को भी अच्छी तरह अनुभव कर लिया है और उनमें हम जनाब खान बहादुर सैयद अकबर हुसेन साहब जज इलाहाबाद का दर्जा बहुत ऊँचा पाते हैं। आपने युग के विचारों और आवश्यकताओं का सही अंदाज़ा कर लिया है।

इसी वजह से आपकी शायरी मौजूदा कसौटी पर खरी उतरती है। उसमें बात कहने के एशियाई ढंग में पश्चिमी विचारों के सुन्दरतम नमूने मिलते हैं •

रोज़मर्रा की बातचीत में गालियाँ बकने और शादी-ब्याह के मौक़ों पर गालियाँ गाने-गवाने के रिवाज को लेकर जिसका अपने समाज में उनका अच्छा परिचय था मुंशी जी ने इन्हीं दिनों एक ज़बर्दस्त फड़कता हुआ लेख लिखा —

• हम बात-बात पर गालियाँ बकते हैं और हमारी गालियाँ सारी दुनिया

की गालियों से निराली घृणित और गंदी होती हैं। जिन गालियों का जवाब किसी दूसरी क़ौम का आदमी तलवार और पिस्तौल से देगा उससे कई गुना घृणित और गंदी गालियाँ हम इस कान से सुनकर उस कान उड़ा देते हैं। हमारी गालियों से माँ-बहन बीवी भाई, कोई नहीं बचता।

यों तो गालियाँ बकना हमारा सिंगार है मगर ख़ासतौर पर ज़बर्दस्त गुस्से की हालत में हमारी ज़बान के पर लग जाते हैं। गुस्से की घटा सर पर मँडलाती और मुँह से गालियाँ मूसलाधार मेंह की तरह बरसने लगीं। अपने दुश्मन या विरोधी को दूर से खड़े खरी-खोटी सुना रहे हैं, आस्तीनें चढ़ाते हैं, पैंतरे बदलते हैं, आँखें लाल-पीली करते हैं और सारा जोश चंद नापाक गालियों पर ख़त्म हो जाता है। विरोधी की सत्तर पुश्तों को ज़बान की गंदगी से लथपथ कर देते हैं। इससे बढ़कर हमारे जातीय कमीनेपन और नामर्दी का सबूत नहीं मिल सकता कि जिन गालियों को सुनकर हमारे ख़ून में जोश आ जाना चाहिए, उन गालियों को हम दूध की तरह पी जाते हैं।

ठहाके लगाये हैं मगर क्या ख़ूब मज़ा ले-लेकर —

गुस्से की हालत में ज़बान की वह रवानी औरतों में ख़ास रंग दिखाती है क्या-क्या मंजनियाँ उनकी ज़बान से निकलती हैं कि तौबा। जिन शब्दों की याद एक लज्जाशील स्त्री के गालों को लाज से लाल कर देगी व शब्द इन औरतों की ज़बान से बेधड़क और मोटरकार की रवानी के साथ निकलते हैं। जम्मासी और दुलरिया बड़े पुरज़ोर लहजे में विचारों का लेनदेन कर रही हैं। जम्मासी दुलरिया के बेटे को चबा जाती है। दुलरिया उसके शौहर को कच्चा खा जाती है। तब जम्मासी उसके दामाद को निगल लेती है। इसके जवाब में दुलरिया उसके दामाद को देवी की भेंट चढ़ा देती है। जम्मासी झुँझलाकर दुलरिया के बूढ़े बाप की लंबी दाढ़ी को जलाकर ख़ाक कर देती है। दुलरिया जामे से बाहर होकर जम्मासी के छहों पुश्त के मुँह पर तारकोल लपेट देती है।

शादी-ब्याह के मौक़े का यह सीन देखिए —

बारात दरवाज़े पर आयी और गालियों से उसका स्वागत किया गया। ज्यों ही खाने का वक़्त आया लोग हाथ-पाँव धो-धोकर पत्तलों पर कढ़ी-भात खाने बैठे कि चारों तरफ़ से गालियों की बौछार होने लगी और गालियाँ भी ऐसी वैसी नहीं पचमेल कि शैतान सुने तो जहन्नुम से निकल भागे। लोग लपड़-सपड़ भात खा रहे हैं, ढोल-मजीरे बज रहे हैं, वाह-वाह मची है और गालियाँ गायी जा रही हैं गोया पेट भरने के लिए भात के अलावा गालियाँ खाना भी ज़रूरी है। और है भी ऐसा ही। आप ऐसे मौक़े पे गालियाँ सुनते हैं कि शायद रामायण

महाभारत और सत्यनारायण की कथा भी न सुनी होगी। मुस्कराते हैं मुग्ध होकर गर्दन हिलाते हैं और एक दूसरे का नाम गंदगी में लिथेड़े जाने के लिए पेश करते हैं। जिन महाशयों के नाम इस तरह पेश होते हैं वे इसे अपना सौभाग्य समझते हैं। और दावत ख़त्म होने के बाद कितने ही ऐसे लोग बच रहते हैं जिनके दिल में गालियाँ खाने की हवस बाक़ी रहती है। ख़ुशनसीब है वह आदमी जो इस वक्त गालियाँ खाता है!

जलवए ईसार नाम का उपन्यास (जो हिन्दी में बहुत बाद वरदान के नाम से आया) कानपुर ही में लिखना शुरू कर दिया था। उस पर भी काम बराबर चल रहा था। गन्दी फ़ोहश बातें बकने की हमारी आदत का ज़िक्र यहाँ भी आया होली के हुड़दंग के सिलसिले में —

• परसों शाम ही से गाँव में चहल-पहल मचने लगी। नौजवानों का एक दल हाथ में डफ़ लिये फ़ोहश बातें बकता हुआ दरवाज़ों-दरवाज़ों फेरी लगाने लगा। मुझे मालूम न था कि आज यहाँ इतनी गालियाँ खानी पड़ेंगी। लज्जाहीन शब्द उनके मुँह से इस तरह बेधड़क निकलते थे जैसे फूल झड़ते हों!

यहाँ से छुट्टी पाकर पुरुष मनसा देवी जी के चबूतरे की ओर बढ़े और यह न समझना यहाँ देवी जी की प्रतिष्ठा की गयी होगी। आज वे भी गालियाँ सुनना पसंद करती हैं। छोटे-बड़े सब उन्हें गंदी-गंदी गालियाँ सुना रहे थे। आज के रोज़ ईश्वर को गाली देना भी माफ़ है, माँ-बहनों की तो कोई गिनती नहीं। •

मगर गालियाँ तो सिर्फ़ एक क़िस्म है जहालत की। और भी बहुत तरह की जहालत देखने में आती है। और फिर भूख है, बीमारी है।

जलवए ईसार १९१२ में प्रकाशित हुआ। ४ मार्च १९१४ को मुंशी जी ने निगम साहब को लिखा था — मुझे अभी तक यह इत्मीनान नहीं हुआ कि कौन-सा तर्ज़ तहरीर[1] अख़्तियार करूँ। कभी तो बंकिम की नक़ल करता हूँ कभी आज़ाद के पीछे चलता हूँ। आजकल काउण्ट टाल्सटाय के क़िस्से पढ़ रहा हूँ। तब से कुछ उसी रंग की तरफ़ तबीयत माइल[2] है। यह अपनी कमज़ोरी है और क्या।

जलवए ईसार में बराबर बंकिम का रंग मिलता है, लेकिन ख़ुद अपने रंग की तलाश भी मौजूद है। पहली बार, अपने घर से दूर, बुन्देलखण्ड के देहात में मुंशी जी की कथाकार दृष्टि अपने गाँवों की तरफ़ जाती है जहाँ हिन्दुस्तान बसता है उसकी भूख और ग़रीबी की तरफ़ अशिक्षा और अंधविश्वास की तरफ़।

---

१ लेखन-शैली २ झुकी हुई

कथा की नायिका विरजन महोबा से (जो हमीरपुर का ही एक क़स्बा है) चिट्ठी लिखती है —

"क्या सुनती थी और क्या देखती हूँ। टूटे-फूटे फूस के झोपड़े, मिट्टी की दीवारें, घरों के सामने कूड़े-करकट के बड़े-बड़े ढेर, कीचड़ में लिपटी हुई भैंसें, दुर्बल गायें — जी चाहता है कि कहीं चली जाऊँ। आदमियों को देखो तो उनकी शोचनीय दशा है। हड्डियाँ निकली हुई हैं। वे विपत्ति की मूर्तियाँ और दरिद्रता के जीवनचरित्र हैं। किसी के शरीर पर एक बेफटा वस्त्र नहीं है और कैसे भाग्यहीन कि रात-दिन पसीना बहाने पर भी कभी भरपेट रोटियाँ नहीं मिलतीं।

हमारे घर के पिछवाड़े एक गड्ढा है। माधवी खेलती थी। पाँव फिसला तो पानी में गिर पड़ी। यहाँ किंवदन्ती है कि गड्ढे में चुड़ैलें नहाने आया करती हैं और वे अकारण राह चलनेवालों से छेड़छाड़ किया करती हैं। इसी तरह दरवाज़े पर एक पीपल का पेड़ है। वह भूतों का अड्डा है। गड्ढे का तो भय नहीं है परन्तु इस पीपल का वास सारे गाँव के हृदय पर ऐसा छाया हुआ है कि सूर्यास्त ही से रास्ता बन्द हो जाता है। बच्चे और औरतें तो उधर पैर ही नहीं रखतीं। हाँ अकेले-दुकेले मर्द कभी-कभी चले जाते हैं पर वे भी घबराये हुए।

किसी भूत के विषय में कहा जाता है कि वह सिर पर चढ़ता है तो महीनों नहीं उतरता और कोई दो-एक दिन में पूजा लेकर अलग हो जाता है। गाँववालों में इन विषयों पर इस तरह बातचीत होती है मानो ये आँखों-देखी घटनाएँ हैं। यहाँ तक सुना गया है कि चुड़ैलें खाना-पानी माँगने भी आया करती हैं। उनकी साड़ी प्रायः बगुले के पंख की तरह सफ़ेद होती है और वे बातें कुछ-कुछ नाक से करती हैं।

भूतों के मान और प्रतिष्ठा का अनुमान बड़ी चतुराई से किया गया है। जोगी बाबा आधी रात को काली कमरिया ओढ़े खड़ाऊँ पर सवार, गाँव के चारों ओर घूमा करते हैं और भूले-भटके पथिकों को मार्ग बताते हैं। साल में एक बार उनकी पूजा होती है। वह अब भूतों में नहीं बल्कि देवताओं में गिने जाते हैं।

इनके विपरीत धोबी बाबा से गाँव भर थर्राता है। जिस पेड़ पर उनका डेरा है उधर से अगर कोई दिया जलने के बाद निकल जाय तो उसकी ख़ैरियत नहीं। उन्हें भगाने के लिए दो बोतल दारू काफ़ी है। उनका पुजारी मंगल के दिन उस पेड़ के नीचे गाँजा और चरस रख आता है। एक लाला साहब भी भूत बन बैठे हैं। यह महाशय पटवारी थे। उन्हें कई पीड़ित असामियों ने मार डाला था। उनकी पकड़ ऐसी गहरी है कि प्राण लिये बिना नहीं छोड़ती। कोई पटवारी

यहाँ एक वर्ष से अधिक नहीं जीता। गाँव से थोड़ी दूर पर एक पेड़ है। उस पर एक मौलवी साहब निवास करते हैं। वह बेचारे किसी को नहीं छेड़ते। हाँ बृहस्पति के रोज पूजा न पहुँचायी जाय तो बच्चों को छेड़ते हैं।

यहाँ न देवी है न देवता। भूतों ही का साम्राज्य है। ●

इसी क़िस्म की एक और जहालत की तस्वीर विरजन देती है—

कल यहाँ देवी जी की पूजा थी। हल चक्की धूप चूल्हे सब बन्द थे। देवी जी की ऐसी ही आज्ञा है। उनकी आज्ञा का उल्लंघन कौन करे? हुक्का पानी बन्द हो जाय। साल भर में यही एक दिन है जिसे गाँववाले भी छुट्टी का समझते हैं। वर्ना होली-दीवाली भी रोज़ के ज़रूरी कामों को नहीं रोक सकती। बकरा चढ़ा हवन हुआ। सत्तू खिलाया गया। अब गाँव के बच्चे-बच्चे को पूर्ण विश्वास है कि प्लेग का आगमन यहाँ न होगा। यह सब तमाशा देखकर सोयी थी। लगभग बारह बजे होंगे कि सैकड़ों आदमी हाथ में मशालें लिये शोर मचाते निकले और सारे गाँव का घेरा किया। इसका यह मतलब था कि इस सीमा के भीतर बीमारी पैर न रख सकेगी। घेरे के समाप्त होने पर कई लोग दूसरे गाँव की सीमा में घुस गये और थोड़े फूल पान चावल लौंग आदि पदार्थ ज़मीन पर रख आये। यानी अपने गाँव की बला दूसरे गाँव के सिर डाल आये। जब ये लोग अपना काम खतम करके वहाँ से चलने लगे तो उस गाँववालों को सुनगुन मिल गयी। सैकड़ों आदमी लाठियाँ लेकर चढ़ दौड़े। दोनों पक्षवालों में खूब मार-पीट हुई। इस समय गाँव के कई लोग हल्दी पी रहे हैं।

भूख गरीबी बीमारी और जहालत का यही गड्ढा है जिसमें से हिन्दुस्तान के गाँवों को निकलना है। इसकी चेतना पहली बार प्रेमचन्द को 'जलवए ईसार' में जाकर हुई और सुवामा का वही बेटा प्रतापचन्द्र जो देवी अष्टभुजा के वरदान से उसको प्राप्त हुआ था विरजन को न पाने पर संन्यासी बनकर बालाजी के नाम से देशसेवा के इसी महायज्ञ में कूद पड़ता है और गाँव-गाँव अलख जगाता घूमता है।

छोटी कहानियों का सिलसिला भी मज़े में चल रहा था। इसी बीच उर्दू प्रेम-पचीसी की तमाम कहानियाँ लिखी गयीं जिनमें आल्हा रानी सारंधा राजा हरदौल-जैसी राजपूती वीरता की कहानियाँ भी हैं जो मुंशीजी को स्थानीय लोक-कथाओं से मिलीं।

यह सब तो ठीक था लेकिन एक कमी थी जो रह-रहकर मन को कचोटती थी।

१८ मार्च १९१ को उन्होंने महोबे से निगम साहब को लिखा था— जी चाहता है नये-नये वाक़यात पर कुछ नाविल लिखा करूँ। मगर वाक़यात का इल्म

मुझे उस वक्त होता है जब वह अखबारात में निकल चुकते हैं और उनके ढेर बन
बासी[1] हो जाने का खौफ रहता है।

१३ अक्टूबर १९१५ को फिर बस्ती से लिखा था — जब तक करे
मकैमस से लगाव न रहे किसी मजमून पर लिखने की तहरीक नहीं होती और मजमू
भी मुश्किल से सूझता है।'

यह चीज उस आदमी के मन की बनावट का पता देती है। उसका मन ऐसा नहीं बना था कि वह सबसे अलग अपने कोने में बैठकर कहानियाँ लिखता रहे। य ठीक है कि उसे अलग अपने कोने में बैठना भी अच्छा लगता है और कहानियाँ लिखना भी अच्छा लगता है लेकिन उसको चैन नहीं आता जब तक उसे बराबर इस बात का पता न हो कि दुनिया में कहाँ क्या हो रहा है।

तिलक की गिरफ्तारी के बाद सन् १९०८ से लेकर सन् १४ तक भारतीय राजनीति में बहुत सन्नाटा छाया रहा। कांग्रेस फिर बहुत कुछ अपने उसी पुराने नरमदली ढर्रे पर लौट आयी थी। ताहम पता तो होना चाहिए कि देश में विदेश में क्या हो रहा है। सक्रिय राजनीति में उसने जीवन भर कभी कोई हिस्सा नहीं लिया, कोई पद नहीं सँभाला, लेकिन राजनीति का मतलब जहाँ पद और प्रभुत्व के लिए जोड़-तोड़ नहीं बल्कि आजादी की और इंसान की बेहतरी की लड़ाई है, चाहे अपने देश में चाहे दुनिया के किसी कोने में, उसमें शुरू से उसकी दिलचस्पी रही और गहरी दिलचस्पी रही और मरते दम तक रही। अपने जीवन में वह एक दिन के लिए भी उस तरह का 'विशुद्ध कलाकार' नहीं रहा जो इन सब बातों की ओर से वीतराग होकर, उदासीन रहकर, अपनी कला की साधना करता है। कोई उसकी यह बान, उसका यह ढंग पसन्द करे या न करे, मगर यह है। साहित्य उसके लिए देशसेवा है, लोकसेवा है। दोनों में कोई अंतर नहीं है और न दोनों के बीच कोई खाई या पर्दा है।

इसीलिए अखबार पढ़ने का उसको बहुत चाव है और एक अखबार से उसका काम नहीं चलता। खुद एक अखबार से ज्यादा मँगाने की उसकी बिसात नहीं है इसलिए वह जहाँ भी रहता है किसी मकतब या वाचनालय की तलाश में रहता है जहाँ जाकर चार-छः अखबार पढ़ सके। इलाहाबाद भी जाता है तो पैदल या एक आना इक्के का देकर कटरा से दो मील दूर भारती भवन जाता है।

ऐसे आदमी के लिए यह पूरी सजा है कि उसे महोबे और बस्ती-जैसी बीहड़ जगहों में पटका जाय और दूर-दूर देहातों में भटकना पड़े जहाँ डाक की भी सुविधा

---

१ समय से पिछड़ जाने २ प्रेरणा

नहीं है। न अख़बार ही पढ़ने को मिलते हैं और न ऐसी संगत ही मिलती है कि बातचीत करके वह कुछ पा सके। और भी जलने की वजह यह है कि वह रफ़्तारे ज़माना — जैसा कालम लिखते रहना चाहता है जो कि फ़िलहाल छूट गया है। महज़ किस्सागो बनने से उसकी तबीयत नहीं भरती वह अख़बारनवीस भी बनना चाहता है। ४ मई १९११ को मुंशीजी ने महोबे से निगम साहब को लिखा — वेद ऐवाना मेरे नाम जारी हो गया है। मैंने उसका नामानिगार बनना मंजूर कर लिया है। मुआवज़े की बातचीत हो रही है। नहीं उसके मन में ऐसा कोई भाव नहीं है कि अख़बारनवीसी घटिया काम है।

यह भूख बढ़ता जा रहा है। नहीं यह चीज़ नहीं चल सकती एक मिनट नहीं चल सकती। कुछ न कुछ इंतज़ाम करना ही होगा। और मुंशीजी फ़ौरन उसके इंतज़ाम में लग जाते हैं। ख़ुद को तकलीफ़ देते हैं, अपने दोस्तों के पीछे पड़ते हैं मगर जैसे भी हो उस चीज़ का इंतज़ाम करके ही दम लेते हैं।

ज़रा एक नज़र डालिये इन ख़तों पर जो अपनी कहानी आप कह रहे हैं।

११ मई १९१ को उन्होंने महोबा के एक छोटे-से क़स्बे कुलपहाड़ से लिखा —

मैंने मख़ज़न माँगा था वह आपने न भेजा। कोई नाविल गुदड़ी बाज़ार से लिया हो तो वह भी बैरंग भेजिए। इलाहाबाद की लाइब्रेरी की निस्बत दर्ख़्वास्त किया मगर वह आउट स्टेशन में किताबें नहीं भेजते। अब की इलाहाबाद जाऊँगा तो अपने बुज़ुर्गवार को अपना क़ायम मुक़ाम[1] बना आऊँगा। वह अपने नाम से किताबें लेकर मेरे पास भेज दिया करेंगे।

फिर एक ख़त में लिखा —

अब रिसालों और अख़बारों का ज़िक्र। आप मुझे माडर्न रिव्यू लीडर और हिन्दोस्तान न दीजिए। माडर्न रिव्यू मैं मँगाऊँगा। हमदर्द अब अनक़रीब आने ही लगेगा। बस कोई एक उर्दू पर्चा मसलन वकील या वतन मुझे और मिलना चाहिए। हिन्दुस्तान मैं आज मँगाता हूँ। इतना काफ़ी हो जायगा।

सन् १४ में बस्ती से लिखा —

लीडर मेरे पास एक भी नहीं आया। मालूम नहीं क्या हुआ। मैंने हिन्दोस्तानी जारी कराया है। शायद दो-तीन दिन बाद जारी हो जाये। अब यहाँ मुझे माडर्न रिव्यू, इंडियन रिव्यू वगैरह मिल जाया करेंगे क्योंकि पंडित मक्खन द्विवेदी डुमरियागंज के तहसीलदार हैं।

---

१ संवाददाता २ झगड़े ३ प्रतिनिधि

फिर ४ सितंबर १९१४ को यहीं बस्ती से लिखा —

आज स्टेट्समैन के लिए लिख दिया है और अब मैं डाक का बेहतर इंतज़ाम रखूँगा ताकि आज़ाद के लिए बाक़ायदा नोटिस लिख सकूँ। लीडर का इन्तज़ाम जो आपने किया है एक मामूली अख़बारख़्वाँ[1] के लिए तो अच्छा है मगर जिसे अख़बारनवीसी भी करनी पड़े उसके लिए ज़्यादा कारआमद[2] नहीं है। इसलिए स्टेट्समैन के जारी हो जाने पर उसे बंद करना पड़ेगा। आप मेरे पास पन्द्रह रुपये भेज दें तो ऐन नवाज़िश[3] हो। उसमें मैं स्टेट्समैन मँगा लूँगा। और माह सितंबर की तनख़्वाह भी महसूब[4] हो जायगी। नये-नये इंतज़ाम की वजह से मैं यहाँ तंगदस्त हो गया। चारपाइयाँ बनवानी पड़ीं। अभी जानवर नहीं लिया मगर उसके लिए रुपये की दिन-रात फ़िक्र है। खूब सैनाटोजन का इस्तेमाल कर रहा हूँ जो शायद यह शीशी ख़त्म हो जाने पर मुश्किल से मिल सकेगी। बस्ती में अभी किसी से शनासाई[5] नहीं। सब डिप्टी इंसपेक्टर को जानता हूँ। और डुमरियागंज में पं॰ मदन द्विवेदी तहसीलदार से वाक़फ़ियत हो गयी है। प्रताप की बदौलत। अभी तक यह नहीं तय कर सका कि डुमरियागंज में क़याम करूँ या बस्ती में।

तय करने में जो दिक़्क़त हो रही है वह शायद इसीलिए कि रहना तो शायद बस्ती में ज़्यादा अच्छा होगा क्योंकि वह डुमरियागंज से बड़ी जगह है मगर डुमरियागंज में अख़बारों का और शायद कुछ किताबों का भी ज़्यादा सुभीता रहेगा।

जो भी हो, इस बात से इन्कार करना मुश्किल है कि बीहड़ से बीहड़ जगह में भी बैठकर, जहाँ न तो डाक का सुभीता है न रोशनख़्याल लोगों की सोहबत, सेहत से मजबूर, तेली के बैल की तरह चक्की में जुते होने के बावजूद उसने एक ज़िन्दा आदमी की तरह जीने और काम करने की तदबीर निकाल ली।

सादा तबीयत का आदमी जिसके भीतर कहीं कोई उलझाव नहीं है, जिस चीज़ को पकड़ता है उसी एकाग्र भाव से ऐसी ही एकान्त निष्ठा से। स्वराज्य की बात ने तिलक की जान ने बहुत मज़बूती से उसके दिल को पकड़ लिया है।

यों आदमी भी वह चीमड़ है जैसे तांत चीमड़ होता है। ज़िन्दगी पर उसकी पकड़ मज़बूत है और उसकी कलाइयाँ ख़ूब चौड़ी हैं। पैदा ज़रूर देहात के घर नहीं हुआ लेकिन मन का सीधा नहीं है। कैसी भी कड़ी धरती हो वह उसे फोड़े बिना नहीं रह सकता।

शक्ति असीम नहीं है पर उसको केन्द्रित करना जानता है। बिखराव नहीं है।

---

१ अख़बार पढ़नेवाले २ उपयोगी ३ कृपा ४ हिसाब में जमा ५ परिचय

धीरे पर हो चाहे घर पर, लिखना नहीं रुकता। पहले बंद कमरे में लिखने का अभ्यास था अब खुली रावटी में लिखने का अभ्यास डाल लिया है। जिस दिन नहीं लिख पाते थी उदास रहता है कि जैसे एक दिन व्यर्थ गया। कर्म ही जीवन का एकमात्र सच्चा सुख है। जो समय सरकारी ड्यूटी का नहो है वह समय उनका अपना है नितांत अपना यानी अपने बच्चों और अपने साहित्य का। रस्मी भेंट-मुलाक़ात के लिए यहाँ-वहाँ जाने की अतिरिक्त सामाजिकता उनके अन्दर न थी। समय भी नहीं मिलता था प्रवृत्ति भी नहीं थी। दो-एक दोस्त-अहबाब सदा रहे जिनके साथ हर वक्त का उठना-बैठना था जो उनकी तकलीफ़-आराम में साथ देते थे लेकिन बस वही। जिस चीज़ को हम अपने सभ्य समाज में सोशल लाइफ़ या क्लब लाइफ़ कहते हैं उससे प्रेमचंद का कोई नाता न था। अपने अफ़सरों तक के यहाँ जाने की मुंशीजी को फ़ुर्सत न थी।

प्रेमचंद को महोबे में रहते चार बरस पूरे हो रहे थे। तभी उनकी तन्दुरुस्ती को एक ज़बर्दस्त धक्का लगा जिससे वह हिल उठे और जो सच पूछिए तो सारी ज़िन्दगी उबर नहीं सके—

• मैं हमीरपुर ही में था कि मुझे पेचिश की शिकायत हो गयी। गर्मी के दिनों में देहातों में कोई हरी तरकारी मिलती न थी। एक बार कई दिन तक लगातार सूखी भुइयाँ खानी पड़ीं। यों मैं भुइयों को विष्णु समझता हूँ और तब भी समझता था लेकिन न जाने क्योंकर यह धारणा मन में हो गयी कि अजवाइन से भुइयाँ का वादीपन जाता रहता है। खूब अजवाइन डलवाकर खा लिया करता। दस-बारह दिन तक किसी तरह का कष्ट न हुआ। मैंने समझा शायद बुन्देलखण्ड की पहाड़ी जलवायु ने मेरी दुर्बल पाचनशक्ति को तीव्र कर दिया लेकिन एक दिन पेट में दर्द शुरू हुआ और सारे दिन मैं मछली की भाँति तड़पता रहा। फंकियाँ खायीं मगर दर्द कम न हुआ। दूसरे दिन से पेचिश हो गयी मल के साथ आँव आने लगा लेकिन दर्द जाता रहा।

एक महीना बीत चुका था। मैं एक क़स्बे में पहुँचा तो वहाँ के थानेदार साहब ने मुझसे आते ही वहीं ठहरने और भोजन करने का आग्रह किया। कई दिन से मूँग की दाल खाते और पथ्य करते-करते ऊब उठा था। सोचा क्या हर्ज है आज यहीं ठहरो भोजन तो स्वादिष्ट मिलेगा। आते ही मैं अड्डा जमा दिया। दरोगा जी ने शमीकन्द का सालन पकवाया पकौड़ियाँ दही-बड़े पुलाव। मैंने एहतियात से खाया—शमीकन्द तो मैंने केवल दो फाँकें खायीं—लेकिन खा-पीकर जब थाने के सामने दरोगा जी के फूस के बँगले में लेटा तो दो-ढाई घंटे के बाद पेट में

स्वभाव था जिसके लिए पानी का एक छींटा काफ़ी होता है। अब एक बच्चे या बीमार जैसी बेसब्री झुँझलाहट और चिड़चिड़ापन पहली बार उसके स्वभाव में आ रहा था। वह बेहनी कैफ़ियत जो हर चीज़ को हँसी-खुशी झेल लेती थी, जो उसने इतनी मुश्किलों के बीच होकर पायी थी अब हाथ से छूट रही थी और मुंशी जी उसे बरक़रार रखने के लिए जी तोड़कर अपने आप से लड़ रहे थे। बहुत कड़ा इम्तहान था।

इन्हीं दिनों उर्दू 'प्रेम पचीसी' के प्रकाशन का विचार उनके मन में आया। जिस ख़त में उन्होंने पहली बार लिखा था कि 'सेहत अलबत्ता बहुत अच्छी नहीं है' उसी ख़त में १ फ़रवरी १९११ को उन्होंने महोबा से निगम साहब को लिखा था —

मुझे यह सुनकर बड़ी खुशी हुई कि आपका मशीन प्रेस अब अनक़रीब जम जायगा। जिल्दसाज़ी कुतुबफ़रोशी की शाखें भी क़ायम होंगी। ईश्वर आपकी कोशिशों को बारआवर करे। मजबूर हूँ कि मुझे to fall back upon का कोई सहारा नहीं है। बस लिखने का दद्दू हूँ। प्रेम पचीसी इस प्रेस का पहला काम होगा। अपने तईं मुबारकबाद देता हूँ। बीस क़िस्सों से ज़ायद हो गये हैं, जो अभी 'हमदर्द' के दफ़्तर में पड़े हुए हैं। मालूम नहीं 'हमदर्द' हमेशा भी या ठण्डा पड़ गया। बहरहाल दो-तीन माह में पच्चीस क़िस्से ज़रूर हो जायेंगे। हाँ किताब किसी क़दर ज़ख़ीम हो जायगी। चार सौ सफ़्हे से किसी तरह कम न होगी। मिस्तर छब्बीस सतरी रहना चाहिए और साइज़ 'ज़माना' के दो बरस क़ब्ल के साइज़ के बराबर। क़ातिब खुशख़त हो। मैं मज़ामीन की तरतीब दे दूँगा और जहाँ कहीं जाने की इस्लाहें हो गयी हैं उनकी इस्लाह भी कर दूँगा। मगर मेरे पास सब पर्चे मौजूद नहीं हैं। अक्सर ग़ायब हो गये हैं। इसलिए ज़रूरत होगी कि मेरे पास सब पर्चे मौजूद हो जायें। बहरहाल जिस वक़्त फ़ैसला हो जाय मैं यहाँ से उन चन्द क़िस्सों की नक़ली भेज दूँगा जो मेरे पास मौजूद हैं। दीबाचा आप लिखेंगे या आप जिसे मुनासिब समझें उससे लिखवाइएगा। ख़र्च और नफ़े में मुझे निस्फ़ का शरीक समझिए। नफ़े का ज़िक्र ही क्या ख़र्च में आधे का साझेदार हूँ।

यह ख़ास बात है उनकी दिमाग़ जिधर जम पड़ता है जम पड़ता है। कुछ तो यह उमंग कि निगम साहब का प्रेस आ गया है जो एक तरह से अपने घर का ही प्रेस है और अब कहानी-संग्रह छप जायगा। 'ज़माना' में ये कहानियाँ निकली थीं तो पढ़नेवालों ने बहुत पसन्द किया था लेकिन ज़रूरत है कि किताबी सूरत में उन्हें लोगों के सामने पेश किया जाय। बहुत ज़माने से कोई संग्रह नहीं निकला और एक जो पाँच कहानियों का चार बरस पहले निकला भी था वह भी ज़ब्त हो [illegible] ख़ाक कर दिया गया। एक मानी में यह उनका पहला कहानी

संग्रह होगा, पच्चीस कहानियों का जो लोगों के सामने पहुँचेगा। इसमें अब देर न होनी चाहिए।

नये उत्साह की इसी अधीरता में उन्होंने अपने पहले ही ख़त में सब बातें लिख मारीं और अपने स्वभाव की सहज एकाग्रता के साथ उसी की तैयारी में लग गये।

महीने भर बाद लिखा — प्रेम (पचीसी) के क़िस्से २१ आपके यहाँ छप गये हैं, २ हमदर्द के यहाँ हैं। यह दोनों आज मँगवाये लेता हूँ। तब दो की कमी रह जायगी और यह दो किताबत के पूरे होने तक बन जायँगे। तरतीब क्योंकर दूँ। अबवाब' की सूरत में नहीं आते वर्ना मैंने चाहा था कि शुजाअत खुद्दारी ' ईसार वग़ैरह के उनवान' से तरतीब दूँ।

वीरता स्वाभिमान त्याग — इन्हीं की तो ज़रूरत है देश को और उसका मन महोबे की मिट्टी में ऐसी ही कहानियाँ ढूँढ़ रहा था जो पढ़नेवालों के अन्दर इन गुणों को विकसित कर सकें। उसके मिज़ाज में एक तरफ़ बुज़ुर्गों-जैसा ठहराव है और दूसरी तरफ़ बच्चों-जैसी उतावली। बीच की हालत उसके लिए नहीं है। जो भी काम वह हाथ में लेता है इसी तरह हाथ धोकर उसके पीछे पड़ता है। कहानियाँ लिखते वक़्त जैसे प्लाट के नये-नये पहलू, बातचीत के नये-नये टुकड़े, दृश्य के नये-नये रंग बड़ी तेज़ी से उसके दिमाग़ में आते हैं, इतनी तेज़ी से कि क़लम साथ नहीं दे पाता, उसी तरह दूसरी सब बातों में।

किताब छपना तो दूर रहा अभी प्रेस में भी नहीं दी गयी, प्रेस कापी भी अभी तैयार नहीं हुई, यहाँ तक कि प्रेम भी अभी नहीं जमा, लेकिन इसी वक़्त में वह इतना और जोड़ना ज़रूरी समझता है — यह बहुत अच्छा होगा कि किताब पब्लिक में आने से पहले ख़ास-ख़ास अहले क़लम के पास इज़हारे राय के लिए भेजी जाय और यही रायें इश्तहार का काम दें।

लेकिन किताब को जल्द से जल्द छपाने की जितनी बेताबी लेखक को है उतनी अगर छापनेवाले को न हो तो कोई ताज्जुब की बात नहीं है। मुमकिन है कि दया नरायन साहब की तरफ़ से कुछ सुस्ती भी हुई हो। लेकिन मुंशीजी एक बार चल पड़े तो फिर सुस्ती की ताब नहीं ला सकते। डाकमुंशी का बेटा है, डाक के हरकारों के बीच पलकर बड़ा हुआ है, जल्द से जल्द सब ख़तों को ठिकाने लगाकर अपने घर पहुँचकर आराम करना चाहता है। और जितनी ही तेज़ उसके पैरों की चाल है उतनी ही तेज़ी वह हर काम में चाहता है। नहीं मिलती तो झुँझलाता है।

---

१ परिच्छेद २ वीरता ३ स्वाभिमान ४ त्याग ५ शीर्षक ६ लेखकों

१ दिसम्बर १९१३ तक किताब के बस साढ़े चार फ़ार्मे हो पाये थे। इसकी थोड़ी-सी झुँझलाहट इस वाक्य में दिखायी देती है — काग़ज़ के लिए मैं बहुत जल्द रुपया भेजता हूँ। अब जो कुछ ताख़ीर होगी उसका इल्ज़ाम मेरे ऊपर न रहेगा।

और फिर हल्की-सी शिकायत — ग़ालिबन काग़ज़ के एकबारगी इन्तज़ाम न होने के बाइस किताब पचरंगी हो गयी है। कोई मुज़ायक़ा नहीं। टाइटिल पेज ख़ूबसूरत होना चाहिए। बस।

मगर जिस भी वजह से हो किताब के छपने में देर पर देर हो रही थी और उसी अनुपात में मुंशीजी की झुँझलाहट बढ़ती जाती थी। २ फ़रवरी १९१४ को उन्होंने बाँदा ज़िले में चरखारी नाम के क़स्बे से बहुत ही खीझकर लिखा — मालूम नहीं मेरी किताब की किताबत हो रही है या नहीं। बराहे करम उसमें जल्दी कराइए और पता देने की ज़रूरत हो तो मुत्तला फ़रमाइए ताकि किताब के शाया होने की उम्मीद को दिल से निकाल दूँ क्योंकि मुझे उस भलेमानस की तरह जो आपके दफ़्तर से अपनी किताब छपवाकर उठा था इतनी फ़ुर्सत नहीं है। दिन गुज़रते जाते हैं। अगर किताब उस वक़्त निकली जब लोगों को यह ख़याल भी न रहेगा कि प्रेमचंद कौन है तो उसके निकलने से क्या फ़ायदा?

ताहम किताब न निकली और मुंशी जी के हमीरपुर से निकलने का वक़्त आ पहुँचा। सेहत जिस तेज़ी से गिर रही थी हमीरपुर में अब रहना ख़तरे से ख़ाली नहीं था। २२ मई १९१४ को उन्होंने निगम साहब को लिखा — काश मैं किसी तरह कानपुर तबदील होकर आ सकता। तबादले की दरख़्वास्त दी थी है मगर मालूम नहीं कहाँ फेंका जाऊँ

कानपुर का तबादला नामुमकिन समझकर शायद उन्होंने दर्ख़ास्त में अपनी पसंद रुहेलखंड के लिए ज़ाहिर की। लेकिन तबादला जब हुआ तो न कानपुर मिला न रुहेलखण्ड बल्कि पटका गया बस्ती के ज़िले में और इलाक़ा वह मिला जो नैपाल की तराई है।

ताड़ से गिरा खजूर में अटका। काम वही दौरों का बेतन वही ठाठ। जगह-जगह का खाना जगह-जगह का पानी। पेचिश और बढ़ गयी। और उसके साथ ही नाउम्मीदी अपने जीने की तरफ़ से। फ़ायदा भी क्या इस तरह जिन्दा रहने से। इससे तो अच्छा है कि इस सरकारी नौकरी को छोड़कर कहीं किसी अख़बार में काम किया जाय या किसी प्राइवेट स्कूल में मुदर्रिसी की जाय। यह ठीक है कि सरकारी नौकरी के अपने भी बहुत से फ़ायदे हैं। बँधी हुई तनख्वाह मिलती है और वक़्त पर मिलती है। बेफ़िक्री रहती है। लेकिन अब यह भी सबसे बड़ी फ़िक्र अपनी जान की लग गयी है

इसी हैस-बैस में जान पड़ी थी क्या करें क्या न करें। एक मन कहता था छोड़छाड़कर भागो जहाँ सींग समाये, यहाँ तो बेमौत मर जाओगे। दूसरा मन जो अँधेरे में कूदते डरता था पैरों को बाँध देता था।

बहुत बार जी होता था कि जाकर 'ज़माना' में काम करने लगें लेकिन उसकी अपनी दिक़्क़तें थीं। वह अलग एक कहानी है।

दूसरे पत्रों पर भी ख़याल जाता था और मुमकिन है दयानरायन साहब को उन्होंने लिखा भी हो कि नज़र रखिएगा और मुझको बताइएगा।

निगम साहब ने उन्हीं दिनों शायद 'अवध अख़बार' की बात छेड़ी। उसका जवाब देते हुए मुंशीजी ने लिखा—

पहले अवध अख़बार वाला मामला। क्या जवाब दूँ। माली पहलू यह है कि यहाँ नेट आमदनी अस्सी रुपये से किसी तरह ज़्यादा नहीं है। दौरे का ख़र्च और मुलाज़िमों की तनख़्वाह इसमें शामिल नहीं है। क़रीब-क़रीब यही हालत वहाँ भी होगी। और मशाग़िल बदस्तूर। मगर काम में बड़ा फ़र्क़ है। यहाँ बहुत आज़ादी है, बावजूद गुलामी के चूँकि कोई अफ़सर सर पर नहीं रहता और न कोई जवाबदेही है। इसलिए आज़ादी-सी मालूम होती है। १ बजे से ५ बजे की हाज़िरी दिमाग़ी काम रोज़ाना अख़बार—जी काँप जाता है। हिम्मत नहीं पड़ती। यहाँ लिटरेरी काम बल्कि तफ़रीह है वहाँ पर मशक़्क़त हो जायगा।

इसी तरह का एक प्रस्ताव सन् १४ के आख़ीर में आया जब कि मुंशीजी बस्ती में थे अपने काम से बेज़ार और अपनी ज़िन्दगी से बेज़ार।

कोई पंडित शिवनाथ जी दैनिक पत्र निकालनेवाले थे। उसके बारे में प्रेमचन्द ने १ नवम्बर १९१४ को निगम साहब को लिखा—

मैं अपनी मौजूदा हालत के एतबार से रोज़ाना अख़बार के लायक़ किसी तरह नहीं हूँ। मेरे लिए तो अब यही मुनासिब है कि किसी प्राइवेट स्कूल की मास्टरी कर लूँ, जहाँ से माहवार मिले। इसी के साथ-साथ 'ज़माना' और 'आज़ाद' की ख़िदमत करूँ। इस तरह मुझे साठ-सत्तर रुपये माहवार का औसत पड़ता जावे। इससे ज़्यादा की ख़्वाहिश नहीं और न इससे ज़्यादा पा सकता हूँ। ख़ामख़्वाह तक़दीर से क्यों लड़ूँ। कुछ किताबें लिखूँगा कुछ अपनी किताबें छपवाऊँगा। पाँच सौ मेरी कमाई है उसे इन्हीं कामों में सर्फ़ करूँगा और फिर आख़िर जब लिटरेरी शोहरत हासिल कर सकूँगा तो कोई माहवार रिसाला निकालकर

---

१ दिल बहलाव की चीज़ २ जीविका

गुज़र करूँगा। और अगर इसके पहले ही हयात[1] ने जवाब दे दिया तो फिर रामनाम सत्त है।

फिर बड़े हसरत भरे लहजे में —

क्या कहूँ आपने मुझे उभारने में कोई कसर नहीं रक्खी। खूब उभारा। मगर मैं ही क़िस्मत का अंधा हूँ कि उभरकर परवाज़[2] नहीं कर सकता बल्कि नीचे गिरने के लिए डरता हूँ वर्ना सिफ़तउल्लाह बर्मन की तरह चैन से ज़िन्दगी बसर करता। हक़ीक़त यह है कि सेहत बड़ी चीज़ है जिसने इसकी क़द्र न की उसके लिए सिवा रोने और सर धुनने के और कोई इलाज नहीं है। सारी दुनिया को हेमाटोजन फ़ायदा करती है, मुझे इससे कुछ न हुआ। आपने चार-पाँच मील हवा खाने की सलाह दी है, उसकी तामील कर रहा हूँ। पाँच दिन से लगातार तीन-चार मील घूमता हूँ। उम्मीद है कि तबीयत ठीक होगी। कोई प्राइवेट स्कूल की मुदर्रिसी का चर्चा हो तो मेरा खयाल रखियेगा क्योंकि मैं अब इससे बेज़ार हो गया हूँ।

तबीयत के जल्दी बिल्कुल ठीक होने की उम्मीद ग़लत साबित हुई और प्रेमचन्द को मजबूर होकर अपने इलाज के लिए एक महीने को इलाहाबाद जाना पड़ा जहाँ उनके ससुर साहब ने उनका इलाज कराया। लेकिन जब उससे कोई फ़ायदा न हुआ तो उन्होंने अपने ससुर साहब के ही ज़ोर देने पर चार महीने की छुट्टी की दरख़्वास्त दी।

बड़ी-बड़ी मुश्किलों से आधी तनख़्वाह पर छुट्टी मंज़ूर हुई।

मुंशीजी ने निगम साहब को लिखा —

कल से मैं आज़ाद हो गया मगर असबाब वग़ैरह यहीं पड़ा हुआ है। उसे लेकर मजबूरन बनारस जाना पड़ता है। बर्तन वग़ैरह मुद्दत से भरे तो टूटने फूटने का डर रहता है। ग़ालिबन दो या तीन दिन बनारस में रहूँगा। उसके बाद कानपुर आ जाऊँगा मगर इरादा मुस्तक़िल तौर पर बनारस में रहने का है।

बस्ती से चलते-चलते उन्होंने एक बहुत सुन्दर कहानी 'मरहम' के नाम से लिखी जिसका परिवेश बुन्देलखण्ड का है। उसके बाद तो फिर छः महीने पूरे के पूरे बीमारी की नज़र हो गये, लिखना-पढ़ना बिल्कुल बन्द रहा।

इलाज के लिए सबसे पहले वह कानपुर पहुँचे। बीवी अपने मैके थीं, चाची जमानी में। निगम साहब के पास ही घर लिया और इलाज चलने लगा। खुद ही दही जमाते थे और उसका मट्ठा मिलाकर पीते थे। यही मुख्य आहार था।

---

१ ज़िन्दगी २ उड़ना

लेकिन कोई फ़ायदा न हुआ तब वह लखनऊ मेडिकल कालेज गये कुछ दिन वहाँ भी इलाज कराया लेकिन जब कोई लाभ होता न दिखायी दिया तो बनारस चले आये और एक हकीम का इलाज शुरू हुआ। हकीम के इलाज से तीन-चार महीने में कुछ फ़ायदा तो मालूम हुआ पर बीमारी जड़ से न गयी।

बस्ती आने के ख़याल से उन्हें डर मालूम हो रहा था। अब दूसरी दूसरी चीज़ों में आश्रय खोज रहा था।

एक रोज़ उन्होंने अपनी पत्नी से कहा — मेरी इच्छा होती है कि नौकरी छोड़ छोड़कर कहीं एकान्त में बैठकर लिखता-पढ़ता। क्या करूँ मेरा दुर्भाग्य है कि मेरे पास थोड़ी-सी ज़मीन भी नहीं। मेरे पास दस बीघे भी ज़मीन होती तो मैं अपने खाने भर का ग़ल्ला पैदा कर लेता और चुपचाप एकान्त में बैठकर साहित्य की सेवा करता।

पत्नी ने स्त्री की सहज व्यवहार-बुद्धि से उत्तर दिया — दस बीघे ज़मीन में आप क्या सोना उपजा लेते? अभी आप दो महीने नौकरी छोड़कर बैठ जायें तो हाथ-पाँव मत जाय। आठ साल काम करते हो गये। आपने सौ रुपये साल बचाये होते तो आठ सौ रुपये होते। मन की मिठाई खाना एक बात है काम ठीक-ठीक चलाना दूसरी।

मालूम बस्ती आने के ख़याल से डर मालूम होता था।

और तब उन्होंने उस स्वप्न को एक बार फिर पकड़ने का निश्चय किया जो इससे पहले भी बहुत बार हाथ में आया था और छूट गया था या छोड़ दिया गया था — स्वप्न जो उनकी ज़िन्दगी को बाँधनेवाला एक बड़ा मज़बूत धागा था उनके जीवन का एक पुराना स्वप्न जिसकी छाया में विश्राम करना उन्हें बहुत अच्छा मालूम होता था पर जब आप चलकर एक दिन वह स्वप्न भंग हुआ तो फिर विश्राम नहीं मिला।

१०

और उन्होंने १० अप्रैल १९१५ को बनारस से लिखा—

क्या ज़माना की मौजूदा हालत इस क़ाबिल है कि कोई शख़्स उसे कमसे कम १०) रुपये आपके नज़र करने के बाद १२०) रुपये दीगर मसारिफ़, मसलन् तनख़्वाह मैनेजर, किराया मकान, गुज़ारा एडीटर और तनख़्वाह चपरासी वग़ैरह के लिए निकाल सके? आप बराय मेहरबानी तहरीर फ़रमाइए कि कण्ट्रैक्ट जिस तारीख़ से शुरू होगा उस तारीख़ से आप अपने कंट्रैक्टर पर कौन-कौन-सी ज़िम्मेदारियाँ आयद करेंगे। मैंने अभी नौकरी पर जाने का कोई इरादा नहीं किया। दो माह की रुख़सत और ले ली है। अगर कण्ट्रैक्ट की सूरत निकल आये तो मैं फ़ौरन साल भर की रुख़सत बेतनख़्वाह की दरख़्वास्त भेजकर साल भर तक़दीर आज़माई करना चाहता हूँ।

ज़माना को अपने हाथ में लेकर चलाने की यह एक नयी योजना थी जो इस वक़्त उन्हें सूझ रही थी और वह इस बार अंतिम बार एक गम्भीर प्रयत्न करके देख लेना चाहते थे। विशेषकर इसलिए कि उनकी बीमारी पूरी तरह ठीक न हुई थी और सारी कोशिश-पैरवी के बावजूद वह फिर बस्ती में ही पटके जानेवाले थे जहाँ जाने के ख़याल से ही उन्हें डर मालूम होता था।

ज़माना का क़लमदान सँभालने की बात पहली बार जून १९ ५ में उठी थी जब कि मुंशी जी ने निगम साहब को लिखा था—

अनक़रीब में छोड़नेवाले और हूँगे। यहाँ तो अब एक बार बाँह पकड़ी तो ज़िन्दगी पार लगा दी। नौबतराय न आवें। क्या वहाँ मुर्ग़ा न होगा वहाँ सुबह न होगी? एडीटोरियल मैं सब कर लूँगा। ख़तो-किताबत की मुशक़्क़त भी है मैं कर लूँगा। ख़ास एडीटर की तहरीरों से क़ाबिल जो मज़मून होंगे वह ख़िदमते शरीफ़ में पेश होंगे। और काम करने का बंदोबस्त होना ज़रूरी है। लेकिन ठहरा सके। जाने का वक़्त आयेगा तो मशविरा हो रहेगा। जाम जाने में न डालो। हिम्मते मर्दां, मददे ख़ुदा, हिम्मते एडिटरां मददे दोस्तां। हाँ यह ख़याल करना ज़रूरी होगा कि नवाब राय स्टाफ़ में दाख़िल हो गये।

अगले महीने मुंशीजी कानपुर आ गये और १९०९ के जून महीने तक इसका कोई सवाल ही न था क्योंकि स्कूल में मास्टरी करते हुए वह दयानरायन निगम के शब्दों में बे-जाब्ता तौर पर जमाना के असिस्टेण्ट एडीटर का काम करते रहे।

फिर जैसे ही उनका तबादला हमीरपुर के लिए हुआ और जमाना के साथ उनका संबंध वैसा गहरा और रोजमर्रा का नहीं रह गया उनके मन की भूख बेहद तेज हो गयी और जब निगम साहब ने अपना साप्ताहिक पत्र 'आजाद' निकाला तो उसके सिलसिले में प्रेमचन्द ने लिखा —

छः माह अखबार की हालत देखकर आप को फैसला कर सकूँगा कि मेरे लिए कौन-सा रास्ता ज्यादा सीधा है। यहाँ से रुखसत लेकर चला आऊँगा। क्या मतलब है, मैं अखबार को चला सकूँ। अगर छः माह के बाद अखबार कुछ दे निकला तो मैं हाथ-पैर फैलाऊँगा वर्ना अपना-सा मुँह लेकर अपने पुराने दफ्तर पर चलूँगा। मगर साठ रुपये से कम पर मेरा गुजारा नहीं हो सकता। यह नाज़ुकोई आपको अपना दोस्त हमदर्द और भाई समझकर करता हूँ। मैं काम से जी नहीं चुराता न इस क़दर मुतालबा चाहता हूँ गोया मैं कहीं का बड़ा मुंशी-फ़ाज़िल हूँ। मुझे सिर्फ़ गुज़ारा चाहता हूँ और गुज़ारा साठ रुपये से कम में नहीं हो सकता। मैं काम करने के लिए तैयार हूँ मगर लिखी हुई शर्तों पर और उस हालत में जब कि माली हालत मुस्तहकिम हो। और मैं किराये का टट्टू बनकर काम न करूँगा बल्कि अपने शौक़ से।

निगम साहब की अपनी मजबूरियाँ थीं और कोई ठीक आश्वासन मुंशी जी को न मिल सका। ताहम उन्होंने हिम्मत न हारी और २० नवम्बर १९०९ को हमीरपुर से ही लिखा — नौकरी के मुताल्लिक़ मेरा ख़याल अब भी है मगर मेरा ख़याल है कि मैं मआश की फ़िक्र से आज़ाद होकर ज़्यादा काम कर सकता हूँ।

कितना नाज़ुक इशारा है कि आप जीविका की कुछ व्यवस्था कर दें तो मैं आ जाऊँ। उस ओर से तब भी कोई आश्वासन न आया मगर मुंशी जी इतनी जल्दी हार माननेवाले न थे।

१८ मार्च १९१० को उन्होंने लिखा — इंशाअल्लाह मैंने मुसम्मम[1] इरादा किया है कि जुलाई और अगस्त में रुख़सत लूँ और अपनी अख़बारी क़ाबलियत को आज़माऊँ। आइन्दा जैसा ईश्वर चाहे।

---

१ पक्का

पता नहीं वह छुट्टी लेकर कानपुर गये या नहीं लेकिन इतना तो साफ़ है कि वहाँ ठहरने की कोई सूरत नहीं बनी।

आज़ाद को निकलते अब पाँच महीने हो गये थे और मुंशीजी शुरू से ही उसमें लिख रहे थे। २ मई १९११ को उन्होंने निगम साहब को तक़ाज़े का एक ख़त लिखा —

आज मैं आपसे कुछ मुआमले की बातचीत करने की इजाज़त चाहता हूँ। आज़ाद को शाया हुए तक़रीबन पाँच महीने हुए। आप छः महीने की मुद्दत को अख़बार की कामयाबी के लिए काफ़ी ख़याल करते थे। वह मुद्दत अब क़रीब है। मुझे यक़ीन है कि आज़ाद अब चल निकला। मैं इब्तदा से और अब तक इसमें बौक़ात[1] और फ़ुर्सत आज़ाद के लिए थोड़ा-बहुत लिखता रहा हूँ। मगर आप जानते हैं यह मादियात[2] का ज़माना है। हर एक इंसान अपनी मेहनत का कुछ न कुछ नतीजा ज़रूर चाहता है। ख़ुसूसन ऐसी हालत में जब कि मेरी सेहत भी अच्छी नहीं है। कुछ असली नतीजे की तरग़ीब[3] नफ़्स[4] के लिए बहुत कारगर साबित होती है।

इसी सिलसिले में वह इस बात का संकेत भी दे जाते हैं कि उनकी तबीयत सरकारी मुलाज़िमत से क्यों भागती है —

मैं किताबी कीड़ा मशहूर हूँ और मेरा तबई मैलान[5] ऐसा है उससे उम्मीद नहीं है कि मैं सरकारी मुलाज़िमत में कभी कारगुज़ार कहला सकूँ। मेरा शुमार अब तक दर्जए सोम[6] के आदमियों में रहा है और आइन्दा रहेगा।

लेकिन यहाँ पर वह कुछ और बात कह रहे हैं बड़े व्यावहारिक आदमी की तरह अपने पारिश्रमिक का तक़ाज़ा —

मेरी ख़्वाहिशें[7] बहुत क़लील हैं। अगर इधर से नहीं तो किसी और तरफ़ से सही कुछ माली फ़ायदा होना चाहिए। इसीलिए मेरी आपसे दरख़्वास्त है कि आप अब जो कुछ फ़रमायें[8] जितने मज़ामीन या नोट शाया करें उनकी उजरत[9] किसी एक शरह[10] से मसलन् आठ आने फ़ी कालम मुक़र्रर फ़र्मा दीजिए। मेरा ख़याल है कि यह आज़ाद पर कोई नाक़ाबिले बर्दाश्त बार न होगा क्योंकि मैं किसी हफ़्ते में भी चार कालम से ज़्यादा नहीं लिख सकूँगा और आज़ाद को ज़्यादा से ज़्यादा सिर्फ़ दस रुपये मेरी नज़र करने पड़ेंगे। मुझे उम्मीद है कि आप इसे मेरी जानिब से भी ग़लती[11] न ख़याल फ़रमायेंगे। मैं चाहता था कि यह तहरीक

---

१ यथासमय २ भौतिकता ३ प्रेरणा ४ आत्मा ५ दिली रुझान ६ तीसरे दर्जे ७ [illegible] ८ रुपया ९ पारिश्रमिक १० दर ११ [illegible]

आपकी ख़ातिर[1] से होती मगर एक ही बात है। अगर आप इसे पसन्द न फ़र्मायें तो कोई मुज़ायक़ा नहीं मैं हस्बे दस्तूर, औक़ात और फ़ुर्सत के लिहाज़ से कुछ न कुछ क़लमी ख़िदमत करता रहूँगा मगर शायद दोस्ताना बेगार समझकर। मैं जानता हूँ कि आप तिही-दस्त हैं, माली हालत अच्छी नहीं मगर ऐसा क्यों हो। और अख़बार नज़्र कर रहे हैं, आप क्यों नुक़सान उठायें बेज़रूरत और बेमतीजा ईसार क्यों करें। इस बेतकल्लुफ़ी के लिए मुझे मुआफ़ फ़र्माइएगा। और अगर तजवीज़ पसन्द आये तो सिर्फ़ ज़माने से इसका ज़िक्र कीजिए वर्ना मा मन ओ तू[3] यह ज़िक्र यहीं ख़त्म हो जाना चाहिए।

तक़ाज़ा भी है और किसी क़दर सख़्ती से तक़ाज़ा है क्योंकि पैसे का अभाव निरन्तर बना रहा है लेकिन वज़ादारी को हाथ से नहीं जाने देते।

एक रोज़ बाद जब निगम साहब का जवाब आया तो मुंशी जी को फ़ौरन महसूस हुआ कि दोस्त का दिल दुखाकर मैंने अच्छा नहीं किया और उन्होंने माफ़ी नामे के तौर पर उसी दिन लिखा — मुझे यह सुनकर सख़्त मलाल हुआ कि अभी तक ज़माना अपने पैरों पर खड़े होने के क़ाबिल नहीं हुआ। यही फ़र्ज़ करके मैंने कल आपको एक शिकायतनामा लिखा है जिस पर अब नादिम हूँ। कैसी भी बनावट मुंशीजी के लिए बिरानी चीज़ है। न तो उन्हें शिकायतनामा लिखते देर लगती है और न उसके जवाब में रोज़ माफ़ीनामा लिखते।

देखिए एक तरफ़ पारिश्रमिक का तक़ाज़ा और दूसरी तरफ़ दोस्ती की बजा-दारी कितने सहज रूप से घुल-मिलकर ७ जून १९११ के पत्र में सामने आती है —

मैंने अपने परसोंवाले ख़त में कुछ अतियाए ज़माना का ज़िक्र किया है। मई और जून में कुछ चौबीस कालम हुए। अब शायद जून में कुछ न लिखूँगा क्योंकि हाज़मा निहायत कमज़ोर हो गया है और एक घण्टे भी बैठना दुश्वार है। अगर मक़्बूला शरह[6] रखिए तो आठ मुबल्लिग़ात[7] होते हैं। अगर आप बग़ैर ज़हमत ज़्यादा तरद्दुद के एक तीन चार रुपये की ताश और बड़े चार रुपये का जूता भिजवा सकें तो आपका बहुत ममनून[8] होऊँगा। एक ही पार्सल में दोनों आ सकते हैं। मेरा जूता फट गया है और मैं नंगपा-सा[9] हूँ। मगर यह सब उसी हालत में कि आपको तरद्दुद या परेशानी न हो वर्ना नक़्द ब हुरमत हूँ[10] सही। और क्या लिखूँ। जूते का नं० ७×४ है।

---

१ और २ हमारे ३ आपके और मेरे बीच ४ अर्जित ५ दुश्वार ६ स्वीकृत दर ७ रुपये ८ कृतज्ञ ९ नंगे पाँव १० बहुत ज़्यादा अच्छा है (बहरहाल)

जिस मोकेश्यन के साथ जूते और घड़ी का ज़िक्र आया है उसने बात की एकदम ही ख़त्म कर दी है। और तबीयत की इसी सादगी का एक पहलू यह है कि कभी घोटक उनका जूता उठाकर चलते बनते हैं और कभी विजयबहादुर उनका कोट, और कभी इस घटना के लगभग बीस बरस बाद, शिवरानी देवी उनको रुपये देती हैं जाकर अपने लिए कपड़ा ख़रीदने को और वह उस रुपये को ले जाकर प्रेस के मज़दूरों में बाँट देते हैं और ख़ाली हाथ घर लौटने पर बीवी की डाँट खाते हैं।

तबीयत की यह सादगी यह मोलायम सच्चा है इसीलिए उनकी और निगम साहब की तीस-इकत्तीस बरस की दोस्ती में कभी फ़र्क़ नहीं पड़ा बावजूद इसके कि रगड़ के कई मौक़े आये जैसे कि किन्हीं दो व्यक्तियों के बीच आते हैं।

ऐसा एक मौक़ा वह था जब कि शायद १९१४ के आरम्भ में जिस समय उर्दू प्रेमपचीसी छप रही थी और मुंशी जी का तबादला बस्ती के लिए अभी नहीं हुआ था वह छुट्टी लेकर निगम साहब के यहाँ काम करने पहुँचे। इरादा शायद यह था कि आज़माकर देखा जाय। दौरे की नौकरी में सेहत बराबर बिगड़ी जा रही थी कैसे इस भाग-दौड़ से नजात मिले कि घर पर रोटी खा सकें।

लिहाज़ा वह कानपुर पहुँचे कुछ दिनों काम किया और छुट्टी जब ख़त्म हुई तो हमीरपुर लौट गये। निगम साहब को यह बात बुरी लगी उन्होंने शायद समझ लिया था कि मुंशी जी मुस्तक़िल तौर पर काम करने के लिए आ गये। कुछ अजब नहीं कि मुंशी जी ने बात में आकर इस तरह का कुछ आभास निगम साहब को दिया भी हो और जब उनके दूसरे मन ने मामले के व्यावहारिक पहलू पर ग़ौर किया हो तो वह भाग खड़े हुए हों। बहरहाल दोस्तों में थोड़ी रंजिश हुई। निगम साहब ने बिफरकर एक तेज़-सा ख़त लिखा। मुंशी जी ने ठण्डे पानी का छींटा देते हुए अपनी सफ़ाई दी —

अताबनामा[1] जिसे आपका इनायतनामा[2] कहना चाहिए, वसूल हुआ। कई दिन हो गये सोचता रहा किन लफ़्ज़ों में जवाब दूँ कैसे गुस्सा ठण्डा करूँ। कुछ अक़्ल ने काम न किया। न शेर-ओ-शायरी से मस[3] है कि दो-चार बढ़िया शेर नज़्र कर दूँ। बिलआख़िर दिल ने यही फ़ैसला किया कि तुम ख़तावार[4] हो। मिज़ाजे यार में जो कुछ आये कहने दो और ज़बान बन्द किये सुन जाओ। यह कहना कि मैं बेगुनाह[5] हूँ क़तअन आपके नज़दीक कोई मानी नहीं रखता क्योंकि आपका दस्तूर है कि आपके पेश नज़र भी मुलाज़िमे सरकार हैं और आप ज़्यादा

---

१ क्रोध का पत्र २ कृपापत्र ३ भेंट ४ दोषी ५ निर्दोष
६ नियमों

से वाक़िफ़[1] हैं। मगर मुआफ़ कीजिएगा अगर मैं अर्ज़ करूँ कि आपने अपनी उम्र का सबसे बेशबहा[2] हिस्सा मेरी तरह सरकारी मुलाज़िमत में सर्फ़ किया होता तो आप इतनी बेख़ौफ़ी से यह अल्फ़ाज़ न लिखते। मैंने रुख़सत लेने में कोई दक़ीक़ा[3] नहीं छोड़ा। दो दर्ख़्वास्तें कीं, तार दिया। दर्ख़्वास्तें दोनों बार मंज़ूर कर दी गयीं और दोनों मेरे पास रक्खी हुई हैं। बेशक मैंने मेडिकल सर्टिफ़िकेट देने की कोशिश नहीं की लेकिन मुझे यहाँ उसके मिलने की उम्मीद भी न थी। यह इल्ज़ाम कि दर्ख़्वास्तें क्यों बार-बार भेजी गयीं मेरे सर ज़माने से ज़्यादा[4] से है क्योंकि मेरे पहले हफ़्ते क़याम के कानपुर में तो आपने रवाना वग़ैरह का कोई बाज़ाब्ता तज़किरा[5] नहीं किया। ज़िक्र किया तब जब मेरी रुख़सत ख़त्म होने को आयी और फ़ैसला उस वक़्त हुआ जब कुल तीन दिन रह गये। ऐसी हालत में मेरे जैसे रवय्ये का आदमी बजुज़ इसके और क्या कर सकता था कि रुख़सत ख़त्म की कोशिश बहद्दे इमकान[7] करे और न मिल सके तो मजबूरन व लाचारन अपनी नौकरी पर वापस आ जाये। आप ही फ़र्माइए, मुझे क्या ग़रज़ पड़ी थी, क्या दबाव था कि मैं पहले काम शुरू कर देता और तब आप बड़ा होता? आपने मेरा गला नहीं दबाया था और न दबा सकते थे। आपने मुझे किसी ऐग्रिमेंट पर मजबूर नहीं किया, न मैंने कोई ऐग्रिमेंट की। मेरा माली फ़ायदा था। फिर ऐसा कौन अम्र[8] था जो मेरी बेरग़्बती[9] का बाइस[10] होता? हमीरपुर में मैं ऐसे वक़्त पहुँचा जब मेरी रुख़सत तमाम होनेवाली थी। मैं १३ की शाम को चला और इतवार का दिन। डिप्टी इन्स्पेक्टर दौरे पर। शहर हमीरपुर में ऐसा कोई शख़्स न था जिससे मैं सलाह-मशविरा ले सकता क्योंकि हमीरपुर में मेरे जाननेवाले गिनती के आदमी भी नहीं हैं। यहाँ आया, और चार्ज लेने में तब भी एक दिन की देर हो गयी जिसका जवाब मुझको देना पड़ा। यह है मेरा बयान हलफ़ी।

और अब मुंशीजी उस बात पर आते हैं जो कि शायद उनके चले आने या भाग निकलने का असली कारण हो—

अब दूसरे पहलू पर नज़र कीजिए। आपको मेरे भाग निकलने पर नाराज़ होने की ज़रूरत नहीं है क्योंकि जैसा अख़बार आप चाहते हैं वह कम तनख़्वाह और ख़र्चों में निकल सकता है और निकल रहा है। एक मामूली लेहाज़ और मामूली लियाक़त का आदमी ऐसा अख़बार निकाल सकता है जिसमें बहुत-सा आर्टिकिल न लिखना पड़े।

---

१ परिचित २ अनमोल ३ उठा नहीं रखा ४ देर से ५ ज़िक्र, चर्चा ६ तापन ७ सामर्थ्य भर ८ बात ९ अनिच्छा १० कारण

अच्छा तो यह बात है। मुंशीजी ने दोस्ती का हक़ अदा किया है — जो काम कम पैसों में हो सकता है उसके लिए दोस्त पर ज्यादा खर्च का बोझ क्यों डालो? इसी रौ में २२ मई १९१४ को उन्होंने हमीरपुर से कुछ ख़ानगी बातों का हवाला देने के बाद लिखा —

अब रही ज़माना का इन्तज़ाम सँभालने की बात। उर्दू की हवा आजकल बिगड़ी हुई है। अखबारनवीसी बहुत मुश्किल हो गयी है। जितने मौजूदा रिसाले हैं उनमें किसी को फ़रोग़[1] नहीं है। सब कुत्ते की ज़िन्दगी जीते हैं। इन हालात में क्या हौसला हो। बहर १५ साल की मुलाज़मत। कुछ दिन और ज़िन्दा रहूँ तो Invalid पेंशन का हक़दार हो जाऊँ। मेरे लिए यही काफ़ी सबसे अच्छी है और मुझे यहीं पड़ा रहने दीजिए। यहाँ आफ़ियत[2] है और गोशानशीनी[3] में ज्यादा क़ाने[4] रहूँगा। इसी हालत में कुछ तसनीफ़[5] का काम भी कर सकता हूँ। अख़बार या रिसाला लेकर मैं तसनीफ़ का काम कुछ न कर सकूँगा। अभी रोज़ घंटा भर लिटरेरी काम करना अच्छा मालूम होता है लेकिन दिन भर इसी धन्धे में कैसे पड़ूँगा।

१ जून १९१४ को जब कि स्वास्थ्य बहुत गिर चुका है और वह एक तरफ़ तबादले की कोशिश कर रहे हैं और दूसरी तरफ़ छुट्टी की दरख़्वास्त दिये बैठे हैं, उन्होंने साल भर गुज़र जाने पर फिर घड़ी की फ़रमाइश की मगर उसी खूबसूरती के साथ —

अगर आप हिसाबे दोस्ती के तौर पर मुझे एक वाच इनायत कर सकें तो आजाद की ज्यादमार रहेगी। अगर वह वाच नहीं जिसके साथ तीन रुपये में सोलह चीज़ें मिलती हैं। मज़बूत भारी हो जो ज्यादा नहीं तो तीन-चार साल तक तो साथ दे।

दास्ताने के यह ताने-बाने चलते रहे, कभी थोड़ा मनमुटाव भी हो गया लेकिन गाँठ नहीं पड़ी। झगड़े को पोसना न इन्हें आता था न उन्हें, और दोस्ती की नींव पक्की थी।

मुंशीजी को गुस्सा आते देर न लगती थी लेकिन उतरते और भी कम देर लगती थी। मिज़ाज में एक अलमस्तपन सदा से था और साफ़गोई की आदत थी। कोई बात नागवार मालूम होती तो फ़ौरन एक खर्रा लिख मारते लेकिन बस एक भर्म-से ख़त या एक नर्म-सी बात की देर थी और वह पानी-पानी हो जाते।

२२ मई १९१४ के ख़त के सात-आठ महीने बाद जब दिसम्बर-जनवरी में

---

१ उन्नति २ शान्ति ३ एकान्तवास ४ संतुष्ट ५ लिखने

छः महीने की छुट्टी लेने की नौबत आयी तो मुंशीजी एक बार फिर अपने उसी पुराने सपने की खोज में कानपुर पहुँचे। लेकिन व्यर्थ।

कानपुर से लौटने पर उन्होंने निगम साहब को लिखा —

आप मेरे यहाँ चले आने से कुछ तरद्दुद में तो नहीं पड़े? बात यह है कि मैंने ज़माना की मौजूदा हालत को देखकर उस पर ज़्यादा बोझ डालना मुनासिब नहीं समझा। मेरा खयाल था कि उसकी माली हालत में कुछ इस्तहकाम[1] आया होगा मगर जनवरी नंबर ने मुझे वहाँ और ज़्यादा नहीं रहने दिया। मेरे चले आने से अगर ज़्यादा नहीं तो तीन सौ रुपये साल की बचत तो हो गयी

और अब पत्र को ठेके पर लेकर चलाने की यह अंतिम योजना निगम साहब की ओर से पेश हुई।

मुंशीजी ने बस्ती पहुँचकर जवाब दिया — शरीकदार तो बनने के लिए मैं बना रहूँ, मगर जब तक आप नहीं बनाते नहीं बनता। यह शबोरोज़[2] की गुलामी किसे पसंद है मगर मआश[3] की सूरत भी तो होना ज़रूरी है।

पन्द्रह रोज़ बाद १ अगस्त १९१५ को एक लंबे खत में तफ़सील से अपनी शर्तें लिखकर भेजीं जिनका सारांश यह था कि माली ज़िम्मेदारी सब बदस्तूर निगम साहब की रहेगी, मुंशीजी बिना कुछ लिये-दिये काम करेंगे जब तक कि ज़माना कुछ देने क़ाबिल नहीं हो जाता। मुंशीजी ने लिखा —

मैंने माली ज़िम्मेदारियाँ सब आप पर रक्खी हैं। इसके वजूह[4] सुनिए। मेरे पास इन छः माह की रुख़सत के बाद आठ सौ रुपये हैं। तीन सौ रुपये मैंने तीन असामियों को अठारह फ़ी सदी सूद पर क़र्ज़ दे दिये हैं। मेरा असली सरमाया इस वक़्त कुल पाँच सौ रुपया है। इसे मैं उस वक़्त तक के लिए क़ूत[5] का वसीला[6] समझता हूँ जब तक कि ज़माना से मुझे कोई फ़ायदा न हो — और कौन जानता है उस मुबारक वक़्त के लिए कितने दिनों तक इंतज़ार करना पड़े।

ग़रीब ने अपना सारा कच्चा चिट्ठा खोलकर रख दिया, एक तरह से अपना सभी कुछ दाँव पर लगा दिया, ताहम साझेदारी न हो सकी।

आखिरकार मुंशीजी ने झुँझलाकर पहली सितंबर को लिखा —

मैं जो आजिज़ हूँ वह मातहती से। काम ऐसा करना चाहता हूँ जिसमें बजुज़ मेरी तबीयत के और किसी का तक़ाज़ा न हो। अगर जी में आवे तो रात-दिन करता रहूँ जी चाहे तो थोड़ा ही करूँ और यह सिर्फ़ मालिकाना हैसियत में हो सकता

---

१ स्थिरता २ दिन-रात ३ जीविका ४ कारण ५ खाने ६ साधन

नज़र और बुलन्द-ख़याल इंसान है जिसने दुनिया को 'क्या दुनिया और क्या दुनिया का पसारा[1] क्या पिद्दी और क्या पिद्दी का शोरबा' समझ रक्खा था। अपनी ख़ुद्दारी और ग़ैर-समाजी के बावजूद जो उनसे मिलता था उनसे बड़े अख़लाक़[2] और ख़न्दापेशानी[3] के साथ पेश आते थे और हर मिलनेवाला उनसे हददर्जा मुतास्सिर[4] होता था। इन्तहा दर्जे के नेक थे। किसी के मुआमले में दख़लंदाज़[5] होना उसी तरह उनकी फ़ितरत[6] के ख़िलाफ़ था जिस तरह बेकार बैठना गप स्यापा या और तरीक़ों से वक़्त ज़ाया[7] करना। उनके नज़दीक ज़िन्दगी के हर लमहे की क़ीमत थी। अपनी ड्यूटी बड़ी तनदिही[8] और फ़र्ज़-शनासी[9] से अंजाम देते थे और उससे फ़ारिग़ होते ही ख़ामोशी से कुछ लिखने-पढ़ने में लग जाते थे। अगरचे उनकी नस्र-निगारी[10] उस वक़्त भी मशहूर हो चुकी थी मगर उन्होंने कभी अपनी ज़बान से उसका तज़किरा नहीं किया और न किसी इशारे-कनाये से ज़ाहिर होने देते थे कि वह फ़ने अदब[11] में कोई ख़ास दस्तगाह[12] रखते हैं। ख़ाकसारी और मुनकसिर-उल-मिज़ाजी[13] उनकी तीनत[14] थी। उनसे मिलने और उनके साथ रहने से एक ऐसे इंसान का तअस्सुर[15] क़ायम होता था जो अपनी ज़िन्दगी किसी बुलन्द नज़रिये के लिए वक़्फ़[16] कर चुका हो और जिसकी तकमील[17] के लिए हयात का एक एक लमहा क़ीमती समझकर मुकम्मल[18] इन्हमाक[19] और पूरी लगन के साथ मसरूफ़े-कार[20] हो। ज़माने ने यह बात बाद को साबित की जो हममें से बहुत से लोग उसी वक़्त समझ चुके थे कि वह एक अज़ीमुश्शान[21] इंसान होंगे।

स्कूल छूटते ही मुंशी जी अपना झोला लिये हुए रवाना हो जाते और रास्ते में सब्ज़ीमण्डी से कुछ तरकारी, अंडा-मछली-मांस ज़रूरत की सब चीज़ें ख़रीदते हुए घर जा पहुँचते। यह रोज़ का धंधा था और उनका मनपसंद काम था। अपने घर का काम करने में शर्म कैसी? शर्म तो दूसरे का मुहताज बनने में है। अपने बच्चों में भी वह यही बात डालने की कोशिश करते थे। अपने छोटे-मोटे कामों के लिए किसी का अपने नौकरों के भरोसे बैठना उन्हें फूटी आँख न सुहाता था। अपने जीवन के अंतिम अध्याय में जिस समय मुंशी जी बंबई में थे और उनके लड़के

१ गुब्बारा २ सज्जनता ३ हँसमुखपन ४ प्रभावित ५ हस्तक्षेप करना ६ प्रकृति ७ बर्बाद ८ परिश्रम ९ कर्तव्यनिष्ठा १० गद्य-लेखन ११ साहित्य कला १२ ज्ञान १३ विनयशीलता १४ स्वभाव १५ धारणा १६ समर्पित १७ पूर्ति १८ पूरी १९ लगन २० काम में लगा २१ गौरवशाली

इलाहाबाद में रहकर पढ़ रहे थे उनमें कुछ विलायती ठाट-बाट की शानशौक़ प्रवृत्ति देखकर मुंशीजी ने एक बार काफ़ी झिड़की के स्वर में बंबई से लिखा था — Don t try to play the big man s son (यह दिखलाने की कोशिश मत करो कि तुम बड़े रईसज़ादे हो)

इन्हीं बस्ती के दिनों की दो-तीन मनोरंजक घटनाएँ शिवरानी देवी ने बयान की हैं जो मुंशी जी के व्यक्तित्व पर अच्छी रोशनी डालती हैं। पहली घटना स्कूल के ज़ालिम हेडमास्टर मीजनलाल साहब से ताल्लुक रखती है जिनसे छोग थर थर काँपते थे।

● एक दिन की बात है। क्वार का महीना था। झड़िया बरस रहा था। मकान गिर रहे थे। रह-रहकर धुम्म की आवाज़ सुनायी पड़ती। हम चार आदमी साथही एक मकान में बैठे थे कि मकान गिरेगा तो फिर जो कुछ होगा हम साथ ही ख़तरा उठाएँगे। दूसरे रोज किसी तरह पानी निकला। आप स्कूल गये।

हेडमास्टर बोला — कल आप क्यों नहीं आये?

— साहब उधर पानी बहुत तेज था।

— क्या आप नमक थे जो गल जाते?

— मैं नमक तो नहीं था हाँ मेरे पड़ोस के मकान गिर रहे थे मुमकिन है मेरा मकान भी गिर पड़ता।

— क्या आप रहकर उसे गिरने से रोक लेते ?

— रोक तो नहीं सकता था हाँ साथ मर सकता था।●

ऐसे बेहूदा सवालों का जवाब जिस तरह देना चाहिए था उसी तरह मुंशी जी ने उसका जवाब दिया। होगा जो होगा।

लेकिन अपने दैनिक आचरण में यह आदमी बहुत-सी बातों म वज्र भी कहा जा सकता है।

● एक बार की बात है मैं बस्ती जा रही थी। आप बीमार ही थे। रात का समय था। पेट भारी था। हम तीन आदमी थे। गाड़ी में भीड़ बहुत थी। उनके लिए मैंने बिस्तर लगा दिया। वे लेटे हुए थे। लड़की भी सोयी हुई थी। दो मुसाफ़िर आये। बोले — औरों को बैठने की जगह नहीं पर ये सो रहे हैं!

मैंने कहा — तुम भी कहीं बैठ जाओ।

— उनको उठा दो।

— उनकी तबीयत अच्छी नहीं है।

— जब तबीयत ठीक नहीं थी तो चले क्यों थे ?

— बकवास मत करो।

की तैयारी में लगे थे। आसान परीक्षा नहीं थी यह। चित्त को एकाग्र कर पाना स्वयं एक परीक्षा थी। डिस्पेप्सिया-आक्रान्त बराबर सिरहाने रखी रहती रातों को जाग-जागकर मुंशी जी छत्तीस साल की उम्र में इण्टर का अपना कोर्स पूरा करने में लगे रहते।

मार्च १९१६ में उन्होंने अंग्रेजी साहित्य, फ़ारसी, तर्कशास्त्र और आधुनिक इतिहास में इण्टर की परीक्षा दी और सेकंड डिवीजन में पास हो गये। इण्ट्रैंस के पूरे अठारह बरस बाद।

अपनी इसी दिमाग़ी परेशानी और छटपटाहट की हालत में मुंशी जी का ध्यान पहली बार बहुत ज़ोरों के साथ हिन्दी की ओर गया। उर्दू अख़बारों से आमदनी कुछ ख़ास नहीं थी, किताबों का हाल भी बुरा था। 'जलवए ईसार' से साल भर में तीस रुपये मिलते थे और 'प्रेम पचीसी' छपकर तैयार होते-होते महायुद्ध शुरू हो गया था जब कि मुंशी जी के शब्दों में जंग की धुन में शायद ही किसी को क़िस्से कहानी का शौक़ हो। और मुंशीजी का यह डर बिल्कुल सही निकला।

उर्दू की यह हालत कुछ आज की नहीं थी, एक अर्से से मुंशी जी देखते आ रहे थे और जाने-अनजाने हिन्दी की तरफ़ उनका झुकाव बढ़ता जा रहा था। ९ फ़र्वरी १९११ को उन्होंने निगम साहब को लिखा था — आप मुझे अपने हिन्दी डिपार्टमेण्ट का एडीटर समझिए। मैं अख़बारात और रिसालों से मुनासिब और दिलचस्प तर्जुमे कर दिया करूँगा। कहीं-कहीं उन पर नोट और तनक़ीद लिखूंगा। हिन्दी शोअरा की दिलचस्प और मुख़्तसर सवानेहउमरियों का सिलसिला भी दूंगा।

भारतेन्दु, केशव, बिहारी वाले लेख, जिनसे इन कवियों के जीवन और साहित्य का परिचय मिलता है, इसी सिलसिले की कड़ियाँ हैं।

कालिदास की कविता पर एक लंबा लेख (जो 'ऋतु संहार' के मुंशी प्यारेलाल शाकिर-कृत उर्दू पद्यानुवाद 'मनाज़िरे कुदरत' की भूमिका है) और 'मेघदूत' और 'विक्रमोर्वशी' के उर्दू पद्यानुवादों की लंबी समीक्षाएँ भी इसी समय इसी प्रवाह में लिखी गयीं और इन सबका उद्देश्य एक ही है — हिन्दी-संस्कृत की परम्परा से उर्दू पाठकों को परिचित कराना। मुंशी जी इसकी सख़्त ज़रूरत समझते हैं क्योंकि उनका दृढ़ विश्वास है कि उर्दू का पौधा तब तक नहीं नहीं लहलहा सकता जब तक वह इसी देश की मिट्टी से हवा-पानी से अपनी ख़ुराक लेना नहीं सीखता। कहते हैं —

● अब इस बात को सिद्ध करने के लिए ज़्यादा दलीलों की ज़रूरत नहीं है कि वह मज़े-का सा असर जो संस्कृत कविता हमारे दिलों पर पैदा करती है किसी दूसरी

भाषा की कविता की सामर्थ्य से परे है, विशेषतया उर्दू कविता के जिसकी उपमा उन पौधों से ही दी जा सकती है जो अक्सर बाग़ों में बनावटी ज़िन्दगी बसर करते नज़र आते हैं—मुरझाये हुए पत्ते निर्जीव पीला रंग सिमटी हुई शाख़ें न फल न फूल। फ़ारस का पौधा हिन्दोस्तान में लगाया गया न वह ज़मीन न वह आबहवा देखने से आँखों को ताज़गी होती है न दिल को ख़ुशी। देखिए कालिदास वर्षा ऋतु में शहद की मक्खियों का शहद जमा करना किस मर्मी और ख़ूबसूरती से दिखाता है—

तलाशे शहद में हैं मक्खियाँ सुबुक परवाज़
मगर मिज़ाज में ये आदमी के हैं अंदाज़
कि नाचते कहीं जाते हैं जब नज़र आठ्स
फ़िज़ाए दश्त में फैलाये बाल-ओ-पर ताऊस
तराने गाती हुई जब क़रीब आती है
कँवल के फूलों के धोखे में बैठ जाती है
महक रही है हवा केतकी के फूलों से
बसी हुई है सबा केतकी के फूलों से
हर एक रविश पे है जमघट परीजमालों का
अजब समां है फूलों के चहनेवालों का
चमन में करती हुई मुस्तक़िल गुल अफ़्शानी
लचक लचक के हैं पौधों को दे रही पानी
कहीं कदम के दरख़्तों पर छा रही है बहार
हरे हरे किसी जानिब हैं नीम के अश्जार

सरो शमशाद, और सनोबर के मुक़ाबले में कदम्ब और नीम और केतकी कैसे अपने जान पड़ते हैं।●

और फिर अगस्त १९१४ के अपने इसी लेख के अंत में मुंशी जी ने लिखा—काश उर्दू के कवि मौलाना शरर की तरह समझते कि इन कविताओं की नयी उपमाएँ और नयी बंदिशें उर्दू लिटरेचर के लिए अंग्रेजी और फ़ारसी लिटरेचर की लेफ़्ट-ऐंसी से अधिक उपयुक्त हैं तो आज उर्दू शायरी को इतने ताने न मिलते और उसे इतना बुरा-भला न कहा जाता।

यही वह ज़माना है जब मुंशी जी की जान-पहचान प्रताप की बदौलत पंडित मन्नन द्विवेदी गजपुरी से हुई। धीरे-धीरे इस जान-पहचान ने आत्मीयता का रूप ले लिया और कुछ अजब नहीं कि मुंशी जी को हिन्दी की ओर खींचने में गजपुरी

जी का भी काफ़ी हाथ रहा हो। वैसे मुंशी जी ख़ुद ही परिस्थितियों से विवश होकर हिन्दी की ओर आ रहे थे। २२ मई १९१४ को उन्होंने निगम साहब को लिखा था —

'उर्दू की हवा आजकल बिगड़ी हुई है। अख़बारनवीसी बहुत मुश्किल हो गयी है। जितने मौजूदा रिसाले हैं उनमें किसी को फ़रोग़ नहीं है सब कुत्ते की ज़िन्दगी जीते हैं।

फिर ४ सितंबर १९१४ को लिखा —

प्रताप के इसरार से मजबूर होकर एक मुख़्तसर-सा क़िस्सा हिन्दी में उसके विजयदशमी नंबर के लिए लिखा है। हिन्दी लिखनी तो आती नहीं मगर कुछ क़लम तोड़-मोड़ दिया है।

साल भर और गुज़रा और १ सितंबर १९१५ को मुंशी जी ने जैसे अपने निश्चय की सूचना निगम साहब को देते हुए लिखा —

अब हिन्दी लिखने की मश्क़ भी कर रहा हूँ। उर्दू में अब गुज़र नहीं है। यह मालूम होता है कि बालमुकुन्द गुप्त मरहूम की तरह मैं भी हिन्दी लिखने में ज़िन्दगी सर्फ़ कर दूँगा। उर्दूनवीसी में किस हिन्दू को फ़ैज़ हुआ है जो मुझे हो जायगा।

काहे की ठेस लग गयी मुंशी जी को यह आख़िरी जुमला उनके क़लम की नोक पर उतर आया? कहीं हिन्दुत्व की इस विशेष गंध के पीछे उनके तत्कालीन आर्यसमाजी मन का संस्कार तो नहीं है?

सोज़े वतन (१९०८) देशप्रेम का पहला उबाल था। उसकी पृष्ठभूमि में बंग-भंग-विरोधी स्वदेशी आन्दोलन था जिसने हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों को अपनी तरफ़ खींचा था।

१९१२ में 'जल्वए ईसार' आया जब कि मुंशी जी हमीरपुर में थे और बाक़ायदा आर्यसमाज के सदस्य थे। राष्ट्रीयता की भावना उसमें भी लहरें मार रही है पर वह हिन्दू राष्ट्रीयता है। तब तक के विकास की चरम यही सीमा-रेखा है। बहुत से लोग तो अंत तक उस रेखा को नहीं लाँघ सके। मुंशी जी ने लाँघा और अच्छी तरह लाँघा लेकिन आगे चलकर। अभी तो 'जल्वए ईसार' के नायक की पूरी कल्पना एक हिन्दू संन्यासी की है जिसके समस्त संस्कार, आचार-विचार हिन्दू हैं, यहाँ तक कि गोरक्षा भी मौजूद है — वैसे ही जैसे तिलक की गोहत्या विरोधिनी-सभा बनाना नहीं भूले।

लेकिन यहाँ पर यह भी याद रखना ठीक होगा कि सोज़े वतन और जल्वए ईसार के बीच मिन्टो-मार्ले रिफ़ार्म्स हैं जिन्होंने पृथक निर्वाचन के सिद्धान्त को

मान्यता देकर, हिन्दुओं और मुसलमानों को भारतीय राजनीति में पहली बार स्पष्ट रूप से दो शिविरों में बाँट दिया।

बंगाल में तो वोट नहीं भूमि ही बाँट दी गयी थी पर तो भी दिलों को नहीं बाँटा जा सका और बंगाल के संयुक्त हृदय ने विद्रोह कर दिया।

इस बार वैसा कुछ भी नहीं हुआ और होता भी कैसे। १९०७ के सूरत अधिवेशन के बाद कांग्रेस पूरी तरह नरमदली लोगों के हाथ में आ गयी। तिलक को १९०८ में पकड़कर बर्मा भेज दिया गया। संघर्ष का स्वर दब चला। पहले के संचित वेग से धारा डेढ़-दो बरस जैसे-तैसे बहती रही और फिर रुक गयी

छोटी-छोटी तलैयों में बिखरकर ठहरा हुआ पानी सड़ने लगा। फिर वह भी सूख गया और ज़मीन का सीना दरक गया। गौर करने की बात है कि मिण्टो मार्ले रिफ़ार्म्स जब १९११ में आये तो उनके विरोध में कहीं कुछ नहीं हुआ। किसी तरह की कोई हरकत नहीं हुई, दरार वैसी की वैसी बनी रही।

यही दरार मुंशी जी के इस खत में भी बोल रही है जो उन्होंने शायद सन् १२ ११ में हमीरपुर से निगम साहब को उनके प्रस्तावित साप्ताहिक अखबार के बारे में लिखा था—

“नाम ‘हिन्दू’ बहुत मौजूँ था मगर शायद इस नाम का कोई पर्चा पंजाब से निकलने लगा है ... अखबार का नमूना ‘कामरेड’ ही हो। खालिसी हिन्दू। अब मेरा हिन्दोस्तानी कौम पर एतकाद नहीं रहा और उसकी कोशिश फ़िज़ूल है

लेकिन न्याय कर सकने के लिए यह भी समझना ज़रूरी है कि यह मन की केवल एक वृत्ति है, सहज अविवेकी प्रतिक्रिया किसी एक सामाजिक स्थिति की; यह मुंशी जी का सम्पूर्ण मन नहीं है। होता तो आगे का इतिहास कुछ और ही होता। और तो और, मौलाना मुहम्मद अली और उनके ‘हमदर्द’ के साथ मुंशी जी का जो आत्मीय संबंध इन्हीं दिनों स्थापित हुआ वह भी शायद न हो पाता। मौलाना मोहम्मद अली सन् १४ में नज़रबंद किये गये। उसके पहले मुंशी जी की बराबर उनसे खत-किताबत रही। मौलाना उनकी कहानियाँ बहुत पसन्द करते और हर कहानी के लिए एक गिन्नी मख़मल की डिबिया में रखकर मुंशी जी की नज़र करते।

इससे ज़ाहिर है कि यह ‘हिन्दूपन’ मुंशी जी के मन की केवल एक वृत्ति थी एक उमसी हुई परिस्थिति की छाया — कुछ वैसी ही चीज़ जैसी सुनते हैं, उनकी कहानियाँ पढ़कर प्रसिद्ध इस्लामी विचारक और इतिहासकार मौलाना शिबली नोमानी के साथ होती थी जो एक तरफ़ तो उन कहानियों को पढ़कर सर धुनते थे और दूसरी तरफ़ बहुत उदास होकर कहते थे — हिन्दोस्तान के पाँच करोड़ मुसलमानों में कोई ऐसा क्यों नहीं है जो प्रेमचंद की ज़बान लिख सके

११

अगस्त की अठारह तारीख शाम के पाँच बजे बीमारी से टूटे हुए मास्टर प्रेमचंद अपनी खटिया-मचिया बर्तन-भाँड़े समेत अपनी तीन बरस की बेटी कमला और पत्नी के साथ बस्ती से गोरखपुर पहुँचे।

क्वार्टर एक रोज़ बाद खाली होनेवाला था। लिहाज़ा उनका अपना इरादा अगले रोज़ ही रवाना होने का था। सफ़र के नाम से यों भी उनकी जान पर बनती थी और फिर इस वक़्त तो बाल-बच्चों के साथ पूरी गिरस्ती समेत सफ़र था।

लेकिन बीबी सब तैयारी कर चुकी थी और उन्हें उसी रोज़ रवाना हो जाना पड़ा। पर दिल में बराबर डर लगा हुआ था कि रात को कहीं कोई बात न हो।

और वही हुआ जिसका डर था। वहीं उसी कमरे में जहाँ उस रात उन्हें ठहराया गया था उनके बड़े लड़के धुन्नू (श्रीपत) के आगमन की तैयारी हो गयी। रात का वक़्त नयी जगह न किसी से जान न पहचान न दाई का पता न डाक्टर का। खासी मुसीबत का सामना था — लेकिन जिस अपनपे से दूसरे मास्टर लोग पेश आये उसके कारण कोई तकलीफ़ नहीं हुई और सब कुछ बहुत आसानी से हो गया। एक साहब ने बड़ी मुहब्बत से उन्हें ले जाकर खुद अपने घर में ठहरा लिया था। नयी जगह के इस पहले ही परिचय से मुंशी जी का मन कृतज्ञता से भर उठा। धीरे-धीरे मुंशी जी पर यह बात खुली कि इस अपनपे के पीछे वहाँ सब लोगों का एक साथ रहना-सहना था वहीं हेडमास्टर बेचनलाल का व्यक्तित्व भी था।

बेचनलाल उतने ही सीधे थे जितने बस्ती के भीखनलाल कड़े। बेचनलाल को सबके साथ घुलमिलकर रहना अच्छा लगता था भीखनलाल अपने और मातहतों के बीच एक दीवार खड़ी रखते। दिल जैसा भी हो अफ़सरियत उनमें कूट कूटकर भरी थी। एक ही मंत्र उन्होंने सीखा था जीवन में — कठोर अनुशासन। हरदम उसी का डण्डा घुमाया करते। बेचनलाल दिल के नेक भी थे और मुँह के मीठे भी। अनुशासन का हाल उन्हें बस इतना पता था कि सब को जी लगाकर काम करना चाहिए, ड्यूटी में कोताही न करनी चाहिए — और विश्वास करते

थे कि ऐसा ही होता होगा। अगर और किसी कारणसे नहीं तो उनके इसी सरल विश्वास के कारण लोग काफ़ी भी लगाकर काम करते थे।

मुंशी जी की नियुक्ति बेकनसाहब के नीचे सेकंड मास्टर के रूप में साठ रुपये पर हुई थी। खुली तबीयत के एक आदमी को अपने ही जैसा दूसरा मिल गया। और दोनों की खूब घुल से ही अच्छी बैठ गयी। उन्हीं की कृपा से छः महीने के अन्दर ही दस रुपये की तरक्क़ी भी हो गयी—इलाहाबाद से एक महीने की फ़र्स्ट एड की ट्रेनिंग लेकर लौटने पर, जिस के लिए बेकनसाहब ने मुंशी जी को चुना और उनकी बीवी की बीमारी के बावजूद ज़िद करके भेजा। इसके बाद साल-डेढ़ साल और बीतने पर मुंशी जी को बोर्डिंग हाउस का सुपरिन्टेन्डेन्ट बना दिया गया। उससे और भी पन्द्रह रुपये महीने की तरक्क़ी मिल गयी।

मुंशी जी कुल मे काफ़ी खुश। हेडमास्टर नेक। साथी मास्टरों में भाई चारा। लड़के स्नेही आज्ञाकारी। और फिर जगह भी कितनी अच्छी थी। आने के साथ जी को भा गयी थी। छः महीने पहले जब एक बार एक दिन के लिये आये थे तब भी मन ललचा उठा था।

पुरानी बस्ती के उस गुंजान मुहल्ले के बाद पचीसों एकड़ ज़मीन में फैला हुआ यह नार्मल स्कूल चीज़ ही और थी। एक तरफ़ ईदगाह का बड़ा-सा मैदान दूसरी तरफ़ कलक्टर साहब का बँगला। मगर सब दूर-दूर। स्कूल का अपना अहाता पचीसों एकड़ का था। स्कूल बोर्डिंग सब कुछ उसी के अन्दर। कहाँ मिलती है ऐसी जगह। साँस लेते दम घुटता था वहाँ—सँकरी-सँकरी सी गलियाँ गिरने पड़ते पुराने मकान एक पर एक चढ़े हुए। और अब? पूरी बादशाहत समझो। जितनी चाहो खुली हवा मस्त धूप। बाक़ई बड़ी सेहतमंद जगह है। बच्चों को खेलने-कूदने का भी बड़ा आराम है। किसी बात का डर नहीं। चोर-चहरी से भी नजात मिली। अलग ही एक छोटी-सी दुनिया है। शहर के पास भी और दूर भी। जाना हो तो जब बाज़ार मुश्किल से दो फ़र्लांग और न जाना हो तो कभी न जाइए, हमें मतलब ही क्या बाक़ी दुनिया से।

गोरखपुर उनके लिए नयी जगह नहीं है। यहाँ के एक-एक गली कूचे से वह परिचित है। बचपन के कई बरस उसने यहाँ बिताये हैं। आवारागर्दी भी खूब की है। तलिस्मे होशरुबा और हरमसरा के क़िस्से भी यहीं पढ़े और सुने हैं। बाले मियाँ के मैदान में पतंगों का लड़ना भी बरसों यहीं देखा है और तरस-तरस कर रह गया क्योंकि खुद पतंग उड़ाने के लिए पास में पैसे नहीं थे। ज़िन्दगी की पहली सिगरेट भी तेरह साल की उम्र में उसने यहीं पी है। बाज़ारू लड़कों के साथ गन्दी बातचीत

के मजे भी उसने शायद यहीं पहली बार उठाये हों। अंग्रेजी पढ़ाई भी उसकी यहीं शुरू हुई थी — रावत पाठशाला में। रावत पाठशाला नार्मल स्कूल से लगा हुआ है। लेकिन तब यह नार्मल स्कूल नहीं था। तब तो यहाँ बस एक बीहड़ मैदान था। रात को इधर से निकलते डर लगता था। किसी पेड़ पर कोई भूत रहता था किसी पर कोई ब्रह्मपिशाच — और किसी पर कोई चुड़ैल। रात को इधर से कोई निकलता थोड़े ही था। हाँ दिन की धमाचौकड़ी के लिए यह मैदान अच्छा था।

गोरखपुर के साथ उसकी न जाने कितनी कड़वी-मीठी स्मृतियाँ जुड़ी हैं। यहीं से आठवीं पास करके वह अपने पिता के साथ बनारस गया था। फिर नवीं में उसका नाम लिखाया गया। फिर उसकी शादी कर दी गयी। फिर पिता भी नहीं रहे। और भी न जाने क्या-क्या हुआ। अब फिर घूम-फिरकर वह इसी गोरखपुर में आ गया है। अच्छी-बुरी बहुत-सी स्मृतियाँ हैं पर उसको अच्छा लग रहा है यहाँ आकर, बहुत अच्छा लग रहा है। शरीर और मन दोनों से कुछ हलका।

हाँ घर में पढ़कर आये दिन बीबी की खटपट चाची से हो जाया करती है। कभी चाची मुँह में अपनी गुड़गुड़ी दबाये आकर बहू का रोना रोने लगती हैं कभी बीबी नाराज होकर कोपभवन में जा बैठती है। हर रोज कुछ-न-कुछ लगा रहता है। बड़ी साँसत में जान फँसी है। सब कुछ तो करके हार गया। कभी एक की बात ठीक मालूम होती है और कभी दूसरे की। अक्ल चकरा जाती है। इन लोगों को तो वकील होना चाहिए था — कितनी खूबसूरती से अपना मुकदमा पेश करती हैं! समझ में ही नहीं आता किसका न्याय है और किसका अन्याय। कभी एक को समझाता हूँ कभी दूसरे को मगर कोई पैर अपनी जगह से हिलने को तैयार नहीं है। आपने समझा बात की सफ़ाई हो गयी उधर फिर कोई नया झगड़ा तैयार। क्या करे आदमी ऐसी हालत में। कोई तदबीर काम नहीं करती। बहुत बार वह चाची के पक्ष को ग़लत जानकर भी उन्हीं का साथ देता है अगर और किसी लिए नहीं तो सिर्फ़ इसलिए कि वह बड़ी हैं बूढ़ी हैं और बूढ़ों के स्वभाव में हठ की मात्रा अक्सर बढ़ जाया करती है। लेकिन उस तरह भी बात कुछ बनती नहीं। दिल जब दोनों तरफ़ से फट गया हो।

लेकिन यह भी तो अब पुरानी बात हो गयी है। इन झगड़ों को झेलते-झेलते अब वह पत्थर हो गया है। यह भी एक रियाज़तख़ाना है अपने ढंग की। जीने का कुछ तो उपाय करना होगा — या घुट मरे इसी जंजाल में? चाची जैसी हैं, हैं। अब उन्हें बदला नहीं जा सकता। लेकिन बीबी का मिज़ाज बदलना भी तो आसान नहीं है। वह घमण्डी है गुस्सैल है मुँहफट है। न होती तो ज्यादा अच्छा होता

लेकिन ऐसा फ़रिश्ता कहाँ मिलता है। ऐब तो सभी में होते हैं। शासनप्रियता बहरहाल से ज्यादा है इसके स्वभाव में। उधर चाची अपना एक भी अधिकार छोड़ने को तैयार नहीं हैं। सारे झगड़ों की जड़ यही है। खूब समझता है वह इस बात को लेकिन करे क्या? वह अपने घर में अधिकार कैसे न जमाये। जो कुछ वह करती है सब इसीलिए न कि घर की व्यवस्था ठीक हो जाय और हरदम की पैसे की चिन्ता से छुटकारा मिले? अच्छा ही है, नहीं तो आदमी इसी में दफ़्न होकर रह जाय। कुछ काम कर सकने के लिए ज़रूरी है कि रोज़-रोज़ के ख़र्चों की चिन्ता से आदमी को मुक्ति मिल जाय। मन ही मन वह बहुत ऋणी है अपनी पत्नी का। लेकिन खूबसूरती सब को साथ लेकर निबाह करने में है। इसीलिए समय बीतने के साथ-साथ वह इन झगड़ों से अब बिलकुल अलग-अलग रहने लगा है। तो भी इंसान ही है। मिज़ाज उसका भी तेज़ है। गुस्सा जल्द आ जाता है। कभी मुँझला भी पड़ता है, बरस भी पड़ता है। और फिर अपने काम में जुट जाता है। यही उसकी असल मुक्ति है निर्वाण है। कर्म ही जीवन का सच्चा उल्लास है यह सत्य उसके भीतर बहुत पहले से बैठ चुका है। सुखी रहना चाहते हो तो डटकर काम करो, दिन-रात काम करो। इसलिए सास-बहू के ये झगड़े अब उसको बहुत नहीं छूते।

लेकिन एक रोज़ उन्हें चाची पर सचमुच गुस्सा आया। महताब स्कूल लीविंग के इम्तहान में दूसरी बार फ़ेल होने के बाद टाइपिंग और बुककीपिंग सीखने एक साल के लिए कलकत्ते चले गये थे। मुंशी जी हमेशा की तरह वहाँ भी उनका बराबर ख़र्च भजते रहे।

साल भर बाद जब वह टाइपिंग सीखकर गोरखपुर लौटे तो एक रोज़ मुंशी जी को चाची की बातचीत में कुछ इस तरह का रुख़-तेवर दिखायी दिया ऐसी कुछ गंध मिली कि जैसे उनके ख़याल में वह अब अपने छोटे भाई की कमाई में हिस्सा बँटाने का इरादा रखते हों। इस पर मुंशी जी गुस्से से पागल हो गये और उनकी ज़ोरदार झड़प चाची से हुई। यह उनके ज़िन्दगी भर के किये-धरे पर पानी फेरने की बात थी बड़ा ही क्रूर आघात जिसे वह सह नहीं सके किसी तरह और उन्होंने उसी गुस्से की हालत में आकर अपनी पत्नी से कहा—जिस दिन मुझे दूसरे की कमाई खानी पड़ेगी मैं ज़हर खा लूँगा!

अक्सर बातों को हँसकर टाल देने की आदत पड़ गयी थी—ज़िन्दा रहने की शर्त थी यह—लेकिन यह तो मर्म पर आघात करनेवाली बात थी। आघात हुआ। प्रतिक्रिया हुई। बरस पड़े। शान्त हो गये। गाँठ मन में नहीं पड़ी। भाई के प्रति स्नेह और दायित्वबोध उसी प्रकार बना रहा। और महताब की भी

अपनी आदत से भले न बनी हो पर भाई की अवज्ञा उन्होंने भी नहीं की और मन का एक स्तर था जहाँ अन्त तक वह सहज स्नेह बना रहा।

२ मार्च १९१७ के अपने पत्र में मुंशी जी ने निगम साहब को लिखा —

बाबू महताब राय लखनऊ से टाइप सीखकर आ गये हैं। आप इन्हें वहाँ किसी मिल या फ़र्म में इम्प्लोइमेंट करा सकते हैं? अगर ऐसा हो सके तो मुझ पर खास इनायत होगी।

वह तो नहीं हो सका पर बस्ती में ही बन्दोबस्त के महकमे में उन्हें काम मिल गया। लेकिन साल भर बाद जब इस काम के खत्म होने की सूरत पैदा हुई तो, मियाँ की दौड़ मसजिद तक मुंशी जी ने फिर निगम साहब को याद किया —

'चन्द हफ़्ते-अशरे'[1] में या ज्यादा से ज्यादा एक माह में तखफ़ीफ़'[2] में आ जायेंगे। बन्दोबस्त का काम फ़िलहाल बन्द किया जा रहा है। मुझे उनकी फ़िक्र लगी हुई है। अगर आप उनके लिए कोई काम दिलाने में मेरी मदद कर सकें तो ऐन एहसान हो। मेरे और कौन से दोस्त हैं जिनसे इनकी सिफ़ारिश करूँ। बस्ती में टाइपिस्ट थे पैंतीस रुपये पाते थे। कानपुर के किसी कारखाने में अगर आपकी सिफ़ारिश कारगर हो सके तो इन्हें बाद तखफ़ीफ़ वहाँ भेज दूँ। या बाहर के मुताल्लिक़ कोई ऐसा काम हो जिसमें हिन्दोस्तान के बाहर न जाना पड़े तो भी कोई उज्र नहीं है।

सोलहों आने गृहस्थ मुंशी जी को घर में एक-एक की फ़िक्र रहती थी।

पत्नी जब गोरखपुर पहुँचने के साथ ही बच्चे की पैदाइश के बाद बीमार पड़ीं और ऐसी बीमार पड़ीं कि बिस्तर से लग गयीं और बच्चे को दूध पिलाने तक से मजबूर हो गयीं इतनी कि इस काम के लिए एक दाई रखनी पड़ी उस वक्त मुंशी जी ने घर के भीतरी काम भी तमाम अपने ऊपर ओढ़ लिये। बच्चों को सुलाना जगाना नहलाना-धुलाना खिलाना-पिलाना सभी काम उनके थे। और माथे पर शिकन नहीं न कोई शिकायत। बीच में कभी घण्टा खाली होता तो घर आकर देख-सुन जाते। कभी बच्चे को लिये हुए स्कूल पहुँच जाते जहाँ लड़के उनके हाथ से बच्चे को लेकर गुड़ खिलाने लग जाते। सब कुछ अत्यन्त सहज भाव से।

कहने का मतलब यह कि गृहस्थी की इन सब खटर-पटर, हारी-बीमारी और घरेलू झगड़े-तकरार के होते हुए मुंशीजी को अपने भीतर ज्यादा खुशी मिल रही है, जैसी कि इधर एक अर्से से नहीं मिली।

उन्हें अपनी जिन्दगी का नक्शा कुछ सुधरता हुआ नजर आता है। एक तो

---

१ पखवारे २ छँटनी



कमला



धनपत राय



[illegible]



अमृत राय

सेहत पहले से कुछ अच्छी है जो कि एक बड़ी बात है। स्कूल का वातावरण अधिक अनुकूल है। महावीरप्रसाद पोद्दार से मुलाक़ात हो चुकी है और उनके माध्यम से एक नयी भाषा हिन्दी का दरवाज़ा उनके लिए खुल रहा है। प्रेमचंद को उनसे बड़ी-बड़ी उम्मीदें हैं। उर्दू जैसा हाल यहाँ नहीं है जहाँ किताब खुद अपने पैसे से छपानी पड़ती थी और बिक्री की भयानक सुस्ती को देखकर बार-बार पूछना पड़ता था किताब कुछ बिक रही या महज़ दीमकों की खुराक बन रही है। साल में दो सौ प्रतियाँ बिक गयीं तो समझिए कमाल हो गया। हिन्दी की हालत शायद इतनी खराब नहीं है वर्ना प्रकाशक उनके पीछे इतना क्यों पड़ता। सेवा सदन पर एक छोटी-सी किताब लिखकर वह दे चुके हैं। टालस्टाय की कहानियों का अनुवाद दे चुके हैं। हिन्दी प्रेमपचीसी छप रही है। बिकती होंगी तभी तो छापता है। अब नये नाविल के लिए कान को पड़ा है।

अच्छा लगता है मुंशी जी को यह सब और क्यों न अच्छा लगे। लेखक को इससे ज़्यादा और चाहिए भी क्या — दिल में लिखने की उमंग है, क़लम तेज़ी से चल रहा है छापनेवाला पसे लिये दरवाज़े पर बैठा है, कीर्ति एक भाषा की सीमा को लाँघकर दूसरी भाषाओं में पहुँच रही है। हिन्दी तो है ही मराठी में प्रेमपचीसी छप रही है। पत्रों में कहानियों के अनुवाद गुजराती में भी छपने लगे हैं। कितनी ही तो बातें हैं जिनसे मन में उभार आता है।

और सबसे बड़ी बात तो यह कि राष्ट्रीय जीवन में एक नया उभार आ रहा है। बहुत दिनों की पस्ती और मुर्दनी के बाद। कैसा विचित्र संयोग है यह कि उनके स्वास्थ्य की गिरावट और राष्ट्रीय आन्दोलन की गिरावट का समय लगभग एक ही है और अब फिर एक नयी जागृति आ रही है जिसे मुंशी जी फ़ौरन अपने खून की रवानी में महसूस करते हैं। इस वक़्त उनकी तबीयत में जो उभार है उसमें निश्चय ही कुछ हाथ देश की इस जागृति का भी है।

उनकी तबीयत ही कुछ ऐसी बनी है। सबसे अलग-थलग व्यक्ति की अपनी छोटी-सी दुनिया में रहना उसने सीखा ही नहीं। पुराना गृहस्थ आदमी है। गृहस्थी में गृहस्थी का होकर रहना ही उसे आता है। उसकी सब संसटें, सब ज़िम्मेदारियाँ सब परेशानियाँ उसे मंजूर हैं अलग से रहना मंजूर नहीं भले उसमें कितनी ही बेफ़िक्री हो।

देश भी उसके लिए एक बड़े परिवार जैसा ही है। उसका हर सुख-दुख उसका अपना सुख-दुख है। जो सहज आत्मीयता की डोर उसे अपने परिवार से बाँधती है वही उसे इस बड़े परिवार से बाँधती है।

वह भूगोल का विद्यार्थी है। भूगोल उसने बरसों पढ़ा है पढ़ाया है। भारत का मानचित्र न जाने कब से उसकी आँखों के सामने घूमता रहा है। नदी पहाड़ सब

उसे पता है। मातृभूमि को माँ के रूप में उसने पूजा है जो कि उसके भीतर का गहरा भारतीय संस्कार है, हिन्दू संस्कार है, स्वदेशी और अभिमन्यु का संस्कार है तिलक और बंकिम का संस्कार है। लेकिन अपने जीवन-अनुभव से वह यह भी जानता है कि हवाई देश प्रेम काफी नहीं है। देश का असल मतलब है देश के जन ही, उसका सुख-दुख। वह इतिहास और समाज शास्त्र का भी विद्यार्थी है और उसे पता है कि आजादी के बिना कभी कोई देश उन्नति नहीं करता। शायद इसीलिए जब आजादी के आन्दोलन में कुछ जान आती है तो उसके भीतर भी जान आ जाती है और जब उसमें सुस्ती छा जाती है तो जाने-अनजाने उसके मन पर भी वही मुर्दनी छा जाती है।

साधारणतः ऐसे आदमी को सक्रिय राजनीति में होना चाहिए था। आन्दोलनकर्ता के रूप में संगठनकर्ता के रूप में। लेकिन मुंशी जी को अपनी कमजोरियाँ भी मालूम हैं।

सबसे बड़ी कमजोरी है लम्बी गृहस्थी — दो छोटे-छोटे बच्चे पत्नी चाची और उनका बेटा जिन सबका अकेला अवलंब वह है। और दूसरी बड़ी कमजोरी है उसका अपना स्वभाव। राजनीति के धुरंधरों के बीच वह खप नहीं सकता। बड़े अखाड़ेबाज होते हैं सब। वह अलग ही एक दुनिया है। उस गरीब की तो उसमें मिट्टी पलीद हो जायेगी। उसमें वही आ सकता है जिसे उन सब दाँव-पेंच में रस मिलता हो। आजादी की लड़ाई तो कहीं पीछे छूट जाती है पद की लालसा ही मुख्य हो जाती है। और फिर आये दिन के छोटे-छोटे झगड़े और गुटबन्दी — नहीं उस दलदल से दूर ही रहना ठीक है। दूर रहकर आदमी ज्यादा अच्छी तरह चीज को देख सकता है और ज्यादा बेलाग ढंग से बात कर सकता है।

यह ठीक है कि घटनाएँ उसको आन्दोलित करती हैं। इसका मतलब है कि वह यत्न करे तो अपनी उसी गहरी अनुभूति से दूसरों को भी आन्दोलित कर सकता है — लेकिन गले के जोर से नहीं कलम के जोर से।

मंच पर जाते उसे डर लगता है और भाषण देने के ख्याल से ही उसकी रूह फ़ना हो जाती है। जिन्दगी भर उसकी यह कमजोरी बनी रही और इस कमजोरी का एहसास बना रहा और उसने बराबर अपने बेटों को इस ओर से सावधान किया। यह नहीं कि जरूरत पड़ने पर वह बोल नहीं सकता था या उसका गला फँस जाता था। पर हाँ उलझन जरूर खासी मालूम होती थी। वह खूब जानता है कि मंच उसके लिए नहीं है। मगर उससे क्या, कलम तो है उसके हाथ में। उससे बढ़कर क्या चीज है। उसकी सबसे बड़ी ताकत यही कलम है। इतिहास के पन्ने पलटो तो पता चले कलम क्या कर सकता है।

इस तरह यह विरोधाभास सामने आता है कि एक तरफ़ समसामयिक राजनीति में उसकी दिलचस्पी और जानकारी तो इतनी है कि अच्छे-अच्छे राजनीतिज्ञों की क्या हस्ती लेकिन दूसरी तरफ़, जिसे सक्रिय राजनीति कहा जाता है उससे दूर का भी संबंध उसका नहीं है। और अगर सबब है तो इतना ही कि वह मीटिंगों में चला जाता है कभी कांग्रेस के दफ़्तर चला जाता है लिखने-पढ़ने का कुछ काम हुआ तो उसे कर देता है। इससे ज्यादा मतलब वह नहीं रखता। पर उसकी दिलचस्पी गहरी है जो उसके साहित्य में बोलती है। अपने साहित्य के माध्यम से वह अपना श्रेष्ठतम अंश देश की स्वाधीनता और उसके भविष्य को देता है।

सूरत अधिवेशन (१९०७) में गरमदल तिलक के नेतृत्व में कांग्रेस से अलग हुआ। कांग्रेस पूरी तरह गोखले और फ़ीरोज़शाह मेहता के हाथ में आ गयी और उसकी राजनीति फिर अपने उसी पुराने ढर्रे पर चलने लगी। तिलक अपने साथ जो ज्वार लाये थे वह धीरे-धीरे उतर चला। सन् १९०८ में तिलक को छः साल के लिए मांडले भेज दिया गया। सन् ११ में पंचम जार्ज के राज्याभिषेक का दरबार हुआ और उसमें बंगभंग की योजना का रद्द करने की घोषणा हुई। उससे बंगाल के क्रान्तिकारी आन्दोलन की तेज़ी भी कुछ समय के लिए समाप्त हो गयी।

सन् १४ आते-आते देश पूरी तरह निष्प्राण हो चुका था।

जुलाई १९१४ में महायुद्ध छिड़ा। नवंबर में जर्मन सेनाएँ फ़्रांस के दरवाज़े पर थीं। इंगलैण्ड-फ़्रांस के लिए जीवन-मरण का संकट उपस्थित था। ऐसे समय में हिन्दुस्तान के बड़े लाट हार्डिंज ने बड़ी हिम्मत करके हिन्दुस्तान से अपनी गोरी और काली फ़ौजें हटायीं और उन्हें योरप के मोर्चों पर भेजा। साथी देशों की प्राणरक्षा हुई।

ऐसी विषम परिस्थिति में जो देश के लिए इतनी अनुकूल और गोरी सत्ता के लिए इतनी प्रतिकूल थी कांग्रेस ने एक बार फिर अपने १९१४ के अधिवेशन में ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत औपनिवेशिक स्वायत्त शासन की माँग उठायी। लेकिन जो चीज़ माँगी गयी और जिस तरह गिड़गिड़ाकर माँगी गयी दोनों ही से पता चलता है कि सूरत अधिवेशन के बाद की नरमदली राजनीति देश को कितना पीछे ढकेल चुकी थी—

भारत की जनता ने वर्तमान संकट में जिस गहरी और निष्कपट राजभक्ति का परिचय दिया है उसको देखते हुए यह कांग्रेस सरकार से प्रार्थना करती है कि वह इस राजभक्ति को और भी गहरा और दीर्घजीवी करे ताकि वह साम्राज्य की एक स्थायी और महत्वपूर्ण सम्पदा बन सके और इस हेतु उसका आवेदन है कि ब्रिट

मैजिस्ट्री की भारतीय और अन्य प्रजा के बीच भेद भाव करनेवाले अपमानजनक नियम हटा लिये जायें २५ अगस्त १९११ के फ़रमान में उल्लिखित प्रान्तीय स्वायत्तशासन प्रदान करने के वचन को पूरा किया जाय और ऐसी सब आवश्यक कार्रवाई की जाय जिससे भारत को साम्राज्य-संघ के एक अंग के रूप में मान्यता और तदनुसार सम्पूर्ण अधिकारों के स्वतंत्र उपभोग का अवसर मिले। कांग्रेस के प्रामाणिक इतिहास के अनुसार यह प्रस्ताव उस समय की राष्ट्रीय आकांक्षाओं का चरम शिखर है।

पर कितना छोटा कितना नीचा है यह शिखर! तिलक के स्वराज्य से कितनी दूर, जो बख़्शीश नहीं जन्मसिद्ध अधिकार था।

लेकिन वह बात अब तक सात-आठ साल पुरानी हो चुकी है और उन सात-आठ में से छः साल महाराष्ट्र-केसरी मांडले के कठघरे में बन्द रहा है।

पर भी यह लज्जा की ही बात कि जहाँ गोखले और सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी इनाम और बख़्शीश की शक्ल में यह चीज़ माँग रहे थे वहाँ एक विदेशी स्त्री ऐनी बेसेण्ट, अधिकार के रूप में उसे माँग रही थी और कह रही थी कि हिन्दुस्तान अपने बेटे के ख़ून का सौदा नहीं करना चाहता।

प्रेमचंद भी इसी बीच इन्तहाई पस्ती के दौर से गुज़रे। शरीर, मन दोनों बिल्कुल टूटा हुआ।

राष्ट्रीय आन्दोलन की इसी विकट स्थिति में तिलक जून १९१४ में जेल से छूटकर वापस आये। उनका संताप इस राजनीति से अलग क्या होता बाहर आने के साथ ही वह अपना होमरूल का आन्दोलन लेकर मैदान में कूद पड़े। कुछ अजब नहीं कि कांग्रेस के प्रस्ताव के पीछे जैसा कुछ भी वह था तिलक की उपस्थिति भी एक अंकुश रही हो।

जो भी हो, इधर तिलक और उधर एनी बेसेण्ट, दोनों होमरूल की आवाज़ उठा रहे थे। लेकिन बेसेण्ट की धुन में यह भी रुची थी कि कांग्रेस फिर बलवान हो जाय। इसके लिए तिलक और गोखले गरमदल और नरमदल में मेल होना ज़रूरी था। बेसेण्ट ने इसकी पूरी कोशिश की कुछ भी उठा नहीं रखा लेकिन दुर्भाग्यवश मेल नहीं हो सका और इसकी बड़ी ज़िम्मेदारी इतिहास गोखले की दुरंगी नीति और दोमुँही बातचीत पर रखने के लिए बाध्य है। बात जब खुली और खुलते उस देर नहीं लगी तो गोखले को बहुत लज्जित होना पड़ा और संभव है उनके अंत को पास लाने में इस धक्के का भी कुछ हाथ हो क्योंकि इस बात के दस-पन्द्रह रोज़

के भीतर ही १९ फर्वरी १९१५ को गोखले का देहान्त हो गया। नवम्बर में फ़ीरोज़ शाह मेहता भी चल बसे।

देश की अब बड़ी विचित्र स्थिति थी। कांग्रेस देश की सबसे बड़ी संस्था थी। कांग्रेस का सबसे कर्मठ सबसे बलिष्ठ अंग गरमदल कांग्रेस के बाहर था। नरमदली जो कांग्रेस को जैसे-तैसे ढो रहे थे अब अपने दो सबसे बड़े नेताओं को खोकर बिल्कुल पपहारा हो रहे थे। गांधी का उदय भारतीय राजनीति के आकाश में अभी नहीं हुआ था। अभी तो हाल ही में वह दक्षिण अफ्रीका से लौटे थे और अपने दीक्षागुरु गोखले के चरणों में बैठकर देश की स्थिति का अध्ययन कर रहे थे।

ऐसे में कौन था जो नेतृत्व तिलक के हाथ में आने से रोक सके लेकिन बाधा यही थी कि वह कांग्रेस के बाहर थे और उसके भीतर आने की सूरत नहीं बन रही थी। तो भी शायद तिलक की उपस्थिति में ही कुछ जादू था क्योंकि सूरत के बाद एक बार फिर बम्बई कांग्रेस (१९१५) में जान जैसी जान दिखलायी दी बावजूद इसके कि वह केवल नरमदली लोगों का अधिवेशन था। लेकिन शायद जनता के वह सब प्रतिनिधि कट्टर नरमदली नहीं थे क्योंकि उसी अधिवेशन में कांग्रेस के विधान में ऐसा संशोधन किया गया कि तिलक और उनके गरमदल के लिए भीतर आने का रास्ता खुला।

लेकिन एक शर्त थी — तिलक साल भर के बाद ही कांग्रेस की नीति को बदलने के लिए उद्योग कर सकते थे। लिहाज़ा तिलक और ऐनी बेसेन्ट ने फिर अपना अपना होमरूल का आन्दोलन सँभाला। लंबी नींद के बाद देश में फिर कुछ हलचल दिखायी दी।

इसी बीच देश ने एक नयी करवट और ली — कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच एका स्थापित करने का प्रयत्न। होमरूल के बढ़ते हुए आन्दोलन की पृष्ठभूमि में शासन-सुधार की बातें सरकार की ओर से भी होने लगी थीं। सबको विश्वास था कि लड़ाई ख़त्म होने पर इस तरह की कोई न कोई योजना ज़रूर सामने आयगी। उससे पहले इधर आपस में एका ज़रूर हो जाना चाहिए वर्ना किसी को कुछ न मिलेगा।

ज़मीन इस तरह एकता के लिए काफ़ी तैयार थी। बंबई कांग्रेस में पहल की। दोनों संस्थाओं के प्रतिनिधियों का सम्मेलन हुआ। योजना तैयार करने के लिए संयुक्त समिति बनी। अक्तूबर के महीने में कलकत्ते में उस समिति की बैठक हुई। योजना को अंतिम रूप दिया गया।

अगले वर्ष कांग्रेस का अधिवेशन लखनऊ में होनेवाला था। उसी में इस योजना

को पेश होना था। देश की आँखें उसी पर लगी थीं। एक बड़ी बात होने जा रही थी। सबका जी धड़क रहा था। मुंशी जी की भी आँखें लखनऊ पर लगी थीं। गोरखपुर से बस रात भर का सफ़र था। एक वक़्त वह इन्हीं कांग्रेस के जल्सों के सिलसिले में अहमदाबाद तक का धावा मार चुके थे। बहुत ज़ोर से जी लखनऊ जाने के लिए तड़प रहा था मगर राहख़र्च कहाँ से आये? सौ-पचास रुपया पास में हो तब कहीं जाकर यह शौक़ पूरा हो। ११ दिसम्बर १९१६ को उन्होंने निगम साहब को लिखा —

दिसम्बर में लखनऊ जाने का इरादा तो करता हूँ। देखूँ ग़ैब[1] से मदद मिलती है या नहीं। इसी के लिए कई रिसालों में लिखा। एक साहब ने तो जवाब सी दूसरे साहब जाने क्या देंगे। हो सकेगा जाऊँगा नहीं तो न सही। तक़दीर में सुनना नहीं और तो कोई काम नहीं। अख़बारों में पढ़ लूँगा। और क्या करूँ। जब रात-ओ-रोज़ की मेहनत पर यह हाल है तो मालूम होता है इफ़्लास[2] से कभी नजात न होगी।

बहरहाल जा नहीं सके।

अधिवेशन असाधारण रूप से सफल रहा। कांग्रेस और लीग के बीच समझौता हुआ। गरमदल और नरमदल के बीच समझौता हुआ। मंच पर रासबिहारी घोष और सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी के साथ तिलक और खापर्डे बैठे थे। यह रासबिहारी घोष वही थे जिन्होंने नौ बरस पहले सूरत में तिलक को बोलने का मौक़ा नहीं दिया था। ऐसे कट्टर विरोधियों को आज एक साथ बैठे देखकर बहुत अच्छा मालूम होता था। मिसेज़ बेसेन्ट मौजूद थीं। मुसलमानों में राजा महमूदाबाद, एजाज़ रसूल और जिन्ना-जैसे लोग थे। और मौजूद थे मोहनदास करमचंद गांधी जिनकी कीर्ति उनसे पहले ही वहाँ पहुँच चुकी थी।

बिहार के कुछ लोग वहीं पर गांधी जी से मिले और उनसे चम्पारन के किसानों की करुण कथा कही। निलहे साहबों के अत्याचार का कहीं अंत न था। किसानों की हालत गुलामों से बदतर थी। सब ज़ुल्म सहते थे मगर चूँ भी न कर सकते थे। साहब लोग दिनदहाड़े मारकर फेंक देते थे और कोई उनका हाल पूछनेवाला न था।

आख़िरकार गांधीजी चम्पारन पहुँचे और हिन्दुस्तान में सत्याग्रह का पहला प्रयोग आरम्भ हुआ — जो कि असाधारण रूप से सफल रहा।

वहाँ से छुट्टी पाकर गांधी जी ने गुजरात पहुँचकर खेड़ा के किसानों की लड़ाई छेड़ दी।

---

१ अदृष्ट २ गरीबी

ये राष्ट्रीय जागरण के नये अध्याय थे — जिन्हें एक आदमी जो राजनीति की दुनिया से दूर था उठा-बैठा बड़े ध्यान से देख रहा था। गांधी जी के आने के साथ प्रेमचंद की पैनी आँखें उन पर पड़ गयी थीं। अपने हृदय स्थित सहज ज्ञान से उन्होंने संकेत पा लिया था कि यह आदमी जरूर कुछ करेगा। कुर्सीतोड़ राजनीतिज्ञों से कितना भिन्न है यह व्यक्ति जो राजनीति का पहला अर्थ जनसेवा समझता है, दुखी जनों के बीच जाता है, उनकी समस्याओं को समझने की कोशिश करता है, उनके दुख-दर्द में साथ देता है और उन्हीं को जगाकर संघर्ष में आगे ले जाता है। ऐसे ही देशसेवी महात्मा की कल्पना उन्होंने 'जलवए ईसार' में बाबाजी के रूप में की थी। बाबा जी विवेकानन्द थे। बाबा जी तिलक थे। बाबा जी गांधी थे। समय के साथ उनका रूप बदलता जा रहा था क्योंकि वास्तव में बात केवल रूप बदलने की थी, आत्मतत्त्व सबका एक था। उनका दिल गवाही दे रहा था कि इस तरह का काम कभी अकारथ नहीं जा सकता।

सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह के जो आदर्श गांधी जी देश के सामने रख रहे थे वह दरअसल उनके अपने मन के थे क्योंकि जिस रास्ते चलकर गांधी जी ने उन्हें पाया था बहुत कुछ उसी रास्ते चलकर प्रेमचंद भी उन्हें पा चुके थे। टालस्टाय की नीतिकथाएँ उन्होंने भी पढ़ी थीं, उनका असर अपने लिखने में लिया था और गांधी जी के रंग-मंच पर आने के पहले उनमें से तेईस कहानियों का भारतीय परिवेश के अनुसार रूपान्तर करके 'प्रेम प्रभाकर' के नाम से छपा चुके थे। इनमें टालस्टाय की लगभग सभी प्रसिद्ध नीति-कथाएँ आ गयी थीं — मनुष्य का जीवन आधार क्या चीज है? (व्हट म्यूसरवाई मेन लिव) एक चिनगारी घर को जला देती है (नेग्लेक्ट अ फ्लायर ऐण्ड इट विल नाट बी क्वेंच्ड) प्रेम में परमेश्वर (व्हेयर लव इज देयर गाड इज आलसो) बाल लीला (लिटिल गर्ल्स वाइजर दैन देयर एल्डर्स) एक आदमी को कितनी भूमि चाहिए? (हाउ मच लैण्ड डज ए मैन रिक्वायर?) अण्डे के बराबर दाना (द ग्रेन दैट वाज लाइक एन एग) धर्मपुत्र (द गाडसन) आदि।

प्रेम, दया, क्षमा, परोपकार, अहिंसा, त्याग, अपरिग्रह, आत्मशुद्धि की शिक्षा उन्होंने भी टालस्टाय से पायी थी। उसी प्रभाव में सेवा-मार्ग और उपदेश जैसी नीतिकथाएँ भी उन्होंने लिखीं जिनमें सेवा को ही, परोपकार को ही सबसे बड़ी सिद्धि बताया गया है।

मनुष्य में तत्त्व-वस्तु प्रेम है। प्रेम ही उन्हें जिलाता है। मनुष्य का जीवन आधार परमात्मा है। प्रेम और परमात्मा में कोई भेद नहीं है।

कोई तुम्हें गाली दे तो सह लो, वह स्वयं पछतायेगा। कोई तुम्हारे पास

पर एक थप्पड़ मारे तो दूसरा गाल उसके सामने कर दो वह लज्जित हो जायेगा।

उत्तम तीर्थयात्रा यही है कि व्यक्ति आजीवन हर प्राणी के साथ प्रेमभाव रखकर हर समय उपकार में तत्पर रहे। प्राणिमात्र पर दया करना ही परमात्मा का दर्शन करना है।

सबसे बड़ा धन सन्तोष-धन है। असल सुख त्याग में है।

पाप से पाप नष्ट नहीं होता। घृणा से घृणा और हिंसा से हिंसा का जन्म होता है।

अपना अन्तःकरण शुद्ध किये बिना दूसरों का अन्तःकरण शुद्ध करना असंभव है। जिस प्रकार खंभे को स्थिर किये बिना छत नहीं मुड़ सकती उसी प्रकार अपना चित्त स्थिर किये बिना दूसरों के चित्त को अपनी ओर मोड़ना कठिन है। जिस प्रकार मद्धिम आग गीली घास को नहीं जला सकती उसी प्रकार जब तक व्यक्ति का अपना चित्त प्रकाशस्वरूप नहीं हो जाता तब तक वह दूसरे को प्रकाशित नहीं कर सकता। इसी के भीतर से गांधी-दर्शन की यह आधारशिला निकलती है कि *आत्म शुद्धि अपने अधिकारों के संघर्ष का अविभाज्य अंग है।*

प्रेमचन्द के लिए ये कोरे नीतिवाक्य नहीं हैं, उनके सत्य को उन्होंने अपने चिन्तन-मनन अनुभव से पुनः उपलब्ध किया है। उनकी सच्चाई उनके भीतर गहरे बैठते-बैठते उनकी अपनी जीवनदृष्टि अपनी आस्था बन गयी है। तभी वह उनके साहित्य में निरन्तर रक्त की भाँति प्रवाहित है। 'पंचनाथ पंच परमेश्वर' और 'महातीर्थ' जैसी कहानियाँ जो इसी दौर में लिखी गयीं और जिनके पीछे यही जीवनदृष्टि काम कर रही है मन की गहरी निष्ठा से ही निकल *सकती हैं।*

साहित्य और जीवन के बीच कोई खाई या दीवार भी नहीं है। जीवन जिस जैसा जिया जाता है वही रसायन क्रिया से साहित्य बन जाता है — *राग का आवेग* लेकर, विवेक की निर्धूम अग्नि में तपकर, स्वप्न को भविष्य बनाकर। और साहित्य में जीवन का जो उदात्त स्वरूप चित्रित होता है उसकी प्रतिष्ठा स्वयं अपने जीवन में स्थापित करने की उत्सुकता कर्ता के मन में होती है। यह नहीं कि शिक्षा जो भी है सब दूसरों के लिए है। पहले उसे अपने जीवन में चरितार्थ करके दिखलाओ। *अपना अन्तःकरण शुद्ध किये बिना दूसरे का अन्तःकरण शुद्ध करना* असंभव है। जब तक अपना चित्त प्रकाशस्वरूप नहीं हो जाता तब तक वह दूसरे को प्रकाशित नहीं कर *सकता। साहित्य के पीछे कर्ता के जीवन का साक्ष्य साहित्य* को शक्ति देता है।

पौ फटने से पहले ही हल-बैल लेकर अपने खेत पर चले जानेवाले किसान का अनुशासित पर अनुशासन के आडम्बर से मुक्त जीवन ही उनका जीवन है।

मुँह अँधेरे ही वह उठ जाता है और फ़ारिग़ होकर घण्टे भर के लिये घूमने चला जाता है — और अब तो अक्सर स्कूल के सामने वाले अहाते में ही घूम लेता है। फिर वह घर लौटकर आता है तब तक घर के बाक़ी लोग भी उठ गये रहते हैं। फिर वह घर के ज़रूरी काम निपटाता है। नौकर से ज़्यादा काम लेना उसे पसंद नहीं है। अपना बिस्तर वह खुद उठा लेता है। अपनी धोती वह खुद छाँट लेता है। बीबी को कभी कभी नागवार भी गुज़रती है यह बात लेकिन वह अपनी आदत नहीं बिगाड़ना चाहता। उसे शर्म नहीं है कि वह खुद कभी पाँच रुपये का नौकर था। और क्या बुराई है छोटे-मोटे काम अपने हाथ से कर लेने में। अपने हाथ से पानी लेकर न पीने में कौन सी नवाबी है यह तो काहिलों की हरकत है। जिस आदमी के हाथ में काम करने से घट्टे न पड़े हों उसे खाना खाने का अधिकार नहीं है—टाल्सटाय की कहानी के नायक मूर्ख सुमन्त के राज्य में ऐसा ही विधान था और यह बात उसे बहुत पसन्द आयी थी। रत्ती भर शर्म नहीं है उसे कोई काम करने में। पत्ती तोड़कर बकरी के सामने डाल देता है। गाय की सानी बोर देता है। अपने कमरे में बाहर के बरामदे में झाड़ू भी लगा लेता है। चूल्हा जला देता है क्योंकि पत्नी बीमार है और चाची को यह सब काम पसन्द नहीं है। दूध गरम कर देता है और अक्सर खुद ही बच्चों का मुँह-हाथ धुलाकर उन्हें दूध पिला भी देता है। और फिर हल्का सा कुछ नाश्ता करके अपने काम पर बैठ जाता है।

लिखने के लिए उन्हें सवेरे का वक़्त ही सबसे ज़्यादा पसन्द है। स्कूल का समय होने तक इसी तरह बैठे लिखते रहते हैं फिर कपड़े बदलते हैं और ठीक वक़्त से स्कूल जा पहुँचते हैं।

वक़्त की पाबन्दी उनका मिज़ाज बन गयी है। यहाँ तो और भी ज़रूरी है वक़्त से पहुँचना — अच्छा उदाहरण रखना चाहिए इन छात्रों के सामने जो अध्यापक भी हैं और कल के रोज़ फिर अपने स्कूल वापस पहुँच जायँगे। उन्हें समझना चाहिए कि वक़्त बरबाद करना बहुत बड़ा गुनाह है। वक़्त की पाबन्दी के बिना कभी किसी क़ौम ने तरक़्क़ी नहीं की।

उनका एक छात्र मंज़ूरुल हक़ लिखता है— आपका नियम था कि स्कूल में आम तौर पर ठीक वक़्त पर पहुँच जाते थे। पहला घंटा और आप साधारण पोशाक में मिलते। अक्सर आप खुले सर, बाल बिखरे हुए, और एक कोट, जिसके बटन खुले रहते थे और धोती पहने एक अजीब

मंदाव से स्कूल आते थे। लड़के जितना उनका अदब करते थे किसी दूसरे का नहीं करते थे। मेरे दर्जे को वह इतिहास पढ़ाते थे। उनका दस्तूर यह था कि खुद इतिहास की पुस्तक लेकर पढ़ते चले जाते थे। चूँकि लड़के मिडिल और ट्रेनिंग पास होते थे इसलिए ज़्यादा दिक़्क़त नहीं पड़ती थी। एक घण्टे में जो कुछ पढ़ाना होता पन्द्रह मिनट में पढ़कर इतिहास के बारे में वह बातें बयान करते जो उस पुस्तक में न होतीं। नहीं मालूम उनकी जानकारी कितनी अथाह थी। अक्सर ऐसा होता कि जो कुछ इतिहास की पुस्तक में से पढ़कर सुनाते उसके ख़िलाफ़ इतिहास के दूसरे हवालों से बयान करते। कुछ घटनाओं के बारे में यह भी दिखलाते *कि सिर्फ़ हिन्दू-मुसलमानों में फूट डालने के लिए उनको लिखा गया है।* घण्टा ख़त्म होने के पहले यह भी कह देते कि देखो जो कुछ मैंने बयान किया है वह समझने की चीज़ है इम्तहान में वही लिखना जो तुम्हारी किताब में है वर्ना फ़ेल हो जाओगे।

स्कूल की अपनी मजबूरियाँ थीं और ख़तरा भी कम नहीं था लेकिन जहाँ तक मुमकिन हो राष्ट्रीय शिक्षा का काम उससे भी क्यों न लिया जाय। मसलन् एक रोज़ उन्होंने यह भी बतलाया — आज से साठ बरस पहले जब कम ही लोगों की नज़र इस चीज़ पर गयी थी — कि सिराजुद्दौला के समय का ब्लैकहोल का वाक़या बिल्कुल मनगढ़न्त और ग़लत है। यह एक अंग्रेज़ अफ़सर की बनायी हुई कहानी है जिसका उद्देश्य केवल यह है कि बंगाल पर क़ब्ज़ा जमाने के लिए उनके पक्ष को नैतिक बल मिल जाय।

ग़रज़ कि उनका घण्टा अजीबोग़रीब जानकारियों का घण्टा होता। कोर्स की पढ़ाई तक अपने को सीमित रखने का जो तरीक़ा दूसरे मास्टरों का था वह उनका नहीं था। और न वह चाहते थे कि लड़कों को रट्टू तोता बनाकर और किसी तरह इम्तहान पास कराके अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ ली जाय। ख़ासकर नार्मल स्कूल के उन बड़े-बड़े लड़कों को जो ख़ुद भी मास्टर थे अच्छे ख़ासे जवान आदमी थे मुल्क को उनसे उम्मीदें थीं। एक गिरे हुए, पराधीन देश को ऊपर उठाना था आज़ाद करना था। उनके भीतर वैसी भावना का संचार उनके मास्टर का नहीं तो और किसका काम है? शिक्षा-संस्थान से नहीं तो और कहाँ से उन्हें त्याग साहस देशप्रेम और देशसेवा का सबक़ मिलेगा? हमारी जवान पीढ़ी आलसी हो, कायर हो स्वार्थी हो विलासी हो तो हम क्या इसकी ज़िम्मेदारी से बरी हो सकेंगे?

कोई और इन बातों को सोचे या न सोचे मुंशीजी ज़रूर सोचते हैं और इसी लिए उनका पढ़ाने का तरीक़ा दूसरों से काफ़ी अलग है। उनकी कोशिश लड़कों को नोट लिखाने और ब्लैकबोर्ड पर नक़्शा बनाने में ख़र्च न होकर उन्हें मन और शरीर से स्वस्थ मनुष्य बनाने में ख़र्च होती थी।

पर वृत्तियों का यह संस्कार गुरु के प्रवचन से अधिक गुरु के आचरण से होता देखा गया है। वही यहाँ भी हुआ। वास्तविक संस्कार लड़कों ने अपने गुरु के स्वाभिमानी और साहसपूर्ण आचरण का लिया। उसी की स्मृति आज चालीस बरस बाद भी उनके मानस-पटल पर ज्यों की त्यों अंकित है।

प्रवचन देना उनके स्वभाव के प्रतिकूल था। उन्हें तो सबसे एक संबंध का पता था — बराबरी का संबंध मैत्री का संबंध। खुली तबीयत के आदमी थे अपने और लड़कों के बीच किसी तरह की दूरी उन्हें मंजूर न थी। क्या घर में और क्या बाहर, अधिकार जतलाना उन्हें हर दर्जे का छोटापन मालूम होता था। वह अधिकार ही क्या जिसे जतलाना पड़े! अधिकार वह जो सहज मिले अनायास। और वैसा ही स्नेह का अधिकार उन्हें लड़कों पर था जैसा दूसरे किसी का न था।

हर वक्त चेहरे पर मुस्कराहट खेलती रहती। घर पर, स्कूल में सब जगह लड़कों से बराबरी की सतह पर मिलते। उनकी हँसी-खुशी में शरीक रहते। होली में बहुत बेतकल्लुफ़ी से उनके साथ रंग खेलते ईद में उनसे गले मिलते। बोर्डिंग हाउस के मुआइने के लिए जब वह अपने चक्कर पर निकलते तो लड़कों को उनसे डर न लगता अपनापन मालूम होता कि जैसे अपने ही घर का कोई बड़ा आदमी आया हो जिससे अपना सब तकलीफ़-आराम कहा जा सकता है।

धीरे-धीरे लड़के उनको बहुत ही ज़्यादा चाहने लगे और उनका जी करता कि मास्टर साहब हमसे कोई काम लें। मगर मास्टर साहब जिन्हें नौकर तक से काम लेना बहुत पसन्द न था लड़कों से भला क्या काम लेते — लेकिन हाँ एक काम वह ज़रूर दो-एक खास लड़कों से कभी और अधिकतर लेते। वह था कहानियों को साफ़ करना। यह उनका बराबर का दस्तूर था। शायद इसी को वह अपनी पुर-बख़्शिश समझते थे। जो लड़का इस काम को जितनी ही ख़ुशी से कर लाता उनसे उतना ही ज़्यादा खुश रहते। यह एक तरह की रिश्वत थी जिससे मन में उन्हें परहेज़ न था।

दर्जे में दर्जे के बाहर, सब जगह सब समय वह आदमी एक-सा ही था — उतना ही सादा मिलनसार, सीधा हँसता हुआ। सख़्त या चुभती हुई बात कहना डाँट डपट करना या किसी ग़लती के लिए कोई कड़ी सज़ा देना उन्हें बिल्कुल नापसन्द था। भाईचारा और रवादारी ही उनका उसूल था और इसी की मदद से वह बराबर अपने दर्जे में और बोर्डिंग हाउस में अनुशासन बनाए रहते थे। क्षमा की शक्ति उनके लिए कोरा नीति-वाक्य न थी। उसमें उनका गहरा विश्वास था और वह उसे अपने शासन प्रबन्ध में बराबर बरतते थे। दर्जे में हाज़िरी पर भी कोई कड़ी पाबन्दी न थी लेकिन यह कुछ उनके व्यक्तित्व और उनके पढ़ाने के रोचक ढंग

की विशेषता थी कि उनके दर्जे में उपस्थिति सबसे अच्छी रहती। उनका एक छात्र लिखता है—

क्लास में उनके आते ही ऐसी दिलचस्पी पैदा हो जाती थी कि हर एक का ध्यान उनकी तरफ़ लग जाता। यह ज़रूरी न था कि जो विषय पढ़ाना है वही पढ़ाया जाय बल्कि जिस विषय की ओर उनका झुकाव या लड़कों का तक़ाज़ा हुआ उसी के बारे में बताने लग जाते। अगर क्लास में पढ़ाते वक़्त कोई हँसी की बात आ गयी तो बेअख़्तियार हँसने लगते। उनको किसी का डर नहीं था। एक बार की बात है कि इन्सपेक्टर साहब मुआइने के लिए आये। बाबू देवनलाल साहब हेडमास्टर जो बहुत सीधे आदमी थे कुछ परेशान-से थे। तमाम लड़के भी अपनी-अपनी ड्रेस पहने हुए थे मगर हमारे उस्ताद का वही आलम था—नंगे सर, बाल बिखरे हुए, कोट का बटन खुला हुआ। इंसपेक्टर साहब क्लास में आये मगर उसका भी कोई असर न हुआ। कुछ अंग्रेज़ी में बातचीत हुई, उसके बाद इंसपेक्टर साहब चले गये।

तबीयत का ऐसा खरापन और इतनी बेलौस सादगी ज़रा मुश्किल से देखने में आती है और इसी का जादू था जो तमाम लड़कों को बेअख़्तियार अपनी तरफ़ खींच लेता था। और बर्ताव में सबके संग निष्पक्ष न्याय। इन्हीं गुणों के बल पर मुंशीजी ने काफ़ी सफलतापूर्वक पूरे तीन साल तक बोर्डिंग हाउस की सुपरिंटेण्डेण्टी की वर्ना उनके बस का रोग न था यह। प्रबन्ध-कौशल में बहुत-कुछ कोरे थे। लेकिन जो काम प्रबन्ध-कौशल से नहीं होता वह सद्भावना से हो जाता है—जो वह छोटे-बड़े सबको समान रूप से देते थे।

जग्गू उनका अपना नौकर था। था तो बोर्डिंग हाउस का नौकर मगर कुछ पैसों के एवज़ उनके घर का काम भी करता था।

सुभान मुलाज़िम मेस का बावर्ची था।

मुहम्मद स्कूल का दफ़्तरी या जिल्दसाज़ी का काम करता था।

सभी के साथ उनका सलूक एक-सी नर्मी और हमदर्दी का था। अक्सर ज़रूरत पड़ने पर रुपयों से भी उनकी मदद करते। मुहम्मद दफ़्तरी बहुत दुखी-सा आदमी था जिसकी ज़िन्दगी पर उन्होंने एक अच्छी कहानी भी लिखी। ("दफ़्तरी बिल्कुल लाइफ़ से लिया गया है। तख़य्युल का बहुत कम दख़ल है। —इम्तियाज़ अली ताज के नाम पत्र २५ दिसम्बर १ १) दूसरी शादी की थी। आमदनी कम और ख़ानदान लम्बा। ऊपर से बीबी चटोरी अलग से। आये दिन

---

१ कल्पना

तंगदस्ती उसे घेरे रहती। घर में महाभारत मचा रहता। ऐसी हालत में मुंशीजी और बच्चों की तरह उनकी भी मदद करते। रुपयों की वापसी के लिए कभी तकाजा न करते। तनख्वाह मिलने पर वह खुद से दे जाते तो ले लेते। इस तरह के लेन-देन में पैसे कभी डूब भी जाते। मगर उस वक्त मुंशीजी को उन पैसों के डूबने का गम उतना न होता जितना बीवी की नाराजगी और सख्त-सुस्त बातों का डर।

अब तक पढ़ाने के साथ-साथ उनकी राष्ट्रीय भावना का भी संस्कार हो चुका था हिन्दू-मुस्लिम एकता की बात उनके भीतर काफ़ी गहरी जड़ जमा चुकी थी। और जिस तरह उनका कोई भी सिद्धान्त मौखिक न रहकर तत्काल उनके आचरण में दिखलायी देता था वैसे ही इस मामले में भी उन्होंने बोर्डिंग हाउस की अपनी तीन मास की अधीक्षकता में अपनी इस छोटी-सी दुनिया में दोनों जातियों के बीच भाईचारे को मजबूत करने के लिए कुछ भी उठा नहीं रखा। जैसा कि उनके उस वक्त के एक छात्र मुहम्मद हनीफ़ खाँ ने अपने बयान में कहा है —

"वह हिन्दू-मुस्लिम इत्तहाद के बड़े हामी थे। नार्मल स्कूल गोरखपुर में कमोबेश डेढ़ सौ मुतअल्लिम[1] तालीम हासिल कर रहे थे जिनमें तकरीबन तमाम प्यूपिल टीचर मुस्लिम थे। जुलाई सन् १६ से अप्रैल सन् १७ तक पूरे एक साल में एक भी ऐसा वाक़या नहीं आया जिसमें हिन्दू-मुस्लिम फ़ीलिंग क़ायम हो। कभी किसी ने ऐसा मौक़ा पैदा करना चाहा जिससे फ़िरक़ेवाराना जज़बात[2] मुश्तइल[3] हों तो उसे आप न सिर्फ़ दबा देते थे बल्कि मुतअल्लिमों के दिलों से इस ख्याल को निकाल देने की कोशिश करते थे।

ऊँच-नीच, हिन्दू-मुसलमान, छूत-छात — इन हिमाकतों से उन्हें कोई मतलब न था। बहुत-से माँ-बाप को इसकी बड़ी चिन्ता रहती है कि उनके बच्चे अपने जैसों के साथ ही खेलें, नीची जात के बच्चों के साथ न लगें और मुसलमानों से तो और भी दूर रहें। कभी गंदी आदतें सीख जाने की दलील दी जाती है, कभी बीमारियाँ लग जाने की, कभी यह कि नीच कौमवाले टोना-टोटका कर देते हैं, कभी यह कि क्या ठिकाना इन लोगों का, कोई जहर-माहुर खिला दे तो

"मुंशीजी को इस तरह की बातों से बेहद चिढ़ थी। उनके यहाँ बच्चों की आमदरफ़्त पर न उस वक्त कोई पाबन्दी थी और न आगे कभी रही। इतना ही नहीं कि वह खुद इसी तरह घुल-मिलकर बड़े हुए थे, बच्चों में इस तरह भेद-भाव करना उनके नज़दीक एक भयानक सामाजिक अन्याय था और शायद उनका विश्वास

---

१ विद्यार्थी २ भावनाएँ ३ भड़कें

था कि बच्चों के स्वस्थ मानसिक विकास के लिए यह ज़रूरी भी है कि बच्चे सब साथ खेलें-कूदें। उनके भीतर यह ऊँच-नीच का भाव डालना खुद उनकी मिट्टी ख़राब करना है।

बेटी का ज़्यादा वक़्त सुभान के घर पर ही बीतता था। मौक़ा मिलते ही बेटी दो-तीन साल के मुन्नू को लेकर सुभान के घर पहुँच जाती और घण्टों वहीं रही आती। सुभान की बेटी सरिया और बेटे सिराजू से उसकी बड़ी पक्की दोस्ती थी। मुहम्मद बख़्तरी के बेटे बुद्दन से भी उसकी काफ़ी जमती थी लेकिन सबसे अच्छा लगता था सुभान के घर। बुद्दन की माँ बहुत चिड़चिड़ी थी। सरिया की माँ ऐसी नहीं थी। और फिर वहाँ पर सरिया थी। उसके साथ घरौंदे बनाने में गुड्डे-गुड़िया का ब्याह रचाने में बड़ा मज़ा आता था। घर में बकरियाँ पली थीं। उनके बच्चे कैसे प्यारे लगते हैं! कैसी रेशम जैसी खाल होती है उनकी! उनके कान छूने में कितना मज़ा आता है!

सरिया की माँ जहाँ सरिया और सिराजू को खाने के लिए रोटी-गुड़ देती वहाँ बेटी को भी पकड़ा देती। एक रोज़ बेटी वही रोटी लिये-लिये घर पहुँच गयी। अम्माँ ने देखा तो आगबबूला हो गयी और बेटी को चार-छः थप्पड़ रसीद किये। लेकिन दो-चार रोज़ में बात आयी-गयी हो गयी और फिर वही सिलसिला चल निकला।

घर के सामने सहन था जिसे अक्सर वह खुद ही खुरपे से साफ़ कर लिया करते थे। आम नीम कटहल के कई पेड़ लगे थे। उन्हीं की छाया में दो-चार कुर्सियाँ दो-एक खाटें पड़ी रहतीं। यही उनकी बैठक और आरामगाह सब कुछ थी।

स्कूल से लौटते तो हल्का-सा कुछ नाश्ता करके अक्सर दूसरे-तीसरे साग सब्ज़ी सौदा-सुलुफ़ लेने बाज़ार चल जाते और वहाँ से लौटते तो फिर उन्हीं पेड़ों के साये में आसन जमाते अख़बार पलटते पत्र-पत्रिकाएँ देखते दोस्तों से गप शप करते और अपने क़हक़हों से उस जगह को आबाद कर देते। तब तक शाम हो जाती और वह अपने कमरे में कुछ लिखने-पढ़ने चले जाते। फिर खाना खाने और वहीं सामने थोड़ा-सा टहलकर दस बजे के लगभग बिस्तर पर चले जाते। पेट के मरीज़ को रात का ज़्यादा देर तक जागना यों भी मना है और फिर उन्हें सबेरे मुँह अँधेरे उठना रहता।

यही उनकी रोज़ की दिनचर्या थी। एक दिन फिर दूसरा दिन फिर निहायत बँधा-टका जीवन कलाकार का नहीं किसान का जिसके हाथ में कुदाल की जगह क़लम थी।

इन्हीं दिनों एक रोज़ अचानक उनकी मुलाक़ात रघुपतिसहाय फ़िराक़ से हुई जो आगे चलकर उम्र भर की दोस्ती बन गयी। उसकी दास्तान खुद फ़िराक़ साहब की ज़बानी सुनिए—

● आज से पचास-पचपन साल पहले पूरे हिन्दोस्तान में जो लोग उर्दू साहित्य में रुचि रखते थे उनके पास एक ही मासिक पत्रिका पढ़ने के लिए थी — कानपुर का रिसाला 'ज़माना'। पहले-पहल शायद सन् १९ में एक कहानी इस रिसाले में मैंने पढ़ी जिसका नाम था 'बड़े घर की बेटी'। मेरे घर में बल्कि मुहल्ले में इस कहानी की चर्चा थी। पहली बार कोई चीज़ पढ़कर मेरी आँखों में आँसू आये थे तो वह चीज़ यह कहानी थी। घरेलू जीवन की एक ऐसी जीती-जागती झलक इस कहानी में थी जिसकी मिसाल उस समय तक के उर्दू और हिन्दी-साहित्य में कहीं नहीं मिलती थी। सबसे बड़ी बात उस कहानी में यह थी कि वह लड़कों और लड़कियों तक को सोचने पर मजबूर करती थी। उसी समय से मुझे कुछ ऐसा मालूम होने लगा कि प्रेमचंद आदमी के रूप में शायद कोई देवता है। अब तो मैं यह सोचता हूँ कि जिस ठेठ मानवता की झलक मुझे इस कहानी में मिली थी उसका देवता और फ़रिश्ते महत्त्व है।

मैं स्कूल से निकलकर कालेज में आ चुका था और म्योर कालेज इलाहाबाद में बी. ए. में पढ़ रहा था। गर्मी की छुट्टियों में मैं गोरखपुर आया हुआ था और तीसरे पहर को कायस्थ बैंक की शानदार इमारत में जब मैं एक दिन पहुँचा तो मुझे अपने पुराने दोस्त महावीरप्रसाद पोद्दार वहाँ मिले। बैंक के लंबे-चौड़े बरामदे में चारपाइयाँ और कुर्सियाँ पड़ी थीं। पोद्दार जी के साथ कोई एक और साहब बैठे हुए थे — गोरा-चिट्टा रंग, मियाना क़द, बड़ी-बड़ी आँखें, घनी-घनी मूँछें, सर के बाल और मूँछें कुछ सुनहरे रंग की। घुटने से कुछ ही नीचे आनेवाली धोती और मोटे खद्दर का कुर्ता पहने हुए थे। मैं पोद्दार जी से बातें करने लगा। उन साहब की तरफ़ मुख़ातिब भी न हुआ, न उनका परिचय पोद्दार जी ने कराया।

ओंकार प्रेस से मशहूर लोगों के संक्षिप्त जीवनचरित की एक पुस्तकमाला निकल रही थी जिसकी हर किताब का दाम चार आना होता था। इसी पुस्तकमाला की बात चल गयी। मैंने यह राय ज़ाहिर की कि हिन्दोस्तान के मशहूर लोगों के जीवनचरित छापकर इस पुस्तकमाला ने अच्छा काम किया लेकिन अब्राहम लिंकन जैसे भारतीय जनता में अपरिचित लोगों का जीवनचरित छापना बिल्कुल बेकार है। मेरी यह बात सुनकर पोद्दार जी के पास जो साहब बैठे हुए थे उन्होंने बड़े ज़ोर का क़हक़हा मारा और बिना परिचय हुए ही मुझसे कहने लगे — आख़िर लिंकन ने क्या क़सूर किया है कि उनको इस पुस्तकमाला में जगह न दी जाय?

फिर प्रेमचंद का ज़िक्र आया और मैं जो कई बरसों से गहरे तौर पर प्रेमचंद की कहानियों से प्रभावित हुआ था प्रेमचंद के प्रति अपनी श्रद्धा और प्रशंसा के भाव प्रकट करने लगा। बीच ही में पोद्दार जी ने कुछ रहस्यपूर्ण स्वर में मुझसे पूछा—आप प्रेमचंद से मिलेंगे? मुझे यह बात इतनी अनहोनी मालूम पड़ी कि उनकी बात का विश्वास ही नहीं हुआ। मैंने कहा—मैं तो यह भी नहीं जानता कि प्रेमचंद कौन हैं और कहां रहते हैं। मैं उन्हें कैसे देख सकूंगा

मैं यह कहना चाहता हूं कि प्रेमचंद के नाम का जो असर मेरी कल्पना पर था प्रेमचंद को देखकर उस असर को कुछ ठेस-सी लगी। मैं यह समझता था कि इतना महान लेखक सूरत-शक्ल और लिबास में इतना सादा और दूसरे आदमियों की तरह का न होगा। मैं एक बहुत रोबीले और ठाट-बाट के आदमी की कल्पना को अपने दिल में पाले हुए था। ●

फ़िराक़ के पिता मुंशी गोरखप्रसाद 'इबरत' शायर थे ज़िले के नामी वकील थे ढेरों पैसा कमाया और शराब-कबाब में उड़ाया था।

अपनी दास्तान जारी रखते हुए 'फ़िराक़' कहते हैं—

● प्रेमचंद का घर मेरे लिए दूसरा घर हो गया था। तीसरे पहर को मैं रोज ही उनके घर पर पहुंच जाता था। आम तौर से मकान के बाहर सहन में दो-तीन कुर्सियां पड़ी रहती थीं और प्रेमचंद एक कुर्सी पर बैठे होते थे मैं भी आकर बैठ जाता था बातें शुरू हो जाती थीं और घंटों तक होती रहती थीं।

इन बातों के दौरान में मुझे अनुभव होने लगा कि प्रेमचंद उर्दू कविता से बहुत कम प्रभावित होते थे। वह कुछ ऐसे बने ही थे कि उर्दू ग़ज़ल की नज़ाकतें और नफ़ासतें उनके पल्ले बहुत कम पड़ती थीं। इससे मेरे दिल को चोट लगती थी। वह ऐसे साहित्य के बहुत कम क़ायल थे जिसमें रूप और प्रेम या ऐन्द्रिक प्रेरणाओं को सबसे बड़ा महत्त्व दिया जाता है। स्त्री उनके लिए बहन, बेटी, मां, पड़ोसिन सहचारी जीवन-साथी गृहलक्ष्मी देवी सब कुछ हो सकती थी और ऐसी स्त्री के चरित्र भी उनकी रचनाओं में कई एक मिलते हैं। लेकिन ऐन्द्रिकता के बल पर छा जानेवाली हस्ती के रूप में स्त्री का चरित्र उनकी चेतना में न आ सकता था। प्रेमचंद त्यागी या वैरागी आदमी नहीं थे लेकिन यह भी बात थी कि ऐन्द्रिक प्रेम का वह महत्त्व नहीं दे पाते थे। वह शेक्सपियर के सानेटों उर्दू-फ़ारसी की ग़ज़लों शेक्सपियर के अनेक नाटकों यानी कि विश्व-साहित्य के उस हिस्से को जिसमें ऐन्द्रिक प्रेम एक बड़ी और दैवी शक्ति बन गया है, अपना नहीं पाते थे। टाल्सटाय के नाविल 'ऐना करेनिना' की वह मुक्त कंठ से प्रशंसा करते थे। टाल्सटाय के क़लम का जादू

उन पर जम गया था लेकिन जैसा कि मैंने अपने एक शेर में कहा है 'बात वो कह ऐ ज़ौक़ कि सुनकर सब क़ायल हों कोई न माने' —कुछ इसी तरह की प्रतिक्रिया उन पर 'ऐसा करेंगिना' पढ़कर हुई थी।

मैं स्वयं प्रचण्ड ऐन्द्रिक प्रेरणाओं के ऐसे झटकों का शिकार रहा हूँ जो ज़िन्दगी को जड़ से उखाड़ फेंकने की ताक़त रखते थे लेकिन मैं अब इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि ऐन्द्रिकता और जीवन की दूसरी महान् प्रेरणाओं में जब तक मेल नहीं होगा ऐन्द्रिकता आदमी को ले डूबेगी।

आम तौर से दो-ढाई घंटा दिन रहे मैं प्रेमचन्द के पास जाया करता था और जब दिन ढलने को होता तो वह एक बनारसी गमछा हाथ में लेकर रोज़ पास ही के उर्दू बाज़ार में तरकारी ख़रीदने चले जाया करते थे और मैं अपने घर लौट जाता था।

प्रेमचंद अब कभी-कभी मेरे घर भी आने लगे थे। उनके घर और मेरे घर में कुल दो सौ गज़ का फ़ासला था बल्कि मेरे घर से उनका घर दिखायी पड़ता था। एकाध बार मेरे पिता जी से भी वह मिले लेकिन यह मुलाक़ात कुछ रस्मी क़िस्म की रही। ●

पर फ़िराक़ के बड़े भाई मगनत सहाय से जो तपेदिक़ के शिकार होकर जल्दी ही दुनिया से उठ गये ज़्यादा राह-रस्म थी। मुंशी जी गाहे-ब-गाहे उनके पास से मदाम ब्लावात्स्की और कर्नल ओल्काट की लिखी हुई थियासोफ़ी की किताबें लाकर पढ़ते थे।

प्रेमचंद और फ़िराक़ के स्वभाव में अधिकतर बातें बिल्कुल विरोधी थीं लेकिन यह चीज़ उनको एक-दूसरे के पास आने से न रोक सकी बल्कि परस्पर प्रेम में सहायक ही हुई। जब भी फ़िराक़ गोरखपुर में होते उनकी अक्सर हर शाम मुंशी जी की सोहबत में बीतती। घंटों उनकी बैठक जमती और साहित्य समाज राजनीति सब पर खूब तेज़-तेज़ बातें होतीं। प्रेमचंद की जानकारी इनके बारे में अथाह थी लेकिन फ़िराक़ के पास हर सवाल पर एक अछूती मौलिक दृष्टि रहती जो मुंशीजी को बहुत आकर्षक लगती।

फ़िराक़ ने अभी लिखना शुरू ही किया था लेकिन प्रेमचंद को उनकी प्रतिभा पहचानते देर नहीं लगी और जैसा कि उनका स्वभाव था वह फ़िराक़ को सामने लाने का यत्न करने लगे। निगम साहब को उन्होंने लिखा— आज की डाक से एक मज़मून भेजता हूँ। एक नज़्म भी है जो मेरे क़दीम दोस्त बाबू रघुपति सहाय ने भगवद्गीता की नवमी मंज़िल से तर्जुमा की है। यह इम्तहान डिप्टी कलेक्टरी में कामयाब हो गये हैं। हम-ख़्याल आदमी हैं। शेरो-सुख़न का चर्चा

पसंद है। हाँ इस नज़्म में कुछ नौमश्क़ी[1] की फ़रोगुज़ाश्तें[2] रह गयी हैं। क्या अच्छा हो कि आप मुंशी नौबतराय या किसी दूसरे उस्ताद से इसकी इस्लाह[3] करा लें।

यह शिष्टाचार की या महज़ रस्मी दिलचस्पी न थी। महीने भर बाद मुंशीजी ने निगम साहब को फिर लिखा — बाबू रघुपति सहाय आजकल कानवोकेशन के वास्ते न गये हुए हैं। आदमी ख़ुशफ़हम है। मिज़ाज फ़लसफ़ियाना[5] है। मुस्तैद है। मगर ज़रा मुतकब्बिर[6] है।

अच्छाई-बुराई कुछ भी नज़र से छिपती न थी लेकिन निगाह ठहरती अच्छाई पर थी।

नयी प्रतिभा को पहचानने सँवारने और सामने लाने में मुंशीजी ने कभी आलस्य नहीं किया। आजीवन काम के बोझ से दबे रहे लेकिन जैसे भी हुआ इसके लिए समय निकाला। दर्जनों नयी प्रतिभाओं को सामने लाये (हिन्दी की एक पूरी पीढ़ी उनके हाथ की सँवारी हुई है) जिनमें से अनेक आगे भी साहित्य में चलीं और जो नहीं चल सकीं वह प्रोत्साहन की कमी नहीं बल्कि अपनी किसी आन्तरिक दुर्बलता के कारण।

नये लेखक को सँवारने और आगे लाने की उनकी अपनी ही शैली थी। बड़े अनुभव और बड़ी अन्तर्दृष्टि से अर्जित। वह जानते थे कि नये लेखक को अपनी रचना के प्रति कैसी विशेष ममता, कैसा असाधारण मोह होता है। दुनिया को वह अपने सामने धूल समझता है। आसमान के तारे तोड़ लाने के मंसूबे उसके दिल में होते हैं। अपनी कम या ज़्यादा प्रतिभा के बल पर वह अपना अन्धमेव का चोला छोड़ता है। किसकी हिम्मत है जो उसे हाथ भी लगा सके। अपनी आलो चना के प्रति अक्सर वह बहुत असहिष्णु होता है। इतना अहंकार ठीक नहीं। लेकिन उसको धुत्तकार मारकर तोड़ा नहीं जा सकता धीरे-धीरे ही उसका संस्कार संभव है। धुत्तकार मारने में ख़तरा है क्योंकि उसके दो ही नतीजे निकल सकते हैं — या तो अहंकार और भी भयानक रूप ले ले या उस अहंकार के साथ-साथ लेखक भी हमेशा के लिए टूट जाय।

इसलिए फूँक-फूँककर आगे बढ़ना होता। और मुंशीजी ने इसकी एक बिल्कुल मुंशियाना तरकीब निकाली। जहाँ प्रतिभा का बीज नज़र आता वहाँ पहले ख़त या पहली मुलाक़ात में तो वह रचना की दुर्बलताओं को एक सिरे से

---

१ नौसिखियेपन २ भूलें ३ संशोधन ४ [illegible] ५ दार्शनिक
६ घमंडी

पी जाते और चार हाथ आगे बढ़कर तारीफ़ करते जो उस नये लेखक को निरस्त्र करने के लिए बहुत काफ़ी होता। धीरे-धीरे, सामीप्य बढ़ने पर, कमज़ोरियों की तरफ़ उसका ध्यान दिलाते। लेकिन वह भी ऊँचे आसन पर बैठकर नहीं, मित्रता के धरातल पर, बराबरी के धरातल पर। बहुतों ने इस बात को लिखा है। लेकिन दूसरों की कौन कहे जब कि खुद अपने बच्चों के साथ, नौकरों के साथ, मातहतों के साथ, सब के साथ उनका यही ढंग था। उन्हें 'आदमी' दो इंसानों के बीच दूसरे किसी संबंध का पता ही न था। बड़प्पन की महिमा से अधिक गर्हित उनके समीप और कुछ न था।

उनके छोटे लड़के अमृत ने लिखा है—

● मैं अपनी बात कहता हूँ, वह मेरे सबसे प्यारे दोस्त थे। मुझे याद ही नहीं आता कि उन्होंने कभी किसी बात पर एक कड़ा शब्द भी मुझसे कहा हो। यहाँ तक कि पढ़ने के लिए भी नहीं। हाँ अगर इस सिलसिले की कोई बात मुझे याद है तो यही कि एक बार जब मैं छुट्टी का दिन भर मस्ती-गपाड़ी में गँवाकर शाम को कमरे में बैठा भूगोल का होमवर्क कर रहा था जो कि अगले रोज़ मास्टर साहब को दिखलाना था तो उन्होंने डाँटकर मुझे कमरे से बाहर कर दिया था और कहा था, जाओ खेलो, शाम को कभी घर में मत रहा करो। मुझको अच्छी तरह याद है कि हम लोग बाबू जी के संग खाना खाने के लिए कितना तरसते थे और किसी दिन उनके बगैर न खाते थे, रात दस-ग्यारह बजे तक बैठे उनकी राह देखा करते। नींद से आँखें झँपी जातीं, कभी-कभी तो हम सो भी जाते, मगर तब भी उनके संग खाना खाने का लोभ संवरण न कर पाते थे। यह बात देखने में छोटी मालूम पड़ती है मगर इतनी छोटी नहीं है। बाप-बेटे में इतनी सहज और गहरी मैत्री बराबर के दोस्तों जैसी कम ही देखने में आती है। हर छोटी-बड़ी बात में यह मैत्री दिखायी देती है। मुझे याद आता है सन् ३५ के दिनों की बात है। मेरी उम्र तब चौदह के आसपास थी, इलाहाबाद में रहता था, हाई स्कूल में पढ़ता था और प्रेमचंद बम्बई से लौटकर बनारस आ गये थे। मैंने तब साल डेढ़ साल पहले लिखना शुरू ही किया था और अपनी एक कहानी बाबू जी के पास उनकी राय और इस्लाह के लिए भेजी। वह कहानी कुछ ऐसी थी जिसमें करुण रस की स्रोतस्विनी बहाने के उद्देश्य से मैंने अपने सभी प्रधान पात्रों को मौत के घाट उतार दिया था। मृत्यु से अधिक करुण तो कोई चीज़ होती नहीं, अगर करुण रस का पूर्ण परिपाक करना है तो कहानी में दो-चार मौतें तो होनी ही चाहिए! लिहाज़ा नायक-नायिका सब मर गये। यहाँ से वहाँ तक लाशें ही लाशें नज़र आती थीं। बाबूजी ने कहानी पढ़कर बड़े दोस्ताना अंदाज़ में मुझे लिखा कि कहानी तो अच्छी है, बस एक बात

है कि इतनी मौतें न हों तो अच्छा क्योंकि ऐसी कहानियाँ कमज़ोर मानी जाती हैं जिनमें लेखक को करुणा पैदा करने के लिए मौत का सहारा लेना पड़ता है। वैसे मैं ख़ुद इसी मर्ज़ का शिकार हूँ। बाक़ी सब बहुत ठीक है।

बाक़ी उसमें था ही क्या मेरी बचकानी कोशिश थी। लेकिन मैंने बहुत सुपीरियर अंदाज़ में उनको जवाब लिखा कि हाँ जो बात तुम लिखते हो वह आम तौर पर सही हो सकती है लेकिन जहाँ तक इस कहानी का ताल्लुक़ है, ये मौतें बचायी नहीं जा सकती क्योंकि कहानी का यही तर्क है। इसी क़िस्म की कोई बात मैंने लिख दी जिसके बाद वह चुप हो रहे। और करते भी क्या। ●

छोटे से छोटे लेखक से भी मुंशी जी बराबरी की सतह पर आकर ही बात कर सकते थे और उसी की एक छोटी-सी मिसाल है यह कि अपने बेटे से बात करते समय भी जिसे अभी क़लम पकड़ने का शऊर भी नहीं था उन्होंने यह एक छोटा-सा पर उसके मन को किस ख़ूबी के साथ खोल देनेवाला वाक्य लिखना ज़रूरी समझा —वैसे मैं ख़ुद इसी मर्ज़ का शिकार हूँ। यह वाक्य लिखते ही जैसे सब दूरियाँ मिट गयीं और ऐसा लगा कि वह गले में बाँहें डालकर बात करने लगे। दूसरा ढंग उन्हें नहीं आता था। छोटे-बड़े का भेद उनके मिज़ाज के लिए बनावटी और तकल्लुफ़देह था।

फ़िराक़ के साथ भी उनकी ऐसी ही दोस्ती थी और बहुत अच्छी साहित्यिक दोस्ती थी। बहुत ख़ुशी हुई। फ़िराक़ शायर थे ग़ज़लें कहते थे अपनी और दूसरों की ढेरों ग़ज़लें सुनाते थे लेकिन मुंशी जी उनकी तरफ़ कम ही पसीजते थे। मन का साँचा ही कुछ ऐसा बन गया था कि अक्सर ग़ज़लों का जादू उन पर न चलता। आशिक़ी-माशूक़ी की गर्म और ठण्डी साँसें माशूक़ की एक-एक अदा और अंगों के एक-एक मोड़ को चटख़ारे ले-लेकर बयान करना दिल में आशिक़ का नश्तर चाक करना और छाती कूटना —यह सब मुंशी जी को एक आँख न भाता था। हाँ ग़ालिब की बात और थी। वह कुछ कहता था। उससे दिल को एक नयी गहराई और दिमाग़ को एक नयी रोशनी मिलती थी। वह इंसान को ऊपर उठाता है। साहित्य एक गम्भीर दायित्व का नाम है। टेसुए बहाना साहित्य नहीं है। वह सिर्फ़ एक तरह की दिमाग़ी गुदगुदी है। कोई अपनी गुदगुदी मिटाने के लिए लिखना चाहता है लिखे उसको अख़्तियार है और हम शिकायत भी नहीं कर सकते। लेकिन फिर उस चीज़ को वह हमारे सामने क्यों लाता है? शिकायत हमें इस बात से है। इक़बाल को देखो। उसकी शायरी साहित्य है। ऊँचा से ऊँचा साहित्य जिसमें क़ौमों की तक़दीर बना करती है। ग़ालिब को उन्होंने ख़ूब पढ़ा है। इक़बाल उन्हें बेहद पसंद है। इसीलिए जब उन्हें शायरी की ज़बान में कुछ कहने की ज़रूरत

पड़ती है तो वह बड़े मज़े में अपनी बात की सनद के तौर पर सीधे ग़ालिब इक़बाल का कोई फ़ारसी या उर्दू शेर उठा लाते हैं।

इसे एक संयोग ही कहना चाहिए कि उधर इक़बाल भी प्रेमचन्द की कहानियों पर इसी तरह जान देते थे। सन् १५ में जब 'प्रेम पचीसी' कानपुर से छपी तो इक़बाल ने फ़ौरन उस पर अपनी बहुत अच्छी और लम्बी सम्मति भेजी जिसे काफ़ी प्रचारित भी किया गया।

लेकिन फ़िराक़ का रंग कुछ और था। मुंशी जी के मन को जानने के लिए वह काफ़ी माथापच्ची करते, एक से एक साफ़, सुथरी, चुस्त, ख़ूबसूरती से तराशी हुई चीज़ें सुनाते लेकिन मुंशी जी टस से मस न होते। देश और समाज की ज़िन्दगी से हटकर साहित्य का उनके लिए कोई अर्थ न था। यह अगर उनकी एकांगिता थी तो थी। क्योंकि इतनी बात मुंशी जी से ज़्यादा अच्छी तरह और कौन जानता था कि उनका लिखना अवकाश को भरने के लिए नहीं है, उन्हें लिखने के लिए अवकाश पैदा करना पड़ता था और वह इसी तरह पैदा होता था कि उन्होंने अपनी ज़िन्दगी से और सब बातें काटकर निकाल फेंकी थीं और एकान्त भाव से साहित्य-रचना में लग गये थे। यह एक गृहस्थ योगी की, साधक की, भक्त की निर्मम कृच्छ साधना थी। साहित्य को किसी महान व्यावहारिक लक्ष्य से जोड़ना उनके सम्पूर्ण जीवन की उपलब्धि और आन्तरिक विवशता थी।

यहाँ गोरखपुर में आकर जमते-जमाते चार छः महीने का समय लगा और नये साल १९१७ के पहले महीने में ही उन्होंने 'बाज़ारे हुस्न' उर्दू में लिखना शुरू कर दिया। उसी उमंग में उन्होंने २४ जनवरी १९१७ को निगम साहब को लिखा — मैं आजकल एक क़िस्सा लिखते-लिखते नाविल लिख चला। कोई सौ सफ़े तक पहुँच चुका हूँ। इसी वजह से छोटा क़िस्सा न लिख सका। अब इस नाविल में ऐसा जी लग गया है कि दूसरा काम करने को जी ही नहीं चाहता। क़िस्सा दिलचस्प है और मुझे ऐसा ख़याल होता है कि मैं अबकी बार नाविल-नवीसी में भी कामयाब हो सकूँगा।

फ़र्स्ट एड की ट्रेनिंग लेने एक महीने के लिए इलाहाबाद पहुँचे तो वहाँ भी नाविल साथ गया। ४ मार्च को उन्होंने वहाँ से लिखा — सिफ़्र के अन्दर वाले गुलून देखे। ख़ुश हूँ। हालाँकि मेरे पास बहुत क़िस्सागोई के लिए न दिमाग़ है न वक़्त। आजकल अपना नाविल लिखने में मस्त हूँ। यह ख़त्म ही

१ मिनीर

जाय तो कुछ और करूँ। इसी ख़त में उन्होंने निगम साहब को यह भी सूचना दी कि प्रेमपचीसी का हिन्दी और मराठी एडीशन छप रहा है।

लेखक की खुशी के लिए इससे ज्यादा चाहिए भी क्या।

सच्चे अर्थों में बरसों की बीमारी और पस्ती के बाद यह उनका नवजीवन है जिसमें वही उत्साह है उमंग है उभार है जो कि नये जीवन की पहचान है। भीतर स्फूर्ति इतनी है कि जैसे समा नहीं पा रही है और वह खुद अपने साथ दौड़-सी लगा रहे हैं।

४ मार्च को उन्होंने लिखा था आजकल अपना नाविल लिखने में मसरूफ़ हूँ। फिर सात दिन बाद वहीं इलाहाबाद से लिखा नाविल ग़ालिबन् एक माह में पूरा होगा और उम्मीद करता हूँ कि मई में उसे आपके मुलाहज़े के लिए हाज़िर कर सकूँगा। जो कि बच्चों जैसे उत्साह के अतिरेक में लिखी हुई बात थी क्योंकि फिर २१ मार्च को उन्होंने अधिक संयत और सुस्थिर होकर लिखा —

मेरा नाविल चल रहा है। अब ज़रा इतमीनान हो जावे तो ख़त्म करूँ। शुरू हो रहा है। चाहता हूँ कि जल्द अंजाम की तरफ़ चलूँ।

आख़िरकार ८ अगस्त को उन्होंने लिखा —

अपना नाविल ख़त्म कर रहा हूँ। उसे पहले हिन्दी में तबा[1] कराने का क़स्द है। उर्दू में तो पब्लिशर अनक़ा[3] है।

और फिर २९ जनवरी १९१८ को —

अपना नाविल हिन्दी में लिख रहा हूँ। फ़ुर्सत नहीं मिलती। न कोई ताईद ही पड़ती है। मगर आज इरादा करता हूँ कि साफ़ करने में हाथ लगा दूँ।

साल भर के भीतर, शायद आठ या नौ महीने में ही 'सेवासदन' अपने मूल उर्दू रूप में तैयार हो गया। मगर प्रकाशक कहाँ। इधर हिन्दी का प्रकाशक तकाज़े पर तकाज़े कर रहा था। प्रेमचंद के लिए यह एक नया ही अनुभव था —

— और उर्दू के अब तक के अनुभव से कितना भिन्न जहाँ कोई छापनेवाला ही न मिलता था और अक्सर किताब खुद अपने खर्चे से छपानी पड़ती थी या पचास रुपये लेकर एक एडीशन का वारा-न्यारा कर देना पड़ता था। उर्दू प्रेम पचीसी के साथ यही तो हुआ था। बड़ी-बड़ी मुश्किलों से बहुत-बहुत चिरौरी-बिनती के बाद उसका पहला हिस्सा जिसमें कुल बारह कहानियाँ थीं डेढ़ बरस में छपकर तैयार हुआ था सन् १५ के आरम्भ में। दूसरा हिस्सा उसके तीन बरस बाद आया

---

१ प्रकाशित २ विचार ३ दुर्लभ

चाहिए था उसके बिना किताब अधूरी थी। लेकिन कभी यह कभी वह एक न एक अड़चन लगी रही और उसका दूसरा हिस्सा छपकर तैयार हुआ सन् १८ के आरम्भ में 'बाज़ारे हुस्न' लिखे जाने के साथ-साथ उसी एक बरस में जिसमें 'बाज़ारे हुस्न' लिखा गया जिसके छपने का अभी कहीं ज़िक्र न था। और पोद्दार इसी दम उपन्यास की पाण्डुलिपि माँग रहे थे जितनी जल्दी मिले और वह छपाई शुरू करें। यह एक जी को अच्छी लगनेवाली बात थी। लिहाज़ा जिस तेज़ी से किताब लिखी गयी थी उसी तेज़ी से उसका हिन्दीकरण शुरू हुआ।

इस तेज़ी और इस उमंग को देखकर धोखा हो सकता है। पर यह जवानी की उमंग नहीं है। अभी पिछले ही साल तो उन्होंने लिखा था मेरे लिए बुढ़ापे का ज़िक्र ही फ़िज़ूल है। मैं किस बूते से कम हूँ। तबीयत सँभली ज़रूर थी लेकिन ऐसी नहीं कि चिन्ता के बादल एकदम छँट गये हों और अगर वह इस समय छँटे हुए मालूम होते हैं तो सिर्फ इसलिए कि वह आपे में नहीं हैं उसके ऊपर अपने काम का भूत सवार है। उपन्यास पूरा होते ही देखिए कितना उदास ख़त है यह जो उन्होंने अप्रैल १९१८ में लिखा था —

ज़िन्दगी की उम्मीद यहाँ भी कम है। मगर यह चाहता हूँ कि या तो साथ चलें या तफ़्रीक़-सी तक़दीम-बा-ताख़ीर[1] हो। मैं आपका पेशरौ[2] बनना चाहता हूँ। मौत की फ़िक्र मारे डालती है। कितना चाहता हूँ कि परमात्मा पर भरोसा रखूँ मगर दिल मूज़ी है समझता नहीं। किसी महात्मा की सोहबत मिले तो शायद रास्ते पर आए। यही फ़िक्र है कि मैं आज मर जाऊँ तो इन बच्चों का पुरसाँहाल कौन होगा। घर में कोई ऐसा नहीं दोस्तों में अगर हैं तो आप और नहीं हैं तो आप। और न होगा तो मेरे बाद साल-दो साल इन बच्चों की ख़बर तो ले सकते हैं। इसी फ़िक्र में घुला जाता हूँ। कुछ सरमाया जमा करने की कोशिश करता हूँ मगर कामयाबी नहीं होती। कभी किसी दूकान की कभी किसी दूसरे कारोबार की नीयत बाँधता हूँ।

जो दो-चार हज़ार रुपये बीवी ने कतर-ब्योंत करके बचा लिए हैं वही कुल बिसात है। उसी की बुनियाद पर अपना शेख़चिल्ली का महल खड़ा करना चाहते हैं। न जाने कहाँ से निहायत रद्दी काग़ज़ पर फूहड़ ढंग से छपी हुई एक किताब उन्हें मिल जाती है। उसमें आनन-फ़ानन ढेरों रुपया कमाने की तरकीबें लिखी हुई हैं। मुंशी जी बहुत शौक़ से उसको पढ़ रहे हैं। कभी रुपया सूद पर चलाते हैं — मगर वह लौटकर नहीं आता। कभी लाटरी का टिकट ख़रीदते हैं — मगर नाम

---

१ देर-सबेर २ अगुआ

नहीं निकलता। कभी प्रेस खरीदने की बात करते हैं — मगर भाव ठीक नहीं बैठता।

बुढ़ापे का सिलसिला बत्तीस-तैंतीस की उम्र में ही शुरू हो गया था। अब तक तो वह न जाने कितना बूढ़ा हो चुका है जिन्दा कैसे है यही ताज्जुब है!

मगर एक बात है। बहुत जमाने से बीमारियों और बुढ़ापे के साये में रहते रहते उसने एक सबक यह जरूर सीख लिया है कि जब जरा-सी बदली छँटे और धूप हो तो उसी को बहार समझना चाहिए। मुश्किल सबक है मगर उम्र सिखा देती है।

लिहाजा यह जो उमंग या तेजी इस वक्त दिखायी देती है वह कुछ उस बीमार की भी उमंग है जो मौत के मुँह से निकलकर आया है और जो बिस्तर उसने अभी नहीं छोड़ा है और न मन पर से वह डरावने साये मिटे हैं तो भी जितनी कुछ राहत उसे मिली है उसी को वह गनीमत समझता है और जो हल्का-सा ठहराव उसकी तबीयत में आया है उसका एक पल भी वह अकारथ नहीं जाने देना चाहता। उसे पता है कि हर साँस और सूरज की हर किरन कितनी अनमोल है।

बाजारे हुस्न का सेवा सदन बनते-बनते गर्मी की छुट्टियाँ आ गयीं। इसी बीच छोटे भाई की शादी तय हो गयी थी। पिछले बरसों में कितनी ही बार बात उठकर खत्म हो चुकी थी जो कि ठीक ही था। अब वह हीले से लग गये थे। शादी और हो जाय तो एक बड़ी जिम्मेदारी सर से उतर जाय।

२ जून १९१८ को मुंशी जी ने निगम साहब को लिखा —

मैं २९ मई को शादी से फ़राग़त पा गया। अभी दो-एक रोज की झंझट और बाकी है। इसके बाद कलकत्ते जाने का कस्द है। अपने हिन्दी नाविल को प्रेस में देना है।

इन्हीं सब परेशानियों में इस बार छुट्टियों में कानपुर नहीं आ पाये। वह एक अनहोनी बात थी।

गोरखपुर पहुँचकर ६ जुलाई को उन्होंने लिखा —

ऐसी परेशानियों में था कि कानपुर आने का मौका ही न मिला। ११ मई का यहाँ से चलकर २० को बारात के साथ गया, ३ को वापस आया। ११ को कलकत्ते गया २ को वहाँ से आया। फिर मकान की मरम्मत में फँसा। मकान का हिस्सा पुराना बोसीदा मकान गिर पड़ने का अन्देशा था। लेकिन हालत न बना फिरता। अभी जब से आया हूँ आँखें उठी हुई हैं किसी तरह मदरसे जाता हूँ।

सेवा सदन प्रेस में जाते ही मुंशी जी को बाजारे हुस्न की फ़िक्र सवार हुई।

लाहौर से जनाब इम्तियाज़ अली 'ताज' जो बहुत उदार राष्ट्रीय विचारों के आदमी थे और ख़ुद भी अच्छे लेखक थे 'कहकशाँ' नाम की एक पत्रिका निकालते थे। उनकी अपनी प्रकाशन संस्था भी थी — दारुल इशाअत। मुंशी जी 'कहकशाँ' में बराबर लिखते थे और गो उन दोनों की मुलाक़ात बहुत बाद में जाकर हुई, बरसों बाद, चिट्ठी-पत्री के ज़रिए दोनों के बीच बहुत पक्का स्नेह-संबंध स्थापित हो गया था। उन्हें एक दूसरे को जानते तीन-चार बरस से ऊपर हो गया था जबकि मुंशी जी ने बड़े हसरत के लहजे में उन्हें २९ जनवरी १९२१ को लिखा —

क्या आपकी और मेरी मुलाक़ात न हो सकेगी? दुनिया में मेरे सिर्फ़ गिने-गिनाए दोस्त हैं। आप भी उन निहायत महदूद[1] हल्क़े के रुक्न-ख़ास[2] हैं। मगर अफ़सोस[3] कि अभी तक सूरत-आशनाई[4] भी नहीं। और न हो तो अपना फ़ोटो ही भेज दीजिए।

अब से डेढ़ बरस पहले एक बार ऐसा हुआ कि प्रेमचंद की एक कहानी से 'ताज' की कहानी का विचार टकरा गया। प्रेमचंद की कहानी 'कहकशाँ' के लिए आयी और 'ताज' ने उसे पढ़ा तो फिर अपनी कहानी पूरी न कर सके। उसका ज़िक्र करते हुए मुंशी जी ने १४ जुलाई १९१९ को लिखा —

मज़ामीन का मुझे अफ़सोस इसलिए है कि आपका क़िस्सा अधूरा रह गया और ख़ुशी इसलिए कि हमारे दरमियान कोई रूहानी या ज़ेहनी ताल्लुक़ ज़रूर है वरना दोनों को वही बात क्यों सूझती। पर आप अपना क़िस्सा तमाम करें। हर गुल रा रंग ओ बू दीगर[5]।

एक नये लेखक की दिलजोई के लिए इससे ज़्यादा क्या कहा जा सकता था। मगर बात इतनी ही न थी। प्रेमचंद का सचमुच अपने इस नये दोस्त से हार्दिक स्नेह हो गया था। अपने इसी ख़त में आगे चलकर वह लिखते हैं —

मैंने जनाब-ए-वाला 'शक्ल-ओ-शबाहत'[6] के मुताल्लिक़ आपने जो क़यास किया है उससे रूहानी ताल्लुक़ का गुमान और पुख़्ता हो जाता है। बेशक मेरा लिबास आर्यसमाजी है। मैं बन्द गले का कोट और ढीला पायजामा पहनता हूँ और पगड़ी पहनता हूँ। एक मुल्की आदमी का पहनावा पुख़्ता कैप है आपने पगड़ी का गुमान क्यों किया? क्या आपको इल्हाम हुआ है? मैं अपने मुसलमान दोस्तों के ख़िलाफ़ अपना एक ख़ास ही लिबास[7] इस्तेमाल करता हूँ इस बात पर कि वह बन्द

१ सीमित २ विशिष्ट सदस्य ३ अफ़सोस ४ आत्मिक
५ हर फूल का रंग और बू अलग होती है ६ शक्ल-सूरत ७ सूरत
पायम ८ पगड़ी

मुआहिदा वापस कर लिया जाय। और या अगर आप बतौर एक दोस्त की यादगार के रखना चाहें तो उसका किसी आर्टिस्ट से एक बड़े पैमाने में बस्ट बनवा लें।

यों ही लिखने-पढ़ने के सिलसिले में यह जान-पहचान शुरू हुई लेकिन जल्द ही उसने बहुत अच्छी दोस्ती की शक्ल अख्तियार कर ली। अपने इस नये दोस्त के सुन्दर राष्ट्रीय विचारों और साहित्यिक प्रतिभा दोनों ने मुंशी जी को बहुत ज़ोर से अपनी तरफ़ खींचा। उसकी लिखी कई चीज़ें मुंशी जी की निगाह पर चढ़ चुकी हैं और मुंशी जी ने बहुत खुलकर उनकी दाद भी दी है—जैसे 'भारतसपूत' जो गांधी जी की जीवनी है, 'अनारकली' जिसे मुंशी जी बहुत ऊँचे पाये का नाटक समझते हैं और जिसे आगे चलकर वैसी ही जगह मिली भी, 'दीन की लैला' और 'नाज़नीना बयान' जो कि बहुत खूबसूरत कहानियाँ हैं और बहुत-सी ग़ज़लें जिनकी तारीफ़ करते मुंशी जी नहीं थकते।

मुंशी जी को इस समय अपने लिए एक नयी पत्रिका की तलाश भी है जो उनके नज़दीक 'ज़माना' की जगह ले सके। देश में इस बीच बहुत कुछ हुआ है और मुंशी जी 'ज़माना' के नये रंग-ढंग से बिल्कुल सन्तुष्ट नहीं हैं। निगम साहब की दोस्ती अपनी जगह, 'ज़माना' की पालिसी के साथ चल पाना इन बदले हुए हालात में मुंशी जी के लिए मुश्किल हो रहा है। ४ सितंबर १९१८ को उन्होंने अपने सहज स्पष्टवादी ढंग से निगम साहब को लिखा था— 'ज़माना के लिए अलग इधर कुछ नहीं लिख सका। कोर्स का मुताला[1] सोहाने-रूह[2] है और कुछ यह भी मालूम[3] होता है कि 'ज़माना' में अब ज़िम्मेदारी बाक़ी नहीं रही। वह किसी नये रक़ीब[5] के लिए जगह ख़ाली करता हुआ मालूम होता है। 'ज़माना' में अब दिल नहीं है सिर्फ़ क़ालिब[6] है।

ताज के राष्ट्रीय विचार मुंशी जी के समान ही हैं। उनके पास पत्रिका है। प्रकाशन-संस्था भी है। किताबें भी निकलती हैं वहाँ से। उनका सिलसिला अभी कुछ ठीक जम नहीं पाया है। अच्छा प्रकाशक कहीं नज़र नहीं आता। ज़माना प्रेस का अनुभव भी बहुत अच्छा नहीं है। क़यामत हो जाती है किताब छपते छपते। फिर भी अच्छी नहीं छपती। किसी का भी कुछ यों ही सा बन्दोबस्त है। लाहौर वाले किताबें अच्छी छापते हैं। दारुल इशाअत से मुआमला हो जाय तो क्या कहना।

लिहाज़ा २७ जुलाई १९१८ को उन्होंने ताज साहब को लिखा—

---

१ अध्ययन   २ घोर मानसिक कष्ट   ३ आभास   ४ बाधा
५ प्रतिद्वन्द्वी   ६ देह

"अब यह मुमकिन हो कि 'कहकशाँ' में मेरा नाविल सिलसिलेवार[1] निकल सके। मुमकिन है कि इसके निकलने से पर्चे की इशाअत[2] पर कुछ असर पड़े। यह नाविल कोई तीन सौ सफ़हात का है। इसके लिखने में मैंने अपनी कोई कोशिश उठा नहीं रखी।"

फिर ३ सितंबर को लिखा —

अगर आप इतनी बड़ी किताब छाप सकें तो मैं साफ़ करना शुरू करूँ वर्ना अभी गर्मी की तातील तक मुल्तवी रखूँ। आपको साफ़ करने की तकलीफ़ न दूँगा क्योंकि साफ़ करने में अक्सर सीन के सीन पलट जाते हैं। इस क़िस्से में मैंने एक अख़लाक़ी बेशर्मी यानी बाज़ारे इस्मतफ़रोशी[3] पर चोट की है।

फिर २० मई १९१९ को लिखा —

आप इसे हमेशा के लिए चाहते हैं तो मुझे कोई उज्र नहीं है। मैं उर्दू पब्लिक से वाक़िफ़ हूँ। वहाँ हमेशा का मानी है ज़्यादा से ज़्यादा तीन एडीशन और वह भी दस सालों में या इससे भी ज़्यादा। इसलिए मैं ऐसी शर्तें हरगिज़ पेश नहीं कर सकता जो नामाक़ूल हों। मेरा ख़याल है पहले एडीशन के लिए बीस फ़ी सदी रखें और बक़िया एडीशनों के लिए दस फ़ी सदी। यानी कुल रक़म मात्र तीन सौ रुपए होती है। यह हिसाब मैंने कुल मजमूए[4] का यह नज़र रखकर पेश किया है और मुझे यक़ीन है कि आपको नागवार न होगा।

प्रेमबत्तीसी भी अब दारुल इशाअत से ही छपेगी। मुंशीजी ने ५ सितम्बर १९१९ को लिखा —

मुझे पचीसी और बत्तीसी के लिए १४ फ़ी सदी का आफ़र हो चुका है। रवीन्द्र बाबू को मैकमिलन बीस फ़ी सदी देता है। मैं रवीन्द्र बाबू नहीं हूँ। इसलिए बारह और बीस के दरमियान पन्द्रह पर राज़ी[5] होना चाहता हूँ।

बाज़ारे हुस्न में मुंशीजी को अपनी ज़मीन मिल गयी है। समाज में जितनी बेईमानी है, गंदगी है, अन्याय है, ढोंग-ढकोसला है, उस पर चोट करनेवाले क़िस्से लिखना ही उनकी अपनी बात होगी।

अन्याय का नाम लेते ही उनका ध्यान सबसे पहले स्त्री जाति पर जाता है। उससे ज़्यादा ज़ुल्म का शिकार और कौन है। कहने के लिए औरत-मर्द बराबर हैं। सब ढकोसला है। औरत मर्द के पैर की जूती है। सच बात इतनी ही है। बाक़ी सब क़लई-मुलम्मा है।

---

१ क्रमशः २ प्रचार ३ सतीत्व-विक्रय ४ बाक़ी ५ संतुष्ट

मर्द कुछ भी करे, कहीं आये कहीं जाये, दिन-रात रण्डी के कोठे पर बैठा रहे, औरत चूँ भी नहीं कर सकती। औरत ने घर के बाहर पैर निकाला नहीं कि मुहल्ले ने मर्द का दामन पकड़ा और उसके दिमाग का पारा चढ़ा — चाहे फिर बेचारी औरत अपना दिल बहलाने के लिए किसी सहेली के घर ही क्यों न गयी हो। मर्द की अदालत में फिर उसकी कोई सुनवाई नहीं है। जो कुछ भी अनाप-शनाप उसके मुँह में आयेगा, कहेगा — औरत को मुँह खोलने की भी इजाज़त नहीं है। अपनी सफ़ाई में कुछ कहना भी बेअदबी है और इसकी सज़ा यह है कि उसे आधी रात को बिल्कुल बेसहारा अपने घर से निकाल दिया जाता है, जहाँ जी चाहे जाये, जो जी में आये करे। लेकिन सवाल तो यह है कि कहाँ जाय और क्या करे। कोई उसका पुरसाहाल नहीं होता। कोई एक रात के लिए उसे अपने घर में जगह देने के लिए तैयार नहीं होता। बदनामी का डर है। वह अपने घर से निकली हुई, पति-परित्यक्ता कलंकिनी जो है! न्याय-अन्याय की छानबीन करने का अवकाश किसे है! कौन है जो उस घड़ी पल भर को उसका हाथ थाम सके? और जो ऐसे में जीवित रहने के लिए, वह कहीं कोई बुरा मार्ग पकड़ ले तो वह कुल-कलंकिनी है, कुल-घातिनी है, हरजाई है, रण्डी-पतुरिया है।

सब है, सब है। जितनी गालियाँ आती हों सब दे डालो। लेकिन उससे कुछ काम नहीं बनता, रोग भी दूर नहीं हो सकता और न इस सच्चाई पर ही पर्दा डाला जा सकता है कि उस गरीब औरत को ऐसी हालत में पहुँचाने की सबसे बड़ी और सबसे पहली जिम्मेदारी समाज की है।

बहुत बार मुंशीजी दालमण्डी होकर गुज़रे हैं और हर बार दोनों तरफ़ कोठों पर अपना शरीर बेचने के लिए बैठी हुई औरतों को देखकर उनका जी कराह उठा है और हर बार उनके मन में सवाल पैदा हुआ है — इन औरतों में खुद कोई खोट है जैसे पैसे की हवस या बदचलनी का शौक़ या बेचारी शिकार हैं अपनी परिस्थितियों की? और हर बार उनके मन ने यही कहा है कि नहीं, इन औरतों में खुद कोई खोट नहीं है, कमोबेश ये भी वैसी ही हैं जैसी कि और सब औरतें होती हैं। अच्छे-बुरे कहाँ नहीं होते। यह तो दुनिया का कायदा है, क्या मर्द क्या औरत। भले घरों में भी बदचलन औरतें निकल आती हैं और बाज़ारू औरतों में भी नेकचलन औरतें पायी जाती हैं, जो उस माहौल की कालिख में रहते हुए अपना आँचल दाग़ नहीं लगने देतीं। मनुष्य का स्वभाव सब जगह एक है। वह न तो देवता है और न दानव। वह मनुष्य है। जिसे हम देवता समझते हैं उसमें भी हज़ार कमज़ोरियाँ हो सकती हैं और जिसे हम दानव समझ बैठे हैं वह भी मौक़ा मिलने पर चरित्र के अप्रत्याशित औदार्य का परिचय दे सकता है। सबसे बड़ी बात यह है कि आदमी

परिस्थितियों का दास है। परिस्थितियाँ जो साँचा बनाती हैं आदमी ढलता है जैसा बना देती हैं आदमी बन जाता है। उनमें थोड़े से समझदार आदमी पाये जाते हैं उनके भरोसे समाज के नियम नहीं बनाए जा सकते। किसी तरह दिल कबूल नहीं करता कि ये औरतें अपनी खुशी से अपना शरीर बेचती हैं। कुछ हैं जिन्होंने उसी परिवेश में उसी वातावरण में जन्म लिया है और दूसरा कुछ देखा ही नहीं जाना ही नहीं। कुछ हैं जो लेन-देन की कठिनाइयों से वक्त पर शादी न हो पाने के कारण या भरी जवानी में विधवा हो जाने पर फिर सारी ज़िन्दगी अपनी जवानी का बोझ न उठा सकने के कारण उचक्के-लफंगों के चंगुल में फँसकर इस रास्ते आ लगी हैं। कुछ हैं जिन्हें शायद ज़िन्दगी की सिर्फ एक भूल यहाँ ले आयी है — क्योंकि समाज मर्द की हज़ार भूलें माफ़ कर सकता है औरत की एक भूल नहीं माफ़ कर सकता।

बहरहाल जैसे भी आयी हों, उनको इस नरक से निकालने की कोई तदबीर हो सकती है या नहीं?

सुनिए शरीफ़ हसन की ज़बानी मुर्शिदी क्या कह रहे हैं —

इसमें तो कोई बुराई नहीं कि वह अहले इस्लाम बनती हैं, बुराई यह है कि इस्लाम भी उन्हें राहे-रास्त[1] पर लाने की कोई कोशिश नहीं करता। हिन्दुओं की देखादेखी इस्लाम ने भी उन्हें अपने दायरे से खारिज कर दिया है। जो औरत एक बार किसी वजह से गुमराह हो गयी उसकी तरफ से इस्लाम हमेशा के लिए अपनी आँखें बन्द कर लेता है। वरना हमारे मौलाना साहब लम्बा अमामा[2] बाँधे आँखों में सुरमा लगाये गेसू सँवारे उनकी मज़हबी तसकीन के लिए जा पहुँचते हैं उनके दस्तरख्वान से मीठे लुक़मे खाते हैं खुशबूदार खमीरे के कश लगाते हैं और उनके खासदान से मुअत्तर बीड़े उड़ाते हैं। बस इस्लाम की सब हमदर्दी इसी तरह यहीं तक खत्म हो जाती है। अपने बुरे फ़ेलों[5] पर नादिम होना इन्सानी खास्सा है। ये गुनहगार औरतें ज़्यादातर नहीं तो शबाब का नशा उतरने के बाद ज़रूर अपनी हालत पर अफ़सोस करती हैं लेकिन उस वक्त उनका पछताना बेसूद होता है। उनके गुज़रान की इसके सिवा और कोई सूरत नहीं रहती कि वह अपनी लड़कियों से दूसरों को दामे-मोहब्बत[6] में फँसायें। और इस तरह यह सिलसिला हमेशा जारी रहता है। अगर उन लड़कियों की आम तौर पर शादी हो सके और इसके साथ ही उनकी परवरिश की सूरत भी निकल आये तो मेरे ख़्याल

१ सीधे रास्ते २ पाग का कपड़ा ३ मुर्शिदिन ४ धर्म की तसल्ली
५ कर्मों ६ प्रेम के जाल

में ज़्यादा नहीं तो ७५ फ़ी सदी तवायफ़ें इसे ख़ुशी से क़बूल कर लें। हम चाहे सु कितने ही गुनहगार हों पर अपनी औलाद को हम नेक और रास्तबाज़[1] देखने की तमन्ना रखते हैं। तवायफ़ों को शहर से ख़ारिज कर देने से उनकी इस्लाह नहीं हो सकती।

लेकिन शरीफ़ हसन या तेग़ अली जैसे सुलझे हुए, उदार विचारों के लोग कम हैं। बहुमत क्या हिन्दुओं में और क्या मुसलमानों में उनका है जो या तो हिन्दू हैं या मुसलमान इन्सान नहीं हैं, जो इस गंभीर सामाजिक और मानवीय प्रश्न पर भी हिन्दू या मुसलमान की ही भाषा में सोच पाते हैं। उन्हें इसमें एक-दूसरे की राजनीतिक चालें नज़र आती हैं। उनकी इसी ज़ेहनियत की चुटकी लेते हुए तेग़ अली कहते हैं —

आजकल पोलिटिकल मज़हब का ज़ोर है। हक़ और इन्साफ़ का नाम न लीजिए। अगर आप मुदर्रिस हैं तो हिन्दू लड़कों को फ़ेल कीजिए। तहसीलदार हैं तो हिन्दुओं पर टैक्स लगाइए। मजिस्ट्रेट हैं तो हिन्दुओं को सज़ा दीजिए। सब-इंसपेक्टर पुलिस हैं तो हिन्दुओं पर झूठे मुक़दमे दायर कीजिए, तहक़ीक़ात करने जाइए तो हिन्दुओं के बयान ग़लत लिखिए। अगर आप चोर हैं तो किसी हिन्दू के घर डाका डालिए, अगर आपको हुस्न या इश्क़ का ख़ब्त है तो किसी हिन्दू नाज़नीन को उड़ाइए, तब आप क़ौम के ख़ादिम[2] 'क़ौम के मुहसिन[3] क़ौमी किश्ती के नाख़ुदा[4]' सब कुछ हैं।

प्रेमचंद ने बहुत दुनिया देखी है और उनके पाँव ज़मीन पर हैं। उन्हें ख़ूब पता है कि लखनऊ में कांग्रेस-लीग एकता का प्रस्ताव पास करने से एकता न हो जायेगी वह अलग एक लंबा और कठिन संघर्ष है। वर्ना तो यही हालत रहती है कि एक तरफ़ हाजी हाशिम कहेंगे — हिन्दुस्तानी क़ल्ब की यह नयी चाल आप लोगों ने देखी? वल्लाह इनको सूझती ख़ूब है! इनकी चूंसे ख़ाली कोई इल्म होता न!

और दूसरी तरफ़ चिम्मनलाल कहेंगे — मुझे पालिटिक्स से कोई वास्ता नहीं है और न मैं उसके निकट जाता हूँ। लेकिन मुझे यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं है कि हमारे मुसलिम भाइयों ने हमारी गर्दन बुरी तरह पकड़ी है। चावलमण्डी और चौक के अधिकांश मकान हिन्दुओं के हैं। यदि बोर्ड ने यह स्वीकार कर लिया तो हिन्दुओं का मटियामेट हो जायगा। फिर-फिर चाहे कितना कोई मुसलमानों से लीग ले।

---

१ सदाचारी २ सेवक ३ उपकारक ४ मल्लाह

और समस्या ज्यों की त्यों अपनी जगह पर बनी रहती है।

यह तो और, वैसे भी अपनी जगह पर अटल है जब तक कि समाज के स्तम्भ जिनके कंधों पर हमारा समाज टिका है वेश्या को मनुष्य न समझकर पुरुष की अतिरिक्त कामेच्छा के लिए एक गन्दी नाली समझते रहेंगे। बहुत सहज ढंग से शाकिर वग़ैरह कहते हैं — आप जब कोई मकान तामीर करते हैं तो उसमें बदररौ बनाना ज़रूरी ख़याल करते हैं। अगर बदररौ न हो तो घर की दीवारों की बुनियादें हिल जायें। इस फ़िरक़े को सोसायटी का बदररौ समझना चाहिए और जिस तरह बदररौ मकान के नुमायाँ हिस्से में नहीं होती बल्कि निगाह से पोशीदा एक गोशे में बनायी जाती है उसी तरह इस फ़िरक़े को शहर के पुररौनक़ मुक़ामात से हटाकर किसी गोशे में आबाद करना चाहिए।

मगर यह कोई इलाज नहीं है। यह फुनसी ढाकने जैसी बात है इलाज तो जड़ का करना होगा। उस सामाजिक अत्याचार को मिटाना होगा जो कुछ अभा-गिनों को इस रास्ते पे लाता है और वह दूषित समाज-व्यवस्था मिटानी होगी जिसमें ये अत्याचार पनपते हैं, पलते हैं, बढ़ते हैं।

असल दोषी है यह महाजनी समाज जिसमें आदमी पैसे की तराज़ू पर तुलता है और उस पैसे को एकत्र करने के लिए रिश्वतख़ोरी सूदख़ोरी डाका ख़ून सब कुछ नीति-संगत है — शर्त एक ही है कि पहलू बचाकर काम करे और पकड़ा न जाय। जो पहलू बचाकर काम करते हैं उनमें महन्त रामदास जैसे लोग हैं —

वह साधुओं की एक गद्दी के महन्त थे। उनके यहाँ सारा कारोबार श्री बाँकेबिहारी जी के नाम पर होता था। श्री बाँकेबिहारी लेन-देन करते थे और बत्तीस रुपए सैकड़े से कम सूद न लेते थे। वही मालगुज़ारी वसूल करते थे, वही रेहननामे-बैनामे लिखते थे। श्री बाँकेबिहारी की रकम दबाने का किसी को साहस न होता था और न अपनी रकम के लिए कोई दूसरा आदमी उनसे झगड़ाई कर सकता था। श्री बाँकेबिहारी जी को रुष्ट करके उस इलाक़े में रहना कठिन था। महन्त रामदास के यहाँ दस-बीस मोटे-ताज़े साधु स्थायी रूप से रहते थे। वह अखाड़े में दण्ड पेलते, भैंस का ताज़ा दूध पीते, संध्या को दूधिया भंग छानते और गाँजे चरस की चिलम तो कभी ठण्डी न होने पाती थी। ऐसे बलवान जत्थे के विरुद्ध कौन सिर उठाता? महन्त जी का अधिकारियों में ख़ूब मान था। श्री बाँकेबिहारी जी उन्हें ख़ूब मोतीचूर के लड्डू और मोहनभोग खिलाते थे। उनके प्रसाद से कौन इनकार कर सकता था। ठाकुर जी संसार में आकर संसार की रीति पर चलते थे।"

---

१ नाली

कोई उनका बाल भी बाँका नहीं कर सकता। और जो लोग पहलू बचाकर काम करना नहीं जानते उनका जीवन सुमन के पिता कृष्णचन्द्र की तरह एक ही भूल में बर्बाद हो जाता है।

इससे नतीजा निकला कि धर्म-अधर्म नीति-अनीति स्वतः कोई चीज नहीं है पैसे और प्रभुत्व के लिए जो कुछ किया जाय सब ठीक है नीति-संगत है। ऐसा ही यह समाज है।

ठीक इन्हीं दिनों फरवरी १९१९ में मुंशीजी का एक बहुत साफ़ सा लेख दौरे कदीम दौरे जदीद (पुराना ज़माना नया ज़माना) के नाम से ज़माना में निकला। इस नये ज़माने नयी समाज व्यवस्था की बखिया अच्छी तरह उधेड़ते हुए मुंशीजी ने उसमें लिखा —

यह खुद आराम से अपना पेट भरेगी चाहे दुनिया भूखों मरे, खुद हँसेगी चाहे दुनिया खून के आँसू रोये। अगर उसे लाल कपड़े पहनने की धुन हो जाये और लाल रंग खून से निकलता हो तो वह दूसरों का खून करने में भी झिझक न होगी। अगर इंसान के दिल का टुकड़ा उसके शरीर को ताक़त पहुँचानेवाला हो तो निश्चय ही हजारों आदमी उसके खंजर के नीचे तड़पते नज़र आयेंगे। स्वार्थपरता उसका धर्म उसकी पुस्तक उसका रास्ता सब कुछ है। सारी मानवीय भावनाएँ, सारे नैतिक प्रश्न इस हवस के पुतले के आगे सिर झुका देते हैं। यह कल और मशीन का युग है और राष्ट्र इस युग की सबसे स्पष्ट अभिव्यक्ति है। यह देव-जैसी मशीन दिन-रात पागलों-जैसी तेज़ी मगर सिपाहियों जैसी पाबन्दी के साथ चलती रहती है। कोई इसके गरे में आ जाय यह उसे देखते-देखते निगल जाये उसे पीस डालेगी। यह किसी पर दया नहीं करती किसी के साथ रिआ
करती। यह एक भीमकाय रोलर है जिसमें व्यापार और प्रभुत्व की दो
आँखें घूर-घूरकर बेखबर लोगों को चेतावनी देती हैं कि खबरदार,
वर्ना पलक झपकते भर में मारे जाओगे

व्यापार और कल-कारखानों की उन्नति तरह-तरह के
जिस पर नये युग को इतना गर्व है, मुंशीजी के लिए कोई
जब कि सिगरेट बीड़ियों का मौसम निकला है बटन और
मारे फिरते हैं मगर दूध और घी मक्का और ज्वार का
है जब कि देहात उजड़ते जाते हैं और शहरों की
कि आदम के बेशुमार बेटे दरपूरदार और अँधेरी कोठरियों
के लिए मजबूर हैं जब कि बड़े-बड़े व्यावसायिक
और परेशान रोता फिरता है (लन्दन में चालीस हजार से

कलकत्ते में सोलह हज़ार से ज़्यादा) जब कि आज़ाद मेहनत की रोटी खानेवाले इन्सान पूँजीपतियों के गुलाम होते जाते हैं जब कि महज़ पैसेवाले व्यापारियों के नफ़े के लिए ख़ूनी लड़ाइयों में जूझने में भी लोग बाज़ नहीं आते

लड़ाई की बात यों ही नहीं आ गयी है महाजनी समाज की मानव-द्रोहिता की यह अंतिम सीमा है और लाखों बेगुनाहों का ख़ून करनेवाले महायुद्ध को अभी मुश्किल से दो महीने बीते हैं।

इन्हीं दिनों की एक कहानी 'होली की छुट्टी' में लड़ाई से लौटा हुआ एक सिपाही कहता है—

जब इस फ़ौजी ज़िन्दगी की हालतों पर ग़ौर करता हूँ तो शर्म और अफ़सोस से मेरा सर झुक जाता है। कितने ही बेगुनाह मेरी राइफ़ल के शिकार हुए। मेरा उन्होंने क्या नुक़सान किया था? मेरी उनसे कौन-सी अदावत थी मुझे तो जर्मन और आस्ट्रियन सिपाही भी वैसे ही सच्चे, वैसे ही बहादुर, वैसे ही ख़ुशमिज़ाज, वैसे ही हमदर्द मालूम हुए जैसे फ़्रांस या इंगलैण्ड के। हमारी उनसे ख़ूब दोस्ती हो गयी थी साथ खाते थे साथ बैठते थे यह ख़याल ही न आता था कि यह लोग हमारे अपने नहीं हैं। मगर फिर भी हम एक-दूसरे के ख़ून के प्यासे थे। किसलिए? इसीलिए कि बड़े-बड़े अंग्रेज़ सौदागरों को ख़तरा था कि कहीं जर्मनी उनका रोज़गार न छीन ले। यह सौदागरों का राज है। हमारी फ़ौजें उन्हीं के इशारों पर नाचनेवाली कठपुतलियाँ हैं। जान हम ग़रीबों की गयी जेबें गरम हुईं मोटे-मोटे सौदागरों की

मुंशीजी की असल लड़ाई इन सौदागरों से इस महाजनी समाज से है और उन्हें इस बात से शिकायत है कि 'उस ज़हर को जो समाज-व्यवस्था में घुस गया है निकालने की कोशिश नहीं की जाती सिर्फ़ उसके ऊपरी प्रभावों, ऊपरी विकृतियों को छिपाने और मिटाने में लोग लगे हुए हैं। कोढ़ी जिस्म को रंगीन कपड़े से ढँका जा रहा है।

ज़रूरत उस कोढ़ को दूर करने की है। औरत का अपनी आबरू बेचने के लिए बाज़ार में बैठना भी इसी कोढ़ की एक फुंसी है मगर क्योंकर उम्मीद हो इस फुंसी के भी इलाज की उसी कोढ़ी समाज से जो 'आत्मा को भी तराज़ू के पलड़ों पर तौलता है। उसे जनतन्त्र कहना ग़लती है। बराबरी और भाईचारे को उसने पैरों तले इस तरह रौंदा है कि अब उसकी शक्ल भी पहचानी नहीं जाती। इन्सान की क़ीमत उसके नज़दीक इतनी ही है कि वह एक रुपया कमाने का साधन है। वह क़साई की तरह इन्सान के गोश्त और खाल का अन्दाज़ा करके उसकी क़ीमत लगाता है।

क्रूर समाज की चक्की में पिसती हुई मानवता की ऐसी ही आर्त पुकार मुंशीजी को विक्टर ह्यूगो की ले मिज़रेबल्स में मिली थी जिसे उन्होंने बाज़ारे हुस्न शुरू करने के ठीक पहले पढ़ा था और उसका इतना गहरा असर उनके मन पर हुआ था कि २ जनवरी १९१७ को उन्होंने निगम साहब को जैसे बेचैन होकर लिखा — पहले यह बतलाइए कि विक्टर ह्यूगो की मशहूर किताब ल मिज़रेबल्स का उर्दू तर्जुमा हुआ है या नहीं। अगर हुआ है तो कहाँ मिल सकता है। अगर नहीं हुआ है तो मैं इस काम में जुटना चाहता हूँ। साल भर का काम है। किसी तरह से पता लगाकर बतलाइए।

कथा-बीज उसमें इतना ही है कि ज्याँ वालज्याँ नाम का एक आदमी भूख से पीड़ित होकर एक बार चोरी करता है। वह एक चोरी उसे हमेशा के लिए चोर बना देती है। कितनी ही बार वह चाहता है कि उस रास्ते को छोड़कर भले आदमी की तरह शान्ति से जीवन व्यतीत करे। लेकिन कर नहीं पाता क्योंकि चोर का ठप्पा उसके ऊपर लगा हुआ है और समाज के निर्मम प्रतिशोधात्मक न्याय के प्रतीक के रूप में जावेर निरन्तर किसी क्रूर नियति के समान उसका पीछा कर रहा है।

सुमन की एक भूल भी नियति की छाया की तरह अंत तक उसका पीछा करती है और सबसे बड़ा निर्मम आघात है वह जो उसे अपनी ही छोटी बहन के हाथों सहना पड़ता है जिसकी उजड़ी हुई ज़िन्दगी को सँवारने में खुद सुमन का हाथ है। सुमन जीवन से निराश होकर उसका अंत कर देने के लिए गंगा जी की ओर बढ़ी जा रही है, जो कि प्रतिकूल समाज के आगे व्यक्ति की अंतिम पराजय है, जब कि अकस्मात् एक चमत्कार की भाँति स्वामी गजानन्द सुमन के पति जो सुमन के चले जाने के बाद पश्चात्तापवश संन्यासी हो गये थे, अवतरित हो जाते हैं और सुमन को आत्महत्या के मार्ग से विरत करके उसे सेवाधर्म की दीक्षा देते हैं।

अक्सर ऐसी स्थितियों में मुंशीजी चमत्कार का आश्रय लेते हैं। उनके कुछ साहित्यप्रेमी बंधुओं को बुरी भी लगती है यह चीज़। उनमें से एक कोई मजनुस्का नाम के सज्जन निगम साहब को इसके बारे में लिखते हैं जिसके उत्तर में मुंशीजी ने भगवान् जाने अपने किस अनुभव या प्रमाण के आधार पर (या शायद यह भी उनके भीतर का किसान है) *अप्रैल १९१८ के एक पत्र में निगम साहब को लिखा* — मिस्टर मजनुस्का की राय पर बहस करूँगा हालाँकि Supernatural element इन्सान की ज़िन्दगी में शामिल है।

वह हो या न हो इतना सिद्ध है कि जहाँ जीवन का प्रमाण चुक जाता है वहाँ

चमत्कार की ज़रूरत तभी पड़ती है, जहाँ लेखक समाज के ढाँचे को बन्धन में अपने को अक्षम पाता है वहाँ एक न एक आश्रम की स्थापना करके अपना मनःतोष पा सकता है।

छपाई में लगभग साल भर का समय लेकर 'सेवासदन' १९१९ के मध्य में प्रकाशित हुआ। 'प्रेमा' के बाद जो सन् १९ ७ में प्रकाशित हुआ था और जिसकी कहीं कोई चर्चा न हुई थी मुंशीजी का यह पहला उपन्यास था जो हिन्दी में प्रकाशित हो रहा था। मुंशीजी को स्वभावतः अपनी इस कृति से बड़ी-बड़ी आशाएँ थीं — और पुस्तक जब निकली तो अच्छा-ख़ासा एक तूफ़ान आ गया। चारों ओर धूम मच गयी। गोरखपुर से निकलने वाले साप्ताहिक पत्र 'स्वदेश' के ८ सितम्बर १ १९ के अंक में पंडित पद्मसिंह शर्मा और श्री रामदास गौड़ के संयुक्त हस्ताक्षर से एक समालोचना निकली जिसमें पुस्तक को ख़ूब-ख़ूब सराहा गया। और भी सब तरफ़ चर्चा हुई। २५ अक्तूबर १९१९ को मुंशीजी ने सहज उत्साह के ज्वार में निगम साहब को बड़े चुलबुले अंदाज़ में लिखा — 'सरस्वती ज़बान पर नहीं काग़ज़ पर सवार है। लक्ष्मी दरवाज़े पर नहीं बालाए बाम बैठी हुई है। दाना दिखाता हूँ बुलाता हूँ, पर उतरने का नाम नहीं लेतीं। क़िस्मत में शायद लिखा या न लिखा। आजकल 'बाज़ारे हुस्न' की सफ़ाई और नये नाविल की तसनीफ़ में बेहद मसरूफ़ हूँ। 'बाज़ारे हुस्न' का गुजराती तर्जुमा शाया हो रहा है। हिन्दी में लोग इसे बेहतरीन नाविल ख़याल करते हैं। कहानियों का तर्जुमा बँगला ज़बान में हो रहा है। हिन्दी में पब्लिशर ख़ूब हैं। किताब की इशाअत में कोई रुकावट नहीं हुई।'

साल भर में पहला संस्करण बिक भी गया। ऐसे में मुंशीजी के जोशों का क्या कहना। लेकिन एक बात बराबर खल रही थी कि कहाँ तो एक दूसरी ही ज़बान गुजराती में किताब का तर्जुमा निकल रहा है और कहाँ जिस ज़बान में किताब असल पहली लिखी गयी उसी में छपने का अब तक कोई बंदोबस्त नहीं हो सका। निगम साहब को इसके बारे में लिखे हुए एक साल पूरा हो रहा था और अब तक वह प्रस्ताव पर विचार ही कर रहे थे। आख़िरकार मुंशीजी ने जैसे भी हो मामला तय करने की ग़रज़ से बहुत दुखी होकर और शायद थोड़ा झुँझलाकर २२ अप्रैल १९२ को निगम साहब को लिखा —

अगर इन सूरतों में कोई पसन्द न हो तो मुझे पहले एडीशन के लिए ढाई सौ रुपये अता फ़रमायें। हिन्दी में मुझे पाँच सौ मिले थे। गुजराती एडीशन

---

१ दे

के मुझे सौ रुपये मिलें। आप जिस तरह चाहें फ़ैसला करें। ढाई सौ रुपये ग़ालिबन पब्लिशर से ज़्यादा मतालबा[1] नहीं है। मेरी डेढ़ साल की मेहनत और ख़ाम फ़र्साई का नतीजा यह किताब है। अगर यह सब शर्तें आपको नागवार मालूम हों तो अपनी मर्ज़ी के मुताबिक़ किताब छापा करके मुझे जो चाहे दे दें। मैं आपका मशकूर हूँगा। मुझे यह सख़्त ज़िल्लत मालूम होती है कि अपनी किताब के लिए पब्लिशरों की ख़ुशामद करता फिरूँ।

ख़ैर, किताब छपी — लेकिन कोई ख़ास कामयाबी उसे नहीं मिली। उर्दू वालों के लिए कोठे की ज़िन्दगी और उसके मसलों में कोई नयापन नहीं था। नज़ीर अहमद, सरशार और मिर्ज़ा रुसवा जैसे लोग उसके बारे में बहुत लिख चुके थे और बहुत अच्छा लिख चुके थे।

---

१ माँग २ क़लमघिसाई

१२

भारत-मंत्री माण्टेग्यू ने अपना पद सँभालते ही २० अगस्त १९१७ को शासन-सुधार का आश्वासन दिया। तत्काल उसका प्रभाव पड़ा। होमरूल के लिए 'निष्क्रिय प्रतिरोध' आन्दोलन की जो बात उस समय उठ रही थी वह दब गयी और उसकी जगह यह निश्चय किया गया कि एक डेपुटेशन वाइसराय और भारत-मंत्री के पास भेजा जाय जो कांग्रेस-लीग योजना के आधार पर उनसे बात करे। प्रसिद्ध लिबरल नेता सी॰ वाई॰ चिन्तामणि को इस कमेटी का प्रधान चुना गया। नवम्बर के महीने में यह डेपुटेशन माण्टेग्यू और चेम्सफोर्ड से मिला।

उन दिनों सारे देश में चारों ओर इसी रिफ़ार्म स्कीम की चर्चा थी। माण्टेग्यू और चेम्सफोर्ड सारे देश में घूम-घूमकर विशिष्ट लोगों से मिल रहे थे।

माण्टफ़ोर्ड रिपोर्ट छपने पर मिसेज़ बेसेण्ट ने कहा था कि इस रिफ़ार्म स्कीम का ब्रिटेन की ओर से पेश किया जाना और हिन्दुस्तान का उसे मंजूर करना दोनों ही बातें अशोभन होंगी। लेकिन माण्टेग्यू से मिलने पर उनका विचार बदल गया और वे कुछ दूसरा ही राग गाने लगीं।

देशभर के नरमदली उनकी इस बात को दुहराते और बड़े व्यथित स्वर में कहते — मिस्टर माण्टेग्यू बेचारे क्या कर सकते हैं अगर एक तरफ़ यहाँ के गरमदल-वाले और दूसरी तरफ़ इंगलैण्ड के कट्टरपंथी दोनों ही उनका विरोध करें।

जिसका मतलब था कि रिफ़ार्म स्कीम अपने मूल उद्देश्य में असफल हो रही थी। आख़िरकार जून १९१८ में रिफ़ार्म स्कीम अपने अन्तिम रूप में देश के सामने आयी — भारत की राष्ट्रीय आकांक्षाओं को कुचलने-मसलने की, नरमपन्थी तत्त्वों को बढ़ावा देकर राष्ट्रीय आन्दोलन में फूट डालने की एक धूर्ततापूर्ण योजना। ब्रिटिश सरकार की पुरानी दुरंगी नीति का एक नया रूप — नरमपन्थवालों को उभारो और उग्र राष्ट्रवादियों को सख़्ती से कुचलो।

भारतरक्षा कानून जिसके अन्तर्गत सरकार ने कल ही व्यापक अधिकार अपने हाथ में ले लिये थे ज़ोरों से काम कर रहा था। अख़बारों का गला घोंटा जा रहा था। सभा-सोसायटी पर रोक लगी थी। लोग सब तरफ़ जेलों में बन्

किये जा रहे थे। मौलाना मुहम्मद अली और शौकत अली लड़ाई छिड़ने के तीन महीने बाद अक्तूबर १९१४ से ही जेल में बन्द थे और लड़ाई खत्म होने के भी बरस भर बाद तक बन्द रहे आये। तिलक और विपिनचन्द्र पाल के दिल्ली और पंजाब-प्रवेश पर रोक लगी हुई थी।

सरकार को अपनी लड़ाई के लिए चाहिए जवान भी थे रुपये भी मगर अपने ढंग से। तिलक-जैसे पुराने उग्र राष्ट्रवादी पर उसका विश्वास कर सकना कठिन था। मदद लेते भी डर लगता था। तिलक कठोर व्यावहारिक राजनीतिज्ञ थे और सरकार भी इस बात को समझती थी।

बम्बई के गवर्नर ने जब युद्ध के प्रसंग में नेताओं की एक सभा बुलायी तो तिलक भी उसमें गये। पर उन्हें बोलते अभी मुश्किल से दो मिनट हुआ था कि जबरन् चुप करा दिया गया क्योंकि उन्होंने वहाँ भी भारत के राष्ट्रीय अधिकारों की बात उठायी। ठीक है हम आपकी हर मदद करेंगे लेकिन हमें भी तो बदले में दीजिए कुछ! और फिर, जब हमारे जवान आपकी पलटन में भर्ती होकर लड़ेंगे तो उन्हें भी योग्यतानुसार वही रैंक या स्थान मिलना चाहिए जो कि आप अपने सैनिकों को देते हैं। यह तो बिलकुल न्याय की बात है। लेकिन सरकार यह न्याय की बात सुनने के लिए तैयार न थी और तिलक को बैठा दिया गया। वाइसराय ने जब दिल्ली में मीटिंग बुलायी और गांधी जी को उसके लिए आमंत्रित किया तो गांधी जी को पहले उसमें जाने में आपत्ति हुई, केवल इस कारण से नहीं कि सुना जाता था ब्रिटेन ने रूस से कोई गुप्त संधि की है जिसके अन्तर्गत कुस्तुनतुनिया टर्की से लेकर रूस को दे देने की बात थी बल्कि इसलिए भी कि तिलक और मिसेज बेसेन्ट जैसे लोगों को नहीं आमंत्रित किया गया था। लेकिन लॉर्ड चेम्सफ़र्ड ने उनको समझा लिया और वह मीटिंग में शरीक हुए। तिलक को भी तार देकर दिल्ली बुलाया पर तिलक ने जाने से इनकार कर दिया। उनके दिल्ली प्रवेश पर रोक लगी हुई थी और इस तरह जाना उनके लिए असम्मानजनक था।

अगस्त १९१८ में तिलक पर एक नयी पाबन्दी यह लगा दी गयी कि वह कलेक्टर से इजाजत लिये बग़ैर पलटन में भर्ती होने का समर्थन करने के लिए भी कहीं भाषण न दे सकते थे।

उन्हीं दिनों तिलक ने गांधी जी के रवैये से शायद कुछ खिन्न होकर उनके पास पचास हज़ार रुपये का एक चेक भेजा था जो कि एक तरह की ज़मानत थी— अगर आप सरकार से यह आश्वासन लेकर मेरे पास भेज दें कि हिन्दुस्तानियों को भी फ़ौज में कमिशण्ड रैंक मिलेगा तो मैं अपने महाराष्ट्र से पाँच हज़ार जवान आपको भर्ती करके दूँगा और अगर मैं यह न कर सकूँ तो आप इस रुपये को ज़ब्त कर लें।

लेकिन गांधी जी इसके लिए भी तैयार न थे और उन्होंने यह कहकर तिलक का पक्ष कमज़ोर किया कि सरकार को बिलकुल शुद्ध मन से सहायता देनी चाहिए, उसका रूप किसी प्रकार सौदेबाज़ी का न होना चाहिए। दक्षिण अफ्रीका में बूअर युद्ध में सरकार का साथ देने के बाद वहाँ की सरकार ने उनके साथ जो कुछ किया था उससे भी शिक्षा लेने के लिए गांधी जी तैयार न थे। उनका मोहभंग होने में अभी कुछ देर थी।

बहरहाल सरकार ने अच्छी तरह समझ लिया था कि तिलक को, और तिलक जिनके प्रतीक थे उन्हें, दबाकर रखने में ही साम्राज्य की सुरक्षा है।

इस तरह मुल्क के सामने ब्रिटिश हुकूमत के दो चेहरे आये — एक तो मुस्कराता हुआ चिकना-चिकना मांटफ़र्ड का सुधार रिफ़ार्म स्कीम का चेहरा और दूसरा लाल-लाल आँखें निकाले घूँसे से डराता हुआ रौलट ऐक्ट का चेहरा

मुंशी जी व्यावहारिक राजनीति के क्षेत्र से बिलकुल अलग अपने एक कोने में बैठे हुए ख़ामोशी से काम कर रहे थे — लेकिन आँख-कान खूब खुले हुए, देश-विदेश की हर बड़ी घटना के प्रति असाधारण रूप से सजग। और उनके जैसे अलग-थलग एक व्यक्ति के आचरण का समाज पर तत्काल कोई प्रभाव पड़ता हो या न पड़ता हो, उनकी दृष्टि में यह बात अपने आप में महत्व रखती थी कि व्यक्ति जिसको सत्य और न्याय समझता है उसके लिए अपनी आवाज़ उठाता है, भले वह आवाज़ कितनी ही अकेली हो, कितनी ही कमज़ोर हो। महत्व इस बात का नहीं है कि उस आवाज़ में दम था या नहीं और दुनिया उससे हिली या नहीं हिली। महत्व इस बात का है कि एक आदमी ने चाहे वह कितना ही छोटा क्यों न हो, सच को सच और झूठ को झूठ, न्याय को न्याय और अन्याय को अन्याय कहा।

एक से दो और दो से चार आवाज़ें पैदा हो जाती हैं वैसे ही जैसे तालाब में कंकड़ फेंकने पर एक से दो और दो से चार लहरें पैदा हो जाती हैं।

यह भी न हो तो भी दूसरों का मुँह जोहकर अपनी आवाज़ को गले में न घोंटने दो क्योंकि अपने उस अकेलेपन में भी उस आवाज़ का सांकेतिक महत्व रहेगा और जिस लक्ष्यसिद्धि को एक पीढ़ी नहीं पा पाती उसे आनेवाली पीढ़ियाँ पाती हैं।

यह विचार उनकी एक दिन की उपलब्धि नहीं है। अब से कोई चार बरस पहले उन्होंने इसी आशय की एक कहानी 'एक ही आवाज़' लिखी थी जो कहानी के रूप में कमज़ोर है लेकिन जिसकी आधारशिला यह सत्य एक बड़ा सत्य है।

सरकारी नौकरी अब दिनोंदिन दुःसह होती जा रही थी। चारों तरफ़ हाथ पैर मार रहे थे कि दूसरी कोई नौकरी मिल जाय तो इसको छोड़ दें। उनके दोस्त

निगम साहब की माडरेट राजनीति अब तक उन्हें सरकार से पूरा-पूरा सहयोग करने की ओर ले जा चुकी थी और लड़ाई के ज़माने में जब सूबे की सरकार ने 'वार जर्नल' (जंगी अख़बार) जारी किया तो निगम साहब को भी उसकी कमेटी का मेम्बर बनाया। मुदर्रिसी छोड़कर और अख़बार का काम करने की बात अब तक बीसियों बार मुंशी जी उनसे कह चुके थे। लिहाज़ा निगम साहब के दिल में ख़याल आया कि अगर मुंशी जी उस अख़बार के उर्दू संस्करण की ज़िम्मेदारी लेने को तैयार हों तो उन्हें वहाँ लाने की कोशिश की जाय।

मुंशी जी ने उनके इस प्रस्ताव के जवाब में ६ जुलाई १९१८ को लिखा —

अब मैं सरकारी अख़बारनवीस क्या बनूँगा। अगर अख़बारनवीस बनना तक़दीर में है तो ग़ैर-सरकारी आज़ाद अख़बारनवीस होऊँगा। जंग के मुताल्लिक़ मज़ामीन लिखने की भी इस वक़्त मुझे फ़ुर्सत नहीं है। बस इसी अपनी रफ़्तार-क़दीम[1] पर चलूँगा। बी॰ ए॰ करके किसी प्राइवेट स्कूल की हेडमास्टरी और एक आज़ाद अख़बार की एडिटरी और कुछ और पब्लिक काम। यही मेरा ख़्वाबे ज़िन्दगी[2] है। अख़बार मज़दूरों-किसानों का हामी[3] और मुआविन[4] होगा।

ज़ाहिर है कि ऐसा आदमी सरकारी अख़बार के बहुत काम का नहीं था। उधर निगम साहब की उन दिनों यही दुनिया थी। दिन-रात हुक्काम के संग का उठना-बैठना था। इन्हीं दिनों एक बार ऐसा हुआ कि निगम साहब ने अपनी बड़ी लड़की की शादी में अपने कुछ अंग्रेज़ दोस्तों को भी दावत दी। मुंशी जी को यह बात इतनी नागवार हुई कि उन्होंने निगम साहब को लिखा कि आपने अंग्रेज़ों को अपने यहाँ क्यों बुलाया। जब वह लोग हमको काला आदमी समझते हैं और हमारी छाया से भागते हैं तो हमें भी चाहिए कि उनको अपने से कतई दूर रक्खें।

ग़रज़ कि दोनों मित्र दो विरोधी दिशाओं में एक दूसरे से काफ़ी दूर जा पड़े थे और उनके बीच एक खाई निकलती चली आ रही थी लेकिन दोनों अपनी बातों के वफ़ादार आदमी थे और दोस्ती की बुनियादें बहुत पक्की थीं इसलिए कुछ ख़ास बिगड़ा नहीं। पर अब वह पुरानी बात भी न थी।

अपनी इन्हीं उलझनों में निगम साहब को जवाब देने में कुछ देर हो गयी, लेकिन उन्होंने शायद एक बार फिर और ज़ोर देने के लिए मुंशी जी से कहा। उसके जवाब में मुंशी जी ने अपने इनकार को दोहराते हुए लिखा —

• भाईजान तसलीम। हज़ार-हज़ार शुक्रिया। भला मुझ ग़रीब मुदर्रिस की याद अभी तक हुज़ूर के दिल में बाक़ी तो है। यह मामूली बात नहीं। ज़माने

---

१ पुरानी रफ़्तार २ जीवन-स्वप्न ३ समर्थक ४ सहयोगी

की हवा से आप भी नहीं बच सकते। और न मुझे इसका दावा है। मंसब¹ और मरतबत² का हुक्म बजा है और जो महज दोस्त है और कुछ नहीं उसका सानी³! शिकायत करे, वह गँवार। बुरा न मानिएगा।

कार नर्मल के मुताल्लिक। मुझे यहाँ मय मकान के सौ रुपये मिलते हैं इलाहाबाद में एक सौ बीस पर जाना मेरे लिए बेसूद है। और मैं बदकिस्मती से इसे कौमी काम नहीं समझता। मुझे इस काम से मुआफ़ रखिए।●

असल बात यही है मुंशी जी इसे कौमी काम नहीं समझते। लेकिन एक दोस्त उसी सब में लगा हुआ है इसलिए इतने कठमार ढंग से इस बात को कहने में भी झिझकता है लिहाजा मुंशी जी इधर उधर से बहाने खोजकर लाते हैं। लेकिन फिर डर मालूम होता है कि निगम साहब कहीं तनख्वाह को बढ़वाने की बात न कहें फिर क्या होगा? चुनांचे वह हिम्मत करके अगले ही जुमले में वह बात कह देता है जो अब तक उसके गले में फँस रही थी। किसी तरह यह किस्सा खत्म हो। बहरहाल मुंशी जी ने इसी खत में यह भी लिखा कि हाँ मैंने उसमानिया युनिवर्सिटी में दरख्वास्त दी है। अगर आप मिस्टर हैदरी पर मेरी बाबत कोई असर डाल सकें तो यह आपकी दोस्त-नवाजी होगी हालाँकि मुझे उम्मीद नहीं है कि हैदराबाद में मेरा कोई पुरसाँ⁴ होगा।

उर्दू लेक्चरर की जगह थी। मगर हुआ वही जो होना था। सर अकबर हैदरी सरकार के नामी तीरन्दाजों में थे प्रेमचन्द के लिए वहाँ कहाँ गुंजाइश थी यहाँ दर्शनशास्त्र के विभाग में नियुक्ति के लिए सारी कोशिश-पैरवी के बावजूद इकबाल की दाल नहीं गली जो उस वक्त वह अपनी शोहरत की चोटी पर थे।

आजकल अखबार दंगों की खबरों से भरे रहते हैं और कैसी-कैसी भयानक खबरें! लगता है कि न जाने कहाँ के खूँख्वार वहशी आ भरे हैं यहाँ! सब कुछ तहस-नहस कर डाला। खून की नदियाँ बहा दीं। एक से एक रोंगटे खड़े कर देनेवाली कहानियाँ और तसवीरें।

सब पता है मुंशी जी को। तर्क उनके पास नहीं है पर उनका दिल कहता है कि सब मनगढ़ंत बातें हैं। कहीं आसमान से थोड़े ही टपके हैं वास्तविक उसी धरती के तो बने हैं। मगर कैसे भाय उनको राज उन लोगों का जो कल तक राजा थे और ये लोग जो आज गद्दी पर बैठे हुए थे कल तक उनके गुलाम थे रिआया थे जिन्हें वह सरे-बाजार कोड़े मारते थे। खूब गहरा हल चला नीचे की मिट्टी ऊपर आ गयी। इसी को भूकम्प भी कहते हैं।

---

१ पद २ वैभव ३ मीत ४ पुछत्तर

वैसी ही कुछ चीज यहाँ भी खौल रही है, पक रही है भूमि के गर्भ में। और लोग उसे बहलाना चाहते हैं रिफ़ार्म स्कीम से!

मगर मुंशी जी तो पूरी तरह उसी भूडोल के साथ हैं। छोटे-मोटे सुधारों से उनका काम नहीं चलने का। फ़र्वरी १९१९ के उसी लेख में जिसका ज़िक्र ऊपर आ चुका है, मुंशी जी की नज़र इस नये ज़माने के उस एक रौशन पहलू पर भी जाती है जो उन काले धारों को किसी हद तक ढँक देता है। वह रौशन पहलू है बेज़बानों की ताक़त का ज़ाहिर होना। अब एक फ़ाक़ाकश मज़दूर भी अपनी अहमियत समझने लगा है और धन-दौलत की ड्योढ़ी पर सिर झुकाना पसंद नहीं करता। वह भी अच्छे मकानों में रहना चाहता है अच्छे खाने खाना चाहता है और मनोरंजन के लिए अवकाश की माँग करता है। वह पूँजी का दुश्मन है व्यक्तिगत संपत्ति की जड़ खोदनेवाला और व्यापारियों की अजारेदारी का हत्यारा। सब की एकता उसका जेहाद का नारा है। वह ऊँच-नीच को मिटाकर सारी ज़मीन को समतल बनाने की कोशिश करता है। वह ऐसी राज्य व्यवस्था स्थापित करना चाहता है जो धनोपार्जन के समस्त साधन अपने हाथ में रक्खे और हर व्यक्ति को उसकी मेहनत और योग्यता के अनुसार बराबर बाँटे। वह ज़मीन्दारों को एक गंदी और बेकार चीज़ समझता है और उनकी सम्पत्ति का उनके कब्ज़े से निकालकर जनता के कब्ज़े में रखना चाहता है।

और यह दूसरों की आग में हाथ सेंकने की बात नहीं है अपने देश के लिए भी उन्हें इसी आग की इसी भूडोल की ज़रूरत है। स्वराज्य की कच्ची पक्की से बहस करनेवाले वह नहीं हैं, उनके सवाल धरती से उठते हैं और धरती की करवट ही उनका जवाब दे सकती है—

● हमारे स्वराज्य के नेताओं में वकील और ज़मीन्दार ही सबसे ज़्यादा हैं। हमारी कौंसिलों में भी यही दो समुदाय आगे-आगे दिखायी पड़ते हैं। मगर कितने शर्म और अफ़सोस की बात है कि उन दोनों में से एक भी जनता का हमदर्द नहीं। वे अपने ही स्वार्थ और प्रभुत्व की धुन में मस्त हैं। वह अधिकार और शासन की माँग करते हैं और धन और वैभव के इच्छुक हैं जनता की भलाई के नहीं।
आप स्वराज्य की रट लगाइए, सेल्फ़ गवर्नमेण्ट की माँग कीजिए, कौंसिलों का विस्तार देने की माँग कीजिए, उपाधियों के लिए हाथ फैलाइए, जनता को इन चीज़ों से कोई मतलब नहीं है बल्कि अगर कोई अलौकिक शक्ति उसे मुखर बना सके तो वह साफ़ ज़ोरदार आवाज़ में ढोल बजाकर आपकी इन माँगों का विरोध करेगी। कोई कारण नहीं है कि वह दूसरे देश के हाकिमों के मुक़ाबले में आपकी हुकूमत को ज़्यादा पसंद करे। जो रैयत अपने अत्याचारी और लालची ज़मीन्दार के मुँह से कभी

हुई है, जिन अधिकार-सम्पन्न लोगों के अत्याचार और बेगार से उसका हृदय छलनी हो रहा है उनको हाकिम के रूप में देखने की कोई इच्छा उसे नहीं हो सकती।

इसकी क्या ज़मानत है कि आपके पंजे में आकर उनकी हालत और भी बुरी न हो जाएगी? आपने अब तक इसका कोई सबूत नहीं दिया कि आप उनकी भलाई चाहनेवाले हैं। अगर कोई सबूत दिया है तो उनकी बुराई चाहने का स्वार्थ का लोभ का कमीनेपन का। आप स्वराज्य की कल्पना का मज़ा ले-लेकर खूब चर्चे और बग़लें बजायें मगर अधिकारों के साथ-साथ कर्तव्यों का ध्यान रखना भी ज़रूरी है। जाहिल रईसों या ज़मीन्दारों से हमें शिकायत नहीं। उनकी आँखें उस वक्त खुलेंगी जब उनकी गर्दनें जनता के हाथों में होंगी और वह बेबस निगाहों से इधर-उधर ताक रहे होंगे। शिकायत हमें उन लोगों से है जो पढ़-लिखे हैं और ज़मीन्दार हैं वकील हैं और ज़मीन्दार हैं। वह अपने दिल से पूछें कि वह प्रजा के साथ अपना कर्तव्य पूरा कर रहे हैं?   उनका दिल साफ़ कहेगा कि तुम इस तराज़ू पर तौल गये और ओछे निकले।

आनेवाला ज़माना अब किसानों और मज़दूरों का है। दुनिया की रफ़्तार इसका साफ़ सबूत दे रही है। हिन्दुस्तान इस हवा से बेअसर नहीं रह सकता। हिमालय की चोटियाँ उसे इस हमले से नहीं बचा सकतीं।   जनता की इस बढ़ती हुई हालत से धोखे में न आइए। इनक़लाब के पहले कौन जानता था कि रूस की पीड़ित जनता में इतनी ताक़त छिपी हुई है? ●

और इसके क़रीब दस महीने बाद २१ दिसम्बर १९१९ को मुंशी जी ने निगम साहब को लिखा था—

मैंने अभी तक करेण्ट पालिटिक्स पर कुछ नहीं लिखा। मुझे ज़माना की पालिसी पर नज़र डालते हुए कुछ लिखना मुनासिब नहीं मालूम होता। मैं पीस सेलिब्रेशन का तो अलबत्ता ज़िक्र न करूँगा लेकिन रिफ़ार्म स्कीम का ज़िक्र न करना ग़ैर-मुमकिन है। और स्कीम या एक्ट के मुतअल्लिक़ मैं मिस्टर चिन्तामणि वग़ैरहुम से मुत्तफ़िक़[1] नहीं हूँ। मेरे ख़याल में मोतदिल[2] पार्टी इस वक़्त ज़रूरत से ज़्यादा मग़रूर[3] और नाज़ाँ है हालाँकि इस्लाहों[4] में अगर कोई खूबी है तो सिर्फ़ यह कि तालीमयाफ़्ता जमात को कुछ आसामियाँ ज़्यादा मिल जायेंगी और जिस तरह यह जमात वकील बनकर रिआया का खून पी रही है उसी तरह आइन्दा यह हाकिम होकर रिआया का गला काटेगी। इसके सिवा और कोई जदीद[5] अख़्तियार

---

१ सहमत २ माडरेट ३ घमण्ड में चूर ४ सुधारों ५ नया

वैसी ही कुछ चीज यहाँ भी पोस रही है, पक रही है भूमि के गर्भ में। और लोग उसे बहलाना चाहते हैं रिफ़ार्म स्कीम से।

मगर मुंशी जी तो पूरी तरह उसी भूडोल के साथ हैं। छोटे-मोटे सुधारों से उनका काम नहीं चलने का। फ़रवरी १९१९ के उसी लेख में जिसका ज़िक्र ऊपर आ चुका है मुंशी जी की नज़र इस नये ज़माने के उस एक रौशन पहलू पर भी जाती है जो उन काले दाग़ों को किसी हद तक ढँक देता है। वह रौशन पहलू है बेज़बानों की ताक़त का ज़ाहिर होना। अब एक फ़ाक़ाकश मज़दूर भी अपनी अहमियत समझने लगा है और धन-दौलत की ड्योढ़ी पर सिर झुकाना पसन्द नहीं करता। वह भी अच्छे मकानों में रहना चाहता है अच्छे खाने खाना चाहता है और मनोरंजन के लिए अवकाश की माँग करता है। वह पूँजी का दुश्मन है, व्यक्तिगत संपत्ति की यह दावेदारा और व्यापारियों की जत्थेबंदी का हत्यारा। सब की एकता उसका बेहाव का नारा है। वह ऊँच-नीच को मिटाकर सारी ज़मीन को समतल बनाने की कोशिश करता है। वह ऐसी राज्य-व्यवस्था स्थापित करना चाहता है जो धनोपार्जन के समस्त साधन अपने हाथ में रखे और हर व्यक्ति को उसकी मेहनत और योग्यता के अनुसार बराबर बाँटे। वह ज़मींदारों को एक गंदी और बेकार चीज़ समझता है और उनकी सम्पत्ति को उनके कब्ज़े से निकालकर जनता के क़ब्ज़े में रखना चाहता है।

और यह दूसरों की आग में हाथ सेंकने की बात नहीं है अपने देश के लिए भी उन्हें इसी आग की इसी भूडोल की तड़प है। स्वराज्य की ऊपरी फ़लसफ़ी से बहल जानेवाले वह नहीं हैं, उनके सवाल धरती से उठते हैं और धरती की करवट ही उनका जवाब दे सकती है—

● हमारे स्वराज्य के नेताओं में वकील और ज़मींदार ही सबसे ज़्यादा हैं। हमारी कौंसिलों में भी यही दो समुदाय आगे-आगे दिखायी पड़ते हैं। मगर कितने शर्म और अफ़सोस की बात है कि उन दोनों में से एक भी जनता का हमदर्द नहीं। वे अपने ही स्वार्थ और प्रभुत्व की धुन में मस्त हैं। वह अधिकार और शासन की माँग करते हैं और धन और वैभव के इच्छुक हैं, जनता की भलाई के नहीं। आप स्वराज्य की हाँक लगाइए, सेल्फ़ गवर्नमेण्ट की माँग कीजिए, कौंसिलों को विस्तार देने की माँग कीजिए, उपाधियों के लिए हाथ फैलाइए, जनता को इन चीज़ों से कोई मतलब नहीं है बल्कि अगर कोई अलौकिक शक्ति उसे मुखर बना सके तो वह बाज़ ज़ोरदार आवाज़ में शंख बजाकर आपकी इन माँगों का विरोध करेगी। कोई कारण नहीं है कि वह दूसरे देश के हाकिमों के मुकाबले में आपकी हुकूमत को ज़्यादा पसंद करे। जो रैयत अपने अत्याचारी और लालची ज़मींदार के मुँह में अभी

हुई है जिन अधिकार-सम्पन्न लोगों के अत्याचार और बेगार से उसका हृदय छलनी हो रहा है उनको हाकिम के रूप में देखने की कोई इच्छा उसे नहीं हो सकती।

इसकी क्या ज़मानत है कि आपके पंजे में आकर उनकी हालत और भी बुरी न हो जाएगी? आपने अब तक इसका कोई सबूत नहीं दिया कि आप उनकी भलाई चाहनेवाले हैं। अगर कोई सबूत दिया है तो उनकी बुराई चाहने का स्वार्थ का लोभ का कमीनेपन का। आप स्वराज्य की कल्पना का मज़ा ले-लेकर खूब फूलें और बग़लें बजायें मगर अधिकारों के साथ-साथ कर्तव्यों का ध्यान रखना भी ज़रूरी है। जाहिल रईसों या ज़मीन्दारों से हमें शिकायत नहीं। उनकी आँखें उस वक़्त खुलेंगी जब उनकी गर्दनें जनता के हाथों में होंगी और वह बेबस निगाहों से इधर-उधर ताक रहे होंगे। शिकायत हमें उन लोगों से है जो पढ़े-लिखे हैं और ज़मीन्दार हैं वकील हैं और ज़मीन्दार हैं। वह अपने दिल से पूछें कि वह प्रजा के साथ अपना कर्तव्य पूरा कर रहे हैं? उनका दिल साफ़ कहेगा कि तुम इस तराज़ू पर तौले गये और ओछे निकले।

आनेवाला ज़माना अब किसानों और मज़दूरों का है। दुनिया की रफ़्तार इसका साफ़ सबूत दे रही है। हिन्दुस्तान इस हवा से बेअसर नहीं रह सकता। हिमालय की चोटियाँ उसे इस हमले से नहीं बचा सकतीं। जनता की इस दबी हुई हालत से धोखे में न आइए। इनक़लाब से पहले कौन जानता था कि रूस की पीड़ित जनता में इतनी ताक़त छिपी हुई है? ●

और इसके क़रीब दस महीने बाद २१ दिसम्बर १९१९ को मुंशी जी ने निगम साहब को लिखा था—

मैंने अभी तक करेन्ट पालिटिक्स पर कुछ नहीं लिखा। मुझे ज़माना की पालिसी पर नज़र डालते हुए कुछ लिखना मुनासिब नहीं मालूम होता। मैं पीस डिमॉन्स्ट्रेशन का तो अलबत्ता ज़िक्र न करूँगा लेकिन रिफ़ार्म स्कीम का ज़िक्र न करना ग़ैर-मुमकिन है। और स्कीम या ऐक्ट के मुताल्लिक़ मैं मिस्टर चिन्तामणि वग़ैरहुम से मुत्तफ़िक़ नहीं हूँ। मेरे ख़याल में मोतदिल पार्टी इस वक़्त ज़रूरत से ज़्यादा मग़रूर और भारी है हालाँकि इसलाहों में अगर कोई खूबी है तो सिर्फ़ यह कि तालीमयाफ़्ता जमात को कुछ आसानियाँ ज़्यादा मिल जायेंगी और जिस तरह यह जमात वकील बनकर रियाया का खून पी रही है उसी तरह आइन्दा यह हाकिम होकर रियाया का गला काटेगी। इसके सिवा और कोई जदीद अख़्तियार

---

१ सहमत २ माडरेट ३ घमण्ड में चूर ४ सुधारों ५ नया

नहीं किया गया। जो अख्तियारात दिये गये हैं उनमें भी इतनी शर्तें लगा दी गयी हैं कि उनका देना न देना बराबर हो गया है। ऐसी हालत में मैं जमाना में क्या लिखूँगा। मैं अब क़रीब क़रीब बोल्शेविस्ट उसूलों का क़ायल हो गया हूँ।

फ़िज़ूल पेचीदगियों में पड़ने की उन्हें आदत नहीं। सेरो दूध में से तोला भर मक्खन निकलता है। कौन पीता बैठे उतना सब दूध। मक्खन ले लिया। काफ़ी है।

बाक़ी बातों से उन्हें बहस नहीं। होगा जो होगा। कोई किताब थोड़े ही लिखनी है बोल्शेविज़्म पर। मोटी-मोटी बातें समझ ली बहुत है।

यही कि दुनिया दो हिस्सों में बँटी हुई है। करोड़ों नंगे-भूखे और मुट्ठीभर मालदार जो उन करोड़ों का खून पीकर ही मोटे हुए हैं।

यह अन्याय अब नहीं चल सकता। झूठ है जिसका जैसा भाग्य भगवान ने जिसको जैसा बनाया भगवान ने सबको बराबर बनाया है। यह ऊँच-नीच ग़रीब-अमीर की दीवारें हमने खुद खींची हैं। और हमीं अब उनको मिटायेंगे। अपने पौरुष से अपना खून-पसीना बहाकर। रूस में यही हुआ है। दूसरा कुछ नहीं हुआ। यही बोल्शेविज़्म है।

जंगल में आग लग जाती है। नदी में बाढ़ आ जाती है। भूडोल में पहाड़ मिट्टी में मिल जाते हैं और मिट्टी में से पानी निकल आता है। बोल्शेविज़्म भी मुंशी जी के लिए कुछ ऐसी ही चीज़ है—सदियों से दबी-पिसी जनता की बग़ावत बहुत हो ली अंधेरगर्दी रोज़-रोज़ की हारी-बेगारी फ़ाक़ा-मस्तकशी। क्यों सहें किसी की धौंस। ज़मीन उसकी जो उसे जोते।

ऐसी कोई नयी बात भी नहीं है इसमें। नया इतना ही है कि उखड़ी-उखड़ी सी एक बात जो दबी-सहमी उनके सीने में कहीं पड़ी थी उसे किसी देश के लोगों ने पूरा करके दिखा दिया। मन के फीके रंग चटख हो गये और पहली बार उन्होंने समझा कि किसान चकन पकने पर बग़ावत भी कर सकता है। अगर रूस में कर सकता है तो यहाँ भी कर सकता है। ज़रूरत सिर्फ़ इस बात की है कि उन्हें तैयार किया जाय जगाया जाय—वैसे ही जैसे वहाँवालों ने जगाया टाल्स्टाय ने तुर्गनेव ने चेख़ोव ने गार्की ने। और मुंशी जी को अब दूसरी ही हैरानी थी कि अब तक मेरी समझ में यह बात क्यों नहीं आयी। कैसा हो जाता है कभी-कभी कि आँख के सामने पड़ी हुई चीज़ नज़र नहीं आती! बरसों भटका मैं इधर उधर, कभी तो रोज़ इसके पीछे तो चार रोज़ उसके पीछे समझ में ही न आता था कि अपने लिए कौन-सा रास्ता अख्तियार करूँ और इतना बड़ा-सा चौड़ा-सा रास्ता जो मेरी आँख के सामने था वह मुझे दिखा ही नहीं! शुरू से मैं उन्हीं के बीच रहा पला बढ़ा

उठा-बैठा बोला-बतियाया। खुद हल नहीं जोता तो क्या, उनका राई-रत्ती हाल तो जानता हूँ। क्या खाते हैं, क्या पहनते हैं, क्या ओढ़ते हैं, क्या बिछाते हैं, क्या सोचते हैं, क्या कहते हैं, कैसे कहते हैं, सब कुछ तो मैंने देखा है, सुना है। चौपाल में बैठकर चिलम पीते, अलाव के गिर्द बैठकर घण्टों आलू-मटर भूनकर खाते और जाने कहाँ-कहाँ की बातें करते, कोल्हाड़े में ऊख का रस पेरते, आम-महुआ बीनते, करबी काटते, गैया को सानी घोरते, मोट खींचते, हल जोतते, खेत हुगाते, बीज छिड़कते, घास काटते, दँवाते, ओसाते — हर समय तो मैंने उन्हें देखा है, उनसे बातें की हैं और वैसे नहीं जैसे शहरी बाबू करते हैं। मैं कहाँ का शहरी बाबू हूँ। मैं तो खुद किसान हूँ। उनका कौन-सा दुख-दर्द ऐसा है जो मैंने एक न एक कुर्मी के घर में नहीं देखा। फिर मुझे क्यों नहीं दिखायी दिया कि मेरी असल ज़मीन कौन-सी है? क्यों भटकता रहा मैं इधर-उधर? कोई बड़ा क़िस्सा किसानों की ज़िन्दगी को लेकर मैंने क्यों नहीं लिखा? आधी उम्र निकल गयी और जो ज़मीन ख़ास मेरे जोतने की थी उसे मैंने जाना ही नहीं!

और बाज़ारे हुस्न ख़त्म होने के तीन महीने के भीतर २ मई १९१८ को मुंशी जी ने प्रेमाश्रम के मूल उर्दू रूप गोशाए आफ़ियत पर काम शुरू कर दिया।

अलाव को घेरकर किसान बैठ गये और बातें होने लगीं — अपने दुख-दर्द की, हारी-बीमारी की, आफ़त-मुसीबत की, रिश्वत और घूस की। कितना सहज रंग है उनका जैसे ज़िन्दगी खुद-ब-खुद बोल रही हो, कुम्हार अपने चाक पर बैठा गीली मिट्टी से खेल रहा हो, मछली पानी में तैर रही हो, शेर जंगल में विचर रहा हो।

इन्हीं दिनों फ़रवरी १९१९ में रौलट बिल धारा सभा में पेश हुआ। अंग्रेज़ सरकार को बिना शर्त सहायता देने का यह अच्छा पुरस्कार गांधी जी को मिला। वह तिलमिला उठे और उन्होंने तत्काल अपने इस निश्चय की सूचना दी कि वह इसके विरुद्ध सत्याग्रह करेंगे। फिर अपने दौरे पर निकले। हर जगह उन्हें जनता का विराट समर्थन प्राप्त हुआ। ऐसा क्योंकर संभव हुआ जब कि गांधी जी देश के लिए अभी काफ़ी नये थे? इसका उत्तर अंग्रेज़ सरकार से ही इन शब्दों में मिलता है — मिस्टर गांधी को सब जगह एक बहुत ऊँचे आदर्शों का और पूर्णतः निस्स्वार्थ टाल्स्टाय-भक्त समझा जाता है। दक्षिण अफ्रीका के हिन्दुस्तानियों के लिए उन्होंने जो कुछ किया था उसके कारण तभी से उन्हें वह सब परंपरागत आदर और भक्ति अपने देशवासियों की ओर से मिली जो पूरबवाले सदा से अपने साधु-सन्तों को देते

आये हैं जिनके त्याग और साधना में उन्हें पूरा विश्वास है। जहाँ तक गांधी की बात है, उनकी शक्ति इसलिए और बढ़ जाती है कि उनके प्रशंसक किसी एक धर्म या सम्प्रदाय के माननेवाले नहीं हैं। जब से उन्होंने अहमदाबाद में रहना शुरू किया है वह बराबर तरह-तरह के सामाजिक कामों में सक्रिय योग देते हैं। जिस तत्परता से वह किसी भी ऐसे व्यक्ति या समूह का पक्ष लेकर जिसे वह पीड़ित समझते हैं, लड़ने को तैयार रहते हैं, उसके कारण उनके देशवासी उन्हें बहुत चाहने लगे हैं। बम्बई प्रदेश के बहुत से हिस्सों में देहाती और शहरी लोगों के बीच उनका प्रभाव संदेह से परे है और उन्हें इतने गहरे आदर और सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है कि उसको भक्ति भी कहा जा सकता है। आत्मिक बल को भौतिक शक्ति से बड़ा मानते हुए मिस्टर गांधी ने अच्छी तरह समझ लिया कि उन्हें कर्तव्यवश रौलट ऐक्ट के विरुद्ध अपने उस अस्त्र निष्क्रिय प्रतिरोध का प्रयोग करना चाहिए जिसका इतना सफल प्रयोग उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में किया था। २४ फ़र्वरी को घोषित किया गया कि अगर बिल पास हुए तो वह निष्क्रिय प्रतिरोध या सत्याग्रह के आन्दोलन का नेतृत्व करेंगे। इस घोषणा को सरकार ने और बहुत-से भारतीय राज नीतिज्ञों ने बहुत गंभीर रूप में ग्रहण किया। लेजिस्लेटिव कौंसिल के कुछ नरमदली सदस्यों ने ऐसा क़दम उठाने के नतीजों के बारे में खुले आम अपनी आशंका व्यक्त की। मिसेज़ बेसेण्ट ने जिन्हें भारतीयों के मानस की बहुत अच्छी समझ है, बहुत गंभीर शब्दों में मिस्टर गांधी को चेतावनी भी दी कि जिस तरह के आन्दोलन की बात उनके मन में है उसके फलस्वरूप ऐसी बहुत-सी शक्तियों को खुल खेलने का अवसर मिलेगा जिनसे असीम क्षति पहुँचने की आशंका है।

लेकिन गांधी जी को अपने ऊपर पूरा विश्वास था और उन्होंने देशव्यापी हड़ताल के लिए ३० मार्च की तारीख़ नियत की जो कि बाद को बदलकर ६ अप्रैल कर दी गयी जिस परिवर्तन की सूचना दिल्ली को समय से न मिल सकी। अत दिल्ली में उसी रोज़ हड़ताल हुई और जुलूस निकले—और गोली भी चली। उसके अगले रोज़ जो जुलूस निकला उसका नेतृत्व स्वामी श्रद्धानन्द कर रहे थे। कुछ गोरे सिपाहियों ने गोली चलाने की धमकी दी तो स्वामी जी अपना सीना खोलकर खड़े हो गये आन्दोलन का यह एक नया स्तर था। इसके बारे में सरकारी प्रकाशन इण्डिया १९१९ लिखता है—इस आम हलचल की एक खास बात यह थी कि हिन्दुओं और मुसलमानों में अनोखा भाईचारा दिखलायी दिया हिन्दू खुले आम मुसलमानों के हाथ से और मुसलमान हिन्दुओं के हाथ से पानी लेकर पी रहे थे। हिन्दू-मुस्लिम एकता इन जुलूसों का मुख्य नारा था।

यह हाल था इस भाईचारे का कि हिन्दू नेताओं को मसजिदों तक में जाकर

भाषण देने की आज़ादी मिल गयी थी। सारा देश उस समय जैसे एक बारूद खाना बना हुआ था जिसको विस्फोट के लिए बस एक चिनगारी की ज़रूरत थी। ऐसे में गांधीजी का आन्दोलन अधिकारियों के लिए निश्चय ही डरने की चीज़ थी और उन्हें सबसे ज़्यादा डर था पंजाब को लेकर क्योंकि वही भारतीय सेना का मेरुदण्ड था।

उन दिनों वहाँ पर सर माइकेल ओ' डायर का राज था जो एक मशहूर जल्लाद था। राष्ट्रीयता की आग का पंजाब में दाखिल होना उसे किसी तरह गवारा न था। इधर कांग्रेस ने अपने उस वर्ष के अधिवेशन के लिए अमृतसर को ही चुना था। दोनों फ़रीक़ों के बीच यह एक तरह की चुनौती थी।

ऐसी विस्फोटक स्थिति में दूसरा क्या होता — जनता में ज़बर्दस्त दबाव की आग भड़की कुछ हिंसात्मक कार्रवाइयाँ भी यहाँ-वहाँ हुईं और सरकार तो जैसे अपने होश-हवास ही खो बैठी।

और इसी सिलसिले की आख़िरी कड़ी थी १३ अप्रैल १९१९ का जलियाँवाला बाग़ का हत्याकाण्ड जिसने १८५७ के विद्रोह की याद को ताज़ा कर दिया।

मार्शल ला लगा हुआ था। उसकी अवज्ञा करके अमृतसर के एक बाग़ में जिसका एक ही छोटा-सा रास्ता था बीस हज़ार लोगों की मीटिंग हो रही थी जब कि जेनरल डायर ने पचास गोरों और सौ हिन्दुस्तानी सिपाहियों की गारद के साथ वहाँ पहुँचकर मीटिंग को फ़ौरन बर्ख़ास्त करने का हुक्म दिया और उस पूरे बीस हज़ार के मजमे को बाग़ के उस अकेले छोटे-से रास्ते से बाहर निकल जाने के लिए दो मिनट का वक़्त दिया। और फिर गोलियाँ चलनी शुरू हुईं। कुल सोलह सौ राउण्ड गोलियाँ चलीं — और अगर इससे ज़्यादा नहीं चलीं तो सिर्फ़ इसलिए कि थीं नहीं। चंद मिनटों में ज़मीन लाशों से पट गयी — और घायलों से जिनकी मरहम-पट्टी का तो ज़िक्र ही क्या उनके पास कोई पहुँच भी न सकता था। और वह लोग एक बूँद पानी तक के लिए तड़प-तड़पकर मर गये। जैसा कि बाद में जेनरल डायर ने हण्टर कमेटी के सामने कहा — मारना ही उनका उद्देश्य था। उसने कहा — शहर फ़ौज के क़ब्ज़े में आ गया था और मैंने सबेरे *ही मुनादी करवा दी थी कि किसी तरह की सभा न हो।* लोगों ने जब इस तरह खुले आम मेरी हुक्मउदूली की तो मैंने तय किया कि इन लोगों को इस बार सबक़ सिखाना चाहिए ताकि पीछे वह लोग मेरे ऊपर हँस न सकें। अगर मेरे पास और गोली होती तो मैंने और भी देर तक चलायी होती। मैंने सोलह सौ राउण्ड ही चलाये क्योंकि इससे ज़्यादा मेरे पास थे नहीं।

सबक़ सिखाने की यह क्रिया बहुत दिनों तक चलती रही। नये-नये तरीक़े

खोजकर लोगों को बन्द किया गया। पानी की सप्लाई काट दी गयी। बिजली की सप्लाई काट दी गयी। खुले आम सड़कों पर बाज़ारों में लोगों को कोड़े मारे गये। कहीं-कहीं चौराहों पर टिकटियाँ भी खड़ी हो गयीं। लोगों को पेट के बल घिसटाया गया। क्या नहीं हुआ उस समय। छोटे-मोटे फ़ौजी अफ़सरों ने अपनी तरफ़ से और भी तरह-तरह की नयी सज़ाएँ ईजाद कीं। हर बात की छूट थी जो चाहे करो और ऐसा करो कि फिर भूलकर सर उठाने की हिम्मत ये लोग न करें।

ऊपर से मज़ा यह कि एक शब्द अख़बार में नहीं निकल सकता था। महीनों तक किसी को कुछ भी पता न चल सका। मुंशीजी उन दिनों इलाहाबाद में बी॰ ए॰ का इम्तहान दे रहे थे। पर कहीं से कुछ भुनगुन उन्हें मिल गयी थी। गोरखपुर लौटकर १९ अप्रैल १९१९ के अपने ख़त में उन्होंने ताज साहब को लिखा — ख़ुदा करे लाहौर में अमन हो। फिर ३ जुलाई के ख़त में — शुक्र है कि पंजाब में अब सुकून हुआ।

बस। इतना ही। क्या कहूँ और। ज़बान पर बंदिश है। मगर जी घुट रहा है और ज़ंजीर को झटककर तोड़ देने का इरादा और पक्का हो रहा है।

धिक्कार है मन की इस कमज़ोरी पर। इतनी ज़रा-सी बात के लिए साहस नहीं बटोर पाता। अब तो नहीं सही जाती यह ज़िल्लत। अपमान की भी कोई सीमा होती है। आदमी को किरिच के ज़ोर पर मजबूर करना कि वह कीड़े मकोड़ों की तरह पेट के बल रेंगे।

दिल में ग़ुस्सा है, तिलमिलाहट है, एक विप्लव है जो न जाने कब से अंदर ही अंदर पकता रहा है, उस सबको भी वाणी देना ज़रूरी है। और उसे वाणी मिलती है बाप-बेटे मनोहर और बलराज के रूप में। दोनों जान के गाहक हैं, दिलेर हैं। जान पर खेल जाना उनके लिए कोई चीज़ नहीं है। बलराज में अगर जवानी के ख़ून की गर्मी है तो मनोहर में कमज़ोर निराशा के भीतर से निकलनेवाला साहस जिसका कहीं ओर-छोर नहीं है। वह क्या समझते हैं ज़मींदार को या उसके गुर्गों को। उन्हें तो बस अपने लाठी-गँड़ासे का भरोसा है।

लेकिन क़ादिर बिल्कुल उनका उलटा है, शान्ति की साकार प्रतिमा। उसके हृदय में किसी के लिए कोई राग-द्वेष नहीं है।

और सच्चाई यह है कि ये दोनों मुंशीजी के ही चित्त की दो विरोधी वृत्तियाँ हैं, जिनमें बराबर महाभारत चला करता है।

लेकिन उनसे भी बड़ी सच्चाई है ज़ुल्म की यह चक्की जिसमें किसान हरदम पिसता रहता है —

● जिस तरह सूरज डूबने पर एक विशेष प्रकार के जीवधारी जो न पशु हैं

में पक्षी जीविका की खोज में निकल पड़ते हैं और अपनी लंबी कतारों से आसमान को छा लेते हैं उसी तरह कातिक का आरम्भ होते ही एक अन्य प्रकार के जन्तु देहातों में निकल पड़ते हैं और अपने लश्करों तथा खोमचारियों से समस्त ग्राम-मण्डल को उजाड़ कर देते हैं। उनके उठते ही भूकम्प-सा आ जाता है और लोग भय से प्राण छिपाने लगते हैं।

अधिकारी वर्ग और उनके कर्मचारी विरहिणी की भाँति इस शुभ काल के दिन गिना करते हैं। शहरों में तो उनकी दाल नहीं गलती या गलती है तो बहुत कम। वहाँ हर चीज़ के लिए उन्हें जेब में हाथ डालना पड़ता है मगर देहातों में जेब की जगह उनका हाथ अपने सोटे पर होता है या किसी दीन किसान की गर्दन पर। जिस घी-दूध, साग-भाजी, मांस-मछली आदि के लिए शहर में तरसते थे, जिनका स्वप्न में भी दर्शन नहीं होता था, उन पदार्थों की यहाँ केवल जिह्वा और बाहु के बल से रेल-पेल हो जाती है। जितना खा सकते हैं खाते हैं, बारम्बार खाते हैं और जो नहीं खा सकते वह घर भेजते हैं। घी से भरे हुए कनस्टर, दूध से भरे हुए मटके, उपले और लकड़ी, घास और चारे से लदी हुई गाड़ियाँ शहरों में आने लगती हैं। घरवाले हर्ष से फूले नहीं समाते, अपने भाग्य को सराहते हैं, क्योंकि अब दुःख के दिन गए और सुख के दिन आए। देहातवालों के लिए वह बड़े संकट के दिन होते हैं, उनकी शामत आ जाती है, मार खाते हैं, बेगार में पकड़े जाते हैं, शासन के दारुण निर्दय आघातों से आत्मा का भी ह्रास हो जाता है। ●

खेती पर निर्वाह करना कठिन हो गया है। कोई एक जून चबेना खाता है तो दूसरी जून रोटी-साग। किसी को वह भी नहीं मिल पाता। वह चुल्लू भर पानी पीकर रह जाता है। गाँव में मुश्किल चौधरी को छोड़कर और किसी के घर दोनों बेला चूल्हा नहीं जलता। ज़मीन की बरकत उठ गयी है। जहाँ बीघा पीछे बीस-बीस मन होते थे वहाँ अब चार-पाँच मन से आगे नहीं जाता।

तो भी अपनी धरती उससे छोड़ी नहीं जाती। यह ठीक है कि शहरों के मिलों में कुछ कल-कारखाने खुले हैं और उनमें मजूरों की माँग है लेकिन

इन्हीं दिनों की एक कहानी 'बलिदान' का गिरधारी अपने खेत छूट जाने पर उसी के ग़म में बिना कुछ कहे-सुने मर जाता है और भूत बनकर उन्हीं खेतों के गिर्द मँडराता रहता है। निश्चय ही कुछ अतिप्राकृत-सा एक गुण है धरती के प्रति किसान के इस लगाव में और शायद इसीलिए जहाँ दूसरे सन्दर्भों में अलौकिक तत्त्व का समावेश खल जाता है इस कहानी में न सिर्फ़ यह कि नहीं खलता, बल्कि वही इस सुन्दर कहानी की जान है। बड़ा दर्द है अपनी धरती के प्रति गिरधारी की इस वासना में — अँधेरा होते ही वह मेड़ पर आकर बैठ जाता है और रात गए

को उमर से उसके रोने की आवाज़ सुनायी देती है। वह किसी से बोलता नहीं किसी को छेड़ता नहीं। उसे केवल अपने खेतों को देखकर संतोष होता है। उसकी व्यथा की यह निरुपायता ही काव्य का सत्य बनकर एक विचित्र कोमल पर ओजस्वी भाषा में बोलने लगती है जो गिरधारी की भाषा नहीं गांधी की भाषा है।

और फिर किसान की मरजाद का सवाल —

गिरधारी को ग़ायब हुए छ: महीने बीत चुके हैं। उसका बड़ा लड़का अब एक ईंट के भट्ठे पर काम करता है बीस रुपया महीना घर लाता है। अब वह कमीज़ और अंग्रेज़ी जूता पहनता है, घर में दोनों जून तरकारी पकती है और जौ के बदले गेहूँ खाया जाता है लेकिन गाँव म उसका कुछ भी आदर नहीं। वह अब मजूर है। सुभागी अब पराये गाँव में आये हुए कुत्ते की भाँति दबकती फिरती है। वह अब मजूर की माँ है।

दूसरा रास्ता बलराज का है, हिम्मत और मर्दानगी से अपनी ज़मीन पर डटे रहने का। अपनी लाठी का भरोसा करो दुनिया को देखो कहाँ जा रही है —

तुम लोग तो ऐसी हँसी उड़ाते हो मानों काश्तकार कुछ होता ही नहीं वह ज़मीन्दार की बेगार ही भरने के लिए बनाया गया है। लेकिन मेरे पास जो अख़बार आता है उसमें लिखा है कि रूस देश में काश्तकारों ही का राज है वह जो चाहते हैं, करते हैं। उसी के पास कोई और देश बलगारी है। वहाँ अभी हाल की बात है काश्तकारों ने राजा को गद्दी से उतार दिया है और अब किसानों और मजूरों की पंचायत राज करती है।

इस नये तरह के पंचायती राज को दुनिया में क़ायम हुए अभी मुश्किल से आठ-दस महीने हुए हैं और मुंशीजी की आँखें उस पर जमी हुई हैं। यह क्रान्ति की आग है विद्रोह की आग है। दूर है तो क्या आँच मिल रही है। एक नयी दुनिया की बुनियाद पड़ रही है जो साम्य की दुनिया होगी भाईचारे की दुनिया होगी जिसमें कोई ग़रीबों का खून पीकर मोटा न हो सकेगा। हवा आज़ादी का तराना गा रही है। सर पर आज़ादी का सूरज चमक रहा है। उसमें रोशनी भी है और गर्मी भी। पाँव सहले के दिन गये।

ऊपरी नज़र से देखने पर बलराज और गिरधारी एक दूसरे के परिपंथी जान पड़ते हैं एक की वृत्ति कठोर है दूसरे की कोमल। पर साहित्य उस रस का नाम है जिसमें कठोर और कोमल सब कुछ आकर एक हो जाता है और अनेक बार कठोर उपादानों से कोमल की और कोमल उपादानों से कठोर की अभिव्यंजना होती है। दो भी चित्त की वृत्तियाँ ही हैं और दोनों विरोधी वृत्तियाँ हैं — एक हिंसा की दूसरी अहिंसा की एक जो उन्हें रूस की क्रान्ति की ओर खींचती है और दूसरी जो गांधी

अपनी ओर खींचती है। जीवन का प्रमाण एक ओर खींचता है, आदर्श की कल्पना दूसरी ओर। द्वन्द्व है, दुविधा है।

नवम्बर १९१८ में युद्ध का अंत हुआ और देश भर में विजय का उत्सव मनाया गया। गोरखपुर में सदर तहसील के छात्रों को खेलकूद के लिए नार्मल स्कूल में बुलाया गया था। और भी कुछ कार्यक्रम था।

मुंशीजी के भीतर विद्रोह पनप रहा था। होगी यह जिसकी विजय होगी। हमको तो कोई विजय मिली नहीं तो हम क्यों इस उत्सव में जायें। जैसा होगा वो होगा। रानी रूठेंगी अपना सुहाग लेंगी। मैं नहीं जाता। और मुंशीजी उसमें नहीं गये। शिक्षा-संचालक मैकेन्जी साहब ने जो उस समय वहीं मौजूद थे (सम्भवतः कलक्टर साहब के बंगले से) जाते समय मुंशीजी को बाहर बैठकर काम करते देखा था। लिहाजा उन्होंने हेडमास्टर बेचनलाल से लिखित जवाब माँगा कि मुंशीजी इस जलसे में क्यों नहीं शरीक हुए। बेचनलाल की तो घिग्घी बँध गयी लेकिन जब मुंशीजी को इसका पता चला तो उन्होंने अपनी तरफ से एक लिखित बयान दिया और बेचनलाल साहब पर जोर डाला कि आप इसे ऊपर बढ़ाइए। मगर बेचनलाल मुंशीजी के शुभचिन्तक थे उन्होंने मामले को वहीं खत्म कर दिया।

गोरेशाही के आतंक से यहीं पर यह उनकी पहली टक्कर थी।

दूसरी टक्कर भी जल्दी ही हुई जो आगे चलकर नार्मल स्कूल के लिए एक कहानी बन गयी और उस समय के लोगों को आज तक याद है। जैसा कि हर दन्तकथा के साथ होता है किस्सा बयान करनेवाले की कल्पना का रंग उसमें जुड़ता चलता है और धीरे-धीरे जितने मुँह उतनी बातें हो जाती हैं। उनमें से दो बयान नीचे दर्ज किये जाते हैं।

ग्राम परसहा मुहम्मदाबाद, आज़मगढ़ के सुदामा सिंह कहते हैं—

"एक दिन प्रातः अंग्रेज कलक्टर दो कुत्तों के साथ हाथ में हन्टर लिये आवेश में आपके क्वार्टर पर आकर, पैर पटककर बोला — तुम्हारी गाय नित्य मेरे बंगले में जाकर नुकसान करती है। मैं उसको शूट कर दूँगा। आपने आगे बढ़कर तड़पकर कहा — सांड नहीं है यह प्रेमचंद की गाय है। मजिस्ट्रेटी का अभिमान दूर कर दूँगा!"

सांड नहीं है कहने का संकेत शायद यह है कि साहब एक सांड को इसके पहले गोली मार चुका था।

अब सुनिए सालिमपुर, आज़मगढ़ के मुख्तार अहमद क्या कहते हैं—

"सड़क के एक ओर प्रेमचंद जी का निवासस्थान था और सामने दूसरी ओर

विद्यापीठ का बँगला था। प्रेमचंद की गाय एक दिन सड़क पार करके विद्यापीठ के बँगले के अहाते में घुस गयी जिस पर क्रुद्ध होकर उन्होंने गोली मारने के लिए उसका पीछा किया। गाय ने अपने संरक्षक प्रेमचंद जी के शरीर की ओट में शरण ली जो अपने द्वार पर पेड़ के नीचे कुछ पढ़ने में तल्लीन थे। विद्यापीठ महोदय पिस्तौल लिये प्रेमचंद जी के सम्मुख उपस्थित हो गये

सब के पास इस किस्से के बारे में अपनी एक अलग दास्तान है। पर एक बात सबमें समान है और वही महत्व की है — मुंशीजी की गाय कलक्टर के हाते में गयी और इस मामले को लेकर कलक्टर से उनकी ज़ोरदार झड़प हुई जिसमें मुंशीजी रत्ती भर नहीं दबे।

याद रखने की बातें यहाँ दो ही हैं — एक तो यह कि मुंशीजी अभी बाकायदा सरकारी नौकर थे और दूसरी यह कि यह किस्सा जलियाँवाला बाग के समय का है।

लेकिन इतने ही से बस नहीं हुआ अभी एक टक्कर होनी बाकी थी। उसके बारे में उस वक्त के एक प्यूपिल टीचर मुहम्मद हनीफ़ ख़ाँ का बयान यह है—

बड़े खुद्दार[1] थे। अपनी इज्ज़त और शान के पूरे मुहाफ़िज़[2] थे। अपनी खुद्दारी क़ायम रखने के लिए बड़ी से बड़ी कुर्बानी देने के लिए तैयार रहते। ज़ैल[3] के वाक़्ये से यह नतीजा आसानी से अख़्ज़[4] किया जा सकता है। साहेब कलक्टर के बँगले और अहाता नार्मल स्कूल के दरमियान एक पुख़्ता सड़क है। कलक्टर साहब रोज़ाना शाम को चार बजे के बाद नार्मल स्कूल की इसी सड़क पर, जो हुआ नार्मल स्कूल के दक्खिन-पूरब से उत्तर-पच्छिम को जाती हुई शहर का चली गयी है चहलक़दमी करते हुए गुज़रते थे। सड़क के दक्खिन तरफ़ सेकेंड मास्टर मुंशी प्रेमचंद का क्वार्टर था। मास्टर साहब चार बजे के बाद अपने बरामदे में बैठे क़िस्सा-नवीसी में मशगूल रहते। एक रोज़ कलक्टर साहब ने मास्टर साहब को आवाज़ देकर हाथ के इशारे से बुलाया। जब वह आ गये तो साहब ने कहा — मैं रोज़ाना इस वक्त टहलने आया करता हूँ आप मुझे सलाम करने के लिए कभी नहीं आते?

मास्टर साहब ने जवाब दिया — मैं अपने काम में मशगूल रहता हूँ। यह मेरी कोई ड्यूटी नहीं कि हर किसी को जो सड़क से गुज़र रहा हो ख़्वाह वह हुकू-मत के अफ़सर ही क्यों न हों सलाम करता फिरूँ।

इस पर कलक्टर साहब ने मास्टर साहब पर ख़फ़ा होकर कुछ धमकाए-

---

१ स्वाभिमानी २ रक्षक ३ नीचे ४ निकाला

नाख़ुदा[1] उनकी शान में इस्तेमाल किया। मास्टर साहब ने कहा — आप जल्द से जल्द इस हाते से निकल जायें वर्ना पब्लिक टीचरों को ख़बर हो जायगी तो वह तमीज़ को सीखे बग़ैर आपकी बुरी तरह मरम्मत कर देंगे। इतना सुनते ही कलक्टर साहब सर पर पैर रखकर भागे। जनाब बेचनलाल साहब हेडमास्टर नार्मल स्कूल बहुत ख़ौफ़ज़दा[2] हुए और मुंशी प्रेमचंद से कहा कि कलक्टर ज़िले का बहुत बड़ा अफ़सर होता है, उसके अख़्तियारात लामहदूद[3] होते हैं, वह आपका स्कूल फुंकवा सकता है। मास्टर साहब ने कहा — आप डरिए, मैं क्यों डरने लगा जब कि मैं बरसरे-हक़[4] हूँ। वह रात में इस ताज़ा मामले पर ग़ौर करते रहे। दूसरे ही दिन आपने एक दावा कलक्टर साहब के ख़िलाफ़ अदालत दीवानी में अज़ाले-हैसियत-उर्फ़ी[5] का दायर किया। आनन-फ़ानन में इस मामले की सारे शहर में शोहरत मच गयी। एक हफ़्ते तक साहब जज गोरखपुर और दीगर रऊसा-ए-शहर[6] की मीटिंग होती रही। मुतज़क्किरा-बाला[7] अफ़सरों और रऊसा-ए-शहर की कोशिश बलीग़[8] से दोनों मुअज़्ज़िज़[9] फ़रीक़ैन[10] के दरमियान मफ़ाहमत[11] हो गयी। ●

हो सकता है, कल्पना ने यहाँ भी कुछ न कुछ अपना नमक-मिर्च लगाया हो, लेकिन शायद यह वही घटना है जिसे शिवरानी देवी ने इस तरह बयान किया है —

● जाड़े के दिन थे। स्कूल का इंसपेक्टर मुआइना करने आया था। एक रोज़ तो इंसपेक्टर के साथ रहकर आपने स्कूल दिखा दिया, दूसरे रोज़ लड़कों को खेल दिखाना था। उस दिन आप नहीं गये। छुट्टी होने पर आप घर चले आये। आराम कुर्सी पर बैठे दरवाज़े पर आप अख़बार पढ़ रहे थे। सामने ही से इंसपेक्टर अपनी मोटर पर जा रहा था। वह आशा रखता था कि आप उठकर सलाम करेंगे लेकिन आप उठे भी नहीं। इस पर कुछ दूर जाने के बाद इंसपेक्टर ने गाड़ी रोककर अपने अर्दली को भेजा। अर्दली जब आया तो आप गये।

कहिए क्या है?

इंसपेक्टर — तुम बड़े मग़रूर हो। तुम्हारा अफ़सर दरवाज़े से निकल जाता है, उठकर सलाम भी नहीं करते?

मैं जब स्कूल में आता हूँ तब नौकर हूँ। बाद में मैं भी अपने घर का बादशाह हूँ।

इंसपेक्टर चला गया। आपने अपने मित्रों से राय ली कि इस पर मानहानि

---

१ अनुचित शब्द २ भयभीत ३ असीम ४ न्याय पर ५ मानहानि ६ शहर के रईसों ७ उपरोक्त ८ भरपूर कोशिश ९ प्रतिष्ठित १० पार्टियों ११ समझौता

का केस चलाना चाहिए। मित्रों ने सलाह दी जाने दीजिए, आप भी उसे मशहूर कह सकते थे। सुनाइए इस बात को।●

स्मरण रहे कि यह वही दब्बू आदमी है जो अब से कुछ बरस पहले एक बार रेल के तीसरे दर्जे के डिब्बे में कुछ बीमारी की हालत में जाते हुए लेटा लेटा अपनी पत्नी को किसी उजड्ड आदमी से झगड़ा करते सुनता रहा था और खुद कुछ करना तो दूर की बात है उसके कान पर जूँ भी न रेंगी थी लेकिन वह और बात थी। छोटी बात थी। कोई आदमी मुझको नहीं लेटने देना चाहता और मैं उठकर बैठ ही गया तो मेरी कौन सी नाक कटी जाती। लेकिन यह तो बिल्कुल दूसरी ही बात थी — एक हिन्दुस्तानी की मरजाद का सवाल था। वैसी ही बात थी जैसी बीस बरस पहले एक बार चुनार में पेश आयी थी जब कि उसने फुटबाल के मैदान में आगे बढ़कर हरवंशी की छड़ियाँ उखाड़कर गोरों की टीम पर हमला बोल दिया था

तब उसकी नयी जवानी थी अब वह अधेड़ था लेकिन किन्हीं-किन्हीं बातों के लिए अब भी खून में गर्मी बाक़ी थी।

यही जो 'प्रेमाश्रम' में मनोहर का हाल है। बलराज जब अपनी जवानी के जोश में बहुत लड़ने-भिड़ने की बातें करता है तो मनोहर उसको झिड़कता है लेकिन जब एक बार ज़मींदार के कारिन्दा गौस खाँ के शह देने पर फैजू मनोहर की बीवी बिलसिया पर हाथ उठा देता है और वह धक्का खाकर गिर पड़ती है, तब उस किसान के लिए यह एक मरजाद का सवाल बन जाता है।

मन का तार कितनी अच्छी तरह मिला हुआ है! मनोहर के मन के भीतर पैठना उनके लिए खुद अपने मन के भीतर पैठना है।

● फैजू ने बिलासी की गर्दन पकड़ी और उसे इतने ज़ोर से झोंका दिया कि वह दो क़दम पर जाकर गिरी। उसकी आँखें तिलमिला गयीं मूर्छा-सी आ गयी। एक क्षण वह वहीं अचेत पड़ी रही तब उठी और लँगड़ाती हुई उन पुरुषों से अपमान-कथा कहने चली जो उसके मान और मर्यादा के रक्षक थे।

उसे उस समय परिणाम और फल की लेशमात्र भी चिन्ता न थी। कौन मरेगा? किसका घर मिट्टी में मिलेगा? यह बातें उसके ध्यान में भी न आती थीं। वह संकल्प-विकल्प के बन्धन से मुक्त हो गयी थी।

लेकिन जब वह उस गाँव के पास पहुँची और धान के लहराते हुए खेत दिखायी देने लगे तो पहली बार उसके मन में यह प्रश्न उठा कि इसका फल क्या होगा।

मेरा रोना सुनते ही दोनों भभक उठेंगे जान पर खेल जायेंगे तब? किन्तु आहत हृदय ने उत्तर दिया क्या हानि है! लड़कों के लिए आदमी क्यों जीता है? पति के लिए क्यों रोता है? इसी दिन के लिए तो?

तब भी जब वह अपने खेतों के डाँड़े पर पहुँची, मनोहर और बलराज मटर मारने लगे तब उसके पैर आप ही रुकने लगे। यहाँ तक कि जब वह उनके पास पहुँची तब परिणाम-चिन्ता ने उसे परास्त कर दिया। वह खेत के किनारे खड़ी हो गयी और मुँह ढाँककर रोने लगी।

बलराज ने सशंक होकर पूछा—अम्माँ, क्या है? रोती क्यों है? क्या हुआ? यह सारा कपड़ा कैसे लहूलुहान हो गया?

बिलासी ने सिसकते हुए कहा—फैजू और गौस खाँ हमारी सब गायें बैलें काँजीहौस हाँक ले गये।

बलराज—क्यों? क्या उनकी खेत में पड़ी थीं?

बिलासी—नहीं, कहते थे कि चरागाह में चराने की मनाही हो गयी।

बलराज ने देखा कि माँ की आँखें झुकी हुई हैं और मुख पर मर्माघात की आभा झलक रही है। कुछ और पूछने की हिम्मत न पड़ी। आँखें लाल हो गयीं। कंधे पर लट्ठ रख लिया और मनोहर से बोला, मैं जरा गाँव तक जाता हूँ।

मनोहर—क्या काम है?

बलराज—फैजू और गौस खाँ से दो दो बातें करनी हैं।

मनोहर—ऐसी बातें करने का यह मौका नहीं। अभी जाओगे तो बात बढ़ेगी और कुछ हाथ भी न लगेगा। चार आदमी तुम्हीं को बुरा कहेंगे। अपमान का बदला इस तरह नहीं लिया जाता।

मनोहर ऐसे उद्दीप्त उत्साह से अपने काम में लगा हुआ था मानों उसकी जवानी लौट आयी हो। धान के पूलों के ढेर लगाते जाते थे। न आगे ताकता था न पीछे, न किसी से कुछ बोलता था, न किसी की कुछ सुनता था, न हाथ थकते थे न कमर दुखती थी। बलराज ने चिलम भरकर रख दी। तम्बाकू रखे-रखे जल गया। बिलासी गुड़ का रस घोलकर सामने लायी। उसने उसकी ओर देखा तक नहीं, कुल्ला भी न किया। कुआर की धूप की देह से चिनगारियाँ निकलती थीं, पसीने की धारें बहती थीं मगर वह सिर तक न उठाता था। बलराज कभी खेत में आता, कभी पेड़ के नीचे जा बैठता, कभी चिलम पीता। एक ही आग दोनों के सीने में जल रही थी, एक ओर सुलगती हुई दूसरी ओर दहकती हुई।

साँझ हो गयी। तीनों ने धान के गट्ठर गाड़ी पर लादे और करामपुर चले। बलराज गाड़ी हाँकता था और मनोहर पीछे-पीछे ऊँचे स्वर से एक बिरहा गाता हुआ चला आता था। राह में कल्लू अहीर मिला, बोला—मनोहर काका, आज बड़े मगन हो।

कादिर के दरवाजे एक पंचायत-सी बैठी हुई थी। लेकिन मनोहर पंचायत

में न जाकर सीधे घर गया और जाते ही जाते भोजन माँगा। बहू ने रसोई तैयार कर रखी थी। इच्छापूर्ण भोजन करके नारियल पीने लगा। थोड़ी देर में बलराज भी पंचायत से लौटा। मनोहर ने पूछा—कहो क्या हुआ?

बलराज—कुछ नहीं यह सलाह हुई है कि खाँ साहब को कुछ नज़र-नज़र देकर मना लिया जाय। अदालत से सब लोग घबराते हैं।

मनोहर—यह तो मैं पहले ही समझ गया था। अच्छा जाकर चटपट खा-पी लो। आज मैं भी तुम्हारे साथ रखवाली करने चलूँगा। नींद लग जाय तो जगा लेना।

एक घंटे के बाद दोनों खेत की ओर चलने को तैयार हुए।

मनोहर ने पूछा—तुम्हारा कुल्हाड़ा खूब चलता है न?

बलराज—हाँ आज ही तो रगड़ा है।

मनोहर—तो उसे ले लो।

बलराज—मेरा तो कलेजा थरथर काँप रहा है।

मनोहर—काँपने दो। तुम्हारे साथ मैं भी तो रहूँगा। तुम दो-एक हाथ चलाके वहाँ से चलते हो जाना। और सब मैं देख लूँगा। इस तरह आके सो रहना जैसे कुछ जानते ही नहीं। कोई कितना ही पूछे डरावे-धमकावे मुँह मत खोलना। मैं अकेले ही जाता मुदा एक तो मुझे अच्छी तरह सूझता नहीं कई दिनों से रतौंधी होती है, दूसरे हाथों में अब वह बल नहीं कि एक चोट में वारा-न्यारा हो जाय।

मनोहर यह बातें ऐसी सहजता से कह रहा था मानों कोई साधारण घरेलू बातचीत हो।

खेत में पहुँचकर दोनों मचान पर लेटे। अमावस की रात थी। आकाश पर कुछ बादल भी हो आये थे। चारों ओर घोर अंधकार छाया हुआ था।

मनोहर तो लेटते ही खर्राटे लेने लगा लेकिन बलराज पड़ा-पड़ा करवटें बदलता रहा।

दो घड़ी बीतने पर मनोहर चाचा बोला—बलराज सो गये क्या?

बलराज—नहीं नींद नहीं आती।

मनोहर—अच्छा तो अब राम का नाम लेकर तैयार हो जाओ। डरने या घबराने की कोई बात नहीं। अपने मरजाद की रक्षा करना मरदों का काम है। ऐसे अत्याचारों का हम और क्या जवाब दे सकते हैं। बेइज्जत होकर जीने से मर जाना अच्छा है। दिल को खूब सँभालो। अपना काम करके सीधे यहाँ चले आना। अँधेरी रात है। किसी की नज़र भी नहीं पड़ सकती। जमींदार तुम्हें

डरायेंगे लेकिन खबरदार, डरना मत। सब गाँव के लोगों से मेल रखोगे तो कोई तुम्हारा बाल भी बाँका न कर सकेगा। सुक्खू भगत अच्छा आदमी नहीं है। उससे चौकन्ने रहना। हाँ कादिर भरोसे का आदमी है। उसकी बातों का बुरा मत मानना। मैं तो फिर लौटकर घर न आऊँगा। तुम्हीं घर के मालिक बनोगे। अब यह लड़कपन छोड़ देना। कोई चार बात कहे तो गम खाना। ऐसा कोई काम न करना कि बाप-दादे के नाम को कलंक लगे। अपनी घरवाली को सिर मत चढ़ाना, उसे समझाते रहना कि सास के कहने में रहे। मैं तो देखने न आऊँगा लेकिन इसी तरह घर में रार मचता रहा तो घर मिट्टी में मिल जायगा।

बलराज ने दृढ़ स्वर में कहा—दादा, मेरी इतनी बात मानो, इस बखत घर भाग जाओ। मैं कल एक-एक की खोपड़ी तोड़कर रख दूँगा।

मनोहर—हाँ, तुम्हें कोई न मारे तो तुम संसार भर को मार गिराओ! फैजू और कर्तार क्या मिट्टी के लोंदे हैं? गौस खाँ भी पल्टन में रह चुका है। तुम लकड़ी में उनसे पेच न पा सकोगे। वह देखो हिरना निकल आया। महाबीर जी का नाम लेकर उठ खड़े हो। ऐसे कामों में आगा-पीछा अच्छा नहीं होता। गाँव के बाहर ही बाहर चलना होगा नहीं तो कुत्ते भूँकेंगे और लोग जाग उठेंगे।

बलराज—मेरे तो हाथ-पैर काँप रहे हैं।

मनोहर—कोई परवाह नहीं। कुल्हाड़ी हाथ में लोगे तो सब ठीक हो जायगा। तुम मेरे बेटे हो, तुम्हारा कलेजा मजबूत है। तुम्हें अभी जो डर लग रहा है वह ताप के पहले का जाड़ा है। तुमने कुल्हाड़ा कंधे पर रक्खा, महाबीर का नाम लेकर उधर चले तो तुम्हारी आँखों से चिनगारियाँ निकलने लगेंगी। सिर पर खून सवार हो जायगा। बाज की तरह शिकार पर झपटोगे। फिर तो मैं तुम्हें मना भी करूँ तो न सुनोगे। वह देखो सियार बोलने लगे। आधी रात हो गयी। मेरा हाथ पकड़ लो और आगे-आगे चलो। जय महाबीर की! ●

लिखनेवाले को खुद पता नहीं होता कि उसके प्रतीक में, जो वह कथा में चरित्र के रूप में दे रहा है, कैसी-कैसी अर्थव्यंजना छिपी रहती है। और प्राणवान् प्रतीक में से, उसकी प्राणवत्ता में से बराबर नयी-नयी कोपलें फूटती रहती हैं।

बिलसिया तब केवल बिलसिया नहीं रह जाती, वह भारतमाता हो जाती है, अपमानित भू-लुण्ठित उस अत्याचारी व्यवस्था के एक अनुचर के हाथों या यहाँ से वहाँ तक एक है।

मनोहर और बलराज उसकी मर्यादा की रक्षा करनेवाले दो पुरुष सिंह हैं, दो पीढ़ियाँ सदियों कुचली हुई भारतीय मानवता की जो अब अपने हथियारों में

लैस होकर उठ रही है — अपने अपमान का बदला चुकाने को।

यह विद्रोह की वेला है और जलियाँवाला बाग की जो आग मुंशी जी के सीने में दबी रह गयी थी जिसके बारे में वह अपने किसी दोस्त को भी नहीं लिख सके थे अब इस रूप में बाहर आयी।

अमृतसर में ही अधिवेशन करने की टेक कांग्रेस ने पूरी कर दिखायी। उसमें शरीक होने की तमन्ना मुंशी जी के दिल में भी बहुत थी। लेकिन अपनी सेहत से मजबूर थे। १ दिसम्बर १९१९ के अपने खत में उन्होंने निगम साहब को लिखा था — अमृतसर चलने को तो जी चाहता है। शायद रुपया भी मिल जाये। प्रेम बत्तीसी के गुजराती एडीशन से सौ रुपये का आफ़र आकर रखा हुआ है। लेकिन तकलीफ़ का ख़याल करके रुक जाता हूँ। पेचिश ने मुझे बिलकुल निकम्मा कर दिया ... जब तबीयत ही कुलफ़तमन्द[1] रही तो लुत्फ़ क्या आयेगा किसी तरह भागने के लिए तबीयत बेताब रहेगी। ऐसी हालत में पड़ा रहना ही बेहतर है।

अमृतसर में जनता की हिंसा की निन्दा करते हुए एक प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। उस पर बोलते हुए गांधीजी ने कहा — इस कांग्रेस के सामने इससे अधिक महत्त्व का दूसरा कोई प्रस्ताव नहीं है। इसके भीतर जो सच्चाई है उसको हृदय से मान्यता देने और उसके अनुसार आचरण करने में ही भविष्य की सफलता की कुंजी है। इसके भीतर जो सनातन सत्य है उसको जिस सीमा तक हम नहीं देख पाते उस सीमा तक हमारा असफल रहना अनिवार्य है। मैं कहता हूँ कि अगर हमारी ओर से हिंसा न हुई होती तो ये सब झगड़े न होते — हमारे पास इसके ढेरों प्रमाण हैं और मैं उन सबको आपके सामने रख सकता हूँ विरमगाम अहमदाबाद और बंबई का सारा कच्चा चिट्ठा और उसे देखकर आप अपना संतोष कर सकते हैं कि हमारे मन में हिंसा की भावना थी और हमारी ओर से हिंसा हुई। मैं इस बात को मानता हूँ कि डाक्टर किचलू और डाक्टर सत्यपाल को गिरफ्तार करके जब कि मैं डाक्टर सत्यपाल और स्वामी जी के बुलाने पर, शान्ति स्थापित करने का मकसद लेकर वहाँ जा रहा था सरकार ने देश को गंभीर उत्तेजना का कारण दिया। और फिर सरकार तो जैसे उस समय पागल हो ही गयी हम भी पागल हो गये। मैं कहता हूँ कि पागलपन का जवाब पागलपन से मत दो समझदारी से दो और तुम स्थिति को अपने बस में कर लोगे।

---

१ कष्टमय

मारकाट का रास्ता जलियाँवाला बाग में जाकर खत्म हुआ। गांधी जी का अहिंसक आन्दोलन चम्पारन और खेड़ा में अपनी शक्ति को प्रमाणित कर चुका था।

टालस्टाय के प्रभाव में अन्तःकरण की शुद्धि के सिद्धान्त की ओर मुंशीजी का झुकाव तब तक काफी स्पष्ट आकार ले चुका था। टालस्टाय-भक्त गांधी जी जिन्होंने भी टालस्टाय की वही और वैसी ही कहानियों का अनुवाद अपनी भाषा गुजराती में किया था उसी सिद्धान्त को एक अधिक व्यापक धरातल पर, राष्ट्रीय स्तर पर लागू कर रहे थे। मुंशीजी को उसे अपनाने में भला क्या मुश्किल होती।

जमाने की हवा के साथ बहते हुए उन्होंने भी गांधी जी का भरपूर असर लिया। जो चीज उन्हें इस आदमी में सबसे ज्यादा भाती थी और सचमुच मन को छूती थी वह यह थी कि जहाँ और लोग सिर्फ बातें करते थे वहाँ यह आदमी सचमुच कुछ काम करता था, जनता की सेवा करता था। और जो सच पूछिए तो इसी चीज का असर मुंशीजी ने लिया, इसी जगह पर आकर वह हृदय से गांधी कर्मयोगी गांधी के प्रति प्रणत हुए, शेष तो उनकी अपनी सहज भूमि है, अपनी सहज जीवन-धारा। विचार या दर्शन में उन्हें जो कुछ नया गांधी जी से मिल सकता था उसे वह पहले ही टालस्टाय से पा चुके थे जब कि भारतीय राजनीति में अभी गांधी का उदय भी नहीं हुआ था।

बचपन की किताबों में एक सादी-सी नीति की बानी पढ़ी थी — जहाँ से जो कुछ अच्छा मिले उसे ले लो। जनम भर वह इसको गाँठ बाँधे रहे और जब जिससे जो कुछ मिला उन्होंने मुक्त होकर लिया लेकिन वही जिसका साम्य अपने भीतर पाया और उतना ही जितने का साम्य अपने भीतर पाया। बाकी के लिए अपनी आँखें, अपना दिमाग खुला रखा और अपना रास्ता चलते रहे। जैसा कि भगवान बुद्ध ने जातक की एक कथा में कहा है, विचारों को सिर पर गठरी की तरह लादकर मत चलो। इस समय भी जब कि गांधीजी के अहिंसा के प्रयोग में उनकी निश्चित आस्था थी, माण्टेग्यू-चेम्सफ़ोर्ड रिफ़ार्म ऐक्ट के सम्बन्ध में मुंशी जी के विचार गांधी जी की अपेक्षा चितरंजनदास के अधिक निकट थे। और न मुंशीजी को इस बात की रत्ती भर चिन्ता थी कि उनके विचार किससे मिलते हैं और किससे नहीं मिलते। सही-गलत जैसे भी हैं उनके अपने विचार हैं। बात खतम हुई। लेकिन हाँ, जब कोई नयी बात मिले और वह मन को सही मालूम हो तो उसे स्वीकार करना चाहिए और जिन्दगी की कसौटी पर परखकर उसे देखना चाहिए। यही विचारों की यात्रा है। यही नवजीवन का क्रम है।

गांधी जी का ही रास्ता ठीक है। अगर और किसी कारण से नहीं तो सिर्फ़ इसलिए कि हमारे सामने दूसरा कोई रास्ता नहीं। साम्राज्य के पास हिंसा की बड़ी विराट् संगठित शक्ति है। हिंसा के रास्ते हम उससे कैसे पेश पा सकेंगे। कब से तो चल रही है यह कोशिश जिसका कोई नतीजा? न जाने कितने बहादुर नौजवान फाँसी झूल गये कितने अण्डमन में सड़ रहे हैं। मगर सब बेकार।

रूस में यह तरीका कैसे कामयाब हो गया? हो गया जैसे हो गया मगर उससे क्या हर समय हर जगह एक ही नुस्खा काम नहीं देता। हर देश का अपना अलग रंग-ढंग होता है परंपरा इतिहास मनोविज्ञान सब कुछ अलग होता है। उसको समझना ज़रूरी है वर्ना बस नाकामी हाथ आती है।

हमारा रास्ता वह नहीं है। हिन्दुस्तान हमेशा से बहुत शान्तिप्रिय देश रहा है और यहाँ पर शान्ति का रास्ता ही हमें अपनी मंजिल पर पहुँचा सकता है। यहीं यह सिर्फ कहने की बात नहीं है गांधी जी करके भी दिखा रहे हैं। छोड़ो चंपारन को खेड़ा को सारे देश में आज कैसी जागृति दिखायी पड़ रही है? गांधी के पहले कभी किसी न देखी-सुनी थी ऐसी चीज़? यह खुद एक करिश्मा है। नयी चीज़ ज़रूर है, निहत्थे आदमियों को लेकर मैदान में उतर जाना मगर हँसने की चीज़ नहीं है। बड़ी गहरी सूझ-बूझ है उसके पीछे।

गुलामी का यह ढाँचा आखिर किसके कंधों पर खड़ा है? हमारे-आपके कंधों ही पर तो? गोरे कितने हैं इस देश में हमीं-आप तो चलाते हैं सरकार का काम और अगर हमीं असहयोग पर कमर बाँध लें तो के दिन टिक सकती है यह व्यवस्था? लकवा मार जायगा सरकार को। कुछ और करने की ज़रूरत नहीं है बस असहयोग। अभी लोग ठीक से समझ नहीं रहे हैं बड़ी ताक़त है शान्ति और अहिंसा के इस अस्त्र में जो गांधी देश की जनता को दे रहे हैं। कभी अकारथ नहीं जा सकता यह बलिदान। उनका खून हम नहीं बहायेंगे अपना खून बहायेंगे और वह रंग लाकर रहेगा। दुनिया में सब जगह हमीं जैसे लोग रहते हैं। स्वराज्य की हमारी माँग सत्य और न्याय की माँग है। सब इस बात को समझते हैं। ब्रिटेनवाले भी समझते हैं। हमारा आत्म-बलिदान उनकी आत्मा को जगायेगा क्रियाशील करेगा — उसको जिसे हम दुनिया की मारल कान्शंस कहते हैं। हर आदमी की रूह में एक हैवान और एक इंसान होता है। हिंसा का तरीक़ा उसकी हैवानियत को उभारता है हमारा तरीका उसकी इंसानियत को उभारेगा। समय की भी बात होती है। दुनिया अब बहुत छोटी हो गयी है एक की बात फ़ौरन दूसरे के कान तक पहुँचती है। और फिर, यह बात भी अब क़ायम हो गयी है कि हर देश

को आज़ाद होने का आज़ादी माँगने का हक़ है। एक देश को दूसरे देश पर राज करने का हक़ नहीं है।

मास भर पहले सन् १८ के आख़िरी दिनों में मुंशीजी के कांग्रेसी मित्र दशरथ प्रसाद द्विवेदी ने गोरखपुर से ही अपना हिन्दी साप्ताहिक 'स्वदेश' निकाला था। उसके प्रवेशांक का संपादकीय द्विवेदी जी के कहने पर प्रेमचंद ने ही लिखा था। लड़ाई अभी-अभी ख़त्म हुई थी और उसके नतीजे अपने ढंग से निकालते हुए मुंशी जी ने उसके प्रवेशांक में लिखा था—

● सचमुच जनता का इतना गौरव इस युद्ध से पहले कभी न था। वास्तव में इस युद्ध में अगर किसी की जीत हुई है तो वह है जनता की जीत। इस युद्ध ने जनता के लिए वह कर दिया है जो फ्रांस की राज्यक्रान्ति ने भी न किया था।

इस युद्धरूपी क्षीरसागर को मथने से दूसरा फलरत्न यह निकला है कि अब निर्बल जातियों को शक्तिसम्पन्न जातियों का आहार नहीं बनने दिया जायगा। अब तक शक्तिशाली जातियाँ निर्बल को अपना खाद्य समझती थीं। जिसकी लाठी उसकी भैंस का सिद्धान्त सर्वमान्य था। पोलैण्ड अपनी इच्छा के विरुद्ध जर्मनी रूस आस्ट्रिया आदि देशों का ग्रास बना हुआ था। सर्विया पर आस्ट्रिया के दाँत थे। राज्य-विस्तार की धुन में इस बात की रत्ती भर भी परवाह न की जाती थी कि जिन पर हम अधिकार जमाना चाहते हैं वास्तव में उनकी अपनी इच्छा क्या है। किसी राजा अथवा साम्राज्य को अधिकार था कि पराजित देशों के जिस भाग को चाहे हड़प बैठे। यहाँ तक नौबत होती थी कि दहेजों में राज्यों के वारे-न्यारे हो जाते थे। परन्तु अब इस दुरवस्था का संशोधन हो रहा है। अब भविष्य में राज्यों के साथ वस्तुओं या पशुओं के समान व्यवहार नहीं किया जायगा। प्रत्येक जाति को इस बात का अधिकार होगा कि वह अपने भाग्य का आप निर्णय करे, जिस साम्राज्य के अधीन रहना चाहे रहे और उसकी इच्छा हो तो स्वयं अपना राज्य शासन करे। हम नहीं कह सकते कि इस प्रथा का क्या फल होगा। संभव है संसार असंख्य छोटे-मोटे राज्यों में विभक्त हो जाय पर कुछ भी हो इसका फल इतना अवश्य होगा कि राज्य-विस्तार की कुचेष्टा का अन्त हो जायगा। निर्बल जातियाँ भी निश्शंक अपना जीवन-निर्वाह कर सकेंगी। ●

गांधी का रास्ता इसी बदले हुए समय का रास्ता है—ऐसे समय का जिसमें एक ओर साम्राज्य की संगठित हिंसा की विराट् शक्ति के मुक़ाबले में पराधीन देश की हिंसा कमज़ोर पड़ जाती है और दूसरी ओर, एक पराधीन देश के आज़ादी माँगनेवाले उद्दाम स्वर के सामने साम्राज्य-संरक्षण का बीभत्स निर्लज्ज और ढीठ स्वार्थी पन्जा है। यही रणनीति है इस नये तरह के स्वाधीनता संग्राम की—

दमन की शक्ति को अपनी अहिंसा से विफल कर दो और आवाहन करो संसार के जन-जन की उस मुक्ति चेतना का जो इस युग की नयी उपलब्धि है।

अहिंसा का रास्ता ही ठीक है।

लखनपुर के किसानों ने हिंसा का रास्ता अपनाया—तो उनका सर्वनाश हो गया और कुछ हाथ न लगा। सब जेल में पड़े सड़ते रहे। सब का घर-बार भ्रष्ट हो गया। मनोहर ने जेल की कोठरी में ही अपने को फाँसी लगा ली।

दूसरा रास्ता अहिंसा का है, गाँव की नवरचना का है—प्रेमशंकर का रास्ता। प्रेमशंकर जो प्रेमचंद की गढ़ी हुई मानस-मूर्ति हैं गांधी जी की।

बरसों देश से बाहर रहने के बाद गांधी जी सन् १५ में अपने देश लौटे और तभी उन्होंने अहमदाबाद में अपना सत्याग्रह आश्रम स्थापित किया।

प्रेमशंकर भी बरसों देश से बाहर रहने के बाद अपने देश लौटते हैं और अपना प्रेमाश्रम स्थापित करते हैं। अन्तर इतना ही है कि गांधी जी अफ्रीका गये थे, प्रेमशंकर अमरीका जाते हैं जहाँ उन दिनों ज्यादातर क्रान्तिकारी भागकर जाया करते थे। और वह खुद भी ऐसे ही राजद्रोह के प्रसंग में भागकर गये थे—"मैं कालेज से ही स्वराज्य आन्दोलन में अग्रसर हो गया। उन दिनों नेतागण स्वराज्य के नाम से काँपते थे। इस आन्दोलन में प्रायः नवयुवक ही सम्मिलित थे। मैंने साल भर बड़े उत्साह से काम किया। पुलिस ने मुझे फँसाने का प्रयास करना शुरू किया। मुझे ज्योंही मालूम हुआ कि मुझ पर अभियोग चलाने की तैयारियाँ हो रही हैं त्यों ही मैंने जान लेकर भागने में ही कुशल समझी।"

मगर जब लौटे तो गांधी जी की प्रतिमूर्ति बनकर—क्योंकि गांधी की मूर्ति इस बीच मुंशी जी के हृदय-आसन पर स्थापित हो चुकी थी। द्वंद्व मिट गया है। अब मुंशी जी की एकनिष्ठ भक्ति गांधी जी के देशोद्धार आन्दोलन में है। और इस देशोद्धार में छूत-छात और दूसरे सभी अन्धविश्वासों के खिलाफ़ लड़ाई शामिल है—सहकारी खेती का प्रयोग भी उसी का एक जरूरी हिस्सा है।

अंग्रेज़ी साहित्य, फ़ारसी और इतिहास में बी० ए० का इम्तहान अप्रैल १९१९ में देने के बाद मुंशी जी एकाग्र मन से उर्दू 'प्रेमाश्रम' पर ही काम करते रहे।

और मन की इस एकाग्रता का यह हाल था कि शायद ही कोई दूसरी चीज़ लिखी हो। २८ नवंबर १९१९ के अपने ख़त में उन्होंने निगम साहब से अपनी इस मजबूरी का ज़िक्र भी किया था—

अब कुछ दिनों के लिए छोटे क़िस्से लिखना बंद करके इस्मी मज़ामीन लिखने की कोशिश करूँगा। दिमाग़ एक साथ दो मुख़्तलिफ़ प्लाट नहीं सँभाल

सकता। तजुर्बा कर चुका हूँ कि एक ही काम एक वक्त हो सकता है। या तो नाविल लिखूँ या कहानियाँ नाविल के लिए एक ही प्लाट काफ़ी है और उसका लिखना इतना मुश्किल नहीं है जितना हर माह में दो-तीन कहानियों का।

इस एक साल के दौरान में मुंशी जी ने शायद एक ही कहानी लिखी 'पशु से मनुष्य' — जो कि सच पूछिए तो 'प्रेमाश्रम' का ही एक टुकड़ा मालूम होती है। उसके भी नायक प्रेमशंकर हैं जो 'प्रेमाश्रम' के अपने नामराशी भाई की तरह सहकारी खेती का व्यावहारिक समाजवाद का प्रयोग करते हैं। एक माली पहले किसी के यहाँ पाँच रुपये पर नौकरी करता है। घर-बारवाला आदमी है इतने में उसका पेट नहीं भरता तो वह बाग के आम वगैरह चुराकर बेच देता है। वही आदमी प्रेमशंकर के यहाँ पहुँचकर बहुत मेहनती और ईमानदार आदमी बन जाता है।

निष्कर्ष ? पाँच और पाँच हजार, पचास और पचास हजार का अस्वाभाविक अंतर ही हर पाप की जड़ है। ऐसे समाज में चोरी चमारी के लिए आप से आप कोई जगह नहीं रह जाती जिसमें कोई भी यह नहीं समझता कि मैं किसी का नौकर हूँ। सब के सब अपने को साझेदार समझते हैं और जी तोड़कर मेहनत करते हैं। जहाँ कोई मालिक होता है और दूसरा उसका नौकर तो उन दोनों में तुरत ईंट पैंन हो जाता है। मालिक चाहता है कि इससे जितना काम लेते बने लेना चाहिए। नौकर चाहता है कि मैं कम से कम काम करूँ। चाल-चिन्हों से ज्ञात होता है कि यह प्रतिद्वंद्विता अब कुछ ही दिनों की मेहमान है। इसकी जगह अब सहकारिता का आगमन होनेवाला है। चारों ओर से जनवाबाद का घोर नाद हमारे कानों में आ रहा है पर हम ऐसे निश्चिन्त हैं मानो वह साधारण मेघ की गरज है।

जिस बेढब ढंग से यहाँ शिल्प की मर्यादा को भूलकर कहानी की खूँटी पर विचार टाँगे गये हैं उसी से यह सिद्ध है कि ये प्रेमशंकर के नहीं प्रेमचंद के विचार हैं और ये विचार इस बुरी तरह उनके मन पर छाये हुए हैं कि दूसरी सब बातें गौण हो गयी हैं। यह एक नयी उपलब्धि उनको हुई है जिसे वह सबको दिखाना चाहते हैं, सबके साथ बाँटना चाहते हैं — कुछ-कुछ वैसे ही जैसे बच्चा नया झुनझुना मिलने पर उसे टोले-पड़ोस के अपने हमजोलियों को दिखाने के लिए बेताब रहता है। कोई रोक-टोक मानने के लिए वह तैयार नहीं है। शिल्प की भी बाधा कोई बाधा नहीं है। असल चीज़ बात है। बात सही हो तो फिर सब ठीक है।

और बात इतनी बड़ी है कि उसने मुंशी जी को ऊपर से नीचे तक छा लिया है और वह आज के पूरे समाज पर, जिसकी आधार-शिला धन है एक बड़ा-सा प्रश्नचिह्न लगा देते हैं। धन ही सारी बुराइयों की जड़ है। उसी ने दो इंसानों

के बीच यह दीवार खड़ी की है। यही आदमी को जानवर बना देती है। उसको मिटा दो।

मगर उसके साथ ही गांधी और टाल्सटाय का इतना गहरा असर मुंशी जी के मन पर है कि जादू की छड़ी घुमाते ही यह सारे पढ़े-लिखे लोग वकील-बैरिस्टर, डाक्टर सरकारी अमले जो इस समाज-व्यवस्था को पूरी तरह स्वीकार करके खुद अर्थ-पिशाच बन चुके हैं और जिनके बारे में मुंशी जी की शंकाओं का अन्त नहीं है, उनका हृदय-परिवर्तन हो जाता है और वह बहुत नेक सीधे-सच्चे इंसान बन जाते हैं। उनकी सोयी हुई आत्मा जाग पड़ती है और फिर मुंशी जी उन्हीं के मुँह से आज की इस समाज-व्यवस्था की पोल खुलवाते हैं।

हाकिम ज्वाला सिंह कहते हैं — यहाँ उसको सफलता होती है जो खुशामदी और चलता हुआ है, जिसे सिद्धान्तों की परवाह नहीं। मैंने तो आज तक किसी सहृदय पुरुष को फलते-फूलते नहीं देखा। बस धुरंधरबाजों की चाँदी है।

डाक्टर चोपड़ा कहते हैं — बस यहाँ उन लोगों की चाँदी है जिनके कान्शंस मुर्दा हो गये हैं। बैरिस्टर इर्फ़ान अली कहते हैं — जब वकालत का स्याह जामा पहना तो उस पर सदाक़त का सुफ़ेद दाग क्यों लगायें। जब लूटने पर आये तो दोनों हाथों से क्यों न समेटें। दिल में दौलत का अरमान क्यों रह जाय। बनियों को लोग ख्वाहमख्वाह लालची कहते हैं। इस लक़ब का हक़ हमको है। दौलत हमारा दीन है, ईमान है। यह न समझिये कि इस पेशे में जो लोग चोटी पर पहुँच गये हैं वह ज्यादा रौशनख्याल हैं। नहीं जनाब वह बगुले भगत हैं। ऐसे खामोश बैठे रहते हैं गोया दुनिया से कोई वास्ता ही नहीं लेकिन शिकार नज़र आते ही बाज़ उनकी झपट और फुर्ती देखकर दंग हो जायेंगे। जिस तरह कसाई बकरे को सिर्फ उसके वज़न के एतबार से देखता है उसी तरह हम इंसान को महज़ इस एतबार से देखते हैं कि वह कहाँ तक आँख का अंधा और गाँठ का पूरा है।

राय कमलानन्द, जो एक बिल्कुल अपने ढंग के अत्यंत प्रबल व्यक्तित्व के, पुराने ताल्लुकेदार हैं कौंसिल के मेम्बर हैं और भोग को ही योग समझते हैं, उनकी अंतर्विरोधों से भरी हुई स्थिति की सच्चाई उनके मुँह से इस रूप में बाहर आती है — मुझे खुशामदी टट्टू कहने में अगर किसी को आनन्द मिलता है कहे मुझे देश और जाति का द्रोही कहने से अगर किसी का पेट भरता है तो मुझे कोई शिकायत नहीं है, पर मैं अपने स्वभाव को नहीं बदल सकता। अगर रस्सी तुड़ाकर मैं जंगल में स्वाधीन फिर सकूँ तो मैं आज ही खूँटा उखाड़ फेंकूँ। लेकिन जब जानता हूँ कि रस्सी तुड़ाने पर भी मैं बाड़े से बाहर नहीं जा सकता बल्कि ऊपर से और डंडे पड़ेंगे तो फिर खूँटे पर चुपचाप खड़ा क्यों न रहूँ? और कुछ नहीं तो मालिक की कृपादृष्टि

तो रहेगी। जब राजसत्ता अधिकारियों के हाथों में है, हमारे असहयोग या असहमति से उसमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता तो इसकी क्या ज़रूरत है कि हम व्यर्थ अधिकारियों की टीका-टिप्पणी करने बैठें और उनकी आँखों में खटकें। हम काठ के पुतले हैं, तमाशे दिखाने के लिए खड़े किये गये हैं इसलिए हमें डोरी के इशारे पर नाचना चाहिए। यह हमारी नामसमझी है कि हम अपने को राष्ट्र का प्रतिनिधि समझते हैं। जाति हम जैसों को जिनका अस्तित्व ही उसके रक्त पर अवलंबित है कभी अपना प्रतिनिधि न बनायेगी। जिस दिन जाति में अपना हानि लाभ समझने की शक्ति होगी हम और आप खेतों में कुदाली चलाते नज़र आयेंगे।

लोभ स्वार्थ और पाखण्ड का पुतला ज्ञानशंकर जो इतना गिर गया है कि जायदाद के पीछे अपने ससुर राय कमलानन्द को ज़हर देने में भी संकोच नहीं करता, कहता है—यह जीवन-संग्राम है। यहाँ कपट, छल-प्रपंच सब कुछ उपयुक्त है अगर उससे अपना स्वार्थ सिद्ध होता है। यहाँ छापा मारना आड़ से शस्त्र चलाना विजय प्राप्ति के साधन हैं। यहाँ औचित्य-अनौचित्य का निर्णय हमारी सफलता के आधीन है। अगर जीत गये तो सारे धावे और गुप्तघाते सुअवसर के नाम से पुकारे जाते हैं, हमारी कार्यकुशलता की प्रशंसा होती है। हारे तो उन्हें पाप कहा जाता है।

मरते-मरते कमलानन्द कहते हैं—इस जायदाद की बदौलत हम और तुम एक-दूसरे के खून के प्यासे हो रहे हैं। यह इसी जायदाद के, इसी रियासत के करिश्मे हैं। दुनिया में दगा और फ़रेब, कीना और हसद, द्वेष और खून का राज है। भाई-भाई का दुश्मन हो रहा है। इसी ज़मीन के लिए, इसी जायदाद के लिए। यही वह पेड़ है जहाँ दुनिया एक मैदाने कारज़ार बनी हुई है। इसी ने इंसान को हैवानों से बदतर बना दिया है।

इतने से भी नहीं भरता तो राय कमलानन्द फिर कहते हैं— यह जायदाद नहीं है। इसे रियासत कहना भूल है। यह निरी दलाली है। इस भूमि पर मेरा क्या अधिकार है? मैंने इसे बाहुबल से नहीं लिया। नवाबों के ज़माने में किसी सूबेदार ने इस इलाके की आमदनी वसूल करने के लिए मेरे दादा को नियुक्त किया था। मेरे पिता पर भी नवाबों की कृपादृष्टि बनी रही। इसके बाद अंग्रेज़ों का ज़माना आया और वही सिलसिला क़ायम रहा ।

पहले उर्दू मसौदे का अनुवाद करते समय मुंशी जी ने और सब कुछ तो ज्यों का त्यों रहने दिया लेकिन जब आख़ीर के टुकड़े पर आये तो वह बात ग़लत मालूम हुई क्योंकि अंग्रेज़ों ने बहुतों की ज़मींदारियाँ छीन ली थीं और फिर अपने नये ज़मींदार पैदा किये थे—अपने पिट्ठुओं में से जिन्होंने ग़दर में और उसके पहले भी उनकी

मदद की थी। आज भी राष्ट्रीय आन्दोलन के यही सबसे बड़े दुश्मन थे और यह दिखलाना जरूरी था कि इस दुश्मनी की जड़ कहाँ पर है। लिहाजा मुंशी जी ने बादवाला टुकड़ा बदलकर यह कर दिया —इसके बाद अंग्रेजों का जमाना आया और यह अधिकार पिता जी के हाथ से निकल गया। लेकिन राज-विद्रोह के समय पिता जी ने तन-मन से अंग्रेजों की सहायता की। शान्ति स्थापित होने पर हमें वही पुराना अधिकार फिर मिल गया। यही इस रियासत की हकीकत है। हम केवल लगान वसूल करने के लिए रखे गये हैं। इसी दलाली के लिए हम एक दूसरे के खून से अपने हाथ रँगते हैं। इसी दीन-हत्या को हम रोब कहते हैं। इसी कारिन्दागरी पर हम फूले नहीं समाते। सरकार अपना मतलब निकालने के लिए हमें इस इलाके का मालिक कहती है, लेकिन जब साल में दो बार हमसे मालगुजारी वसूल की जाती है तब हम मालिक कहाँ रहे? सब धोखे की टट्टी है। तुम कहोगे यह सब कोरी बकवास है, रियासत इतनी बुरी चीज है तो उसे छोड़ क्यों नहीं देते? हा! यही तो रोना है कि इस रियासत ने हमें विलासी, आलसी और अपाहिज बना दिया। हम अब किसी काम के नहीं रहे। हम पालतू चिड़ियाँ हैं, हमारे पंख शक्तिहीन हो गये हैं। हममें अब उड़ने की सामर्थ्य नहीं है। हमारी दृष्टि सदैव अपने पिंजरे के कुल्हिए और प्याली पर रहती है।

जमीन किसकी है, इसके बारे में मुंशी जी के मन में कोई दुविधा नहीं है। प्रेमशंकर स्पष्ट शब्दों में कहता है— जमीन उसकी है जो उसको जोते। शासक को उसकी उपज में भाग लेने का अधिकार इसलिए है कि वह देश में शान्ति और रक्षा की व्यवस्था करता है जिसके बिना खेती हो ही नहीं सकती। किसी तीसरे वर्ग का समाज में कोई स्थान नहीं है।

उसकी इस बात को सुनकर डिप्टी ज्वाला सिंह कहते हैं— महाशय इन विचारों से तो आप देश में क्रान्ति मचा देंगे। जो कि शायद गलत बात नहीं है क्योंकि रूस की बोल्शेविक क्रान्ति के तीन बड़े नारों में सबसे बड़ा नारा यही था —जमीन जोतनेवाले को।

लखनपुर की जमींदारी से अपना नाता तोड़ते हुए प्रेमशंकर अपने भाई से कहता है — मैं यह सुनना ही नहीं चाहता कि मैं उस गाँव का जमींदार हूँ । अपने श्रम की रोटी खाना चाहता हूँ। दीन का रक्तपान नहीं करना चाहता। अगर सरकारी पत्रों में मेरा नाम दर्ज हो गया हो तो मैं इस्तीफा देने को तैयार हूँ।

प्रेमशंकर का यही आदर्श जब ज्ञानशंकर के बेटे मायाशंकर का आदर्श बन जाते हैं, जिसके लिए ही ज्ञानशंकर सब छल-छद्म करता है, यहाँ तक कि हत्या भी तक

ज्ञानशंकर के लिए मर जाने के सिवा दूसरा रास्ता नहीं बचता और वह गंगा में डूबकर आत्मघात कर लेता है।

ज़मीन किसानों को सौंपते हुए मायाशंकर कहता है—

भूमि या तो ईश्वर की है जिसने इसकी सृष्टि की या किसान की जो ईश्वरीय इच्छा के अनुसार इसका उपयोग करता है। राजा देश की रक्षा करता है इसलिए उसे किसानों से कर लेने का अधिकार है चाहे प्रत्यक्ष रूप में ले या कोई इससे कम आपत्तिजनक व्यवस्था करे। अगर किसी अन्य वर्ग या श्रेणी को मीरास मिल्कियत जायदाद अधिकार के नाम पर किसानों को अपना भोग्य पदार्थ बनाने की स्वच्छन्दता दी जाती है तो इस प्रथा को वर्तमान व्यवस्था का कलंक-चिह्न समझना चाहिए।

ज़मींदार बीच में से हट जाय और ज़मीन का मालिक खुद जोतनेवाला हो जाय। अपने समय से बहुत आगे बढ़ी हुई बात है। अभी शायद कोई इस रूप में नहीं सोचता। गांधी जी भी नहीं। लेकिन प्रेमचंद का ऐसा ही कुछ स्वप्न है। उसके लिए उन्हें किसी गुरु की दीक्षा नहीं चाहिए और न उन्हें ज़रूरत है किसी नये-पुराने धर्म-शास्त्र की सनद की। ज़िन्दगी की सनद उसके लिए काफ़ी है।

ज़िन्दगी में जो कुछ देखा है, सुना है, पढ़ा है, सोचा है—वही तो स्वप्न है। कल्पना है। कामना है। उसमें मेरा भी अंश है दूसरों का भी। नितान्त मौलिक तो कुछ भी नहीं है संसार में—एक ब्रह्म को छोड़कर। फिर तो जो है सब किसी न किसी से आविर्भूत है, सब कुछ एक दूसरे से लगा-लिपटा है। यही तो सेतु है एक मनुष्य और दूसरे मनुष्य के बीच। यही तो एकता की डोर में बाँधता जाता है सब मानवजाति की कल्पनाओं को, प्रमाणों को। एक के अनुभव से दूसरा सीखता है। लेकिन उतना ही जितने का प्रमाण अपने भीतर पाता है।

इसी तरह तो उसका सौन्दर्यबोध बनता है, विवेक बनता है। वही संबल है। उसी की उँगली पकड़कर आदमी अपने जीवन की यात्रा करता है। बहुत बहुत झटके लगते हैं इस यात्रा में। न जाने क्या क्या देखने को मिलता है, कैसे कैसे दृश्य एक से एक भयानक एक से एक सुन्दर। दाम-ढकोसले के बीसों रूप, तरह तरह के अन्याय-अत्याचार। सब देखो। सब सुनो। सब सहो। यही तुम्हारा असल योग है। इसका सौदा किसी कीमत पर न करो। अपनी बुद्धि अपना विवेक किसी के यहाँ बन्धक न रखो। और आँख-कान खुले रखना। फिर कोई चिन्ता नहीं। अच्छे-बुरे बहुत से लोग मिलेंगे तुम्हें। सबके संग उठो-बैठो। जिससे जो कुछ अपने काम का मिले ले लो पर भरोसा असल आँख-कान का करो अपनी बुद्धि का, अपने विवेक का। और अपनी राह चलो। राह दिखानेवाले भी

कम न मिलेंगे एक से एक पहुँचे हुए साधु-सन्त फ़क़ीर, दरवेश। उनको अपनी राह जाने दो। वह तुम्हारी राह नहीं है। तुम इसी दुनिया के आदमी हो। स्वागत-सत्कार करो उनका कुछ दूर साथ हो लेने में भी बुराई नहीं है लेकिन फिर अपनी राह पर आ जाओ। बस एक बात कभी न भूलो—जीवन से बड़ी पुस्तक कोई नहीं है न कोई वेद न कोई शास्त्र न कोई साधु न कोई सन्त।

गांधी बड़ा आदमी है। देश का दर्द उसके भीतर है। नये तरह का नेता है जो बात से ज्यादा काम पर ज़ोर देता है। देश को जगा रहा है। उसे आत्म विश्वास दे रहा है, मुल्क की नब्ज़ पहचानता है। अन्याय के विरुद्ध सिर ऊँचा करके खड़े होना सिखला रहा है। प्रतिकार का जहाँ किसी को कोई रास्ता नहीं मिल रहा था वहाँ एक रास्ता दे रहा है जो एक खास भारतीय रास्ता है और व्यावहारिक रास्ता है।

गांधी जी के लिए प्रेमचंद के मन में गहरी भक्ति है अचल निष्ठा कर्मपथ पर उनके नेतृत्व में। इतनी कि मुंशी जी कभी-कभी संशय में पड़ जाते हैं—प्रमाण किसे मानें जीवन के अपने अनुभव और ज्ञान को या गांधी को। ज़बर्दस्त रस्साकशी होती है। आखिरकार समझौता हो जाता है जीवन भी रहेगा गांधी भी रहेंगे। कठोर वास्तविकता की नंगी-खुरदुरी ज़मीन रहेगी और उस पर गांधी दर्शन का चँदोवा तना रहेगा। ज़मीन के खुरदुरेपन को ढँकने के लिए क़ालीन की तरह उसका इस्तेमाल—नहीं वह किसी तरह मुमकिन न होगा।

किसी पाखण्ड से वह समझौता नहीं करेगा किसी अन्याय से वह आँख नहीं चुरायेगा। ज़िन्दगी की पूरी तसवीर देगा सच्ची तसवीर देगा। यह उसकी प्रतिश्रुति है अपने प्रति। तत्काल कर्म की एक रूपरेखा गांधी के यहाँ मिलती है। अच्छी है, मन को भाती है और जहाँ तक अपने स्वप्न से उसका मेल खाता है गांधी के साथ या उनके पीछे चलने में कोई बुराई नहीं है भरोसे का आदमी है। शेष के लिए मैं स्वतन्त्र हूँ। मैं अपनी राह जाऊँगा वह अपनी राह जायेंगे।

लेकिन स्थिति का व्यंग्य यह है कि समाज की पूरी परिकल्पना तो दूर की बात है आज़ादी की स्वराज्य की उनकी तसवीर भी एक नहीं है।

जवाहरलाल नेहरू उन दिनों के बारे में अपनी आत्मकथा में लिखते हैं—

इस तरह हम चल रहे थे अनिश्चित-से, पर अपने भीतर गहरा आवेग लिये हुए। कर्म का उल्लास हमें मज़बूती से पकड़े था पर अपने लक्ष्य के बारे में स्पष्ट चिन्तन का नितान्त अभाव था। आज बड़ा अजीब मालूम होता है कि हमने कैसे अपने आन्दोलन के सिद्धान्तपक्ष की ओर से उसके दर्शन और स्पष्ट लक्ष्य की ओर से इस तरह आँख मूँद रखी थी। यह ठीक है कि स्वराज्य का नाम लेते ही

हम सब की सरस्वती जाग उठती थी मगर हममें से शायद हर एक के पास इस शब्द का अपना अलग अर्थ था। ज़्यादातर नौजवान इसका मतलब राजनीतिक स्वाधीनता या ऐसा ही कुछ समझते थे और जनतांत्रिक ढंग की शासनप्रणाली और यही हम अपने भाषणों में कहा करते थे। हममें से बहुत से यह भी सोचते थे कि इसका एक क़ुदरती नतीजा यह होगा कि वह बोझ कुछ कम हो जायगा जिसके नीचे आज मज़दूर और किसान पिस रहे हैं। लेकिन यह स्पष्ट था कि हमारे अधिकांश नेताओं के लिए स्वराज्य का मतलब आज़ादी से कम कोई चीज़ था। गांधी जी इस चीज़ के बारे में ऐसे अस्पष्ट थे कि क्या कहना और मज़ा यह कि पसन्द भी न करते थे कि कोई इसके बारे में सफ़ाई से सोचे।

जो बात सामने आयी दिसम्बर सन् २ में नागपुर के कांग्रेस अधिवेशन में जब कि असहयोग के प्रस्ताव के सिलसिले में स्वराज्य पर बात हो रही थी। हसरत मोहानी ने जब स्वराज्य को पूर्ण स्वाधीनता के अर्थ में ग्रहण करने के लिए ज़ोर दिया तो गांधीजी ने उन्हें चिड़चिड़े स्कूलमास्टर की तरह झिड़ककर चुप कर दिया।

लेकिन इस मामले में तो मुंशीजी भी हसरत मोहानी के साथ हैं। उनके लिए भी 'स्वराज्य' का नाम कोई तिलिस्म नहीं रखता। वह कोई जादू की छड़ी नहीं है। उनके पास हर चीज़ की अपनी कसौटी है जिस पर खरे-खोटे की परख होती है और वह अब से क़रीब दो बरस पहले अपने उस तेज़-तर्रार लेख 'पुराना ज़माना नया ज़माना' में स्वराज्य की हाँक लगानेवालों से आमने-सामने खड़े होकर दो-चार चौहद्दे सवाल पूछ चुके हैं।

लेकिन वह तो साध्य की बात है, जो कलाकार के स्वप्न-विधायक मन की अपनी चीज़ है। उसमें कहीं कोई उलझाव नहीं है, भ्रान्ति नहीं है। जीवन भर का अनुभव उसके पीछे है। हाँ साधन का हाल उसे नहीं मालूम। वह उसका क्षेत्र भी तो नहीं है। उसके लिए किसी अच्छे मार्गदर्शक का हाथ पकड़ना चाहिए। गांधी से अच्छा मार्गदर्शक अब कौन है। इस देश की नाड़ी का उन्हें अद्भुत ज्ञान है।

१३

जलियाँवाला बाग के अत्याचारों और खिलाफ़त के प्रति अन्याय से सारा देश क्षुब्ध था हिन्दू मुसलमान सभी।

२५ फ़रवरी १९२ को मुंशी जी ने उर्दू 'प्रेमाश्रम' का लिखना समाप्त किया और १ मार्च को गांधी जी ने एक घोषणापत्र में पहली बार खिलाफ़त के सवाल को समेटते हुए असहयोग की अपनी योजना का संकेत किया—'अब एक शब्द इसके बारे में कि अगर हमारी माँगें नहीं पूरी होतीं तो हमें क्या करना होगा। बर्बर तरीका तो लड़ाई का है, फिर वह चाहे खुली लड़ाई हो चाहे गुप्त। इसको तो हमें काट ही देना होगा अगर और किसी कारण से नहीं तो केवल इसलिए कि वह अव्यवहारिक है। अगर मैं सब को इस बात का विश्वास दिला सकता कि वह चीज़ हमेशा हर हालत में बुरी होती है तो हमें अपने न्यायोचित उद्देश्यों में और जल्दी सफलता मिलती। हिंसा को तिलांजलि देनेवाले किसी व्यक्ति या राष्ट्र में इतनी शक्ति आ जाती है कि फिर कोई उसका सामना नहीं कर सकता। लेकिन आज हिंसा के विरुद्ध मेरा तर्क शुद्ध व्यावहारिकता पर आधारित है—हिंसा बिल्कुल निष्फल है। ऐसी स्थिति में हमारे सामने केवल एक उपचार रह जाता है—असहयोग।

देश अहिंसक समर-यात्रा के लिए निकल रहा था।

लेकिन इस समय भी कुछ लोग ऐसे हैं या हम सब के भीतर कोई एक जीव ऐसा है जिसे केवल अपने पेट की चिन्ता है। उसकी मरम्मत करने की ज़रूरत है और मुंशी जी ने पेटू-शिरोमणि पंडित मोटेराम शास्त्री को अपने तीर का निशाना बनाते हुए एक बड़े मज़े का चुटकुला लिखा— मनुष्य का परम धर्म ।

● होली का दिन है। लड्डू के भक्त और रसगुल्ले के प्रेमी पंडित मोटेराम शास्त्री अपने आँगन में एक टूटी खाट पर सिर झुकाये चिन्ता और शोक की मूर्ति बने बैठे हैं। उनकी सहधर्मिणी उनके निकट बैठी हुई उनकी ओर सच्ची सहृदयता की दृष्टि से ताक रही हैं और अपनी मृदु वाणी से पति की चिन्ताग्नि को शान्त करने की चेष्टा कर रही हैं।

पंडित जी बहुत देर तक चिन्ता में डूबे रहने के पश्चात् उदासीन भाव से बोले — नसीबा समुद्र में जाने कहाँ जाकर सो गया। होली के दिन भी न आया।

पंडिताइन — दिन ही बुरे आ गये हैं। यहाँ तो तीन दिन से तुम्हार हुकुम पाया ओही घड़ी ते साँझ-सबेरे दोनों जून सूरज नरायन से यही अरदास माँगा करित है कि कहूँ से बुलौवा आवे। सीकड़न दिया तुलसी माई का बढ़ावा मुदा सब सोच गय। पापु परे कोउ काम नाहीं आवत है।

पति-पत्नी में ये दर भरी बातें चल ही रही हैं कि उनके मित्र पंडित चिन्तामणि आ जाते हैं। दोनों मित्र कुछ देर आपस में अपने बाजार की मंदी का रोना रोते हैं और फिर निश्चय होता है कि गंगाजी के घाट पर चलकर व्याख्यान देना चाहिए, शायद इसी तरह कुछ हाथ बैठ जाय। दोनों ब्राह्मण देवता घाट पर पहुँचते हैं और तब पंडित मोटे राम न्याय और मीमांसा की शैली में वेद और शास्त्रों के प्रमाण सहित व्याख्यान देकर सिद्ध करते हैं कि मुख ही शरीर का सर्वोत्तम अंग है क्योंकि ब्रह्मा के मुख से ही ब्राह्मण की उत्पत्ति हुई और उस मुख को सुख पहुँचाना ही मनुष्य का परम धर्म है। सो कैसे हो? इसके बारे में पंडित मोटेराम ने कहा —

मुख को सुख देने के लिए हमारा परम कर्तव्य है कि हम उत्तम से उत्तम मिष्ठान्नों का सेवन करें और करायें। मेरा अपना विचार है कि यदि आपके पास में जौनपुर की इमरतियाँ आगरे के मोतीचूर मथुरा के पेड़े बनारस की कलाकन्द लखनऊ के रसगुल्ले अयोध्या की गुलाबजामुन और दिल्ली का हलवा सोहन हो तो वह ईश्वर-भोग के योग्य है। देवगण उस पर मुग्ध हो जायें और जो साहसी पराक्रमी जीव ऐसे स्वादिष्ट पदार्थ ब्राह्मणों को खिलायेगा उसे सदेह स्वर्गधाम प्राप्त होगा।

असहयोग की तैयारी हो रही थी लेकिन उसका रूप क्या हो — इसकी तसवीर अभी साफ न थी। और जो तसवीर अभी तक सामने आयी थी उसमें लोकमान्य तिलक को संतोष न था लेकिन उन्होंने गांधीजी को आश्वासन दे दिया था कि मैं उसके विरोध में कुछ न कहूँगा और अगर आप इसमें देश को अपने साथ ले जा पाते हैं तो मैं भी आपके साथ हूँ।

बस तो साथ था। अमल तब तक था अपने सहयोगियों का साथ न चलने का।

गांधीजी ने १ अगस्त १ २ की तारीख अपना आन्दोलन शुरू करने के लिए निश्चय की थी। पहली की पौ फटने में अभी कुछ घंटों की देर थी जब कि तिलक का देहावसान हो गया।

असहयोग के संबंध में आपस में काफ़ी मतभेद था। सितंबर में यानी अगले ही महीने कांग्रेस का विशेष अधिवेशन कलकत्ते में हुआ। देश गांधीजी के साथ था और अपने प्रतिनिधियों के ज़रिये अधिवेशन में अपना समर्थन गांधीजी के लिए व्यक्त कर रहा था लेकिन बड़े नेताओं के मन में संदेह या संशय था। लाला लाजपतराय कट्टर विरोधी के रूप में सामने आये। देशबंधु चित्तरंजनदास कट्टर विरोधी के रूप में सामने आये। देशबंधु के साथ बंगाल की पूरी कांग्रेस थी। इस तरह कलकत्ते में यह स्थिति थी कि जाने-माने लोगों में केवल एक व्यक्ति पंडित मोतीलाल नेहरू का समर्थन गांधी जी को प्राप्त था। और वह भी तब जब गांधीजी ने उनका यह संशोधन स्वीकार कर लिया कि अदालत-कचहरी और स्कूल-कालेज का बहिष्कार एकदम से न करके धीरे-धीरे किया जायगा। तो भी गांधीजी की जीत हुई क्योंकि देश उनके साथ था।

तीन महीने बाद नागपुर की कांग्रेस में स्थिति बिल्कुल बदल चुकी थी। देशबंधु अपनी जेब से छत्तीस हज़ार रुपया ख़र्च करके बंगाल की अपनी पूरी फ़ौज लाये थे — कलकत्ते की अपनी हार को जीत में बदलने के लिए। लेकिन जिस भी कारण से हो, चाहे देश के मनोभाव को देखकर-समझकर चाहे गांधी जी के व्यक्तित्व के सम्मोहन से हुआ यह कि असहयोग का प्रस्ताव देशबंधु ने रखा — और उसका समर्थन किया लाला लाजपतराय ने।

असहयोग की इमारत अब मज़बूती से अपने चारों खंभों पर खड़ी थी — गांधीजी पंडित मोतीलाल देशबंधु चित्तरंजन दास और लाला लाजपतराय। रूप और विस्तार भी अब काफ़ी सुनिश्चित हो गया था और जो कमी रह गयी थी वह अगले वर्ष अहमदाबाद के अधिवेशन में पूरी हो गयी। स्वदेशी यानी खद्दर, चर्खे हाथ के करघे का विकास। विदेशी चीज़ों का बहिष्कार। अदालत-कचहरी का बहिष्कार। सरकारी स्कूल-कालेज का बहिष्कार। राष्ट्रीय विद्यालयों की स्थापना। कौंसिल और उसके चुनावों का बहिष्कार। छूत-अछूत के भेद को मिटाना। हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच एकता और भाईचारा क़ायम करना। और और भी बहुत कुछ।

देश का विवेक जाग रहा था। गांधी के हाथों देश को एक बार फिर अपना खोया हुआ मेरुदण्ड मिल रहा था।

प्रेमचंद के लिए इसमें नयी या चौंकानेवाली बात एक न थी। कर्म के क्षेत्र में गांधी जी और उनके बीच गुरु-शिष्य का संबंध था, विचार के स्तर पर, टाल्सटाय के नाते गुरु-भाई का।

प्रेमाश्रम तो हमारे सामने है ही, मुंशी जी की 'पंच परमेश्वर' कहानी अब से चार-पाँच बरस पहले जून १९१६ की 'सरस्वती' में छपी थी। गांधीजी को हिन्दुस्तान आये तब मुश्किल से एक साल हुआ था और खुद उन्हें भी पता न था कि वह क्या करने जा रहे हैं। असहयोग की कहीं कल्पना भी न थी। किसे पता था कि चार-पाँच साल बाद असहयोग का आन्दोलन छेड़ा जायगा, उसमें और बहुत-सी चीज़ों के बहिष्कार के साथ-साथ कचहरी-अदालत के बहिष्कार की भी बात उठायी जायगी, वकीलों से कहा जायगा कि कचहरियों से अपना नाता तोड़ लो और जनता से कहा जायगा कि अपने झगड़े लेकर कचहरियों में मत दौड़ो, उन्हें खुद ही गाँव की पंचायत में बैठकर सुलझा लो।

उसी पंचायत का अभिषेक मुंशी जी की इस सुंदर कहानी में है। उसकी प्रेरणा का स्रोत कोई आन्दोलन नहीं, गाँव के जीवन की वास्तविकता है। जब देखो तब अपने झगड़ों को लेकर कचहरी पहुँचे रहते हैं। वहाँ उनको लूटने के लिए, दोनों हाथ से मूड़ने के लिए, पूरी एक फ़ौज बैठी रहती है — वकील-मुख्तार, पेशकार, अहलमद, अर्दली-चपरासी सब। हर ड्योढ़ी पर उसे कुछ न कुछ चढ़ाना पड़ता है तो भी कोई सीधे मुँह बात नहीं करता। और न्याय भी उसे कहाँ मिलता है? नयी तारीख मिलती है। दो-चार रुपये का हेर-फेर होता है और अगली किसी तारीख के लिए पेशी लग जाती है। और उस दिन फिर यही सब होना है। गोया एक लाश है जिसे सब गिद्ध मिलकर नोच रहे हैं। क्या खूब तमाशा है! शैतान के दिमाग की उपज है यह मशीन — एक बार आ गये बीच में, उलझे रहो क़यामत तक। मगर इन जाहिलों को क्या कहा जाय जिनकी अक्ल पर पत्थर पड़ गया है! रेल में कचहरी में हर जगह धक्के खाते हैं, ज़ेरबार होते हैं, बरतन भाँड़ा बेचते हैं, घर-ज़मीन रेहन रखते हैं, गहना-गुरिया साहजी की दुकान पर रखकर पेशी के लिए दस-बीस जमा करते हैं और जाकर फूँक आते हैं। अच्छा महारोग लगा है यह, कैसे छुटकारा हो?

धरती से सवाल उठता है और धरती से ही विचार का अंकुर फूटता है। गांधी ने भी राजनीति को धरती से उठाया। यही दोनों के साम्य का आधार है। यही उनके संबंध की राशि है। जितनी दूर तक साथ चल सके चल लिये — और फिर राहें अलग हो गयीं। दोनों प्रयोग कर रहे थे अपने-अपने माध्यम से और दोनों को अपने प्रयोग में निष्ठा थी।

सरकारी नौकरी अब मुंशी जी पर भारी होती जा रही थी। दो बरस होता है जब इलाहाबाद यूनिवर्सिटी के लिए कोशिश की थी मगर नीम पुख्ता है।

पिछले साल एक रोज़ मुंशी जी ने लीडर में इश्तहार देखा कि कानपुर में डी ए वी स्कूल की हेडमास्टरी खाली है। चीठी लिख गयी। बहुत अच्छा स्कूल है। फिर, कानपुर है, वहाँ दयानारायन हैं, ज़माना का दफ़्तर है। इस जंजाल से उबरेगा यह क़लम। अब तो कटने लगी गर्दन इस शौक़ को ढोते-ढोते। मियाँ की दौड़ मसजिद तक। मुंशी जी ने फ़ौरन ९ नवंबर १९१९ को एक ख़त निगम साहब के पास भेजा। लेकिन बात कुछ बनी नहीं तो २१ दिसम्बर को उन्होंने लिखा — मैं डी॰ए॰वी॰ कमेटी के फ़ैसले का मुन्तज़िर हूँ। मामूली की कोई बात नहीं है मगर मारवाड़ी स्कूल में इसकी गुंजाइश हो तो आप वहाँ भी मेरी तजवीज़ करने की तकलीफ़ उठाइए। किसी तरह गला छूटे। तालीमी यूनिवर्सिटी से लेकर मारवाड़ी स्कूल तक कुछ हो। बस सरकारी स्कूल न हो। यह गुलामी अब सही नहीं जाती मगर क्या करें बालबच्चेदार आदमी हैं यों ही कैसे कूद पड़े आग में। अकेला होता तो एक बार चाहे कूद भी पड़ता लेकिन कैसे झोंक दे अपने साथ!

हर तरफ़ हाथ-पैर मारते हैं मगर कुछ होता नहीं दिखायी देता। मारवाड़ी स्कूल में हेडमास्टरी की जगह नहीं खाली था हाँ असिस्टेंट टीचरी मिल सकती थी तनख़्वाह अलबत्ता कुछ बढ़ाई जा सकती है। मुंशी जी ने १८ फ़र्वरी सन् २० को लिखा —

मारवाड़ी स्कूल की असिस्टेंट टीचरी मुझे मंज़ूर नहीं ख़्वाह कितनी ही तनख़्वाह मिले। यही हालत तो यहाँ भी है। यहाँ फ़ुर्सत बहुत ज़्यादा है। हेड मास्टर निहायत माकूल। करना तो हेडमास्टरी और असिस्टेंट रहना हो तो यहाँ बड़े मज़े में हूँ। मुझे यहाँ मय मकान के १२ मिलते हैं। इस लिहाज़ से भी कोई फ़ायदा नहीं है। इसलिए ख़्वाहमख़्वाह क्यों डाँवाडोल हूँ।

निश्चय अभी नहीं है। खिचड़ी मन में पक ही रही है। इसीलिए इतना सब हिसाब-किताब सूझ रहा है। सब अपने मन के बहलाने के लिए, टहलाने के लिए। बस उस घड़ी का इंतज़ार है जब बात मन में पक्की हो जायगी। तब तक यही संकल्प विकल्प चलेगा। लेकिन सच बात यह है कि अब चैन नहीं मिलता इस नौकरी में। पिंजरे से आज़ाद होने के लिए तबीयत छटपटाती रहती है।

और इस छटपटाहट में जैसा कि हर बार होता आया है तबीयत अख़बार और प्रेस की तरफ़ भागती है फिर ठिठक जाती है और फिर भागती है। अजब एक उलझन है जो इस मास्टर और लेखक की ज़िन्दगी में बार-बार उभरता रहा है लेकिन हर बार मन डोल-डोलकर भी नहीं डोलता! मन का यह संघर्ष बड़ी ख़ूबसूरती से इन्हीं दिनों की दो कहानियों में उभरकर आया है।



शिवरानी प्रेमचंद १९५२

'बोध' में एक देहाती स्कूल के पंडित का जब-जब अपना मिलान एक हेड कांस्टेबिल और कचहरी के एक सियाहनवीस से करते हैं तब-तब अपने मन का रंग है—कहीं नाक एक और ठाटबाट और कहीं गरीबी की रागिनी! लेकिन एक बार जब तीनों मित्र तीर्थयात्रा के लिए अयोध्याजी जाते हैं तब एक ओर जैसी-जैसी दुर्गत उन लोगों की होती है और दूसरी ओर जैसी आवभगत पंडित जी की होती है उसे देखकर पंडित जी की आँखें खुल जाती हैं और वह फिर किसी दूसरे महकमे में जाने की ख़्वाहिश नहीं करते। यही बोध है। बोध माने ज्ञान। यानी मन सान्त्वना उसकी मनबुझाव। दूसरी कहानी 'बाद मर्ग मरने के बाद' है जो उर्दू के मशहूर शायर चकबस्त के संपादन में निकलनेवाले मासिक 'सुबहे उम्मीद' के अगस्त-सितंबर १९२ के अंक में छपी। हिन्दी में इसका नाम 'मृत्यु के पीछे' है जो कि भ्रामक है।

अपनी पत्नी मानकी के बहुत विरोध करने पर भी ईश्वरचन्द्र सब कुछ छोड़-छाड़कर एक पत्र का संपादन करने लगते हैं। बहुत लगन के साथ वे हर तकलीफ़ और मुसीबत उठाकर पच्चीस साल तक यह देशसेवा करते हैं। लेकिन ऐश्वर्य तो दूर की बात है, मान-प्रतिष्ठा भी उन्हें अपने जीवन-काल में नहीं मिलती। मरने के बाद उनकी मूर्तियाँ स्थापित होती हैं, स्मारक बनते हैं, देवता की तरह पूजा होती है।

और तब मानकी की समझ में आता है कि देशसेवा का सच्चा पुरस्कार कब और कैसे मिलता है और वह अपने बेटे कृष्णचन्द्र को प्रेरित करती है कि वह अपनी दुनियादार वकालत को छोड़कर अपने पिता का रास्ता पकड़े। कोई बात नहीं अगर इसमें ग़रीबी है, तकलीफ़ है!

बहुत रोज़ तक तो मुंशीजी ने इस उम्मीद को पाला कि मुंशी दयानरायन के साथ काम करने की कोई सबील निकल आयेगी। मगर जब वह न निकल सकी तो उनके दिमाग़ में नया प्रेस कायम करने का ख़याल आया और इन्हीं सब बातों को मद्देनज़र रखते हुए मुंशीजी ने ११ मार्च को उन्हें लिखा—

अख़बारनवीसी की तरक़्क़ियात की बन्दिश का ख़याल मारे डालता है। मास्टरी में वह मसिए शोहरत न सही रोटी तो चलती है। अगर कानपुर आ गया तो हम और आप मिलकर कुछ काम कर सकेंगे। वर्ना इसकी और क्या सूरत है। महताबराय कलकत्ते के उस छापेख़ाने में जिसके मालिक मारवाड़ी मिस्टर पोद्दार हैं मैनेजर हैं। माहवार पाते हैं और पोद्दार का इरादा है कि उन्हें नफ़े में कुछ हिस्सा भी दे दें। बच्चे आ गये हैं और उन्हें वहाँ हर तरह आराम है। इस तरफ़ का छापाख़ाना क़ायम होगा तो उन्हें यहीं बुला लूँगा। वह काम से वाक़िफ़ हो गये हैं।

यह सब ठीक है लेकिन निगम साहब ज़्यादा दुनियादार आदमी हैं, ऐसी सब स्कीमों के चक्कर में जल्दी नहीं पड़ते। फूँक-फूँककर क़दम रखते हैं और सच तो यह है कि अपने दोस्त को भी वह प्रेस खोलने की राय नहीं देते। उनका मिज़ाज दूसरा है प्रेस खोलकर मुसीबत में पड़ जायेंगे। मैं तक तो रो रहा हूँ प्रेस के नाम को!

मगर यह भी सच है कि मुदर्रिसी ग़रीब की लाइन नहीं है।

आख़िरकार मुंशी जी ने मुस्कराकर २४ अप्रैल १९१९ को बी. ए. का इम्तहान इलाहाबाद से देकर गोरखपुर लौटने पर जब कि जलियाँवाला बाग़ के हत्याकाण्ड को अभी सिर्फ़ दस रोज़ हुए थे निगम साहब को लिखा —

आप फ़रमाते हैं तुम्हारी जगह यह नहीं है। मैं तसलीम करता हूँ। मगर चारा क्या है? मैं क़ुर्बानी को अपनी ज़ात तक रखना चाहता हूँ अयाल को इस चक्की में पीसना नहीं चाहता। फ़िलहाल मेरी रोटियाँ चली जाती हैं। कुछ लिटरेरी काम कर लेता हूँ। यह क़ुर्बानी है। ख़ुदा और दुनियाए दूँ, दीन और ज़ात दोनों को साथ लिये हुए हूँ। मैं लिटरेरी काम को थोड़ी क़ुर्बानी नहीं समझता। जो शख़्स अपनी फ़ाज़िल आमदनी का एक हिस्सा किसी मदरसे के लिए वक़्फ़ कर देता है वह हमारी क़ुर्बानी का सही अंदाज़ा नहीं कर सकता जो अपने ऊपर ऐशो तक हराम कर लेती है। आपने मेरे लिए कोई ऐसी तजवीज़ नहीं निकाली जिसमें फ़िक्रे-मआश[1] से आज़ाद होकर मैं ज़िन्दगी काटता। मैं अर्ज़ कर चुका कि इससे ज़्यादा नफ़्सकुशी[2] मेरे इमकान से बाहर है। और आपने अब अभी कोई तजवीज़ की तो नहीं बताई। आज़ादी। आज़ादी मआश से मुझे इत्मीनान नहीं होता। ज़रूरियात के लिए मुस्तक़िल सूरत चाहिए, तफ़रीहात के लिए आज़ादी सूरत हो तो मुज़ायका नहीं। मुझे फ़िलहाल छः रुपये मिल जाते हैं। मगर साल में एक नाविल लिखूँ तो शायद चार पाँच सौ रुपये और मिल जायें। इस तरह से मैं अपने पसमांदगान[3] के लिए दस साल में शायद चार-पाँच हज़ार रुपये छोड़ मरूँ। अख़बारी ज़िन्दगी में किस क़दर तो फ़िक्र और झंझट उस पर पचास-साठ रुपये से ज़ायद कोई देनेवाला नहीं। अभी हमारे यहाँ वह ज़माना नहीं आया कि जर्नलिज़्म को Career बनाया जा सके। आप लीडर की तरह कोई कम्पनी क़ायम करें। वह माहवार रिसाला रोज़ाना अख़बार निकाले। कारकुनों को माक़ूल तनख़्वाह दे। तब देखिए मैं कितनी ख़ुशी से दौड़ता हूँ। मगर यहाँ तो यह हाल है कि अवध अख़बार भी ग्रेजुएट मुतरज्जिम[4] तलाश करता है तो उसकी तनख़्वाह भी गुप्त बतलाता है।

---

१ जीविका की चिन्ता २ आत्मबलिदान ३ बाल-बच्चों
४ अनुवादक

मैं अगर इम्तहान में पास हो गया तो किसी एडेड स्कूल में १२५) का हेडमास्टर हो जाऊँगा। वहाँ गोशए आफ़ियत में बैठा हुआ अपना क़लम घिसता रहूँगा। साल में एक क़िस्सा ज़रूर लिख डालूँगा। यही क़ौमी ख़िदमत होगी। मज़ामीन जो क़लम से निकलेंगे वह भी ख़िदमत ही के मद में दाख़िल। अगर आप इससे बेहतर कोई सूरत निकाल सकते हैं तो मैं हाज़िर हूँ वर्ना मुझे अपने ढर्रे पर चलने दीजिए। क्या हौसला अख़बार और लिटरेरी काम का हो। प्रेमपचीसी हिस्सा अव्वल को छपे हुए चार साल हुए मगर अभी तक मिस्क़ँ पड़ी हुई है। हिस्सा दोम की मुश्किल से १५० जिल्दें बिकीं। मैं इससे बेहतर नहीं लिख सकता।

बहरहाल कहीं कुछ न हुआ और इसी हैस-बैस में ज़िन्दगी गुज़रती रही।

तभी मुंशी जी के नये दोस्त इम्तियाज़ अली ताज ने लाहौर से उनको लिखा कि चलिए अबकी गर्मियों में मसूरी की सैर की जाय। कहीं जाने-आने के नाम से मुंशीजी की जान पर बनती थी। एक तो यों ही घर छोड़कर यहाँ-वहाँ फिरने का ख़याल काफ़ी तकलीफ़देह था मिज़ाज ही घुमक्कड़ न था दूसरे सेहत का ख़याल करके और भी डर मालूम होता था सफ़र में खाने-पीने का क्या ठिकाना जो मिले खाओ घर की-सी सहूलतें कहाँ। मगर इन सबसे अलग एक बात थी जो अक्सर पैरों को बाँध देती थी — मैं तो पहाड़ की हवा खाऊँ और घर के बाक़ी लोग गर्मी में भुनें! सबको लेकर जाने की कुव्वत नहीं।

लेकिन जब इस बार ताज साहब ने दावत दी तो जी ललचा गया। मेहनत भी पिछले एक साल में बहुत सख़्त पड़ी थी सेहत को उसका कुछ धक्का भी लगा था। और फिर एक बड़ी किताब अभी लिखकर ख़त्म की थी इसकी ख़ुशी भी थी। ताज से मिलने की तमन्ना बहुत रोज़ से थी मैं थी ही। इतने पर भी अगर मन में कोई झिझक थी तो उसे पत्नी ने अपनी तरफ़ से थोड़ी ज़बर्दस्ती करके दूर कर दिया — महीनों से इसी तरह बैठे-बैठे आप काम करते रहे हैं। जाइए घूम आइए, तबीयत कुछ बहल जायगी। सेहत के लिए भी डाक्टरों का कहना है, पहाड़ की हवा बहुत अच्छी होती है। लिहाज़ा मुंशीजी ने हामी भर दी। लेकिन उस तरफ़ से फिर कोई[1] ख़बर न आयी। २४ मार्च १९२ को मुंशीजी ने उनको लिखा — मसूरी चलने की दावत दी थी। मैं तैयार हूँ मगर आप दावत करके भूल गये। जल्द फ़ैसला कीजिए ताकि उधर से मायूसी हो तो मैं देहरादून जाने का इरादा कर लूँ।

उधर से मायूसी रही और मुंशीजी अपने इरादे के मुताबिक़ घर से निकल पड़े। फिर जो कुछ हुआ उसकी मुख़्तसर-सी दास्तान ६ जून के उनके दो ख़तों में है जो

---

१ आयी

उन्होंने देहरादून से ताज और निगम साहब को भेजे। मजमून दोनों का बहुत कुछ एक है। ताज को उन्होंने लिखा — मैं आज कनखल ऋषिकेश वगैरह का सफ़र करता हुआ देहरादून आ पहुँचा। आप इधर आने का ख़याल रखते हों तो बराहेकरम मुझे मुत्तला फ़रमाइए ताकि आपका इन्तज़ार करूँ वर्ना मैं बहुत जल्द यहाँ से चला जाऊँगा। मेरी तबीयत दौराने सफ़र में ज़्यादा ख़राब हो गयी है। आया था कि हरिद्वार की आबोहवा से कुछ फ़ायदा होगा लेकिन नतीजा इसका उल्टा हुआ। पेचिश ने जिससे मेरा पुरानी दोस्ती है बहुत दिक़ कर रखा है।

निगम साहब से भी उन्होंने सख़्त तकलीफ़ का रोना रोया और लिखा कि 'मैं बहुत जल्द यहाँ से भागने का क़स्द रखता हूँ।

लौटते वक़्त दिल्ली आगरा होते हुए मुंशी जी २४ जून को गोरखपुर पहुँचे और आते ही आते छोटा बच्चा बीमार हो गया। आजकल इसी परेशानी में हूँ।

यह परेशानी मामूली न थी एक बड़े सदमे की तैयारी थी।

५ जुलाई को प्रेमचंद ने लिखा —

आज रात को मुझ पर एक सानिहा गुज़रा। ग़रीब मुन्नू मेरा छोटा बच्चा इलाहाबाद से आकर चेचक में मुब्तिला हो गया था। उसने नौ दिन तक मरीज़ को घुला-घुलाकर आख़िर जान ही लेकर छोड़ा।

ग्यारह महीने का होकर नहीं रहा। दूसरा लड़का था यह मुंशीजी का जो पहले के तीन बरस बाद गोरखपुर में ही हुआ था। बड़ा कष्ट भोगा बेचारे ने। काली चेचक थी जो मौत का दूसरा नाम है। मछली की तरह तड़पता था बिस्तर में। देखा नहीं जाता था।

दाने देखकर ही माँ-बाप का दिल बैठ गया था और मुंशीजी ने मरते हुए बच्चे से कहा था — तुम्हारा यह लड़का बचता नहीं मालूम होता।

ग्यारहवें दिन लड़का ठंडा होने लगा। फिर डाक्टर आया। उसने कहा सब्र कीजिए।

● जब उन्होंने रोते देखा तो मेरा हाथ पकड़कर वहाँ से उठा लाये और मुझसे बोले — क्यों रोती हो? क्या सुख उससे तुम्हें मिला? ग्यारह ही महीना ज़िन्दा रहा उस पर भी बराबर बीमार। मैं तो ज़िन्दा ही हूँ। असल में मैं ही तुम्हारा हूँ।

उस दिन रात भर मुझे पकड़ बैठे रहे। सुबह जब उसकी लाश चली गयी तो उसके सारे सामान जलवा दिये। फिर सारे कमरे को फ़िनाइल से धुलवाया उसके बाद वहाँ पर हवन कराया। फिर उस कमरे में नौ महीने तक ताला पड़ा रहा। उन्होंने अपने हाथ से कमरा बन्द कर ताली बाहर फेंक दी। ●

बीबी की हालत पागलों जैसी हो रही थी। उनका अपना दिल शान्त था — लेकिन कितना शान्त! तक़दीर ने तो अपनी दानिस्त में मुझे सज़ा दी होगी लेकिन मैं ख़ुश हूँ कि फ़िक्रों का आधा बोझ सर से दूर हो गया।

कितनी गहरी व्यथा बोल रही है इन तीन शब्दों में — मैं ख़ुश हूँ! [illegible] 'सिया' की इसी परत को एक दूसरे सन्दर्भ में उन्होंने खोला अब से दस बरस बाद अपनी एक कहानी 'पूस की रात' में — कि जैसे एक पतली-सी झिल्ली हो पनकी की और उसे अलग करते ही कच्चा ज़ख़्म छलछला आये —

● दोनों फिर खेत की डाँड़ पर आये। देखा सारा खेत रौंदा पड़ा हुआ है और जबरा मड़ैया के नीचे चित लेटा है मानों प्राण ही न हों।

दोनों खेत की दशा देख रहे थे। मुन्नी के मुख पर उदासी छायी थी। पर हल्कू प्रसन्न था।

मुन्नी ने चिंतित होकर कहा — अब मजूरी करके मालगुज़ारी भरनी पड़ेगी।

हल्कू ने प्रसन्न मुख से कहा — रात को ठण्ड में यहाँ सोना तो न पड़ेगा। ●

जिस दिन बच्चा नहीं रहा उस दिन मुंशीजी ने लिखा — मैं ख़ुश हूँ। बाईस रोज़ बाद दया साहब को लिखा — छोटा बच्चा चेचक में मुब्तला [illegible] गया और हमेशा के लिए दाग़ दे गया। अभी तक इस ग़म से तबीयत को निजा[illegible] नहीं हुई। सब्र तो हो गया मगर याद बाक़ी है और शायद ताज़ीस्त[1] रहेगी। इ[illegible] अपने आमाल[2] का नतीजा समझता हूँ और क्या। अब तक दिल न सँभले मज़मू[illegible] कहाँ से आये। ख़तों का जवाब देना भी शाक़[3] है।

और वह ख़ुद बीमार पड़े। प्रेमाश्रम की कड़ी मेहनत। एक महीने के सफ़र की थकान कुपथ्य। पेचिश जड़ से तो गयी न थी फिर उभड़ आयी। और अब यह बच्चे का शोक। मुश्किल था इतने सब धक्कों का सह सकना। मुंशीजी ने खाट पकड़ ली।

पोद्दार का आना-जाना लगा ही रहता था। प्राकृतिक चिकित्सा में उनकी रुचि तभी से है। उन्होंने मुंशीजी को सलाह दी कि आप जल-चिकित्सा करें, इससे आपको ज़रूर आराम होगा। और भी दो-एक दोस्तों ने राय दी। ख़ुद भी मुंशीजी का झुकाव उस तरफ़ को था। एलोपैथी से बहुत घबराते थे। जहाँ तक बनता था उससे बचते थे। उसको छोड़कर बाक़ी तीनों इलाज ठीक थे जहाँ जिसका अच्छा जानकार मिल जाय हकीम मिल गया तो हकीम वैद मिल गया तो वैद हाइड्रो-

---

१ आजीवन २ कर्मों ३ कठिन

पैथ मिल गया तो होमियोपैथ। सब पर बराबर विश्वास था उनको नहीं था किसी पर तो एलोपैथी पर।

टब-स्नान के बारे में लुई कूने की और ऐसी ही दो-एक किताबें उन्होंने भी पढ़ी थीं। लिहाज़ा जब पोद्दारजी ने जल-चिकित्सा की सलाह दी तो यह उनके अपने मन की बात थी। फ़ौरन टब-वब बाज़ार से आया और जल-चिकित्सा शुरू हुई। लेकिन उसकी सेवन-विधि उससे कुछ ज़्यादा टेढ़ी है जितनी कि ऊपर से जान पड़ती है। कहीं कुछ ग़लती हो गयी। फिर क्या हुआ यह खुद मुंशीजी से सुनिए —

● तीन चार महीने के स्नान और पथ्य का मेरे दुर्भाग्य से यह परिणाम हुआ कि मेरा पेट बढ़ गया और मुझे रास्ता चलने में भी दुर्बलता मालूम होने लगी। एक बार कई मित्रों के साथ मुझे एक ज़ीने पर चढ़ने का अवसर पड़ा। और लोग चढ़ाते हुए चले गये पर मेरे पाँव ही न उठते थे। बड़ी मुश्किल से हाथों का सहारा लेते हुए ऊपर पहुँचा। समझ गया अब थोड़े दिनों का और मेहमान हूँ। जल-चिकित्सा बन्द कर दी।

एक दिन संध्या समय उर्दू बाज़ार में श्री दशरथप्रसादजी द्विवेदी संपादक स्वदेश से मेरी भेंट हो गयी। कभी-कभी उनसे भी साहित्य-चर्चा होती रहती थी। उन्होंने मेरी पीली सूरत देखकर खेद के साथ कहा — बाबूजी आप तो बिल्कुल पीले पड़ गये हैं कोई इलाज कराइए।

मुझे अपनी बीमारी का ज़िक्र बुरा लगता था। मैं भूल जाना चाहता था कि मैं बीमार हूँ। जब दो-चार महीने ही का ज़िन्दगी से नाता है तो क्यों न हँसकर मरूँ! मैंने चिढ़कर कहा — मर ही तो जाऊँगा भाई, या और कुछ! मैं मौत का स्वागत करने को तैयार हूँ। ●

और इसी तैयारी में उन्होंने एक रोज़ पत्नी को बुलाकर बैंक की पासबुक उनके हाथ में देते हुए कुछ भर्राई आवाज़ में कहा था — ले लो रानी इसमें तीन हज़ार रुपये हैं और तीन तुम हो! मेरी ज़िन्दगी भर की कमाई

लेकिन मरना आसान नहीं है चालीस साल की उम्र में जब कि अभी दिल में बहुत कुछ लिखने-करने के हौसले बाक़ी हों।

चिड़चिड़ापन अलबत्ता बेहद बढ़ गया था जो कि इन्तहाई कमज़ोरी की निशानी थी।

जो व्यक्ति मारना तो दूर की बात है, बच्चों को कभी डाँटता तक न था उसने इन्हीं दिनों एक रोज़ अपने बड़े लड़के को बुरी तरह मारा दुश्मन की निशानी थ।
सर पर जैसे भूत सवार हो गया था। और बात क्या थी? सिर्फ़ इतनी कि एक रोज़ लड़का एक पैसा लेकर बाज़ार गया स्लेट की पेंसिल लाने। मुंशीजी उसको पढ़ाने बैठे

तो यह बात सुनी कि पेंसिल तो नहीं आयी। अब क्या था, मुंशीजी आगबबूला हो गये और लगे उससे जिरह करने कि पेंसिल क्यों नहीं आयी? और वह पैसा कहाँ गया! पहले तो दो-एक थप्पड़ रसीद किये मगर उससे भी जी नहीं भरा तो जाकर अपने कुरते की निगाली निकाल लाये। लड़के की ज़बान यों ही डर के मारे नहीं खुल रही थी, कुरते की निगाली देखी तो घिग्घी बँध गयी। और मुंशीजी थे कि उसके मुँह से जवाब निकलवाने की जैसी क़सम खा ली थी। जितना ही मारते थे गुस्सा उतना ही और बढ़ता था। मगर लड़का भी एक ही ज़िद्दी था उसने मुँह नहीं खोला तो नहीं खोला।

—वह था कि रास्ते में कहीं गिर गया।

चुप।

—वह यों कि किसी को दे दिया।

चुप।

—वह यों कि बाज़ार में कुछ लेकर खा लिया।

चुप।

निगाली उस रात टूट कैसे नहीं गयी यही ताज्जुब है। लेकिन किसकी मजाल थी कि इस गुस्से की हालत में उनका हाथ जाकर पकड़ ले। तो भी एक बिन्दु आया जहाँ माँ से और न देखा गया और उन्होंने आगे बढ़कर जैसे-तैसे बच्चे की रक्षा की।

इन्हीं दिनों बेटी को भी एक बार इन्हीं-सी मार पड़ी — बिलकुल अकारण मगर उसके पीछे चिड़चिड़ेपन से ज़्यादा शायद घबराहट थी।

स्कूल के अहाते में ही एक पुराना कच्चा कुआँ था। कुआँ अंधा था लेकिन तब भी थोड़ा पानी था। खेलते-खाते न जाने कैसे बेटी और धुन्नू उस कुएँ पर जा पहुँचे। कुआँ झाँकने का शौक़ बच्चों को होता ही है, धुन्नू साहब ने जो झाँकने की कोशिश की तो धड़ाम से उसके अन्दर! और जो चिल्लाना था बेटी ने आव देखा न ताव वह भी कूद पड़ी! सौभाग्य से रास्ता बिलकुल सूना न था और भी किसी ने यह कूदना देख लिया। शोर-गुल मचा और दोनों को निकाला गया। बच्चों को लिये हुए सब लोग मास्टर साहब के घर पहुँचे तो मास्टर साहब ने सबसे पहले बेटी की आवभगत की कि तू उधर गयी तो क्यों गयी! बेटी ने अपनी सफ़ाई में कुछ कहना चाहा लेकिन बाबू जी कुछ भी सुनने को तैयार न थे — आम-आम बचे आज नहीं घर का सजाया था।

अपना शरीर दुर्बल हो रहा था पर देश में हलचल थी। बीमारी का वक़्त न था। उतरना चाहिए मैदान में आज़ाद होकर। पू

वैद्य मिल गया तो होमियोपैथ। सब पर बराबर विश्वास था उनको नहीं था किसी पर तो एलोपैथी पर।

टब-स्नान के बारे में कई कूने की और ऐसी ही दो-एक किताबें उन्होंने भी पढ़ी थीं। लिहाज़ा जब पोद्दारजी ने जल-चिकित्सा की सलाह दी तो यह उनके अपने मन की बात थी। फ़ौरन टब-वब बाज़ार से आया और जल-चिकित्सा शुरू हुई। लेकिन उसकी सेवन-विधि उससे कुछ ज़्यादा टेढ़ी है जितनी कि ऊपर से जान पड़ती है। कहीं कुछ ग़लती हो गयी। फिर क्या हुआ यह खुद मुंशीजी से सुनिए —

● तीन चार महीने के स्नान और पथ्य का मेरे दुर्भाग्य से यह परिणाम हुआ कि मेरा पेट बढ़ गया और मुझे रास्ता चलने में भी दुर्बलता मालूम होने लगी। एक बार कई मित्रों के साथ मुझे एक ज़ीने पर चढ़ने का अवसर पड़ा। और लोग धड़-धड़ाते हुए चढ़ गये पर मेरे पाँव ही न उठते थे। बड़ी मुश्किल से हाथों का सहारा लेते हुए ऊपर पहुँचा। समझ गया अब थोड़े दिनों का और मेहमान हूँ। जल-चिकित्सा बन्द कर दी।

एक दिन संध्या समय उर्दू बाज़ार में श्री दशरथप्रसादजी द्विवेदी संपादक स्वदेश से मेरी भेंट हो गयी। कभी-कभी उनसे भी साहित्य चर्चा होती रहती थी। उन्होंने मेरी पीली सूरत देखकर खेद के साथ कहा — बाबूजी आप तो बिल्कुल पीले पड़ गये हैं, कोई इलाज कराइए।

मुझे अपनी बीमारी का ज़िक्र बुरा लगता था। मैं भूल जाना चाहता था कि मैं बीमार हूँ। जब दो-चार महीने ही का ज़िन्दगी से नाता है तो क्यों न हँसकर मरूँ! मैंने चिढ़कर कहा — मर ही तो जाऊँगा भाई, या और कुछ! मैं मौत का स्वागत करने को तैयार हूँ। ●

और इसी तैयारी में उन्होंने एक रोज़ पत्नी को बुलाकर बैंक की पासबुक उनके हाथ में देते हुए कुछ भर्राई आवाज़ में कहा था — ये लो रानी इसमें तीन हज़ार रुपये हैं और तीन तुम हो! मेरी ज़िन्दगी भर की कमाई

लेकिन मरना आसान नहीं है, चालीस साल की उम्र में जब कि अभी दिल में बहुत कुछ लिखने-करने के हौसले बाक़ी हों।

चिड़चिड़ापन अलबत्ता बेहद बढ़ गया था जो कि इन्तहाई कमज़ोरी की निशानी थी।

जो व्यक्ति मारना तो दूर की बात है बच्चों को कभी डाँटता तक न था उसने इन्हीं दिनों एक रोज़ अपने बड़े लड़के को बुरी तरह मारा हुक्के की निगाली से! सर पर जैसे भूत सवार हो गया था। और बात क्या थी? सिर्फ़ इतनी कि एक रोज़ लड़का एक पैसा लेकर बाज़ार गया स्लेट की पेंसिल लाने। मुंशीजी उसको पढ़ाने बैठे

तो यह बात सुनी कि पेंसिल तो नहीं आयी। अब क्या था मुंशीजी आगबबूला हो गये और लगे उससे जिरह करने कि पेंसिल क्यों नहीं आयी? और वह पैसा कहाँ गया! पहले तो दो-एक झापड़ रसीद किये मगर उतने से भी जी नहीं भरा तो जाकर अपने हुक्के की निगाली निकाल लाये। लड़के की जबान यों ही डर के मारे नहीं खुल रही थी हुक्के की निगाली देखी तो घिग्घी बँध गयी। और मुंशीजी थे कि उसके मुँह से जवाब निकलवाने की जैसी क़सम खा ली थी। जितना ही मारते थे गुस्सा उतना ही और बढ़ता था। मगर लड़का भी एक ही ज़िद्दी था उसने मुँह नहीं खोला तो नहीं खोला।

—कह दो कि रास्ते में कहीं गिर गया।

चुप।

—कह दो कि किसी को दे दिया।

चुप।

—कह दो कि बाज़ार में कुछ लेकर खा लिया।

चुप।

निगाली उस रोज़ टूट कैसे नहीं गयी यही ताज्जुब है। लेकिन किसकी मजाल थी कि इस गुस्से की हालत में उनका हाथ जाकर पकड़ ले। तो भी एक बिन्दु आया जहाँ माँ से और न देखा गया और उन्होंने आगे बढ़कर जैसे-तैसे बच्चे की रक्षा की।

इन्हीं दिनों बेटी को भी एक बार हल्की-सी मार पड़ी—बिलकुल बेकारण मगर उसके पीछे सिलसिला सा ज़माना शायद गड़बड़ थी।

स्कूल के अहाते में ही एक पुराना कच्चा कुआँ था। कुआँ भठ गया था लेकिन तब भी थोड़ा पानी था। खेलते-खाते न जाने कैसे बेटी और गुप्पू उस कुएँ पर जा पहुँचे। कुआँ झाँकने का शौक़ बच्चों को होता ही है, गप्पू साहब ने जो झाँकने की कोशिश की तो धड़ाम से उसके अन्दर! और जो चिल्लाये तो बेटी ने आव देखा न ताव वह भी कूद पड़ी। सौभाग्य से रास्ता बिलकुल सूना न था और भी किसी ने यह दृश्य देख लिया। शोर-गुल मचा और दोनों को निकाला गया। बच्चों को लिये हुए जब लोग मास्टर साहब के घर पहुँचे तो मास्टर साहब ने सबसे पहले बेटी की आवभगत की कि तू उधर गयी तो क्यों गयी! बेटी ने अपनी सफ़ाई में कुछ कहना चाहा लेकिन बाबू जी कुछ भी सुनने को तैयार न थे—बाल-बाल बचे आज नहीं घर का सफ़ाया था!

मुन्ना शरीर दुर्बल हो रहा था पर देश में हलचल थी। बीमारी लेकर बैठने का वक़्त न था। —उतरना चाहिए मैदान में आज़ाद होकर। इसी बीच एक बार

अंग्रेजी में एम॰ ए॰ करने का ख़याल भी आया। २६ अगस्त १९२० को उन्होंने दाब को लिखा — अब आपको विलायत जाने का मौक़ा है तो इससे फ़ायदा न उठाना अपने आप और क़ौम पर ज़ुल्म करना है। यह उमंग के दो-चार साल निकल जायँगे तो मेरी तरह आपको भी पछताना पड़ेगा। काश मैंने अवायल[1] उम्र में एम॰ ए॰ पास कर लिया होता तो यह कस-मपुर्सी[2] की हालत न होती। यहाँ यह ज़माना फ़साना-निगारी[3] के नज़र हुआ और अब ज़रूरतें डिग्री के लिए मजबूर करती हैं। लेकिन दो ही महीने बाद विचार बदल गया और उन्होंने १२ नवम्बर १९२० के अपने ख़त में निगम साहब को लिखा — एम॰ ए॰ का इरादा तर्क कर दिया। चालीस-पचास रुपये किताबों में सर्फ़ हुए। कुछ लोगर पर देख लिया। तअत्तुल हो गयी।

शायद बेकार मालूम हुआ इतनी सब मेहनत करना। मुल्क का अब कुछ दूसरा ही रंग था। कैरियर बनाने का ख़याल बी॰ ए॰ के दो हुरूफ़ अपने नाम के साथ जोड़ने के पीछे था, बेमानी और बेमज़ा मालूम हुआ।

अब तो प्रेस ख़रीदने पर जी आया हुआ था। बड़ी पुरानी इच्छा थी। अब न लिया प्रेस तो फिर कब लोगे? फिर तो वह बस अपने पैर का बंधा होकर रह जायगा। अभी करोगे तो आज़ादी के साथ रोज़ी भी चलेगी और कुछ देशसेवा भी हो जायगी। महताब राय कलकत्ते में जिस प्रेस में काम कर रहे थे वह बिक रहा था और उनका इरादा नये ख़रीदारों के साथ शरीक हो जाने का था। लेकिन उनके पास पैसे कहाँ थे। उन्होंने मुंशीजी को लिखा। मुंशीजी फ़ौरन राज़ी हो गये। लेकिन पैसे अपने पास भी कुछ कम पड़ते थे। उसकी जुगत बैठाने लगे।

२६ अगस्त १९२० को ताज साहब को लिखा —

मैंने कलकत्ते के एक हिन्दी प्रेस में शिरकत कर ली है। ग्यारह आना मेरे एक दोस्त का होगा और पाँच आना मेरा। मुझे अपने हिस्से के रुपयों की फ़िक्र करनी है। अगर काम चल गया तो शायद पचास-साठ रुपये माहवार का फ़ायदा हो सके। अगर आपको तरद्दुद न हो तो सितम्बर में हिसाब साफ़ करवा दीजिएगा।

२ अक्तूबर को निगम साहब को लिखा —

मैंने कलकत्ते के प्रेस में आठ-आने का साझा कर लिया। ५००) देने पड़ेंगे। इस वक़्त अगर आपकी माली हालत ख़राब न हो तो आप कुछ मेरी अआनत फ़रमाइए। मुझे इस वक़्त ५००) की अशद ज़रूरत है। यह रक़म मुझे बतौर क़र्ज़ दे सकें तो एन एहसान समझूँगा।

---

१ शुरू २ बेकसी ३ कहानी-लेखन

लेकिन इसमें एक पेंच पड़ गया। एक रोज मुंशीजी की पत्नी पूछ बैठीं—रुपये देने का ढंग कैसा है? प्रेस किन शर्तों पर ठीक होगा?

मुंशीजी बोले—शर्त क्या! अरे, प्रेस रखेगा तो कुछ मुनाफ़ा होगा तुम्हें भी देगा।

पत्नी बोलीं—इन शर्तों पर रुपया देना ठीक नहीं। हाँ धुन्नू के नाम से प्रेस खरीदा जाय यह काम करनेवाले रहें।

कैसी बात करती हो। यह मसला उठ्या!

तो फिर छोड़िये ये रुपये आपके नहीं आप अपने रुपये दीजिए! रुपये मेरी ही शर्त पर जायेंगे।

खैर, मैं लिख रहा कि धुन्नू की माँ इस शर्त पर रुपये देना चाहती हैं।

इस खत का चौथे रोज जवाब आया कि मेरी यहाँ बड़ी हँसी हो रही है। क्या आप हमारे ऊपर विश्वास नहीं करते? मेरे ही और कौन है, धुन्नू ही तो मेरे भी है। मेरे लिए बड़े अफ़सोस की बात है।

खत पढ़कर उन्होंने बीबी को सुना दिया और बोले—बड़ा गड़बड़ हुआ।

पत्नी ने कहा—कोई गड़बड़ नहीं। मेरी राय ठीक है। मैं किसी के हाथ नहीं होना चाहती। कोई काम हो अपनी जगह होना चाहिए। मैं बहुतों को चुकी हूँ। आप आँखें बन्द करके चलते हैं मैं आँखें खोलकर चलती हूँ।

अच्छा बोलो इसका जवाब क्या लिखूँ?

मेरी तरफ़ से लिखो कि जब तक कोई लड़का मेरे पास न था तब तक तुम्हीं सब कुछ थे। यह लड़का तुम्हारा भी है तब नाम रखना क्या बुरा? तुम यहाँ गुर आ जाओ सब बातें साफ़-साफ़ हो जायें। फिर सब तुम्हारे ही हाथ में तो होगा। उसका तो महज नाम रहेगा।

यही बात उन्होंने उसका डंक तोड़कर, बहुत नर्मी से बहुत समझा-बुझाकर
• अक्तूबर '२ के अपने नये खत में लिखी—

• तुम्हारा खत मिला। पढ़कर खुशी भी हुई कुछ रंज भी हुआ। खुशी इसलिए हुई कि तुम्हारे दिल में बरादराना मुहब्बत के ऐसे ऊँचे भाव मौजूद हैं रंज इसलिए कि तुमने मेरी बातों का मंशा ग़लत समझा। मैंने पोद्दारजी को जो खत लिखा है उसमें मेरा मंशा सिर्फ़ यही है कि मैं श्रीपतराय के नाम से साझा चाहता हूँ अपने या तुम्हारे नाम से नहीं। हम और तुम अपनी फ़िक्र कर सकते हैं और बच्चे ही के आइन्दा के ख़याल से यह सब इन्तज़ाम करने की फ़िक्र है। इसलिए यही साझेदार भी रहें। चूँकि तुम वहाँ मौजूद हो और तुम्हारी निगरानी में उसकी जायदाद रहेगी इसलिए तुम गोया उसकी जायदाद के Trustee और Guardian हो। मैं

क्या अगर सब रुपया तुम्हीं देते तब भी मैं यही कहता कि साझा श्रीपतराय के नाम से हो क्योंकि मैं जानता हूँ कि तुम्हारे दिल में मेरे और मेरे बच्चों की निस्बत ऐसे ऊँचे ख़यालात हैं। मैं हमेशा तुम्हारी सआदतमंदी की तारीफ़ किया करता हूँ। अगर मैं जानता कि तुम इस बात के कहने से इतने बदगुमान हो जाओगे तो हरगिज़ न लिखता। अगर तुम्हारा बच्चा होता तो मैं इस साझे को अपने और तुम्हारे बच्चे दोनों ही के नाम से देता। और अगर ईश्वर ने ज़िन्दगी बाक़ी रखी तो मैं इसे साबित कर दूँगा। हाँ एक बात ज़रूर है, चूँकि मेरे घर में भी औरत है और तुम्हारे घर में भी औरत है मैं यह नहीं चाहता कि ख़ुदा न ख़ास्ता अगर मेरी ज़िन्दगी वफ़ा न करे तो औरतों में तानाज़नी हो और एक दूसरे पर रोब या सख़्ती जताये। मैं यह साफ़ कर देना चाहता हूँ कि मैं अपने लड़के के लिए जो कुछ करता हूँ वह सब अपनी कूवते बाज़ू से करता हूँ और उसकी जवानी पर महज़ उसकी सर परस्ती और निगरानी का बार डालना चाहता हूँ। महज़ तुम्हें इस बात का मौक़ा देने के लिए कि तुम अपनी सआदतमंदी का इज़हार कर सको मैं कलकत्ते के कारो-बार में शरीक होने पर राज़ी हूँ हालाँकि मेरा शुरू से इरादा था कि तुम बनारस रहते और वहीं ख़ानदान को अपने साथ रखकर मुझे इस एक फ़िक्र से आज़ाद कर देते। यहाँ फ़ैज़ाबाद में एक ताल्लुक़ेदार प्रेस बिक रहा है। उसकी बाबत मैंने मुंशी गुलज़ारी लाल को लिखा भी है।

एक और बात याद रखो। तुम्हारा दिल मैं जानता हूँ बहुत साफ़ है। लेकिन औरतों का दिल अक्सर तंग-ख़याल होता है। तुम्हारी बीवी को अगर किसी दिन मालूम हो कि तुम रुपया क़र्ज़ ले रहे हो महज़ इसलिए कि श्रीपतराय के नाम से प्रेस ख़रीदो तो वह इसे हरगिज़ पसन्द न करेगी। तुम सआदतमंदी से चाहे उसे डाँटते रहो लेकिन बहुत मुमकिन है कि इससे तुम्हारी आफ़ियत में मुश्किल पैदा हो और तुम्हारे घर में एक रार मचे। इन सब बातों का ख़याल करके मैंने यही इरादा किया कि रुपया सब मेरा हो जो मैंने अपनी मेहनत से वसूल किया हो। वह तुम्हारी निग-रानी में लड़के के नाम से जमा किया जाये। गोया तुम उसकी जायदाद के ट्रस्टी रहो। और जब तुम भी साहबे औलाद हो जाओ—ईश्वर करे कि मैं वह मुबारक दिन देखूँ—तो हर एक जायदाद में दोनों भाइयों की औलादें बराबर हिस्सेदार रहें दोनों के साथ-साथ नाम चढ़ें। इसलिए तुम्हारे दिल में मेरे इस ख़त से ज़रा भी मलाल हो तो उसे निकाल डालो ●

तीन रोज़ बाद १ अक्तूबर को, मुंशीजी ने कलकत्ते के प्रेस की बात को, जो सारे मनमुटाव का कारण बन रहा था सिरे से ख़त्म करते हुए लिखा—

● आज फिर तुमसे कुछ मशविरा करना चाहता हूँ। दसहरे में आ जाओ तो

सब बातें मुफ़स्सल तय हो जायें। यहाँ मेरे दोस्तों की और नीज़ घरवालों की राय कलकत्ता में प्रेस करने की नहीं होती और मैं भी इसमें कोई ज्यादा फ़ायदा नहीं देखता। पोद्दारजी ही के बयान के मुताबिक उसका सालाना नफ़ा १६) के क़रीब है। इस हिसाब से हम लोगों को आधे हिस्से पर ८ ●) सालाना मिलेंगे। पाँच हजार का सूद सालाना ४५) होगा। गोया कुल सालाना फ़ायदा १२) के क़रीब होगा। कुछ कम या ज्यादा होना भी मुमकिन है। क्या अगर हम लोग अपना ज़ाती प्रेस पाँच हजार के सरमाये से बनारस में खोलें तो सौ रुपया माहवार या १२ ●) रुपया सालाना मुनाफ़ा न होगा? इससे कम किसी तरह नहीं हो सकता। मेरा ख़याल है कि ज़रूर होगा। यहाँ इससे छोटे-छोटे प्रेस जो दो-ढाई हजार से खुले हुए हैं, सौ रुपया माहवार कमा रहे हैं। मैं यह चाहता हूँ कि तुम किसी नये प्रेस की तलाश में रहो जिसमें टाइप ट्रेडल मशीन वग़ैरह सब सामान मुकम्मल मौजूद हो। अगर सेकेंडहैण्ड न मिल सके तो कलकत्ता की किसी फ़र्म से नये सामान का आर्डर करो। बस कोशिश यह होनी चाहिए कि बजट पाँच हजार से ज्यादा न होने पावे। बनारस में भी सुराग़ लगाता हूँ। यहाँ अभी हाल में ही दो आदमी बनारस से सामान लाये हैं और ख़ूब अरज़ाँ[1]। फ़ैज़ाबाद का ताल्लुक़ेदार प्रेस बिक रहा है। तीन हजार में सब सामान मिलता है। मुंशी मुस्-हयातउल्लाह से दर्याफ़्त किया है। देखूँ क्या जवाब आता है। अब इसी इरादे को मुस्तक़िल समझो। तुम्हारे कलकत्ता रहने से मुझे ऐसा मालूम होता है कि मैं बिलकुल अकेला हूँ। मुझे हमेशा एक मददगार की ज़रूरत मालूम होती है। मेरी सेहत कुछ अच्छी मालूम होती थी। लेकिन अब फिर ज्यों की त्यों हो रही है। जल-चिकित्सा से भी कोई फ़ायदा ज्यादा नहीं हुआ। ऐसी हालत में मेरी दिली आरज़ू यह है कि बनारस में तुम्हारे मुस्तक़िल रहने का इंतज़ाम हो जाये ताकि तुम हर हालत में घर को सँभाल सको। ख़ुदा न ख़ास्ता मैं न रहा तो तुम्हें ज़िन्दगी मुश्किल पड़ेगी। तुम रहोगे कलकत्ता मेरे बाल-बच्चे रहेंगे बनारस कुछ भी न हो सकेगा।●

यह तो तसवीर का अँधेरा पहलू है, रौशन पहलू भी कुछ कम नहीं है, मौक़ा भर मिलना चाहिए मुंशीजी को उड़ान भरने का —

अब तुम्हें पाँच हजार रुपये मिल सकते हैं। उसकी फ़िकर नहीं। मार्च अप्रैल तक अगर प्रेस का इंतज़ाम हो जाये तो मई जून में हम लोग मकान वग़ैरह लेकर बनारस में जम जायें। ऐसा मकान लिया जाय कि उसमें प्रेस भी रहे और तुम भी रहो। मेरे बच्चे कभी बनारस रहें कभी मेरे साथ। छुट्टियों में मैं भी बनारस

---

1 सस्ता

आया करें और कुछ तुम्हारी मदद किया करें। साल-छः महीने में जब काम चल निकले तो मकान बनवाना शुरू कर दिया जाय। तुम एक साइकिल ले लो और अपनी निगरानी में मकान बनवाओ। इस तरह आइन्दा का इंतज़ाम पूरा हो जायगा और मुझे इत्मीनान हो जायेगा कि मैं कच्ची गृहस्थी छोड़कर नहीं मरा। कान-पुर में दयानरायन और रामभरोसे मुझे शरीक करना चाहते हैं और बीस हज़ार से प्रेस खोलना चाहते हैं। लेकिन अब मैं बनारस के सिवा और अपने लिए कहीं सुभीता नहीं पाता। बनारस में चाहे नफ़ा कुछ कम भी हो लेकिन मुझे यह इत्मीनान रहेगा कि मेरे बाद ख़ानदान भूखों नहीं मरेगा और इज़्ज़त के साथ निबाह होता जायगा। यह भी मुमकिन है कि मैं बनारस तबादला करा लूँ। तब तो चैन ही हो जायगा। हम दोनों साथ रहेंगे और एक-दूसरे की मदद करते रहेंगे। जो कुछ अपने पास रुपया होगा वह कारबार बढ़ाने में ख़र्च करेंगे। और मुमकिन होगा तो दस-पाँच बीघा ज़मीन ले लेंगे ताकि एक हल की खेती का भी आसानी से इंतज़ाम हो जाय। खाने को अपना घर घर हो जाय दीगर मसारिफ़ के लिए प्रेस से आमदनी हो जाय।

दसहरा में आओ ज़रूर आओ इस बारे में और भी सलाह हो जायगी। लेकिन अब अपनी सेहत की हालत देखते हुए मैं तुम्हारा कलकत्ता रहना पसन्द नहीं कर सकता। जब तक प्रेस का इंतज़ाम न हो जाय तुम नौकरी करो। चाहे पोद्दार जी के प्रेस में चाहे किसी दूसरे प्रेस में। लेकिन अप्रैल में तुम्हें हमेशा के लिए कलकत्ता छोड़ना पड़ेगा अगर गृहस्थी और ख़ानदान की तुम्हें फ़िक्र है। बस यही मेरा आख़िरी फ़ैसला है, अब इसमें किसी क़िस्म का रद्दोबदल नहीं करूँगा। तुम ख़ुद इसका फ़ैसला कर सकते हो कि प्रेस के लिए नया सामान ख़रीदना बेहतर होगा या सेकंडहैण्ड। क्या-क्या सामान दरकार होंगे। इस बारे में फ़िलहाल मुझे कोई तजुर्बा नहीं है। •

कहने की ज़रूरत नहीं कि इसके बाद कलकत्ते के प्रेस में साझा करने का फिर ख़याल न रह गया और २ अक्तूबर को मुंशीजी ने निगम साहब को लिखा—

अब आप चेक न भेजें क्योंकि कलकत्ते में साझा करने का इरादा डिस्क[1] हो गया है। पन्द्रह सौ भेज चुका था लेकिन चंद ऐसी बातें हुईं जिनसे यह तजवीज़ तर्क करनी पड़ी। बवक़्त मुलाक़ात मुफ़स्सल बयान करूँगा। अब आप ही की सलाह पक्की रही यानी बनारस इलाहाबाद या कानपुर में प्रेस। छोटक यहाँ आ गये हैं और अब ग़ालिबन् कलकत्ता न जायेंगे। बनारस में उन्हें सत्तर की पोस्ट आफ-

---

१ ख़त्म

मण्डलवालों ने आफ़र की है। वहीं गये हुए हैं। लेकिन कल मैंने प्रताप में लाइट प्रेस कानपुर के फ़रोख्त होने का इश्तहार देखा। क्यों न हम और आप मिलकर इस प्रेस को ले लें। मेरे पास ४) हैं। मुमकिन है फ़िक्र करने से कुछ और बहम[1] पहुँच जाये। अगर आपको यह प्रेस काम का और सस्ता हुआ मालूम हो तो उससे गुफ़्तगू कीजिए और क़ीमत वग़ैरह तय फ़रमाइए। तब मुझे मतला कीजिए ताकि मैं भी आ जाऊँ और मुआमला अपना हो जाय। तब ग़ोरखपुर को कानपुर छोड़ दूँ। वह मैनेजर रहें और आप सुपरवाइज़र मगर आनरेरी।

उसी रोज़ दया को लिखा — हाँ मैंने कलकत्ते में प्रेस लेने का इरादा तर्क कर दिया। दूर-दराज़ का मामला था। अब इसी सूबे में इरादा है। कानपुर में एक प्रेस बिक रहा है। लाइट प्रेस नाम है। इसके मुतालिक़ ख़तो-किताबत कर रहा हूँ। तय हो जाये तो नौकरी से मुस्तफ़ी हो जाऊँगा। अब यह बोझ नहीं सहा जाता।

दिमाग़ जब एक तरफ़ चल पड़ता है तो फिर इधर उधर देखता-ताकता नहीं और सीधे जाकर मंज़िल पर ही रुकता है। छोटी से छोटी बात सोच डालता है। बहुत प्रैक्टिकल आदमी समझते हैं वह अपने आप को और इसमें शक नहीं कि काग़ज़ के पन्ने पर उनसे ज़्यादा पक्की-पोढ़ी स्कीम कोई नहीं तैयार कर सकता। अदना से अदना बात का उन्हें ख़्याल रहता है स्कीम बनाते समय और जोड़-बाक़ी गुणा-भाग में सब कुछ ठीक। इतने पर भी अगर स्कीम कामयाब न हो तो इसमें उस ग़रीब का क्या दोष!

अब बस एक ही धुन था उनके पास हर वक़्त रोज़ पर उन्होंने निगम साहब को लाइट प्रेस की याद दिलानी शुरू की। लेकिन निगम साहब की तबीयत किसी तरह उधर बढ़ती ही न थी — शायद इसलिए कि खुद कहते थे और जानते थे कि प्रेस खोल लेना जितना आसान है उसको चलाना उतना आसान नहीं है। फिर दोस्त के साथ साझे में बिज़नेस करने के ख़तरों को समझते थे। लिहाज़ा बराबर टालते रहे और आख़िरकार मुंशी जी ने मजबूर होकर ११ नवम्बर २ को लिखा — प्रेस का ख़याल अब शायद गया। मैंने गवर्नमेण्ट के काग़ज़ात में लगा दिए। अब बीस रुपये माहवार घर बैठे मिल जायेंगे। रुपयों का अन्देशा नहीं।

हाँ एक चिन्ता बराबर थी जो खा रही थी। प्रेमबत्तीसी का दूसरा हिस्सा जो बाद में प्रेस में गया था दारुल इशाअत पंजाब से छपकर आ गया था और पहले हिस्से का अब तक कहीं पता न था। दो बरस के ऊपर हो गए थे। साल के

---

1 मिल जाए 2 इस्तीफ़ा दे देना

शुरू में ९ जनवरी को उन्होंने एक बार काफ़ी खीझकर लिखा था — बराहे करम फ़र्वरी तक प्रेमबत्तीसी का हिस्सा अव्वल निकाल दीजिए। मर जाऊँगा तो आप Posthumous एडीशन क्या निकालेंगे जब ज़िन्दगी में ज़िन्दा एडीशन नहीं निकालते।

तब से बराबर एक के बाद दूसरे महीने पर बात टलती जा रही थी। ख़ैर, जैसे-तैसे साल के आख़ीर तक किताब की छपाई हो पायी। अब गाड़ी टाइटिल पेज पर आकर अटक गयी थी। कितनी भयानक और कैसी प्यारी झुंझलाहट है ११ दिसंबर के इस ख़त में — 'आपको बाज़ार में जैसा काग़ज़ मिले अच्छा बुरा बढ़िया-घटिया लाल काला पीला नीला सब्ज़ सुर्ख़ नारंगी लेकिन टाइटिल पेज छपवा दीजिए

फिर २९ दिसंबर को — लिखता हूँ। नाविल की हिन्दी कर रहा हूँ। प्रेम बत्तीसी की फ़िक्र खाये जा रही है।

और इतने लम्बे तीन साल के इंतज़ार के बाद जब किताब मिली तो १८ जनवरी को उन्होंने लिखा — बत्तीसी का पैकेट मिला। टाइटिल देखकर रो दिया। बस और क्या लिखूँ। किताब की मिट्टी ख़राब हो गयी।

असहयोग का अलख जगाते हुए गांधीजी सारे देश का दौरा कर रहे थे। ८ फ़र्वरी को गोरखपुर पहुँचे। ग़ाज़ी मियाँ के मैदान में ऊँचा प्लेटफ़ार्म तैयार किया गया। दो लाख से कम का जमाव न था। क्या शहर क्या देहात, अथाह जनता दौड़ी चली आती थी। मुंशीजी भी अपनी बीमारी के बावजूद पत्नी और दोनों बच्चों समेत पहुँचे।

घर आये तो गांधीजी की ही बातें दिमाग़ में घूम रही थीं। बातें सब अपने ही दिल की थीं और ऐसी कुछ नयी भी न थीं तो भी नयी थीं और उनसे चेतना को एक नया ही आघात लगा। नौकरी छोड़-न-छोड़ के जिस झूले पर वह इधर बरसों से झूल रहे थे उसकी डोर अब कट गयी जान पड़ती थी। बहुत रोज़ हो लिया यह खेल। एक न एक निश्चय अब करना ही होगा। और वह निश्चय क्या होगा इसके बारे में मुंशीजी को कोई सन्देह न था। लेकिन अब और कौन दिन आयेगा निश्चय करने का। संशय बुरी चीज़ है, घुन की तरह भीतर ही भीतर खोखला कर देता है मन को। जो कुछ करना हो अब बेखटके कर डालो। अब न किया तो फिर कभी न कर सकोगे और हमेशा दुखी रहोगे। देश बार बार किसी को नहीं पुकारता। लेकिन भुगतना तो घरवालों को पड़ेगा। और वह जाकर पत्नी से बोले — तुम राय दो तो मैं सरकारी नौकरी छोड़ देता।

पत्नी ने जवाब देने के लिए दो-तीन रोज का समय माँगा। पीछे उन दिनों की याद करते हुए उन्होंने लिखा —

• जो उलझन उनको थी वही दो-तीन दिन मुझे भी हुई। मुझे भी बार-बार यही खयाल होता कि आखिर बी॰ ए॰ की ख्वाहिश क्यों हुई, यही न कि आगे तरक्की की आशा। पहले तो यह खयाल था कि यह कभी प्रोफेसर हो जायँगे और जीवन के दिन आराम से काटेंगे क्योंकि सेहत अच्छी न थी। और कहाँ यह प्रस्ताव कि जो कुछ मिलता है उसको भी छोड़कर महज हवा में उड़ा जाय। उस समय उनको कुल मिलाकर एक सौ पचीस के करीब मिलता था। स्कूल की नौकरी होने की वजह से घर पर भी काम करने का समय मिल जाता था। मुझे भी इस बात की उलझन थी कि आखिर नौकरी छोड़कर करेंगे क्या? एक लड़की और एक लड़का सामने था और अभी बच्चे होने की उम्मीद थी। उधर मेरी इच्छा यह भी न थी कि किसी के पैर की बेड़ी बनकर रहूँ यह नहीं कि रुपयों का मूल्य मेरी आँखों में कम था। एक तो अपनी जरूरतों को देखते हुए, दूसरे भी बहुत दिनों से बीमार, न घर न द्वार — इन सब बातों को सोचकर यही दिल में आता था कि इनको नौकरी छोड़ने से रोक दूँ। दो रोज का समय लिया था लेकिन चार-पाँच दिन में भी कोई निर्णय न कर सकी। चार-पाँच दिन के बाद उन्होंने फिर पूछा कि बतलाओ तुमने क्या निर्णय किया। मैं बोली — एक दिन का समय और। उस दिन मैंने यह सोचा कि आखिर जब यह इतने बीमार थे और बचने की कोई आशा न थी एक तरह से शायद उन्होंने मुझे जवाब ही दे दिया था यह कहकर कि यह तीन हजार रुपये हैं और तीन तुम ईश्वर कुछ अच्छा ही करनेवाला होगा तभी तो यह अच्छे हो गये हैं

दूसरे दिन मैंने उनसे कहा — छोड़ दीजिए नौकरी को। यह सरकारी नीति अब सहनशक्ति के बाहर है।

तब आप अपनी स्वाभाविक हँसी हँसकर बोले — दूसरों का अन्त करने के पहले अपना अन्त सोच लो।

मैंने सोच लिया है। जब तुम अच्छे हो गये हो तो मैं सोचती हूँ कि अब आगे भी जंगल में मंगल कर सकूँगी और मेरा खयाल है कि ईश्वर कुछ अच्छा ही करने वाला है।

सोच लो फिर न कहना कि छोड़कर खुद भी तकलीफ उठायी और मुझे तकलीफ दी क्योंकि सर पर तकलीफें आगे बहुत आनेवाली हैं मुमकिन है कि खाने को भी न मिले।

मैं इसके लिए सोच चुकी हूँ। मैं तो यह जानती हूँ कि सर पर जब बला

जाती है तब हर कोई भुगत लेता है। फिर भुगतते तो हैं बड़े-बड़े घर के लोग अपनी तो बिसात ही क्या है।

तब वह बोले — यही निश्चय है?

मैं बोली — हाँ।

तो मैं कल ही इस्तीफ़ा देता हूँ और कल ही यह सरकारी मकान भी आपको छोड़ना होगा। कहाँ जाना है इसका भी कोई ठिकाना नहीं। ●

इतनी साफ़-साफ़ बातचीत के बाद फिर कहाँ की दुविधा और कैसी दुविधा मुंशी जी ने अगले रोज़ इस्तीफ़ा लिखकर दे दिया। कुछ दोस्तों ने यह भी सलाह दी कि नौकरी अगर छोड़नी ही है तो ज़रा रुककर छोड़िए। ऐसा कोई आपको बाँध-कर थोड़े ही रख सकता है। क्यों मुफ़्त दो महीने की तनख़्वाह से हाथ धोते हैं? छुट्टियों को अब दिन ही कितने हैं?

लेकिन नहीं जो निश्चय हो गया सो हो गया। हिसाब-किताब नहीं देखा जाता ऐसे वक़्त।

मंजूरुल हक़ लिखते हैं कि उनको नौकरी से अलग होते देखकर 'तमाम लड़के स्कूल छोड़ने पर आमादा हो गये मगर आपने सबों को रोका और बताया कि यह रास्ता बहुत कठिन है। मैं तो इस क़ाबिल हो गया हूँ कि अपना और अपने बच्चों का पेट पाल लूँ मगर तुम लोग अभी इस क़ाबिल नहीं। इसलिए अगर तुम लोगों ने स्कूल छोड़ा तो बड़ी मुश्किल में पड़ जाओगे। चुनांचे बहुत से लड़के स्कूल में रह गये फिर भी कुछ लड़के तो मुहब्बत के मारे स्कूल से अलग हो ही गये।

वह फ़र्वरी १९२१ की १५ तारीख़ थी। १६ तारीख़ से वह कार्यमुक्त कर दिये गये।

उसी रोज़ उन्होंने अपना क्वार्टर छोड़ दिया और शहर में ही एक दोस्त के घर चले गये। उसके अगले दिन वह अपने मित्र महावीर प्रसाद पोद्दार के संग उनके गाँव मानीराम चले गये जो शहर से तेरह मील दूर था। इक्कीस बरस की सरकारी गुलामी का अन्त हुआ।

फ़ौरन उन्होंने इसकी सूचना देते हुए १९ को ही निगम साहब को लिखा — मैं कल सरकारी मुलाज़मत से सुबुकदोश हो गया। आज इस्तीफ़ा भी मंज़ूर हो गया। यहाँ से एक हफ़्तावार उर्दू अख़बार निकालने का इरादा है। प्रेस की भी तलाश है। ग़ालिबन् यहीं रुपये का भी इंतज़ाम हो जायगा। अर्से से यह ख़याल था। अब इसके पूरे होने के दिन आये।

फिर मानीराम से २१ तारीख़ को लिखा —

मैंने तर्के मुलाज़मत[1] कर ही ली। आप मुझे बहुत अर्से से इसकी तहरीक[2] कर रहे थे, हालाँकि वह आपकी तहरीक का असर नहीं है बल्कि रफ़्तारे ज़माना का। मगर किसी तरह अब मैं आज़ाद हो गया। अब बतलाइए क्या करूँ। प्रेस और अख़बारनवीसी और पुस्तकनवीसी के सिवा मैं कोई दूसरा काम करने के क़ाबिल नहीं। कपड़े बुनने के लिए तैयार नहीं। काश्तकारी मेरे किये हो नहीं सकती। क्या आपका इरादा अब भी प्रेस की तरफ़ है? मैं चार-पाँच हज़ार का सरमाया और अपना सारा वक़्त आपकी नज़र करने को तैयार हूँ बशर्ते कि आप भी मेरे मआविन[3] और शरीक हों। मैं अब ज़्यादा तज़बज़ब[4] में नहीं रहना चाहता। अब कोई-न-कोई फ़ैसला करना चाहता हूँ। मेरे लिए गोरखपुर बनारस और कानपुर तीन मुक़ामात हैं। और भी जगह थोड़ी-बहुत आसानियाँ हैं लेकिन कानपुर में जितनी आसानी नज़र आती है उतनी और कहीं मिलनी नहीं। मैं एक अच्छा प्रेस उर्दू हिन्दी और अंग्रेज़ी का खोलना चाहता हूँ जो फ़िलहाल महज़ जाब वर्क पर चले। अख़बार से उसे कोई ताल्लुक़ न रहे। मैं ख़ास तौर पर अख़बार का काम भी कर सकता हूँ मगर ज़्यादा नहीं। अगर आप चाहें तो दो-एक दिन के लिए कानपुर आ जाऊँ और जिस मुआफ़िक़ उमूर[6] तय हो जायें। शायद प्रेस अभी मालिकान फ़रोख़्त न हुआ होगा। अगर वह बिक भी गया हो तो कलकत्ते से मशीन और टाइप मँगाया जा सकता है। सीसो प्रेस का इन्तज़ाम भी ज़रूरी है ताकि अपने घर के काम के लिए दूसरे का दस्तनिगर[7] न होना पड़े। मैनेजरी का काम हम और आप दोनों मिलकर शुरू कर सकते हैं। एडिटरी के काम में भी हत्तुल इमकान[8] आपकी काफ़ी मदद कर सकता हूँ। इस वक़्त के जवाब का मुन्तज़िर हूँ। अगर आपने कुछ उम्मीद न दिलायी तो और कोई सबील[9] सोचूँगा। यहाँ मैंने फ़िलहाल एक कपड़े का कारख़ाना खोल रखा है जिसमें आठ करघे चल रहे हैं। कुछ चर्खे वग़ैरह भी बनवाये जा रहे हैं। एक मैनेजर पच्चीस रुपये माहवार पर रख लिया है। गो इससे मुझे माहवार कुछ न कुछ नफ़ा ज़रूर होगा लेकिन इतना नहीं कि मैं उस पर तकिया[10] कर सकूँ। बावजूद नान-कोआपरेशन करने के अभी तक मैं दौलत की तरफ़ से बिल्कुल मुस्तग़नी[11] नहीं हूँ। और मैं ख़ास तौर पर हो भी जाऊँ लेकिन मेरी बीवी को यक़ीन हो जाये कि अब इसी तरह उसकी ज़िन्दगी बसर होगी तो वह मुझे हरगिज़ मुआफ़

---

१ नौकरी छोड़ ही दी २ प्रेरणा ३ सहयोगी ४ संशय ५ आवागमन ६ बातें ७ मुहताज ८ यथाशक्ति ९ युक्ति १० सहारा ११ विरक्त

म करेगी। और क्या अर्ज करूँ। आजकल एक देहात में मुकीम हूँ। खूब आराम से दिन कट रहे हैं। आजादी का लुत्फ उठा रहा हूँ।

सब कहने की बातें हैं। दो-तीन हफ्ते भी न गुजरे होंगे कि इस तरह बैठे रहना मुंशीजी को खलने लगा और यह योजना बनी कि पोद्दारजी के साथ मे शहर में चर्खे की दूकान खोली जाय। एक मकान वहाँ लिया गया। दस चर्खे लगाये गये। मुंशीजी खुद भी मानीराम से आकर वहीं शहर में कुछ रोज रहे। चर्खे के प्रचार का जोश अपनी चोटी पर था। हवा में चर्खे की गूँज थी —

देस दरिद्र दीन दुख टारि
यदि चाहो करना उद्धार
तो चर्खे का करो प्रचार
पहनो खद्दर सब नर नारि॥

मुंशीजी भी करीब एक महीने तक इसी चर्खे के रंग में डूबे रहे। और इन्हीं *दिनों बतलाते ही उन्होंने पुलिस के एक बड़े अफ़सर को जिसका नाम मुहम्मद* इकराम था असहयोग के रास्ते पर लगा दिया।

मुंशीजी शहर में जहाँ मकान लेकर उन दिनों रह रहे थे वहाँ से अक्सर कोई बहुत मीठी आवाज़ में गाता हुआ निकलता था। एक रोज मुंशीजी से नहीं रहा गया तो वह बाहर निकल गये। देखा कि वह एक अच्छा लड़का था जो शायद उस वक्त अपने घर लौटता था। मुंशी जी ने उसे बुलाकर इधर उधर की कुछ बातें कीं। फिर तो वह लड़का अक्सर ही आने लगा और रात को काफ़ी देर तक सीताराम वर्मा और मुंशीजी और और कुछ दोस्त बैठे उसका गाना सुनते रहते। बला एक लोच था दर्द था उसके गले में।

एक रोज पुलिस के एक डी एस पी साहब आ धमके। लोग बहुत चौंके कि आज यह साहब कैसे तशरीफ़ ले आये क्या मामला है कहीं छापा तो नहीं मारनेवाले हैं हमारे चर्खा केन्द्र पर! मगर बात कुछ और थी। कप्तान साहब को दूसरा ही शुबहा था। कहीं ऐसा तो नहीं है कि ऊपर से दिखाने को कुछ चर्खे वर्खे रख दिये हों और भीतर-भीतर कुछ और ही सियासी पक्ती हो! वर्ना हर रोज रात को इतनी-इतनी देर तक घर में रोशनी क्यों रहती है! जरूर कुछ दाल में काला है! इस तरह मुहम्मद इकराम साहब की मुलाकात मुंशी प्रेमचन्द से हुई और वह भी जब-तब आने लगे। धीरे-धीरे उन पर कुछ ऐसा जादू चला कि वह भी इसी पथ के पथिक हो रहे। कोई सात-आठ महीने बाद किसानों की किसी बड़ी सभा पर गोली चलाने की बात उठी। मुहम्मद इकराम ने इस्तीफ़ा दे दिया।

मर्ज़ का यह रंग मुंशीजी पर करीब एक महीने रहा। लेकिन ज़ ऐसी ही चल सकती थी और न उस तरह की देखभाल के लिए मुंशी-थे। उनका माध्यम तो साहित्य है। जो लिखाई ज़ोर-शोर से चल रही है। स्वराज्य का प्रचार करनेवाले लेख सीधे-सादे देश-प्रेम के क़िस्से जिनमें किसी तरह का बनाव सिंगार नहीं है और न उनको लिखते समय मुंशीजी को इस बात की ही चिन्ता है कि उनकी गिनती स्थायी साहित्य में होगी या नहीं। गांधी जी ने स्वराज्य की लड़ाई छेड़ रखी है। हर वह आदमी जिसे अपने देश से प्यार है इस समय स्वराज्य का सिपाही है। कोई मैदान में जाकर लाठी खाता है जेल की राह पकड़ता है मुंशी जी अपना क़लम लेकर मैदान में उतरते हैं। एक ही बात है। अधिक से अधिक जनता को इस लड़ाई के अन्दर ले आना है। मैं क़लम का सिपाही हूँ क़लम के ज़ोर से लोगों को जगाऊँगा। आन्दोलन का प्रचार करूँगा। हाँ ठेठ प्रचार। इस शब्द से मुझको डर नहीं लगता। कोई बात नहीं अगर चीज़ कुछ अनगढ़ भी हो जाती है। असल बात यह है कि लोगों को जगाना है, जैसे भी हो। मीनाकारी का समय यह नहीं है। उसके लिए और बहुत समय मिलेगा।

इस वक़्त मन का कुछ दूसरा ही रंग है। कोई कष्ट, कोई चिन्ता टिक नहीं पाती। बाल-बच्चों की फ़िक्र है। भविष्य अंधकारपूर्ण है। कुछ पता नहीं क्या होगा नहीं होगा। मगर उससे क्या आज़ाद तो हैं, किसी के ग़ुलाम तो नहीं। मोटा झोटा खाकर ही सही। तकलीफ़ उठाकर सही। यह सब तो पहले से मालूम था। इससे भी बुरी हालत हो सकती थी। आज़ादी कोई सस्ती चीज़ तो है नहीं। उसकी क़ीमत चुकानी पड़ती है सब चुका रहे हैं मैं भी चुका रहा हूँ। उन्हें किसी स कोई शिकायत नहीं है और न मन में उदासी की छाया है। आज़ादी की ख़ुशी हर तकलीफ़ पर भारी है। मन में एक अजीब उमंग है जो उस हल्की-सी शरारत की पुट के साथ जो कि मुंशी जी के ख़मीर में दाख़िल है कुछ अजब गुल खिलाती है। एक मस्त बेपरवाह स्वच्छन्दता एक नया अपने ढंग का आज़ादी का पहला ख़ुमार। आज़ाद होने के बाद यह उनकी पहली होली है — और मुंशीजी लिखित होली नाम की एक कहानी की शक्ल में अपनी टेसू के घोल लाल रंग से भरी हुई पिचकारी लेकर सड़क पर मौजूद हैं —

● होली का दिन था मिस्टर ए. बी. क्रास शिकार खेलने गये हुए थे। गार्निंग बरकती महतर मिस्त्री ग्वाला धोबी — सब होली मना रहे थे। सबों ने साहब के जाते ही ख़ूब गहरी भंग चढ़ाई थी और इस समय बगीचे में बैठे हुए होली-फाग गा रहे थे।

साईस ने पूछा—कहो खानसामाजी साहब कब तक आयेंगे?

नूर अली बोला—उसका जब जी चाहे आये मेरा आज इस्तीफ़ा है। अब इसकी नौकरी न करूँगा।

बढ़ई ने कहा—ऐसी नौकरी फिर न पाओगे। चार पैसे ऊपर की आमदनी है। नाहक छोड़ते हो।

नूर अली—अजी लानत भेजो! अब मुझसे गुलामी न होगी। यह हमें बूटों से ठुकरायें और हम इनकी गुलामी करें! आज यहाँ से डेरा कूच है। आओ तुम लोगों की दावत करूँ। चले आओ कमरे में आराम से मेज पर डट जाओ यह वह बोतलें पिलाऊँ कि जिगर ठण्डा हो जाय।

नूर अली ने ह्विस्की की बोतल खोलकर गिलास भरे और यारों ने चढ़ाना शुरू कर दिया। ठर्रा पीनेवालों ने जब यह मजेदार चीजें पायीं तो गिलास पर गिलास लंढाने लगे। ज़रा देर में सबों के सिर फिर गये। मद छाता रहा। एक ने होली छेड़ी दूसरे ने सुर मिलाया। गाना होने लगा। नूर अली ने ढोल-मजीरा लाकर रख दिया। वहीं महफ़िल जम गयी। गाते-गाते एक उठकर नाचने लगा। दूसरा उठा। यहाँ तक कि सबके सब कमरे में चौकड़ियाँ भरने लगे। हू हक मचने लगा। कबीर, फाग चौताल गाली-गलौज मार-पीट, बारी-बारी सब का नम्बर आया। कुर्सियाँ उलट गयीं। दीवारों पर की तसवीरें टूट गयीं। एक ने मेज उलट दी। दूसरे ने रकाबियों का गेंद बनाकर कैच करना शुरू किया। ●

तभी शहर के रईस लाला उजागरमल का आगमन होता है। लालाजी शहर के सहयोगी समाज के नेता थे। उन्हें अंग्रेजों की भावी शुभकामनाओं पर पूर्ण विश्वास था। अंग्रेजी राज्य की तालीमी माली और मुल्की तरक्की के राग गाते रहते थे। असहयोगियों को खूब फटकारा करते थे। अंग्रेजों में इधर उनका आदर-सम्मान विशेषरूप से होने लगा था। कई बड़े-बड़े ठेके जो पहले अंग्रेज ठेकेदारों ही को मिला करते थे उन्हें दे दिये गये थे। मतलब यह कि वह बिल्कुल साँचे में ढले हुए टोडी बच्चे थे अंग्रेजों के पक्के खैरख्वाह।

नूर अली चकमा देकर उन्हें भी इस हुड़दंग में शरीक कर लेता है। अब देखिए क्या होता है—

मिस्टर शाह अपनी बन्दूक हाथ में लिये मोटर से उतरे और अपने आदमियों को बुलाने पर वहाँ तो यारों से चौताल हो रहा था सुनता कौन है। घबराये यह मामला क्या है। क्या सब मेरे बँगले में गा रहे हैं? क्रोध से भरे हुए बँगले में दाखिल हुए तो डाइनिंग रूम से गाने की आवाज आ रही थी। अब क्या था

थाने से बाहर हो गये। हैटर उतार लिया और डाइनिंग रूम की ओर चले लेकिन अभी एक कदम दरवाजे के बाहर ही था कि सेठ उजागरमल ने पिचकारी छोड़ी। सारे कपड़े तर हो गये। आँखों में भी रंग घुस गया। आगे पाँच ही रहे थे कि साईस ग्वाला सब के सब दौड़े और साहब को पकड़कर उनके मुँह में रंग मलने लगे। धोबी ने तेल और कालिख का पाउडर लगा दिया। साहब के क्रोध की सीमा न रही। हंटर लेकर मर्दों को अंधाधुंध पीटने लगा। बेचारे सोचे हुए थे कि साहब खुश होकर इनाम देंगे। हंटर पड़े तो नशा हिरन हो गया। कोई इधर भागा कोई उधर। सेठ उजागरमल ने यह रंग देखा तो ताड़ गये कि गुरु अभी ने छींटा दिया। एक कोने में दबक रहे। जब कमरा नौकरों से खाली हो गया तो साहब उनकी ओर बढ़े। लाला साहब के होश उड़ गये। तेज़ी से कमरे के बाहर निकले और सिर पर पैर रखकर बेतहाशा भागे। साहब उनके पीछे दौड़े। सेठजी की फिटन फाटक पर खड़ी थी। घोड़े ने धम धम टप टप सुनी तो चौंका। कनौतियाँ खड़ी कीं और फिटन को लेकर भागा। विचित्र दृश्य था। आगे-आगे फिटन उसके पीछे सेठ उजागरमल उनके पीछे हण्टरधारी मिस्टर बाम! तीनों सरपट दौड़े चले जाते थे।

कैसा मजा आ रहा है मुंशीजी को इस दृश्य में! आँखों के आगे तसवीर नाच रही है और अगर इस वक्त वह ठठाकर नहीं हँस रहे हैं तो सिर्फ इसलिए कि होल्डर की स्याही छलक जाने का डर है! लेकिन भीतर ही भीतर चटखारे ले रहे हैं और चेहरे पर एक शरारत से भरी हुई मुस्कराहट है! कैसी पत बनायी लाला जी की और साहब को भी नंगा करके रख दिया! पुराने चैम्पियन निशानची ढेलेबाज़ हैं, एक ढेले से दो चिड़ियों का शिकार कर रहे हैं।

लाला जी पीछे कांग्रेस दफ्तर जाकर असहयोगियों में अपना नाम लिखा देते हैं। यह कहानी का नीति-पक्ष है और वही उसका सबसे कमजोर पहलू भी है। असल चीज है वह मस्ती और खिलंदड़ापन जो कहानी के एक-एक रग और रेशे में खून की तरह दौड़ रहा है। बहुत लम्बे इन्तजार के बाद वह गुलामी का तौक़ गले से उतरा है। कैसे बतलाये वह अपनी मुक्ति के उस आस्वाद को! एक अजीब सरमस्ती है, उल्लास है जो समा नहीं पा रहा है बदन में और उफनकर गिर-गिर पड़ता है सब तरफ! अन्याय पर न्याय की विजय हो रही है। उसी का तो नाम होली है। मुंशीजी भी होली मना रहे हैं। यह उनकी अपने ढंग की निराली होली है — उनका विजय उत्सव और उसी का पान-पत्र यह नन्हा सा चुटकुला। और मन की वृत्ति गम्भीर होने पर 'लाल फीता' जो एक मैजिस्ट्रेट के हृदय-परिवर्तन और इस्तीफ़े की कहानी है।

अंग्रेजी राज्य की वह सदैव स्तुति किया करते थे। दीनों और असहायों की इतनी रक्षा किसने की! शिक्षा की इतनी उन्नति कब हुई? व्यापार का इतना प्रचार कब हुआ? राष्ट्रीय भावों की ऐसी जागृति कहाँ थी? वह जानते थे कि इस राज्य में भी कुछ न कुछ बुराइयाँ अवश्य हैं। मानवी संस्थाएँ कभी दोषरहित नहीं हो सकतीं। लेकिन बुराइयों से भलाइयों का पल्ला कहीं भारी है। यही विचार थे जिनसे प्रेरित होकर यूरोपीय महासमर में हरिविलास ने सरकारी नौकरशाही में कोई बात उठा नहीं रखी हजारों रँगरूट भर्ती कराये लाखों रुपये कर्ज दिलवाये और महीनों घूम घूमकर लोगों को उत्तेजित करते रहे।

जब एक मुसलमान सज्जन उनसे कहते हैं— यह तो बतलाइए हुजूर, यह आजकल क्या हवा फिर गयी है कि जहाँ देखिए वहीं मन्दरसे बन्द होते जाते हैं। सुनता हूँ बड़े-बड़े कालेज भी टूट रहे हैं। तब उसके जवाब में डिप्टी साहब कहते हैं— मैं तो इसे पागलपन समझता हूँ निरा पागलपन। यह लोग समझते हैं कि इन कार्रवाइयों से यह हमारी सरकार को परास्त कर देंगे। कुछ लोग देहातों में पंचायतें भी बनाते फिरते हैं। इनका मतलब भी यही है कि सरकारी अदालतों की जड़ खोदी जाय लेकिन कोई इन भलेमानुसों से पूछे कि क्या कानूनी गुत्थियाँ इन देहातियों के सुलझाये सुलझ जायेंगी। जिस कानून के पढ़ने और समझने में उमरें गुजर जाती हैं, उसका व्यवहार यह हजरते क्या जानकर करेंगे।... जोर दिया जा रहा है कि लोग सरकारी नौकरियाँ छोड़ दें। इस उद्देश्य का पूरा होना और भी कठिन है।... जो बुरे हैं वह नौकरी कभी न छोड़ेंगे इसलिए कि बेईमानी और रिश्वत के ऐसे अवसर और कहीं नहीं मिल सकते। जो अच्छे हैं उनके लिए भी यहाँ जातिसेवा और उपकार का बड़ा विस्तृत क्षेत्र है। उन्हें किसी पर अन्याय करने के लिए मजबूर नहीं किया जाता। सरकार किसी गुप्त और प्रजाघातक नीति का व्यवहार नहीं करती।'

लेकिन सब की आँख एक न एक दिन खुलती है और डिप्टी साहब की आँख खुलती है उस रोज जब कि लाल फीते से बँधा हुआ एक गुप्त निर्देश-पत्र उनको सरकार से मिलता है—अब तक मैं समझता था कि मेरा कर्तव्य न्याय पर चलना है। अब मालूम हुआ कि यह मेरी भूल थी। मेरा कर्तव्य न्याय का गला घोटना है, नहीं तो मुझे ऐसे आदेश क्यों मिलते? क्या समाचारपत्रों का पढ़ना भी कोई अपराध है? क्या दीन किसानों की रक्षा करना भी कोई पाप है? मुझे उन साधु-संन्यासियों पर कड़ी दृष्टि रखने का हुक्म दिया गया है जो धर्मोपदेश करते हुए दिखायी दें। यही नहीं मुझे यह भी देखना चाहिए कि कौन जमी-

गाढ़े के कपड़े पहने हुए है, किसके सिर पर कैसी टोपी है, उस टोपी पर कैसी छाप लगी हुई है। वकालतवालों पर भी नज़र रखनी चाहिए। मुझे उन लोगों के नाम भी अपने रोज़नामचे में दर्ज करने चाहिए जो राष्ट्रीय पाठशालाएँ खोलें, जो देहातों में पंचायतें बनायें, जो जनता को नशे की चीज़ें त्याग करने का उपदेश करें... यह सब अब सहा नहीं जाता और वह इस्तीफ़ा देने का निश्चय करते हैं। जब सरकार अपने धर्मपथ से हट जाती है तो मेरा धर्म भी यही है कि उसका साथ छोड़ दूँ। और वह अपना इस्तीफ़ा इन शब्दों में लिखते हैं—

मेरे विचार में वर्तमान शासन सत्पथ से सम्पूर्णतः विचलित हो गया है। यह शासन प्रजा के सम्मिलित स्वार्थों को छीनना और उसके राष्ट्रीय भावों का वध करना चाहती है। ऐसे दुष्कार्य में योग देना अपनी आत्मा, विवेक और जातीयता का खून करना है। अतएव अब मुझे इस राज-सत्ता से असहयोग करने के सिवा और कोई उपाय नहीं है।

और वह इस्तीफ़ा देकर अपने गाँव चले जाते हैं और वहाँ खद्दर का प्रचार करने लगते हैं। डिप्टी साहब का छोटा लड़का मोतीलाल अपनी बहन मुन्नी को खादी का पूरा अर्थशास्त्र समझाता है।

कोई बात नहीं अगर इससे कहानी की मिट्टी खराब होती है। किसने कहा कि मैं कहानी लिख रहा हूँ, मैं तो कहानी के बहाने से [illegible] स्वराज्य का संदेश घर-घर पहुँचा रहा हूँ। कहानी के बनने-बिगड़ने की फ़िक्र कौन करे, देखना यह है कि आन्दोलन का कोई मुद्दा छूटने न पाये।

आन्दोलन के मुद्दे हैं—विदेशी चीज़ों का बहिष्कार और स्वदेशी का प्रचार जिसका सबसे बड़ा अंग खादी है, सरकारी स्कूलों का बहिष्कार और राष्ट्रीय विद्यालयों की स्थापना, अदालतों का बहिष्कार और उनके स्थान पर पंचायतें क़ायम करना। इनके अलावा तमाम सरकारी नौकरियों का बहिष्कार, कौंसिल का बहिष्कार, मद्य-निषेध।

इन्हीं का प्रचार लोगों में करना है और मुंशी जी नौकरी छोड़ने के बाद तत्काल अपने सरल मन की सम्पूर्ण निष्ठा से इसी में लग जाते हैं। एक के बाद दूसरी कहानी उनके क़लम से निकलती चली आ रही है। मुंशीजी स्वतः अपने मन की प्रेरणा से असहयोग आन्दोलन के प्रचारक बन जाते हैं। यहीं या इसमें मुंशी जी को इसमें अपनी कला की प्रतिष्ठा की कोई हानि नहीं दिखलायी देती। स्वराज्य की बात, असहयोग की बात लाखों तक पहुँचनी चाहिए—और पूरी-पूरी बात छोटे-बड़े जैसी भी हो। मौक़ा-महल समझने की भी इस समय मुंशी जी को फ़ुर्सत नहीं है। बुरा मत मानो, घर में आग लगी है इस वक़्त—कहानी

ठेठ गृहस्थ आदमी उसको कैसे पूछे। खर्च तो कमाई में से ही हो सकता है। यह तो हारे-गाढ़े के लिए है। अपने उसी खत में मुंशीजी ने दशरथप्रसाद को लिखा था बीस रुपये जो आपने प्रदान किये उसके लिए कोटिश: धन्यवाद। बड़े वक्त पर पहुँचे क्योंकि मुझे एक गाय लेनी थी और कहीं से कुछ मिलने का सहारा न था। लेकिन और स्वदेश से बात नहीं बनी। यों ही चलटम-पलटम काम चलता रहा। हाँ लिखाई उसी जोश और मुस्तैदी से।

इन्हीं दिनों महावीरप्रसाद पोद्दार ने अपनी हिन्दी पुस्तक एजेन्सी से एक असहयोग माला महात्मा जी की आज्ञा से प्रकाशित की जिसका उद्देश्य था — घर घर स्वराज्य-सन्देश पहुँचाना। बहुत ही सस्ती पैसे-दो पैसे-एक आने की पुस्तिकाएँ थीं — जैसे गांधीजी के व्याख्यान सूत के धागे में स्वराज्य असहयोग अर्थात् आत्मशुद्धि अवतरणों का इन्तखाब जिसमें गांधीजी पं. मोतीलाल नेहरू और राजेन्द्रबाबू के लेख थे चरखे की तान जिसमें चरखे पर एक उपयोगी लेख और कबीरदास के गीत और भजन थे। इसी तरह की अनेक पुस्तिकाएँ थीं। प्रेमचंद की तीन कहानियाँ भी इन्हीं दिनों इस असहयोग-माला में प्रकाशित हुईं — पंच परमेश्वर, लाल फ़ीता और काम-बॉट। स्वराज्य के फ़ायदे (प्रकाशित आषाढ़ १९७८) के नाम से मुंशीजी ने एक पैम्फ़लेट इस पुस्तकमाला के लिए अलग से लिखा —

● अपने देश का पूरा-पूरा इन्तज़ाम जब प्रजा के हाथों में हो तो उसे स्वराज कहते हैं। जिन देशों में स्वराज है वहाँ की प्रजा अपने ही चुने हुए पंचों द्वारा अपने ऊपर राज करती है। वहाँ यह नहीं हो सकता कि प्रजा लगान और करों के बोझ से दबी रहे और अधिकारी लोग दिनोदिन सेना बढ़ाते जायें। प्रजा भूखों मर रही हो चारों ओर अकाल पड़ा हो और देश का अन्न दूसरे देशों को ढोया चला जाता हो। मरी हैजा आदि रोग फैल रहे हों और अधिकारी लोग उसके रोकने का उचित प्रयत्न न करके सैर-सपाटे किया करते हों। गरीब मुसाफ़िरों को रेलगाड़ियों में बैठने की जगह न मिलती हो और अधिकारियों के वास्ते एक-एक पूरी गाड़ी अलग खड़ी रहती हो।

स्वराज के तीन भेद हैं। एक वह है जहाँ का राजा उसी देश का निवासी होता है लेकिन वह राज का सब काम अपनी ही इच्छानुसार करता है प्रजा उसके इन्तज़ाम में ज़रा भी दख़ल नहीं दे सकती जैसे काबुल नैपाल। दूसरा वह है जहाँ का राजा अपनी प्रजा के प्रतिनिधियों की सलाह के बिना स्वयं कुछ न कर सकता हो जैसे इंगलिस्तान जापान। तीसरा वह है जहाँ राजा नहीं होता उसकी जगह पर पंच लोग किसी योग्य और सर्वमान्य पुरुष को चुनकर कुछ नियत समय के लिए

अपना प्रधान बना लेते हैं और वह प्रजा के चुने हुए मेम्बरों की सम्मति से राज्य का सारा प्रबन्ध करता है जैसे फ्रांस, अमेरिका, चीन आदि। भारत की दशा विचित्र है, वह इन तीनों भेदों में से एक में भी नहीं आता। हम इन तीनों भेदों में कौन चाहते हैं यह अभी साफ़-साफ़ नहीं कहा जा सकता पर इसमें अब ज़रा भी सन्देह नहीं है कि हम वह स्वराज्य चाहते हैं जहाँ प्रजा के चुने हुए पंचों की सलाह से सब राज-काज किया जाता है और पंचों की सम्मति के बिना शासक लोग कुछ भी नहीं कर सकते। भारत में ऐसी सभाएँ हैं जहाँ प्रजा के प्रतिनिधि सरकार को सलाह देने जाते हैं। छोटे लाट साहब और बड़े लाट साहब दोनों ही को सलाह देने के लिए ऐसी सभाएँ बनायी गयी हैं। लेकिन एक तो इन सभाओं में जो पंच प्रजा की ओर से भेजे जाते हैं उन्हें वही लोग चुनते हैं जो या तो महाजन हैं या बड़े ज़मीन्दार या बड़े कारखानेदार, साधारण जनता को उनके चुनने का अधिकार नहीं है, दूसरे इन सभाओं को केवल राय देने का अधिकार है, अधिकारियों की इच्छा है चाहे उस राय को मानें या न मानें। यह सभाएँ केवल हाथी के दाँत हैं, उनकी बात से जनता की कोई भलाई नहीं हो सकती।●

ऐसी ही एक सभा के एक हिन्दोस्तानी मेम्बर की कहानी है, 'आत्माराम'(?) जो इन्हीं दिनों लिखी गयी — महाशय दयाकृष्ण मेहता के पाँव ज़मीन पर न पड़ते थे। उनकी वह आकांक्षा पूरी हो गयी थी जो उनके जीवन का मधुर स्वप्न थी। उन्हें वह राज्याधिकार मिल गया था जो भारतवासियों के लिए जीवन-स्वर्ग है। वाइसराय ने उन्हें अपनी कार्यकारिणी सभा का मेम्बर नियुक्त कर दिया था।

कुछ ही दिनों में वह पूरी तरह गोरे शासकों के रंग में रँग जाते हैं बल्कि उनसे भी दो क़दम आगे निकल जाते हैं। उनकी क़लम स्लीव पर लन्दन के भारतीय युवकों का रोग इन शब्दों से प्रकट होता है — इस बम्बूना(?) ने सिद्ध कर दिया कि भारत के उद्धार का कोई उपाय है तो वह स्वराज्य है, जिसका आशय है मन और वचन की पूर्ण स्वाधीनता। क्रमागत उन्नति (evolution) पर से यदि हमारा एतबार अब तक नहीं उठा था तो अब उठ गया। हमारा रोग असाध्य हो गया है। वह अब चूर्णों और अवलेहों से अच्छा नहीं हो सकता। उससे निवृत्त होने के लिए हमें कायाकल्प की आवश्यकता है। ऊँचे राज्यपद हमें स्वाधीन नहीं बनाते बल्कि हमारी आध्यात्मिक पराधीनता को और भी पुष्ट कर देते हैं। लड़के को अपने पिता के कारण बहुत लज्जित होना पड़ता है और वह तंग आकर एक रोज़ आत्महत्या कर लेता है।

अच्छा तो फिर स्वराज्य का साधन क्या है?

●स्वराज्य का मुख्य साधन स्वावलम्बन है अर्थात् अपने देश की सब ज़रूरतें

को आप पूरा कर लेगा। जो प्राणी अपने खेत का अनाज खाता है, अपने काते हुए सूत का कपड़ा पहनता है और अपने झगड़े-बखेड़े अपनी पंचायतों में चुका लेता है उसे हम स्वाधीन कह सकते हैं।

स्वराज्य-प्राप्ति का दूसरा साधन उन व्यवस्थाओं को त्याग करना है जो हमारी आत्मा को दबाती है और उसे पराधीन परावलंबी बनाती हैं। अदालतें सरकारी नौकरियाँ सरकारी शिक्षा आदि हमारी आत्मा को कुचलनेवाली हमारे मन के पवित्र भावों को दमन करनेवाली हमें कौड़ी का गुलाम बनानेवाली हमारी वासनाओं को भड़कानेवाली संस्थाएँ हैं। हमारे बालवृन्द बालपन ही से सरकारी नौकरियों की आशा करने लगते हैं, उसी समय से उनकी आत्मरक्षा पराधीन होने लगती है, उन्हें परकटे पक्षी की भाँति अपने दरबे के सिवा और कुछ नहीं सूझता खुशामद करने की कोमलपन की आदत पड़ जाती है। यह तो हुआ शिक्षा का हाल।

अदालतों का प्रभाव इससे कम प्राणघातक नहीं। वहाँ मुकदमेबाजी करने वाली जनता और उनका धन लूटनेवाले वकील-मुख्तार, दोनों ही अपनी आत्मा की हत्या करते हैं। अगर कोई आदमी झूठ, छल-कपट बेईमानी का भीषण नाटक देखना चाहे तो उसे एक बार अदालत में जाना चाहिए। कहीं गवाह तैयार किये जा रहे हैं, कहीं मुवक्किलों को उनका बयान तोते की भाँति रटाया जा रहा है कहीं कचहरी मुहर्रिर मुवक्किलों से खर्च के लिए तकरार कर रहा है कहीं कर्मचारी लोग रिश्वत के सौदे चुका रहे हैं, कहीं वकील साहब अपने मेहनताने का सौदा पटाने में मग्न हैं, कहीं मुख्तार साहब देहातियों के एक दल को साथ लिये इजलासों में दौड़ते फिरते हैं। और यह सब धूर्तलीला खुल्लम-खुल्ला बिना किसी संकोच के होती रहती है। •

बीस पन्नों की इस पुस्तिका में मुंशीजी ने बहुत सरल-सुबोध ढंग से लोगों को स्वराज्य के बारे में सब कुछ बतलाना चाहा है—स्वराज्य क्या है स्वराज्य के भेद स्वराज्य के साधन स्वराज्य के फायदे

स्वराज में कैसी समाज-रचना होगी इसका पूरा नक्शा स्पष्ट उनकी आँखों के सामने है—

यह भी याद रखना चाहिए कि हमारा देश कृषिप्रधान है। शिल्प और उद्योग यहाँ सदैव कृषि के नीचे ही रहेगा। अतएव हम अपने यहाँ बहुत बड़े-बड़े कारखाने नहीं कायम कर सकते। हमें वही उद्योग करना चाहिए कि हमारा ग्राम्य जीवन नष्ट न होने पाये। छोटे-छोटे कारखाने अलबत्ता कस्बों में खोले जा सकते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इस व्यावसायिक नीति से हम विदेशी वस्तुओं

का मुकाबला न कर सकेंगे। लेकिन जब हम कर लगाकर विदेशी वस्तुओं को रोक देंगे तो उनसे मुकाबला करने का प्रश्न ही न रह जायगा। इसके सिवा हम तो केवल अपनी जरूरतों को पूरा करने के लिए शिल्प और कला की उन्नति चाहते हैं, हमारा उद्देश्य यह कदापि नहीं है कि सस्ता माल बनाकर निर्बल देशों पर पन्कें और व्यवसाय के बहाने से उन पर आधिपत्य जमायें। इसी व्यावसायिक चढ़ा-ऊपरी के कारण यूरोप की जातियों में नित्य वैमनस्य बना रहता है। एक दूसरे को शत्रु समझती है। उसका भयंकर परिणाम वह महासमर था जिसका अभी तक निबटारा नहीं हुआ। हम इस संग्राम से दूर रहना चाहते हैं। खिलाफत का प्रश्न जिसने समस्त संसार के मुसलमानों को बेचैन कर रखा है बहुत कुछ इसी व्यावसायिक चढ़ा-ऊपरी से संबंध रखता है। फ्रांस शाम देश को नहीं छोड़ना इसलिए कि वह शाम के बन्दरगाहों से अपना माल अरब देश में ला सके। अंग्रेज लोग बसरा और बग़दाद नहीं छोड़ना चाहते क्योंकि वहाँ मिट्टी के तेल की खानें हैं। इस व्यावसायिक स्वार्थपरता को छिपाने के लिए तरह-तरह के नैतिक ढकोसले गढ़ जाते हैं। "

सुखी और संतोषपूर्ण जीवन का यह मानचित्र उनका अपना है बहुत पुराना है। टाल्सटाय के दर्शन ने उस पर अपनी मुहर लगाकर उसे और भी पक्का कर दिया और गांधीजी ने उसी स्वप्न को देश की स्वाधीनता प्राप्ति का साधन बनाकर उस स्वप्न को व्यावहारिक राजनीति का एक आधार दे दिया है। इसीलिए तो गांधीजी की रीति-नीति को जिन थोड़े से लोगों ने सबसे पहले समझा और सराहा से समझा उनमें प्रेमचंद भी एक हैं। जिनका उनके मन में पहले से लहलहा रहा है। गांधीजी को उसे सीखना नहीं पड़ा। हाँ सीखा जरूर।

यह तो सब ठीक है लेकिन रोटी-पानी की भी तो कुछ व्यवस्था करनी पड़ती। अखबारों के कालम लिखने से थोड़े ही चलेगा।

गोरखपुर से निश्चय ही निराशा हुई लेकिन मुंशीजी इतनी जल्दी हिम्मत हारनेवाले आदमी न थे। ९ अप्रैल को उन्होंने निगम को लिखा — मेरा अख़बार निकालने का मुसम्मम इरादा हो रहा है बशर्ते कि काफ़ी सरमाया फ़राहम हो जाये और मददगार काफ़ी मिल जायें। जो कि नहीं हो सका। दूसरी किसी तरह हाथ-पैर मारना जरूरी था। तभी संयोग से कानपुर के मारवाड़ी विद्यालय में हेडमास्टर की जगह खाली हुई। १४ मई को मुंशीजी ने लिखा — मैंने अपने सर्टिफ़िकेट वगैरह महाशय काशीनाथ के पास भेज दिये हैं। अब उनके जवाब का मुन्तज़िर हूँ।

फिर २७ मई का — महाशयजी का खत आया था। अनक़रीब वह आता पत्र उन ममनेगा है। होते-होते ११ जून को तक़रीर का पक्की तकिम आया...

जवाब नहीं आया। तब मुंशीजी को कुछ चिन्ता होने लगी और उन्होंने बनारस में ही म्युनिसिपल सेक्रेटरी की जगह के लिए कोशिश करना शुरू किया। इसी बीच कानपुर से महाशय काशीनाथ का बाक़ायदा ख़त आ गया तो १९ जून को मुंशीजी ने निगम साहब को लिखा —

● कल सब तैयारियाँ कर चुका था। इक्का तक मँगवा लिया था (देहात में यह आसान काम नहीं है) लेकिन शाम को लोटन लाला साहब का ख़त आये कि मैं सोमवार को तुमसे मिलने आ रहा हूँ। इसलिए गुमम् जो कर्दम्[1] रखना पड़ा और वही पहली मुअय्यन[2] तारीख़ मुक़र्रर[3] रही। मैं २२ को चलूँगा और २३ को पहुँचूँगा। पहले इरादा था कि अयाल[4] को इलाहाबाद छोड़ दूँ और कानपुर में मकान तय करके लिवा लाऊँ। अब आप फ़रमाते हैं कि मकान भी ठीक किया गया है। यह मुश्किल भी आसान हो गयी। अब मय अयाल के कानपुर आऊँगा। मेरी ज़रूरतों से आप वाक़िफ़ हैं ही लेकिन बदरजे मुहाल अगर मकान मुझे पसन्द न भी आया तो फिर दूसरा तलाश करूँगा। हाँ अगर आते ही वाले मकान न मिला तो फिर मुझे आपके घर को खालिए बेतकल्लुफ़[5] बनाना पड़ेगा। दो-एक दिन मस्तूरात[6] को भी एक देहक़ानी औरत की मेहमाननवाज़ी करनी पड़ेगी जिसमें ग़ालिबन ज़्यादा दिक़्क़त न होगी।

● म्युनिसिपल सेक्रेटरी का ज़िक्र आप फ़िज़ूल करते हैं। एक मुआहिदा तय हो जाने के बाद अब मैं किसी दूसरी मुलाज़िमत का ख़याल भी नहीं कर सकता। मैंने म्युनिसिपल मुलाज़िमत की कोशिश उसी हालत में की थी जब महाशय काशीनाथजी ने कोई हतमी[8] वादा न किया था। उनके और आपके यक़ीन दिलाने के बाद फिर मैंने इस ख़याल को दिल में जगह ही नहीं दी — वर्ना यहाँ मुझे डेढ़ सौ रुपया माहवार, मकान मुफ़्त और काम हस्बे-ख़्वाहिश[9] की सूरत पेश हो गयी थी। वह मैंने मंज़ूर न किया। कुछ तो मुआहिदे का ख़याल था और इससे ज़्यादा आपके कुर्ब[10] का लालच। महाशयजी की हमदर्दी और शराफ़तपरवरी[11] भी इस फ़ैसले में मुईन[12] हुई। बस यह आख़िरी फ़ैसला है।

और २१ जून को सरकारी नौकरी से इस्तीफ़ा देने के कुछ चार महीने बाद मुंशीजी मारवाड़ी विद्यालय कानपुर पहुँच गये।

बीवी-बच्चों समेत कानपुर पहुँचने की बात उन्होंने निगम साहब को लिखी थी

---

१ मजबूरन २ निश्चित ३ पक्की ४ बाल-बच्चों ५ बिल्कुल अपना घर जहाँ कोई शिष्टाचार नहीं बरतना पड़ता ६ स्त्रियों ७ आतिथ्य सत्कार ८ पक्का ९ इच्छानुसार १ निकटता ११ शराफ़त १२ सहायक

मगर यह न हो सका। बनारस से रवाना होने के पहले ही उन्हें अपने श्वसुर साहब के देहान्त की खबर मिली और वह परिवार को इलाहाबाद छोड़ कर अकेले ही कानपुर पहुँचे। इस बार मेस्टन रोड पर मकान लिया।

राजनीति का वही रंग था। अमृतसर और खिलाफ़त के राष्ट्रीय अपमान से देश के हिन्दू-मुसलमान दोनों क्षुब्ध थे। असहयोग का आन्दोलन कहीं तेज कहीं धीमी चाल से चल रहा था। लोग सरकारी नौकरियाँ छोड़ रहे थे, अदालत को खैरबाद कह रहे थे। नये-नये राष्ट्रीय विद्यापीठ स्थापित हो रहे थे। विदेशी का बहिष्कार चालू था और जगह-जगह विदेशी कपड़ों और शराब की दुकानों पर धरना भी दिया जाने लगा था। गाँवों में भी एक लहर आयी हुई थी। पुलिस का आतंक लोगों के मन पर अब उतना न रह गया था। जमींदार की मनमानी, हरजानी, सख्ती और बेगार के खिलाफ़ सर उठाने की हिम्मत अब किसान को थोड़ी-थोड़ी होने लगी थी।

मुंशीजी का क्या कहना, वह तो पहले ही से स्वराज्य के रंग में रँगे हुए थे। और जैसे-जैसे आन्दोलन जोर पकड़ता जाता था वैसे-वैसे मुंशीजी का उत्साह बढ़ता जाता था। लगभग हर रोज ही कांग्रेस की मीटिंग होती। उसमें उनका शरीक होना जरूरी था। कभी-कभी लौटने में रात के दस बज जाते।

इन्हीं दिनों अगस्त के महीने में, कानपुर पहुँचने के महीने-डेढ़ महीने बाद मुंशीजी के छोटे लड़के अमृत का जन्म हुआ जिसे घर पर सब लोग बन्नू के नाम से पुकारते थे।

मुंशीजी की दिनचर्या वही थी जो सदा से थी। साढ़े चार बजे उठकर अपने लिखने-पढ़ने में लग जाते। बड़े लड़के धुन्नू (श्रीपत) की पढ़ाई अब घर पर शुरू हो गयी थी। उसे पास में बिठाकर पढ़ाते भी जाते और खुद लिखते भी जाते। फिर नहा-खाकर स्कूल जाते। स्कूल से लौटते हुए तरकारी वगैरह अपने साथ लेते आते। बस्ती, गोरखपुर, बनारस — सब जगह यही उनकी दिनचर्या थी। उसमें किसी तरह का हेरफेर नहीं होता था। नियमित रूप से काम करने की आदत थी। यही उनका सुख था। यही उनका जीवन था। सच्चे अर्थों में। शेष तो जीविका थी। उससे जो समय बचता वह सब साहित्य का था। दूसरी कोई दिलचस्पी इधर बरसों से न थी। लिहाजा लिखने की तड़प हर समय उनके मन में रहती थी। छठे-छमाहे जिनको लिखने की मौज आती है, मुंशीजी उनमें से न थे। और फिर जिनके लिखने के पीछे तात्कालिक राष्ट्रीय हलचलों की प्रेरणा हो और जो लेखक स्पष्ट दो टूक ढंग से अपने लिखने को उन हलचलों का अस्त्र बनाना चाहता हो, अपने

साहित्य-द्वारा उसमें योग देना चाहता हो उसकी स्फूर्ति का स्रोत यों भी अपने मन की मौज में ही नहीं बल्कि अपने से बाहर, राष्ट्र के जीवन में भी होता है। इससे धोखे में मत आइए कि उनके बदन पर सिपाही की वर्दी नहीं है बग़ैर वर्दीवाले सिपाही भी तो होते हैं। मुंशीजी देश के ऐसे ही बग़ैर वर्दीवाले सिपाही हैं। अपने सिर की पटिया को छोड़कर और किसी रजिस्टर में उनका नाम भी दर्ज नहीं है लेकिन इतना ही बहुत है। वर्दीपोश सिपाही को और नहीं तो कम-से-कम अपनी वर्दी उतारने पर कुछ हल्कापन कुछ बेफ़िक्री मालूम होती है मुंशीजी के लिए उतनी भी सुविधा नहीं है क्योंकि उनके पास उतारने के लिए वर्दी नहीं है और एक जो मजबूत गेरुआ बाना उन्होंने अपने मन के ऊपर पहन रखा है, वह उतारने की चीज़ नहीं है। अपनी बीमारी घर में बाल-बच्चों का रोग-शोक यह सब कुछ नहीं है यह गेरुआ बाना चीते का ठेसा चढ़ा रहता है। अपनी तबीयत ख़राब रहती है इधर कुछ दिनों से बीबी से रोज़ ही इस बात पर झगड़ा होता है कि आप काफ़ी आराम नहीं करते क़सम भी खायी जाती है बीबी को ख़ुश करने के लिए — लेकिन तब रात को चुपके से उठकर चोरी-चोरी काम करने की तदबीर की जाती है। काम तो होना ही है। मुल्क ज़िन्दगी और मौत की लड़ाई लड़ रहा है, ऐसे समय में अपनी तबीयत लेकर बैठूंगा? होगा जो होगा देखा जायगा। बच्चे की तबीयत ख़राब है, उसकी अवहेलना नहीं की जा सकती। ठीक है, उतना काम और जोड़ लिया जायेगा। यह कोई ख़ास की बात नहीं है पहले भी बहुत बार ऐसा मौक़ा आया है कि घर के भीतर की बहुत-सी ज़िम्मेदारियाँ झाड़ू-बुहारू और खाना पकाने तक की उनके सिर आ पड़ी है, और उन्होंने बहुत ख़ुशी-ख़ुशी उनको निभाया है लेकिन अपने काम की क़ीमत देकर नहीं आराम की क़ीमत देकर।

उनकी पत्नी अपने संस्मरण में लिखती हैं —

● रात को जब मैं सो जाती तो धीरे से उठकर अपनी कापी क़लम-दावात उठा लाते। जाड़े के दिन थे चारपाई पर रजाई ओढ़े लिखने लगते। मैं देख पाती तो ग़ुस्सा उठती — क्या अभी बीमारी कुछ कम है जो और किसी बीमारी की चाह है!

— नहीं मैं लिख कहाँ रहा था देखता था पीछे का लिखा हुआ।

— सारा ज़माना तो आपको ठग लेता है लेकिन आप हैं कि मुझी को ठगना चाहते हैं!

— तुम्हें कौन ठगेगा भला!

— इसी तरह गोरखपुर में बीमारी जड़ पकड़ गयी लिखने के कारण अब फिर वैसा ही करने पर तुले [illegible] हैं।

—कहाँ ? तुमने क़लम ही तोड़कर फेंक दी थी। लिखता कब था !

—क़लम तो बात को मैंने तोड़ी जब और किसी तरह आप नहीं माने। दिन भर मैं भी तुम्हारे साथ बेकार बैठी रहती थी।

—अच्छा तो भाई, अब मैं कुछ काम न करूँगा ! ●

मगर नहीं। इन्हीं दिनों २९ दिसंबर १९२१ के अपने ख़त में उन्होंने इम्तियाज़ अली ताज को लिखा था — मैं भी तर्के-मवालाती हूँ। मेरे दिलो-दिमाग़ में भी आजकल यही मसायल गूँजा करते हैं।

वह धुन चुप कब बैठने देती है। असहयोग आन्दोलन को ख़िलाफ़त का आन्दोलन भी जिसका ही एक अंग है, हर तरह से ताक़त पहुँचाना उनका कर्तव्य है, लेख लिखकर, क़िस्से लिखकर, नाटक लिखकर, उपन्यास लिखकर, यानी जितनी तरह से अपनी बात लोगों तक पहुँचायी जा सकती हो उन सब तरीक़ों से उसको पहुँचाना है। यह चुप बैठने का बीमारी को सेने का वक़्त नहीं है।

एक कमज़ोर-सी बीमार-सी जान है मगर वह हर तरफ़ घूम रही है। कुछ भी उसकी नज़र से बचा नहीं है और न असहयोग आन्दोलन के प्रति उसकी ममता दैनिक भावुकता पर ही आधारित है। वह सहज सचेत सक्रिय ढंग की रुचि है। वह आन्दोलन की गतिविधि को अपनी पैनी आँखों से देख रहा है, गहरी छानबीन की आँखों से देख रहा है, जितनी गहराई से शायद उस आन्दोलन के बड़े-बड़े नेता भी नहीं देख पा रहे हैं। और अक्तूबर-नवंबर १९२१ के 'ज़माना' में मुंशीजी ने एक लेख लिखा 'वर्तमान आन्दोलन के रास्ते में रुकावटें'। याद रखने की ज़रूरत है कि अभी इन रुकावटों की तरफ़ किसी का ध्यान नहीं जा रहा है, सब आन्दोलन को बराबर बढ़ता हुआ ही देख पा रहे हैं। चौरीचौरा के कांड को अभी तीन चार महीने की देर है। उस वक़्त उनके अधिकतर सहकर्मी समझ भी नहीं सके कि गांधीजी ने आन्दोलन क्यों ठप कर दिया। वहीं पर किसानों की एक भीड़ ने थाने पर हमला करके उसमें आग लगा दी और कुछ कानिस्टिबिल उसमें जलकर मर गये। यह क्या देश के पूरे आन्दोलन को ख़त्म कर देने के लिए काफ़ी कारण था ? गांधीजी ने बात की सफ़ाई करना भी ज़रूरी नहीं समझा और इतना कहकर संतोष कर लिया कि यही उनके अंतःकरण की आवाज़ है। लेकिन जैसा कि आगे चलकर जवाहरलाल नेहरू ने अपनी आत्मकथा में लिखा — फ़रवरी १९२२ में सत्याग्रह आन्दोलन को बंद करने का कारण केवल चौरीचौरा नहीं था गोकि यह सच है कि ज़्यादातर लोगों ने यही समझा। असल कारण इससे कहीं बड़ा था — उस समय हमारा आन्दोलन अपनी ज़ाहिरा ताक़त और ज़ाहिरा उत्साह के बावजूद अन्दर तेज़ी से बिखर रहा था। हमारे ज़्यादातर अच्छे आदमी जेल में बन्द थे और जनता

को अब तक इस बात के लिए ज़रा भी नहीं तैयार किया गया था कि वह स्वयं अपना काम चला सके। चौरीचौरा काण्ड के कुछ ही महीने बाद मुंशीजी काशी विद्यापीठ में अध्यापक हो गये थे। वहाँ एक रोज़ बात निकलने पर मुंशीजी ने कहा था कि चौरीचौरा के कारण आन्दोलन बन्द करके गांधीजी ने ठीक नहीं किया। उस समय उनके छात्रों में मन्मथनाथ गुप्त भी थे जिन्होंने आगे चलकर क्रान्तिकारी आन्दोलन में काफ़ी काम किया। उन्हीं से यह बात मालूम हुई।

मुंशीजी इतिहास के विद्यार्थी थे समाजशास्त्र के विद्यार्थी थे राजनीति की अच्छी सूझ-बूझ रखते थे मन की एक-एक वृत्ति से इस शान्ति-समर में रमे हुए थे। आन्दोलन के प्रति उनकी ममता थी असाधारण ममता थी लेकिन बिलकुल निःस्वार्थ क्योंकि एक निस्संगता भी उसके साथ लगी हुई थी। वह सच्चे निष्कपट भाव से समर्पित हैं देश की स्वाधीनता के संग्राम को लेकिन तो भी अलग-थलग हैं उस चीज़ से जिसे सक्रिय राजनीति कहा जाता है। शायद इसीलिए वह हर चीज़ को औरों से अधिक निरपेक्ष होकर ज़्यादा साफ़ और सीधे ढंग से सोच पाते हैं, देख पाते हैं। जहाँ दूसरे बहुत से लोग प्यार के साथ केवल बहे जा रहे हैं इतने बेसुध होकर कि उन्हें एक झटका-सा लगा जब गांधीजी ने आन्दोलन को रोक दिया वहाँ मुंशीजी आँख-कान खोलकर चल रहे हैं, अगल-बगल दायें-बायें देखकर चल रहे हैं, बीच बीच में शायद पूछ भी लेते हैं मुझसे-तुमसे थक तो नहीं रहे हो कहीं दूर जाना है कुछ कमज़ोरी तो नहीं लग रही है अपने भीतर।

एक सजग देशभक्त और राष्ट्रकर्मी की दृष्टि है जो अपने संग्राम का सिंहाव लोकन कर रही है—

स्वराज्य का वर्तमान आन्दोलन अभी तक तो कामयाबी के साथ जारी ही है लेकिन अब हालतें रोज़-ब-रोज़ ज़्यादा ख़तरनाक होती जा रही हैं। यों कुछ लोगों की दृष्टि में तो असहयोग आन्दोलन को सिरे से ही कोई कामयाबी हासिल न हुई—न लड़कों ने मदरसे छोड़े न सरकारी मुलाज़िमों ने नौकरियाँ छोड़ीं न वकीलों ने वकालत को नमस्कार किया न पंचायतें कायम हुईं। लेकिन असहयोग के बड़े से बड़े समर्थक के भी ध्यान में यह बात न रही होगी कि इन सभी बातों में सोलहों आना कामयाबी होगी। ऐसे मामलों में बड़ी निजी नफ़े-नुकसान का सवाल पैदा हो जाता है सोलहों आने कामयाबी की उम्मीद करना सुनहरे सपना देखना है। यहाँ तो रुपये में आना-दो आना कामयाबी हो जाय वही बहुत है और ख़ासकर हिन्दुस्तान जैसे ग़रीब देश में जहाँ सारा मामला रोटी पर आकर रुक जाता है। अभी निजी हित और स्वार्थ दिलों से दूर नहीं हैं। और अब ख़याल कीजिए कि अभी दो साल पहले यहाँ की राजनीतिक हालत क्या थी—लाग

नुमाइश और स्वर्ग के आडम्बर को राजनीति का मुख्य अंग समझने से यहाँ तक कि मज़हबी जलसों और मुशायरों में भी राजभक्ति पर प्रस्ताव पास करना एक मुख्य कर्तव्य हो गया था सरकारी नौकरियों के लिए जितनी दौड़धूप जितनी छीनाझपटी और जितनी गुप्त कार्रवाइयाँ की जाती थीं तो ऐसी हालत में यह उम्मीद करना कि किसी जादू-मंतर से क़ौम का हरेक व्यक्ति अपने निजी फ़ायदे को अपनी ज़िन्दगी को क़ौम पर क़ुर्बान कर देगा असलियत की तरफ़ से आँखें बन्द कर लेना है। इसलिए हम यह दावा करना अपने तईं ठीक समझते हैं कि स्वराज्य का आन्दोलन अब तक कामयाब हुआ।

लेकिन आगे क्या होगा? कुछ अविश्वासकारी तत्व भीतर ही भीतर पनप रहे हैं। वे ज़हर की गाँठें हैं, सन्देह की, संशय की। संशय ही मन को दुर्बल बनाता है। मन की अँधेरी गहराइयों से निकालकर उन सब कीड़ों को बाहर खुली हवा और रोशनी में लाओ। दूसरा कोई इलाज उनका नहीं है और अगर देश के नेताओं का ध्यान इस बात पर नहीं है तो यह सचमुच बड़े दुःख की बात है। बहरहाल किसी को तो करना ही है — और सबसे पहले उस आदमी को करना है जिसका काम ही आत्मा का संस्कार करना है। इसीलिए तो आराम करने की मोहलत नहीं है उनको। दिल-दिमाग़ में हरदम यही सवालात घूमा करते हैं। जिन्दगी में भी यही सवाल उठ खड़े हैं। एक नाटक लिखना शुरू किया है, संग्राम। उसमें भी यही बात है। मन एक ही पगडंडी पर दौड़ना जानता है। लेकिन हाँ फिर सचमुच दौड़ता है, कोई मंज़िल ऐसी नहीं जहाँ तक उसकी दौड़ न हो।

आन्दोलन के बारे में उनकी दृष्टि जैसी अचूक और वैज्ञानिक है वैसी उस समय (और आगे भी) कम ही लोगों की रही होगी। उस समय जबकि आन्दोलन में सभी लोग बराबर हिस्सा लेते दिखायी दे रहे थे उसके भीतर काम करनेवाले स्वार्थों को देख सकना और उन स्वार्थों के आधार पर आन्दोलन में पड़ी हुई दरार को देख सकना असाधारण अन्तर्दृष्टि की बात थी।

ज़्यादा कठिन और हिम्मत को तोड़नेवाला वह स्वार्थों का टकराव है जिसके एक तरफ़ ज़मींदार और पूँजीपति हैं और दूसरी तरफ़ काश्तकार और मज़दूर। कांग्रेस पहले भी मध्यवर्ग का आन्दोलन थी जिसमें ज़मींदार और पूँजीपति साथ साथ थे। अधिकांश संख्या वकीलों, प्रोफ़ेसरों और पत्रकारों की थी जो न पूँजीपति हैं और न ज़मींदार। हाँ उस वक़्त किसानों और मज़दूरों में चूँकि राजनीतिक चेतना पैदा न हुई थी इसलिए कांग्रेस भी स्पष्ट रूप से उनके अधिकारों और उनकी माँगों को आगे न रखती थी। इस दौरान में बोल्शेविज़्म ने आधी पृथ्वी को अपने अधिकार में कर लिया है और हिन्दुस्तान में भी उसका असर हो चुका है। वास्तव में

बढ़ती खतरे से खाली नहीं नजर आती। उनको अंदेशा है कि इन आठ करोड़ मुसलमानों की हमदर्दी दूसरे स्वतन्त्र मुस्लिम राज्यों के साथ होगी इसलिए वह अंग्रेजों की छत्रछाया में रहना अधिक निरापद समझते हैं। वहम की दवा लुकमान के पास भी नहीं है।

संदेह दुर्बलता की निशानी है और मानसिक कायरता का प्रमाण। उस शख्स की जिन्दगी जहन्नुम है जो दरो-दीवार को चौकन्नी नजरों से देखता रहे, जिसे अपने चारों तरफ दुश्मन ही दुश्मन नजर आवें कहीं दोस्त की सूरत न दिखायी पड़े।

हिन्दुओं को अपनी जीवनप्रणाली में अपने धार्मिक रीति-रिवाज में ऐसे सुधार करने चाहिए कि उन्हें अपने देश के रहनेवाले दूसरे लोगों से डर बाकी न रहे क्योंकि स्वराज्य क्या दुनिया की कोई ताकत कमजोरों को अत्याचार से नहीं बचा सकती।

सारांश हिन्दू-मुस्लिम एकता का मसला निहायत नाजुक है और अगर पूरी एहतियात और धीरज और जब्त और रवादारी से काम न लिया गया तो वह स्वराज्य के आन्दोलन के रास्ते में सबसे बड़ी रुकावट साबित होगा।

और वही हुआ। चौरीचौरा के सवाल पर आन्दोलन के एकाएक ठप हो जाने से मुल्क में जो पस्तहिम्मती छायी उसका दूसरा कुछ नतीजा शायद हो भी न सकता था। जवाहरलाल नेहरू ने आगे चलकर अपनी आत्मकथा में इसके बारे में लिखा —

यह बिलकुल संभव है कि उसके बाद देश में घटनाओं ने जो दुखद मोड़ लिया उसमें इस चीज का भी हाथ रहा हो कि एक विशाल आन्दोलन को इस तरह एकाएक ठप कर दिया गया था। उससे राजनीतिक संघर्ष में होनेवाली छिटपुट और निरर्थक हिंसा की प्रवृत्ति चाहे रुक गयी हो लेकिन उस दमित हिंसा को अपने लिए निकास तो चाहिए ही था और कदाचित् उसी ने बाद के वर्षों में साम्प्रदायिक झगड़ों को और बढ़ाया। असहयोग और सविनय अवज्ञा के आन्दोलन को जनता का जो विराट् समर्थन मिल रहा था उसके कारण तरह-तरह के साम्प्रदायिक लोग जो अधिकतर राजनीति में प्रतिगामी थे सर न उठा पाते थे। वह अब सामने आ गये। और भी बहुत से लोग सरकारी भेदिये और ऐसे लोग जो साम्प्रदायिक झगड़े पैदा करके अधिकारियों को खुश करना चाहते थे इसी रास्ते पर चल पड़े। मोपलाओं के विद्रोह से और जिस असाधारण क्रूरता से उसका दमन किया गया — कितनी भयानक चीज थी मोपला कैदियों को रेल के बन्द डिब्बों में भूनकर मार डालना — उससे उन लोगों को जो साम्प्रदायिक फूट को बढ़ाना चाहते थे काम करने का मौका मिल ही गया था। यह बिलकुल संभव है कि अगर आन्दोलन बन्द

न किया गया होता और सरकार ने उसका दमन किया होता तो साम्प्रदायिक वैमनस्य कम होता

वैसे जमीन इसके लिए बराबर पिछले तीन बरसों से तैयार हो रही थी। जवाहरलाल लिखते हैं—

१९२१ में खिलाफ़त के आन्दोलन को जो महत्व मिला उसके कारण बहुत से मौलवियों और मुसलिम धार्मिक नेताओं ने राजनीतिक संघर्ष में आगे बढ़कर हिस्सा लिया। उन्होंने आन्दोलन को एक स्पष्ट धार्मिक रंग दे दिया और मुसलमानों पर आमतौर से उसका बहुत असर पड़ा। मौलवियों का प्रभाव और उनकी प्रतिष्ठा जो नये ख़यालात की रोशनी और रहन-सहन के बढ़ते हुए यूरोपियन तौर-तरीकों के असर में बराबर कम होती जा रही थी एक बार फिर बढ़ने और मुसलिम समाज पर छाने लगी। अली भाइयों ने जो खुद भी धार्मिक प्रवृत्तियों के थे इस चीज को मदद पहुँचायी जैसे कि गांधीजी ने भी जो इन मौलवियों और मौलानाओं को अधिक से अधिक सम्मान देते थे।

हमारी राजनीति में जिस तरह धार्मिकता का अंश बढ़ता जा रहा था हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों में उससे मैं कभी-कभी बहुत परीशान हो जाया करता था। मुझे यह चीज बिलकुल अच्छी न लगती थी। बहुत-सी बातें जो मौलवी और मौलाना और स्वामी और इस किस्म के लोग अपने भाषणों में कहते थे मुझको बहुत अफ़सोसनाक मालूम होती थीं। उनका इतिहास और समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र सब कुछ मुझको बिलकुल ग़लत मालूम होता था और जिस तरह से वह लोग हर चीज को धर्म का रंग देते थे उसके कारण सफ़ाई से किसी सवाल पर सोच सकना असंभव हो जाता था। यहाँ तक कि गांधीजी के कुछ शब्द भी मुझे बेतरह खटकते थे—जैसे राम राज

बहरहाल कारण जो भी हो आन्दोलन रोकने के कुछ ही हफ़्ते बाद साम्प्रदायिक झगड़ों का सिलसिला चला जो काफ़ी लंबा चला। सबसे पहले मुलतान में दंगे हुए, उसी साल १९२२ में। १९२३ का साल भी आरम्भ से ही विषाक्त था। मुहर्रम के मौक़े पर बंगाल और पंजाब दोनों ही प्रान्तों में बहुत भयानक दंगे हुए।

१५

मुंशीजी शान्तिपूर्वक लमही में बैठे अपने सूरदास की कहानी लिख रहे थे पर देश में आग लगी हुई थी। बलराम और क़ादिर, हलधर और फत्तू एक-दूसरे के खून से होली खेल रहे थे। ग़नीमत इतनी ही थी कि गाँव में यह ज़हर कम बहुत कम फैला था। यह बीमारी ख़ास तौर से शहर की थी और पर्दे के पीछे बैठे हुए वही लोग जिनसे हमारी मुलाक़ात सेवा सदन में हुई थी किसी तीसरे के इशारे पर डोरियाँ खींच रहे थे। लेकिन शहर हो या देहात मोटी बात यह थी कि दो हिन्दोस्तानी जो इसी मिट्टी में पैदा हुए और इसी मिट्टी में मिल जायँगे जिन्हें एक-दूसरे के लिए खून बहाना चाहिए था इस वक्त एक-दूसरे का खून बहा रहे थे और अंग्रेज मूँछों पर ताव दे रहा था। सचमुच यह मुंशीजी के लिए परीक्षा की घड़ी थी। उनका सब कुछ किया-धरा सोचा-समझा स्वप्न-आदर्श मिट्टी में मिला जा रहा था।

विवश होकर उनकी समग्र चेतना कुछ समय के लिए सब तरफ़ से अपने को खींचकर इसी ओर लग गयी। प्रेस और मकान बनवाने के झमेलों में रंगभूमि की गति यों ही मन्द थी अब इस चीज ने आकर इस बुरी तरह उनको आ लिया कि भाग नहीं सके और कैसे भागते समाज की जिस रंगभूमि का चित्र वह खींच रहे थे वहाँ इस समय आग लगी हुई थी सड़कों पर बेगुनाहों की लाशें गिर रही थीं औरतों की आबरू लुट रही थी ज़हर के बगूले उठ रहे थे साँस लेते दम घुटता था। हर हर महादेव और अल्लाहो अकबर की सदाएँ कानों में पिघला हुआ सीसा उँडेलती थीं। एक तरफ़ पंडे-पुरोहित और दूसरी तरफ़ मुल्ला-मौलवी — आज कल यही समाज के अगुआ थे। कहीं हिन्दुओं को कलमा पढ़ाया जाता था कहीं मुसलमानों की शुद्धि की जाती थी। बाजे के सवाल पर आरती-नमाज़ के झगड़े रोज की चीज हो गये थे। एक गाय की कुर्बानी के लिए दस-बीस आदमियों की कुर्बानी कर देने में भी लोगों को आर न थी। मुसलमान अगर दीन के जोश में अंधे हो रहे थे तो हिन्दू भी उसका जवाब समझदारी से नहीं दुगने अंधेपन से देने पर तुले हुए थे। ईंट का जवाब पत्थर।

दोनों अपनी सिरोहबंदी में लगे थे। लाठियों को तेल पिलाया जा रहा था छुरों को सान दी जा रही थी। सेनाएँ सज रही थीं।

धर्म की ध्वजा आकाश चूम रही थी देश धूल में लोट रहा था। कगार टूट टूटकर गिर रहे थे धर्म की बाढ़ में।

कोई किसी की एक बात बरदाश्त करने के लिए तैयार न था उलटे छेड़ कर लड़ने की फ़िक्र रहती थी। अख़बारों और किताबों के ज़रिये एक-दूसरे पर ज़हर में बुझे हुए तीर छोड़े जाते थे। हिन्दू भी इसमें पीछे नहीं रहना चाहते थे। 'रँगीला रसूल' नाम की किताब उन्हीं दिनों पंजाब में छपी थी। 'रिसाला वर्तमान' ने भी इसमें काफ़ी नाम कमाया था। मुसलमानों में भयानक उत्तेजना फैली हुई थी। कोई त्योहार चैन से न बीतने पाता था।

आर्य समाज ने किसी वक़्त आज़ादी की लड़ाई को सिपाही दिये थे इस समय सब हिन्दू धर्म के सिपाही थे।

दोनों तरफ़ बारूद का एक ढेर-सा लगा हुआ था — और चिनगारियों की भी कमी न थी।

जैसे कि मलकाना राजपूतों की शुद्धि जिसे लेकर हिन्दू बहुत बग़लें बजा रहे थे।

यह सब एक आँख न भाता था मुंशीजी को। गुस्से और दर्द से दिल तड़प तड़पकर रह जाता था।

यह नहीं कि झगड़े जितने होते थे उन सबकी ज़िम्मेदारी हिन्दुओं की थी और मुसलमान सब दूध के धोये थे।

लेकिन कुछ तो शायद इसलिए कि मुंशीजी खुद हिन्दू थे और कुछ इसलिए कि उन्हीं का बहुमत था मुंशीजी को हिन्दुओं से ही ज़्यादा रवादारी की उम्मीद थी। इसीलिए हिन्दुओं की तंगनज़री उन्हें ख़ास तौर पर खली। उसके मुक़ाबले में मुसलमानों का रवैया उन्हें कहीं ज़्यादा अच्छा सुलह और समझौते का मालूम हुआ।

और जिस बात की सच्चाई मन में उतर चुकी हो उसका कहने में फिर डर कैसा!

२२ अप्रैल १९२४ को उन्होंने निगम साहब को लिखा —

मलकाना शुद्धि पर एक मुख़्तसर मज़मून लिख रहा हूँ। मुझे इस तहरीक से सख़्त इख़्तिलाफ़[1] है। आर्य समाजवाले चिढ़ायेंगे लेकिन मुझे उम्मीद है आप 'ज़माना' में इस मज़मून को जगह देंगे।

---

१ विरोध

निगम साहब ने पूरे दो महीने उस पर ग़ौर किया। छापने की हिम्मत न पड़ती थी। ९ जनवरी १९२४ को मुंशीजी ने लिखा — *आपने मेरे मज़मून को मुस्तरद[1] कर दिया। ख़ैर, कोई मुज़ायक़ा नहीं। मैंने लिख डाला दिल की आरज़ू निकल गयी।*

मुंशी दयानारायन को शायद कुछ शर्मिन्दगी हुई इस बात से और वह दुबारा अपने फ़ैसले पर ग़ौर करने के लिए मजबूर हुए। और फिर अगले ही महीने 'क़हतुर्रिजाल' (मनुष्यता का अकाल) नाम का वह विस्फोटक लेख प्रकाशित हुआ। उसका छपना था कि चारों तरफ़ तहलका मच गया। मुसलमानों ने उसको हाथों हाथ लिया और हिन्दू गुस्से से दाँत किटकिटाने लगे।

मुंशीजी के लिए दोनों ही चीज़ें यकसाँ थीं। वह न किसी की तारीफ़ के भूखे थे और न किसी के क्रोध से आक्रान्त। उन्होंने तो सच्चे दिल से बस एक आवाज़ उठायी थी, एक ऐसी चीज़ के लिए जिसकी सच्चाई के बारे में कम-से-कम उनका मन आश्वस्त था। फिर और क्या चाहिए। हो सकता है कि यह केवल अरण्य रोदन सिद्ध हो, नक्कारख़ाने में तूती की आवाज़। मगर उससे क्या। जिस बात को सच जानते हो उसे कहो। अकेली आवाज़ का भी महत्व होता है।

अप्रिय सत्य बोलना, गुस्से में बोलना उनका स्वभाव न था। चुभनेवाली बात को भी मीठा बनाकर कहने की उन्हें आदत थी और उसका ढंग भी आता था। लेकिन कभी-कभी ऐसा भी वक़्त आता है कि अप्रिय सत्य बोलना पड़ता है। मुल्क में जब आग लगी हो उस वक़्त आदमी शिष्टाचार को देखे कि क़ौम की ज़िन्दगी को ?

वह भी ऐसा ही एक वक़्त था। ९ जनवरी १९२४ के उसी ख़त में मुंशीजी ने लिखा था —

मुझे तो इस वक़्त अली बरादरान की मुसालहत[2] पालिसी फ़रेफ़्ता[3] कर रही है। उनके बयानात में जो हैरतअंगेज़[4] तब्दीलात हो रहे हैं उसको असली शुद्धि समझता हूँ और यही शुद्धि पायदार[5] हो सकती है।

दूसरी तरफ़ हिन्दुओं की महासभा पर बेपनाह गुस्सा उनके दिल में सुलग रहा था। इसी दिमाग़ी कैफ़ियत में उन्होंने बिफरकर 'क़हतुर्रिजाल' में लिखा —

● *हिन्दू-मुसलिम एकता के बारे में इस वक़्त मुसलमान क़ौम के बड़े लोगों ने बार-बार की उत्तेजना के बावजूद जो अच्छी रविश अख़्तियार की है और जिस गम्भीरता और दूरदेशी का परिचय दिया है उस पर हिन्दुओं को शर्मिन्दा होना चाहिए। अब तक उन्हें यह दावा था कि स्वराज्य के लिए हम जितनी क़ुर्बानियाँ*

---

१ रद्द २ शान्तिपूर्ण ३ आकृष्ट ४ आश्चर्यजनक ५ स्थायी

कर सकते हैं उतनी मुस्लिम सम्प्रदाय नहीं करता। वह हिन्दोस्तान में रहकर, हिन्दोस्तान का दाना-पानी खाकर अरब और अजम के सपने देखा करता है। उसे स्वराज्य की उतनी फ़िक्र नहीं है जितनी पैन-इसलाम की। एक बार जब मौलाना शौकत अली ने किसी ख़िलाफ़त के जलसे में कहा था कि अगर मुसलमान को किसी क़ौमी काम के लिए एक रुपया देना मंज़ूर हो तो वह चौदह आने ख़िलाफ़त को दे और दो आने कांग्रेस को इस क़ौल को हिन्दू अख़बारों ने बड़े निष्ठुर ढंग से बहुत ज़्यादा महत्व दिया और उसे अपनी बात के प्रमाण के रूप में पेश किया।

इस क़ौल का तक़ाज़ा तो यह था कि हिन्दू महाशय अपने दिल में लज्जित होते कि एक मुसलमान को जो अपना सब कुछ भारतमाता की नज़र कर चुका हो इस तरह दोनों में भेद करने की ज़रूरत पड़ी क्योंकि ज़ाहिर है कि अगर हिन्दुओं ने ख़िलाफ़त के मसले को महात्मा गांधी की व्यापक दृष्टि से देखा होता तो मौलाना साहब को यह बात कहने का कोई मौक़ा ही न था। मगर सच्चाई यह है कि हिन्दुओं ने कभी ख़िलाफ़त के महत्व को ही नहीं समझा और न समझने की कोशिश की बल्कि उसको सन्देह की दृष्टि से देखते रहे

हम कहते हैं कि अगर हिन्दुओं में एक भी जिन्नाह, मुहम्मद अली या शौकत अली होता तो हिन्दू संगठन और शुद्धि की इतनी गर्म-बाज़ारी न होती और इन इलाक़ों में काफ़ी कमी हो जाती जो इस वैमनस्य के कारण दिखायी पड़ते हैं। मगर अफ़सोस के साथ कहना पड़ता है कि कांग्रेस ने भी सामूहिक रूप से इन आन्दोलनों से अलग-अलग रहने के बावजूद व्यक्तिगत रूप से उसमें शामिल होने में कुछ भी उज्र नहीं रक्खा। इतना ही नहीं एक भी ज़िम्मेदार कांग्रेस नेता ने ऐलान करके इन आन्दोलनों के ख़िलाफ़ आवाज़ बुलन्द करने का साहस नहीं किया।

आज कौन हिन्दू है जो हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए जी-जान से काम कर रहा हो, जो उसे हिन्दोस्तान की सबसे महत्वपूर्ण समस्या समझता हो, जो स्वराज्य के लिए एकता को बुनियादी बात समझता हो। क़ौम का वह दर्द वह टीस वह तड़प आज हिन्दुओं में कहीं दिखायी नहीं देती। दस-बीस हज़ार मलकानों को शुद्ध करके लोग फूले नहीं समाते मानो अपने लक्ष्य पर पहुँच गए अब स्वराज्य हासिल हो गया। हमें याद नहीं आता कि आज तक किसी हिन्दू ने वैसे दर्द भरे भाव व्यक्त किए हों, जो इस राम-कहानी की जोड़ी में पेश से निकलते ही रो रोकर भीगी-भीगी आँखों से निकलती हुई दर्द की एक आवाज़ की तरह व्यक्त किए हैं। यह है वह राष्ट्रीय भावना जो राष्ट्रों के बेड़े पार करती है उनकी नैया किनारे लगाती है।

हमको यह मानने में कोई संकोच नहीं है कि इन दोनों सम्प्रदायों के कदाम कद्म और सन्देह और घृणा की जड़ें इतिहास में हैं। मुसलमान विजेता थे हिन्दू विजित। मुसलमानों की तरफ़ से हिन्दुओं पर बहुत ज़्यादतियाँ हुईं और यद्यपि हिन्दुओं ने मौक़ा हाथ आ जाने पर उनका जवाब देने में आगा-पीछा नहीं किया लेकिन कुल मिलाकर यह कहना ही होगा कि मुसलमान बादशाहों ने सख़्त से सख़्त ज़ुल्म किये। हम यह भी मानते हैं कि मौजूदा हालात में जबान और कुर्बानी के मौक़ों पर मुसलमानों की तरफ़ से ज़्यादतियाँ होती हैं और दंगों में भी अक्सर मुसल-मानों ही का पल्ला भारी रहता है। ज़्यादातर मुसलमान अब भी अपनी पुरानी सुल्तानी के नारे लगाता है और हिन्दुओं पर हावी रहने की कोशिश करता रहता है। तब्लीग़ के मामले में ज़्यादती मुसलमानों ने की और हिन्दुओं की रोज़-ब-रोज़ बढ़ती हुई संख्या के कारण भी किसी हद तक बढ़ी है। मगर इन सारे कारणों और दलीलों और घटनाओं को नज़र के सामने रखते हुए हम यह कहना चाहते हैं कि हिन्दुओं को इससे कहीं ज़्यादा राजनीतिक धैर्य से काम लेने की ज़रूरत है। इति-हास से उत्तराधिकार में मिली हुई अदावतें मुश्किल से मरती हैं लेकिन मरती हैं, अमर नहीं होतीं।

हिन्दुओं के त्योहारों और जुलूसों के मौक़े पर अक्सर मुसलमानों की तरफ़ से यह तक़ाज़ा होता है कि मसजिदों के सामने नमाज़ के मौक़े पर बाजा और धार्मिक न बजाने जायें। यह बहुत ही स्वाभाविक माँग है। शोर-गुल से निश्चय ही उपासना में विघ्न पड़ता है और अगर मुसलमान इस शोर-गुल को बन्द करने पर ज़ोर देते हैं तो हिन्दुओं को चाहिए कि वह उनकी दिलजोई करें।

अगर धर्म का आदर करना अच्छा है तो हर हालत में अच्छा है। इसके लिए किसी शर्त की ज़रूरत नहीं। अच्छा काम करनेवालों का सब अच्छा कहते हैं। दुनियावी मामलों में दबने से आबरू में बट्टा लगता है, धौन-धर्म के मामले में दबने से नहीं। गोकुशी के मामले में हिन्दुओं ने शुरू से अब तक एक अन्यायपूर्ण ढंग अख़्तियार किया है। हमको अधिकार है कि जिस जानवर को चाहें पवित्र समझें लेकिन यह उम्मीद रखना कि दूसरे धर्म को माननेवाले भी उसे वैसा ही पवित्र समझें ख़ामख़ाह दूसरों से सर टकराना है। गाय सारी दुनिया में खायी जाती है, उसके लिए क्या आप सारी दुनिया को गर्दन मार देने के क़ाबिल समझेंगे ?

अगर हिन्दुओं को अभी यह जानना बाक़ी है कि इन्सान किसी हैवान से कहीं ज़्यादा पवित्र प्राणी है चाहे वह गोपाल की गाय हो या ईसा का गधा तो उन्होंने अभी सभ्यता की वर्णमाला भी नहीं समझी। हिन्दोस्तान जैसे कृषि-प्रधान

देश के लिए गाय का होना एक वरदान है मगर आर्थिक दृष्टि के अलावा उसका और कोई महत्व नहीं है। ●

अपनी इसी निष्कपट सामाजिक दृष्टि से मुंशीजी इस हिन्दू-मुसलिम खींचतान के पीछे काम करनेवाले असली हाथों को देख लेते हैं—

हिन्दुओं में इस वक्त गम्भीर नेताओं का अकाल है। हमारा नेता वह होना चाहिए जो गम्भीरता से समस्याओं पर विचार करे। मगर होता यह है कि उसकी जगह शोर मचानेवालों के हिस्से में आ जाती है जो अपनी जोरदार आवाज से जनता की छिपी हुई भावनाओं को उभाड़कर उन पर अपना अधिकार जमा लिया करते हैं। वह क़ौम को दरगुज़र करना नहीं सिखाता लड़ना सिखाता है उसका फ़ायदा इसी में है। कोई आदमी ऐसी उलटी बुद्धि का नहीं हो सकता कि उसे इस नाजुक मौके पर दोनों सम्प्रदायों की आपसी खींच-तान के नतीजे न दिखायी दें और अगर है तो हमें उसकी सद्भावना में सन्देह है। इस संदेह की पुष्टि इस कारण से और भी होती है कि इस आन्दोलन के शुरू करनेवाले और कार्यकर्ता अधिकतर वही लोग हैं जो राजनीतिक मामलों में हिस्सा लेने से कन्नी काटते रहते हैं या उसमें हिस्सा लेते भी हैं तो दामन बचाये हुए, वर्ना हिन्दू संगठन के बनारस में आयोजित जलसे में ज़मींदारों और राजाओं की इतनी बड़ी संख्या न दिखायी देती। जिधर देखिए राजे-महाराजे और सेठ-महाजन ही नज़र आते थे। उनके पीछे चलनेवालों में अधिकांश के लोग थे जिनका पुश्तैनी पेशा मुलाज़मत है जिन्हें शुरू से यह शिकायत है कि मुसलमान सरकारी नौकरियाँ हड़प कर जाते हैं और हमारा हाल पूछनेवाला कोई नहीं है जिनके लिए एक मुसलमान सब-इंसपेक्टर या तुर्क अमीन की नियुक्ति चीन के इन्क़लाब या टर्की की फ़तह से ज्यादा बड़ी घटना है।

गुस्सा जो भीतर उबल रहा था कागज़ के पन्ने पर उतर आया। मगर सच जो उन्हें अपनी हिन्दू बिरादरी से कहना था उन्होंने कह लिया। लेकिन उससे होता क्या है! गुबार नफ़रत का वह अजदहा अब भी वैसे ही मुँह बाये खड़ा था और अपनी गर्म-गर्म ज़हरीली साँसों के बगूले छोड़ रहा था।

कोई और जाने या न जाने मुंशीजी खूब जानते हैं कि मात्र राजनीतिक एकता से और वह भी चोटी के कुछ नेताओं की ज्यादा कुछ होना-जाना नहीं है। प्रमाद की जड़ें बहुत गहरी हैं और उनके अनेक नाम हैं, रूप हैं, स्तर हैं। इतिहास का बहुत-सा कूड़ा-करकट है। वर्तमान सामाजिक जीवन के बाग से झाड़-झंखाड़ को साफ करना होगा। यह एक लम्बा संघर्ष होगा कठिन संघर्ष होगा।

केवल एकता का नाम जपने से एकता नहीं होगी उस ज़हर को तो मारो जो दोनों के दिलों में रिस रहा है।

निर्मम निर्भीक सत्य और न्याय — इस संघर्ष में यही दो तुम्हारे संबल होंगे बाक़ी सारे हितू मेत छूट जायेंगे। लेकिन डरो मत। सच्चाई से अपनी बात कहो और पूरी बात कहो।

बदनामी से भी न डरो। वह तो मिलेगी और भरपूर मिलेगी और दोनों तरफ़ से मिलेगी। दो झगड़नेवालों के बीच में आनेवाले आदमी को अकसर दोनों ही के तमाचे खाने पड़ते हैं। यही तो उसका पुरस्कार है।

लोगों का दिमाग़ सही नहीं है। वह तुम्हारे बारे में क्या सोचेंगे कहेंगे इसकी चिन्ता छोड़ दो।

सत्य और केवल सत्य का आश्रय लेनेवाले इसी मुक्त निर्द्वन्द्व भाव से मुंशीजी ने क़ब्रुलरिवाज़ लिखा था — अप्रैल १९२१ में। उसके छपते-छपते फ़र्ज़ी का महीना आ गया। दंगों का ज़ोर घटने के बजाय बराबर बढ़ता ही जा रहा था। यहाँ तक कि सन् २४ का साल तो उन सबसे आगे बढ़ गया — दिल्ली गुलबर्गा नागपुर, जबलपुर, लखनऊ, इलाहाबाद शाहजहाँपुर, एक के बाद एक सभी शहरों में दंगे हुए और उनमें भी सबसे भयानक उत्तर-पश्चिम सीमान्त प्रदेश में कोहाट का दंगा था ९ १ सितम्बर १९२४ को जिसमें हिन्दू बुरी तरह मारे गये और हज़ारों की संख्या में अपना घर-बार छोड़कर भागने पर मजबूर हुए।

उसके कारणों की जाँच करने के लिए कांग्रेस ने गाँधीजी और मौलाना शौकत अली की एक कमेटी नियुक्त की। दोनों ने कोहाट जाकर मामले की जाँच की लेकिन उसके कारण के सम्बन्ध में उनका मत एक न हो सका।

गाँधीजी को इन दंगों से गहरा मानसिक कष्ट हो रहा था और उन्होंने उनकी पूरी ज़िम्मेदारी अपने ऊपर लेते हुए इक्कीस दिन के अनशन की घोषणा की — जो कि काफ़ी ख़तरे की बात थी *क्योंकि अभी हाल ही में उनका अपेंडिसाइटिस का* बहुत संगीन आपरेशन हुआ था और इसी के सिलसिले में उन्हें वक़्त से पूरे चार साल पहले बिना शर्त जेल से रिहा कर दिया गया था। इस अनशन की घोषणा से देश भर्रा उठा। गाँधी जी उन दिनों दिल्ली में मौलाना शौकत अली के घर पर ही थे। इस अवसर का लाभ उठाकर उन्हीं दिनों २६ सितम्बर से लेकर २ अक्तूबर तक दिल्ली में सब सम्प्रदायों के नेताओं को बुलाकर एकता सम्मेलन का आयोजन हुआ।

इधर मुंशीजी ने ३ सितम्बर १९२४ को निगम साहब को लिखा —

हिन्दू-मुसलिम फ़सादात का सिलसिला जारी है। मैंने पहले ही पेशीनगोई

की थी। वह हर्फ़-ब-हर्फ़ सही साबित हो रही है। हिन्दू तथा सिक्खों में भी शायद समझौता न होने दे। लखनऊ में ज़्यादती हिन्दुओं की तरफ़ से हुई मगर बात को किसी ने मुँह न दिखाया।

इसमें शक नहीं बहुत बुरा ज़माना था। चारों तरफ़ दंगे हो रहे थे और क्या हिन्दू क्या मुसलमान सबके दिमाग़ों पर उन्हीं दंगों का ज़हर फैल रहा था। कांग्रेस के भी तमाम लोग उसी रंग में रँगे जा रहे थे।

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने मुंशीजी को याद करते हुए उन्हीं दिनों के बारे में लिखा ● एक बार वे प्रताप कार्यालय पधारे। मैं उन दिनों प्रताप का सम्पादन करता था। मेरे एक उप-सम्पादक किंचित् विवादी मनोभावना के थे। बातचीत में हिन्दू-मुसलिम प्रश्न उठ आया। मेरे उप-संपादक महाशय आवेश में आकर बोले इस साम्प्रदायिकता को रोकने का दूसरा कोई उपाय नहीं है। ईंट का जवाब पत्थर से देना होगा। तभी काम चलेगा। प्रेमचन्दजी मुस्कराते हुए सुनते रहे। जब उन महाशय की तोपमयी वाणी रुकी तो वे अत्यन्त साधारण स्वर में बोले भाई इस समय मुसलमानों का मानस रोगयुक्त है। पागलों के साथ हम भी पागल बन जायें तो कैसे काम चलेगा? वे महाशय बल खाकर पूछ बैठे, क्यों साहब अगर पागल हमारे सामने पेशाब करने लगे तो हम क्या करें? प्रेमचन्दजी ने शान्ति से कहा ज़रा दूर हटकर खड़े हो जाओ।

—और अगर वहाँ भी आकर वह वही हरकत करे तो?

—कुछ और दूर हट जाओ।

मगर वह हज़रत वे दुर्गती इतने पर भी न माने बोले—और जो वहाँ भी आकर वह वही हरकत करे?

तब मुंशीजी ने कहा—भाई यह कैसे हो सकता है, वह अन्नामानुष कोई मलक थोड़े ही बाँधे है जो यहाँ-वहाँ सब जगह मूतता ही जायगा। ●

'रूहुर्रिजाल' को छापने में निगम साहब को भी महीने लगे। उसी बीच पाँच महीने में मुंशीजी ने यहीं उन्हीं में रहते हुए, एकता (और सद्भाव जो दोनों मुंशीजी के लिए एक ही चीज़ के दो नाम या दो पहलू हैं) की एक सुन्दर कहानी 'मैकूम' लिखी और लिखा एक नाटक जिसका नाम 'कर्बला' था। मुसलिम इतिहास और परम्परा के अच्छे और नेक पहलुओं से हिन्दुओं को परिचित कराने के लिए हज़रत अली और नबी का प्रीति-निर्वाह जैसी चीज़ें भी इसी समय लिखी गयीं। ज़माना से सहमा है। आलस्य करने से नहीं बनेगा। अपनी पूरी शक्ति लगा देनी होगी इस बात को रौशन में।

कर्बला की सूचना निगम साहब को देते हुए मुंशीजी ने १७ फर्वरी १९२४ को लिखा था —

मैंने इधर पाँच महीने में अपने नाविल रंगभूमि के साथ एक ड्रामा लिखा है जिसका नाम है कर्बला। इसमें कर्बला के वाक़यात पर तारीख़ी हैसियत को क़ायम रखते हुए एक ड्रामा लिखा गया है। मैंने ख़त तो हिन्दी रखा है मगर ज़बान सरासर उर्दू है। ख़्वाह हिन्दी पब्लिक इसकी क़द्र न करे पर मैंने मुसलमान कैरक्टरों की ज़बान से प्रशीह[1] हिन्दी निकलवाना बेमौक़ा समझा। नाटक इसी हफ़्ते में मतबे[2] में चला जायगा। मेरे ही मतबे में। इस वक़्त नज़रसानी कर रहा हूँ। मैं इसे सिलसिलेवार ज़माना में दे दूँ तो क्या राय है? क़िस्सा निहायत दिलचस्प है, निहायत दर्दनाक। मैंने माधुरी में कर्बला पर एक मज़मून लिखा था जिसकी क़द्र भी काफ़ी हुई। कोई वजह नहीं कि उर्दू में ड्रामा मक़बूल न हो। उसमें मुझे मज़मून-निगारी न करनी पड़ेगी सिर्फ़ ख़त[3] तब्दील कर देना पड़ेगा। बाद को यह सिलसिला किताबी सूरत में निकल जायगा। इसका यक़ीन रखिए कि मैंने एहतराम[4] को कहीं नज़रअन्दाज़ नहीं होने दिया है। एक-एक लफ़्ज़ पर इस बात का ख़याल रखा है कि मुसलमानों के मज़हबी एहसासात को सदमा[5] न पहुँचे। मक़सद है पोलिटिकल बाहमी[6] इत्तहाद को बढ़ाना और कुछ नहीं।

कर्बला की लड़ाई में उनको अपनी मनचाही विषयवस्तु मिल गयी। हज़रत हुसैन कर्बला के मैदान में शहीद हुए थे। मुहर्रम उसी की याद और उसी का मातम है। अक्सर दंगे मुहर्रम के मौक़े पर हुआ करते थे और इस एक ढंग ही कहना चाहिए कि उसी मुहर्रम की विषयवस्तु में मुंशीजी को एकता का आधार मिल गया।

नाटक की भूमिका में मुंशीजी ने लिखा था — 'कितने खेद और लज्जा की बात है कि कई शताब्दियों से मुसलमानों के साथ रहने पर भी अभी तक हम लोग प्रायः उनके इतिहास से अनभिज्ञ हैं। हिन्दू-मुसलिम वैमनस्य का एक कारण यह भी है कि हम हिन्दुओं को मुसलिम महापुरुषों के सच्चरित्रों का ज्ञान नहीं। जहाँ किसी मुसलमान बादशाह का ज़िक्र आया कि हमारे सामने औरंगज़ेब की तस्वीर खिंच गयी। लेकिन अच्छे और बुरे चरित्र सभी समाजों में सदैव होते आये हैं और होते रहेंगे।

दूसरी प्रेरणा यह थी कि इस कर्बला की लड़ाई में कुछ हिन्दू भी हज़रत हुसैन के साथ लड़े थे। इसके बारे में मुंशीजी ने अपनी भूमिका में लिखा —

---

१ प्रांजल २ प्रेस ३ लिपि ४ सम्मान ५ भावनाओं ६ ठेस ७ आपसी

पाठक इसमें हिन्दुओं का प्रवेश करते देखकर चकित होंगे परन्तु यह हमारी कल्पना नहीं है, ऐतिहासिक घटना है। आर्य लोग वहाँ कैसे और कब पहुँचे, यह विवादग्रस्त है। कुछ लोगों का खयाल है, महाभारत के बाद अश्वत्थामा के वंशधर वहाँ जा बसे थे। कुछ लोगों का यह भी मत है, ये लोग उन हिन्दुओं की सन्तान थे जिन्हें सिकन्दर वहाँ से क़ैद कर ले गया। कुछ हो, इस बात के ऐतिहासिक प्रमाण हैं कि कुछ हिन्दू भी हुसेन के साथ कर्बला के संग्राम में सम्मिलित होकर वीरगति को प्राप्त हुए थे। यानी कि देखो, आज हम-तुम एक-दूसरे का खून बहा रहे हैं और एक दिन वह था जब हमारे पुरखों ने एक साथ मिलकर अपना खून बहाया था!

लेकिन इतने से भी बस नहीं है। स्वाधीनता-संग्राम भी उसी के साथ घुला-मिला है। कर्बला का युद्ध भी धर्मयुद्ध था और यह स्वाधीनता का युद्ध भी धर्मयुद्ध है। उन हुसेनी हिन्दुओं के मुँह से भारतस्तुति कराना भी मुंशीजी नहीं भूले।

मगर किताब अभागी थी, इसमें सन्देह नहीं। मुंशीजी ने उसे अपने प्रेस में छापना शुरू कर दिया था सही, लेकिन प्रेस बेचारा तो खुद कौड़ी-कौड़ी को मुहताज हो रहा था। लेनदार तकाज़ों के मारे नाक में दम किये हुए थे। आखिरकार मुंशीजी ने मजबूर होकर उसका मुआमला दुलारेलाल भार्गव से किया, छपी हुई किताब लागत पर उन्हें दे दी और फिर उन्हीं के यहाँ से नवंबर १९२४ में उसका प्रकाशन हुआ।

खैर, जैसे-तैसे छप तो गयी। उर्दू में तो उसकी और भी बुरी हालत हुई। पुस्तक के रूप में तो 'कर्बला' शायद कभी निकली भी नहीं, 'ज़माना' में धारावाहिक निकलना भी आसान नहीं हुआ — इस बार मुसलमान पाठकों के भय से, वैसे ही जैसे पिछले साल हिन्दू पाठकों का भय 'ग्रहनुरिमाल' के छपने में आड़े आया था। कौन जाने एक हिन्दू लेखक के क़लम से कर्बला का ज़िक्र मुसलमानों को पसन्द न आये।

बड़ी उमंग से मुंशीजी ने यह नाटक लिखा था, एहतराम को कहीं नज़रअन्दाज़ नहीं होने दिया था, एक-एक लफ़्ज़ पर इस बात का ख़याल रक्खा था कि मुसलमानों के मज़हबी एहसासात को सदमा न पहुँचे, शायद इसी से अपने एक दोस्त मुंशी मुनीर हैदर कुरैशी से उसका तर्जुमा हिन्दी से कराके एडीटर 'ज़माना' को भेजा था और यक़ीनन इस उम्मीद से भेजा था कि उस आग और खून से लिथड़े हुए ज़माने में सब लोग उनके इस काम की दाद देंगे। लेकिन जब दूसरों की कौन कहे, कुछ मुसलमान बन्धुओं ने ही, जिनमें 'ज़माना' दफ़्तर के भी कुछ लोग थे, उस पर नाक-भौं सिकोड़ी तो उनका जी खट्टा हो गया। जिसको ठीक कहा है, होम करते हाथ जलता है।

बहुत दुखी मन से मुंशीजी ने २२ जुलाई सन् २४ को निगम साहब को लिखा —

"बेहतर है कर्बला न निकालिए। मेरा कोई नुक़सान नहीं है। न मैं मुफ़्त का बदनाम[1] सर पर लेने को तैयार हूँ। मैंने हज़रत हुसैन का हाल पढ़ा, उनसे अक़ीदत[2] हुई, उनके ज़ौक़े-शहादत[3] ने मसहूर[4] कर लिया। उसका नतीजा यह ड्रामा था। अगर मुसलमानों को यह भी मंज़ूर नहीं है कि किसी हिन्दू की ज़बान व क़लम से उनके किसी मज़हबी पेशवा या इमाम की मद्हसराई[5] भी हो तो मैं इसके लिए मुसिर[6] नहीं हूँ। इस कार्ड का जवाब देना तो फ़िज़ूल है, हाँ हज़रत महशर के नोट के मुताल्लिक़ कुछ अर्ज़ करना चाहता हूँ।

आप फ़रमाते हैं कि शिया हज़रात यह नहीं पसन्द कर सकते कि उनके किसी मज़हबी पेशवा का ड्रामा तैयार किया जाय। शिया हज़रात अगर मज़हबी पेशवा की मसनवी पढ़ते हैं, अफ़साने पढ़ते हैं, मर्सिये सुनते और पढ़ते हैं तो उन्हें ड्रामा से क्या एतराज़ हो? क्या इसलिए कि एक हिन्दू ने लिखा है?

तारीख़[7] और तारीख़ी ड्रामा में फ़र्क़ है, जैसा आप ख़ुद तसलीम करते हैं। तारीख़ी ड्रामा ख़ास कैरेक्टरों में तो कोई तग़य्युर[8] नहीं कर सकता मगर सानवी[9] कैरेक्टरों के तअल्लुक़ और तर्मीम यहाँ तक कि तख़लीक़[10] में भी उसे आज़ादी है। हज़रत असग़र की उम्र ६ माह की थी लेकिन बाज़ रिवायतों में ६ साल की भी लिखी हुई है। मैंने वही रिवायत अख़्तियार की जो मेरे मुआफ़िक़ हाल थी। अगर फ़िलवाक़ई ऐसी रिवायत न भी हो तो हज़रत असग़र इस ड्रामे के कोई ख़ास कैरेक्टर नहीं हैं।

यज़ीद की इख़लाक़ी हैसियत मुझ से कहीं ज़्यादा पस्त मुवर्रिख़ीन[11] ने कर दी है। मैं मजबूर था। मैंने तो सिर्फ़ उसकी शराबख़ोरी और ऐशपसन्दी का ज़िक्र किया है। शराबख़ोर था ही। ख़ुलफ़ाए राशिदीन के बाद और जितने ख़ुलफ़ा हुए सब पीते थे और बढ़के पीते थे। देखिए यज़ीद के मुताल्लिक़ मौलाना अमीर अली क्या फ़रमाते हैं—

Yezid was both cruel and treacherous his depraved nature knew no pity or justice His pleasures were as degrading as his companions were low and vicious. *Drunken* riotousness prevailed at court

---

१ झंझट २ श्रद्धा ३ बलिदान-भावना ४ मोहित ५ स्तुति ६ आग्रहशील ७ इतिहास ८ परिवर्तन ९ गौण १० सृष्टि ११ इतिहासकारों

तारीख़ी हैसियत से आपने साहस राय के वाक़यात[1] पर एतराज़ किया है। बयक क़दीम रिवायत में उसका कोई ज़िक्र नहीं। मगर एक रिवायत है जो मैंने रिसाला 'आईना' इलाहाबाद से ली है। मुमकिन है वह रिवायत ग़लत हो लेकिन अगर मान लीजिए ज़ेबे-दास्तान[2] ही के लिए की गयी है तो ड्रामा तारीख़ तो नहीं है। इससे किसी तारीख़ी कैरेक्टर पर असर नहीं पड़ता। इन कैरेक्टरों का मंशा है हिन्दुओं का हज़रत हुसैन पर फ़िदा हो जाना। उसका वजूद[3] भी इसीलिए हुआ है। यह ड्रामा तारीख़ी होने के साथ पोलिटिकल है।

अदबी हैसियत के मुताल्लिक़ आपके एतराज़ को बसरो-चश्म[4] तसलीम करता हूँ। मैंने कभी अदीब होने का दावा नहीं किया। मुझे लोग ज़बरदस्ती इन्शापरदाज़ और सेहरनिगार[5] और अल्लम-ग़ल्लम लिख दिया करते हैं। मैं बात को सीधी तरह सीधी ज़बान में कह देता हूँ। रंगआमेज़ी और इन्शापरदाज़ी से क़ासिर हूँ और जब ड्रामा इसलिए तैयार किया गया है कि हर ख़ास-ओ-आम इसे पढ़े तो ज़बानआराई[6] और भी बेमौक़ा हो जाती है। बहरहाल मैं ड्रामे की इशाअत के लिए मुसिर नहीं हूँ। इसलिए यह बहस मुल्तवी और ख़त्म हो गयी। ख़्वाजा हसन निज़ामी ने कृष्ण-बीती लिखी। एक हिन्दू अख़बार ने उसकी तारीफ़ की, सिर्फ़ इसलिए कि मौलाना ने कृष्ण से अपनी अक़ीदत का इज़हार किया था। मेरा भी यही मंशा (था)। अगर हसन निज़ामी को वह आज़ादी हासिल है और मुझे नहीं है तो मुझे इसका अफ़सोस नहीं।●

इन्हीं काग़ज़ी घोड़ों के दौड़ने में छापे कि न छापे इसी हैस-बैस में पूरे दो बरस निकल गये और इसे नियति का बहुत ही क्रूर व्यंग्य समझना चाहिए कि जब दो बरस बाद उसके छपने की नौबत आयी (जुलाई १९२६ से अप्रैल १९२८ तक क्रमशः प्रकाशित) तब तक उसकी सामयिक उपयोगिता में रत्ती भर अन्तर न आया था! मारकाट के बाज़ार में कहीं कमी या गिरावट का नाम न था! क्या २५ और क्या २६ और क्या २७ और क्या

यह मई २५ की ही बात है कि गांधी जी ने कलकत्ते के मिर्ज़ापुर पार्क में बोलते हुए कहा था कि अगर ख़ून बहाना ज़रूरी ही हो तो फिर मर्दों की तरह जी खोलकर एक-दूसरे का ख़ून बहाओ। काट फेंको ममता-माया का, व्यर्थ का आडम्बर है!

सन् २६ में फिर भी वैसे ही ख़ूनी खिलवाड़ में लगे हुए थे। ६ अप्रैल १९२६ को लार्ड इर्विन ने भारत में पदार्पण किया और जैसे कि उनके स्वागत के लिए,

---

१ प्रसंग २ कथा के आभूषण ३ जन्म ४ सर-आँखों पर
५ क़लम का जादूगर ६ भाषा की सजावट

५ अप्रैल को कलकत्ते में ऐसा भयानक दंगा हुआ जैसा कि मुल्क ने उसके पहले देखा न था। सैकड़ों मरे और घायल हुए। न जाने कितनी दुकानें लुटीं कितने घरों को आग लगायी गयी कितनी औरतों को हैवानों ने अपनी भूख का चारा बनाया।

सन् २७ उससे भी दस क़दम आगे निकल गया। सबसे भयानक दंगा ३ और ७ मई के बीच लाहौर में हुआ — जो कि 'रंगीला रसूल' की अंतिम विदाई थी। हाईकोर्ट ने उसके अभियुक्तों को बरी कर दिया था।

उस साल देश भर में कुल मिलाकर पच्चीस दंगे हुए, जिनमें से दस अकेले संयुक्तप्रान्त में हुए। सैकड़ों मरे, हज़ारों घायल हुए। लेकिन साहब यह मुंशी जी भी अपने ढंग के एक ही आदमी हैं। हवा जितनी ही प्रतिकूल बहती है उनका जोश उतना ही ज़्यादा उभरता है। कमाल है कि थकावट भी नहीं मालूम होती। साल के साल

हल की मूठ नहीं पकड़ी कभी मगर जीवट उसी किसान का है जो ऊसर बंजर को जोतने का कलेजा रखता है, बरखा हो धूप हो जाड़ा हो पाला हो

और अर्जुन का एकोन्मुख लक्ष्य। ठेस लगी गहरी ठेस लगी उर्दू कर्बला को लेकर, कुछ अंदाज़ा हुआ कि खाई कितनी गहरी है ज़हर कितना ज़हरीला है।

मगर उससे क्या। यह भी एक अनुभव है। काम तो जो करना है करना है। कठिन काम है टेढ़ा काम है, इसीलिए तो और भी करना है। इन छोटे मोटे झटकों से उसका क्या बनता-बिगड़ता है। जिस रास्ते को एक बार ठीक समझ कर पकड़ लिया उस पर तो फिर चलना होगा आख़ीर तक वह आसान रास्ता भी नहीं है सस्ते समझौतों का जैसा कि राजनीतिक नेता समझते हैं। उससे कुछ नहीं होने का कुछ भी नहीं। यह तो निर्मम संघर्ष का रास्ता है, हर झूठ के ख़िलाफ़ हर पाखंड के ख़िलाफ़ सच्चाई की तह तक पहुँचने के लिए। न इसके साथ मुरौवत न उसके साथ। मन के भीतर विष की एक गाँठ है सबके। उसको पहले काटना होगा। फिर नये मन की रचना होगी नयी साफ़ मिट्टी से नये साफ़ पानी से

लेकिन यह सब तो बहुत आगे की बातें हैं।

अभी १९२२ की जनवरी-फ़र्वरी है और स्कूल के मैनेजर महाशय काशीनाथ और मुंशीजी की अनबन इधर महीनों से चल रही है। हर रोज़ एक न एक झगड़ा खड़ा रहता है। महाशयजी को सबसे बड़ी शिकायत मुंशीजी से यह है कि उनका

प्रबन्ध कच्चा है, कोई ठीक से काम नहीं करता, न चपरासी न मास्टर, सब अपने मन के राजा हो रहे हैं, अनुशासन का तो जैसे नाम-निशान ही मिट गया! उनमें खामी देखने को, नुक्स निकालने को हरदम एक न एक कारण उपस्थित रहता। मुंशीजी बहुत बार तो सुनी अनसुनी कर जाते लेकिन कभी उन्हें बात बुरी भी लग जाती। यह ठीक है कि मुंशीजी में वह प्रबंध-पटुता नहीं थी जिसका एक जरूरी हिस्सा मातहतों की डाँट-फटकार है। महाशय काशीनाथ को दूसरा कुछ आता न था। अब तक इसी ढंग से उन्होंने काम चलाया था। मुंशीजी बड़ी शान्ति से मेल-मुहब्बत से काम करने के आदी थे। मुमकिन है इससे काम में कहीं कुछ ढीलापन भी आ जाता हो लेकिन मुंशीजी को वह ढीलापन भी मंजूर था, डाँट-फटकार करते रहना मंजूर नहीं था। इस तरह दो विरोधी स्वभावों के टकराव के लिए पहले रोज से जमीन मौजूद थी। प्राइवेट स्कूल का मैनेजर अपने को सहज ही स्कूल का बादशाह समझता है। टक्करें होने लगीं। फड़केजी का कहना है कि इन झगड़ों की सबसे बड़ी वजह महाशय काशीनाथ की अकड़बाजी थी।

फड़केजी शुरू से मारवाड़ी विद्यालय में थे। मुंशीजी के साथ भी उन्होंने काम किया और मुंशीजी के चले जाने पर स्कूल के हेडमास्टर बने।

महाशय काशीनाथ मुंशीजी से बड़े नाराज थे पर मास्टर सब बहुत खुश थे। मुंशीजी का सबसे दोस्ताना था। इन्टरवल में सब लोग उन्हीं के कमरे में जमा होते और मुंशीजी दिन भर की खबरें और जाने कहाँ-कहाँ के चुटकुले सुनाया करते। आनन-फानन वक्त बीत जाता। मुमकिन है यह भी महाशयजी को बुरा लगता हो क्योंकि आम तौर पर हेडमास्टर अपने मातहतों से इतना दोस्ताना कायम करते नहीं देखे जाते। फड़केजी का कहना है कि मुंशीजी कभी किसी मास्टर के काम में दखल नहीं देते थे यहाँ तक कि मुआइने के लिए दर्जों में भी न जाते थे।

बेहर मारवी ने बालासोटी में एक छोटा-सा मकान लेकर रहते थे। खुद टूटी चारपाई पर बैठते और मुलाकातियों के लिए भी बस लकड़ी की दो-एक कुर्सियाँ रख छोड़ी थीं।

कोई टीमटाम नहीं, कुर्सी की शान नहीं — कौन जाने यह बातें भी महाशय जी को अच्छी न लगी हों।

बहरहाल कारण जो भी रहा हो दोनों की अनबन अपनी जगह पर एक अटल सच्चाई थी और महाशयजी की जिस हमदर्दी और 'सलामतरवी' का बयान मुंशीजी ने इस नौकरी पर आते समय आज से करीब आठ महीने पहले किया था उसका अब कहीं नाम भी न था। और मुंशीजी ऐसे मामलों में सब

किसी को माफ़ करनेवाले। अपने दिल का बुख़ार (इस रहस्य का उद्घाटन भी पहले ही ने ही किया) उन्होंने त्यागी का प्रेम नाम की एक कहानी लिखकर उतारा जिसमें महाशयजी के एक प्रेम-काण्ड पर छींटाकशी थी। आख़िरकार साल भी पूरा नहीं होने पाया और मुंशीजी ने बहुत तंग आकर २२ फ़र्वरी १९२२ को वहाँ से इस्तीफ़ा दे दिया। पीछे १४ जुलाई सन् २२ के अपने ख़त में मुंशी जी ने बनारस से निगम साहब को लिखा — मुझे मारवाड़ी स्कूल में जितनी तक़लीफ़ हुई उतनी कहीं और हो ही नहीं सकती। मालूम नहीं महाशय से मेरी क्यों अनबन हो गयी।

आठ महीने के भीतर यह सब खेल-तमाशा ख़त्म हो गया और मुंशीजी फिर बनारस पहुँच गये। इस बार नौकरी उनके लिए पहले से रक्खी थी। बाबू शिवप्रसाद गुप्त ज्ञानमण्डल से मर्यादा नाम का एक मासिक निकालते थे जिसका सम्पादन बाबू सम्पूर्णानन्द करते थे। वह असहयोग आन्दोलन में उन्हीं दिनों पकड़े गये और स्थानापन्न सम्पादक के रूप में प्रेमचन्द की नियुक्ति हो गयी। काफ़ी उत्साह में भरकर उन्होंने २६ अप्रैल को निगम साहब को लिखा — 'हिन्दी में आज कल नये रिसालों की धूम है। लखनऊ से एक निकल रहा है, दूसरा कलकत्ते से। दोनों बड़ी-बड़ी तैयारियाँ कर रहे हैं। अहबाब की फ़रमाइशें रोज़ाना मौसूल होती हैं। इसलिए उर्दू लिखने की तरफ़ ख़याल ही नहीं गया।

देहात में रहते थे। मर्यादा में काम करते थे। रोज़ शहर आना-जाना — जैसा कि गाँव में और भी बहुत से लोग करते थे — लेकिन काम अपने मन का था और मुंशीजी सारी थकान के बावजूद ख़ुश थे। पर इसमें सन्देह नहीं कि अपने जी के बहुत से जंजाल उन्होंने एक साथ ही पाल लिये थे। पैसे हाथ में गिनती के और इधर घर बन रहा था उधर शहर में प्रेस की तैयारी हो रही थी। पुराना पुश्तैनी घर अब सब के रहने के लिए छोटा पड़ता था इसलिए यह ख़याल पैदा हुआ कि एक बैठक बन जाय तो कम से कम उठने-बैठने का सुभीता हो जाय — और फिर वही बैठक बढ़ते-बढ़ते एक पक्का तिमंज़िला मकान बनती जा रही थी। और उसके साथ ही मुंशीजी की परेशानियाँ भी तिमंज़िला होती जा रही थीं। यहाँ तक कि मकान शुरू करने के कुछ ही रोज़ बाद उनको अपनी ग़लती समझ में आयी और उन्होंने २४ जून १९२२ के अपने ख़त में निगम साहब को लिखा — अगर मुझे मालूम होता कि इस क़दर जल्द मुझे प्रेस खोलना पड़ेगा तो मैंने तामीरे मकान में हाथ न लगाया होता जिसमें अभी तक तख़मीनन दो हज़ार ख़र्च हो चुके हैं और प्लास्टरिंग फ़र्श वग़ैरह का काम बाक़ी है

अगर मुझे मालूम होता ! सरासर अपने को धोखा देने की बात है। मालूम

तो हुकूमत को इस्तीफ़ा देने के रोज़ से था कि अब वह प्रेस खोलेंगे! दूरदेश भी वह अपने को किसी से कम नहीं समझते! लेकिन लोग जो कुछ पट्टी पढ़ा देते हैं — उस गरीब का इसमें क्या क़सूर! बहरहाल अब तो ग़लती हो ही गयी और मकान जब इतना बनकर खड़ा हो गया तो जैसे भी हो उसे पूरा करना ही होगा। उधर प्रेस अलग जान को पड़ा था। जैसे-तैसे कुछ लड़ाई के बाण्ड बेचकर, जो उस वक़्त ख़रीदे थे और अपनी दूसरी सब जमा-पूंजी जोड़-बटोरकर क़रीब चार हज़ार रुपये जमा हुए लेकिन उतना काफ़ी न था — मुझे प्रेस के लिए फ़िलहाल पांच हज़ार दरकार होंगे। प्रेस जमते-जमाते एक हज़ार लग जायेंगे। प्रेस को चलाने के लिए एक हज़ार की फ़िक्र और है। मैंने चार हज़ार का इन्तज़ाम कर लिया है। एक हज़ार मेरे इन्दौरी भाई साहब दे रहे हैं। अभी कम अज़ कम एक हज़ार की और ज़रूरत है। आपके यहां से आठ सौ मिल जायें तो सीधा एक छोटा से छोटा हैण्ड ट्रेडिल का दाम निकल आये। यह समझ लीजिए कि प्रेस खुल जाने के बाद मेरे अकाउण्ट में एक कौड़ी भी न रहेगी। इस दांव पर अपना सब कुछ रखकर क़िस्मत आज़मा रहा हूं। देखूं क्या नतीजा होता है। वैसे मुंशीजी को अपनी जगह पर यह भी यक़ीन है कि साल के अन्दर मैं इस क़ाबिल हो जाऊंगा कि घर बैठे दो-ढाई सौ पैदा कर सकूं।

सारी ज़िन्दगी यही सपना देखते रहे कि घर बैठे इतना मिल जायगा कि दाल-रोटी की चिन्ता से मुक्त होकर अपना लिखना-पढ़ना कर सकेंगे लेकिन सपना सपना रह गया। मगर कोई पूछे कि यह जुआ खेलने की ऐसी क्या ज़रूरत थी आपको! अब तो आपको अपनी किताबों के लिए प्रकाशक का भी टोटा नहीं था, क्या ज़रूरत थी इस तरह लंगोटी पर फाग खेलने की! मज़े से अपना नाविल लिखते, कहानियां और लेख भी महीने में चालीस-पचास के ही मज़े से और आप घासलेटी के सबसे एक कोने में पड़े रहते न ऊधो के लेने में न माधो के देने में। मगर नहीं, दिमाग़ का कीड़ा भी तो कोई चीज़ है! बहुत पुराना कीड़ा है, बरसों से काट रहा है! बड़ी-बड़ी योजनाएं हैं जिनकी सफलता असन्दिग्ध है, कम से कम काग़ज़ के पन्ने पर। कोई भी काम शुरू करने के पहले उसका हिसाब पक्का अच्छी तरह फैलाकर देख लिया जाता है। यह आप कभी नहीं कह सकते कि वह आंख मूंद कर कूद पड़ते हैं इस तरह के धंधों में! जी नहीं, वह जोखिम ताककर समुद्र में कूदते हैं! यही तो ख़ास बात है मुंशीजी की। और चूंकि उनका हिसाब-किताब आना-पाई तक पक्का रहता है इसलिए आप उन्हें यह बात समझा भी नहीं सकते। उन्हें इस बात का डर ज़्यादा है कि वह अपने बाजीगर के खेल जैसे हिसाब-किताब से ख़ुद आप ही अपना पेट भरें और आप भी उनके साथ इस कुएं की

फड़ पर आ बैठें। ऐसा ही कुछ जादू रहा होगा उनके समझाने में तब तो उन्होंने अपने साथ तीन और लोगों को घसीट लिया। इन्दौरी भाई, बाबू बलदेव लाल ने अपनी जिन्दगी भर की कमाई दो-ढाई हजार लगा दिया। रघुपति सहाय फ़िराक़ भी दो हजार लगाकर इस खेल में शरीक हो गये। मुंशी महताब राय ने भी इधर-उधर से जोड़-बटोरकर डेढ़ हजार लगा दिया। हाँ नाना साहब पर, जो एक ही घाघ आदमी थे मुंशीजी का जादू नहीं चला और उन्होंने ताड़ा सोचकर उनके बारे में निगम साहब को लिखा नाना-बाबा से मुतलक उम्मीद नहीं। बड़े शातिर निकले। मगर खैर, जैसे-तैसे काम शुरू करने भर के पैसे तो उनके हाथ में अपने ही हैं और जब उन्होंने अपना सब कुछ दाँव पर लगाकर क़िस्मत आजमाने का फ़ैसला कर लिया तो फिर उन्हें कौन रोक सकता है। मुंशी दयानरायन ने उनको समझाने की काफ़ी कोशिश की कि यह काम आपके बस का नहीं है लेकिन कौन सुनता है। यही तो सबसे मज़े की बात थी कि मुंशी जी अपने से ज्यादा व्यवहार बुद्धिसंपन्न किसी को समझते ही न थे। हिसाब में कहीं चूक हो तो कहिए, वह आपकी बात मानेंगे मगर उसमें चूक कहाँ वह तो मुंशीजी का तैयार किया हुआ हिसाब है जिधर से भी देखो उसमें नफ़ा ही दिखायी देगा। उसे भी एक नम्बर बाँधने का खेल ही समझिए, फ़र्क बस इतना है कि सबसे पहले जादूगर खुद अपने जादू के असर में है! लिहाज़ा अगर डूबना है तो मुंशीजी खुद पहले डूबेंगे — मगर अपने साथ चार को भी ले डूबने की पूरी तैयारी है! कौआ भी कहाँ का डूबना कहाँ का क्या कैसी मनहूस बात करते हो मुंशीजी तो साफ़ ही भर चार सबको मुनाफ़ा देनेवाले हैं। कोई मज़ाक है मुंशीजी बिज़नेस करने निकले हैं, देखिए कैसे-कैसे करिश्मे दिखलाते हैं।

इसी बीच क्या हुआ कि जुलाई के महीने में आकर उनकी मर्यादा वाली नौकरी खत्म हो गयी। ७ जुलाई १९२२ को मुंशीजी ने निगम साहब को सूचना दी 'मैं ज्ञानमण्डल से अलहदा हो गया। बाबू साहब ने स्टाफ़ कम कर दिया है।' लेकिन मुंशीजी को दूसरी जगह काम दिलाने का बाबू साहब यानी बाबू शिवप्रसाद गुप्त ने पूरा ख़याल रखा। काशी विद्यापीठ अभी हाल ही में स्थापित हुआ था — जब कि देश में और भी कई जगह कांग्रेस की प्रेरणा और उद्योग से राष्ट्रीय विद्यालयों की स्थापना हुई थी। मुंशीजी ज्ञानमण्डल से अलग होकर सीधे विद्यापीठ पहुँच गये और उन्हें विद्यापीठ के स्कूल महकमे की हेडमास्टरी मिल गयी। देहात से आने-जाने में काफ़ी दूर पड़ता था लेकिन खैर अब तक दिन की नौकरी थी चल जाता था। अब तो स्कूल का मामला था और सवेरे का स्कूल गाँव में रहकर नहीं चल सकता था। लिहाज़ा मुंशीजी कबीरचौरा पर घर लेकर रहने लगे —

माया मगन। कैसा एक व्यंग्य था इस नाम में मुंशीजी के लिए! कैसी-कैसी आशाएँ लेकर प्रेस खोला जा रहा था!

निगम साहब ने नौकरी की बात पर कदाचित् शंका प्रकट की कि आप एक तरफ़ तो प्रेस खोलने की तैयारी कर रहे हैं और दूसरी तरफ़ स्कूल में नौकरी, दोनों एक साथ कैसे चलेगा, तो मुंशीजी ने उसका समाधान करते हुए १४ तारीख को लिखा — विद्यापीठ में आनरेरी[1] तौर पर गया हूँ। बाबू भगवानदास जी ने स्कूल का हिस्सा मेरे सिपुर्द कर दिया है। तनख़्वाह नहीं देंगे। इसलिए कोई तरद्दुद नहीं। मारवाड़ी में भी काफ़ी आराम था। विद्यापीठ में ख़िदमत का मौक़ा है और आराम भी।

प्रेस की तैयारी ज़ोर-शोर से चल रही थी। वही ख़ास चीज़ थी। सारी आशाएँ उसी से लगी हुई थीं। उधर 'सेवासदन' की बिक्री अच्छी हो रही थी — साल सवा साल में एक हज़ार प्रतियाँ निकल गयी थीं। मुंशीजी ने काफ़ी उत्साह में भरकर लिखा — नया नाविल एक हज़ार निकल गया। अब किस्सों का मजमूआ निकलनेवाला है। मुझे मालूम होता है कि शायद एक नाविल और अच्छा लिखकर मैं ख़ानानशीन हो सकता हूँ। इतना घर बैठे मिल जायगा।

कैसी क्रूर मृगतृष्णा है जिसके पीछे सारी ज़िन्दगी ग़रीब दौड़ता रहा! लेकिन कुछ भी क्या है। हर आदमी तो किसी न किसी चीज़ के पीछे दौड़ता है। अच्छा ही है कि मुंशीजी जिस चीज़ के पीछे दौड़ रहे थे वह पैसा न था, अधिकार भी न था, झूठी सामाजिक प्रतिष्ठा भी न थी, बस एक मृगतृष्णा थी। उसमें और कुछ हो न हो, कम से कम आत्मा का गौरव अक्षत रहता है। काम की भीड़ में जीने का उन्हें अभ्यास है। उसी में वह ख़ुश भी रहते हैं। और आजकल काम ही काम है। इधर घर बन रहा है, उधर प्रेस की तैयारी हो रही है — क़लम अलग तेज़ी से चल रहा है। और क्यों न चले क़लम तेज़ी से जब कि लक्ष्य स्पष्ट है। सबसे पहले तो लोगों को असहयोग के लिए तैयार करना है, वातावरण भर देना है विदेशी सत्ता से असहयोग की गूँज से। असहयोग यानी बहिष्कार, विदेशी चीज़ों का, कचहरी-अदालत का, सरकारी-नौकरियों का, सरकारी स्कूल कालेज का, कौंसिलों का, मशीनी चीज़ों का। उन सब चीज़ों का जिनकी मदद से विदेशी सत्ता यहाँ पर क़ायम है।

अच्छी बात हो चाहे बुरी, कहानियाँ आजकल इसी एक धुरी पर घूमती हैं

---

१ अस्थायी

क्योंकि दिलो-दिमाग़ में आजकल यही मसायल घूमा करते हैं — बड़ी बेचारगी के अन्दाज़ में और जैसे कुछ माफ़ी-सी माँगते हुए उन्होंने यह बात ताज साहब को लिखी थी। क़िस्सों में भी यही ख़यालात झलकते हैं। और अदबी रसायल[1] में उनकी गुंजाइश नहीं। अदबी रसायल में जिस बात और जिस तर्ज़े बयान की क़द्रदानी है उसमें मुंशीजी को मुतलक़ दिलचस्पी नहीं है। ज़मीन-आसमान के कुलाबे मिलानेवाली ख़याली बातें और उन्हें तोड़-मरोड़कर, उलझाकर, ढेरों रंग चढ़ाकर पेश करने का अन्दाज़ — इससे क्योंकर मेल खाये मुंशीजी का अपना ढंग जहाँ एक यों ही सादा मिज़ाज इस वक़्त और भी ज़्यादा सादगी के लिए कोशिश कर रहा हो ताकि उसकी बात ज़्यादा से ज़्यादा लोगों तक पहुँच सके। इसीलिए अपने उस ख़त में मुंशीजी ने ताज को लिखा — आजकल लाहौरी रिसालों में लिखते हुए तबीयत हिचकिचाती है। मैं वह ज़बान नहीं लिख सकता जिसका आजकल अक्सर रिसालों में नमूना नज़र आता है। इस रंग का उनसुर[2] है सीधी-सी बात को तशबीहात[3] और इस्तआरात[4] में बयान करना। मैं इस रंग की तक़लीद[5] से क़ासिर[6] हूँ। ताजवर साहब भी इसी रंग के मुक़ल्लिद[7] थे और मुआफ़ कीजिएगा हज़रत बिस्मिल भी इसके दिलदादा[8] नज़र आते हैं। ऐसे रंगीननवीसों को मेरी रूखी-फीकी तहरीर क्या पसन्द आयेगी। यह महज़ आपका इसरार है जिसने मुझे 'मख़ज़न' के लिए क़लम उठाने पर मजबूर किया।

मुंशीजी का अपना रंग है, अपनी राह है, और कहीं भटकाव नहीं है। असहयोग स्वराज्य के लिए है। उस स्वराज्य की तस्वीर दूसरे लोगों के दिमाग़ में साफ़ हो या न हो, गांधीजी ने भी उसे चाहे गोल-मोल ही रक्खा हो, मुंशीजी के मन में कोई दुविधा नहीं है — स्वराज्य का मतलब है किसान-मज़दूर जनता राज, कुछ वैसी ही चीज़ जैसी कि बोल्शेविकों ने अपने यहाँ क़ायम की है और उसको हासिल करने की पहली जो शर्त है किसान और मज़दूर की एकता, उसका मन्त्र भी हवा आकर उनके कान में फूँक गयी है।

और यह असहयोग और स्वराज्य दोनों कड़ियाँ हैं उस पुराने स्वप्न की, व्यवहार से स्वप्न तक का सेतु — स्वप्न वही पुराना जो दुनिया के सब ऋषियों का स्वप्न रहा है, कि मनुष्य अपनी क्षुद्रताओं से ऊपर उठकर देवत्व की ओर बढ़ सके और एक ऐसा मानव समाज बने जिसमें सब बराबर हों और कोई किसी का ख़ून नहीं चूस सकता। इस स्वप्न को चाहे जिस नाम से पुकार लो, मुंशीजी का इससे

---

१ साहित्यिक पत्रिकाओं २ तत्त्व ३ उपमाओं ४ रूपकों ५ अनुकरण ६ अक्षम ७ अनुसरण करनेवाले ८ प्रेमी

बहस नहीं है। यह नाम शायद सब ठीक होंगे — और सब उतने ही ग़लत। नाम के फेर में पड़ते ही क्यों हो? यह तो छिलका है, उसे छीलकर देखो अन्दर क्या है। हाँ अगर नाम के बिना तुम्हारा काम किसी तरह नहीं चलता तो लो मैं दो नाम देता हूँ — जनतावाद, साम्यवाद। जनतंत्र नहीं, उसमें धोखा है। सभी अपने को जनतंत्र कहते हैं लेकिन जनता उसमें कहाँ है? नाम अगर हो तो ऐसा होना चाहिए जिसमें किसी तरह के धोखे की गुंजाइश न रहे। लेकिन चीज़ का नाम दे देना ही तो काफ़ी नहीं है, उसका बिरवा लोगों के दिल में रोपना होगा। वह बातें लोगों के सामने आनी चाहिए, वैसे चरित्र आने चाहिए — और उनमें भी कहीं खोट की गुंजाइश हो, उसकी सफ़ाई होती चलनी चाहिए।

मारवाड़ी विद्यालय से अलग होते ही मुंशीजी ने कहानी लिखी 'हार की जीत'। उसका नायक शारदाचरण अपनी और अपने एक दोस्त की चर्चा करते हुए कहता है — हम दोनों ने ही एम॰ ए॰ के लिए साम्यवाद का विषय लिया था। (अपने उत्साह में कहानीकार को इसका भी ध्यान नहीं रहा कि हिन्दुस्तान के किसी विश्वविद्यालय में एम॰ ए॰ के लिए साम्यवाद का विषय नहीं लिया जा सकता) हम दोनों ही साम्यवादी थे। कैलाश के विषय में तो यह स्वाभाविक बात थी। उसका कुल बहुत प्रतिष्ठित न था, न वह समृद्धि ही थी जो इस कमी को पूरा कर देती। मैं ख़ानदान का ताल्लुक़ेदार और रईस था। मेरी साम्यवादिता पर लोगों को कुतूहल होता था। हमारे साम्यवाद के प्रोफ़ेसर बाबू हरिदास भाटिया साम्यवाद के सिद्धान्तों के क़ायल थे लेकिन शायद धन की अवहेलना न कर सकते थे। यह पुरानी कहानी है — वह साम्यवादी भी क्या जो साम्यवाद के सिद्धान्तों का तो क़ायल है मगर धन की पूजा से इनकार नहीं कर सकता। ऐसे सवाली भला सर्व खास लोगों से उनकी धन की दुश्मनी है, वह चाहे फिर किसी मज़हब के हों, किन्हीं सिद्धान्तों के माननेवाले हों।

प्रोफ़ेसर भाटिया की बेटी लज्जा ऐसी न थी, वह केवल सिद्धान्तों की भक्त न थी, उनको व्यवहार में लाना चाहती थी। शारदाचरण उसके प्रेम का भिखारी है लेकिन उसका झुकाव ग़रीब कैलाश की ओर है। शारदाचरण से लज्जा दो टूक बातें करती है —

मैं जानती हूँ कि इस समय तुम्हें कुल-प्रतिष्ठा और रियासत का लेशमात्र भी अभिमान नहीं है। लेकिन यह भी जानती हूँ कि तुम्हारा कालेज की शीतल छाया में पला हुआ साम्यवाद बहुत दिनों तक सांसारिक जीवन की लू और लपट को न सह सकेगा।

क्योंकि दिलो-दिमाग़ में आजकल यही ख़यालात घूमा करते हैं — बड़ी बेचारगी के अन्दाज़ में और जैसे कुछ माफ़ी-सी माँगते हुए उन्होंने यह बात ताज साहब को लिखी थी। किस्सों में भी यही ख़यालात झलकते हैं। और अदबी रसाइल[1] में उनकी गुंजाइश नहीं। अदबी रसाइल में जिस बात और जिस तर्ज़ बयान की क़द्रदानी है उसमें मुंशीजी को मुतलक़ दिलचस्पी नहीं है। ज़मीन-आसमान के कुलाबे मिलानेवाली ख़याली बातें और उन्हें तोड़-मोड़कर, उलझाकर, ढेरों रंग चढ़ाकर पेश करने का अन्दाज़ — इससे क्योंकर मेल खाये मुंशीजी का अपना ढंग जहाँ एक तो यों ही सादा मिज़ाज इस वक़्त और भी ज़्यादा सादगी के लिए कोशिश कर रहा हो ताकि उसकी बात ज़्यादा से ज़्यादा लोगों तक पहुँच सके। इसीलिए अपने उस ख़त में मुंशीजी ने ताज को लिखा — आजकल लाहौरी रिसालों में लिखते हुए तबीयत हिचकिचाती है। मैं वह ज़बान नहीं लिख सकता जिसका आजकल अक्सर रिसालों में नमूना नज़र आता है। इस रंग का उनसुर[2] है सीधी-सी बात को तशबीहात[3] और इस्तआरात[4] में बयान करना। मैं इस रंग की तक़लीद[5] से क़ासिर[6] हूँ। ताजवर साहब भी इसी रंग के मुक़ल्लिद[7] थे और मुआफ़ कीजिएगा हज़रत वेदिल भी इसके दिलदादा[8] नज़र आते हैं। ऐसे रंगीनबयानों को मेरी रूखी-फीकी तहरीर क्या पसन्द आयेगी। यह महज़ आपका इसरार है जिसने मुझे 'मख़ज़न' के लिए क़लम उठाने पर मजबूर किया।

मुंशीजी का अपना रंग है, अपनी राह है, और कहीं भटकाव नहीं है। असहयोग स्वराज्य के लिए है। उस स्वराज्य की तस्वीर दूसरे लोगों के दिमाग़ में साफ़ हो या न हो, गांधीजी ने भी उसे चाहे गोल-मोल ही रक्खा हो, मुंशीजी के मन में कोई दुविधा नहीं है — स्वराज्य का मतलब है किसान-मजूर अपना राज, कुछ वैसी ही चीज़ जैसी कि बोल्शेविकों ने अपने यहाँ क़ायम की है, और उसको हासिल करने की पहली जो शर्त है, किसान और मजूर की एकता, उसका मन्त्र भी हवा आकर उनके कान में फूँक गयी है।

और यह असहयोग और स्वराज्य दोनों कड़ियाँ हैं उस पुराने स्वप्न की, व्यवहार से स्वप्न तक का सेतु — स्वप्न वही पुराना जो दुनिया के सब ऋषियों का स्वप्न रहा है कि मनुष्य अपनी क्षुद्रताओं से ऊपर उठकर देवत्व की ओर बढ़ सके और एक ऐसा मानव समाज बने जिसमें सब बराबर हों और कोई किसी का ख़ून नहीं चूस सकता। इस स्वप्न को चाहे जिस नाम से पुकार लो मुंशीजी का इसमें

---

१ साहित्यिक पत्रिकाओं २ तत्व ३ उपमाओं ४ रूपकों ५ अनुकरण ६ असमर्थ ७ अनुकरण करनेवाले ८ प्रेमी

महत्व नहीं है। यह नाम शायद सब ठीक होंगे—और सब उतने ही ग़लत! नाम के फेर में पड़ते ही क्यों हो यह तो छिलका है, उसे छीलकर देखो अन्दर क्या है। हाँ अगर नाम के बिना तुम्हारा काम किसी तरह नहीं चलता तो लो मैं दो नाम देता हूँ—जनतावाद लोकवाद। जनतन्त्र नहीं उसमें तो धोखा है। सभी अपने को जनतंत्र कहते हैं लेकिन जनता उसमें कहाँ है! नाम अलगाऊ हो तो क्या ऐसा होना चाहिए जिसमें किसी तरह के धोखे की गुंजाइश न रहे। लेकिन चीज़ को नाम दे देना ही तो काफ़ी नहीं है, उसका चित्र लोगों के दिल में रखना होगा। यह बातें लोगों के सामने आनी चाहिए, ऐसे चरित्र आने चाहिए—और उसमें भी जहाँ खोट की गुंजाइश हो उसकी सफ़ाई होती चलनी चाहिए।

मारवाड़ी विद्यालय से अलग होने ही मुंशीजी ने कहानी लिखी, 'हार की जीत'। उसका नायक शारदाचरण अपनी और अपने एक दोस्त की चर्चा करते हुए कहता है— हम दोनों ने ही एम० ए० के लिए साम्यवाद का विषय लिया था। (अपने उत्साह में कहानीकार को इसका भी ध्यान नहीं रहा कि हिन्दुस्तान के किसी विश्वविद्यालय में एम० ए० के लिए साम्यवाद का विषय नहीं लिया जा सकता) हम दोनों ही साम्यवादी थे। केशव के विषय में तो यह स्वाभाविक बात थी। उसका कुल बहुत प्रतिष्ठित न था, न वह समृद्धि ही थी जो इस कमी को पूरा कर देती। मैं खानदान का ताल्लुकेदार और रईस था। मेरी साम्यवादिता पर लोगों को कुतूहल होता था। हमारे साम्यवाद के प्रोफ़ेसर बाबू हरिदास भाटिया साम्यवाद के सिद्धान्तों के क़ायल थे लेकिन शायद धन की अवहेलना न कर सकते थे। यह चुटकी ज़रूरी है—वह साम्यवादी भी क्या जो साम्यवाद के सिद्धान्तों का तो क़ायल है, मगर धन की पूजा से छुटकारा नहीं पा सका। एक ज़बानी जमा खर्च वाले लोगों से उनकी सदा की दुश्मनी है, वह चाहे फिर किसी धर्म के हों किन्हीं सिद्धांतों के माननेवाले हों।

प्रोफ़ेसर भाटिया की बेटी लज्जा एम० ए० थी, वह केवल सिद्धांतों की भक्त न थी, उनको व्यवहार में लाना चाहती थी। शारदाचरण उसके प्रेम का भिखारी है लेकिन उसका झुकाव ग़रीब केशव की ओर है। शारदाचरण से लज्जा दो टूक बातें करती है—

मैं जानती हूँ कि इस समय तुम्हें कुल-प्रतिष्ठा और रियासत का लेशमात्र भी अभिमान नहीं है। लेकिन यह भी जानती हूँ कि तुम्हारा वैभव की शीतल छाया में पला हुआ साम्यवाद बहुत दिनों तक सांसारिक जीवन की लू और लपट को न सह सकेगा।

इसके जवाब में शारदाचरण कहता है — जिन कारणों से मेरा साम्यवाद लुप्त हो जायगा क्या वह तुम्हारे साम्यवाद को जीता छोड़ेगा ?

कन्या साहस के साथ उत्तर देती है — हाँ, मुझे पूरा विश्वास है कि मुझ पर उनका जरा भी असर न होगा। मेरे घर में कभी रियासत नहीं रही और कुल की अवस्था तुम भलीभाँति जानते हो। मुझे वह दिन नहीं भूला है जब मेरी माता जीवित थीं और बाबूजी ग्यारह बजे रात को प्राइवेट ट्यूशन करके घर आते थे।

कहानी कमजोर है, आदर्शवादी ढंग से उसका समापन होता है, शारदाचरण कुछ रोज एक अमीर लड़की के प्रेम में भटक-भटकाकर आखिरकार त्याग और सेवा की इस मूर्ति कन्या के पास लौट आता है। मुंशीजी के कोश में त्याग और सेवा प्रेम के ही पर्यायवाची शब्द हैं। इससे ज्यादा वह कुछ नहीं जानते और न उन्होंने जानने की कभी कोशिश की। वह सभी उनके लिए अनजानी है, न प्रेम के प्रसंग जीवन में आये और न मुंशीजी अपने किस्से-कहानियों में कभी ढंग से उन्हें लिखा ही पाये।

संग्राम नाटक को उन्होंने कानपुर में ही शुरू कर दिया था, उस पर बराबर काम चल रहा था। १६ जून १९२२ के अपने खत में उन्होंने निगम साहब को लिखा था — आजकल एक ड्रामा लिखने में और अपने घर की तामीर में ऐसा मसरूफ हूँ कि कोई किस्सा लिखने का मौका न पा सका। लेकिन यह बात कुछ ठीक नहीं मालूम पड़ती क्योंकि जुलाई के महीने में उनकी दो बहुत छोटी और बहुत खूबसूरत कहानियाँ छपीं, एक का नाम था 'विध्वंस' और दूसरी का 'स्वत्वरक्षा'।

'विध्वंस' गाँवों में चलनेवाली बेगार प्रथा के विरुद्ध मुंशीजी की शापवाणी है। किसान अब जगह-जगह उसके विरुद्ध सिर उठाने भी लगा है। यह एक नयी वास्तविकता है जो मुंशीजी के इस गहरे विश्वास के साथ मिलकर कि गरीब की आह में कुछ अलौकिक शक्ति होती है यहाँ एक बहुत ही सजीव कहानी बन गयी है जिसमें धुन की पकड़ है —

जिला बनारस में बीरा नाम का एक गाँव है। वहाँ एक विधवा बुढ़िया सन्तानहीन गोंडिन रहती थी जिसका भुनगी नाम था। उसके पास एक धुर भी जमीन न थी और न रहने का घर ही था। उसके जीवन का सहारा केवल एक भाड़ था। गाँव के लोग प्रायः एक वेला चबैना या सत्तू पर निर्वाह करते ही हैं इसलिए भुनगी के भाड़ पर नित्य भीड़ लगी रहती थी। लेकिन जब एकादशी या पूरनमासी के दिन प्रथानुसार भाड़ न जलता या गाँव के जमींदार पंडित उदयभानु पाण्डे के दाने भूनने पड़ते उस दिन उसे भूखे ही सो रहना पड़ता था।

वह पंडितजी के गाँव में रहती थी इसलिए उन्हें उससे सभी प्रकार की बेगार लेने का पूरा अधिकार था। इसे अन्याय नहीं कहा जा सकता। अन्याय केवल इतना था कि बेगार सूखी लेते थे। उनकी धारणा थी कि जब खाने ही को दिया गया तो बेगार कैसी। किसान को पूरा अधिकार है कि बैलों को दिन भर जोतने के बाद शाम को खूँटे से भूखा बाँध दे। यदि वह ऐसा नहीं करता तो यह उसकी दयालुता नहीं है, केवल अपनी हितचिन्ता है। पण्डित जी को इसकी बहुत चिन्ता न थी क्योंकि एक तो भुनगी दो-एक दिन भूखी रहने से मर नहीं सकती थी और अगर मर भी जाती तो उसकी जगह दूसरा गोंड बड़ी आसानी से बसाया जा सकता था।

यह कुछ इस युग की ही बात है कि भुनगी के गले से भी आवाज़ फूटने लगी है — पण्डितजी कौन मेरी रोटियाँ चला देते हैं। कौन मेरे आँसू पोंछ देते हैं। अपना रकत जलाती हूँ तब कहीं दाना मिलता है। लेकिन जब तक झोंपड़ी पर सवार रहते हैं, इसीलिए न कि उनकी चार अंगुल धरती से मेरा निस्तार हो रहा है! क्या इतनी-सी ज़मीन का इतना मोल है? ऐसे कितने ही टुकड़े गाँव में बेकाम पड़े हैं कितनी ही बखरियाँ उजड़ी पड़ी हुई हैं। वहाँ तो केसर नहीं उपजती फिर भुनगी पर क्यों यह आठों पहर कोप रहता है।

आखिरकार पण्डितजी उससे चिढ़ जाते हैं। तब बुढ़िया के कुछ शुभचिंतक उसको समझाते हैं कि जाकर किसी दूसरे गाँव में क्यों नहीं बस जाती। बुढ़िया किसी तरह इस पर राजी नहीं होती — इस गाँव में उसने अपने जीवन के पचास वर्ष काटे थे। यहाँ के एक-एक पेड़-पत्ते से उसे प्रेम हो गया था। जीवन के सुख दुख इसी गाँव में भोगे थे। दूसरे गाँव के सुख से यहाँ का दुख भी प्यारा था।

मतलब यह कि वह नहीं जाती और फिर एक रोज़ ज़मींदार के गुर्गे जाकर उसकी भाड़ खोद डालते हैं। बुढ़िया फिर बनाती है और फिर उसे तोड़कर फेंक दिया जाता है। पंडितजी से रू-ब-रू उसकी हुज्जत-तकरार होती है और जब पण्डित जी उसे ज़ोरदार डाँटकर निकल जाने के लिए कहते हैं तो वह बुढ़िया भुनगी (नाम भी कैसा चुना है!) बिफरकर कहती है — क्या डाँटकर निकल जाऊँ? बारह साल खेत जोतने से असामी काश्तकार हो जाता है। मैं तो इस भाड़ में बूढ़ी हो गयी। मेरे सास-ससुर और उनके बाप-दादे इसी झोंपड़े में रहे। अब इसे यमराज को छोड़कर और कोई मुझसे नहीं ले सकता।

तब पण्डित जी उसकी पत्तियों के ढेर में आग लगवा देते हैं। भुनगी अपने भाड़ के पास उदासीन भाव से खड़ी यह लंकादहन देखती रहती है और फिर एकाएक उस अग्निकुण्ड में कूद पड़ती है। भुनगी तो जैसे मर ही जाती है पर उसी आग में सारा गाँव जलकर राख हो जाता है।

उन्माद में उसे तुच्छ समझकर कुछ न बोलता। अब क्या था टामी के भी बारह हो गये। वह मरकर नहीं जीते जी स्वर्ग पा गया।

थोड़े ही दिनों में पौष्टिक पदार्थों के सेवन से टामी की चेष्टा ही कुछ और हो गयी। उसका शरीर तेजस्वी और सुसंगठित हो गया। अब वह छोटे-मोटे जीवों पर स्वयं हाथ साफ करने लगा। जंगल के जन्तु अब चौंके और उसे वहाँ से भगा देने का यत्न करने लगे। टामी ने एक नयी चाल चली। वह कभी किसी पशु से कहता तुम्हारा फ़लाँ शत्रु तुम्हें मार डालने की तैयारी कर रहा है, कभी किसी से कहता फ़लाँ तुमको गाली देता था। जंगल के जंतु उसके चकमे में आकर आपस में लड़ जाते और टामी की चाँदी हो जाती। अंत में यहाँ तक नौबत पहुँची कि बड़े-बड़े जन्तुओं का नाश हो गया। छोटे-छोटे पशुओं को उससे मुकाबला करने का साहस न होता था। उसकी उन्नति और शक्ति देखकर उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगा मानों यह विचित्र जीव आकाश से हमारे ऊपर शासन करने के लिए भेजा गया है। टामी भी अब अपनी शिकारबाजी के जौहर दिखाकर उनकी इस भ्रान्ति को पुष्ट किया करता था। बड़े गर्व से कहता—परमात्मा ने मुझे तुम्हारे ऊपर राज्य करने के लिए भेजा है। यह ईश्वर की इच्छा है। तुम आराम से अपने घर में पड़े रहो। मैं तुमसे कुछ न बोलूँगा केवल तुम्हारी सेवा करने के पुरस्कारस्वरूप तुममें से एकाध का शिकार कर लिया करूँगा। आखिर मेरे भी तो पेट है बिना आहार के कैसे जीवित रहूँगा और कैसे तुम्हारी रक्षा करूँगा?

टामी को अब कोई चिन्ता थी तो यह कि इस देश में मेरा कोई मुद्दई न उठ खड़ा हो। वह नित्य सजग और सशस्त्र रहने लगा। वन के पशुओं से कहता—ईश्वर न करे कि तुम किसी दूसरे शासक के पंजे में फँस जाओ। वह तुम्हें पीस डालेगा। मैं तुम्हारा हितैषी हूँ सदैव तुम्हारी शुभकामना में मग्न रहता हूँ। किसी दूसरे से यह आशा मत रखो। पशु एक स्वर में कहते—जब तक हम जियेंगे आप ही के अधीन रहेंगे।

आखिरकार यह हुआ कि टामी को क्षण भर भी शान्ति से बैठना दुर्लभ हो गया। वह रात-रात और दिन-दिन भर नदी के किनारे इधर से उधर चक्कर लगाया करता। दौड़ते-दौड़ते हाँफने लगता बदम हो जाता मगर चित्त को शान्ति न मिलती। कहीं कोई शत्रु न घुस आये।

अंत में सातवें दिन अभागा टामी अधिकार-चिन्ता से ग्रस्त जर्जर और शिथिल होकर परलोक सिधारा। वन का कोई पशु उसके निकट न गया। किसी ने उसकी चर्चा तक न की किसी ने उसकी लाश पर आँसू तक न बहाये। कई दिनों

तक उस पर गिद्ध और कौए मँडराते रहे, अंत में अस्थिपंजरों के सिवा और कुछ न रह गया। ●

एक-एक कहानी जो इस समय क़लम से निकल रही है उसका संबंध किसी न किसी रूप में स्वराज्य के आंदोलन से है। 'सच्चा सिपाही' अपनी एक भी गोली बरबाद नहीं करता। 'चकमा' में विदेशी कपड़ों की दुकान पर धरना बैठा हुआ है, 'दुस्साहस' में शराब की दुकान पर। 'बौड़म' में भी यही सब स्वराज्य चर्चा है— बड़े लाट ने गांधी बाबा से यह कहा और गांधी बाबा ने यह जवाब दिया। अभी आप लोग क्या देखते हैं आगे देखिएगा क्या-क्या गुल खिलते हैं। पूरे पचास हज़ार जवान जेल जाने को तैयार बैठे हुए हैं। गांधीजी ने आज्ञा दी है कि हिन्दुओं में छूतछात का भेद न रहे नहीं तो देश को और भी दुर्दिन देखने पड़ेंगे। जिस आदमी को बौड़म का लक़ब दिया गया है उसका बौड़मपन यही है कि वह एक नेक सच्चा खुले दिमाग़ का निडर आदमी है सच का सच और झूठ को झूठ कहता है दाढ़ी-चोटी की हिमाक़त से पाक है और किसी की कलई खोलने में उसे आर नहीं है। मुसलमान है लेकिन उसके भीतर इतनी रवादारी है कि वह गाय की कुर्बानी के ख़िलाफ़ वावेला मचाता है और अपने घर में हुई कुर्बानी का प्रायश्चित इस तरह करता है कि अपनी सवारी का घोड़ा बेचकर तीन सौ फ़क़ीरों को खाना खिलाता है और तब से जब भी क़साइयों को गायें लिये जाते देखता है दो क़ीमत देकर उन्हें ख़रीद लेता है। इस तरह वह अब तक दस गायों की जान बचा चुका है। इतना ही नहीं यह भी उसका बौड़मपन ही है कि जहाँ दूसरे दौलत के बन्दे रात-दिन हिसाब-किताब नफ़ा-नुक़सान तेज़ी-मन्दी के सिवाय और कोई ज़िक्र नहीं करते वहाँ यह ख़ुदा का बन्दा ज़िन्दगी को इसके अलावा भी कुछ समझता है। वह अख़बार मँगाता है स्मर्ना फ़ण्ड में रुपये भेजना चाहता है ख़िलाफ़त फ़ण्ड की मदद करना अपना फ़र्ज़ समझता है। इतना ही नहीं ख़िलाफ़त का वालंटियर भी है। ऐसा आदमी बौड़म नहीं तो और क्या है! मगर काश आप ऐसे बौड़म मुल्क में और ज़्यादा होते! —कथावाचक कहता है— आज मुझे मालूम हुआ कि बौड़म देवताओं को कहा जाता है।

कहानी के रूप में यह पुष्पांजलि अपने भीतर बैठे हुए एक बौड़म आदमी को भी है— कुछ वैसी ही चीज़ जैसी 'जोश' और 'मरने के बाद' कहानियाँ भी मसलन खड़े होकर ख़ुद अपने से बातचीत ताकि अपने इरादे में कमज़ोरी न आय। प्रेस खोलना भी तो एक बौड़मपन ही था। (बाद के एक ख़त में २ अगस्त १९२४ को, उन्होंने निगम साहब को लिखा भी, वह बुरा वक़्त था जब मेरे मन में यह

उन्माद में उसे तुच्छ समझकर कुछ न बोलता। अब क्या था टामी के पौ बारह हो गये। वह मरकर नहीं जीते जी स्वर्ग पा गया।

थोड़े ही दिनों में पौष्टिक पदार्थों के सेवन से टामी की चेष्टा ही कुछ और हो गयी। उसका शरीर तेजस्वी और सुसंगठित हो गया। अब वह छोटे-मोटे जीवों पर स्वयं हाथ साफ करने लगा। जंगल के जन्तु अब चौंके और उसे वहाँ से भगा देने का यत्न करने लगे। टामी ने एक नयी चाल चली। वह कभी किसी पशु से कहता तुम्हारा फ़लाँ शत्रु तुम्हें मार डालने की तैयारी कर रहा है, कभी किसी से कहता फ़लाँ तुमको गाली देता था। जंगल के जंतु उसके चकमे में आकर आपस में लड़ जाते और टामी की चाँदी हो जाती। अंत में यहाँ तक नौबत पहुँची कि बड़े-बड़े जन्तुओं का नाश हो गया। छोटे-छोटे पशुओं को उससे मुकाबला करने का साहस न होता था। उसकी उन्नति और शक्ति देखकर उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगा मानों यह विचित्र जीव आकाश से हमारे ऊपर शासन करने के लिए भेजा गया है। टामी भी अब अपनी शिकारबाजी के जौहर दिखाकर उनकी इस भ्रान्ति को पुष्ट किया करता था। बड़े गर्व से कहता — परमात्मा ने मुझे तुम्हारे ऊपर राज्य करने के लिए भेजा है। यह ईश्वर की इच्छा है। तुम आराम से अपने घर में पड़े रहो। मैं तुमसे कुछ न बोलूँगा केवल तुम्हारी सेवा करने के पुरस्कारस्वरूप तुममें से एकाध का शिकार कर लिया करूँगा। आखिर मेरे भी तो पेट है बिना आहार के कैसे जीवित रहूँगा और कैसे तुम्हारी रक्षा करूँगा ?

टामी को अब कोई चिन्ता थी तो यह कि इस देश में मेरा कोई मुद्दई न उठ खड़ा हो। वह नित्य सजग और सशस्त्र रहने लगा। वन के पशुओं से कहता — ईश्वर न करे कि तुम किसी दूसरे शासक के पंजे में फँस जाओ। वह तुम्हें पीस डालेगा। मैं तुम्हारा हितैषी हूँ सदैव तुम्हारी शुभकामना में मग्न रहता हूँ। किसी दूसरे से यह आशा मत रखो। पशु एक स्वर में कहते — जब तक हम जियेंगे आप ही के अधीन रहेंगे।

आखिरकार यह हुआ कि टामी को क्षण भर भी शान्ति से बैठना दुर्लभ हो गया। वह रात-रात और दिन-दिन भर नदी के किनारे इधर से उधर चक्कर लगाया करता। दौड़ते-दौड़ते हाँफने लगता बेदम हो जाता मगर चित्त को शान्ति न मिलती। कहीं कोई शत्रु न घुस आये।

अंत में सातवें दिन अभागा टामी अधिकार-चिन्ता से ग्रस्त जर्जर और शिथिल होकर परलोक सिधारा। वन का कोई पशु उसके निकट न गया। किसी ने उसकी चर्चा तक न की किसी ने उसकी लाश पर आँसू तक न बहाये। कई दिनों

वक्त उस पर गिद्ध और कौए मँडराते रहे, अंत में अस्थिपंजर के सिवा और कुछ न रह गया। •

एक-एक कहानी जो इस समय कलम से निकल रही है उसका संबंध किसी न किसी रूप में स्वराज्य के आंदोलन से है। कलम का सिपाही अपनी एक भी गोली खराब नहीं करता। 'चकमा' में विदेशी कपड़ों की दुकान पर धरना बैठा हुआ है, 'दुस्साहस' में शराब की दुकान पर। 'बौड़म' में भी वही सब स्वराज्य-चर्चा है — बड़े लाट ने गांधी बाबा से यह कहा और गांधी बाबा ने यह जवाब दिया। अभी आप लोग क्या देखते हैं, आगे देखिएगा क्या-क्या गुल खिलते हैं। पूरे पचास हजार जवान जेल जाने को तैयार बैठे हुए हैं। गांधीजी ने आज्ञा दी है कि हिन्दुओं में छूतछात का भेद न रहे, नहीं तो देश को और भी अदिन देखने पड़ेंगे। जिस आदमी को बौड़म का खिताब दिया गया है उसका बौड़मपन यही है कि वह एक नेक सच्चा खुले दिमाग का निडर आदमी है, सच को सच और झूठ को झूठ कहता है, दाढ़ी-चोटी की हिमाकत से पाक है और किसी की खरी बोलने में उसे बाक नहीं है। मुसलमान है लेकिन उसके भीतर इतनी रवादारी है कि वह गाय की कुर्बानी के खिलाफ़ वावैला मचाता है और अपने घर में हुई कुर्बानी का प्रायश्चित्त इस तरह करता है कि अपनी सवारी का घोड़ा बेचकर तीन सौ फ़कीरों को खाना खिलाता है और तब से जब भी कसाइयों को गायें लिये जाते देखता है दो क़ीमत देकर उन्हें खरीद लेता है। इस तरह वह अब तक दस गायों की जान बचा चुका है। इतना ही नहीं यह भी उसका बौड़मपन ही है कि जहाँ दूसरे दौलत के बन्दे रात-दिन हिसाब-किताब, नफ़ा-नुकसान, तेजी-मन्दी के सिवाय और कोई ज़िक्र नहीं करते वहाँ यह खुदा का बन्दा ज़िन्दगी को इसके अलावा भी कुछ समझता है। वह अख़बार मँगाता है, स्मर्ना फ़ण्ड में रुपये भेजना चाहता है, खिलाफ़त फ़ण्ड की मदद करना अपना फ़र्ज़ समझता है। इतना ही नहीं खिलाफ़त का वालंटियर भी है। ऐसा आदमी बौड़म नहीं तो और क्या है! मगर काश आप ऐसे बौड़म मुल्क में और ज़्यादा होते! — कथावाचक कहता है — आज मुझे मालूम हुआ कि बौड़म देवताओं को कहा जाता है।

कहानी के रूप में यह पुण्यात्मा अपने भीतर बैठे हुए एक बौड़म आदमी की भी है — कुछ वैसी ही चीज़ जैसी 'जोश' और 'मरने के बाद' कहानियाँ भी — समय खड़े होकर खुद अपने से बातचीत ताकि अपने इरादे में कमज़ोरी न आये। प्रेस खोलना भी तो एक बौड़मपन ही था। (बाद के एक खत में २ अगस्त १९२४ को, उन्होंने निगम साहब को लिखा भी — यह बुरा वक्त था जब मेरे मन में यह

सौदाए-खाम[1] समाया।) पैसे से भेंट नहीं और भगवान जाने कभी होगी भी या नहीं लेकिन झंझटें[2] इतनी कि आदमी पागल हो जाय! और यह तमाम सरदर्द किसलिए? क्या इसीलिए कि दाल-रोटी का सहारा हो जाय? उसके तो और भी पचास रास्ते हैं। तो फिर क्या इसलिए कि दौलत कमायी जाय जागीर खड़ी की जाय? उसकी मुंशीजी को न तो हवस है और न मुंशीजी इतने नादान हैं कि यह समझें कि ऐसे टुटपुँजिये प्रेस से जागीर खड़ी की जा सकती है। असल बात यह है कि प्रेस देशसेवा के लिए खड़ा किया जा रहा है बहुत पुराना सपना है यह उनका लेकिन मुंशीजी इस बात को अपने मुँह से कहना नहीं चाहते और कहना तो दूर की बात है अपने तईं स्वीकार भी नहीं करना चाहते। इसीलिए बात को हर तरफ़ से ढाँप-तोपकर बिज़नेस की शकल में पेश करते हैं लेकिन वह खुद को धोखा देने की एक कोशिश से ज्यादा कुछ नहीं है। सच बात इतनी ही है कि अब वह किसी की गुलामी नहीं करना चाहते आज़ाद होकर घर बैठना चाहते हैं लिखना-पढ़ना चाहते हैं। प्रेस हो जायगा तो मेरी भी नमक-रोटी की सूरत हो जायगी गाँव के दस बीस लोगों की परवरिश का सिलसिला हो जायगा और फिर धड़ाधड़ निकलेंगी सस्ती-सस्ती किताबें निकलेंगी लोगों में जागृति पैदा होगी और भगवान जाने क्या-क्या होगा जो सब दीवानेपन की बातें हैं! अभी पहले प्रेस तो खड़ा हो। खुदा जाने किस क़यामत के दिन खड़ा होगा!

प्रेस का सामान कुछ कलकत्ते से आ रहा है टाइप मद्रास से आ रहा है मशीन विलायत से चल चुकी है मगर अब तक उसका कहीं पता नहीं! एक-दो परेशानी है पूरा दफ़्तर है परेशानियों का। मकान जो बन रहा है वह अलग एक जी का जंजाल है। ग़रीबी में आटा गीला इसी को कहते हैं।

होते-होते फ़रवरी १९२३ की १७ तारीख आ गयी लेकिन आज तक प्रेस नहीं आया। सितंबर के महीने में बुकशाप के पास रुपये रवाना किये गये थे। ४ अक्तूबर को जवाब और रसीद आ ही गयी थी। मालूम हुआ था उसने दो मशीनें रवाना की हैं। दोनों इस्पोर्ट थीं। लेकिन उनसे अब तक कोई ख़बर नहीं। १ फ़र्वरी को मायूस होकर फिर याददिहानी की गयी है। देखें कब तक पहुँचती हैं। टाइप वग़ैरह जमा कर लिया है और जमा करता जाता हूँ। लेकिन इस तूफ़ानी इन्तज़ार के बाइस[3] हौसला पस्त हुआ जाता है। रुपये की तो कोई कमी नहीं है। साढ़े छः हज़ार की रक़म हाथ में है। हाँ मेरा मकान तैयार हो गया और होली में उसे आबाद भी कर दिया जायगा।

---

१ पागलपन २ झंझटें ३ कारण

लेकिन प्रेस अब भी अधर में लटक रहा था। और साल पूरा होने आ रहा था।

आखिरकार २२ अप्रैल १९२१ के अपने खत में उन्होंने लिखा —

आज प्रेस के लिए मकान तय हो गया। मशीन आ गयी। टाइप, ब्लाक, लकड़ी के केस वगैरह पहुँच गये। उम्मीद है कि इस मई के महीने में प्रेस मुकम्मल तौर पर काम करने के काबिल हो जायगा। अब डिक्लेरेशन दाखिल करना रह गया है। सोमवार को दाखिल कर दूँगा। अभी तक नाम नहीं तजवीज कर सका। साहित्य प्रेस, सरस्वती प्रेस, प्रचार प्रेस वगैरह नाम जहन में हैं। आप भी कोई नाम तजवीज कीजिए क्योंकि नामों के इन्तखाब में आपको कमाल है।

सुबह को मुंशीजी ने यह खत लिखा और शाम की डाक से निगम साहब का एक छोटा-सा कार्ड मिला — उनका एक बच्चा जाता रहा।

साल भर पहले उनके यहाँ एक खुशी का मौका आया था, उनकी लड़की की शादी थी। अपने झमेलों के कारण मुंशीजी उसमें शरीक न हो सके थे और बाद को अपने खास असहयोगी रंग में एक हल्की-सी आपत्ति भी उन्होंने उठायी थी ३१ मई सन् २२ के अपने खत में —

मेरी बदनसीबी थी कि इस जश्न में शरीक न हो सका। एतराज सिर्फ एक है, आपने अंग्रेज हुक्काम की दावत नाहक की। बड़ा अफसोस। क्या अभी आपने शोहरतगंज, अमीनाबाद, सलीमपुर वगैरह के वाकये नहीं देखे? ऐसी हालत में अब हमदर्दी बेमौका है ख्वाह इससे अपना कितना ही जाती नफा क्यों न होता हो।

और उसके बाद साल भी न बीतने पाया कि बेचारे को यह भारी ग़म उठाना पड़ा। उन्हें पता था बच्चे का दाग कैसा होता है। ग़म होने पर आदमी दोस्त का सहारा ढूँढ़ता है — जिसके कंधे पर सिर रखकर वह बिना झिझक रो सके या उसके ग़म को बाँट सके, जितना एक इन्सान के लिए दूसरे का ग़म बाँटना मुमकिन है। मातमपुर्सी के लिए कहे गए रस्मी लफ्जों से उस वक्त काम नहीं चलता, उल्टे चिढ़ मालूम होती है।

मुंशीजी कोई यारबाज न थे। जिन्दगी में उन्होंने बहुत कम दोस्त बनाये लेकिन जो बनाये थे वह मुंशीजी के बिलकुल अपने थे। उनका दुःख-दर्द मुंशीजी का अपना दुःख-दर्द था और खुशी में चाहे वह एक बार शरीक न भी हों, अक्सर नहीं होते थे, मगर ग़म में शरीक होने के लिए सबसे पहले दौड़ते थे। मुंशीजी ने उसी दम जैसे अपने दोस्त के काँपते हुए हाथों और लड़खड़ाते हुए पैरों को सहारा देते हुए लिखा —

" कल सुबह एक खत लिखा। शाम को आपका कार्ड मिला जिसे पढ़कर निहायत सदमा हुआ। बीमारियाँ और परेशानियाँ तो जिन्दगी का खास्सा[1] है लेकिन बच्चे की हसरतनाक मौत एक दिलशिकन[2] हादसा[3] है और बर्दाश्त करने का अगर कोई तरीक़ा है तो यही कि दुनिया को एक तमाशागाह या खेल का मैदान समझ लिया जाय। खेल के मैदान में वही शख्स तारीफ़ का मुस्तहक़[4] होता है, जो जीत से फूलता नहीं और हार में रोता नहीं। जीते तब भी खेलता है और हारे तब भी खेलता है। हम सबके सब खिलाड़ी हैं मगर खेलना नहीं जानते। एक बाजी जीती, एक गोल जीता, हिप हिप हुर्रे के नारों से आसमान गूँज उठा, टोपियाँ आसमान में उछलने लगीं, भूल गये कि यह जीत दायमी फ़तह की गारंटी नहीं है, मुमकिन है कि दूसरी बाजी में हार हो। अलाहाज़ा[5] हारे तो पस्तहिम्मती पर कमर बाँध ली, रोये किसी को भले कि फ़ाउल खेला और ऐसे पस्त हो गये गोया फिर जीत की सूरत देखना नसीब न होगी। ऐसे ओछे तंगनज़र आदमी को मैदान में खड़ा होने का भी मजाज़ नहीं। उसके लिए गोशए तारीक[6] है और फ़िक्रे शिकम[7]। बस यही उसकी जिन्दगी की कायनात[8] है। हम क्यों खयाल करें कि हमसे ज़िन्दगी ने बेवफ़ाई की? खुदा का शिकवा क्यों करें? क्यों इस खयाल से मलूल[9] हों कि दुनिया हमारी नेमतों से भरी थाली को हमारे सामने से खींचे लेती है? क्यों इस फ़िक्र से मुतवहिश[10] हों कि तक़दीर हमारे ऊपर छापा मारने की ताक में है? जिन्दगी को इस गुफ़्तए निगाह से देखना अपने इत्मीनाने-क़ल्ब[11] से हाथ धोना है। बात दोनों तरह एक ही है। तक़दीर ने छापा मारा तो क्या हार में सारे घर की दौलत खो बैठे तो क्या? फ़र्क सिर्फ़ यह है कि एक जब्र है और दूसरा अख्तियार। तक़दीर ज़बरदस्ती माल पर हाथ बढ़ाता है लेकिन हार ज़बरदस्ती नहीं आती। खेल में शरीक होकर हम खुद हार और जीत को बुलाते हैं। तक़दीर के हाथों लुटे जाना ज़िन्दगी का मामूली हादसा नहीं है लेकिन खेल में हारना और जीतना मामूली बात है। जो खेल में शरीक होगा वह बखूबी जानता है कि हार और जीत दोनों ही सामने आयेंगी। इसलिए उसे हार से मायूसी नहीं होती, जीत से फूला नहीं समाता। हमारा काम तो सिर्फ़ खेलना है, खूब दिल लगाकर खेलना, खूब जी तोड़कर खेलना, अपने को हार से इस तरह बचाना गोया हम कौनैन[12] की दौलत खो बैठेंगे लेकिन हारने के बाद पटखनी खाने के बाद गर्द

---

१ विशेषता २ हृदयविदारक ३ दुर्घटना ४ अधिकारी
५ उसी तरह ६ अँधेरा कोना ७ पेट की चिन्ता ८ कुल पूँजी
९ दुःखी १० परीशान ११ हृदय की शान्ति १२ दोनों लोक

झाड़कर खड़ा हो जाना चाहिए और फिर ख़म ठोककर हरीफ़ से कहना चाहिए कि एक बार और!

खिलाड़ी बनकर आपको काफ़ी इतमीनान होगा। मैं ख़ुद इस मेयार[1] पर पूरा उतरूँगा या नहीं मगर कम से कम अबके पीछे किसी नुक़सान पर इतना रंज न होगा जितना आज से चंद साल क़ब्ल हो सकता था। मैं अब शायद न कहूँगा कि हाय ज़िन्दगी अकारथ गयी, कुछ न किया। ज़िन्दगी खेलने के लिए मिली थी, खेलने में कोताही की। आप मुझसे ज़्यादा जानते हैं। हार और जीत दोनों देखी हैं। आप जैसे खिलाड़ी के लिए शिकवए-तक़दीर[2] की ज़रूरत नहीं। कोई गोल्फ़ और पोलो खेलता है कोई कबड्डी खेलता है। बात एक ही है। हार और जीत दोनों ही मैदानों में हैं। कबड्डी खेलनेवाले को जीत की ख़ुशी कुछ कम नहीं होती। इस हार का ग़म न कीजिए। आपने ख़ुद ही न किया होगा। आप मुझसे मश्शाक़[3] हैं। मैं ५ या ६ तक कानपुर आनेवाला हूँ।

चौगाने हस्ती लिखी जा रही है। दुनिया खेल का मैदान है। रंगभूमि। समरभूमि। दोनों एक ही बात है। और चिट्ठी में प्रेमचंद की आत्मा ही नहीं बोल रही है शब्द भी वही हैं। जो हों, ये सच्चे शब्द हैं दिल से निकले हुए शब्द हैं और दिल को दिल से राह होती है। दूसरा आदमी जो अपने भीतर उस अनुभूति की सच्चाई का साक्ष्य न पाता शायद लिख भी न पाता ये शब्द ऐसे अवसर पर, एक तरह की बलोरता है उसमें बेरहमी जिसे दूसरा आदमी कुछ का कुछ समझ जा सकता है। लेकिन यही तो मुंशीजी की ख़ास अपनी बात है। तरल भावुकता से उनको घबराहट होती है। उनका आदर्श शायद वह पत्थर है जिसकी पारदर्शी तरलता उसके हृदयदेश में ही रहती है और ऊपर पत्थर का खोल रहता है। दास साहब को एक बार उन्होंने लिखा था—मैं लिटरेचर को मैस्कुलिन देखना चाहता हूँ। इन्द्रनाथ मदान को लिखा था—बँगला साहित्य को मैं बहुत पसन्द नहीं कर पाता। उसमें स्त्री-गुण अधिक है। निगम साहब को लिखा था—कायराना हिस मेरे अंदर शायद है ही नहीं।

एक ही बात है जिसे तीन तरह से कहा गया है और वह बात अकेले साहित्य की नहीं है पूरे आदमी की है उसके मिज़ाज की है—और कम से कम प्रेमचंद के यहाँ यह दोनों चीज़ें एक हैं। ख़ुद अपने बेटे के मरने पर अभी तीन साल पहले उन्होंने लिखा था— तक़दीर ने तो अपनी दानिस्त में सख़्त सज़ा दी होगी लेकिन मैं ख़ुश हूँ कि फ़िक्रों का आधा बोझ सर से दूर हो गया।

---

१ कसौटी २ तक़दीर की शिकायत ३ अनुभवी

होनी चाहिए। उनका अलग अपना परिवार था उसके साथ थे। ग़रज़ कि इसी हैस-बैस में महीने-बीस रोज़ का वक़्त निकल गया। लेकिन अन्त में भैया की इच्छा ही सबसे ऊपर रही और तय पाया कि २ जुलाई से प्रेस का काम शुरू होगा — लेकिन क्या खूब शुरू होगा और क्या किसी का जिगरा होगा जो ऐसे काम में हाथ डाले!

१८ जुलाई को मुंशीजी ने निगम साहब को लिखा —

● २० से प्रेस का काम शुरू होगा। मगर खाली हाथ। मेरे पास अब कुछ नहीं रहा। कुल आठ हज़ार का तख़मीना किया गया था। मैं ९० शायद ख़र्च कर चुका। अब कहाँ से लाऊँ। दोस्तों को तकलीफ़ देने के सिवा और कहाँ जाऊँ। ४ एक साहब से लिये। अगर आप १ दे सकें तो एक महीने के लिए कुछ सर हलका हो जाये। एक महीने में ग़ालिबन् कुछ आमदनी हो ही जायगी। शायद उस वक़्त तक बाबू रघुपत सहाय का मौक़ा फ़रोख़्त हो जाये। उसके बाद ही वह मुझे रुपये अदा करनेवाले हैं। मैंने तो आप पर बार न डालने के लिए इतना भी लिखा था कि आप माहवार सौ रुपये दे दें तो मैं मकान के किराये से सुबुकदोश[1] हो जाऊँ।

आपकी दरवपुरसात का अंदाज़ा कर रहा हूँ। जानता हूँ कि मकान की तरमीम में काफ़ी रक़म ख़र्च करना पड़ेगी। मगर मेरा मकान भी तो अभी पूरा नहीं हुआ सिर्फ़ गुज़र करने के क़ाबिल हो गया है। अभी एक हज़ार और लगें तो मुकम्मल हो। उसे मैंने ज़्यादा इत्मीनान के मौक़े के लिए टाल दिया है। और क्या अर्ज़ करूँ। अब मजबूर हो गया हूँ। अगर आपने इमदाद न की तो फिर क़र्ज़ लेना पड़ेगा। इसके सिवा और कोई चारा नहीं है। मेरे सामने साहब को आप जानते हैं। मेरी मजबूरी का अंदाज़ा महज़ इससे कर सकते हैं कि मैंने उस वक़्त खुदा से मदद माँगने से भी गुरेज़ न किया हालाँकि वहाँ क्या मिलना था जवाब तक न आया। ●

क्या खूब सारी जैबे-पूँजी प्रेस खड़ा करने में ही लग गयी अब उसे चलाने के लिए एक कौड़ी हाथ में नहीं। मकान के किराये तक के लिए इससे माँग उससे क़र्ज़ ले! यह प्रेस के दम से बचने की सूरत न थी और न यह चला। बाबू महताब राय के लिए प्रेस की मैनेजरी नयी चीज़ न थी। लेकिन अब तक इनका मतलब उम्होंने कर्मचारियों से काम लेना ही समझा था दूसरी ज़िम्मेदारियों के लिए दूसरे लोग रहते थे। अब प्रेस की सारी ज़िम्मेदारी उन्हीं पर आ पड़ी थी जो कि एक नयी चीज़ थी। काम लाओ उसे पूरा करके दो फिर उसके बिल की वसूली करो फिर उसका हिसाब रखो। खुद ही सब करो। ज़्यादा आदमी रखने की ताब न

---

[1] निश्चिन्त   [2] आशा पीडा

मुफ्त कहाँ। सब टण्टा पोशाक मामला था। अपना खर्च तक उसी में से निकालना पड़ता था। और फिर हिसाब के मामले में वह कच्चे भी थे — बावजूद इसके कि उन्होंने बुककीपिंग का इम्तहान पास किया था। लेकिन बुककीपिंग का इम्तहान पास करना एक बात है और हिसाब रखना दूसरी। ऊपर से काम की कमी। सैकड़ों छोटे प्रेसों में एक प्रेस और जुड़ गया था काम उसके लिए कहाँ रखा था!

पैसे की कमी। काम की कमी। घाटे पर घाटा होता रहा। और जैसे-जैसे घाटा होता रहा वैसे-वैसे साझेदारों में अनबन बढ़ती गयी और धीरे-धीरे यह नौबत आ गयी कि उन्हें अपनी पूँजी की चिन्ता सताने लगी और यह फ़िक्र हुई कि अपना पैसा लेकर निकल जाने में ही अब ख़ैरियत है।

प्रेस को खुले अभी एक साल भी पूरा नहीं हुआ था और सब साझेदार पगहा तुड़ाने लगे थे। २८ जून १९२४ को मुंशीजी ने निगम साहब को लिखा —

मेरे प्रेस की हालत अच्छी नहीं। साल भर पूरे हो चले मगर और सूद तो दरकिनार कोई ५ सौ रुपये का घाटा है। नातजुर्बेकारी से ऐसे आदमियों के काम हाथ में लिए गये जिनके पास कुछ न था। अब उनसे रुपया वसूल होना मुश्किल है। मुझे ख़ौफ़ है कि मेरे बड़े भाई साहब जिनके दो हज़ार दो सौ पचास रुपये लगे हुए हैं तर्क-ताल्लुक पर आमादा हो जायँगे। इधर बशीर महताब ने भी क़र्ज़ लेकर इतने ही रुपये लगाये थे। उन पर महाजन के सूद का तक़ाज़ा हो रहा है। वह भी अपने रुपये की वापसी की फ़िक्र में हैं। अगर मैं भी अपने रुपये की वापसी पर इसरार करूँ तो नतीजा मालूम है। सारा सामान इसके बाद इस की इमारत उड़ गयी है लेकिन उसे छोड़ देना इतना मुमकिन नहीं है बेचकर उसके पैसे साझेदारों में तक़सीम कर देने होंगे। मामला बिल्कुल इसी तरह बढ़ रहा है।

दस रोज़ बाद ८ जुलाई को उन्होंने लिखा —

इधर दो माह में यहाँ की हालत बहुत ख़राब हो गयी है। भाई साहब अब अपने रुपये की वापसी पर मुसिर[1] हो रहे हैं। टालमटोल कर रहा हूँ। बात यह है कि उन्होंने इधर चार सौ भी रुपये किसानों को क़र्ज़ दिये। उस पर उन्हें दो रुपये सैकड़ा माहवार सूद मिल रहा है। अब उन्हें प्रेस में रुपया फँसाना बेवकूफ़ी मालूम होता है। अगर कहता हूँ कि रुपया वापस नहीं हो सकता तो कहते हैं प्रेस छोड़ दो। हम लोगों ने उस वक़्त की उम्मीद दिलाकर (और हम नाम न लेते हैं को पूरी भी न बाक़ी न जा सके!) उनसे सवा दो हज़ार रुपये लिए थे। उन्हें —

१ इसरार करने २ भाग्य ३ भाग्यहीन ४ बेज़ार

भी नफे की थी (सोलहों आने!) हमारा उम्मीद के ख़िलाफ़ हुआ। (हैं! घाटा हुआ! यह कैसे!) चूँकि मेरी ही तहरीक[1] से उन्होंने रुपये दिये थे इसलिए वह मुझी को ज़िम्मेदार ठहराते हैं। (कितनी बेजा बात है!)

मगर नहीं इतने से ही बस नहीं है इस मुसीबत की दास्तान का —

भाई साहब के तक़ाज़ों ने मुझको बहुत अन्देशानाक[2] कर दी है। उनके रुपये अदा करके मैं बिलकुल तिहीदस्त[3] हो जाऊँगा। प्रेस रह जायगा। वह भला तो अच्छा है वर्ना ख़ुदा हाफ़िज़! एक और ख़सारे की सूरत निकल आयी (गोया इतनी काफ़ी न थीं!) मार्च में एक काग़ज़ काटने की मशीन मद्रास से मँगायी थी। पाँच सौ रुपये बिल्टी के दे दिये। माल अभी लापता है।

ग़रज़ कि मुंशीजी बुरे फँसे हैं इस बार।

पचीस रोज़ बाद फिर लिखा —

प्रेस मुझे इस क़दर परीशान कर रहा है कि मैं तंग आ गया हूँ। वह बुरा वक़्त था जब मेरे सर में यह सौदाए ख़ाम समाया। आपकी ख़िदमत में बक़ायादारों की यह फ़ेहरिस्त जो इस वक़्त मेरे सामने रक्खी हुई है इरसाल[4] कर रहा हूँ। देखिए। मेरी परेशानियों का सही अंदाज़ा आप कर सकेंगे। २२०२ बक़ाया पड़े हुए हैं और इसके वसूल होने में अभी न जाने कितनी देर है। इधर मुझ पर ५० टाइप के ८ काग़ज़ के और २ किराया मकान के उधार हैं। मैं तो मुतफ़र्रिक़[5] रक़म न जाने कब पाऊँगा पर मेरे तक़ाज़ेवाले कब चैन लेने देते हैं। दो किताबें शुरू आया की मगर उम्मीद के ख़िलाफ़ अभी तक एक किताब भी तैयार नहीं हुई। मैंने सोचा था कि सितम्बर-अक्तूबर तक दोनों किताबें तैयार हो जायेंगी। बक़ाया वसूल हो जायगा। किताबें बिक जायेंगी। रुपये की दिक़्क़त[6] 'दूर'[7] हो जायगी मगर वह सारे मंसूबे परीशान[8] हो गये। न किताबें तैयार हुईं और न बक़ाया वसूल हुआ बल्कि हर महीने में कुछ न कुछ बढ़ता ही गया। अभी कोशिश कर रहा हूँ कि किसी बुकसेलर से मुआमला करके यह सब छपी हुई जिल्दें लागत पर देकर अपने तक़ाज़दारों को अदा कर दूँ। बक़ायादारों से रफ़्ता-रफ़्ता वसूल होता रहेगा। हालाँकि इनमें से कम अज़ कम ९ 'बैड डेट' में गिने जायँगे। दर असल मैंने यह झंझट मोल लेकर अपनी जान आफ़त में फँसायी। नहीं तो मेरे खाने भर को बहुत काफ़ी था। इस तरह घर में लिखने का काम भी नहीं होता।

---

१ प्रेरणा २ चिन्ताजनक ३ ख़ाली हाथ ४ प्रेषित ५ फुटकर
६ कष्ट ७ दूर ८ तितर-बितर

ऐसी हालत में बाबू महताब राय से भी कुछ अनबन हुए बिना न रही यों कि यह भी सच है कि दोनों भाई एक दूसरे का बहुत लिहाज करते थे। लेकिन परिस्थितियाँ कुछ ऐसी बेढब थीं कि उनके बीच एक दीवार-सी खिंचती आ रही थी। एक को दूसरे से शिकायतें थीं जो कभी तो कलम की नोक पर उतर आतीं और अक्सर दिलों के भीतर घुमड़ती रहतीं। दोनों अपनी-अपनी जगह ठीक थे लेकिन अलग खड़े होकर देखो तो उनमें से कोई भी सोलहों आने ठीक नहीं था। सबसे बड़ी सच्चाई यह थी कि दोनों खाली हाथ थे और परिस्थिति की विवशता से संचालित हो रहे थे।

होते-होते यह नौबत पहुँची कि मुंशीजी ने लखनऊ से बाबू महताब राय को लिखा कि प्रेस बंद कर दो और जिसका जितना निकलता हो देकर यह टंटा खतम करो। इसके जवाब में बाबू महताब राय ने शायद लिखा कि प्रेस का बंद करना तो उसके हक में और भी बुरा होगा, सारे का सारा रुपया डूब जायगा। क्यों न हममें से एक उसको पूरी तरह अपने हाथ में लेकर चलाये और अगर आप मंजूर करें तो मैं उस पैसे को तैयार हूँ।

इसका जवाब देते हुए मुंशीजी ने लिखा—

प्रेस के मुताल्लिक तुमने जो तजवीज की वह मुझे बहुत पसन्द है। मैं भी यही चाहता हूँ कि प्रेस एक आदमी का हो जाय। मैंने तुमसे जो कहा था कि प्रेस बंद कर दो, उसके माने भी यही थे कि मैं साझे के रुपये को सूदी रुपया कर्ज समझकर कुछ अभी दे देता और कुछ बाद को और प्रेस का काम जारी रखता। बेचने का इरादा तो उस हालत में था जब मैं भी आमादा कर दूँ। उसमें नहीं कहा। लेकिन अब चूंकि तुमने खुद इसको अपना कर लेने का इरादा किया है, बहुत अच्छी बात है। मैं अभी अभी से तुम्हें इसकी इजाजत देता हूँ। लेकिन साझेदारों के रुपये का क्या होगा? इसके बारे में मुंशीजी ने लिखा—

अब यह देखो कि तुम्हें अगस्त तक कितने रुपय का इंतजाम करना पड़ेगा। भाई साहब की असल २२५ + सूद २७०—४९५ रुपया। रघुपति सहाय की असल २००० + सूद दस साल का १८००—कुल ३८०० । ४९५ + ४१८० —कुल मीजान ४७०० । क्या तुमने ४७०० का इन्तजाम कर लिया है? मासिक बनाने की जरूरत है। मैं साल भर तक रुपये का इंतजार कर सकता हूँ। सीधा पारसाल जुलाई में कुल ४५०० + ६३५ (तीन साल का सूद) यानी ५१३५ रुपये देने पड़ेंगे। यानी तुम्हें ४७०० + ५१३५—९८३५ का इन्तजाम करने की जरूरत है। मेरा शुमार अभी न करो। तब भी ४७०० का इंतजाम तो करना ही होगा। अगस्त तक तुम इसका इंतजाम कर सकते हो तो करो और अगर

किसी न तुम्हें मदद देने का यों ही वायदा कर लिया है तो उसके पोल में न आओ।

मैं इसके लिए भी तैयार हूँ कि तुम बलदेव भैया के रुपये मय सूद के वापस कर दो। इस तरह प्रेस में हम और तुम रह जायेंगे। रघुपतिसहाय का रुपया दस्तावेजी कर लिया जाय और उन्हें बाज़ आने सैकड़ा सूद हम लोग देते रहें। लेकिन उस हालत में हममें से कोई भी तनख्वाह न लेगा। काम हम भी करेंगे काम तुम भी करोगे। हम अगर खुद काम न करेंगे तो अपनी तरफ से एक आदमी रख देंगे जो प्रूफ देखेगा और दफ्तर का काम—मुलाज़िमों की हाज़िरी वगैरह हिसाब-किताब रखेगा। अगर यह सूरत पसंद न हो तो तुम सबको अलहदा करके प्रेस अपना कर लो। लेकिन जब तक रुपये मिलने की पूरी उम्मीद न हो वायदों पर न टालो।

बाबू महताब राय प्रेस तो लेना चाहते थे लेकिन साझेदारों को देने के लिए इतने रुपए कहाँ से लाते। एक बार इसके लिए भी हामी भरी कि कहीं से क़र्ज़ लेकर इन हिस्सेदारों का चुकता करें लेकिन फिर हिम्मत नहीं पड़ी। तब फिर इसके सिवा और क्या सूरत थी कि प्रेस को बेच दिया जाय। उस समय मुंशी जी ने प्रस्ताव किया कि बाज़ार में प्रेस का जो दाम लगता हो वह मैं देकर उसका अपना कर लूँ। उसके जवाब में बाबू महताबराय ने लिखा — बाज़ार में जब बेचना ही है तो जो दाम लगे मैं ही क्या न देकर ले लूँ आप ही क्यों लेंगे। जो बाज़ार में क़ीमत लगे उसमें से सबका वाजी देकर सब लोग तक़सीम कर लें और प्रेस मैं क्योंकि मैं बेरोज़गार हूँ।

मसाल का यह एक नया पहलू था जिसे मुंशीजी ने शायद सोचा भी न था। झुँझलाकर उन्होंने जवाब दिया — प्रेस तुम लो या मैं लूँ? जो ज़्यादा से ज़्यादा क़ीमत दे वही उसके लेने का अख़्तियार रखता है। अगर मैं सबसे ज़्यादा दूँगा मैं लूँगा तुम दोगे तुम लोगे कोई तीसरा देगा तीसरा लेगा। अगर तुम बेरोज़गार हो तो मैं कौन बारोज़गार हूँ। तुम भी बेकाम आदमी हो कलकत्ता-बम्बई की हवा खा सकते हो, मैं तो इस क़ाबिल भी नहीं हूँ। ख़ैर। बतलाओ कि तुम प्रेस की ज़्यादा से ज़्यादा क्या क़ीमत दे सकते हो। अगर मैं उससे ज़्यादा दूँगा तो मैं लूँगा वर्ना तुम।

बाबू महताब राय ने उनके ख़त का जवाब देते हुए लिखा —

आप ही बताइए आप क्या देंगे। अगर मैं पहले बता दूँ तो क्या मुझे और बढ़ने का डर होगा? क्या हमारी और आपकी बोली पर रास्ता है कि और लोगों की भी राय ली जायेगी?

मुंशीजी ने उस पर नोट लिया —

हाँ हाँ बोली है। आखिरी वक्त तक सबको बढ़ने का अख्तियार है। तुम जो कुछ कहो उससे मैं बढ़ूँगा फिर तुम बढ़ना फिर मैं बढ़ूँगा फिर तुम बढ़ना। बस यहाँ तक कोई आगे न बढ़ सके यहीं खातमा है।

और फिर नीलामी बोली बोली जाने लगी।

बाबू महताब राय ने रक़म लिखी	६००
मुंशीजी ने आगे बढ़कर लिखा	६५०
महताब राय आगे बढ़े	७००
मुंशीजी और भी आगे बढ़े	७५०
महताब राय ने और हिम्मत की	७७५
मुंशीजी भला कैसे पीछे रहते	७८०
महताब राय ने और जोर मारा	७९०
मुंशीजी कहाँ दबनेवाले थे	८००
इसी तरह बोली बढ़ती रही।	
आखिरी बोली बाबू महताब राय ने दी	९४०

मुंशीजी तो पहले ही मन में ठान चुके थे हरगिज हरगिज प्रेस को हाथ से जाने न दूँगा मेरी ही बोली ऊपर रहेगी प्रेस मैं ही लूँगा। ऐसे के साथ कोई कहाँ तक चलता। मुंशीजी ने एक सौ रुपया बढ़ाकर कहा ९५० और उसी पर ठाक हो गयी। प्रेस मुंशीजी का हो गया। जो चीज जुए की तरह शुरू की गयी थी उसका जुए जैसा ही यह अंत हुआ। प्रेस से पीछा छुड़ाने का यह एक मौका मिला था वह भी हाथ से निकल गया और मुंशीजी ने दुबारा यह जंजाल मोल लिया।

कई बरस बाद इस नीलामी का जिक्र करते हुए मुंशीजी ने १ जून सन् ३१ को यह दर्द भरा खत लिखा जिसे पढ़कर रोना भी आता है, हँसी भी —

• कल भाई साहब से बातचीत हो रही थी। उनसे मुझे यह मालूम करके कुछ हँसी भी आयी कुछ ताज्जुब भी हुआ कि तुम अभी तक उस नकली रुक्के को जो आज से छ-सात साल पहले मेरे यहाँ मेरे और तुम्हारे दरमियान हुआ था तमस्सुक की तरह महफूज़ रखे हुए मुझसे अपने रुपये के लिए एक रुपया सैकड़ा ब्याज की उम्मीद रखते हो।

जिस वक्त हमारे और तुम्हारे दरमियान यह नकली होड़ हुई थी न तुम्हारे पास रुपये थे और न मेरे पास। तुमने भी अगर मेरा हाफ़िज़ा गलती नहीं करता ९४० की बोली न ली थी। क्या तुम यह समझते हो कि उस वक्त अगर मैं ९४० पर राजी हो जाता तो तुम मेरे और रघुपत सहाय के हिस्से के रुपये इसी महीने में अदा कर देते? हरगिज नहीं। न तुम अदा कर सकते थे और न मैं ही इस काबिल

था कि तुम्हारे १९   राय को इसी पर्चे से अदा होते अदा कर देता। नतीजा
यह होता कि प्रेस तुम्हारी ही निगरानी में रहता और जिस तरह काम चलता था
उसी तरह चलता रहता। मेरा मंशा प्रेस को अपनी निगरानी में लेकर उसमें नफ़ा
करने का था। मुझे यकीन था कि मैं नफ़ा कर सकूँगा।   इन खयालों के असर
से ही मैंने तुम्हारे हाथ से इंतज़ाम लिया। वर्ना तुम भी जानते हो और मैं भी
जानता हूँ कि उस वक्त भी बाज़ार में प्रेस की क़ीमत इतनी किसी तरह से न हो
सकती थी।

अगर यह मान लिया जाय कि तुम रुपये अदा कर देते और तुम्हारे पास उस
वक्त ६ हज़ार रुपये मौजूद थे (हालाँकि यह गैर मुमकिन मालूम होता है) तब भी
तुमने प्रेस के लेने और देने की जो फ़र्द पेश की थी और जिसकी बिना पर मैंने तुम्हारे
रुपये चुका देने का इरादा किया था वह सही नहीं निकली। उसकी ज़्यादातर
रक़में ऐसी थीं जो वसूल न हो सकती थीं और न वसूल हुईं। और कई रक़में
उनमें से ऐसी छूट गयी थीं जो फ़ौरन अदा करनी पड़ीं।   अगर नावसूलशुदा
रुपये तुम्हारे नाम डाल दूँ और जो जायद मुझे तुम्हारे लगान के लिए देना पड़ा तो
तुम्हारा हिस्सा ही गायब हो जायगा।   इसलिए मुझे ताज्जुब होता है कि
तुम किस क़ानून या इंसाफ़ से अपने रुपए के सूद के हक़दार हो सकते हो। यह चक्कर
है कि तुम्हें प्रेस में फँसने और रुपया लगाने का अफ़सोस हो रहा है। मुझ भी हो
रहा है। भाई साहब को भी हो रहा है। रघुपतसहाय को भी हो रहा है। सबके
सब सर पर हाथ धरे रो रहे हैं। लेकिन तुमने कम से कम प्रेस से दो साल तनख्वाह
तो ली। ज़्यादा से ज़्यादा तुम्हारा सूद का नुक़सान हुआ जो आठ आने सैकड़ा के
हिसाब से छ माह का ७०   रुपया होता है। मेरे नुक़सान का अंदाज़ा करो।
मैंने दो साल तक प्रेस से एक पाई लिये बग़ैर काम किया और अपना कम से कम
पाँच सौ रुपया इसमें और लगाया जो हिसाब में मौजूद है। उसके बाद से आज तक
मैंने हज़ारों रुपये का काम प्रेस का किया। खुद अपनी किताबें प्रेस में छपवायीं।
आज भी अपनी किताबों की बिक्री से प्रेस चला रहा हूँ।   इस तरह मुझे तो
अलावा सूद के कोई ५   का नुक़सान हो चुका है और सूद भी जोड़ूँ तो १   हो
जाते हैं। गोया प्रेस लेकर मैंने ७   का नुक़सान उठाया। और मैं इसे हर्फ़
ब हर्फ़ सही साबित कर सकता हूँ। हिसाब प्रेस में मौजूद है। तुम्हारा नुक़सान
तो सिर्फ़ सूद का हुआ है, रघुपतसहाय को भी इतना ही नुक़सान हुआ। मगर अभी
तक सबर से बर्दाश्त किये जाते हैं। भाई साहब भी प्रेस की हालत से वाक़िफ़ हैं
और खामोश हैं। सब समझ गये हैं कि प्रेस चलाना मुश्किल थी और अगर तदबीर
से होते तो मिलते वर्ना डूब गये। मैं अपनी ज़िम्मेदारी को समझकर अब भी हर

तरह का नुकसान उठाता हुआ इसे कामयाब बनाने की फ़िक्र में पड़ा हुआ हूँ। बार-बार दौड़-दौड़ आता हूँ। हिसाब-किताब देखता हूँ। क्योंकि मेरे दिल में लगी हुई है कि किसी तरह नफ़ा हो और हिस्सेदारों को कुछ दे सकूँ। मैंने अगर बेईमानी की होती और कुछ खा गया होता तो हिस्सेदारों को मुझसे बदगुमानी होती। लेकिन मैंने तो प्रेस से पान तक नहीं खाया। मेरा कान्शस बिलकुल साफ़ है। जब तक मेरी जिन्दगी है मैं अपना नुकसान उठाता हुआ प्रेस के लिए जान देता रहूँगा और कामयाब होना तक़दीर में लिखा है तो कामयाब हूँगा।

तुम्हें नुकसान पहुँचाकर या तकलीफ़ में देखकर मुझे मसर्रत नहीं होती और न हो सकती है। तुम्हें खुशहाल देखकर मुझे खुशी होगी और उसका अन्दाजा तुम शायद न कर सको। अगर मैं इस काबिल होता कि तुम्हारी ज्यादा इमदाद कर सकता तो हरगिज़ दरेग़ न करता। लेकिन मुझे इस प्रेस ने बिल्कुल मुफ़लिस बना डाला। किताबों से मुझे जो कुछ मिल जाता था वह अब प्रेस की नज़र हो रहा है। अब मेरा इरादा है कि लखनऊ से आकर फिर प्रेस में बैठूँ और जिस तरह भी हो सके उसे कामयाब बनाऊँ। तुम चाहो तो अब भी इस काम में मदद दे सकते हो।
या तुम्हारे हिसाब में प्रेस से और जो कुछ तुम्हें अपने हिस्से में मिलना चाहिए वह ले लो। मेरे पास प्रेस की हर एक चीज़ का बीजक रखा हुआ है। इस बीजक को देखकर दो हजार की चीज़ें निकाल लो। चीज़ें बेशक पुरानी हो गयी हैं मगर उनका नफ़ा मैंने नहीं उठाया। न तुमने उठाया। यह समझ लो कि कारबार में नफ़ा नुकसान दोनों होता है और इसमें नुकसान हुआ। तुम्हारे दो हजार रुपये इस वक्त तुम्हारे पास होते तो तुम उससे एक छोटा साइज पूरा प्रेस खोल सकते थे। मेरे साढ़े चार हजार मेरे पास होते तो मैं उससे अच्छा प्रेस खोल सकता था। अगर हमने और तुमने बैंक में रख दिये होते तो तुम्हें अब तक एक हजार के करीब सूद मिल गया होता और मुझे भी दो-अढ़ाई हजार मिल गए होते। मैंने जो और हजारों का नुकसान उठाया उससे बच गया होता। लेकिन अब इन बातों को याद करके पछताने से क्या हासिल। अब तो गले की ढोल बजाना ही पड़ेगा। मैं तो इस प्रेस के पीछे बरबाद हो गया।

कहना होगा कि मुंशीजी ने गले की ढोल बजायी और जी तोड़कर बजायी लेकिन अभी उनको यह समझना बाकी था कि दुनिया में कुछ काम ऐसे भी हैं जो केवल भीष्म-प्रतिज्ञा के बल पर पूरे नहीं किये जा सकते। प्रेस चलाना भी उनमें से एक है। फटी हुई ढोल भी बहुत ही कर्कश बोलती थी, गर्दन कटी जा रही थी लेकिन मरते दम तक वह उसे बजाते रहे—इतनी-सी बात उनकी समझ में न आयी कि ढोल को गले से निकालकर फेंका भी जा सकता है! सरकार का सवाल

था न। क्या कहेंगे लोग प्रेस चलाना नहीं चला! जैसे कोई बड़ा गुनाह हो यह। नहीं चला नहीं चला, कौन-सी ऐसी बात है इसमें! लेकिन हर किसान की तरह मरजाद का कीड़ा भी उसके दिमाग में घुसा हुआ है।

आखिर एक दिन उनको भी अपनी गलती का एहसास हुआ जैसा कि पहले कभी नहीं हुआ था लेकिन तब तक ज़िन्दगी की सांस चुक आयी थी। १४ फरवरी सन् ३४ को उन्होंने जैनेन्द्र को लिखा—

सारी विपत्ति की जड़ तो यह प्रेस है। न जाने किस बुरी साइत में उसकी बुनियाद पड़ी थी। १ हजार रुपये ११ साल की मेहनत और परीशानियाँ अकारथ हो गयीं। इसी प्रेस के पीछे कितने मित्रों से बुरा बना कितनों से वादा खिलाफ़ी की कितना बहुमूल्य समय जो लिखने-पढ़ने में कटता बेकार प्रूफ़ देखने में कटा। मेरी ज़िन्दगी की यह सबसे बड़ी गलती है।

लेकिन यह सब तो अभी बरसों आगे की बातें हैं। अभी तो मुंशीजी अपने प्रेस के मकान पर निहाल हैं और वहाँ से प्रकृति की छटा निरख रहे हैं— मेरा प्रेस का मकान इतना अमीक़, शहर से मुलहिक़ और फिर इतना दूर और ऐसे मौक़े से है कि उससे बेहतर जगह बनारस में नहीं है। बिलकुल टाउन हाल और पार्क के मुत्तसिल। कमरे के दरवाज़े खोल दीजिए और पार्क का लुत्फ़ उठाइए। यह बात और है कि उसका किराया देने के लिए गाँठ में पैसे नहीं हैं जिससे तबीयत परीशान और झुँझलायी हुई-सी रहती है।

---

१ बड़ा २ लगा हुआ ३ पास

१६

चार महीने 'मर्यादा' की नौकरी, फिर साल भर काशी विद्यापीठ। पैर में चक्कर है, शहर-देहात एक किये बैठे हैं। नया मकान बन रहा है सो अलग से। वह भी कुछ न कुछ वक्त खाता ही है। और फिर उन सब पर भारी प्रेस का खटराग। एक-दो नहीं पूरी एक बैलगाड़ी। दम मारने की गुंजाइश नहीं है।

कलम थोड़ा सुस्त हो गया है इन सब झंझटों में। इससे बड़ी सजा मुंशीजी के लिए दूसरी नहीं है। कोई तकलीफ तकलीफ नहीं है जब तक कलम चल रहा है अच्छी तरह। कलम रुकते ही मन पर भारी-सी थकन लगती है। उसमें नागा नहीं होना चाहिए।

मारवाड़ी विद्यालय से इस्तीफा देने के पन्द्रह-सोलह रोज पहले ही चौरीचौरा का काण्ड हो चुका था और गांधीजी आन्दोलन को स्थगित करने की घोषणा कर चुके थे। मुंशीजी के सामने जन-जागरण की असली एक लम्बी योजना है जिसे इस सामयिक उलट-फेर से कुछ भी नहीं लेना-देना।

१४ फरवरी १९२३ के अपने खत में मुंशीजी ने दया साहब को लिखा था कि आजकल खुद भी एक ड्रामा लिखने की कोशिश कर रहा हूँ। यह उनका नाटक 'संग्राम' था जो कि शायद उनकी पहली बड़ी रचना थी जो पहले हिन्दी में लिखी जा रही थी। यह नाटक फरवरी सन् २३ में प्रकाशित हुआ।

असहयोग आन्दोलन की पृष्ठभूमि में नाटक लिखा जा रहा है और वही समस्याएँ इसमें चित्रित हैं। मन दूसरी किसी तरफ जाने के लिए तैयार नहीं है।

सबलसिंह जमींदार पक्के सुधारवादी आदमी हैं। बेगार न खुद लेते हैं और न कारिन्दों को लेने देते हैं। झगड़ों को निबटाने के लिए जगह-जगह पंचायतें खुलवाते रहते हैं। उनके खिलाफ़ अकेले हलधर को यही ख़ास शिकायत है। पंचायतों के कायम होने से उन्हें अपनी मौत की घंटी बजती सुनाई पड़ती है। उधर सबलसिंह कहते हैं—अदालतें गरीबों के अन्याय की पोषक हैं। जहाँ रुपया के द्वारा फरियाद की जाती हो वहाँ गरीबों की कहाँ पैठ। यह अदालत नहीं न्याय की बलिवेदी है। इसलिए ज़रूरी है कि पंचायतें बनायी जायें। पंचायतों के खिलाफ़

कोई भी दलील सुनने को वह तैयार नहीं है। यह आक्षेप किया जाता है कि पंचायतें यथार्थ न्याय न कर सकेंगी पंच लोग मुँहदेखी करेंगे और वहाँ भी सबलों की ही जीत होगी। बहुत तगड़ा धक्का है जिसकी सच्चाई आज प्रकट हो रही है लेकिन इसका जवाब भी उसी समय मुंशीजी के पास मौजूद था—स्थायी पंच न रखे जायें। जब जरूरत हो दोनों पक्षों के लोग अपने-अपने पंचों को नियत कर दें।

किसानों को जगाने की सारी बातें यहाँ मौजूद हैं। जमींदारों की हारी-बेगारी पुलिस का जुल्म अमलों की घूसखोरी झूठे मुकदमे और उनकी झूठी शहादतें जिनमें गवाहों को तोतों की तरह उनका सबक रटाया जाता है अदालतबाजी के नाम पर मनमानी लूट मुरव्वती कहकर किसी को भी कानून के जाल में फाँस लेना—सब कुछ जैसे रूप धरकर यहाँ कागज पर उतर आया है।

किसानों की एक बड़ी बीमारी है कर्ज लेना। उसके बारे में सबलसिंह के छोटे भाई कंचनसिंह जो महाजनी करते हैं और जिन्हें उनके भाई का आदेश है कि सूद कम लिया करो हलधर को इन शब्दों में सिखाते हैं—

किसान ने खेत में पौधे लहराते हुए देखे और उसके पेट में चूहे कूदन लगे। नहीं तो ऋण लेकर शादी करने या गहने बनवाने का क्या काम इतना सब नहीं होता कि अनाज घर में आ जाय तो यह सब मंसूबे बाँधें। मुझ रुपयों का सूद दोगे नजराना दोगे मुनीमजी की दस्तूरी अलग दस के आठ लेकर घर जाओगे लेकिन यह नहीं होता कि महीने-दो महीने रुक जायँ। तुम्हें तो इस घड़ी रुपये की धुन है कितना ही समझाऊँ, ऊँच-नीच सुझाऊँ, मगर कभी न मानोगे। रुपये न दूँ तो मन ही मन गालियाँ दोगे और किसी दूसरे महाजन की चिरौरी करोगे।

सबलसिंह गाँववालों को मैजिक लैंटर्न से तसवीरें भी दिखाते हैं। बड़े सूक्ष्म ढंग से यह दृश्य आया है—

● (पहला चित्र—कई किसानों का रेलगाड़ी में सवार होने के लिए धक्कम धक्का करना बैठने का स्थान न मिलना खड़े रहना एक कुली का जगह के लिए घूस देना उसका इनको एक मालगाड़ी में बैठा देना। एक स्त्री का छूट जाना और रोना। गार्ड का गाड़ी का न रोकना।)

हलधर—बेचारों की कैसी दुर्गति हो रही है। वो लात-घूँसे चलने लगे। सब मार खा रहे हैं।

फत्तू—यहाँ भी घूस लिये बिना नहीं चलता। किराया दिया घूस ऊपर से। लात-घूँसे खाये ऊपर से। कहीं जगह भी मिलती नहीं। बड़ा अन्धेर है।

(दूसरा चित्र—गाँव का पटवारी खाट पर बस्ता खोले बैठा है। कई किसान आस-पास खड़े हैं। पटवारी सभी से मालाना नजर वसूल कर रहा है।)

हलधर — लाला का पेट तो फूल के कुप्पा हो गया है। चुटिया इतनी बड़ी है जैसे बैल की पगहिया!

फत्तू — इतने आदमी खड़े गिड़गिड़ा रहे हैं पर सिर नहीं उठाते मानो कहीं के राजा हैं! अच्छा पेट पर हाथ धरकर लेट गया। पेट अफर रहा है बैठा नहीं जाता। मुट्ठी बजाकर दिखाता है कि भेंट लाओ। देखो एक किसान कमर से रुपया निकालता है। मालूम होता है बीमार रहा है, बदन पर मिर्जई भी नहीं है, चाहे तो छाती के हाड़ गिन लो। वाह मुंशी जी! रुपया फेंक दिया मुँह फेर लिया अब बात न करेंगे। जैसे बँदरिया रूठ जाती है और बन्दर की ओर पीठ फेरकर बैठ जाती है। बेचारा किसान कैसा हाथ जोड़कर मना रहा है, पेट दिखाकर कहता है भोजन का ठिकाना नहीं लेकिन लाला साहब कब सुनते हैं।

हलधर — बड़ी मक्कार जात है।

(तीसरा चित्र — थानेदार साहब गाँव में एक खाट पर बैठे हैं। चोरी के माल की तहकीकात कर रहे हैं। कई कान्सटेबुल वर्दी पहने हुए खड़े हैं। घरों में खानातलाशी हो रही है। घर की सब चीजें देखी जा रही हैं। जो चीज जिसको पसन्द आती है उठा लेता है। औरतों के बदन पर के गहने भी उतरवा लिये जाते हैं।)

फत्तू — इन जालिमों से खुदा बचाये!

एक किसान — आये हैं अपने पेट भरने। बहाना कर दिया कि चोरी के माल का पता लगाने आये हैं।

फत्तू — अल्ला मियाँ का कहर भी इन पर नहीं गिरता। देखो बेचारे की खानातलाशी हो रही है।

हलधर — खानातलाशी काहे की है, लूट है। उस पर लोग कहते हैं कि पुलिस तुम्हारे जान-माल की रच्छा करती है। •

बलराज की आग सीने में भड़क रही है, जैसे वह यही आग औरों के सीने में भी भड़का दे। जब तक किसान विद्रोह नहीं करेगा इस देश में कुछ नहीं होगा।

अपनी तरफ से नमक-मिर्च लगाने की कोई जरूरत नहीं है बस एक बड़ा-सा आईना उठाकर उनके सामने रख देता है — देख लो इसमें अच्छी तरह अपनी तसवीर। बुढ़िया सलोनी पुरानी बातों को याद करती हुई राजेश्वरी से कहती है —

बेटी तुम्हारे जमाने में अब मेरा पेट न भरेगा। मेरा पेट भरता था जब रुपये का पसेरी भर घी मिलता था। अब तो पेट ही नहीं भरता। चार पसेरी

अनाज पीसकर चौथ पर से उठती थी। चार पसेरी की रोटियाँ पकाकर चौके से निकलती थी। अब बहुएँ आती हैं तो चूल्हे के सामने जाते उनको ताप चढ़ आती है, चक्की पर बैठते ही सिर में पीरा होने लगती है। काम को तो मिलता नहीं बल-बूता कहाँ से आये। न जाने उपज ही नहीं होती कि कोई ढो ले जाता है। बीस मन का बीघा उतरता था। बीस रुपये भी हाथ में आ जाते थे तो पचाई बैलों की जोड़ी द्वार पर बँध जाती थी। अब देखने को रुपये तो बहुत मिलते हैं पर ओले की तरह देखते-देखते गल जाते हैं।

यह सब ठेठ किसान हैं जो आपस में अपने दुख-दर्द की बातें कर रहे हैं। उन्हीं के बीच एक ठेठ किसान और भी है जो बैठा हुआ सबके कान में कुछ मंतर फूँकता रहता है। उसने एक रोज हल की मूठ नहीं पकड़ी पर वह सोलहों आने किसान है। लोग उससे देश का हाल पूछते हैं, मुंशीजी उनसे उन्हीं का हाल पूछते हैं विवाह-कारबार के लिए दूर निकल जाते हैं लौटते समय रास्ते में किसी बाबा-का है किसी भाई-भतीजे से रामराम होती है, हालचाल पूछा जाता है, कहीं कि खेत की मेड़ पर बैठकर कुछ लम्बी चर्चा भी हो लेती है कुछ सुखे-दुखे का द कुछ देश-दुनिया का हाल। पुरवट पर बैठकर बातचीत और भी ढंग से होती यार-दोस्त भी उनके जो हैं किसानों में ही। अक्सर शाम को निकल जाते हैं उस। तरफ़। फिर नीम या महुआ की छाया में खटिया पर बैठकर घंटों बातचीत होती है, जब तक घर से बुलावा नहीं आता। मुंशीजी खुद कम बोलते हैं। बात छेड़कर चुपचाप बैठे सुनते रहते हैं।

सज्जनसिंह 'डिमाक्रेसी' नाम का कोई ग्रंथ पढ़ रहे हैं जिसमें यह बात लिखी है — हम अभी जनसत्तात्मक राज्य के योग्य नहीं हैं कदापि नहीं हैं। अमरीका फ्रांस इंग्लिस्तान जर्मनी आदि देशों में बड़े समारोह से इसकी व्यवस्था की पर उनमें से किसी को भी सफलता नहीं हुई। वहाँ अब भी धन और संपत्तिवालों के ही हाथों में अधिकार है। प्रजा अपने प्रतिनिधि कितनी ही सावधानी से क्यों न चुने पर अन्त में सत्ता गिने-गिनाये आदमियों के ही हाथों में चली जाती है। सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था ही ऐसी दूषित है कि जनता का अधिकार मुट्ठी भर आदमियों के वशवर्ती हो गया है। जनता इतनी निर्बल इतनी अज्ञान है कि इन शक्तिशाली पुरुषों के सामने सिर नहीं उठा सकती। आदर्श व्यवस्था यह है कि सब के अधिकार बराबर हों कोई जमींदार बनकर कोई महाजन बनकर जनता पर रोब न जमा सके। यह ऊँच-नीच का दूषित भाव उठ जाये।

बोलशेविक क्रान्ति का बीज मुंशीजी के मन में गहरे जाकर बैठा है। अब से

तीन बरस पहले मुंशीजी ने निगम साहब को जो यह बात लिखी थी कि 'अब मैं क़रीब-क़रीब बोलशेविस्ट उसूलों का क़ायल हो गया हूँ', वह कोई क्षणिक उबाल नहीं था। उसकी मोटी-मोटी बातें मुंशीजी के मन में गहरे समा गयी हैं।

कुछ डाकू आपस में बातें कर रहे हैं। एक कहता है —

कुकरम क्या हमीं करते हैं? यही कुकरम तो संसार कर रहा है। सेठजी रोज़गार के नाम से डाका मारते हैं, अमले घूस के नाम से डाका मारते हैं, वकील मेहनताना के नाम से डाका मारता है। पर उन डकैतों के महल खड़े हैं, हवा गाड़ियों पर सैर करते फिरते हैं, पेचवान लगाये मखमली गद्दियों पर पड़े रहते हैं। सब उनका आदर करते हैं, सरकार उन्हें बड़ी-बड़ी पदवियाँ देती है। हमीं लोगों पर विधाता की निगाह क्यों इतनी कड़ी होती है?

दूसरा जवाब देता है —

काम करने का ढंग है। वह लोग पढ़े-लिखे हैं, इसलिए हमसे चतुर हैं। कुकरम भी करते हैं और मौज भी उड़ाते हैं। वही पत्थर मन्दिर में पुजता है और वही नालियों में लगाया जाता है।

मुंशीजी ने वर्तमान समाज-व्यवस्था से पूरी तरह विद्रोह कर दिया है। दूसरे स्वराज्यवादियों के मन में स्वराज्य की तस्वीर भले साफ़ न हो, इस आदमी के मन में आईने की तरह साफ़ है। उसके लिए स्वराज्य का मतलब है इस अन्यायपूर्ण समाज-व्यवस्था में आमूल परिवर्तन — अंग्रेज़ी अमलदारी से मुक्ति केवल उसकी पहली कड़ी है। उतने मात्र से सन्तुष्ट हो जानेवाला जीव वह नहीं है — जब कि स्थिति यह है कि अंग्रेज़ी पराधीनता से सम्पूर्ण मुक्ति की बात सोचनेवाले भी अभी देश में कम ही हैं, उससे आगे की समाज-रचना तो बहुत दूर की बात है। हर आदमी का सपना अपना-अपना है, अलग अपना रास्ता। स्वराज्य का मतलब सब अपने-अपने ढंग से समझते-समझाते हैं, तो फिर मुंशीजी ही क्या इस अधिकार से वंचित रहें। यही उनकी सारी क्रान्ति है — जनता की जगामी उन मानव अधिकारों के लिए जिन्हें तुम सत्य समझते हो, न्यायपूर्ण समझते हो ताकि स्वराज्य के नाम से अब भी वह दिन आये कोई धनवली अन्यायी जीव लोगों का न पनपाई पा सके।

स्वाधीनता का संग्राम चल रहा था। क्या हुआ जो अभी कुछ दिनों से बन्द था। कल फिर होगा। यह तो ज़रूर ही है। उस संग्राम में सबको हिस्सा लेना है, जिससे जैसे बन पड़े। मुंशीजी अपने क़लम के ज़ोर से उसमें हिस्सा लेते हैं। इस संग्राम के जो सैनिक हैं, साधारण किसान मेहनतकश, उनको जगाना, उनकी बुद्धि को, विवेक को, पौरुष को — यह भी तो एक ज़रूरी काम है और शायद सबसे

चाकरी। यह खुद प्रेमचन्द हैं जो नाटक के खत्म होते-होते हलधर के मुँह से इन शब्दों में हमारे पौरुष को ललकारते हैं—

जिस आदमी के दिल में इतना अपमान होने पर भी क्रोध न आये, मरने मारने पर तैयार न हो जाये, उसका खून न खौलने लगे, वह मर्द नहीं हिजड़ा है। हमारी इतनी दुर्गत क्यों हो रही है? जिसे देखो वही हमें चार गालियाँ सुनाता है, ठोकर मारता है। क्या अहलकार, क्या जमींदार सभी कुत्तों से नीच समझते हैं। इसका कारण यही है कि हम बेहया हो गये हैं, अपनी चमड़ी को प्यार करने लगे हैं। हममें भी गैरत होती, अपने मान-अपमान का विचार होता तो मजाल थी कि कोई हमें तिरछी आँखों से देख सकता। दूसरे देशों में सुनते हैं गालियों पर लोग मारने-मरने को तैयार हो जाते हैं। वहाँ कोई किसी को गाली नहीं दे सकता। यहाँ क्या है, लात खाते हैं, जूते खाते हैं, घिनौनी गालियाँ सुनते हैं, धर्म का नाश अपनी आँखों से देखते हैं, पर कानों पर जूँ नहीं रेंगती, खून जरा भी गर्म नहीं होता, चमड़ी के पीछे सब तरह की दुर्गत सहते हैं। जान इतनी प्यारी हो गयी है। मैं ऐसे जीने से मौत को हजार दर्जे अच्छा समझता हूँ। बस यही समझ लो कि जो आदमी प्राण को जितना ही प्यारा समझता है, वह उतना ही नीच है।

प्रेस और नये मकान में से कोई अभी साफ़ नहीं हुआ है। हर रोज एक नया झमेला सामने आता है। इस सबमें उनका लिखना-पढ़ना अपने हिसाब से काफ़ी कम हो गया है, लेकिन यों कम नहीं है। एक दर्जन के करीब कहानियाँ (जिनमें से अधिकांश सुराजी कहानियाँ हैं) और एक बड़ा सुराजी नाटक, सब इसी दौर में इन्हीं झमेलों के बीच लिखे हैं। लिखे बिना उन्हें चैन भी तो नहीं मिलता। एक दिन का भी नागा उन्हें बहुत मालूम होता है, एक आरी-सी चल जाती है कलेजे पर। उस रोज उन्हें कुछ अच्छा नहीं लगता और तबीयत अलसायी हुई रहती है। छोटी-छोटी-सी बातों पर जिन्हें यों हँसकर टाल देने की उनकी आदत है, झुँझला पड़ते हैं। हाँ कलम चलता रहे तो फिर सब ठीक है।

ताहम वक्त तो इन सब झंझटों में जाता ही था और अपने हिसाब से उन्होंने काफ़ी काम नहीं किया था। प्रेमाश्रम—जैसा कोई उपन्यास अब तक आ जाना चाहिए था। डेढ़ बरस से ऊपर हो गया था उसको पूरा किये। इधर कुछ दिनों से एक लड़का अक्सर दिखायी पड़ता है। उसके चेहरे-मोहरे, चाल-ढाल में कुछ खास बात है। उसे देखकर एक उपन्यास की रूपरेखा मन में बन रही है। बड़ा उपन्यास होगा।

१ अक्तूबर १९२२ को मुंशीजी ने निगम साहब को लिखा —

प्रेस का सामान कुछ कलकत्ते से मँगवाया। टाइप का आर्डर ▪ दिया है मगर मशीन अभी तक नहीं मिली। प्रेस खुला और मैं घर बैठा। लाला साहब तशरीफ़ लाये हुए हैं। उनके खानदान में बाहमी जंग शुरू हो गयी। भाई-बन्दों में उनकी तनहाखोरी¹ न बर्दाश्त हो सकी। अब बटवारे का मसला दरपेश है। मेरे मकान में इस्टेन्ड हो रहा है। जन्माष्टमी क़रीब आ रही है। मुसम्मम इरादा है कि इस तातील में आपसे मुलाक़ात करूँ। ज़िन्दगी का एतबार नहीं। रस्म मुलाक़ात क़ायम रहे तो बेहतर। आप तो कब्ज़ हैं। गैर प्यासे कुएँ पर खींचे जाते हैं कुआँ नहीं दौड़ा आता। बारिश ने नाक में दम कर दिया। फ़स्ल को भी नुक़सान पहुँचा। और फिर वह सबसे बड़ी ख़बर जो उन्हें अपने दोस्त को देनी है — आपको यह सुनकर खुशी होगी कि प्रेमाश्रम की १ जिल्दें निकल गयीं। अब दूसरे एडीशन की तैयारी है।

तबीयत में ऐसा उभार आया इस ख़बर से कि मुंशीजी ने उसी रोज़ बिल्कुल उसी रोज़ १ अक्तूबर १९२२ को चौगाने हस्ती (रंगभूमि) पर काम शुरू कर दिया।

---

१ अकेले अकेले खाना २ पहरा ३ अथक लागा

१७

१ अक्तूबर सन् २२ को लिखना शुरू हुआ और १ अप्रैल सन् २४ को 'रंगभूमि' का उर्दू मसौदा 'चौगाने हस्ती' के नाम से खत्म हुआ।

कोई इसे गुण माने चाहे दोष सामयिकता मुंशीजी के कृती मन की प्रधान वृत्ति है। मुंशीजी वर्तमान में जीते हैं और वर्तमान के लिए ही लिखते हैं। इसीलिए कि उन्हें भविष्य की चिन्ता है। वर्तमान को फलाँगकर भविष्य में नहीं पहुँचा जा सकता। वर्तमान को छोड़ते ही भविष्य की स्थिति आकाशकुसुम की हो जाती है जो कभी नहीं फूलती। वर्तमान ही भविष्य का आधार है, उसकी खाद-मिट्टी और भविष्य ही वर्तमान की सहज दिशा है उसका गंतव्य। काल सनातन है अनन्त है — वैसे ही जैसे मनुष्य और उसका सुख-दुख। वह तो एक निरन्तर बहती हुई धारा है आदि से अनन्त को — तुम जो मर्यादित हो दिशा से काल से भर लो उससे अंजुली और सूर्य को नमस्कार कर पुनः समर्पित कर दो उस धारा में प्रवाह को शान्त मन से अचंचल मन से तैरा दो उन्हीं लहरों पर अपना भी एक छोटा-सा दिया पहुँच जायगा तुम्हारा नैवेद्य भविष्य-देवता को। इतनी ही तुम्हारी प्रतिश्रुति है और इतनी ही तुम्हारी शक्ति इससे अधिक का काम न करो। वह अपमृत्यु का मार्ग है। वर्तमान से पराङ्मुख होकर कोई कालजयी नहीं हुआ। अंगीकार करो जीवन को जैसा वह तुम्हें मिला है उत्तर दो उन प्रश्नों का जो युग ने तुम्हारे सामने रक्खे हैं प्रश्न न्याय-अन्याय के सुन्दर-असुन्दर के शेष की चिन्ता मत करो। जीवन रंगभूमि है जिसमें हम सब अपनी छोटी-सी भूमिका पालन के लिए आये हैं। दर्शकों से हरदम हर्षध्वनि की अपेक्षा क्यों, वह तो जो होगा नाटक के अन्त में होगा। जीवन समर-भूमि है। तुम भी एक छोटे-से सैनिक हो। सैनिक की दृष्टि केवल अपने समर पर होती है। जिसे हरदम पदक की लालसा घेरे रहती है और जिसका मन हर समय उसी के भाव-ताव की जोड़ा-जारी में लगा रहता है वह तो पट्टेबाज है जो भूल से इधर आ गया है। उसे चाहिए कि यहाँ से चला जाय। यह जगह अच्छी नहीं है। यहाँ तो जो मिलता है मरने के बाद मिलता है।

यह नहीं कि मुंशीजी के मन में धर्म की आस्था नहीं है। है और खूब है। लेकिन हिन्दू वह नहीं है। इतना छोटा हेतु लेकर कोई जिये भी कैसे। उनकी शक्ति कितनी ही सीमित क्यों न हो, वह ऐसा कुछ करना चाहते हैं जो उन्हें यह सन्तोष दे सके कि वह अपने ही भीतर घुटकर नहीं मरते रहे बल्कि योग दिया शक्ति भर देश के नव-जागरण में।

यह किस्सा शुरू करने के आठ महीने पहले ही आन्दोलन खत्म था और गांधी जी छः बरस के लिए जेल में डाल दिये गये थे। मियाद खत्म होते-होते गांधी जी छोड़ दिये गये थे मगर (अपनी सख्त बीमारी के कारण) लेकिन हालत इससे अच्छी क्या बनती। आन्दोलन ठंडा पड़ा रहा। पस्ती का दौर चल रहा था। उसी का एक नतीजा थे यह तमाम हिन्दू-मुसलिम दंगे जो गर्मी के भाव दिन यहाँ-वहाँ देश भर में भड़कते रहते थे। और उसका दूसरा नतीजा था जन आन्दोलन को छोड़कर कौंसिलों में दाखिल होने की ओर लोगों का झुकाव। चितरंजन दास और मोतीलाल नेहरू इस प्रवृत्ति के नेता थे। इसी आधार पर कांग्रेसजनों के दो दल हो गये थे—नो-चेंजर्स जो गांधी जी के साथ उसी पुराने असहयोग और जन आन्दोलन के रास्ते पर चलना चाहते थे और प्रो-चेंजर्स जो कहते थे कि उस पुराने रास्ते को बदलने की, उसको छोड़ने की जरूरत है, हम कौंसिलों में जाकर भीतर से चोट करनी चाहिए। कांग्रेस के गया अधिवेशन (१९२२) में पहली बार यह प्रवृत्ति संगठित रूप में दिखायी दी। गांधी जी उस वक्त जेल में थे और आन्दोलन तो कैसा कुछ महीने पहले ही खत्म हो चुका था। गया से दिल्ली और दिल्ली से कोकोनाडा अधिवेशन तक आते-आते इन प्रो-चेंजर्स की, जिन्होंने फौरन अपनी स्वराज्य पार्टी भी बना ली थी, ताकत बराबर बढ़ती गयी थी और नो-चेंजर कांग्रेसियों पर रोक लगती जा रही थी कि वह कौंसिल-प्रवेश का विरोध न करें। गांधी जी जब सन् '२४ के शुरू में जेल से छूटे और बम्बई में जुहू तट पर जाकर रहे तो चितरंजनदास और मोतीलाल नेहरू वहीं जाकर उनसे मिले। कई दिन तक इन लोगों की बातचीत हुई, बहुत खुलकर हुई और इन लोगों ने पूरी कोशिश की कि गांधीजी का समर्थन और आशीर्वाद उनके कार्यक्रम को मिल जाय। वह तो खैर नहीं मिला और इस बातचीत के बाद दोनों पक्षों ने अपनी-अपनी स्थिति का स्पष्टीकरण करते हुए लम्बे-लम्बे बयान दिये। लेकिन गांधीजी ने इस बातचीत में इतना जरूर भाँप लिया कि हवा का रुख किस तरफ है, देश की नब्ज इस वक्त कैसी चल रही है। इसलिए अपने बयान में उन्होंने जहाँ एक तरफ अपना मौलिक विरोध भी साफ नहीं छोड़ा वहीं दिल्ली और कोकोनाडा के कांग्रेस प्रस्तावों का पालन करते हुए यह भी कहा कि स्वराजियों को पूरा हक है अपना प्रयोग करने की छूट

ऐसा ही ठीक है और नो-चेंजर्स को चाहिए कि उनके सम्बन्ध में कोई दुर्भावना अपने मन में न आने दें। वस्तुतः गांधीजी स्वयं पूरी सहानुभूतिशीलता से खुले मन से इस प्रयोग का निष्कर्ष देखना चाहते थे और जैसे-जैसे उन्होंने उसको सफल होते देखा (जैसे कि बंगाल की असेंबली में चित्तरंजन दास की पार्टी का बहुमत में पहुँच जाना) वैसे-वैसे उन्होंने उसका संस्कार भी किया और जल्दी ही वह समय भी आया कि गांधीजी अनौपचारिक ढंग से उन्हें कौंसिल में काम करने वाले कांग्रेसी कहकर पुकारने लगे। यह कहने की ज़रूरत नहीं है कि चित्तरंजन दास और मोतीलाल नेहरू जैसे लोग कौंसिल-प्रवेश की बात स्वाधीनता आन्दोलन के बृहत्तर परिप्रेक्ष्य में ही कहते थे इस दृष्टि से कि हमको जनता के वोट से धारासभाओं में भी पहुँचना चाहिए और वहाँ पर सरकार की निरंकुश नीतियों का डटकर विरोध करना चाहिए, इससे हमारे काम का दायरा और उसी अनुपात में हमारी शक्ति बढ़ेगी लेकिन इसमें भी कोई सन्देह नहीं है कि इस कार्यक्रम में अवसरवादियों के घुस आने के लिए भी बहुत अवकाश था।

मुंशीजी बड़े ध्यान से सब कुछ देख-सुन रहे थे लेकिन उनका अपना ही रंग था। मुंशी दयानरायन निगम के सवाल का जवाब देते हुए उन्होंने १७ फरवरी १९२४ को जब कि वह काशी विद्यापीठ में हेडमास्टर थे लिखा था—

आपने मुझसे पूछा मैं किस पार्टी में हूँ। मैं किसी पार्टी में भी नहीं हूँ। इसलिए कि दोनों में से कोई पार्टी कुछ अमली काम नहीं कर रही है। मैं तो उस आनेवाली पार्टी का मेम्बर हूँ जो कोतहुन्नास की सियासी तालीम को अपना दस्तूर उल-अमल बनाये। स्वराज्य-खिलाफत पार्टी की जानिब से जो कांस्टीट्यूशन निकला है उससे अलबत्ता मुझे कुल्ली इत्तफ़ाक़ है। मगर ताज्जुब नहीं है कि यह एक पार्टी से क्या निकला। मेरे ख़याल में दोनों ही पार्टियाँ इस मुआमले में मुत्तफ़िक़ हैं।

किसी जगह पर सहमत भी हैं किसी पार्टी से लेकिन अपने को पूरी तरह उसका मिलने के लिए तैयार नहीं हैं क्योंकि मैं तो उस आनेवाली पार्टी का मेम्बर हूँ जो कोतहुन्नास की सियासी तालीम को अपना दस्तूर उल-अमल बनाये यानी जो छोटे लोगों (निम्न श्रेणी) की राजनीतिक शिक्षा को अपनी कार्यप्रणाली बनाये। 'अवामुन्नास' शब्द से जो कि एक चलता हुआ शब्द है और जिसका अर्थ 'जन साधारण' है उन्हें अपना अभिप्राय पूरी तरह स्पष्ट होता नहीं जान पड़ता इस लिए वह अपना एक शब्द गढ़ते हैं 'कोतहुन्नास' जो कहीं कोश में नहीं है।

अपनी शक्तिभर, देश-काल के अनुसार, उन्होंने बराबर यही किया है और खासकर इधर जबसे आज़ादी की लड़ाई ने इस नए मैदान में पैर रखा है। क्या नहीं किया है उन्होंने इन तीन चार बरसों में—लेख लिखे हैं पत्रों की टिप्पणियाँ

लिखी हैं, असहयोग की कहानियाँ लिखी हैं, पैम्फलेट लिखकर साधारण लोगों को साधारण ढंग से स्वराज के प्रश्न समझाये हैं, प्रेमाश्रम-जैसा उपन्यास लिखा है जिसमें आनेवाले आंदोलन के आरम्भ के साथ-साथ उसके आगे की हल्की झलकें भी हैं, संग्राम-जैसा नाटक लिखा है जिसमें इस आंदोलन के गाँव में प्रवेश करने की सीधी-सादी तसवीर है और आपसी मारकाट की आग को ठंडा करने के लिए 'कर्बला' की शक्ल में एक बड़ा भारी लेक्चर भी दिया है। जब जैसी ज़रूरत हुई है, कभी आलस्य नहीं किया, प्रमाद नहीं किया। वह तो सिपाही है देश के, ऐसे सिपाही जिसे एक साथ कितने ही मोर्चों पर लड़ना पड़ता है।

आंदोलन शुरू होने के पहले जनता को दिमाग़ी तौर पर उस चीज़ के लिए तैयार करना था। आन्दोलन शुरू हो गया तो उसकी हिम्मत और उसका जोश बढ़ाना था। और अब जब कि आन्दोलन फ़िलहाल ठंडा पड़ गया था और लोगों पर एक मुर्दनी-सी छायी हुई थी, ऐसी चीज़ की ज़रूरत थी जो उनकी इस मुर्दनी को तोड़े और एक बार फिर उनमें प्राण का संचार करे। लेकिन उफान-जैसा नहीं, अधिक गम्भीर धरातल पर। ऐसा एक प्राण जिसमें बार-बार संजीवनी पायी जा सके। ज़रूरत स्थायी उमंग। आज़ादी की लड़ाई एक दिन की चीज़ नहीं होती, लम्बी चीज़ होती है। तरह-तरह के उतार-चढ़ाव आते हैं इस संग्राम में। जीत का मुँह एक ही बार देखना नसीब होता है। उसके पहले न जाने कितनी बार हार होती है, हार पर हार होती है। तो भी हिम्मत नहीं छूटनी चाहिए, नहीं तो मर्द क्या। हारने में बुराई नहीं है, खेल में हार-जीत तो लगी ही रहती है, हारकर बैठ रहने में बुराई है। लेकिन इसके लिए मन की काफ़ी-सी मज़बूत कोशिश है, तभी चित्त को स्थितप्रज्ञ योगी-जैसी वह शांति मिलती है। कर्मनिष्ठा का थोड़ा-सा संयम उसके लिए ज़रूरी है। लेकिन भारतभूमि के लिए यह कौन-सी मुश्किल चीज़ है, यहाँ की तो मिट्टी ही ऐसी है।

भैरो अपनी बीवी सुभागी को बहुत मारता-पीटता है। एक बार सुभागी जब बहुत तंग आ जाती है तो सूरदास के पास आकर शरण लेती है। लोग उसको तरह-तरह से डराते-धमकाते हैं, बदनाम करने की भी कोशिश करते हैं, लेकिन सूरदास अटल रहता है। सुभागी अपनी इच्छा से आयी है, अपनी इच्छा से ही जायगी और वह जाना चाहे तो आज चली जाय लेकिन इस तरह नहीं। मगर भैरो को तो इसमें आग लगती है। आख़िर एक रोज़ भैरो सूरदास की झोंपड़ी में आग लगा देता है और झोंपड़ी जलकर राख हो जाती है। सूरदास को जो भीख माँगकर अपना पेट पालता है, अपनी झोंपड़ी के जल जाने का दुःख नहीं है, सुभागी के बेसहारा हो जाने का दुःख है, और वह रोने लग जाता है।

● सहसा वह चौंक पड़ा। किसी ओर से आवाज आयी — तुम खेल में रोते हो। मिठुआ घीसू के घर से रोता चला आता था, शायद घीसू ने मारा था। इस पर घीसू उसे चिढ़ा रहा था — खेल में रोते हो।

सूरदास कहाँ तो नैराश्य, ग्लानि, चिन्ता और क्षोभ के अपार जल में गोते खा रहा था, कहाँ यह चेतावनी सुनते ही उसे ऐसा मालूम हुआ किसी ने उसका हाथ पकड़कर किनारे पर खड़ा कर दिया। वाह! मैं तो खेल में रोता हूँ। कितनी बुरी बात है। सच्चे खिलाड़ी कभी रोते नहीं, बाजी पर बाजी हारते हैं, चोट पर चोट खाते हैं, धक्के पर धक्के सहते हैं, पर मैदान में डटे रहते हैं, उनकी त्योरियों पर बल नहीं पड़ते। खेल में रोना कैसा। खेल हँसने के लिए, दिल बहलाने के लिए है, रोने के लिए नहीं।

सूरदास उठ खड़ा हुआ और विजय-गर्व की तरंग में राख के ढेर को दोनों हाथों से उड़ाने लगा।

एक क्षण में मिठुआ, घीसू और मुहल्ले के बीसों लड़के आकर इस भस्म-स्तूप के चारों ओर जमा हो गये और मारे प्रश्नों के सूरदास को परेशान कर दिया। उसे राख फेंकते देखकर सभी को खेल हाथ आया। राख की वर्षा होने लगी। दम के दम में सारी राख बिखर गयी, भूमि पर केवल काला निशान रह गया।

मिठुआ ने पूछा — दादा, अब हम रहेंगे कहाँ?

सूरदास — दूसरा घर बनायेंगे।

मिठुआ — और कोई फिर आग लगा दे?

सूरदास — तो फिर बनायेंगे।

मिठुआ — और फिर लगा दे?

सूरदास — तो हम भी फिर बनायेंगे।

मिठुआ — और जो कोई हजार बार लगा दे?

सूरदास — तो हम हजार बार बनायेंगे।

बालकों को संख्याओं से विशेष रुचि होती है। मिठुआ ने फिर पूछा — और जो कोई सौ लाख बार लगा दे?

सूरदास ने उसी बालोचित सरलता से उत्तर दिया — तो हम भी सौ लाख बार बनायेंगे। ●

यह दो बच्चों की बातचीत है, जिसमें से एक बूढ़ा है और उस बच्चे का दादा है, अन्धा है, भिखमंगा है, सब है, लेकिन जरा पर्दा हटाकर तो देखो, इतिहास बोल रहा है उसके कंठ से। जितनी बार उजड़ा यह देश और फिर बसा, फिर फिर बसा इसी आदमी के बलबूते पर। यह काम वह कर रहा है। यह हमारी अजय आत्मा

बोल रही है, उसका क्रांतिकारी संकल्प बोल रहा है। इस [illegible] समय को अनेकों ने ऐसी ही प्रतिज्ञा की।

और यह प्रतिज्ञा मात्र उच्छ्वास नहीं है, उसके पीछे एक गम्भीर जीवनदृष्टि है जो एक दिन की उपलब्धि नहीं, जीवन की गहरी पीड़ा को मथकर प्राप्त हुआ रत्न है। भले प्रेमचन्द ने सूरदास को बनारस की गलियों में घूमते देखा हो, लेकिन उसके भी पहले वह खुद उनके मन की गलियों में घूम रहा था, इसीलिए तो बाहर जब देखा तो पहचानते देर नहीं लगी। वर्ना कितने ही तो अन्धे घूमते रहते हैं गलियों में और बाजारों में और सभी तो देखते हैं उन्हें! अपने मानस में ही पाया तो यह उन्हीं की जीवन-पीड़ा बोल रही है, उन्हीं का जीवन-ताप। स्रष्टा और सृष्टि के बीच दीवार ढह गयी है। अक्षर और ब्रह्म एक हो गया है। अपने हृदय के रक्त से प्रेमचन्द ने सूरदास की रचना की है, जिस अर्थ में अब तक किसी की रचना नहीं की। सूरदास की उस अस्थिपिंजर जीर्ण देह में स्पंदित हृदय प्रेमचन्द का है। न्याय-अन्याय, सत्य-असत्य, सुन्दर-असुन्दर — जीवन की सारी मीमांसा जो सूरदास के माध्यम से प्रस्तुत है, प्रेमचन्द की अपनी है। रंगभूमि प्रेमचन्द की आज तक की जीवन उपलब्धि का महाकाव्य है और उसका सूत्रधार ही प्रेमचन्द हैं। वह एक आदर्श सत्याग्रही है लेकिन राजनीतिक आन्दोलन के सीमित अर्थ में नहीं, जीवन की एक समग्र दृष्टि के व्यापक अभिप्राय में। और किसी के लिए हो न हो, प्रेमचन्द के लिए सत्याग्रह का अभिप्राय यही है, जीवन के कुछ सनातन मूल्य — दया, क्षमा, परोपकार, प्रेम, विनय, अपरिग्रह, निर्भय सत्य-निष्ठा, अन्याय का प्रतिकार — जिनकी शुरुआत उनकी अपनी प्रकृति और संस्कार में हुई होगी है और यह स्वाद जो अपने साथ जोड़ती हुई गांधी तक जाती है। उनकी हर कहानी इन्हीं सद्वृत्तियों की धुरी पर घूमती है और सत्याग्रह उन सबका निचोड़ है। उसका एक पहलू यह भी है, शुद्ध राजनीति का और वह भी महत्वपूर्ण है लेकिन कथाकार के नाते मुंशीजी की उसमें कम दिलचस्पी है क्योंकि यहाँ उनकी भूमि दूसरी है, मनुष्य का चरित्र और उस चरित्र का निर्माण। इसी अर्थ में उन्होंने सत्याग्रह को ग्रहण किया है और अनन्य भाव से ग्रहण किया है। लेकिन उसके चित्रण में अनेक बार, जहाँ जीवन की पकड़ कमजोर रही है, वह आदर्श [illegible] लगा है। मगर रंगभूमि की बात और है। यहाँ जीवन की उनकी पकड़ मजबूत है और सूरदास के माध्यम से उन्होंने बहुत गहरे पैठकर [illegible] के साथ उस आत्मा का चरितार्थ किया है।

जीवन को समझना कि निष्काम कर्म के रूप में ग्रहण करना भी उसी का एक अंग है। मन को बड़ी शान्ति मिलती है उससे। आदमी अपने को हल्का महसूस

रहता है, कोई बोझ नहीं रहता मन पर। अपना काम जी लगाकर करो और खुश रहो। आराम की नींद सोओ, जी खोलकर हँसो। परिणाम की चिन्ता न करो। जी लगाकर खेलो, जब तक दम में दम है, जब तक साँस चलती है और फिर एक रोज चले जाओ, दुनिया का खेल-तमाशा तो यों ही चलता रहेगा। चलता आया है। चलता जायगा। आदमी का बच्चा बेकार ही ढोये फिरता है परेशानियों की गठरी। टिटिहरी के बारे में कहा जाता है कि वह पैर ऊपर करके सोती है, शायद इसलिए कि आसमान अगर गिरे तो वह रोक ले। आदमी का भी यही हाल है। चार दिन के लिए आता है लेकिन पल भर चैन से नहीं बैठता। कहीं यह तो कहीं वह। पूछो क्या होता है उससे सिवाय इसके कि आदमी खुद अपनी जिन्दगी पहाड़ कर ले। जरा-जरा-सी बातों पर झगड़े बेकार का जलना-कुढ़ना बेकार की चढ़ा-ऊपरी मार-खसोट सारी जिन्दगी इसी में बीत जाती है। कोई हद है इस अहमकपन की। मगर नहीं, लोग इसी को जिन्दगी समझते हैं, इसी हर वक्त की आपाधापी को। भला कोई पूछे इन अहमकों से, जिन्दगी में यों ही क्या कम दुख है जो तुम यह एक और बोझ लिये हो!

हँसो खूब जोर से हँसो ताकि ये बादल फट जायें। उसमें भी काम नहीं चलता। चेहरे पर झुर्रियाँ बढ़ती जा रही हैं, कनपटी के बाल तेजी से सफेद हो रहे हैं। मगर तो भी अपनी कोशिश में कसर क्या रहे। जहाँ तक अपना जोर चलता है जिन्दगी को ढंग से जीने की तदबीर करनी चाहिए। यह क्या कि हथियार डाल दिये! यह मर्दों का ढंग नहीं है। मर्दों का ढंग वह है जो सूरदास में साकार हो उठा है — उसकी जिन्दगी में और उसकी मौत में। उसकी आत्मा के तेज से कोना-कोना प्रकाशित है। एक जगह पर सूरदास कहता है —

हमारी बड़ी भूल यही है कि खेल को खेल की तरह नहीं खेलते। खेल में धाँधली करके कोई जीत ही जाय तो क्या हाथ आयेगा। खेलना तो इस तरह चाहिए कि निगाह जीत पर रहे, पर हार से घबराये नहीं, ईमान को न छोड़े। जीतकर इतना न इतराय कि अब कभी हार होगी ही नहीं। यह हार-जीत तो जिन्दगी के साथ है।

क्लार्क की गोली से आहत होकर सूरदास अस्पताल में पड़ा है। रानी जाह्नवी उसको देखने जाती है और पूछती है, पीड़ा बहुत हो रही है? तो सूरदास जवाब देता है — कुछ कष्ट नहीं है। छिलके-नसने गिर पड़ा हूँ, चोट आ गयी है, अच्छा हो जाऊँगा।

राजा महेन्द्रकुमार भी जिनसे सूरदास की मुख्य टक्कर रही है मिजाजपुर्सी

के लिए पहुँचते हैं और कहते हैं—सूरदास, मैं तुमसे अपनी भूलों की क्षमा माँगने आया हूँ।

सूरदास उन्हें भी यही जवाब देता है—सरकार, ऐसी बात न कहिए। आप राजा हैं, मैं रंक हूँ। आपने जो कुछ किया दूसरों की भलाई के विचार से किया। मैंने जो कुछ किया अपना धरम समझकर किया। हम तो खेल खेलते हैं, जीत-हार भगवान के हाथ है। वह जैसा उचित जानते हैं करते हैं। बस नीयत ठीक होनी चाहिए।

इस पर राजा साहब कहते हैं—सूरदास, नीयत को कौन देखता है। मैं सदैव प्रजाहित ही पर निगाह रखता था पर आज सारे नगर में एक भी ऐसा प्राणी नहीं है जो मुझे घातक, नीच, स्वार्थी, अधर्मी, पापिष्ठ न समझता हो। और तो क्या, मेरी सहधर्मिणी भी मुझसे घृणा कर रही है।

कैसा मजाक है, राजा साहब सूरदास की मिजाजपुर्सी के लिए आये हैं और होता उसका उल्टा ही है, अपढ़ सूरदास गोसाईं तुलसीदास की वाणी में उनकी मिजाजपुर्सी करता है—इसकी चिन्ता न कीजिए। हानि-लाभ, जीवन-मरण, जस-अपजस विधि के हाथ है, हम तो खाली मैदान में खेलने के लिए बनाये गये हैं। सभी खिलाड़ी मन लगाकर खेलते हैं, सभी चाहते हैं कि हमारी जीत हो, लेकिन जीत एक ही की होती है, तो क्या हारनेवाले हिम्मत हार जाते हैं? वे फिर खेलते हैं, फिर हार जाते हैं तो फिर खेलते हैं। कभी न कभी तो उनकी जीत होती ही है। नहीं नहीं राजा साहब, निराश होना खिलाड़ियों के धर्म के विरुद्ध है। अबकी हार हुई तो फिर कभी जीत होगी।

राजा साहब को सबसे ज्यादा दुख अपनी बदनामी का है। उसके बारे में सूरदास कहता है—सरकार, नेकनामी और बदनामी बहुत से आदमियों के हल्ला मचाने से नहीं होती। सच्ची नेकनामी अपने मन में होती है। अगर अपना मन बोले कि मैंने जो कुछ किया वही मुझे करना चाहिए था, इसके सिवा कोई दूसरी बात करना मेरे लिए उचित न था तो वही नेकनामी है।

यह मुंशीजी के अपने विश्वास बोल रहे हैं जिनके कलम में न जाने कितना समय लगा है, जिन तक पहुँचने में मन को न जाने कैसी-कैसी घाटियों में होकर जाना पड़ा है।

सोफिया के पिता जान सेवक जिन्होंने अपने कारखाने के लिए सूर की जमीन पर दाँत लगाया था कि सारे झगड़े की जड़ बना, अस्पताल में सूरदास को देखने के लिए पहुँचते हैं। जाने के पहले उनके मन में संशय भी है, जायें कि न जायें, सूरदास को बुरा तो नहीं लगेगा उनका जाना। लेकिन उनकी बेटी जब उन्हें

इस ओर से आश्वस्त करती है। उसके हृदय में द्वेष और मालिन्य की गंध तक नहीं है, तो फिर वह पहुँच ही जाते हैं। दो ही एक बातों के बाद वह कहते हैं, नहीं नहीं सूरदास, ऐसी बातें न करो, तुम बहुत जल्द अच्छे हो जाओगे। इसके जवाब में सूरदास हँसकर कहता है — अब जीकर क्या करूँगा। इस समय मरूँगा तो बैकुण्ठ पाऊँगा, फिर न जाने क्या हो। जैसे खेत कटने का एक समय होता है। पक जाने पर खेत न कटे तो नाज सड़ जायगा, मेरी भी वही दशा होगी। मैं भी कई आदमियों को जानता हूँ जो आज से दस बरस पहले मरते तो लोग उनका जस गाते, आज उनकी निन्दा हो रही है। इसके बाद सेवक कहते हैं, मेरे हाथों तुम्हारा बड़ा अहित हुआ। इसलिए मुझे क्षमा करना। उसको भी सूरदास वही जवाब देता है जो कि उसने राजा साहब को दिया था —

मेरा तो आपने कोई अहित नहीं किया, मुझसे और आपसे दुश्मनी ही कौन सी थी। हम और आप आमने-सामने की पालियों में खेले। आपने भरसक जोर लगाया, मैंने भी भरसक जोर लगाया। जिसको जीतना था, जीता, जिसको हारना था, हारा। खिलाड़ियों में बैर नहीं होता। मुझे आपसे कोई शिकायत नहीं।

सोफ़िया बैठी देखा करती है और उसकी समझ में आता है कि चित्त की शान्ति ही वास्तविक सौन्दर्य है। इस शान्ति का स्रोत कहाँ है?

सूरदास का वही जीवनदर्शन जिस पर सारी पुस्तक टिकी हुई है। यह कितना ज़्यादा मुंशीजी का अपना जीवन-दर्शन है यह इस बात से जाहिर है जो उन्हीं दिनों ठीक उन्हीं दिनों मुंशीजी ने निगम साहब के बच्चे की मौत पर उनको पत्र भेजा था, शब्द तक सूरदास के हैं।

एक दिन की उपलब्धि नहीं है यह जीवनदृष्टि। सात का था लड़का जब माँ नहीं रही, जवानी की दहलीज़ पर पैर रखते-रखते पिता चल बसे। जिम्मेदारियों का गट्ठर सर पर — पिता की जिम्मेदारियाँ जो उत्तराधिकार में मिली थीं और खुद अपनी एक सबसे बड़ी जिम्मेदारी वह जुआ जिसमें पिताजी बेचारे की गर्दन फँसा गये थे — एक पुत्र बदशकल बेमेल बीवी। सबका पेट पालने के लिए दिन रात कोल्हू के बैल की तरह जुते रहना। रोज़-रोज़ के सास-बहू के झगड़े, [illegible]। और इस सबके बीच अपना लिखने-पढ़ने का काम जो जैसे एक कड़ी चढ़ाई की पहाड़ थी जिसमें कितनी ही बार दम फूल-फूल जाता था। शरीर बिल्कुल टूटा हुआ था अलग।

मुंशीजी ने आत्मसात कर लिया है, जिन्दा रहने की दूसरी कोई तदबीर नहीं है। न एक आदमी के लिए न एक कौम के लिए।



१६२५

देश में इस वक्त जो मुर्दनी छायी हुई है उसको दूर करने का रास्ता वही है जिसे सूरदास अपने जीवन में चरितार्थ करता है।

सिपाही अपनी चौकी पर मुस्तैदी से खड़ा अपना काम कर रहा है। जब जैसी चीज की जरूरत हो वह हाजिर है।

प्रस्तुत क्षण और भविष्य यथार्थ और स्वप्न उसके लिए अविभाज्य हैं। वह एक साथ ही दोनों की रक्षा करता है।

सूरदास के पास अपने बाप-दादों के वक्त की कुछ जमीन है जिसे उसने अपने गाँव के मवेशियों के चरने के लिए छोड़ रखा है। मिस्टर जान सेवक को अपना सिगरेट का कारखाना खोलने के लिए जमीन चाहिए और उनके दाँत सूरदास की जमीन पर लगे हैं। बड़े-बड़े लोग धनी-मानी लोग सूरदास को समझाने के लिए आते हैं, लालच देते हैं, डराते-धमकाते हैं लेकिन सूरदास किसी तरह अपनी जमीन देने पर राजी नहीं होता। फिर वह जमीन बड़े-बड़े हुक्कामों के जरिये हासिल की जाती है। सिगरेट का कारखाना खड़ा हो जाता है। फिर उन लोगों के घरों पर आँच आती है क्योंकि कारखाने के मजदूरों को रखने के लिए जगह चाहिए। सारी कहानी इसी भूमि के संघर्ष को लेकर है— संघर्ष जो वास्तविक भूमि के टुकड़े को लेकर भी है और प्रतीक भी है एक वृहत्तर संघर्ष का। इसी संघर्ष में गाँव की छोटी-सी राजनीति की सजीव पृष्ठभूमि में सूरदास एक अटल सत्याग्रही के रूप में सामने आता है। सत्याग्रही यानी एक निडर सिपाही और उच्चतर मानव।

जमीन कारखाने के लिए न देने के अनेक कारण सूरदास के पास हैं लेकिन सबसे बड़ा शायद वह है जिसे वह राजा साहब चतारी की बात के जवाब में पेश करता है।

राजा साहब कहते हैं—जरा यह भी तो सोचो कि इस कारखाने से लोगों को क्या फायदा होगा। हजारों मजदूर मिस्त्री बाबू मुंशी लुहार, बढ़ई आकर आबाद हो जायेंगे, एक अच्छी बस्ती हो जायेगी बनियों की नयी-नयी दुकानें खुल जायेंगी, आस-पास के किसानों को अपनी साग भाजी लेकर शहर न जाना पड़ेगा यहीं खरे दाम मिल जायेंगे। कुँजड़े खटिक ग्वाले धोबी दर्जी सभी को लाभ होगा। क्या तुम इस पुण्य के भागी न बनोगे?

सूरदास कहता है—सरकार बहुत ठीक कहते हैं। मुहल्ले की रौनक जरूर बढ़ जायगी, रोजगारी लोगों को फायदा भी खूब होगा। लेकिन जहाँ यह रौनक बढ़ेगी वहाँ ताड़ी-शराब का परचार भी तो बढ़ जायगा, कसबियाँ भी तो आकर बस जायेंगी, परदेसी आदमी हमारी बहू-बेटियों को घूरेंगे, कितना अधरम होगा! दिहात के किसान अपना काम छोड़कर मजूरी के लालच से दौड़ेंगे, यहाँ बुरी-

बुरी बातें सीखेंगे और अपने बुरे आचरण अपने गाँव में फैला देंगे। देहातों की लड़कियाँ बहुएँ मजूरी करने आयेंगी और वहाँ पैसे के लोभ में अपना धरम बिगाड़ेंगी। यही रौनक शहरों में है। वही रौनक यहाँ हो जायगी। भगवान न करें यहाँ वह रौनक हो। सरकार मुझे इस कुकरम और अधरम से बचायें। यह सारा पाप मेरे सिर पड़ेगा।

ताहम वह फ़रिश्ता नहीं है, आदमी है — बहुत नेक बहुत अच्छा बहुत निडर, निरीह, निस्पृह लेकिन आदमी। यह आदमी की कमज़ोरियाँ हैं जो उसे आदमी बनाती हैं और उसी की हमको ज़रूरत है, हवा में उड़नेवाला फ़रिश्ता लेकर हम क्या करेंगे। उससे न तो हमारा लगाव ही हो पाता है और न उसका कोई असर ही हमारे दिल पर पड़ता है। सूरदास ऐसा नहीं है, वह तो एक बिलकुल मामूली इंसान है जैसे ज़िन्दगी की राह में मिल जाया करते हैं ठीकरे की तरह लेकिन हाथ में लेकर क़रीब से देखो ज़रा झाड़-पोंछकर, ज़रा उलटकर, तो पता चलता है कि वह ठीकरा नहीं हीरा है। मुंशीजी को ऐसे हीरों की ही तलाश रहती है। पता नहीं कितने मनोहर और क़ादिर जैसे दो-एक प्रेमाश्रम में मिले थे पहली बार, और वह मन का रतन भाये कि मुंशीजी संग्राम नाटक लिखने बैठे तो वही दोनों न जाने कहाँ से हलधर और फत्तू मियाँ का रूप धरकर चले आये। ऐसा बड़ा और ऐसी अनोखी चमक-दमक का हीरा तो 'रंगभूमि' में आकर ही मिला और यों ही ज़िन्दगी की राह में — एक अंधा भिखमंगा। एकदम काल्पनिक चरित्र की सृष्टि करना मुंशीजी का स्वभाव नहीं है, आधार वास्तविक होना चाहिए, उस पर चाहे फिर कल्पना का रंग कितना ही चढ़ाया जाये। इसीलिए मुंशीजी अपने चरित्र सीधे जीवन से लेते हैं फिर उसे अपने मन के भीतर पकाते हैं और फिर अपनी खराद पर चढ़ाते हैं। कोयला कभी कोयला ही रह जाता है और कभी हीरा बन जाता है। भूमि के गर्भ में भी तो सारे कोयले हीरे नहीं बनते — किस रासायनिक प्रक्रिया से कैसी गर्मी पाकर कोयले के परमाणुओं का संघटन बदलकर हीरे का रूप ले लेता है, यह अभी रहस्य ही है। लेकिन वह जो भी हो मुंशीजी को अपने चरित्रों के संधान में आकाश-कुसुम तोड़ने की अपेक्षा राह में पड़े हुए कोयले और ठीकरे को बीन लेना ज़्यादा अच्छा मालूम होता है। बहुत ज़माने से मुंशीजी को तलाश थी ऐसे ही एक चरित्र की जो फ़रिश्ता भी हो और ईमान भी जो आदम के बेटे का ख़ास गुण है।

गाँववालों की दुष्टता, निष्ठुरता से क्षुब्ध होकर सूरदास ज़मीन बेच देने का विचार करता है। एक बाबाजी उसका यह विचार छुड़ाने के लिए उसे भक्ति और वैराग्य का उपदेश देते हैं। सूरदास चिढ़कर उनसे कहता है — बाबाजी,

जब तक भगवान की दया न होगी भक्ति और वैराग्य किसी पर मन न जमेगा। इस घड़ी मेरा हृदय रो रहा है उसमें उपदेश और ज्ञान की बातें नहीं पहुँच सकतीं। गीली लकड़ी खराद पर नहीं चढ़ती।

और फिर मन में कहता है—यह भी मुझी को ज्ञान का उपदेश करते हैं। दीनों पर उपदेश का भी दाँव चलता है, मोटों को कोई उपदेश नहीं करता। वहाँ तो जाकर ठकुरसुहाती करने लगते हैं। मुझे ज्ञान सिखाने चले हैं। दोनों जून भोजन मिल जाता है न! एक दिन न मिले तो सारा ज्ञान निकल जाय।

और उसी आवेश में अपने रास्ते पर आगे बढ़ जाता है।

लेकिन वहाँ पहुँचकर जब बात कहने का वक्त आता है तो पासा पलट जाता है—

लज्जा अत्यंत निर्लज्ज होती है। अंतिम काल में भी जब हम समझते हैं कि उसकी उलटी साँसें चल रही हैं वह सहसा चैतन्य हो जाती है। ताहिर अली की बातें सुनते ही सूरदास की लज्जा ठट्ठा मारती हुई बाहर निकल आयी। बोला—मियाँ साहब वह जमीन तो बाप-दादों की निसानी है भला मैं उसे बय या पट्टा कैसे कर सकता हूँ। मैंने उसे धरम-काज के लिए संकल्प कर दिया है।

क़िस्सागो की आँखें भी जैसे चमकने लगती हैं इस मुकाम पर आकर!

बात इतनी ही नहीं है कि वह जमीन सूरे के बाप-दादों की निसानी है। यह भी नहीं कि वहाँ गउएँ चरती हैं जिनके लिए फिर चरने को जगह न रहेगी। बात इससे ज्यादा बड़ी है। सूरदास इस नयी आँधी के मुकाबले में अपनी पुरानी जीवन प्रणाली की रक्षा कर रहा है। बुराइयाँ उसमें न हों ऐसी बात नहीं है। लेकिन उनके बाद भी सूरदास को वह चीज बचाने के योग्य लगती है क्योंकि उसमें प्रेम है भाईचारा है सरलता है नेकी है—जो सब ख़त्म हो जायेगा इस नयी व्यवस्था में। आदमी आदमी के बीच आत्मीयता के संबंध मिट जायेंगे और मर्यादाएँ औंधी हो जायेंगी। फिर कोई किसी के दुख-दर्द में शरीक न होगा सब को बस अपनी ही अपनी पड़ी रहेगी। क्योंकि आदमी आदमी न रह जायगा बस एक पुर्ज़ा मशीन का। और फिर जुआ शराब चोरी बदमाशी। वर्तमान के उस दुखद रूप में सूरदास एक दुनिया को बचाने की कोशिश कर रहा है। वस्तु और प्रतीक एक दूसरे में खो गये हैं।

लेकिन जमीन तो निकल ही जानी है कोई बचा नहीं सकता उसको।

यह पुरानी दुनिया मर रही है। इतिहास का ऐसा ही आदेश है। एक नयी दुनिया का पैराहन गढ़ रहा है पूँजीपतियों की दुनिया। सबको उससे डर है। सब उससे परेशान हैं। लेकिन मिलकर उसका सामना करने की बुद्धि या दम

उनके पास नहीं है। सूरदास अकेला आदमी है जो इस काम में उन्हें रास्ता दिखा सकता है। लेकिन घंटे भर तक पंचायत हुई पर सूरदास के पास कोई न गया। साम की सुई ठेके पर अटकी है। तू चल मैं आता हूँ यही हुआ किया।

आखिरकार भैरो अकेले सूरे के पास जाता है तो सूरदास ऐसी कठिन उदासीनता से जिसमें कुर्बानी की भीख अपना घर बना चुकी है कहता है—

मेरी क्या पूछते हो जमीन थी वह निकल ही गयी झोंपड़ी के बहुत मिलेंगे तो दो-चार रुपये मिल जायेंगे। मिले तो क्या और न मिले तो क्या। जब तक कोई न बोलेगा पड़ा रहूँगा। कोई हाथ पकड़कर निकाल देगा बाहर जा बैठूंगा। वहाँ से उठा देगा फिर आ बैठूंगा। यहीं जन्म लिया है यहीं मरूँगा। बाप-दादों की जमीन तो थी अब इतनी निशानी रह गयी है, इसे न छोड़ूंगा। इसके साथ ही आप भी मर जाऊँगा।

धीरे-धीरे हम चरमभूमि की ओर बढ़ रहे हैं। पुलिस वहीं डेरा डालती है। दूसरे तमाम घर गिरा दिये जाते हैं लेकिन सूरदास अपने झोंपड़े से नहीं हटता और क्लार्क जो गोरी सत्ता का प्रतीक है जैसे भी हो उसको हटाने की कसम खा चुका है। गोली चलाने की पूरी तैयारी है लेकिन तभी एक ऐसी घटना घटित होती है जो पुलिस के इतिहास में एक नूतन युग की सूचना दे रही थी। सिपाही गोली चलाने से इनकार कर देते हैं और बन्दूकें जमीन पर पटक देते हैं। पता नहीं तब तक ऐसी कोई घटना देश में कहीं हुई थी या नहीं लेकिन कुछ बरस बाद पेशावर में गढ़वाली सैनिकों की एक टोली ने ऐसा ही किया था और अपनी जान पर खेलकर किया था। प्रेमचंद ने अपनी भविष्यद्रष्टा आँखों से शायद कुछ बरस पहले ही इस चीज को देख लिया था। पुलिस गोली चलाने से इनकार करती है और सूरदास? वह इस व्यूह के मध्य में झोंपड़े के द्वार पर सिर झुकाये बैठा हुआ था मानो धैर्य आत्मबल और शान्त तेज की सजीव मूर्ति हो। साक्षात् गांधी।

यही शायद कहना भी चाहते हैं मुंशीजी। अपनी सहज मानवी दुर्बलताओं समेत सूरदास का सीधा-सादा सरल निस्पृह निर्भीक धर्मनिष्ठ दैनंदिन रूप प्रेमचंद का अपना है और उदात्त स्वरूप गांधीजी का—अपनी समस्त सद्वृत्तियों की सबसे उदात्त अभिव्यक्ति के रूप में ही उन्होंने सदा से गांधीजी को अपने हृदय के आसन पर बिठाया है और कुछ अजब नहीं कि सूरदास का चित्रण करते समय उनके मन की आँखों के आगे गांधीजी बराबर रहे हों। सूरदास के रूप में वह किसी महान् राष्ट्रीय व्यक्तित्व की उद्भावना कर रहे हैं इसका कुछ संकेत विनय की बात में भी मिलता है जो कहता है— तुम्हारी झोंपड़ी नहीं यह हमारा जातीय मंदिर है। हम इस पर फावड़े चलते देखकर शान्त नहीं रह सकते।

सफ़ाई साथ पड़ती है। सबको मार मारके सुला देता है।

गिरे हुए मकानों की जगह सैकड़ों झोपड़ियाँ खड़ी हैं और उनके चारों ओर मोरचे सड़क बनकर लगा रहे हैं। किसी को मति नहीं है कि अन्दर प्रवेश कर सके। हज़ारों आदमी आसपास खड़े हैं मानो किसी विशाल मन्दिर का दर्शन के लिए एकत्रित वृत्ताकार खड़े हों। मध्य में सूरदास का झोंपड़ा मन्दिर के समान स्थिर था। सूरदास झोंपड़े के सामने लाठी लिये खड़ा था मानो सुदर्शन नाटक का आरम्भ करने जा रहा है। इस छोटी-सी प्रतीकात्मक घटना में सूरदास साक्षात् सत्याग्रही है और निश्चय ही उस पर गांधीजी की छाया है। जैसे-जैसे प्रतीकों के माध्यम से मुंशीजी ने सूरदास को प्रस्तुत किया है उसका एक नमूना भी बस लिखता है। एक जगह पर उन्होंने लिखा है — ऐसा ज्ञात होता था कि कोई वस्त्रहीन भूखा देवता अपने उपासकों के बीच खड़ा है।

जन-उपासकों में क्रोध की लहर उठी और दौड़ रही है वह हिंसा पर उतारू जान पड़ते हैं। उस समय सूरदास उनसे कहता है — भाइयो, आप लोग अपने-अपने घर जायें। यहाँ जमा होकर हाकिमों को चिढ़ाने से क्या फ़ायदा? अगर फ़ौज आयेगी तो आप लोग खड़े रहेंगे और मैं मर जाऊँगा। फ़ौज न आयेगी तो मैं ताला के मुँह में बसकर निकल जाऊँगा। आप लोग वास्तव में मेरी सहायता करने नहीं आये मुझसे दुश्मनी करने आये हैं। हाकिमों के मन में फ़ौज के मन में पुलिस के मन में जो डर और धरम का सवाल आता उसे आप लोगों ने जमा होकर ऐंठ बना दिया है। मैं हाकिमों को दिखा देना चाहता था कि एक दीन अंधा आदमी एक फ़ौज को कैसे पीछे हटा देता है, तोप का मुँह कैसे बंद कर देता है, तलवार की धार कैसे मोड़ देता है। मैं धरम के बल से लड़ना चाहता था।

यह बिल्कुल गांधीजी की भाषा है।

आख़िर गोली सूरदास के कंधे में लगी। फिर [illegible] प्रकट होने लगे। वैसे इस धैर्य न रहा, वह भूमि पर गिर पड़ा। आत्मा पंचभूत का प्रतिकार न कर सका।

लेकिन सचमुच क्या सूरदास का अन्त पराजय में हुआ? संघर्ष की भूमिका में मुंशीजी ने लिखा था — आत्मा की हार क्या दुःखान्त नाटकों के लिए पर्याप्त नहीं। उसकी विजय पर हम रोते नहीं बल्कि उसकी नैतिक विजय पर आनन्दित होते हैं, क्योंकि आत्मा की प्रत्यक्ष हार वस्तुतः उसकी विजय होती है। दुःखान्त नाटकों में शोक और हर्ष के भावों का मिश्रित रूप से मनन हो जाता है। हम नायक का अन्त देखकर आँसू बहाते हैं किन्तु वे आँसू करुणा के नहीं विजय के होते हैं। दुःखान्त नाटक आत्मबलिदान की कथा है और

आत्मबलिदान केवल करुणा की वस्तु नहीं गौरव की भी वस्तु है। एक ही समय आत्मबलिदान की ये दोनों कथाएं लिखी गयीं एक नाटक के रूप में और एक कथा के रूप में — एक मैदान में हजरत हुसैन की नैतिक विजय हुई और दूसरे मैदान में सूरदास की। कौन था जिसने श्रद्धा के दो फूल नहीं चढ़ाये। दुश्मनों तक का सिर झुक गया। जिन्होंने इस लड़ाई में सूरदास का साथ छोड़ दिया था उन्हीं में से एक ठाकुरदीन-जैसे आदमी ने भी कहा — अंधा आगमजानी था। जानता था कि एक दिन यह पुतलीघर हमको बनवास देगा। आज तक भैंसाई पर अपनी जमीन न दी

गाँववाले तो रोते ही थे प्रसिद्ध राष्ट्रसेवी गंगुली से जब सोफ़िया ने करुण भाव से कहा — क्या अब कुछ नहीं हो सकता डाक्टर साहब? तो गंगुली ने जवाब दिया —

● बहुत कुछ हो सकता है मिस सोफ़िया। हम यमराज को परास्त कर देगा। ऐसे प्राणियों का यथार्थ जीवन तो मृत्यु के पीछे ही होता है जब वह पंचभूतों के संस्कार से रहित हो जाता है। सूरदास कभी नहीं मरेगा बहुत दिनों तक नहीं मरेगा। हम सब मर जायगा कोई कल कोई परसों पर सूरदास तो अमर हो गया उसने तो काल को जीत लिया। अभी तक उसका जीवन पंचभूतों के संस्कार से सीमित था। अब वह प्रसारित होगा समस्त प्रान्त को समस्त देश को जागृति प्रदान करेगा हम कर्मण्यता का वीरता का आदर्श बतायेगा। यह सूरदास की मृत्यु नहीं है सोफ़ी यह उसके जीवन-ज्योति का विकास है। हम तो ऐसा ही समझता है।

यह कहकर डाक्टर गंगुली ने जेब से एक शीशी निकाली और उसमें से कई बूँदें सूरदास का मुँह खोलकर पिला दी। तत्क्षण उसका असर दिखायी दिया। सूरदास के विवर्ण मुखमंडल पर हल्की-हल्की सुर्खी दौड़ गयी। उसने आँखें खोल दीं इधर-उधर अनिमेष दृष्टि से देखकर हँसा और ग्रामोफोन की-सी कृत्रिम बैठी हुई नीरस आवाज से बोला — बस बस अब मुझे क्यों मारते हो। तुम जीते मैं हारा। यह बाजी तुम्हारे हाथ रही मुझसे खेलते नहीं बना। तुम मंजे हुए खिलाड़ी हो दम नहीं उखड़ता खिलाड़ियों को मिलाकर खेलते हो और तुम्हारा उत्साह भी खूब है। हमारा दम उखड़ जाता है, हाँफने लगते हैं और खिलाड़ियों को मिलाकर नहीं खेलते आपस में झगड़ते हैं गाली-गलौज मारपीट करते हैं कोई किसी की नहीं मानता। तुम खेलने में निपुण हो हम अनाड़ी हैं। बस इतना ही फरक है। तालियाँ क्यों बजाते हो यह तो जीतनेवालों का धरम नहीं! तुम्हारा धरम तो है हमारी पीठ ठोंकना। हम हारे तो क्या मैदान से भागे तो नहीं रोये

तो नहीं, चौपड़ी तो नहीं थी। फिर खेलेंगे, जरा दम ले लेने दो, हार-हारकर तुम्हीं से खेलना सीखेंगे और एक न एक दिन हमारी जीत होगी, जरूर होगी।

अपनी बेहोशी में भी यही रटते हुए सिपाही मैदान से चला गया।

वह साधु न था, महात्मा न था, देवता न था, फरिश्ता न था। एक क्षुद्र शक्तिहीन प्राणी था, चिन्ताओं और बाधाओं से घिरा हुआ, जिसमें अवगुण भी थे और गुण भी। गुण कम थे, अवगुण बहुत। क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार ... गुण केवल एक था ... न्याय-प्रेम, सत्य-भक्ति, परोपकार, दर्द या उसका जो नाम चाहे रख लीजिए। अन्याय देखकर उससे न रहा जाता था, अनीति उसके लिए असह्य थी।

इसी से जनता ने उसे मान दिया, आदर दिया, मूर्ति बनाकर पूजा।

चांदनी छिटकी हुई थी और शुभ्र ज्योत्स्ना में (यह शुभ्र ज्योत्स्ना भी शायद बेईमानरत मान ले आयी है!) सूरदास की मूर्ति एक हाथ में लाठी टेकती हुई और दूसरा हाथ किसी अदृश्य दाता के सामने फैलाये खड़ी थी — वही दुर्बल शरीर था, हँसलियाँ निकली हुई, कमर टेढ़ी, मुख पर दीनता और सरलता छायी हुई, साक्षात् सूरदास मालूम होता था। या साक्षात् गाँधी, सुपरिचित चित्र के आधार पर?

वह ऐसा मालूम होता था मानो कोई स्वर्गलोक का भिक्षुक देवताओं से संसार के कल्याण का वरदान माँग रहा है।

यही 'रंगभूमि' की मुख्य कहानी है और इस नाटक का सूत्रधार सूरदास है। इसके माध्यम से हमारी अन्तर्दृष्टि में जन-आन्दोलन की उस राजनीति को प्रस्तुत किया गया है जिसका सूत्रधार गांधी है। यह आन्दोलन इस समय कमजोर सा पड़ा है, फिर से उसमें प्राण का संचार हो, फिर से वह विजय-पथ पर बढ़े, उसी के लिए स्वप्नों के संबल की यह कथा है। 'सेवासदन' के समान ही यहाँ भी कन्ट्रास्ट का आश्रय लिया गया है। एक में धार्मिक संघर्ष है, दूसरे में छोटी भूमि पर, छोटे दायरे में स्वार्थ का संघर्ष है, लेकिन दोनों का वास्तविक अभिप्राय देश का महत्तर स्वाधीनता संग्राम है जो विदेशी के अधीन सत्ता के हस्तान्तरण का प्रश्न नहीं बल्कि नैतिक मूल्यों का प्रश्न है और एक समग्र जीवन-प्रणाली का प्रश्न है जिसके दो स्तर हैं, पुरानी सरल ग्रामीण जीवन-व्यवस्था में जो कुछ मूल्यवान है उसकी रक्षा और नयी का निर्माण, इस प्रकार कि वह अपनी सनातन आत्मा को खोए बिना विकास के नये आयामों को अपने भीतर अन्तर्हित कर सके।

'रंगभूमि' के प्रकाशित होने पर जब अवध उपाध्याय ने बड़ा मौलिक ढंग से 'साहित्यालोचन' में थैकरे-विरचित 'वैनिटी फेयर' का समावेश करके चार-चारो

के सहारे यह सिद्ध करना चाहा कि 'रंगभूमि' थैकरे के 'वैनिटी फ़ेयर' की नकल है, उस समय प्रेमचंद ने उनके इस आरोप का खंडन करते हुए और बातों के साथ-साथ यह भी लिखा था कि 'रंगभूमि' मुख्यतः राजनीतिक उपन्यास है जब कि 'वैनिटी फ़ेयर' एक सामाजिक उपन्यास है।

सोफ़िया और विनय, कुँअर भरत सिंह और डाक्टर गंगुली को लेकर जो उपकथा है उसकी पृष्ठभूमि उस समय की वास्तविक राजनीति है।

राजनीति का मुख्य संघर्ष इस समय दो प्रवृत्तियों के बीच है—नो-चेंजर्स और प्रो-चेंजर्स। इन दो मुख्य प्रवृत्तियों की अनेकानेक शाखाएँ और उपशाखाएँ हैं। इस रंगभूमि के सब पात्रों का अलग-अलग रूप-रंग है।

विनय के पिता कुँअर भरत सिंह कहते हैं—

मैंने तय कर लिया है कि राज्याधिकारियों से कोई संपर्क न रखूँगा। हाकिमों की कृपादृष्टि ज्ञात या अज्ञात रूप से हम लोगों को आत्मसेवी और निरंकुश बना देती है।

कुँअर साहब के दामाद, इंदु के पति, राजा साहब चतारी कहते हैं—

मैं एक राज्य का अधीश हूँ और स्वभावतः मेरी सहानुभूति सरकार के साथ है। जनवाद और साम्यवाद को सम्पत्ति से बैर है। मैं उस समय तक साम्यवादियों का साथ न दूँगा जब तक मन में यह निश्चय न कर लूँ कि अपनी सम्पत्ति त्याग दूँगा। मैं उन लोगों को धूर्त और पाखंडी समझता हूँ जो अपनी सम्पत्ति को भोगते हुए साम्य की दुहाई देते फिरते हैं। अपने कमरे से फर्श हटा देना और सादे वस्त्र पहन लेना ही साम्यवाद नहीं है।

डाक्टर गंगुली को अंग्रेज़ों से वैधानिकता से बड़ी-बड़ी आशाएँ हैं लेकिन एक समय आता है कि उनकी आँखें खुलती हैं और अच्छी तरह खुलती हैं। मिस्टर क्लार्क जब एक बार उन्हें कौंसिल की उनकी स्पीच पर बधाई देते हैं तो वह कहते हैं—

हाँ, अगर वहाँ भाषण करना, प्रश्न करना, बहस करना काम है तो आप हमारा जितना बड़ाई करना चाहता है करें, पर मैं उसे काम नहीं समझता। यह तो पानी मारना है। हमारा तो अब वहाँ मन नहीं लगता। पहले तो सब आदमी एक नहीं होता और कभी हो भी गया तो गवर्नमेंट हमारा प्रस्ताव खारिज कर देता है। हमारा मेहनत खराब हो जाता है। यह तो लड़कों का खेल है। हमको नये कानून से बड़ी आशा थी पर तीन-चार साल उसका अनुभव करके देख लिया कि इसमें कुछ नहीं होता। हम जहाँ तब था वहीं अब भी है। मिनिस्टरी का गर्व बढ़ता जाता है, उस पर कोई टीका करे तो सरकार बोलता है मानो ऐसा नहीं

कहना चाहिए। बजट बनाने लगता है तो हर एक आइटम में दो-चार लाख ज़्यादा लिख देता है। हम कौंसिल में जब ज़ोर देता है तो हमारा वोट रखने के लिए वही फ़ालतू रुपया निकाल देता है। मेंबर खुशी के मारे फूल जाता है — हम जीत गया हम जीत गया! पूछो तुम क्या जीत गया? तुम क्या जीतेगा? तुम्हारे पास जीतने का साधन ही नहीं है, तुम कैसे जीत सकता है? कौंसिल कुछ नहीं कर सकता एक पत्ती तक नहीं तोड़ सकता। जो आदमी कौंसिल को बना सकता है वही उसको बिगाड़ भी सकता है। भगवान जिलाता है तो भगवान ही मारता है। कौंसिल को सरकार बनाता है और वह सरकार की मुट्ठी में है। जब जाति द्वारा कौंसिल बनेगा तब उससे देश का कल्याण होगा यह सब जानता है। पर कुछ न करने से कुछ करते रहना अच्छा है।

क्लार्क जो गोरी सत्ता का एक स्तम्भ है एक जगह कह गुज़रता है — मगर जाति भारत को अनंत काल तक अपने साम्राज्य का अंग बनाये रखना चाहती है। कंज़र्वेटिव हो या लिबरल, रेडिकल हो या लेबर, नेशनलिस्ट हो या सोशलिस्ट इस विषय में सभी एक ही आदर्श का पालन करते हैं। आधिपत्य त्याग करने की वस्तु नहीं है। संसार का इतिहास केवल इसी एक शब्द 'आधिपत्य प्रेम' पर समाप्त हो जाता है। हम सब के सब — मैं स्वयं हूँ — साम्राज्यवादी हैं। अंतर केवल उस नीति में है जो भिन्न-भिन्न दल इस जाति पर आधिपत्य जमाये रखने के लिए ग्रहण करते हैं। कोई कठोर शासन का उपासक है कोई सहानुभूति का कोई चिकनी-चुपड़ी बातों से काम निकालने का।

मजूरों की बातों से नाराज़ होकर जब एक बार उन्हें सभा-भवन से बाहर निकालने के लिए पुलिस बुलायी जाती है तो उनका और भी गहरा मोहभंग होता है और वह भरी सभा में गरजकर कहते हैं —

आप पशुबल से मुझे चुप करना चाहते हैं इसलिए कि आपमें धर्म और न्याय का बल नहीं है। आज मेरे दिल से यह विश्वास उठ गया जो मुझे चालीस वर्षों से बना हुआ था कि गवर्नमेंट हमारे ऊपर न्याय बल से शासन करना चाहती है। आज उस न्याय-बल की क़लई खुल गयी, हमारी आँखों से पर्दा उठ गया और हम गवर्नमेंट को उसके नग्न आवरणहीन रूप में देख रहे हैं। अब हम स्पष्ट दिखायी दे रहा है कि केवल हमको पीसकर तेल निकालने के लिए, हमारा अस्तित्व मिटाने के लिए हमारी सभ्यता और हमारे मनुष्यत्व को हनन करने के लिए हमको अनन्तकाल तक चक्की का बैल बनाये रखने के लिए हमारे ऊपर राज्य किया जा रहा है।

कुँवर भरत सिंह भी प्रतिष्ठाशील आदमी हैं लेकिन नियमवादी हैं, निश्चित

है, उदासीन हैं। गंगुली उनके उल्टे हैं—आशावादी और कर्मठ। कार्तिक से उनका मोह भंग हुआ तो और कुछ करना चाहते हैं अधिक सतेज। लेकिन कुँवर साहब उसमें भी उनका साथ नहीं दे पाते तो गंगुली उलाहने के शब्दों में उनसे बहुत तेज बातें कहते हैं। इसमें मुंशीजी की भी आवाज मिली हुई है—

वाह! तो कुँवर विनय सिंह का मृत्यु भी आपके इस बेड़ी को नहीं तोड़ सका! हम समझा था आप निर्बन्ध हो गया होगा पर देखता हूँ तो वह बेड़ी ज्यों का त्यों आपके पैरों में पड़ा हुआ है। जब तक हम इस बेड़ी को न तोड़ सकेगा हमारा काम कभी पूरा नहीं हो सकता। अब तो आपको मालूम हो गया होगा कि हम जायदादवालों को क्यों निकम्मा समझता है, क्यों उन पर भरोसा नहीं करता। वह तो जायदाद का गुलाम है। वह कभी सच्चाई का लड़ाई नहीं लड़ सकता। जो सिपाही सोने का ईंट गर्दन में बाँधकर लड़ने चले वह कभी लड़ नहीं सकता। उसको अपने ईंट का चिन्ता लगा रहेगा। अब तक हमको कुछ शक था तो अब विश्वास हो गया कि जायदादवाला आदमी हमारा मदद करने के बदले उल्टा हमको नुकसान पहुँचाता है।

जिस कठिन मिराशा की घाटी से राष्ट्रीय आन्दोलन इस समय गुजर रहा है उसकी कैसी निर्मम पर कैसी सच्ची तस्वीर कुँवर भरत सिंह के माध्यम से पेश की गयी है—

कुँवर भरत सिंह अब फिर विलासमय जीवन व्यतीत कर रहे हैं, फिर वही सैर और शिकार है, वही अमीरों के चोंचले वही रईसों के आडम्बर, वही ठाट बाट। उनके धार्मिक विश्वास की जड़ें उखड़ गयी हैं। इस जीवन से परे अब उनके लिए अनन्त शून्य और अनन्त आकाश के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। लोक असार है, परलोक भी असार है, जब तक जिन्दगी है हँस-खेलकर काट दो। मरने के पीछे क्या होगा कौन जानता है। संसार सदा इसी भाँति रहा है और इसी भाँति रहेगा उसकी सुव्यवस्था न किसी से हुई है और न होगी। बड़े-बड़े ज्ञानी बड़े बड़े तत्ववेत्ता ऋषि-मुनि मर गये और कोई इस रहस्य का पार न पा सका। हम जीवमात्र हैं और हमारा काम केवल जीना है। देशभक्ति विश्वभक्ति सेवा परोपकार, यह सब ढकोसला है।

उनकी पत्नी रानी जाह्नवी बिलकुल अपने पति की उल्टी हैं एक सच्ची वीर माता जैसी वीरमाताओं की कहानियों से राजस्थान का इतिहास भरा पड़ा है। विनय उनकी आँखों का तारा है लेकिन उसके मरने पर उनकी आँखों से एक आँसू नहीं निकलता—

रानी की आँखों में आँसू न थे मुख पर शोक का चिह्न न था। उनकी

आँखों में गर्व का मद छाया हुआ था, मुख पर विजय की आभा झलक रही थी। सोफ़िया को गले से लगाती हुई बोली — क्यों रोती हो बेटी? विनय के लिए? वीरों की मृत्यु पर आँसू नहीं बहाये जाते, उत्सव के राग गाये जाते हैं। मुझे उसके मरने का दुख नहीं है। दुख होता अगर वह आज प्राण बचाकर भागता। यह तो मेरी चिरसंचित अभिलाषा थी, बहुत ही पुरानी। जब मैं युवती थी और वीर राजपूतों तथा राजपूतानियों के आत्मसमर्पण की कथाएँ पढ़ा करती थी। उसी समय मेरे मन में यह कामना अंकुरित हुई थी कि ईश्वर मुझे भी कोई ऐसा ही पुत्र देता, जो उन्हीं वीरों की भाँति मृत्यु से खेलता, जो अपना जीवन देश और जाति-हित के लिए हवन कर देता, जो अपने कुल का मुख उज्ज्वल करता। मेरी वह कामना पूरी हो गयी। आज मैं एक वीर पुत्र की जननी हूँ। क्यों रोती हो? इससे उसकी आत्मा को क्लेश होगा। तुमने तो धर्मग्रन्थ पढ़े हैं। मनुष्य कभी मरता है? जीव तो अमर है। उसे तो परमात्मा भी नहीं मार सकता। मृत्यु तो केवल पुनर्जीवन की सूचना है, एक उच्चतर जीवन-मार्ग। विनय फिर संसार में आयेगा, उसकी कीर्ति और भी फैलेगी। जिस मृत्यु पर घरवाले रोवें वह भी कोई मृत्यु है! वह तो एड़ियाँ रगड़ना है। वीर मृत्यु वही है जिस पर बेगाने रोवें और घरवाले आनन्द मनावें।

विनय, सोफ़िया, प्रभुसेवक नयी पीढ़ी के लोग हैं। वह देश के लिए बड़ा कुछ काम करना चाहते हैं। उनके खून में गर्मी भी है। लेकिन देश की राजनीति इस समय ठंडी पड़ी है। बस कौंसिलों की बहसें और कुछ सेवा-समिति के काम। इतनी ही इस समय की कुल राजनीति है। लिहाजा विनय और प्रभुसेवक दोनों अपना सारा जोश लेकर सेवा-समिति में सम्मिलित होते हैं। लेकिन उसका नेतृत्व बुजुर्ग हाथों में है जिन्हें ज्यादा जोश से डर मालूम होता है। लिहाजा टकराव पैदा होता है।

जवाहरलाल नेहरू अपनी आत्मकथा में लिखते हैं—

कोकोनाडा कांग्रेस में जो कि दिसम्बर १९२३ में हुई थी मुझे खास दिलचस्पी थी क्योंकि वहीं पर एक अखिल भारतीय स्वयंसेवक संगठन 'हिन्दुस्तानी सेवा दल' की नींव पड़ी। असहयोग आन्दोलन और जेल जाने के लिए पहले भी स्वयंसेवक संगठनों की कोई कमी न थी लेकिन उनमें अनुशासन नहीं था, एकसूत्रता नहीं थी। डाक्टर हार्डीकर के मन में यह विचार आया कि एक अनुशासनबद्ध अखिल भारतीय संगठन होना चाहिए जो कांग्रेस की देखरेख में राष्ट्रीय काम करे। इस काम में सहयोग देने के लिए उन्होंने मुझसे आग्रह किया और मैंने खुशी से सहयोग किया क्योंकि मुझे भी यह चीज पसंद थी। स्थापना कोकोनाडा में हुई। बाद में

हमें यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि कांग्रेस के नेताओं में भी कितने ही थे जो सेवासदन के कट्टर विरोधी थे। कुछ लोग कहते थे कि यह एक खतरनाक मोड़ है क्योंकि इसका मतलब होगा कांग्रेस के भीतर सैनिक तत्व का समावेश करना।

'चौगाने हस्ती' पहली अप्रैल १९२४ को तैयार हुई और कुछ अजब नहीं कि नये और पुराने युग के इसी टकराव की तरफ़ मुंशीजी का इशारा हो और यह भी साफ़ है कि उनकी हमदर्दी नये युग के साथ है जिसका प्रतिनिधित्व उस समय जवाहरलाल नेहरू कर रहे थे और कम या ज़्यादा बहुत बरस बाद तक करते रहे। याद रखने की ज़रूरत है कि भारतीय राजनीति में जवाहरलाल का उदय उन्हीं दिनों हुआ था और बड़ी आन-बान के साथ हुआ था। उत्तर भारत के किसानों की जागृति का श्रेय बड़ी हद तक उन्हीं को है और उन्हीं दिनों ठीक उन्हीं दिनों इस काम की शुरुआत हुई थी। गाँव-गाँव वह घूमते फिरे थे और बावजूद इसके कि उनकी शिक्षा-दीक्षा बिलकुल दूसरे ढब की थी हाल में ही विलायत से लौटे थे और अंग्रेज़ियत उनमें कूट-कूटकर भरी थी उनके सच्चे उत्साह ने थोड़े ही दिनों में उन्हें जनता का सरताज बना दिया था। यह भी उनकी विराट् लोकप्रियता का ही एक छोटा-सा संकेत था कि सन् २४ में जब देशबंधु चितरंजनदास और विट्ठल भाई पटेल क्रमशः कलकत्ता और बम्बई के कार्पोरेशन के मेयर थे नवयुवक जवाहरलाल इलाहाबाद की म्युनिसिपैलिटी के चेयरमैन थे। यह सब उन्हीं दिनों की बात है जब कि रंगभूमि लिखी जा रही थी और यह ताज्जुब की बात न होगी अगर विनय के चरित्र में जवाहरलाल नेहरू की छाया हो वैसी ही जैसी कि मुंशीजी ने खुद अपने एक पत्र में स्वीकार किया है, सोफ़िया के चरित्र में ऐनी बेसेन्ट की छाया है। उन्होंने तो ऐनी बेसेन्ट को सोफ़िया का असल बतलाया है लेकिन वह शायद ज़्यादती है क्योंकि पूरा चरित्र किसी का भी नहीं है केवल छायाएँ उतर आयी हैं — जो कि स्वाभाविक भी था क्योंकि यही राजनीतिक आकाश के नक्षत्र थे और मुंशीजी स्पष्ट मन से राजनीतिक उपन्यास लिख रहे थे। सूरदास के रूप में गांधीजी की उद्भावना सिद्ध है। बाप-बेटे कुँअर भरत सिंह और विनय के रूप में मोतीलाल और जवाहरलाल नेहरू का संकेत बराबर मिलता है। ऐसा ही एक संकेत और भी है। विनय सेवा-समिति के एक जत्थे के साथ राजस्थान जाता है। देशी रियासतों की जैसी हालत थी वहाँ जनता के बीच किसी तरह का कोई काम करना राजद्रोह से कम नहीं समझा जाता और नतीजा होता है कि विनय पकड़कर जेल में डाल दिया जाता है। यही चीज़ जवाहरलाल के साथ इन्हीं दिनों हुई — जब कि वह पंजाब की एक रियासत नाभा में गये और वहाँ पकड़ लिए गये। महाराजा पटियाला और महाराजा नाभा में एक अर्से से खानदानी झगड़ा चला आ रहा था और

इस झगड़े का बहाना बनाकर सरकार ने नाभा रियासत को अपने क़ब्ज़े में ले लिया और रियासत का प्रबन्ध करने के लिए एक अंग्रेज़ हाकिम को वहाँ पर भेज दिया। नाभा के लोग अपने महाराजा के गद्दी से उतारे जाने पर यों ही क्षुब्ध थे, अब उस अंग्रेज़ हाकिम ने जैतो नामक स्थान पर सिक्खों के एक धार्मिक उत्सव पर रोक लगा दी तो सिक्खों का आन्दोलन शुरू हो गया और अकालियों के जत्थे पर जत्थे पहुँचने लगे। जवाहरलाल को स्थिति का अध्ययन करने के लिए कांग्रेस की ओर से वहाँ भेजा गया और वह पहुँचते ही गिरफ़्तार कर लिये गये। फिर अपनी रिहाई के लिए उन्हें जो-जो पापड़ बेलने पड़े उसकी सारी कहानी उन्होंने अपनी आत्मकथा में लिखी है। वह तो खैर छूट गये क्योंकि ऊपर से बहुत ज़ोर पड़ा मगर उनके साथ के लोगों को सज़ाएँ हो गयी। रियासती जनता की हालत की ओर से कांग्रेस अब तक बिलकुल बेख़बर थी और गोकि रियासतों में प्रजामण्डल की स्थापना में इसके बाद भी दस-बारह बरस का समय लगा लेकिन इसमें संदेह नहीं कि जवाहरलाल नेहरू के निजी अनुभव ने ज़ोर से सबका ध्यान अपनी तरफ़ खींचा। मुंशीजी ने विनय के माध्यम से देसी रियासतों का खाका उतारा। हो सकता है कि यह एक बिलकुल आकस्मिक संयोग हो लेकिन चूँकि यह घटना भी ठीक उसी समय यानी १९२१ के अगस्त-सितंबर की है इसलिए ऐसा समझ में आता है कि हो सकता है इसकी भी कुछ छाया मुंशीजी के मानस पटल पर हो। उसी तरह संभव है कुँअर भरत सिंह के मित्र डाक्टर गांगुली में देशबंधु चितरंजन दास की झलक हो। देशबंधु स्वराज पार्टी के संस्थापक और नेता थे। कौंसिलों में जाकर सरकार का विरोध करने की नीति के प्रवर्तक वही थे। बंगाल की असेंबली में उन्हीं का बहुमत था और वही अपने दल के सर्वमान्य नेता थे। उनका वही रूप डाक्टर गांगुली में उभर आया है। उस राजनीति से डाक्टर गांगुली को जो निराशा होती है उसमें भी चितरंजन दास के जीवन के शेष पर्व की कुछ झलक है। मोतीलाल नेहरू को लिखे गये उनके अंतिम दिनों के पत्र और फ़रीदपुर की उनकी अंतिम वक्तृता दोनों ही में उनके मन की वेदना झलकती है, वरना इस राजनीति की व्यर्थता के बोध की और वेदना भरी अनेक सहधर्मियों के प्रक्षोभ भी।

मुंशीजी की राजनीति लोकोन्मुखी है — जनता के दुःख-दर्द, जनता की संवेदनाओं और जनता के सपनों की राजनीति, स्वाधीनताप्रेमियों के सजग, उत्तरोत्तर प्रबुद्ध वर्ग की राजनीति जो इस बात को समझता है कि उसकी शक्ति का स्रोत साधारण जनता में ही है। जो उसके जितना ही पास है उसके पाँव उतने ही मज़बूत हैं और जो जितना ही दूर है उसके पाँव उतने ही कमज़ोर। यह बात भी आकस्मिक नहीं है कि मुख्य कथा सूरदास को लेकर है और वह अंधा चमार ही उसका नायक

है। दूसरे सब उसका अनुगमन करनेवाले हैं। राजनीति का मतलब मुंशीजी के लिए आत्म-बलिदान है, और सही या गलत पढ़े-लिखे सफेदपोश लोगों की आत्म-बलिदान की क्षमता के बारे में उनका संदेह बहुत पुराना है।

सूरदास उनकी इसी आस्था और विनय इसी अनास्था का प्रतीक है। सूरदास मजबूती के साथ अंत तक मैदान में डटा रहता है और फिर वहीं खेत रहता है। कहीं उसके पैर नहीं डगमगाते। विनय के पैरों को डगमगाने के लिए बस बहाना चाहिए। राजस्थान में रियासत के बागी सोफ़िया को उड़ा ले जाते हैं। विनय के सारे सिद्धान्त सारे आदर्श हवा हो जाते हैं और वह बहककर शासक वर्ग से मिल जाता है और जनता के दमन में इतने मनोयोग से पुलिस का हाथ बँटाने लगता है कि उनसे भी दो कोस आगे निकल जाता है। पांडेपुर की लड़ाई जिस समय चल रही है उस समय वह धूर्त कायरतावश अपने घर में दुबका बैठा रहता है। सोफ़िया तक को उसका यह चलन अखरने लगता है और शहर के लोग तो जैसे उसकी खिल्ली उड़ाते ही हैं। उस दिन यह एक संयोग ही था कि वह घटनास्थल पर जा पहुँचता है। आसपास कुछ लोग उस पर बोली-ठोली कसते हैं जिससे उसको इतनी आत्मग्लानि होती है कि वह आवेश में आकर अपने को गोली मार लेता है। मौत उसकी कायरता पर पर्दा ही नहीं डालती एक हद तक उसे धो भी देती है। लेकिन एक हद तक ही।

एक और अनास्था मन में घर करती जा रही है—ईश्वर में। कारण संसार में अनीति का साम्राज्य। रुक्मिणी कहती है —

दौलतवालों पर अजाब भी नहीं पड़ता। उसका वार भी गरीबों ही पर होता है। हमारे बच्चे रोज ही नजर और आसेब की चपेट में आते रहते हैं पर आज तक कभी नहीं सुना कि किसी अंग्रेज के बच्चे को नजर लगी हो।

मुंशीजी इसका भाष्य करते हैं —

धर्म का मुख्य स्तंभ भय है। अनिष्ट की शंका को दूर कर दीजिए, फिर तीर्थ-यात्रा पूजा-पाठ स्नान-ध्यान रोजा-नमाज किसी का निशान भी न रहेगा। मसजिदें खाली नजर आयेंगी और मंदिर वीरान!

धर्म का दूसरा स्तंभ वह है जिसके बारे में ज्ञान सेवक कहता है —

क्या तुम समझते हो कि मैं और मुझ-जैसे हजारों आदमी जो नित्य गिरजे जाते हैं भजन गाते हैं आँखें बंद करके ईश-प्रार्थना करते हैं धर्मानुराग में डूबे हुए हैं? कदापि नहीं। अगर अब तक तुम्हें नहीं मालूम है तो अब मालूम हो जाना चाहिए कि धर्म केवल स्वार्थ-संगठन है

जहाँ धर्म से व्यापार में सहायता मिलती है वहाँ धर्म धारा है और जहाँ धर्म

व्यापार के मारे मरता है, वहाँ स्वराज्य। फिर भी मेरी और पट भी मेरी! जान सेवक ताहिर अली से कहता है—

धर्म और व्यापार को एक तराजू में तौलना मूर्खता है। धर्म धर्म है, व्यापार व्यापार। परस्पर कोई संबंध नहीं। संसार में जीवित रहने के लिए किसी व्यापार की जरूरत है, धर्म की नहीं। धर्म तो व्यापार का सिंगार है। वह धनाधीशों ही को शोभा देता है। खुदा आपको समाई दे, अवकाश मिले, घर में फ़ालतू रुपए हों तो नमाज पढ़िए, हज कीजिए, मसजिद बनवाइए, कुएँ खुदवाइए। तब मजहब है। खाली पेट खुदा का नाम लेना पाप है।

और तब धर्मभीरु ताहिर अली कहता है—

इक़बालवालों से अज़ाब भी काँपता है। खुदा का कहर गरीबों ही पर गिरता है।

देसी रियासतों की अंधेरगर्दी का, जिसकी तरफ़ अभी किसी का ध्यान नहीं जाता, नक्शा यह है—

चोरी कीजिए, डाके डालिए, घरों में आग लगाइए, गरीबों का गला काटिए, कोई आपसे न बोलेगा। बस कर्मचारियों की मुट्ठी गर्म करते रहिए। दिन-दहाड़े खून कीजिए, पर पुलिस की पूजा कर दीजिए, आप बेदाग़ छूट जायँगे, आपके बदले कोई बेकसूर फाँसी पर लटका दिया जायगा। कोई फ़रियाद नहीं सुनता। कौन सुने? सभी एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं। यही समझ लीजिए कि हिंसक जन्तुओं का एक गोल है, सब के सब मिलकर शिकार करते हैं और मिल-जुलकर खाते हैं। राजा है वह काठ का उल्लू।

यह एक रियासत के वासी के मुँह से निकली हुई बात है। अब सुनिए खुद दीवान साहब विनय से क्या कहते हैं—

रियासतों को आप सरकार की हरमसरा समझिए। हम सब इस हरमसरा के हब्शी ख्वाजासरा हैं। हम किसी की प्रेमपूर्ण दृष्टि को इधर उठने न दें। कोई मनचला जवान इधर कदम रखने का साहस नहीं कर सकता। अगर ऐसा हो तो हम अपने पद के अयोग्य समझे जायें। हमारा रसीला बादशाह इच्छानुसार मनोविनोद के लिए कभी-कभी यहाँ पदार्पण करता है। हरमसरा के सोए भाग्य उस दिन जग जाते हैं। आप जानते हैं बेगमों की सारी मनोकामनाएँ उनकी रूप-माधुरी, हाव-भाव और बनाव-सिंगार पर ही निर्भर होती हैं, नहीं तो रसीला बादशाह उनकी ओर आँख उठाकर भी न देखे। हमारे रसीले बादशाह पूर्वीय राग रस के प्रेमी हैं। उनका हुक्म है कि बेगमों का वस्त्राभूषण पूर्वीय हो, शृंगार पूर्वीय हो, रीति-नीति पूर्वीय हो, उनकी आँखें लज्जायुक्त हों, पश्चिम की चपलता उनमें

न आने पावे उनकी गति मरालों की गति की भाँति मन्द हो। पश्चिम की ललनाओं की भाँति उछलती-कूदती न चलें वे ही परिचारिकाएँ हों वे ही हरम की दारोगा वे ही हब्शी गुलाम वे ही ऊँची चहारदीवारी जिसके अन्दर चिड़िया भी पर न मार सके। आपने इस हरमसरा में घुस आने का दुस्साहस किया है, यह हमारे रंगीले बादशाह को एक आँख नहीं भाता और आप अकेले नहीं हैं आपके साथ समाजसेवकों का एक जत्था है। नादिरशाही हुक्म है कि जितनी जल्दी हो सके वह जत्था हरमसरा से दूर हटा दिया जाय। वह देखिए पोलिटिकल रेजिडेण्ट ने आपके सहयोगियों के हाथों की माला लिख भेजी है। कोई कोटे में कृषकों की सभाएँ बनाता फिरता है कोई बीकानेर में बेगार की जड़ खोदने पर तत्पर हो रहा है, कोई मारवाड़ में रियासत के उन करों का विरोध कर रहा है जो परम्परा से वसूल होते चले आये हैं। आप लोग साम्यवाद का डंका बजाते फिरते हैं। आपका कथन है प्राणी मात्र को खाने-पहनने और शान्ति से जीवन व्यतीत करने का समान स्वत्व है। इस हरमसरा में इन सिद्धान्तों और विचारों का प्रचार करके आप हमारी सरकार को नाखुश कर देंगे और उसकी आँखें फिर गयीं तो हमारा संसार में कहीं ठिकाना नहीं है। हम आपको अपने प्रेमकुंज में आग न लगाने देंगे।

मुंशीजी ने सजग आँखों से जीवन की रंगभूमि को देखा है — प्रेक्षागृह से भी और नेपथ्य से भी — और उन्हें खूब पता है कहाँ क्या खेल हो रहा है मगर देखनेवाले की निगाह बिलकुल उनकी अपनी है। जिस आदमी ने अपने विवेक की कसौटी पर न्योछावर हो जाने को ही जीवन की सबसे बड़ी सिद्धि माना है और कभी किसी चीज को मान्यता केवल इसलिए नहीं दी कि उस पर समाज की प्रचलित मान्यता का ठप्पा लगा हुआ है वही सोफ़िया के मुँह से जीवन का ऐसा विद्रोही आदर्श प्रस्तुत कर सकता था — मुझे उस वस्तु से घृणा है जिसे लोग सफल जीवन कहते हैं। सफल जीवन पर्याय है खुशामद, अत्याचार और धूर्तता का। मैं जिन महात्माओं को संसार में सर्वश्रेष्ठ समझती हूँ, उनके जीवन सफल न थे। सांसारिक दृष्टि से वे लोग साधारण मनुष्यों से भी गये-गुजरे थे जिन्होंने कष्ट झेले निर्वासित हुए पत्थरों से मारे गये कोसे गये और अन्त में संसार ने उन्हें बिना आँसू की एक बूँद गिराये बिदा कर दिया

जब से होश सँभाला मुंशीजी ने इसी तरह अपनी जिन्दगी को जिया था और उसका निचोड़ था यह उपन्यास जो पूरे छः बरस की मेहनत के बाद पहली अप्रैल १९२४ को तैयार हुआ — जिस बीच प्रेस भी फाँसी की तरह गले में पड़ा हुआ था। क्या-क्या उम्मीदें थीं इस प्रेस से और क्या हुआ। प्रेस खुलने देर नहीं और

नौकरी की तलाश होने लगी। तभी एक रोज़ नवलकिशोर प्रेस लखनऊ के बाबू विष्णुनारायण भार्गव का एक तार मुंशीजी को मिला। काम के लिए ही बुलाया था लेकिन मुंशीजी ने जाने के पहले कुछ बातों की सफ़ाई कर लेने की ग़रज़ से कुछ चिट्ठी-पत्री की। लेकिन उधर से वह तो पता नहीं क्यों बिलकुल चौंट हो गये। आख़िरकार मुंशीजी ने २६ सितम्बर १९२३ को काफ़ी दुखी होकर निगम साहब को लिखा —

बाबू विष्णुनारायण भार्गव के यहाँ से अभी ज़ेरे-बहस[1] के मुताल्लिक़ कोई ख़त नहीं आया। मैंने ख़ुद दो बार लिखा पर कोई जवाब नहीं। समझ गया वह भी एक रईसाना उचाव था। यह है हमारे शुरफ़ा[2] की तलव्वुन-मिज़ाजी[3] — ख़त का जवाब तक मंज़ूर नहीं और तलब या बज़रिए तार!

निराशा भी हुई, झल्लाहट भी। मगर ख़ैर। इसी का नाम ज़िन्दगी है।

प्रेस के बारे में १७ फ़र्वरी १९२४ को उन्होंने लिखा था — प्रेस चल रहा है। अभी नफ़ा तो नहीं हो रहा है मगर अपना ख़र्च आप सह लेता है। साले-आख़िर[4] तक मुमकिन है कि कुछ नफ़ा भी होने लगे। ख़याली पुलाव पकाने में मुंशीजी का जवाब नहीं है।

अपने ही ऊपर एक मीठी चुटकी लेते हुए मुंशीजी ने इस ख़त में यह भी लिखा था कि नई आमद इमरोज़-फ़र्दा[5] में होनेवाली है। अपनी हिमाक़त पर अफ़सोस करता हूँ और कहूँ, क़हरे दरवेश बरजाने दरवेश[6] के मिसदाक़[7] अपने किये पर नादिम[8] और मुतास्सिफ़[9] हूँ।

यह नयी आमद एक लड़की थी जो ८ मार्च को पैदा हुई। ख़ामख़ाह पैदा हुई, कि बस सिर्फ़ दुख देने के लिए। कुल तीन महीने ज़िन्दा रही और जिस रोज़ तीन महीने पूरे हुए इस दुनिया से रुख़सत हो गयी। अधेड़ उम्र में आकर यह एक बुरा दाग़ लगा सीने पर। माँ-बाप दोनों कलेजा थामकर रह गये। बाप ने तो जैसे-तैसे मन भी लिया माँ बिलकुल टूट गयीं।

५ जून १९२४ को मुंशीजी ने अपने दोस्त निगम साहब को अपने ग़म की यह दास्तान सुनायी —

मेरी छोटी लड़की जो ८ मार्च को पैदा हुई थी २८ की रात को दस्त और बुख़ार में मुब्तिला हुई। मैं समझता था आरिज़ी[1] शिकायत है, अच्छा हो जायगी

---

१ विचाराधीन विषय २ शरीफ़ों ३ चंचलपन ४ वर्ष के अंत ५ आज-कल ६ भिखारी का गुस्सा अपनी जान पर ७ अनुसार ८ ९ लज्जित और दुःखी १ क्षणिक

१८

लखनऊ में रहने का मुंशीजी के लिए यह पहला अवसर था और यह शहर उनको भा रहा था — सरशार और चकबस्त और दयाशंकर नसीम का लखनऊ। पानी भी मुआफ़िक़ था। सेहत अच्छी थी। क़लम ज़ोरों के साथ चल रहा था।

सितंबर २४ में पहुँचे नवम्बर में कर्बला निकल गयी। जनवरी आते आते रंगभूमि निकल आयी और निकलते ही चारों तरफ़ उसका शोर मच गया। ख़त आने लगे लेख छपने लगे। इन्हीं ख़तों में एक अंग्रेज़ी ख़त वेद्यापुल से पंडित अमरनाथ झा का था —

मैंने उसका एक-एक शब्द पढ़ा है और आपकी विलक्षण रचनात्मक प्रतिभा का अब पहले से भी ज़्यादा बड़ा प्रशंसक हो गया हूँ। सूरदास को अपना नायक बनाना अत्यन्त साहस का काम था लेकिन उसका चरित्र भी आपने कैसा सुन्दर खींचा है। रंगभूमि आधुनिक हिन्दी का एक गौरव-ग्रंथ बनेगी।

लेख लिखनेवालों में इस बार भी रामदास गौड़ सबसे पहले लोगों में थे। ख़ूब जी खोलकर उन्होंने तारीफ़ की थी। माधुरी ही में लेख छपा — जिसके अनौपचारिक संपादक मुंशीजी ही थे। महीने भर बाद नरोत्तम व्यास का लेख छपा। वह भी इसी रंग में। अपनी तारीफ़ किसे बुरी लगती है। मुंशीजी को भी नहीं। और यह बात पूरी तरह सच नहीं है जो उन्होंने अपने ३ जून १९३ के ख़त में बनारसीदास जी को लिखी थी कि धन या यश की लालसा मुझे नहीं रही।

धन की लालसा नहीं रही सचमुच नहीं रही कभी नहीं रही। यश की लालसा रही और ख़ूब रही — यह बात और है कि उस यश को पाने के लिए उन्होंने ज़िन्दगी में न कभी कोई ऐसा काम किया और न अपने विश्वासों के साथ किसी तरह का कोई समझौता किया। सच्चाई से निर्भय अपने रास्ते पर चलते रहे। कुछ लोग अगर साथ हो लिये तो क्या कहने, वर्ना अकेले ही चलते रहे। लेकिन उसका मतलब यह नहीं है कि निन्दा-स्तुति की ओर न वह वीतराग थे — और न इस तरह का कोई पाखण्ड उन्होंने रचा। किसी भी साधारण व्यक्ति की तरह अपनी तारीफ़ उन्हें अच्छी लगती थी और अपनी बुराई, बुरी। वीतराग

होते उदासीन होते तो अपनी छोटी से छोटी आलोचना के प्रति इतने सतर्क न होते।

दिसंबर १९२४ की माधुरी में 'कर्बला' की आलोचना करते हुए रामचन्द्र टण्डन ने यह शंका प्रकट की थी कि उस नाटक में हिन्दू पात्र क्यों लाये गये। उन्होंने लिखा कि हिन्दू पात्रों के समावेश से न हिन्दुओं को प्रसन्नता होगी न मुसलमानों को तुष्टि, इसलिए हिन्दू पात्र न लाये जाते तो कोई हानि न होती।

मुंशीजी ने इस शंका का उत्तर देते हुए अगले महीने ही लिखा —

यह ड्रामा ऐतिहासिक है और इतिहास से यह पता चलता है कि कर्बला के संग्राम में कुछ हिन्दू योद्धाओं ने भी हज़रत हुसेन का पक्ष लेकर प्राणोत्सर्ग किये थे अतः उन पात्रों का बहिष्कार करना किसी भाँति युक्तिसंगत न होता। रही यह बात कि उनके समावेश से हिन्दू और मुसलमान दो में से एक को भी प्रसन्नता न होगी, इसके लिए लेखक क्यों कुसूरवार ठहराया जाय ?

यह आपत्ति रचनाकार के मन से अधिक एकता की उस भूमि पर ही आघात करती है जो कि नाटक का प्राण और उसकी रचना का लक्ष्य है, इसलिए, संभव है मुंशीजी ने उसका जवाब देने में अतिरिक्त तत्परता दिखलायी हो। लेकिन इतनी ही बात नहीं है। टंडनजी ने अपनी समालोचना में मुंशीजी के इस दावे को ग़लत बताया था कि कर्बला को लेकर दूसरा कोई नाटक नहीं लिखा गया। मुंशीजी ने वे पंक्तियाँ साफ़ उड़ा दीं। इससे भी पता चलता है कि मुंशीजी को अपनी भलाई बुराई की काफ़ी परवाह रहती थी। सन् ३२ में एक बार ऐसा कुछ प्रसंग हुआ कि बनारसीदास चतुर्वेदी पर एक महाशय ने खूब जमकर कीचड़ उछाला जिससे चतुर्वेदीजी बहुत दुखी और क्षुब्ध हुए। उस समय चतुर्वेदीजी को समझाते हुए मुंशीजी ने १४ नवम्बर ३२ के अपने पत्र में लिखा था —

एक समय था कि किसी की एक मुख़ालिफ़ बात से मेरी कितनी ही रातों की नींद हराम हो जाती थी। लेकिन अब मैं उस मंज़िल को पार कर आया हूँ और अपने आप को ज़्यादा अच्छी तरह समझता हूँ।

उम्र के साथ-साथ प्रौढ़ता भी बढ़ी और उसी प्रौढ़ता ने बहुत-सी आलोचना की अवहेलना करने का गुरमन्त्र दिया। लेकिन वह दिन कभी न आया और शायद आ भी नहीं सकता — जब कि अपने यश का विस्तार उन्हें अच्छा न लगा हो और अपयश बुरा न लगा हो। यह बात और है कि यश के पीछे वह दौड़े नहीं और अपयश को लेकर विलाप करने नहीं बैठे — क्योंकि उन दोनों से बड़ी चीज़ थी गुप्त अपना काम जिसके पीछे आने अन्तःकरण का बल है, जैसा कि उन्होंने १४ नवम्बर १९३२ को चतुर्वेदीजी को लिखा था 'अपना अन्तःकरण निर्मल हो फिर चाहे कुछ कहा चाहिए'।

बहरहाल दिन अच्छे कट रहे थे यानी क़लम ख़ूब तेज़ी से चल रहा था। इतनी तेज़ी से कि सितंबर २४ से सितंबर २५ तक के एक साल में मुंशीजी ने न सिर्फ़ अधूरे 'कायाकल्प' को ख़त्म कर लिया था बल्कि रामचन्द्र टण्डन के कहने पर, उन्हीं की प्रति लेकर, अनातोल फ्रांस की अमर कृति 'थायस' का हिन्दी रूपान्तर भी कर डाला और जैसे यह भी काफ़ी न हो, रतननाथ सरशार के 'फ़सानए आज़ाद' का संक्षिप्त हिन्दी रूपान्तर 'आज़ाद कथा' भी कर डाला, जो ख़ुद एक हज़ार पन्नों का है। और छोटी कहानियाँ जो लिखीं सो सब घलुए में।

यक़ीनन अच्छी साइत में घर से चले थे, लखनऊ पहुँचते ही दो ऊँचे पाये की कहानियाँ क़लम से निकलीं — 'शतरंज के खिलाड़ी' और 'सवा सेर गेहूँ' और क़रीब छः महीने बाद 'सभ्यता का रहस्य'।

'सवा सेर गेहूँ' गाँवों में होनेवाली महाजनी लूट की (जिसे और भी चार चाँद लग जाते हैं जब कि महाजन ब्राह्मण हो!) एक बहुत ही भयानक क्रूर कहानी है जिसे इतने सादे लिबास में पेश किया गया है, इतने सहज अनलंकृत ढंग से कि वह क्रूरता और भी उभर आती है।

सीधे-सादे, चौपाल में कहे जानेवाले किस्से की तरह कहानी शुरू होती है —

● किसी गाँव में शंकर नाम का एक कुरमी किसान रहता था। सीधा-सादा ग़रीब आदमी था, अपने काम से काम, न किसी के लेने में न देने में। छक्का-पंजा न जानता था

एक दिन सन्ध्या समय एक महात्मा ने आकर उसके द्वार पर डेरा जमाया। तेजस्वी मूर्ति थी, पीताम्बर गले में, जटा सिर पर, पीतल का कमंडल हाथ में, खड़ाऊँ पैर में, ऐनक आँखों पर, संपूर्ण वेश उन महात्माओं का-सा था जो रईसों के प्रासादों में तपस्या, हवागाड़ियों पर देवस्थानों की परिक्रमा और योगसिद्धि प्राप्त करने के लिए रुचिकर भोजन करते हैं। घर में जौ का आटा था, वह उन्हें कैसे खिलाता। प्राचीन काल में जौ का चाहे जो महत्त्व रहा हो पर वर्तमान युग में जौ का भोजन सिद्ध पुरुषों के लिए दुष्पाच्य होता है। बड़ी चिन्ता हुई, महात्माजी को क्या खिलाऊँ। आख़िर निश्चय किया कि कहीं से गेहूँ का आटा उधार लाऊँ, पर गाँव भर में गेहूँ का आटा न मिला। सौभाग्य से गाँव के विप्र महाराज के यहाँ थोड़े से मिल गये। उनसे सवा सेर गेहूँ उधार लिया और स्त्री से कहा कि पीस दे। महात्मा ने भोजन किया, लंबी तानकर सोये। प्रातःकाल आशीर्वाद देकर अपनी राह ली। ●

मगर उसका आशीर्वाद शंकर को ऐसा फला कि विप्र महाराज ने पूरे सात साल तक उस सवा सेर अनाज को अंडे की भाँति सेकर एक रोज़ यह 'हिसाब

खड़ा कर दिया जो शंकर को निगल गया। उसने विप्रजी के यहाँ बीस वर्ष तक गुलामी करने के बाद इस प्रकार संसार से प्रस्थान किया

सवा सेर गेहूँ ने कैसे यह सब जादू कर दिखाया नहीं तो हम सच्ची प्रेत-कहानी का भयानक रस है।

सभ्यता का रहस्य' वर्तमान सामाजिक जीवन पर एक दुखी आत्मा का कठोर व्यंग्य है जिसमें एक खून के मुकदमे में रिश्वत लेनेवाले जज साहब जिनकी गिनती सभ्य लोगों में है एक गरीब किसान को जो अपने कई दिन के भूखे बैलों की वेदना से मर्माहत होकर उनके लिए किसी के खेत से थोड़ी-सी चरी काट लाता है छः महीने की सख्त कैद का हुक्म सुनाते हैं। जिससे जिस्मायो नतीजा निकलता है कि सभ्यता केवल हुनर के साथ ऐब करने का नाम है। आप बुरे से बुरा काम करें लेकिन अगर आप उस पर पर्दा डाल सकते हैं तो आप सभ्य हैं सज्जन हैं, जेंटिलमैन हैं। अगर आप में यह सिफ़त नहीं है तो आप असभ्य हैं, गँवार हैं बदमाश हैं।

शतरंज के खिलाड़ी मिर्जा सज्जाद और मीर साहब का कौन नहीं जानता नवाबी जमाने का विलासिता के रंग में डूबा हुआ लखनऊ जिसमें साकार हो उठा है—

छोटे-बड़े अमीर-गरीब सभी विलासिता में डूबे हुए थे। कोई नृत्य और गान की मजलिस सजाता था तो कोई अफीम की पिनक ही के मज़े लेता था। सभी की आँखों में विलासिता का मद छाया हुआ था। संसार में क्या हो रहा है इसकी किसी को खबर न थी। बटेर लड़ रहे हैं। तीतरों की लड़ाई के लिए पाली बदी जा रही है। कहीं चौसर बिछी हुई है। पौ बारह का शोर मचा हुआ है। कहीं शतरंज का घोर संग्राम छिड़ा हुआ है। राजा से लेकर रंक तक इसी धुन में मस्त थे। यहाँ तक कि फ़कीरों को पैसे मिलते तो वे रोटियाँ न लेकर अफीम खाते या मदक पीते

यह लखनऊ मुंशीजी का जाना-पहचाना है। इसके पहले वह यहाँ कभी आये नहीं लेकिन इसका कोना-कोना गली-गली, उनकी देखी हुई है। सरशार के साथ उन्होंने जी भर के सैर की है। यहाँ की बोलचाल यहाँ का रहन-सहन यहाँ के रीति-रिवाज—कुछ भी उनके लिए अनजाना नहीं है। सरशार ने जिस तरह उसी में डूबकर उसी का होकर, लखनऊ की रंगीन तसवीर खींची है उसी तरह मुंशीजी ने उस तसवीर को देखा भी है और उस गुज़रे ज़माने की रंगीनियों का क़यास करके

१

भी बहुत बार मसोस भी उठा है। लेकिन अब वह बात कुछ पुरानी हो गयी है,
वक़्त आगे बढ़ आया है और जिस क़दर असलियत का रंग तेज़ हुआ है उसी क़दर
रूमानियत का रंग फीका पड़ा है। अब वह कुछ निस्संग होकर भी उस लखनऊ को
देख सकता है और तब उसे लगता है कि लखनऊ की जो दुर्गत अंग्रेज़ी दौर में आकर
हुई, जिस तरह नवाबी का ख़ात्मा हुआ उसके अलावा उन हालात में दूसरा कुछ
हो भी न सकता था — अपना समाज खुद जो खोखला हो गया था भीतर से।
लिहाज़ा जो बात सरशार ने अनकही छोड़ दी थी या जिसे कह सकना सरशार के
लिए अपने वक़्त में मुमकिन न था उसे मुंशीजी ने लखनऊ में क़दम रखते ही अपनी
इस कहानी में कहा — शतरंज के हाथों बादशाहत के तबाह होने की कहानी।

इधर देश की राजनीतिक दशा भयंकर होती जा रही थी। कम्पनी की फ़ौजें
लखनऊ की तरफ़ बढ़ी चली आती थीं। शहर में हलचल मची हुई थी। लोग बाल-
बच्चों को लेकर देहातों में भाग रहे थे पर हमारे दोनों खिलाड़ियों को इसकी ज़रा
भी फ़िक्र न थी।

आखिरकार ये लोग अपनी शतरंज की बाज़ी में ही डूबे रहते हैं और लखनऊ
पर कम्पनी का क़ब्ज़ा हो जाता है नवाब वाजिद अली पकड़कर ले जाये जाते हैं।
मिर्ज़ा साहब और मीर साहब के कान पर जूँ नहीं रेंगती। लेकिन फिर एक दिन
खेल ही खेल में दोनों में बतकड़ाव हो जाता है दोनों कमर से तलवार निकाल लेते
हैं, पैंतरे बदलते हैं, तलवारें चमकती हैं, छपाछप की आवाज़ आती है दोनों चोट
खाकर गिरते हैं और वहीं तड़प-तड़पकर मर जाते हैं।

चारों तरफ़ सन्नाटा छाया हुआ था। खँडहर की टूटी हुई मेहराबें गिरी हुई
दीवारें इन लाशों को देखती और सिर धुनती थीं।

उसी पतन के युग का एक सुन्दर मार्मिक चित्र है यह अपने आप में संपूर्ण
देशकालातीत अपने मनोवैज्ञानिक विषय में। ध्यान भी नहीं जाता कि उसके पीछे
कोई सामयिक आग्रह भी है विशेषतः इसलिए कि वह एक बीते युग की कहानी है।

यहीं पर जाता है। अगर वह युग सचमुच बीत गया होता तो शायद उसकी
कहानी का खयाल भी न आता कम से कम मुंशीजी को — बीता नहीं है इसीलिए
यह कहानी कही जा रही है और इसी में उसकी प्रासंगिकता है।

मुंशीजी के लिए इतिहास कोरा इतिहास यानी अतीत की बातें नहीं है। होगा
जिसके लिए होगा। बच्चों के लिए होता है। मुंशीजी के लिए नहीं जो वह उनका
बहुत प्रिय विषय है। लेकिन उसका महत्व भी इसी में है कि उसमें वर्तमान के
लिए कुछ रोशनी मिलती है।

एक बार का ज़िक्र है सन् ३१ के नवम्बर महीने का। मुंशीजी एक मार्टिनियर

समारोह के सिलसिले में पटने पहुँचे। वहाँ लोगों ने सोचा कि मुंशीजी को म्यूज़ियम भी दिखलाना चाहिए, देखने लायक चीज़ है। समारोह के कर्ता-धर्ता नवलकिशोर उस दिन को याद करते हुए लिखते हैं — दोपहर को पटना म्यूज़ियम देखने के लिए हम लोग चल पड़े। मौर्यकाल और गुप्तकाल के शिलालेख मूर्तियाँ बर्तन सिक्के वगैरह सब दिखलाये। वह बच्चों की तरह उन चीज़ों को देखते जा रहे थे। कौतूहल उन्हें कुछ होता था पर कोई ख़ास दिलचस्पी उन्होंने नहीं दिखलायी। हाँ जब स्वास्थ्य विभाग की ओर गये और बिहार के गाँवों का मिट्टी का बना हुआ स्केच (मॉडल) देखा तो रम गये। रोग-बीमारी की पारिवारिक झाँकियों को भी बड़े गौर से देखने लगे और बोले — हम इन समस्याओं की ओर ध्यान देना चाहिए। इन जंगली लोगों को सभ्य बनाना चाहिए। हज़ार वर्ष पहले की मिट्टी में गड़ी हुई चीज़ों से हमें क्या लाभ? हम तो वर्तमान की दशा का प्रश्न हल करना चाहिए।

शतरंज के खिलाड़ी के संग भी यही बात है। नवाबी ज़माने की पस्ती के दौर की यह कहानी जो लिखी जा रही है सितम्बर-अक्तूबर १९२४ में जबकि भारतीय राजनीति भी ऐसी ही पस्ती के एक नये दौर से गुज़र रही है जब कि लोगों में उसी तरह राजनीतिक भावों का अधःपतन हो गया है सब अपने-अपने खेल-तमाशे में राग-रंग में लिप्त हैं देश की चिन्ता किसी को नहीं है राजनीति शतरंज की बिसात होकर रह गयी है जिस पर सब लोग सारे दल और गिरोह अपनी-अपनी चालें चलने में लगे हुए हैं हिन्दू मुसलमान को नीचा दिखाना चाहता है मुसलमान हिन्दू को ज़क देना चाहता है कौंसिलों में म्युनिसिपैलिटी में यहाँ वहाँ सब जगह सीटों के लिए गोटियाँ बैठायी जा रही हैं नौकरियों के लिए छीना झपटी हो रही है — और कम्पनी बहादुर का पौरी इत्मीनान का शिकंजा जिस तरह कसता चला जा रहा है उसकी किसी को फ़िक्र ही नहीं!

मुंशीजी को बहरहाल है और बहुत है। दिन-रात यही एक फ़िक्र उनके मन पर किसी भारी बट्टे की तरह छायी रहती है और दिमाग़ उसी की उधेड़बुन में लगा रहता है। आदमी के हाथों आदमी का खून बहे यह कुछ कम भयानक बात नहीं है लेकिन उतना ही ही कम नहीं है। आज़ादी की तहरीक इसी आदमी रक्त समन्दर में हमेशा के लिए डूबी जा रही है जैसे जैसे आए।

और इस दिमाग़ी सम्बन्ध को क्या करें जो एक बात म एक ही चर्ख़ी पर दौड़ता जाता है! चिड़े की एक टाँग कुछ भी बात हो वह घूम-फिरकर एक न एक रास्ता इस प्रश्न से आ ही जाता है।

जैसे कि इसी वातावरण में। इस लिहाज़ उसी पर देखो में काम हो रहा है। कोई सीधा सम्बन्ध इस प्रश्न से उसे नहीं है। लेकिन जनता की मन्शा में

ता है स्वराज्य से तो है। तो फिर इस सवाल से कैसे न हो सभी-छिपटी यों है
सब बातें एक-दूसरे से कोई अलग करना भी चाहे तो कैसे करे।

लिहाज़ा 'कायाकल्प' में उनके मन की यह तस्वीर इस रंग में कागज़ पर उतर आती है—

आगरे के हिन्दुओं और मुसलमानों में आये दिन जूतियाँ चलती रहती थीं। ज़रा-ज़रा सी बात पर दोनों दलों के सिरफिरे जमा हो जाते और दो-चार के अंग भंग हो जाते। कहीं बनिये ने डंडी मार दी और मुसलमानों ने उसकी दूकान पर धावा कर दिया कहीं किसी जुलाहे ने किसी हिन्दू का घड़ा छू लिया और मोहल्ले में फ़ौजदारी हो गयी। एक मुहल्ले में मोहन ने रहीम का कनकौआ लूट लिया और इसी बात पर मुहल्ले भर के हिन्दुओं के घर लुट गये दूसरे मुहल्ले में दो कुत्तों की लड़ाई पर सैकड़ों आदमी घायल हुए क्योंकि एक सोहन का कुत्ता था दूसरा सईद का। नित्य के रगड़े-झगड़े साम्प्रदायिक मवाद के जोश में खींच लाये जाते थे दोनों ही दल मज़हब के नशे में चूर थे। मुसलमानों ने बक़ार गोकशी हिन्दू गैरो सौंपने लगे। सुबह को ख़्वाजा साहब हाकिम ज़िला को सलाम करने जाते शाम को बाबू यशोदानन्दन। दोनों देवताओं के भाग्य जागे। जहाँ कुछ निशोपासना किया करते वहाँ पुजारी जी की माँग छूटने लगी। मसजिदों के दिन फिरे, मस्जिदों में मुल्लाओं को बेदख़ल कर दिया। जहाँ भाँग बूटाकी करता था वहाँ पीर साहब की हँडिया चढ़ी। हिन्दुओं ने महावीर दल बनाया मुसलमानों ने अली दल की मस-रचाया। ठाकुरद्वारे में ईश्वर कीर्तन की जगह नबियों की निन्दा होती थी मस-जिदों में नमाज़ की जगह देवताओं की दुर्गत। ख़्वाजा साहब ने फ़तवा दिया—जो मुसलमान किसी हिन्दू औरत को निकाल ले जाय उसे एक हज़ार हज्जों का सवाब होगा। यशोदानन्दन ने काशी के पंडितों की व्यवस्था मँगायी कि एक मुसलमान का वध एक लाख गौदानों से श्रेष्ठ है

यह बुरा वक़्त है। हिन्दू अपने संगठन में लगे हैं मुसलमान अपनी तंज़ीम में। आये दिन गाय की कुर्बानी के सवाल पर, या बाजे-गाजे को लेकर मस्जिद नमाज़ के झगड़े होते रहते हैं। इन्सानियत और रवादारी की एक बात सुनने के लिए कोई तैयार नहीं है। ऐसी बात करनेवाला बेवकूफ़ या पागल समझा जाता है। ऐसे ही एक बौड़म की कहानी उन्होंने दो-तीन बरस पहले लिखी थी और उसका कुछ असर हुआ हो न हुआ हो बौड़म भी अपना बौड़मपन छोड़ने के लिए तैयार नहीं है। मंत्रीजी ने फिर वैसे ही एक बौड़म की कहानी लिखी—हिंसा परमोधर्म।

उधर 'कायाकल्प' में यशोदानन्दन की पत्नी वागेश्वरी (जिन मुंशीजी

पहले अपने पति के समान ही हिन्दू सभा में जाने की बात सोचकर फिर विचार बदल दिया) इसी तरह की रवादारी की बात करती है — निरन्तर समझाती रही इन झगड़ों में न पड़ो। न मुसलमानों के लिए दुनिया में कोई दूसरा ठौर ठिकाना है, न हिन्दुओं के लिए। दोनों इसी देश में रहेंगे और इसी देश में मरेंगे। फिर आपस में क्यों लड़ते-मरते हो, क्यों एक-दूसरे की गर्दन काटने पर तुले हुए हो? न तुम्हारे मिटाये वे मिटने जायेंगे, न उनके मिटाये तुम मिटने जाओगे। मिलजुलकर रहो, उन्हें बड़े होकर रहने दो, तुम छोटे ही होकर रहो। मगर मेरी कौन सुनता है।

ठीक तो है, कौन इस वक्त कान देता है ऐसी सब बातों पर। यही यशोदानन्दन और ख्वाजा महमूद एक वक्त लँगोटिया यार थे। दोनों में दाँत काटी रोटी थी। सेवा समिति में साथ-साथ काम करते थे। गंगा-स्नान के मेले में खोयी हुई बच्ची अहल्या को उन्हीं दोनों ने बचाया था और फिर यशोदानन्दन के घर में पली और बड़ी हुई। और फिर वह अमावस की रात जैसा घुप अँधेरा दिन आया कि ख्वाजा साहब ने खुद यह फ़तवा दिया — जो मुसलमान किसी हिन्दू औरत को निकाल ले जाय उसे एक हज़ार हज्जों का सवाब होगा।

और इस फ़तवे पर सबसे पहले अमल किया खुद उनके बेटे ने अहल्या को उड़ाकर।

ख्वाजा साहब को इसका पता नहीं है। उन्हें सिर्फ़ इतना मालूम है कि गुण्डे अहल्या को उड़ा ले गये। लेकिन इसका उन्हें गुमान भी नहीं है कि यह उनके बेटे की हरकत है और लड़की कहीं और नहीं खुद उनके घर में बैठी है।

यशोदानन्दन के खून और अहल्या के उड़ाये जाने से ख्वाजा साहब को एक ज़बर्दस्त सदमा लगता है और वह यशोदानन्दन की लाश के सिरहाने बैठकर रोते हैं और कहते हैं —

खुदा गवाह है, मैंने हमेशा इत्तहाद की कोशिश की। अब भी मेरा यह ईमान है कि इत्तहाद ही से इस बदनसीब क़ौम की नजात होगी। यशोदा भी इत्तहाद का उतना ही हामी था जितना मैं। शायद मुझसे भी ज़्यादा। लेकिन खुदा जाने वह कौन-सी ताक़त थी जो हम दोनों को बरसरेजंग रखती थी। हम दोनों दिल से मेल करना चाहते थे पर हमारी मर्ज़ी के खिलाफ़ कोई ग़ैबी ताक़त हमको लड़ाती रहती थी।

यह ग़ैबी ताक़त और कोई नहीं, आपसी दुश्मनी है, जिसका जन्म होता है इन दोनों के आपसी शक-शुबहे से।

इन्हीं दिनों, मार्च-अप्रैल १९२५ में उनकी एक कहानी छपी — मन्दिर

और मसजिद। उसके नायक चौधरी इतरतअली भी इसी तरह के एक सच्चे आचार-प्रधान हिम्मतवर आदमी हैं—

फ़ारसी और अरबी के आलिम थे। सदा से बड़े पाबन्द, सूद को हराम समझते। पाँचों वक्त की नमाज अदा करते, तीसों रोज़े रखते और नित्य क़ुरान की तलावत (पाठ) करते थे। मगर धार्मिक संकीर्णता कहीं छू तक नहीं गयी थी। प्रातःकाल गंगा-स्नान करना उनका नित्य का नियम था। पानी बरसे, पाला पड़े पर पाँच बजे वह कोस भर चलकर गंगा तट पर अवश्य पहुँच जाते। लौटते वक्त अपनी चाँदी की सुराही गंगाजल से भर लेते और हमेशा गंगाजल पीते। उनका सारा घर, भीतर से बाहर तक सातवें दिन गऊ के गोबर से लीपा जाता था। इतना ही नहीं उनके यहाँ बगीचे में एक पण्डित बारहों मास दुर्गा पाठ भी किया करते थे। उधर मुसलमान फ़क़ीरों का खाना बावर्चीख़ाने में पकता था और कोई सौ सवा सौ आदमी नित्य एक दस्तरख़ान पर खाते थे। उनकी रियासत में आम हुक्म था कि मुर्दों को जलाने के लिए, किसी यज्ञ या भोज के लिए, शादी-ब्याह के लिए सरकारी जंगल से जितनी लकड़ी चाहे काट ले। चौधरी साहब से पूछने की ज़रूरत न थी। हिन्दू असामियों की बरात में उनकी ओर से कोई न कोई ज़रूर शरीक होता था। नेवते के रुपये बँधे हुए थे। लड़कियों के विवाह में कन्यादान के रुपये मुकर्रर थे। उनके हाथी-घोड़े, तम्बू-शामियाना, पालकी नालकी, फ़र्श-जाजिम, पर्दे-चाँदर, चाँदी के महफ़िली सामान उनके यहाँ से बिना किसी दिक़्क़त के मिल जाते थे। माँगने भर की देर रहती थी।

इसी महीने एक और कहानी उनके क़लम से निकली— मुक्तिधन। दाऊदयाल नाम के एक काफ़ी कठोर, बेमुरौवत महाजन की कहानी जो ज़िन्दगी भर के लिए एक मुसलमान के एहसानमन्द हो जाते हैं क्योंकि उसने अपनी गाय पाँच रुपये कम पर उनके हाथ बेचना क़बूल किया लेकिन कसाइयों को देना नहीं। ख़्वाजा महमूद चौधरी इतरत अली दाऊदयाल सब पर आदर्शवाद का गहरा रंग चढ़ा हुआ है। लेकिन इसके लिए मुंशीजी को रत्ती भर सफ़ाई देने की ज़रूरत नहीं है। यही तो उनका अपना रंग है, इसमें दुविधा कैसी। वर्तमान के अँधेरे को इस आलोक-स्वप्न के सिवा और कैसे काट ही सकते हो तुम?

हरिहरनाथ नाम के एक गुमनाम नये लेखक को मुंशीजी ने एक बार (अंग्रेज़ी में) लिखा था—

घटनात्मक अंश को गौण करना चाहिए—किसके? चरित्रों का उद्घाटित करने के लिए परिस्थितियों का। नवयुवक को आशावादी भावना से लिखना चाहिए। उसका आशावाद संक्रामक होना चाहिए, ऐसा कि दूसरों में भी वह उसी

भावना का संचार कर सके। मेरे विचार में साहित्य का उच्चतम लक्ष्य उसे उन्नत है ऊपर उठाना। हमारे यथार्थवाद को भी यह बात नज़र से ओझल न करनी चाहिए। मैं तो तुम्हें मनुष्यों की सृष्टि करते देखना चाहूँगा — निर्भय, ईमानदार, स्वाभिमानी मनुष्य, हिम्मत से काम करनेवाले आदमी मनुष्य जिनके आदर्श ऊँचे हैं। वक़्त का तक़ाज़ा यही है।

यह ख़त सन् ३ की जनवरी का है लेकिन यह विश्वास ज़िन्दगी भर का है।

शुरू से उनकी तबीयत का यही रंग था और इस वक़्त भी जब कि ज़िन्दगी की झिलमिलाती हुई धूप में सब कुछ धुँधला जा रहा था मुंशीजी कछोटा बाँधे चुपचाप धीर-गंभीर मन से उस कच्ची धरती में जमकर हल चला रहे थे और बीज बो रहे थे न्याय के विवेक के प्रेम और भलाई के — जो किसी दिन उगेंगे, फलेंगे! उन्हें शायद खुद वह दिन देखना नसीब न हो, मगर उससे क्या। खुद क्या अपने कर्म की प्राप्ति में है? कर्म में स्वतः कोई गुण नहीं? कितनी बार कहा करते थे वह अपने बच्चों से — Virtue is its own reward (नेकी खुद अपना इनाम है)

वह चीज़ मिली हुई है मुंशीजी को विरसे में और वह चाहते हैं कि उनके बच्चों में भी इसी तरह मिल जाय। इससे बड़ी वसीयत अपने बच्चों के लिए उनके पास दूसरी नहीं है। सफलता की सीख वह नहीं देना चाहते। जिस चीज़ को दुनिया सफलता कहती है उससे उन्हें किसी मक़सद है। अपने बच्चों के बारे में ऐसी ही कुछ बात उन्होंने ३ जून १९३ को एक ख़त में बनारसीदास चतुर्वेदी को लिखी थी —

मुझे अपने दोनों लड़कों के विषय में कोई लालसा नहीं है। यही चाहता हूँ कि वह ईमानदार, सच्चे और पक्के इरादे के हों। विलासी धनी खुशामदी सन्तान से मुझे घृणा है

इस ख़त के पाँच बरस बाद की एक घटना की चर्चा उनकी धर्मपत्नी ने की है —

● मैं बनारस में थी। मेरी पड़ोसी का छोटा बच्चा आग से जल गया। उसके सारे बदन में फफोले पड़े हुए थे, कपड़े भी जले ही थे। मेरा छोटा बच्चा बाबू उसे वहीं बाहर पा गया। वह उस बच्चे को सीने पर ले दोनों हाथों का घेरा बना कर अन्दर लाया। उस समय बाबूजी मेरे पास बैठे थे। लड़का बोला — अम्मा, इसे कुछ दवा दो। उस बच्चे का बदन देखकर मेरे तो रोंगटे खड़े हो गए। मैं डरी कि कहीं इसे पकड़ा न लग जाए नहीं तो सारा बदन लहूलुहान हो जाएगा।

बाबू का उस बच्चे पर प्रेम देखकर उनकी आँखें भर आयीं। मुझसे बोले—जल्दी दो न इसे कुछ खाने को। मैंने उसे मिठाई और फल दिये और बोली—इसे कैसे पहुँचाओगे? धक्का लगते ही तो इसका शरीर टूट जायगा।

बाबू—मैं इसे आसानी से पहुँचा आऊँगा। उस बच्चे को लेकर वह उसी तरह नीचे पहुँचा आया। आप बोले—यह लड़का बड़ा दयावान मालूम होता है। भला उसे वह कैसे खाता! मेरी भी हिम्मत उसे खाने की न होती। मैं तो चोट लगने को डरता। भगवान इसे जीवित रखे। तुम देखना लड़का खिलौना भी तो बहुत था। माँ ही उसे छू सकती थी।●

बड़ी खुशी हुई थी उनको उस रोज आँखें भर आयी थीं—जो इंसानियत ढूँढ़ती फिरती थी और कहीं पा जाती थीं पलकों से उठाकर सीने में रख लेती थी!

गृहस्थ के चोले में सन्त का मन लेकिन वह सन्त नहीं था दुनिया से मुँह मोड़ कर जंगल की राह लेता है। वह तो प्यार करते हैं दुनिया को भली-बुरी जैसी भी है। लगाव है लेकिन अपने लिए खास अपने लिए कुछ भी नहीं निर्लेप-सा एक लगाव अगर ऐसी कोई चीज मुमकिन हो

और यही दुनिया आज जलकर राख हुई जा रही थी। बरसों से यह आपसी मारकाट का सिलसिला चल रहा था और जल्दी खत्म होने का कहीं कोई लक्षण दिखायी न देता था।

हवा बेतरह बिगड़ी हुई थी लेकिन मुंशीजी मुस्तैदी से अपना काम किये जा रहे थे। उनके लिए कहीं अकेलापन न था। नेक काम में इन्सान कभी अकेला नहीं होता। इसका मुंशीजी को पुराना अभ्यास है—इस अकेलेपन का जो अकेलापन नहीं है। बहुत बार ऐसे मौके आये हैं जब केवल उनकी आत्मा ने उनका साथ दिया है—और वह निर्भय अपने रास्ते पर चल पड़े हैं। उन्हें पता है कि वह ताकत जितनी बड़ी होती है वो अपने भीतर से आती है। महात्मा के गले में यह मुंशीजी की आवाज है— आत्मा कुछ न कुछ जरूर कहती है अगर उससे पूछा जाय। कोई माने या न माने यह उनका अख्तियार है।

मानना न मानना तो बाद की बात है, अक्सर लोग आत्मा से पूछते ही नहीं कुछ भी। क्या होगा पूछकर, जरूर कुछ उल्टी-सुल्टी बात कहेगी। उस रास्ते चलो जिस पर सब चल रहे हैं! यही सफलता का रास्ता है। आत्मा का रास्ता काँटों का रास्ता है। उस पर पागल चलते हैं। धीरे-धीरे उनकी आत्मा भी फिर गूँगी हो जाती है यही असल मौत है।

तभी तो मुंशीजी बराबर उसको तलवार की तरह पत्थर पर रगड़ते रहते हैं। तलवार की ही तरह उसका भी पानी तभी तक है जब तक कि वह लड़ाई

के मैदान में है — कमर से खोलकर आपने उसे खूँटी पर टाँगा नहीं कि उसका पानी उतरा।

अब से क़रीब पन्द्रह बरस पहले विक्रमादित्य का तेगा के नाम से उन्होंने जो कहानी लिखी थी वह सत्य और न्याय के पथ में उठनेवाली इसी तलवार की कहानी थी जिसे आत्मा या अन्तःकरण भी कहते हैं।

आत्मा कहो विवेक कहो उसको ज़िन्दा रहने के लिए ज़रूरी है कि बराबर संघर्ष करती रहे, असत्य से अविचार से अपने ही मन की संकुचित वृत्तियों से

स्वामी श्रद्धानन्द के लिए मुंशीजी के हृदय में सच्ची श्रद्धा है — उनके देश प्रेम के लिए, साहस के लिए, आत्मबलिदान के लिए, उन स्वामी श्रद्धानन्द के लिए जिन्होंने रौलट एक्ट के दिनों में गोरों की संगीनों के आगे अपना सीना खोल दिया था

लेकिन फिर समय के फेर में पड़कर वही स्वामी श्रद्धानन्द हिन्दू संगठन और शुद्धि आन्दोलन में खो गये। उनमें मुंशीजी की रत्ती भर सहानुभूति नहीं है। लेकिन आदर का भाव तब भी मन में रहा। वही जो एक गुमराह पर सच्चे और साहसी आदमी के लिए हमारे दिल में होता है। वो भी बात ख़त्म गयी थी और कुछ अजब नहीं कि नामाख़्स के मनोरंजन के पीछे हल्की-सी एक छाया श्रद्धानन्द की हो।

सन् २६ में जब रशीद नाम के एक नौजवान मुसलमान ने जिहाद के जोश में स्वामी जी का ख़ून कर दिया तो सारा देश एक बार काँप गया।

शुद्धि समाचार नामक आयसमाजी पत्र के श्रद्धानन्द बलिदान अंक में मुंशीजी ने एक छोटे लेख में स्वामी जी को इस तरह अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की —

यों तो स्वामीजी प्राचीन आर्य आदर्शों के पूर्णरूप से प्रवर्तक थे पर मेरे विचार में राष्ट्रीय शिक्षा के पुनरुत्थान में उन्होंने जो काम किया है उसकी कोई नज़ीर नहीं मिलती। ऐसे युग में जब अन्य बाज़ारी चीज़ों की तरह विद्या भी बिकती है यह स्वामी जी ही का दिमाग़ था जिसने प्राचीन गुरुकुल प्रथा में भारत के उद्धार का तत्व समझा। बौद्धकाल तक गुरुकुल प्रथा जीवित रही। मुस्लिम युग में यह प्रथा नष्ट हो गयी और उसके नष्ट होते ही राष्ट्र-जीवन का लंगर उखड़ गया। वर्ण और आश्रम जो आर्य-संस्कृति के स्तम्भ थे अपना अपनी स्व गौरव मान-पीठ के रूप में आ गए और गरज़ बस्तपारी मतर्भस्य पेट के बंधों में संन्यास और वानप्रस्थ का स्थान छीन लिया।

"ठीक बात है" आदर मान की जगह आदर-मान आलोचना की जगह पर आलोचना

जैसे कि स्वामीजी की एक पुस्तक पर लिखते समय मुंशीजी ने दोटूक कहा —

स्वामीजी ने हिन्दुओं और मुसलमानों के आपस के झगड़े की मुख्तसर तारीख लिखी है। झगड़े हमेशा होते रहे हैं। हिन्दुओं की बौद्धों और जैनियों से खूब लड़ाइयाँ हुईं। मुसलमानों की बौद्धों से बौद्धों की बौद्धों से हिन्दुओं की हिन्दुओं से। गरज जातिगत और धर्मगत लड़ाइयाँ परम्परा से होती चली आ रही हैं। मगर कोशिश यह होनी चाहिए कि हम उन झगड़ों को भूल जायें न कि गड़े मुर्दे उखाड़-उखाड़कर विरोध की आग और भड़काते रहें

इसी तरह काम-काज में डूबे हुए दिन गुजर रहे थे कि गर्मियाँ आ पहुँचीं और निगम साहब ने सोलन चलने का प्रस्ताव किया। उसके जवाब में मुंशीजी ने लिखा —

मैं जब कभी इस क़िस्म का इरादा करता हूँ तो मुझे फ़ौरन घरवालों का ख़याल आता है कि मैं तो वहाँ तफ़रीह करूँ और यह बेचारे यहाँ पड़े सड़ा करें। तबदील की ज़रूरत किसको नहीं महसूस होती लेकिन जो ख़ुदमुख़्तार हैं वह अपना इरादा पूरा कर लेते हैं जो मोहताज हैं वह दिल में सोचकर रह जाते हैं। इसी ख़याल से रुक जाता हूँ। कुनबे भर को लेके जाना मुश्किल। इसलिए यहीं पड़ा रहूँगा। खस का एक पर्दा और दो-तीन पैसे की रोज़ाना बर्फ़ मौसम की तकलीफ़ के लिए काफ़ी है।

यह कोई एक दिन की बात न थी उनके लिए। पहले भी और बाद को भी जब-जब ऐसा कोई मौक़ा आया मुंशीजी कतरा गये। जैसे कि उस बार, कोई दो-चार साल बाद सन् ३१ ३२ में जब जैनेन्द्रकुमार ने एक बार बहुत चाहा था कि मुंशीजी उनके साथ शान्तिनिकेतन चलें। उस वक़्त भी मुंशीजी ने यही बात कही थी। बोले — मैं तो वहाँ उस स्वर्ग की सैर करूँ यहाँ घर के लोग तकलीफ़ में दिन काटें, क्या यह मेरे लिए ठीक है? और सब को ले चलूँ इतना पैसा कहाँ है। और जैनेन्द्र महाकवि रवीन्द्रनाथ तो अपनी रचनाओं द्वारा यहाँ भी हमें प्राप्त हैं। क्या वहाँ मैं उन्हें अधिक पाऊँगा?

जैनेन्द्र इतनी आसानी से छोड़नेवाले न थे बोले — शान्तिनिकेतन को अधिकार हो सकता है कि वह आपको चाहे आपने कम ऐसे किये हैं कि आप मशहूर हों। तब आप कर्मपथ से कब नहीं भागे। चलिए न।

लेकिन मुंशीजी इतने पर भी राजी नहीं हुए, बोले — हाँ जैनेन्द्र यह सब ठीक है। लेकिन मैं अपने यहीं पड़ा हूँ तुम जाओ।

पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने भी बीसियों ही बार मुंशीजी को कलकत्ते बुलाया और खास तौर पर रवीन्द्रनाथ से मिलाने के लिए, लेकिन मुंशीजी अपनी जगह से नहीं हिले। एक दफा बनारसीदास जी ने उन्हें खान-पान की चिन्ता से भी मुक्त करना चाहा, लिखा —

आप जरूर आइए और मेरे साथ ठहरिए। हमें बड़ा सुख होगा। विशाल भारत का संपादक आपके लिए खाना पकायेगा। सम्भव है आपको उसकी पकाई हुई सीधी-सादी चीजें पसन्द न आवें लेकिन इतना जरूर है कि उनके पीछे सच्ची श्रद्धा होगी जो होटलों या सार्वजनिक रसोईघरों में नहीं मिल सकती। मैं यहीं कार्यालय में रहता हूँ। कृपया अपने आने की सूचना दें। आपके टिकट की व्यवस्था मैं आसानी से कर सकता हूँ उसकी चिन्ता न कीजिए कृपया। बाहरवाले बरामदे को अच्छी तरह नेवाड़ित भी कर दिया गया है — डू नाट बॉदर अबाउट इट प्लीज।

चतुर्वेदी जी ने शायद और कभी निरालेवाली बात लिखी थी जिसके जवाब में मुंशी जी ने १३ फरवरी १९३३ के अपने अंग्रेजी पत्र में लिखा था — मैं कलकत्ता आने को तैयार हूँ जब भी आप चाहें। ऐसा कोई अवसर होना चाहिए। तमाशबीन की तरह जाना और दूसरों से यह उम्मीद करना कि इसका सर्व वह दर्शनीय बने बेहूदा बात है। जब ऐसा कोई अवसर आयेगा, आप मुझे वहाँ पायेंगे सपत्नीक। जाना हो तो पत्नी के साथ और सम्भव हो तो बच्चे भी वर्ना नहीं जाता।

सन् ३५ में जब गुरुदेव आश्रम में वापस आये उस समय एक बार फिर बनारसीदास जी ने बहुत जोर लगाया कि मुंशीजी शान्तिनिकेतन जायें। लेकिन मुंशीजी टस से मस न हुए, वही फिर की एक टेक — माफ़ करें लिखा। धन्यवाद। कहा कि मैं भी गुरुदेव के दर्शन से खुश होता लेकिन क्या करूँ मजबूर हूँ। परिवार का बोझ छोड़ना भारी समस्या है। लड़के इम्तहानवाले में हैं और मैं अकेला जाऊँगा तो मेरी पत्नी कितना अकेलापन और अपमान अनुभव करेगी। अगर मैं उसको भी अपने साथ ले जाऊँ तो खर्च करने के लिए अच्छी खासी रकम हाथ में होनी चाहिए। इसलिए यही अच्छा है कि मैं अपने घर में पड़ा रहूँ पैसे की कमी का शिकार तो न बनना पड़ेगा।

इसके कुछ ही महीने पहले हजारीप्रसाद द्विवेदी ने २६ मार्च को लिखा था —

● उस दिन पं० बनारसीदास जी के साथ गुरुदेव से मिलने गया था। बातों ही बातों वर्तमान हिन्दी साहित्य के सम्बन्ध में चर्चा चली। ऐसे अवसरों पर आपका नाम सबसे पहले आता है। उस दिन भी आपके रचित साहित्य की चर्चा

बड़ी देर तक चलती रही। हम लोगों की इच्छा थी कि नववर्ष के अवसर पर आप जैसे आदरणीय साहित्यिकों को निमंत्रित करें और गुरुदेव से परिचय करावें। गुरुदेव ने हम लोगों के विचार का उत्साह के साथ स्वागत किया। इसीलिए हम लोगों ने निश्चय किया कि स्थानीय हिन्दी समाज का वार्षिकोत्सव नववर्ष (१४ अप्रैल १९३५) को मनाया जाय। उस दिन गुरुदेव का प्रवचन होता है। उसके पहले दिन भी जिस दिन वर्ष समाप्त होता है, उनका व्याख्यान होता है। कुछ और भी समारोह रहता है। गुरुदेव और आश्रम की ओर से निमंत्रण तो यथासमय जायेगा ही इसके पहले ही हम हिन्दी समाज की ओर से आपको निमंत्रित करते हैं। इस बार आप जरूर पधारें। हमारे आग्रहपूर्वक निमंत्रण को आप अस्वीकार न करें। आपको गुरुदेव से मिलाकर हम गर्व अनुभव करेंगे।

आपके साहित्य ने हिन्दी को समृद्ध किया है और हिन्दी-भाषियों को दुनिया में मुँह दिखाने लायक। इसीलिए आपके यश को हम लोग निर्विचार बाँट लिया करते हैं। जब हम रंगभूमि या कर्मभूमि को दूसरों को दिखाते हैं तो मन ही मन गर्वपूर्वक पूछा करते हैं—है तुम्हारे पास ऐसी कोई चीज। और इस प्रकार का गर्व करते समय हमें प्रेमचंद नामक किसी अज्ञात अपरिचित व्यक्ति की याद भी नहीं रहती—मानो सब कुछ हमारी ही कृति है। आज उस व्यक्ति को पत्र लिखते समय उसकी अनुमति के बिना उसके संपूर्ण यश को स्वायत्त कर लेने के अपराध के लिए जो हम क्षमा नहीं मांगते वह भी गर्व का ही एक दूसरा रूप है। आत्मीयता का इससे बड़ा प्रमाण हम क्या दे सकते हैं?

कहने की आवश्यकता नहीं कि इस पत्र से मुंशीजी भीतर ही भीतर आह्लाद और कृतज्ञता से भर उठे होंगे जीवन के शेष वर्ष में ऐसा अकुंठ स्नेह कहीं से तो मिला! लेकिन वो भी गये नहीं या यों कहें कि जा नहीं सके। किसी एक कारण से नहीं कई कारणों से। कुछ असमर्थता कुछ पारिवारिक कुछ अर्थकष्ट और कुछ वह बात जिसकी ओर जैनेन्द्रकुमार ने संकेत किया है—

बड़े शब्दों से कहीं अधिक उन्हें छोटी-सी सचाई छूती थी। जहाँ दिखावा था उनके लिए प्रेम ज़िन्दगी थी वहाँ प्रेमचन्द जी की निगाह थी। कुतुबमीनार, नई सेक्रेटेरियट बिल्डिंग आँख के मन में उत्सुकता तक न थी। कीर्तिस्तम्भ यह अथवा वह महापुरुष इनको देखने-जानने की लालसा उनकी प्रकृति में न थी।

बात १९२५ की गर्मियों में लोलम जाने से उठी थी और कहीं भी नहीं पहुँच पायी। ग़रज़ कि मुंशीजी न कहीं आये न गये चुपचाप एक कोने में बैठे हुए अपना काम करते रहे और ज़िन्दगी के दिन काटते रहे। ज़िन्दगी का मतलब मेरे लि

हमेशा एक ही रहा है—काम काम काम। जब मैं सरकारी नौकरी में था तब भी अपना सारा वक्त मैं साहित्य को ही देता था। मुझे काम करने में मजा आता है।—इन्द्रनाथ मदान को उन्होंने ७ सितम्बर ३५ को बम्बई से लिखा था।

दूसरी किसी चीज में न तो उन्हें मजा मिलता था और न उसके लिए उनके पास वक्त ही था। जैनेन्द्र को बड़ी हैरानी हुई थी जब मुंशीजी ने सन् ३६ की अपनी दिल्ली-यात्रा के समय उनको बतलाया था कि अपनी जिन्दगी में यह पहली बार वह दिल्ली आये हैं। पचपन-छप्पन साल की उम्र में पहली बार उन्होंने दिल्ली का मुँह देखा! और फिर उतनी ही हैरानी जैनेन्द्र को यह जानकर हुई थी कि इस प्रवास के यह सात दिन उनकी जिन्दगी के पहले सात दिन हैं (बीमारी के दिनों के अलावा) जब कि उन्होंने कुछ नहीं लिखा!

ऊपर से देखने पर भले लगे लेकिन दोनों दो अलग चीजें नहीं एक ही चीज के दो पहलू हैं। या तो घूम ही फिर लो या काम ही कर लो। कुछ भाग्यवान दोनों को एक साथ निभा ले जाते हैं। मुंशीजी उनमें नहीं थे न स्वभाव से और न अपनी सांसारिक स्थिति से। लिहाजा उन्होंने खामोशी से एक कोने में बैठकर बराबर और अनथक काम करने की जिन्दगी ही अपने लिए चुन ली थी और जिन्दगी शुरू करते समय ही चुन ली थी जिससे फिर कभी इधर उधर नहीं हुए। जैसा कि उसी खत में उन्होंने इन्द्रनाथ मदान को लिखा था—

मैं रोज़ रोज़ों के समान नियमित रूप से काम करने में विश्वास करता हूँ।

जुलाई-अगस्त आते-आते बड़े अरसे से कुछ कम समय में ही गोदान समाप्त हो गया। किताब शुरू करने में उसकी प्रारम्भिक तैयारी में जो समय लगे लगे लेकिन लिखना जब शुरू होता था तो फिर कलम बिना रुके चलता था और बहुत तेज चलता था। कथानक की रवानी के साथ कलम की रवानी भी बढ़ती चली जाती थी कि जैसे दोनों में होड़ हो। और यह उपन्यास की रवानी घर के शोर-गुल या मिलनेवालों के आने-जाने से टूटनेवाली चीज नहीं थी। गरीब की जिन्दगी में ऐसा कम ही हुआ कि उनके पास अपना एक खास कमरा हो जिसमें कम से कम काम के वक्त लड़कों की गुहार न होती हो। अक्सर यह होता कि मुंशीजी बरामदे में फ़र्श पर अपनी छोटी-सी डेस्क के सामने बैठ काम करते होते और आस-पास बच्चे ऊधम करते होते। हाँ, शोर ज़्यादा होने पर बच्चे कमरे से डाँटकर भगा दिये जाते। मगर इसकी नौबत कम ही आती। कभी इस सिल-सिले में बच्चों को पढ़ने के लिए पास ही बिठाल भी लिया जाता। तब उनको

पढ़ाई तो जो होती वह होती या न होती शोर क़तई बन्द हो जाता। मुंशीजी किसी लड़के को सवाल दे देते किसी को सुन्दर अक्षरों में कुछ नक़ल करने के लिए। बच्चे अपना काम करते रहते वह अपना काम करते रहते बीच-बीच में इधर भी कुछ ध्यान दे देते। इससे उनका असल ध्यान नहीं बँटता था। विचारों की जैसे एक धारा-सी होती रहती उसी को समेटने में वह लगे रहते। सृजन के स्तर पर जो उनका जीना था उसका सिलसिला इन चीज़ों से नहीं टूटता था। बराबर ऐसी ही हालतों में काम करने के कारण शायद यही उनका स्वभाव हो गया था — या इसी तरह उन्होंने अपने मन को साध लिया था।

मिलने-जुलनेवालों के लिए कोई समय निश्चित नहीं था। कुछ दोस्तों ने मुंशीजी को सुझाया भी कि अच्छा हो अगर आप कोई समय निश्चित कर दें वर्ना काम में विघ्न पड़ता होगा। लेकिन मुंशीजी को यह राय पसन्द न आयी। कहते यह बड़ा साहबी मुझसे न होगी। कोई मेरे पास आता है तो कुछ स्नेह लेकर ही आता है। मैं उसको ठेस नहीं लगा सकता। काम तो ज़िन्दगी के साथ है। होता ही रहता है। लिहाज़ा सब समय मिलने-जुलनेवालों का था और उनकी कुछ कमी भी न थी। लेकिन मुंशीजी सब के साथ उसी मुहब्बत से मिलते — ज़्यादा ख़ातिर-बातिर में तो न पड़ते लेकिन हाँ पान सब को पेश होता। बाहर से पुकार होती और कोई लड़का दस-बीस मिनट में पान लेकर पहुँच जाता। मुंशीजी बहुत इत्मीनान के साथ होल्डर क़लमदान में रख देते चश्मा उतारकर एक किनारे डेस्क पर रख देते और बातचीत में हँसी-क़हक़हों में इस क़दर उनके साथ ले, जाते कि एक बार उस आदमी को शायद यह धोखा भी हो जाता कि मुंशीजी किसी से बातने-बतियाने के लिए तरस रहे थे। लेकिन वह धोखा ही था क्योंकि उधर उस आदमी की पीठ फिरती और इधर चश्मा मुंशीजी की नाक पर और होल्डर हाथ में पहुँच जाता और अधूरा वाक्य जिस जगह पर कटे पेड़ पड़े पहल छूट गया था वहीं से फिर उठा लिया जाता और क़लम सरररर, सरररर चलने लगता जैसे कोई व्याघात पड़ा ही न हो। बहुत सधा हुआ पुख़्ता हाथ था उर्दू हिन्दी अंग्रेज़ी तीनों ज़बानों में जैसा कि एक [illegible] मुंशी का होना चाहिए। मोतियों की तरह चुने हुए छोटे-छोटे साफ़ अक्षर। बहुत ख़ुशख़त लिखते थे और अपने बच्चों को भी बराबर इसकी नसीहत करते थे। और शायद इसी ख़याल से फ़ाउण्टेनपेन के दुश्मन थे। ज़िन्दगी में शायद एक ही बार उन्होंने एक फ़ाउण्टेनपेन ख़रीदा था बहुत सस्ता-सा और वह भी दफ़्तर की छोटी-मोटी ज़रूरतों के लिए, उस ज़माने में जब कि वह फ़िल्म कम्पनी में बम्बई गये थे। वर्ना बराबर होल्डर से लिखते थे और किसी भी काग़ज़ पर लिखते थे। इस मामले में वह किसी तकल्लुफ़ के

निकार नहीं थे — कि नहीं काग़ज़ ऐसा हो इतना चिकना या इस ख़ास रंग का और रोशनाई इस रंग की

मगनमऊ का काम पूरा हो गया था और अब किसी भी रोज़ बनारस लौट जाना था लेकिन तभी एक छोटी-सी रुकावट आ गयी। खुद ही न्योता देकर बुलायी हुई एक तकलीफ़, मगर प्रति उनकी लापरवाही का नतीजा, एक पुरानी स्लीपर की तरह चीज़ की बरकत जिस मुंशीजी अक्सर मोड़ के पत्थर से टाँककर अपने मन का संतोष कर लिया करते थे कि नयी स्लीपर की ज़रूरत नहीं है। मगर जो अपना काम करती रही। और आखिर वह दिन आया कि १२ अगस्त १९२९ को मुंशीजी ने निगम साहब को लिखा —

५ तारीख़ से पैर में कंकड़ पड़ गयी। चार दिन सख़्त दर्द और जलन और टीस थी पाँचवें दिन डाक्टर से नश्तर लिया। दाहिने पाँव की आधी एड़ी का चमड़ा काट दिया गया। ४ को यहाँ से जाने का इरादा था लेकिन अब शायद पन्द्रह दिन तक न जा सकूँगा।

११

दुर्भाग्यवश मुंशीजी की पाण्डुलिपियाँ उनके हाथ के लिखे हुए मसौदे अक्सर गुम हो गये हैं। उनको सँभालकर रखने की फ़िक्र मुंशीजी खुद तो क्या ही करते जिन्हें पत्रिकाओं में छपी हुई अपनी कहानियों तक का ठीक पता नहीं रहता था, स्मरण रखना तो दूर की बात है। देखिए उनका यह ख़त जो उन्होंने ५ अगस्त १९२५ को लखनऊ से निगम साहब को लिखा था—

पंजाब का एक पब्लिशर मेरी कहानियों का मजमूआ छापना चाहता है। मुझे याद नहीं आता कि प्रेमबत्तीसी के बाद मेरी कौन-कौन कहानियाँ कहाँ कहाँ छापी हुई। चंद कहानियाँ तो लाहौर के हज़ारदास्ताँ में निकली थीं, एक हुमायूँ में छपी हुई थी, एक हमदर्द में निकली जो मुझे याद है। मुमकिन है एकाध और निकली हों जिसकी मुझे इस वक्त याद नहीं। शायद नौबहारवालों ने दो का तर्जुमा किया था। पंजाबी अखबारों ने भी मुमकिन है और कुछ कहानियों के तर्जुमे कर डाले हों। क्या आप इस मजमूए-परीशाँ[1] के जमा करने में मेरी कुछ मदद कर सकते हैं? हज़ारदास्ताँ का मुकम्मल फ़ाइल आपके यहाँ है? हुमायूँ है? नौबहार है? हमदर्द भी है या नहीं? आज़ाद में तो कोई कहानी नहीं निकली?

किस क़दर भोलेपन से पूछ रहे हैं कि जैसे यह अपनी नहीं किसी और की चीज़ों का ज़िक्र हो! ऐसे आदमी से उम्मीद करना ही बेकार है कि वह कुछ भी सँभालकर रख सकता है। किताबें, पत्र-पत्रिकाएँ, चिट्ठी-पत्री कुछ भी नहीं। कहानी लिखी और भेज दी, जहाँ भेजनी है। छप गयी, पैसे आ गये। पढ़नेवाले ने पढ़ ली। लिखनेवाले ने छुट्टी पायी। फिर उसे कोई परवाह नहीं। किताब छपने की जब नौबत आयेगी तब की तब देखी जायगी, इसका-उसका दरवाज़ा खटखटाया जायगा। जवाब दिया और चिट्ठी फाड़कर फेंक दी। कौन धरे उठाये उनको और कहाँ-कहाँ ढोता फिरे, खानाबदोशों की ज़िन्दगी आज यहाँ

---

१ बिखरे हुए शब्द



१९२५

तो कम नहीं। लिहाजा एक युग चीजों का सँभालना था यों ही नहीं था जिन्दगी के हालात ने उस पर और रंग चढ़ा दिया। बाकायदा डायरी लिखना भी शायद ऐसा ही एक गुण है। इसलिए मुंशीजी ने उस बखेड़े में भी अपने को पाक रखा। डायरी रही अक्सर लेकिन वह जरा दूसरे तरह की डायरी थी जिसमें अगर बीच-बीच में यथायोग चार छः पंक्तियाँ में टँके हुए हैं तो उनके साथ ही ग्वाले का धोबी का कहार का हिसाब भी टँका हुआ है कहीं अगर कुछ कहानियों या सम्पादकीय टिप्पणियों के लिए प्रस्तावित विषयों की सूची है तो उसके साथ ही बीमे की पालिसी के प्रीमियम का ब्यौरा भी है। यानी सब कुछ है सिवाय डायरी के। वह सिर्फ एक नोटबुक है एक बहीखाता जिसमें वह सब बातें दर्ज कर ली जाती हैं जिन्हें मुंशीजी याद रखना जरूरी समझते हैं—उन्हें अपनी याददाश्त पर बिलकुल भरोसा नहीं है।

उनके हाथ के लिखे हुए मसौदे होते तो यकीनन उनसे मुंशीजी के दिमाग के कारखाने पर काफ़ी रोशनी पड़ती। मगर वह तो सब फिंक गये। संयोग से छिटपुट कुछ चीज़ें बच गयी हैं।

१० मई १९२५ को मुंशीजी ने लखनऊ से जब कि कायाकल्प पर काम अभी चल ही रहा था अपने युवक मित्र और संबंधी पर्मेश्वर प्रसाद सिंह को अपने एक अंग्रेज़ी ख़त में लिखा था—

मेरा मतलब यह नहीं था कि तुम कल्पना से काम न लो। कल्पना निश्चय ही सबसे ज्यादा महत्व रखती है लेकिन मैं जो बात कहना चाहता था वह यह थी कि अगर निरीक्षण कल्पना का साथी हो तो इससे तुम्हारी रचना में और भी जान आ जायेगी। तुम खुद देखोगे कि जीवन से लिये गये चरित्र अधिक वास्तविक होते हैं।

यह दूसरे से कहने की ही बात न थी, मुंशीजी खुद यही करते थे। यहाँ तक कि बहुत बार अपनी याददाश्त के लिए ताकि चरित्र न भागे उस सदेह व्यक्ति का नाम भी लिख देते थे जिसका चरित्र उन्हें अंकित करना है। जैसे कि 'कायाकल्प' की पाण्डुलिपि के पहले ही पन्ने पर लिखा हुआ है—

Bibhuda is Yagyanarain Upadhyaya—crafty parsimonious, selfish but serviceful, tactful

Vishal Singh is Bechan Lal—simple, honest, wanting in moral courage

Kalyan Singh is Chandrika Prasad—sneaking in the presence of superiors, cannot manage household suspicious.

Chakradhar is D Prasad—very shy learned, principled

The new Rani s father is Nana—perfectly selfish, dishonest, unscrupulous, drunkard hopes to build his fortune with his daughter

Chakradhar s father—flatterer kind generous, mild simplehearted.

● विभुदा सकलनारायण उपाध्याय हैं—चालाक कंजूस स्वार्थी लेकिन सिवानरायण व्यवहारकुशल।

विशालसिंह वेंकटलाल हैं—सीधे-सादे, ईमानदार, लेकिन नैतिक साहस से शून्य।

कल्याण सिंह अम्बिकाप्रसाद हैं—अपने से बड़ों अफ़सरों के सामने उनकी जी हुजूरी में क्या हुआ पूछनाम नहीं कर सकना सकती।

चक्रधर श्री प्रसाद हैं—बहुत सकोची विद्वान सिद्धान्त का पक्का।

नयी रानी के पिता (अर्थात् मनोरमा के पिता हरिसेवक—अ) नाना हैं—सोलहों आना स्वार्थी बेईमान शराबी लड़की के ज़रिये अपनी किस्मत बनाने की उम्मीद रखते हैं।

वज्रधर, चक्रधर के पिता—चापलूस नेक उदार, मुलायम सीधे-सादे। ●

कोई ज़रूरी नहीं कि चरित्र सबके सब रहें या उनके नाम वही रहें या गुण वही रहें। लिखने के दौरान में सब कुछ बदल जा सकता है। मसलन विभुदा या विभुदा प्रसाद नाम का कोई पात्र अब उपन्यास में नहीं है लेकिन पाण्डुलिपि में एक जगह लिखा हुआ है—

The Pandit (Vibhuda Prasad) and his wife both turn Hindu Sangathankars.

(पण्डित विभुदाप्रसाद और उनकी पत्नी दोनों हिन्दू संगठनकार बन जाते हैं।)

इससे कुछ संकेत मिलता है कि शायद विभुदाप्रसाद का नाम बदलकर

---

१ संभवतः वही जिनसे मुन्शीजी का परिचय काशी विद्यापीठ में हुआ था। २ संभवतः नार्मल स्कूल गोरखपुर के हेडमास्टर साहब। ३ इस नाम का कोई चरित्र अब नहीं है। ४ सौतेली माँ के पिता जो काफ़ी दिनों तक ठेकेदार रहे। किसी जायदाद के सिलसिले में काफ़ी जोड़-तोड़ करके रहे—और शायद अन्त में कुछ सफल भी हुए।

यशोदानन्दन कर दिया गया है और नाम बदलने के साथ-साथ उसका चरित्र भी काफ़ी बदल गया है क्योंकि यशोदानन्दन न तो मक्कार आदमी है न बहुत स्वार्थी न बहुत कंजूस। लिखते-लिखते चरित्र कुछ का कुछ हो गया। लेकिन तो भी एक वास्तविक आधार का कहीं पर होना ज़मीन से एक ऐसा लगाव है जो लिखनेवाले को ज़्यादा भटकने या औंधे मुँह गिरने से बचाता है।

विभूदा के बारे में एक और स्थान पर मुंशीजी ने टीपा —

Bibhuda is a Persian-read man. Knows very little Sanskrit. His dialogue must be of an educated mussalman

(विभूदा फ़ारसीदाँ आदमी है। बहुत कम संस्कृत जानता है। उसकी बातचीत पढ़े-लिखे मुसलमान-जैसी होनी चाहिए।)

चक्रधर के बारे में —

Chakradhar always seeks God in man.

(चक्रधर सदा आदमी में ईश्वर को खोजता है।)

ये वास्तविक लेखन से पहले पुस्तक की मानस-सृष्टि के संकेत हैं — ज़रूरी तैयारियाँ चित्र को स्पष्ट रूप से अपने मन में अंकित करने के लिए।

कहानी तो चीज़ छोटी चीज़ है उसके लिए तो कोई बात सूझी और दो चार पंक्तियों में कथा-बीज टाँक लिया जिसे फिर इत्मीनान से कहानी का रूप दिया जायगा। लेकिन उपन्यास बड़ी चीज़ है। उसके लिए तैयारी भी उसी पैमाने पर होती थी।

कथानक पूरा लिख लिया जाता था परिच्छेद बना लिये जाते थे पात्र-पात्रियों की पंजिका उनके चारित्रिक विवरण समेत अंकित हो जाती थी — और शायद जल्दी से लिखने की सुविधा के कारण यह सब काम ज़्यादातर अंग्रेज़ी में ही होता था।

लिखते समय कथानक परिच्छेदों का विभाजन पात्र-पात्रियों के नाम धाम रूप-गुण सब कुछ काफ़ी बदल भी जा सकते थे। तो भी एक मोटा ढाँचा तैयार रहने से उन्हें निश्चय ही अपने काम में सहूलियत होती होगी।

लिखते-लिखते कोई विचार मन में आया तो उसे इस तरह टाँक लिया और फिर यथास्थान कथा में पिरोया —

Trial and troubles mould the human character they make heroes of men. Power and authority is the curse of humanity. Even the highest fall a victim to power and lose their character

Chakradhar rose morally while struggling for existence. His fall began when he came in power

(आज़माइशें मुसीबतें आदमी का चरित्र बनाती हैं। उन्हीं से आदमी में साहस और दृढ़ता आती है।

शक्ति प्रभुता मानवता का अभिशाप है। ऊँचे से ऊँचे लोग भी उसके शिकार हो जाते हैं और उनके चरित्र का नाश हो जाता है।

जीवन के लिए संघर्ष करते हुए चक्रधर का नैतिक उत्थान हुआ। प्रभुता पाते ही उसका पतन शुरू हुआ।)

शायद यही वह असल कायाकल्प है जिसकी ओर कथाकार अपने पाठक का ध्यान आकर्षित करना चाहता है। चक्रधर का कायाकल्प विशालसिंह का कायाकल्प   मानसिक कायाकल्प

नैतिक कायाकल्प की जो उपकथा रानी देवप्रिया के इर्द-गिर्द चलती है वह वास्तव में उपन्यास का केवल एक अनुषंग है। जितना कम स्थान मुंशीजी ने अपनी कृति में उसे दिया है उससे भी यही लगता है। हो सकता है कि उसका समावेश केवल एक प्रतीक के रूप में किया गया हो यह दिखलाने के लिए कि जब तक प्रेम से वासना का पूरी तरह लोप नहीं हो जाता तब तक शान्ति नहीं है, मुक्ति नहीं है और आत्मा जन्म-जन्मान्तर तक उसी वासना के भँवर में पड़ी चक्कर खाती रहेगी

लेकिन यह भी हो सकता है कि इसके पीछे पुनर्जन्म इत्यादि में मुंशीजी का विश्वास हो क्योंकि इसका प्रमाण मिलता है कि अपने गोरखपुर प्रवास के दिनों में मुंशीजी फिराक के बड़े भाई गनपत सहाय से मदाम ब्लावात्स्की आलिकट लेडबीटर वगैरह की किताबें लाकर काफ़ी पढ़ा करते थे।

जो भी बात हो, सम्पूर्ण कथानक की जो टीपन मिलती है उसमें इस प्रसंग के बारे में इतना ही है—

Rani is rejuvenated. She forgets her previous birth, who she was how she got rejuvenation. Raj Kumar begins to decline from the same day Rani afraid to approach him. Struggle. In the end Rani loses her balance. Passion overcomes her She approaches Raj Kumar A love scene. The next day Raj Kumar seized by a fatal sickness, dies. Rani again sinks into self-gratification. She builds her Rangshala. She again leads a life of flippancy

Raj Kumar takes his birth in Kuar Vishal Singh's house from Ahalya. When the boy grows into a lad he starts a tour through India He reaches Telari, sees the Rani, memories begin to revive. Rani making approaches.

(रानी का कायाकल्प हो जाता है। वह अपने पिछले जन्म को भूल जाती है वह कौन थी कैसे उसका कायाकल्प हुआ। राजकुमार का शरीर उसी दिन से गिरने लगता है। रानी को उसके पास जाते डर मालूम होता है। संघर्ष। अन्त में रानी अपना यौवन खो बैठती है। वासना पूरी तरह उसे अपने वश में कर लेती है। वह राजकुमार के पास जाती है। प्रेम का एक दृश्य। अगले दिन राजकुमार एक सांघातिक रोग में गिरफ्तार होकर मर जाता है। रानी फिर भोग विलास में पड़ जाती है। वह अपनी रंगशाला बनवाती है। पुन: वही आमोद प्रमोद का जीवन व्यतीत करने लगती है।

राजकुमार कुँअर विशाल सिंह के घर में अहल्या के गर्भ से जन्म लेता है। किशोर की अवस्था का पहुँचने पर वह भारत का भ्रमण करता है। वह तेलारी पहुँचता है रानी को देखता है पुरानी यादें हरी होने लगती हैं। रानी उस पर प्रेम-बाण चलाती है।)

एक छोटी कथा के रूप में रानी देवप्रिया-वाले प्रसंग का जो भी महत्व हो इतना स्पष्ट है कि कथाकार का मुख्य प्रयोजन उससे नहीं है और आस्था भी कितनी है पुनर्जन्म के सिद्धान्तों में निश्चय के साथ कहना कठिन है विशेषत चक्रधर की इस जिज्ञासा के संदर्भ में —

ईश्वर ने ऐसी सृष्टि की रचना ही क्यों की जहाँ इतना स्वार्थ, द्वेष और अन्याय है? क्या ऐसी पृथ्वी न बन सकती थी जहाँ सभी मनुष्य, सभी जातियाँ प्रेम और आनन्द के साथ संसार में रहतीं? यह कौन-सा इंसाफ है कि कोई तो दुनिया के मजे उड़ाये, कोई धक्के खाये, एक जाति दूसरी का खून चूसे और मूँछों पर ताव दे, दूसरी कुचली जाय और दाने-दाने को तरसे! ऐसा अन्यायमय संसार ईश्वर की सृष्टि नहीं हो सकता। पूर्व-संस्कार का सिद्धान्त ढोंग मालूम होता है, जो लोगों ने दुखियों और दुर्बलों के आँसू पोंछने के लिए गढ़ लिया है।

मुंशीजी का असल प्रयोजन अपने समाज की कथा से है, उसके न्याय-अन्याय और राग-द्वेष से जिसकी कहानी वह चक्रधर, मनोरमा, अहल्या, विशाल सिंह, यशोदानन्दन, लौंगी और वज्रधर, ख्वाजा महमूद के माध्यम से कहते हैं।

एक सार्वभौमिक यथार्थ यह है कि देश की राजनीति शिथिल है — सिवाय इसके कि आगा-खाँ ने राम सेवा समिति का बल पकड़ा है और कहीं-कहीं हो जाता

में पहुँच जाने की उधेड़बुन है जिससे मुंशीजी को रत्ती भर हमदर्दी नहीं है, हाँ उसके तमाम खतरों पर उनकी निगाह जरूर है, सत्ता-काम जो चरित्र का विनाश कर देता है—जिसे मुंशीजी ने पहले ही अपनी डायरी में टाँक लिया है। धन का मद प्रभुता का मद

वही चक्रधर जो जनता का आला-आला सेवक है, जनता जिसके इशारों पर नाचती है, अपने बेटे के राजकुमार बनने पर, एक जरा-सी बात पर, बेबात की बात पर, धन्ना सिंह के भाई को ऐसा मार देता है कि वह उसी जगह ढेर हो जाता है।

पीछे उनकी भी आँख खुलती है—

आज उन्हें अनुभव हुआ कि रियासत की बू कितने गुप्त और अलक्षित रूप से उनमें समाती जाती है, कितने गुप्त और अलक्षित रूप से उनकी मनुष्यता चरित्र और सिद्धान्त का ह्रास हो रहा है।

रंगभूमि का विनय भी समाज की इसी श्रेणी का व्यक्ति था। वैसा ही अंग्रेजी पढ़ा-लिखा, मक्खैड़-सीधा जज़्बाती चक्रधर भी है। वह भी पूरी तरह विनय के ही साँचे में ढला है। आदर्श की बातें बहुत बड़ी-बड़ी, अमल में कच्चा।

जो चक्रधर राजा विशाल सिंह से कहता है—

दीन प्रजा के रक्त से राजतिलक लगाना किसी राजा के लिए मंगलकारी नहीं हो सकता। प्रजा का आशीर्वाद ही राज्य की सबसे बड़ी शक्ति है। समाज की यह व्यवस्था अब थोड़े दिनों की मेहमान है और वह समय आ रहा है अब या तो राजा प्रजा का सेवक होगा या होगा ही नहीं।

किसानों पर गोली चलते देखकर जिस चक्रधर के मन में यह विचार आया था—राज्य पशुबल का प्रत्यक्ष रूप है। वह साधु नहीं है जिसका बल धर्म है, वह विद्वान नहीं है जिसका बल तर्क है, वह सिपाही है जो डंडे के जोर से अपना स्वार्थ सिद्ध करता है।

वही चक्रधर हल्की-सी उत्तेजना पर एक आदमी की हत्या कर डालता है वैसे ही जैसे रंगभूमि में डाकुओं द्वारा सोफिया के अपहरण से उत्तेजित होकर विनय राज्य के अधिकारियों से मिल जाता है और फिर अपने अत्याचारों से उसी जनता को पीस डालता है जिसकी पहले उसने सेवा की थी

असल कायाकल्प यह है।

बाहर आकर चक्रधर ने राजभवन की ओर देखा। असंख्य खिड़कियों और दरीचों से बिजली का दिव्य प्रकाश दिखायी दे रहा था। उन्हें वह दिव्य भवन सहस्र नेत्रोंवाले पिशाच की भाँति जान पड़ा जिसने उनका सर्वनाश कर

लिया था। उन्हें ऐसा जान पड़ा कि वह मेरी ओर देखकर हँस रहा है और कह रहा है, क्या तुम समझते हो कि तुम्हारे चले जाने से यहाँ किसी को दुख होगा? इसकी चिन्ता न करो, यहाँ यही बहार रहेगी, यों ही चैन की वंशी बजेगी, तुम्हारे लिए कोई दो बूँद आँसू भी न बहायेगा। जो लोग मेरे आश्रय में आते हैं उनका मैं कायाकल्प कर देता हूँ, उनकी आत्मा को महानिद्रा की गोद में सुला देता हूँ।

धन और प्रभुता के मद से मनुष्य का जो कायाकल्प होता है उसी की यह कहानी है। धन का मद अहल्या के संताप का कारण बनता है। अपने बेटे को राजगद्दी मिलने के लोभ से वह चक्रधर के साथ नहीं जाती और पश्चात्ताप करती है — अगर धन-मद ने अहल्या की बुद्धि पर पर्दा न डाल दिया होता तो आज उसे क्यों यह दिन देखना पड़ता? दरिद्र चक्रधर की भी सुखी होती। मद ने उसका सत्यानाश कर दिया।

इन्हीं दिनों की वह बात है जो शिवरानी देवी ने लिखी है —

सन् '२४ का ज़माना था। आप लखनऊ में थे। रंगभूमि छप रही थी। अलवर रियासत के राजा साहब की चिट्ठी लेकर पंडित सज्जन आये। राजा साहब ने अपने पास रहने के लिए बुलाया था। ४०० रुपये प्रतिमास मय मोटर और बँगला देने को लिखा था।

मुंशीजी ने बड़े शिष्ट, विनीत भाव से इनकार कर दिया। निश्चय करने में उन्हें किसी तरह की कोई दुविधा नहीं हुई।

लेकिन एक उलझन सी तो उनके ज़मीर में छिपी हुई थी। लिहाज़ा उन लोगों को बैरंग लौटाकर मुंशीजी फ़ौरन घर के भीतर पहुँचे और पत्नी के मन को थहाने के लिए कुछ दूसरे ढंग की बात करने लगे, पर जब उन्होंने भी बहुत ज़ोर के साथ वही राय दी जिस पर मुंशीजी पहले ही अमल कर चुके थे तो मुंशीजी हँस पड़े और सब बात खोल दी।

रंगभूमि छप रही थी, कायाकल्प लिखा जा रहा था। उस ही एक प्रसंग में अहल्या से चक्रधर ने कहा — अमीरों का एहसान कभी न लेना चाहिए, कभी-कभी उसके बदले में अपनी आत्मा तक बेचनी पड़ती है।

और फिर एक दिन यही अहल्या अज्ञानवश और अमर्यादित रूप से मिले हुए राजमाता के पद के गौरव का उपभोग करने के लिए अपनी आत्मा को बेच देती है। चक्रधर बैरागी होकर अपनी आत्मा को बचा लेना चाहता है, वैसे ही जैसे विनय ने आत्महत्या करके अपनी खोई हुई आत्मा को फिर से पा लेने का यत्न किया था।

लेकिन मुंशीजी भी जानते हैं कि यह कोई रास्ता कोई मंज़िल नहीं है, यह तो मैदान छोड़कर भाग जाना है।

गृहस्थ आश्रम को मुंशीजी सब आश्रमों में श्रेष्ठ मानते हैं, इसलिए यही समझना चाहिए कि जब वह किसी का वैराग्य का रास्ता पकड़ते दिखाते हैं तो उनका उद्देश्य उस चरित्र का मान बढ़ाना नहीं होता। कर्मक्षेत्र यह है जहाँ समस्या-बुराइयों में लिपटा हुआ साधारण आदमी जीता है, मरता है, काम करता है। जो कुछ बनता है बिगड़ता है, यहीं पर बनना-बिगड़ना है, इसी साधारण आदमी के हाथों। कर सकते हो तो इसके भीतर ताक़त पैदा करो, फ़क़ीरी बाना पहन लेने से क्या होगा।

मुंशी वज्रधर यही बात अपने बेटे से कहते हैं।

लेकिन सच्चाई यह है कि उस साधारण आदमी की तरफ़ से सब बेख़बर हैं। उस छोटे आदमी की परवाह किसी को नहीं है। अब से बा बरस पहले शिकायत के लहजे में उन्होंने जो बात कही थी वह अब भी ताज़ा-मामा उतनी ही सही है—

आपने मुझसे पूछा, मैं किस पार्टी में हूँ। मैं किसी पार्टी में भी नहीं हूँ। इसलिए कि दोनों में से कोई पार्टी कुछ असली काम नहीं कर रही है। मैं तो उस आनेवाली पार्टी का मेम्बर हूँ जो कोताहुनास (छोटे आदमियों) की सियासी तालीम को अपना दस्तूर-उल-अमल बनाये।

यह कोरी रसिकता नहीं है, इसके पीछे एक गहरी अनास्था है। इस पैसेवाले बेफ़िक्र, अंग्रेज़ी पढ़े-लिखों और उनकी राजनीति के प्रति इस अनास्था का इतिहास बहुत पुराना है और जैसा तो हुए, यह बराबर बढ़ती ही गयी और समय समय पर उसका विस्फोट भी होता रहा।

—जैसे कि सन् ३ के आन्दोलन के समय जब कि अपने २१ अप्रैल १९३० के पत्र में उन्होंने बेहद दीक्षितर निगम साहब को लिखा—

• इस मौक़े पर मायूस ज़ाहिर हुआ कि अगर दो फ़ी सदी अंग्रेज़ी-ख़्वाँदा[1] असहाब[2] तहरीक[3] के साथ हैं तो अट्ठानवे फ़ी सदी उसके मुख़ालिफ़ हैं। क़ौमी एतबार[4] में मुनिसिपलिटियों और स्कूलों पर जितना रुपया ख़र्च हुआ वह क़रीबन ज़ाया[5] हो गया। यह लोग सरकार के आदमी हुए, क़ौम के नहीं हैं। ग़ैर-अंग्रेज़ी-दाँ कारोबारी और पेशेवर तबक़ा ही ने इस तहरीक में जान डाली है। अगर तालीमयाफ़्ता आदमियों के भरोसे मुल्क बैठा रहे तो शायद क़यामत तक उसे आज़ादी नसीब न होगी।

---

१ पढ़े २ लोग ३ आन्दोलन ४ राष्ट्रीय दृष्टि ५ नष्ट

सब मालूम है और इसके लिए सबूत और दलील की ज़रूरत नहीं कि सरकार कोई रिफ़ॉर्म उस वक़्त तक नहीं करती जब तक कि उसे यह यक़ीन न हो जाय कि इस तहरीक के पीछे कितनी ताक़त है, तो तालीमयाफ़्ता जमात का उससे किनारे रहना कितना दिलशिकन[1] है। क़ानून-पेशा, तबीब-पेशा, प्रोफ़ेसर और सरकारी मुलाज़िमान, इन सबने जितनी मुसालहाना बेहिम्मती का सबूत दिया है उसकी मुझे उम्मीद न थी। वह तबक़ा[2] अपनी सीविलियन गवर्नमेण्ट का इक़्तदार क़ायम रहने में समझता है। वह एक लम्हे के लिए भी अपनी बालादस्ती और दुनियातलबी को फ़रामोश नहीं कर सकता। यह उसका दीन और ईमान है। वह या तो आज़ादी चाहता ही नहीं या उसके लिए क़ीमत न देकर दूसरों पर तकिया करना ही अपनी शान के मुनासिब समझता है या वह इस ख़याल में मगन है कि आप ही आप आज़ादी मिल जायगी। कांग्रेस के दौरे अव्वल में वह उससे अलग रहा। कांग्रेस के दौरे सानी[11] में भी उसकी यही हालत रही। वह बराबर देख रहा है कि जो कुछ उसे मिला और जिसे अब वह अपना हक़[12] समझता है वह दूसरों के ईसार[13] व कुर्बानी का नतीजा है। फिर भी वह इस ईसार व कुर्बानी में शरीक नहीं होता। यही bourgeois ज़ेहन है और यही नादार[14] फ़िर्के को दार[15] फ़िर्के का दुश्मन बना देता है।●

बड़ा भयंकर विस्फोट है यह। लेकिन जब विस्फोट नहीं भी हुआ तब भी यह अनास्था भीतर ही भीतर घुमड़ती और अपना ज़हर घोलती रही। मुंशीजी को शायद खुद भी इस गुप्त कार्रवाई का कुछ पता नहीं है लेकिन बात कुछ ज़रूर है कि एक तरफ़ तो मुंशीजी अपने आदर्शवाद का रथ विनय और चक्रधर जैसे लोगों पर लादा से लादा करते चले जाते हैं और दूसरी तरफ़ कुछ है जो उनको भीतर ही भीतर खोखला कर देता है — नतीजा, एक बेजान आदमी सिद्धान्त बघारनेवाली एक मशीन Prig जैसा कि खुद मुंशीजी ने चक्रधर के बारे में एक दफ़ा बातचीत के सिलसिले में रामचन्द्र टण्डन से कहा था। हो सकता है कि मुंशीजी ने जान-बूझकर इसी रूप में उसका चित्रण किया हो, लेकिन उससे ज़्यादा सम्भावना इसकी है कि मुंशीजी सच्चे मन से पूरे मन से उन्हें इसी आदर्शवादी रूप में रँगकर पेश करना चाहते हैं लेकिन कोई अनजान हाथ आकर उस तसवीर का चेहरा

---

१ दिल तोड़नेवाला   २ वर्ग   ३ शासन   ४ नौकरी   ५ क्षण
६ प्रभुत्व   ७ सुख-सुविधा   ८ भूल नहीं सकता   ९ धर्म   १० प्रथम
११ दूसरे दौर   १२ [illegible]   १३ त्याग   १४ सम्पत्तिहीन Have-not
१५ सम्पत्तिवान, Haves

बिगाड़ देता है, रंग सब धुल जाते हैं और उनके नीचे से एक फीका और बेजान आदमी झाँकने लगता है। वह हाथ जो यह जादू करता है अनजान रहा जाता है, इसलिए और भी कि वह हाथ खुद उन्हीं का है लेकिन हाँ उसको चलानेवाली ताक़त मन का वह ऊपरी स्तर नहीं है जो आदर्शों की सृष्टि करता है बल्कि वह भीतरी स्तर है जहाँ जीवन के कड़वे अनुभव धीरे-धीरे, लेकिन निरन्तर, अपना जहर घोलते रहे हैं। मूर्तिकार मूर्ति बनाना चाहता है कुछ — बन जाती है कुछ।

२०

पहली सितम्बर १९२५ को मुंशीजी बनारस लौटे और उसके कुछ ही महीने बाद कायाकल्प और अहंकार मुंशीजी के अपने प्रेस से प्रकाशित हुए। मगर किताबें छापने के लिए गाँठ में पैसे तो थे नहीं और प्रेस की हालत वैसी ही थी जैसी मुंशीजी छोड़कर गये थे। लिहाजा कुछ तो इस खयाल से कि प्रेस के लिए काम बराबर मिलता रहेगा और कुछ यह कि किताबें छपने का सहारा हो जायगा उन्होंने एक मास्टर कम्पनी से अपनी किताबों तक पर आधे-साझे का इकरारनामा किया — लागत उनकी और बचने में मुनाफ़े का आधा हिस्सा। बरस-दो बरस यह इकरारनामा चला और इस बीच सार्वजनिक ग्रन्थमाला के नाम से चार-छः किताबें भी छपीं। और बस। लेकिन और जैसे भी हो किताब छप तो जाती थी। उर्दू का हाल तो और भी बुरा था।

यहाँ तो अब तक बाज़ारे हुस्न (सेवासदन) और चौगाने हस्ती (रंगभूमि) का भी प्रकाशन न हुआ था — और प्रकाशन तो दूर की बात है, उनके उर्दू मसविदे भी तैयार न थे। लिखे दोनों ही पहले उर्दू में गये थे लेकिन उनकी हिन्दी करते समय बहुत कुछ रद्द-बदल हो गया था और मुंशीजी को अपनी नयी चीज़ों से इतनी फ़ुर्सत न थी कि उन पुरानी चीज़ों का मसविदा ठीक करते बैठें। चौगाने हस्ती के दूसरे भाग की भूमिका में उन्होंने लिखा —

अगर्चे रंगभूमि पहले उर्दू ही में लिखी गयी थी मगर उसका उर्दू एडीशन हिन्दी एडीशन हो जाने के तीसरे साल शाया हो रहा है। हिन्दी एडीशन तैयार करते वक़्त उर्दू मसविदे में इतनी तरमीम हो गयी कि वह इस हालत में प्रेस के क़ाबिल न था। इसके अलावा कई अबवाब हिन्दी में और बढ़ा दिये गये। उन्हें दुबारा मसविदे में शामिल करना ज़रूरी था। इसलिए सारा उर्दू मसविदा हिन्दी मसविदे के मुताबिक़ करके दुबारा लिखना पड़ा। मैं अपने करमफ़र्मा मुंशी इक़बाल वर्मा सेहर हतगामी का बेहद ममनून हूँ कि उन्होंने इस काम को अपने ज़िम्मे लिया।

इस काम के मुआवज़े को लेकर सेहर साहब से मुंशीजी की खासी-सी

बेमुरव्वती भी हुई लेकिन और, जैसा कि उनके १२ अगस्त १९२५ के ख़त से ज़ाहिर है, मुंशीजी ने 'रंगभूमि' का तर्जुमा चार सौ पर कर दिया। अब इरादा है गोशए आफ़ियत भी अब दूं, ख़त्म हो जाये। मेरे ख़त्म किये न होगी। दारुल इशाअत छापने को तैयार है। क्या कहिए उर्दू की इस सर्दबाज़ारी को! चौगाने हस्ती १९२७ में और गोशए आफ़ियत १९२८ में देर-सबेर दोनों ही किताबें छप छपा करके छप तो गयीं लेकिन उनका मुआवज़ा मुंशीजी को शायद उतना भी नहीं बचा जितना उन्होंने मसविदों की नक़ल करवाई ज़हूर साहब को दिया था।

हाँ यश मिला लेकिन उसमें भी कंधी मारनेवाले अपनी हरकत से बाज न आये।

एक सज्जन थे जिन्होंने 'रंगभूमि' पर और मुंशीजी के संपूर्ण कृतित्व पर कीचड़ उछालना अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया था। उनका नाम अवध उपाध्याय था। वह गणित के आदमी थे और इन लेखों से जो उन्होंने 'रंगभूमि' की कुत्साक्रिया करने के उद्देश्य से लिखे यह भी स्पष्ट है कि उन्हें अपने गणित का अपच हो गया था। समयदेवता ने उन्हें विदूषक बना दिया है लेकिन इससे कौन इनकार कर सकता है कि रंगभूमि पर विदूषक की उछलकूद उसकी कलाबाज़ियाँ भी अपनी जगह रखती है!

बार-बार इन महाशय ने क़सम खायी है कि जो कुछ भी वह लिख रहे हैं वह उनके सच्चे स्वतंत्र द्वेषरहित विचार हैं लेकिन तो भी विश्वास नहीं होता कुछ तो इसलिए भी कि बार-बार इस चीज़ की क़सम खाने की ज़रूरत पड़ रही है। लेकिन इतनी ही बात नहीं है। जिस तरह यह हमला किया गया और जिस बड़े पैमाने पर यह मोर्चेबन्दी हुई उससे गुमान होता है कि ज़रूर कुछ दाल में काला है। जुलाई १९२६ से दिसंबर १९२६, बराबर छः महीने तक इन महाशय ने 'सरस्वती' में अपना राग गाया — एक लेख यह सिद्ध करने के लिए कि 'रंगभूमि' थैकरे के 'वैनिटी फ़ेयर' की नक़ल है और दूसरा लेख यह सिद्ध करने के लिए कि 'प्रेमाश्रम' टाल्सटाय के 'रिज़रेक्शन' की नक़ल है। लेकिन जब इतने से उनका जी नहीं भरा तो उन्होंने बनारस के 'समालोचक' में और अन्य कुछ पत्रों में कहीं अपने नाम से और कहीं छद्म नाम से अपना यह अभियान जारी रखा और जब इतने से भी पेट नहीं भरा तो कुछ ही समय बाद 'कायाकल्प' के निकलने पर उसको भी समेट लिया और यह दिखाने की कोशिश की कि 'कायाकल्प' हाल केन के 'इटर्नल सिटी' की नक़ल है। जहाँ ख़ुद नहीं लिख सके वहाँ दूसरों से लिखवाने में भी पीछे नहीं रहे। द्वेष की महती प्रेरणा के बिना साहित्य के स्वास्थ्य को ऐसी

लिखा कम ही देखने में आती है। समझ में नहीं आता कि इस द्वेष का कारण क्या हो सकता है, विशेषतः जब वह गणित की दुनिया के आदमी थे और साहित्य से उन्हें कम ही प्रयोजन था। लेकिन जैसा कि पंडित दुलारेलाल भार्गव से मालूम हुआ अवध [redacted] लिए कुछ कारण उन महाशय के पास था। उन्हीं दिनों जब कि मुंशी प्रेमचन्द साहित्यिक सलाहकार के रूप में गंगा पुस्तकमाला में काम कर रहे थे और 'रंगभूमि' छप रही थी श्री अवध उपाध्याय अपना एक उपन्यास लेकर मुंशीजी के पास पहुँचे गंगा पुस्तकमाला से छपाने के लिए। मुंशीजी ने उसे पढ़कर अस्वीकार कर दिया। एक नये महत्वाकांक्षी लेखक के लिए नाराज होने का यह कुछ कम कारण नहीं था।

पहले तो उन्हें रवीन्द्रनाथ की 'आँख की किरकिरी' पर वैनिटी फेयर का प्रभाव दिखायी दिया फिर 'रंगभूमि' पर वैनिटी फेयर और आँख की किरकिरी दोनों का। इसके बाद तो फिर उन महाशय ने अपनी बात सिद्ध करने के लिए जो-जो प्रबिड़ प्राणायाम किया वह देखने योग्य है। सबसे पहले तो उन्होंने यही मानने से इनकार कर दिया कि रंगभूमि का नायक सूरदास है। वस्तुतः सूरदास ही हिन्दी-साहित्य को रंगभूमि की सबसे बड़ी देन है और बहुतों ने इसको कहा भी — उस समय भी और बाद को भी। लेकिन इन महाशय को यह बात नहीं दिखायी दी और उन्होंने दृष्टि और ध्वनि दोनों के वक्तव्य की अवहेलना करते हुए लिखा —

इसमें सन्देह नहीं कि प्रेमचंदजी ने सूरदास को ही रंगभूमि का नायक स्वीकार किया है। पर बाबू शिवप्रसाद गुप्त ने विनय को इसका नायक स्वीकार किया है   प्रमाण भी दिया तो कैसे आदमी का जो कम से कम साहित्य मर्मज्ञ के रूप में नहीं जाना जाता।

रंगभूमि का नायक चाहे जो हो इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है कि विनय और सोफिया ही रंगभूमि की जान है। मुझे इस बात का पूर्ण विश्वास है कि रंगभूमि के ऐसे भी कुछ पढ़नेवाले मिलेंगे जो इसके केवल विनय तथा सोफिया के ही अंश पढ़ेंगे और शेष साथ छोड़ देंगे। कौन जाने ऐसी कोई समस्या तो अब तक नहीं हुई लेकिन जहाँ तक पता चलता है अवध उपाध्याय जी का यह विश्वास सर्वथा भ्रमपूर्ण और निराधार है। जो भी हो, उन्हें तो अपनी बात सिद्ध करनी थी और इसके लिए वह हर तरह की मनमानी तोड़-मरोड़ करने के लिए कमर कसे हुए थे। उपन्यासकार ने अपनी पुस्तक को जो नाम दिया उर्दू और हिन्दी दोनों ही संस्करणों में उसका आधार भी सूरदास के चरित्र और जीवन-दर्शन में ही मिलता है लेकिन जिन आँखों पर द्वेष की पट्टी चढ़ी हो उन्हें अगर आज चीज भी न दिखायी दे तो

कोई आश्चर्य नहीं। पर दुख इस बात का है कि सूरदास को रंगभूमि से निर्वासित कर देने के बाद उसका जो संहार हुआ उसकी समानता भी बेचारे उपाध्याय जी वैनिटी फ़ेयर से नहीं सिद्ध कर सके। हाँ कीचड़ उछालने का श्रेय जरूर उनके हाथ लगा। अब उपाध्यायजी इस दुनिया में नहीं हैं और मुंशीजी भी सिधार चुके हैं लेकिन रंगभूमि है और वैनिटी फ़ेयर भी है और जो भी चाहे दोनों को मिला कर देख सकता है। मगर उससे क्या उपाध्यायजी के इन बीजगणितीय समीकरणों को देखकर बिल्कुल वह मजा आता है जो बाजीगर को मुँह में से गोले पर गोला निकालते देखकर—

● वैनिटी फ़ेयर का आधा आश्चर्य = रंगभूमि का विनय
अर्थात् आधा आश्चर्य = विनय
और भी संक्षेप में आश्चर्य = विनय ●

या

● विनय = आश्चर्य + डाबिन का बहुत कम भाग
सोफ़िया = अमीलिया + रेबेका का बहुत कम अंश
इन्दु = रेबेका का बहुत कम अंश
सूरदास = जान सेवक = अमीलिया का पिता
महेन्द्रकुमार = राडन + जोसेफ
गांगुली = सरपिट
रानी जाह्नवी = आश्चर्य के पिता के जातीय उच्च विचारों का स्वरूप ●

या प्रेमाश्रम को रिज़रेक्शन की छाया सिद्ध करते हुए यह बीजगणितीय समीकरण —

● नेहलूदफ़ = (ज्ञानशंकर + प्रेमशंकर + मायाशंकर) × १/३
परन्तु अभिकान्त = नेहलूदफ़ का कुछ हिस्सा = ज्ञानशंकर
ज्ञानशंकर = (नेहलूदफ़ + कौंटेसेटर + योगवुक + मोनारदोफ़ + सिमन्सन) × १/५
प्रेमशंकर = (नेहलूदफ़ + मिस्टसाफ़ + मसानफ़) × १/३ ●
मायाशंकर = (नेहलूदफ़ + एक विद्यार्थी) × १/३ ●

यह सब तमाशा देखकर हँसी भी आती है, रोना भी आता है कि इस नाचीज़ जैसी बकवास को कभी गम्भीर आलोचना भी समझा गया था! गम्भीर आलोचना मानकर ही तो पूरे छः महीने तक यह चीज़ एक अकेले 'सरस्वती' में छपती रही और व्यापक चर्चा का विषय बनी? चर्चा करनेवाले या तो खुद भी इतने अहमक थे कि उन्हें इस प्रलाप में कुछ सार दिखायी पड़ा या इतने कुण्ठाग्रस्त कि एक बनी हुई प्रतिष्ठा पर कीचड़ उछाला जाते देखकर उन्हें उसमें रस मिल रहा था। जो भी बात हो, इसमें न तो उनकी सुरुचि का परिचय मिलता है न विवेक का। कुछ अजब नहीं कि इस संगठित अभियान के पीछे कुछ सोचा-समझा षड्यन्त्र रहा हो। इस तमाशे में आज भी जो हास्य है उसको देखते हुए यह भी अचरज की बात न होगी अगर इसके मूल में जातिवाद का विष भी काम करता रहा हो।

इसे नियति का एक व्यंग्य ही कहना चाहिए कि जिस समय 'प्रेमाश्रम' को 'रिज़रेक्शन' की छाया सिद्ध करने का यह यत्न हो रहा था उन्हीं दिनों 'रिज़रेक्शन' के लेखक टाल्सटाय के देश में 'प्रेमाश्रम' का अनुवाद हो रहा था। और शायद वही रूसी में अनूदित होनेवाली प्रेमचन्द की पहली किताब थी।

कहना न होगा कि इस गन्दगी से मुंशीजी के मन को दारुण पीड़ा पहुँची — जितनी इस बात से नहीं कि उन पर ऐसा कुत्सित आक्रमण किया गया उतनी इस बात से कि उसके विरोध में कोई प्रतिवाद का स्वर क्यों नहीं उठा। आखिरकार मुंशीजी को खुद ही अपनी मर्यादा की रक्षा करने के लिए सन्नद्ध होना पड़ा। उस समय कुछ मित्रों ने हितचिन्तक स्वर में उनसे कहा भी कि आप इस बकवास का ख़याल न ही करो भाई। कहना आसान है लेकिन जब कोई आदमी सरेआम मुँह पर गाली दे रहा हो और बार-बार दे रहा हो और चार आदमियों के सामने दे रहा हो और वह चार आदमी उस गालियों का मज़ा ले रहे हों और उनमें से एक भी माई का लाल ऐसा न हो जो उसकी हिमायत में खड़ा होकर उस गाली देनेवाले से पूछे कि आखिर क्या तुम यह सब वाही-तबाही बक रहे हो, उस वक्त भी अपने ऊपर का संयम रखना किसी फ़रिश्ते का ही काम है और मुंशीजी फ़रिश्ता नहीं थे। स्वयं ही अपमान का भागी बनना कौन चाहेगा? दूसरा कोई बोलता तो मुंशीजी के चुप रहने में ही शोभा थी लेकिन जब कोई नहीं बोला तो मुंशीजी को खुद बोलना पड़ा और वही शायद ठीक भी था। उस वक्त चुप रहने का मतलब यह भी लगाया जा सकता था कि मुंशीजी का यह चमत्कार है इसलिए चुप हैं, चोरी पकड़ी गयी है इसलिए मुँह से बात नहीं निकल रही है। ऐसी हालत में मुंशीजी भला कैसे चुप रहते। और यही बात उन्होंने रामचन्द्र टण्डन से कही, बल्कि ऐसे आड़े वक्त में — दूसरा कोई कुछ करता भी तो नहीं!

चारों तरफ से बौछारें पड़ रही थीं—रंगभूमि वैनिटी फ़ेयर की नक़ल है, प्रेमाश्रम रिज़रेक्शन की नक़ल है, कायाकल्प इटरनल सिटी की नक़ल है, विश्वास नाम की कहानी इटरनल सिटी की छाया है, आभूषण नाम की कहानी हार्डी की एक कहानी की नक़ल है, हँसी नाम का लेख जो ज़माना में मुंशीजी के नाम से छपा था मराठी के एक लेख का अनुवाद है।

एक साथ ही इतनी सब चोटें बरबस कुछ दूसरा ही संकेत करती हैं। लेकिन जिसके मन में चोर नहीं है, वह क्यों डरने लगा। मुंशीजी ने साँच को आँच क्या साफ़-साफ़ सारी बातें लिखीं। बारह १९८२ वि० के समालोचक में प्रेमचन्दजी की प्रेम-लीला का उत्तर देते हुए उन्होंने लिखा—

कई साल हुए नागरी प्रचारिणी पत्रिका में किसी मराठी लेख के आधार पर एक हिन्दी लेख प्रकाशित हुआ। मुझे यह लेख बहुत अच्छा मालूम हुआ। मैंने उसका टूटा-फूटा अनुवाद उर्दू में करके ज़माना में हँसी के नाम से छपवा दिया। ज़माना के संपादक को उसके अनुवाद होने की इत्तला भी दे दी। मेरा अभिप्राय यह कदापि नहीं था कि मैं उस मराठी या हिन्दी लेखक के यश का अपहरण कर लूँ। इस तरह नोच-खसोट करने से कीर्ति नहीं मिलती। कीर्ति बहुत ही दुर्लभ वस्तु है और मैं इतना बड़ा मन्दबुद्धि नहीं हूँ कि इधर उधर से तर्जुमे करके अपनी कीर्ति बढ़ाने का प्रयत्न करूँ। हँसी नामक लेख को मैंने छिपाकर नहीं किया। छिपाने की ज़रूरत ही नहीं थी। जिस महीने में मूल लेख हिन्दी में प्रकाशित हुआ उसके शायद एक ही महीने बाद, उसका अनुवाद उर्दू की सर्वोत्तम पत्रिका में हो गया। मैं इतना उस वक़्त भी जानता था कि ज़माना का हिन्दी पाठकों में काफ़ी प्रचार है। इसलिए अगर उर्दू लेख में मूल का हवाला नहीं दिया गया तो यह Omission कहा जा सकता है अपहरण नहीं।

मुंशीजी को नीचा दिखाने के लिए कैसे-कैसे गड़े मुर्दे उखाड़े जा रहे हैं—यह पूरे बारह बरस पुरानी सन् १४ के आरम्भिक दिनों की बात है जो यकबयक फिर जवान हो गयी है। संयोग से इस प्रसंग के दो ख़त अब भी मौजूद हैं जो मुंशीजी ने ज़माना के एडीटर को लिखे थे। पहले ख़त में जिस पर तारीख़ नहीं है मुंशीजी ने लिखा था—

हँसी पर एक मज़मून हस्ब वायदा रवानए ख़िदमत है। मज़मून नामुकम्मल है। अभी असल मज़मून ही पूरा नहीं छापा हुआ। जब वह पूरा हो जाये तो उसका उसका दूसरा हिस्सा भेज दूँ।

दूसरे ख़त में जो ९ मई १ १४ का है उन्होंने लिखा—

हँसी का बक़िया अलग लिखूँगा। नागरी प्रचारिणी पत्रिका में वह सिलसिला

अभी खतम नहीं हुआ। मगर अब हरेक नंबर में दो-तीन सफा से ज्यादा नहीं निकलते। पूरा निकल जाये तो ज़माना के पाँच-छः नंबर का मसाला हो जाय। मैंने तर्जुमा नहीं किया है सिर्फ़ ख़ुलासा में लिया है।

रंगभूमि और वैनिटी फ़ेयर का ज़िक्र करते हुए उन्होंने लिखा —

● लेख में भाव भाषा और शैली से विदित होता है कि किसी स्कूली लड़के ने लिखा है जिसने मेरी कोई रचना पढ़ी ही नहीं। उसमें मेरा आग्रह है कि रुपया एक बार खर्च करके रंगभूमि पढ़ जाइए। जिसने वैनिटी फ़ेयर और रंगभूमि दोनों की सैर की है वह कभी ऐसी बेतुकी बात लिख ही नहीं सकता। वैनिटी फ़ेयर आसमान पर है, रंगभूमि ज़मीन पर पर है वह रंगभूमि। रहा प्रेमाश्रम पर रिज़रेक्शन का प्रभाव। इसके विषय में यही कहना है कि अभी मैंने रिज़रेक्शन नहीं पढ़ा है और अगर बिना उसके पढ़े ही प्रेमाश्रम में रिज़रेक्शन के भाव आ गए हैं तो यह मेरे लिए गौरव की बात है। अभी किस्सा यहाँ था कहना कुछ निर्बल और मेरे भावों और विचारों में उच्चकोटि के लेखकों जैसी बहुत-सी बातें आवेंगी। बात जा अच्छा पुस्तक इन्होंने नहीं पढ़ी किसी पुस्तक में जितनी खूबी बात नहीं। कारण यही है कि मैं कल्पना प्रधान जीवन में रमता हूँ पुस्तकों से नहीं और जीवन सार संसार में एक है।

समालोचक के भाग २ संख्या ३ में गुमाव महाशय ने रंगभूमि की चर्चा करते हुए लिखा है कि उस पर वैनिटी फ़ेयर का कुछ प्रभाव है। हो सकता है। लेकिन मैंने वैनिटी फ़ेयर सन् १ १ में पढ़ा था और रंगभूमि सन् १९२४ में लिखी। इससे वैनिटी फ़ेयर के भावों का इतने दिनों मन में अंकित रहना मुश्किल है, फिर मेरे लिए क्योंकि मेरी मेमोरी अच्छी नहीं। जो चीज़ मौलिक है वह मौलिक रहेगी। उसकी मौलिकता को कोई मिटा नहीं सकता। जिस रचना पर बरसों आग फोड़ी गयी है और पसीने का खून बहाया गया है उसे आप कोई प्रतिभाहीन आलोचक मिटा नहीं सकता। ● यूरूप में ऐसा किया गया है दुर्गेश को लेकिन उन्हें कोई परवाह नहीं है हो हुआ है। मगर उस दंग में आप आत्म-गौरव भी है और आत्म-विश्वास। फिर क्या डर। दुर्गेश पढ़कर को तोड़-फाड़कर निराश करते हैं।

● मेरा गुप्त उपन्यास-सम्राट कहलाना पसन्द नहीं है। मैं इसमें गया सहता र कि मैंने इस उपाधि की कभी अभिलाषा नहीं की।

समान पद में इसी मास में बाबू ब्रजरत्नदासजी ने मेरी आभूषण सम्बन्ध

---

१ पार

१५

कहानी के प्लाट का टामस हार्डी के एक गल्प से सादृश्य दिखाया है। हाँ सादृश्य अवश्य है। टामस हार्डी को जो बात सूझ सकती है, वह किसी दूसरे लेखक को क्या नहीं सूझ सकती? कहानी के प्लाट में कोई ऐसी विलक्षणता नहीं है जो हिन्दी के लेखक के लिए अगम्य हो। हार्डी भी आदमी ही था कोई देवता न था। और फिर ऐसी घटनाएँ जब हम नित्य ही जीवन में मिलती हैं तो हमें क्या कुत्ते ने काटा है जो टामस हार्डी से उधार लेने जाते! ●

और फिर चलते-चलाते मुंशीजी ने यह कहा—

यहाँ मुझे एक भ्रम का निवारण करना जरूरी मालूम होता है। जब हम अपने किसी सहधर्मी को अपने से आगे बढ़ते देखते हैं तो संभवतः मन में एक कुरेदन-सी होती है। उसे किसी तरह नीचा दिखाने की इच्छा होती है। शायद कुछ लोग समझते हों कि यह कल का छोकरा हमसे बाजी मारे लिये जाता है और हम पीछे रहे जाते हैं, इसे किसी तरह रोकना चाहिए। उन महाशयों से मेरा निवेदन है कि यह अभागा कल का छोकरा नहीं पुराना घुर्राट है। तीन साल और हों तो पूरे पचास का हो जाय। उसे कलम घिसते हुए तीस वर्ष हो गये।

इन्हीं दिनों सुधा के आश्विन १९८५ तुलसी संवत् के अंक में छिद्रान्वेषी नाम के सज्जन ने एक लेख लिखकर यह दिखाया था कि प्रेमचंद की 'विश्वास' कहानी हाल केन के उपन्यास 'इटर्नल सिटी' की छाया है। श्री अवध उपाध्याय पहले से कह रहे थे कि 'कायाकल्प' 'इटर्नल सिटी' पर आधारित है। इन दोनों बातों को एक हार में समेटते हुए मुंशीजी ने सुधा-संपादक दुलारेलाल भार्गव के नाम एक चिट्ठी लिखी जो छिद्रान्वेषी के लेख के अंत में प्रकाशित हुई। उसमें मुंशीजी ने लिखा था—

● हमारे मित्र पं० अवध उपाध्याय तो कायाकल्प को इटर्नल सिटी पर आधारित बता रहे हैं। मि० छिद्रान्वेषी ने उनको बहुत अच्छा जवाब दे दिया। मैं अपने सभी मित्रों से कह चुका हूँ कि 'विश्वास' केवल हाल केन के 'इटर्नल सिटी' के उस अंश की छाया है जो वह पुस्तक पढ़ने के बाद मेरे हृदय पर अंकित हो गया। मैंने पहले चाँद में यह कहानी लिखी थी। वहाँ से वह 'प्रेम प्रमोद' में आयी। मैंने प्रकाशक को अपने पत्र में स्पष्ट लिख दिया था कि यह कहानी 'इटर्नल सिटी' की किंचित् छाया है। अपने प्रायः सभी मित्रों से कह चुका हूँ। छिपाने की जरूरत न थी और न है। मेरे प्लाट में इटर्नल सिटी से बहुत कुछ परिवर्तन हो गया है, इसलिए मैंने अपनी भक्तों और कोताहियों को हाल केन जैसे संसार-प्रसिद्ध लेखक के गले मढ़ना उचित न समझा।

इटर्नल सिटी प्रसिद्ध पुस्तक है। हिन्दी में उसका अनुवाद हो चुका है।

अनुवाद हो चुकने के बाद मैंने कहानी लिखी है। श्रीकृष्णदत्त जी पालीवाल ने ही मुझसे इस पुस्तक की प्रशंसा की थी। अपना अनुवाद भी सुनाया था। उन्हीं से पुस्तक मँगाकर मैं लाया था। ऐसी दशा में मोटी बुद्धि का आदमी भी समझ सकता है कि मैं किस संसार को धोखा देना नहीं चाहता था। जिस हद तक मैं ऋणी हूँ, उस हद तक मैं लिख चुका। कौन ऐसा आदमी होगा जो हिन्दी में छपी हुई किताब से मिलती-जुलती कहानी लिखे और यह समझे कि वह मौलिक समझी जायगी। फिर भी मेरी कहानी में बहुत कुछ अंश मेरा है, चाहे वह रेशम में टाट का जोड़ ही क्यों न हो। ●

ख़ैर, मुंशीजी इस सब कीचड़बाजी से काफ़ी बदाग़ बचकर निकल आये — दो-एक धब्बे जो लग गये थे उन्हें वक़्त ने धो डाला। पीछे तो कुछ आवाज़ें उनकी हिमायत में भी सुनायी दीं जिनसे उनके आँसू कुछ पुँछे। ऐसे ही एक पत्र का उल्लेख कृतज्ञतापूर्वक करते हुए मुंशीजी ने अपने दोस्त देहर हसगामी साहब को लिखा —

मुकर्रमी मुंशी रायबहादुर साहब का ख़त भी देखा। तसकीन हुई। आप साहबान का ख़याल बिल्कुल दुरुस्त है। इलाहाबाद में एक ब्राह्मण पार्टी है। अवध उपाध्यायजी उसके हाथ में कठपुतली बने हुए हैं। ऊटपटांग बातें कहकर मुझे बदनाम कर रहे हैं। रंगभूमि और वैनिटी फ़ेयर में ज़र्रा भर भी मुनासिबत नहीं है। और प्रेमाश्रम को रिज़रेक्शन के ममासिल[1] बतलाना तो हद दर्जा बेहूदगी है। मैंने आज तक रिज़रेक्शन पढ़ा भी नहीं हालाँकि उसकी तारीफ़ बहुत सुन चुका हूँ। ऐसी ममासिलत[2] जैसी उपाध्यायजी दिखलाते हैं क़रीब-क़रीब सभी किताबों में है। आप फ़रमाते हैं कि वैनिटी फ़ेयर में एक आदमी ग़लत-सलत अंग्रेज़ी बोलता है इसी से रंगभूमि में एक बंगाली बाबू लाये गये। इन हज़रत को यह भी ख़बर नहीं कि बंगाली बाबू क्यों लाये गये, उनके वजूद का मंशा क्या है। एमीलिया को आप सोफ़िया से मिलाते हैं, हालाँकि सोफ़िया का असल मिसेज़ एनी बेसेन्ट हैं।

इसमें शक नहीं कि अगर इस टोपी-उछाल-आंदोलन का उद्देश्य मुंशीजी के दिल का दुखाना था तो इसमें उसे पूरी सफलता मिली। बाक़ी तो वह झूठ की इमारत थी ही, कै दिन ठहरती। साल छ महीने में ही वह ढह गयी और अगर कहीं कोई छोटी-मोटी बुर्जी बच रही थी तो वह उस रोज़ ढह गयी जिस रोज़ अगले ही साल हिन्दुस्तानी एकेडमी ने रंगभूमि को वर्ष की सर्वश्रेष्ठ कृति का पुरस्कार दिया।

---

१ सदृश २ सादृश्य

कहानी के प्लाट का टामस हार्डी के एक गल्प से सादृश्य दिखाया है। हाँ स अवश्य है। टामस हार्डी को जो बात सूझ सकती है वह किसी दूसरे लेख क्या नहीं सूझ सकती? कहानी के प्लाट में कोई ऐसी विलक्षणता नहीं हिन्दी के लेखक के लिए असूझ हो। हार्डी भी आदमी ही था कोई देवता और फिर ऐसी घटनाएँ जब हमें नित्य ही जीवन में मिलती हैं तो हमें न मे जाता है जो टामस हार्डी से उधार लेने जाते।●

और फिर चलते-चलाते मुंशीजी ने यहाँ कहा—

यहाँ मुझे एक भ्रम का निवारण करना जरूरी मालूम होता है। अपने किसी सहवर्गी को अपने से आगे बढ़ते देखते हैं तो संभवतः म कुरदन-सी होती है। उसे किसी तरह नीचा दिखाने की इच्छा होती है। र लोग समझते हों कि यह कल का लौंडा हमसे बाजी मारे लिये जाता। पीछे पड़े जाते हैं, इसे किसी तरह रोकना चाहिए। उन महाशयों [illegible] है कि यह अभागा कल का लौंडा नहीं पुराना खुर्राट है। तीन साल पूरे पचास का हो जाय। उसे क़लम घिसते हुए तीस वर्ष हो गए।

इन्हीं दिनों, सुधा के आश्विन १ ५ तुलसी संवत् के अंक में [illegible] के सज्जन ने एक लेख लिखकर यह दिखाया था कि प्रेमचंद की [illegible] हाल केन के उपन्यास इटर्नल सिटी की छाया है। थी अवध उ स बहु रहे थे कि कायाकल्प इटर्नल सिटी पर आधारित है। को एक हा में समझते हुए मुंशीजी ने सुधा-संपादक दुलारेलाल नाम चिट्ठी लिखी जो रिसीमुख के छद्य के अंत में प्रकाशित हुई। लिखा था—

● हमारे मित्र पं अवध उपाध्याय तो कायाकल्प को इटर्नल [illegible] रित बता रहे हैं। मि शिलीमुख ने उनकी बहुत अच्छी खब अपने सभी मित्रों से कह चुका हूँ कि विश्वास केवल हाल केन क उस अंश की छाया है जो वह पुस्तक पढ़ने के बाद मेरे हृदय प मैंने पहले चाँद में यह कहानी लिखी थी। वहाँ से यह भ्रम मैंने प्रकाशक का अपने पत्र में स्पष्ट लिख दिया था कि यह क की विकृत छाया है। अपने प्राय सभी मित्रों से कह चुका हूँ। न थी और न है। मेरे प्लाट में इटर्नल सिटी [illegible] बहुत कुछ इसलिए मैंने अपनी भूलों और कमज़ोरियों का हाल केन पैध व गले मढ़ना उचित न समझा।

इटर्नल सिटी प्रसिद्ध पुस्तक है। हिन्दी में उसका

मगर खैर यह सब तो लगा ही रहता है। दुख करने से कोई फ़ायदा नहीं। कौन है जिसकी बदगोई करनेवाले नहीं हैं। यही दुनिया का तमाशा है। मुंशिया कर अपने घर बैठो और काम करो। कहने दो जिसे जो कुछ कहना हो। अच्छा होता कि इतना भी न उलझते। लेकिन कैसे। आदमी सब कुछ सह सकता है इज़्ज़त पर, ईमान पर चोट नहीं सही जाती। छोड़ो भी जो हुआ सो हुआ। आगे की फ़िक्र करो।

इधर कई वर्षों से सहगल इलाहाबाद से 'चाँद' निकाल रहे थे — महिलाओं की पत्रिका के रूप में — और उनका बराबर तकाज़ा रहता था कि मुंशीजी औरतों की ज़िन्दगी से सम्बन्ध रखनेवाली अपनी बेहतरीन कहानियाँ उन्हीं को दें। आभूषण कहानी माधुरी में छपी तो उसके छपते ही सहगल ने २५ अगस्त १९२१ को उलाहने का एक पत्र लिखा —

मुझे आपसे एक ज़रूरी बात कहनी है। वह यह कि माधुरी की जुलाई संख्या में आभूषण शीर्षक आपकी जो कहानी छपी है उसे यदि वहाँ न देकर आप 'चाँद' में भेजे होते तो इससे विशेष उपकार की संभावना थी। यह सच है कि मैं आपको उतना पुरस्कार न दे सकता जो आपको माधुरी से मिला होगा। प्रचार की दृष्टि से भी 'चाँद' ८ नहीं छपता पर मेरा ख्याल है उपयोगिता की दृष्टि से चाहे 'चाँद' की थोड़ी सी प्रतियाँ ही छपती हों यह कहानी इसके लिए बहुत मौज़ूँ थी।"

सहगल ऐसे व्यवहारकुशल आदमी थे और यहाँ उसने मुंशीजी की कमज़ोर नस पकड़ी थी। बात मुंशीजी को लग गयी और उन्होंने फिर बरसों नारी जीवन की कहानियाँ 'चाँद' में ही लिखीं। पैसे को लेकर थोड़ा-बहुत मनमुटाव भी जब-तब हुआ। लेकिन यह बात मुंशीजी के मन में अच्छी तरह जम गयी थी कि ऐसी कहानियों के लिए 'चाँद' ही सबसे अच्छा माध्यम है — जिनके लिए वह कहानियाँ लिखी जाती हैं उनके हाथ में पहुँचती तो है। और शायद प्रेमचन्द को औरतों तक पहुँचाने में 'चाँद' का भी अच्छा खासा हाथ रहा है।

मुंशीजी के मरने पर उपाध्यायजी जो उस समय पेरिस में गणित का अध्ययन कर रहे थे अपने मित्र अन्नपूर्णानन्द को लिखा—

'इस दुःखद समाचार ने मेरे हृदय को मथ डाला मैं रो उठा क्योंकि मेरे हृदय में एक कसक रह गयी। मैंने प्रेमचंद के सब ग्रन्थों का अध्ययन किया था और मैं भली-भाँति उनके गुणों से परिचित था। वास्तव में हिन्दी भाषा का एक स्तम्भ टूट गया हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ कहानी लेखक उठ गया आज हमारे उपन्यास सम्राट का देहावसान हो गया। परन्तु उनकी अमर कीर्ति की ध्वजा सदा फहराती रहेगी। मैं आज निस्संकोच भाव से कह रहा हूँ कि अपनी लेखनी के द्वारा आज तक हिन्दी का कोई भी दूसरा लेखक प्रेमचंद की तरह प्रसिद्ध नहीं हो सका। भाषा प्रेमचंद की दासी-सी बन गयी थी। उसे व जैसे चाहते थे नचाते थे। मानव हृदय का ज्ञान भी उन्हें बहुत था। मेरा पूर्ण विश्वास है कि उनकी कृतियों में अमर साहित्य की सामग्री है।

यह पश्चात्ताप का स्वर है अपने ही क्षुब्ध अंतःकरण के शमन के लिए। बहुत गूढ़ हृदय से निकला हुआ भी हो सकता है लेकिन व्यर्थ है अब। उस समय तो जो भाव रमना था वह रम ही गया।

२१

मगर खैर यह सब तो चला ही रहता है। दुख करने से कोई फ़ायदा नहीं। कौन है जिसकी बदगोई करनेवाले नहीं हैं। यही दुनिया का तमाशा है। मुड़िया-कर अपने घर बैठो और काम करो। कहने दो जिसे जो कुछ कहना हो। अच्छा होता कि इतना भी न समझते। लेकिन कैसे। आदमी सब कुछ सह सकता है इज्ज़त पर, ईमान पर चोट नहीं सही जाती। छोड़ो भी जो हुआ सो हुआ। आगे की फ़िक्र करो।

इधर कई वर्षों से सहगल इलाहाबाद से चाँद निकाल रहे थे — महिलाओं की पत्रिका के रूप में — और उनका बराबर तक़ाज़ा रहता था कि मुंशीजी औरतों की ज़िन्दगी से सम्बन्ध रखनेवाली अपनी बहुतरीन कहानियाँ उन्हीं को दें। आभूषण कहानी माधुरी में छपी तो उसके छपते ही सहगल ने २९ अगस्त १९२१ को उलाहने का एक पत्र लिखा —

मुझे आपसे एक ज़रूरी बात कहनी है। वह यह कि माधुरी की दूसरी संख्या में आभूषण शीर्षक आपकी जो कहानी छपी है उसे यदि वहाँ न भेजकर आप चाँद में भेजे होते तो इसमें विशेष उपकार की संभावना थी। यह सच है कि मैं आपको उतना पुरस्कार न दे सकता जो आपको माधुरी से मिलता होगा। प्रचार की दृष्टि से भी चाँद ८ नहीं छपता पर मेरा खयाल है उपयोगिता की दृष्टि से चाहे चाँद की थोड़ी ही प्रतियाँ ही छपती हों यह कहानी इसके लिए बहुत मौज़ूँ थी।

सहगल तेज़ व्यवहारकुशल आदमी था और यहाँ उसने मुंशीजी की कमज़ोर नस पकड़ी थी। बात मुंशीजी को लग गयी और उन्होंने फिर बरसों नारी जीवन की कहानियाँ ज़्यादातर चाँद में ही लिखीं। पैसे को लेकर थोड़ा-बहुत मनमुटाव भी जब-तब हुआ। लेकिन यह बात मुंशीजी के मन में अच्छी तरह जम गयी थी कि ऐसी कहानियों के लिए चाँद ही सबसे अच्छा माध्यम है — जिनके लिए यह कहानियाँ लिखी जाती हैं उनके हाथ में पहुँचती तो हैं। और शायद प्रेमचन्द को औरतों तक पहुँचाने में चाँद का भी अच्छा ख़ासा हाथ रहा है।

बहरहाल मुंशीजी लखनऊ के अपने पहले आवास-प्रवास के बाद पहली सितम्बर १९२५ को बनारस पहुँचे और नवम्बर के महीने से 'निर्मला' क्रमशः 'चाँद' में निकलने लगी। साल भर बाद 'चाँद' प्रेस से ही पहली बार १९२७ के आरम्भ में वह पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुई। तब तक उसे 'चाँद' के द्वारा महिलाओं में इतनी जबर्दस्त लोकप्रियता मिल चुकी थी कि छपने के साल भर के अन्दर उसका संस्करण समाप्त हो गया।

और इसमें शक नहीं कि औरत की जिन्दगी का दर्द जिस तरह इस किताब में निचुड़कर आ गया है वैसा मुंशीजी की और किसी किताब में मुमकिन न हुआ न आगे न पीछे। समाज के जालिम ढकोसले, लेन-देन की नहूसतें, बेवा की बेवा रही और निपट अकेलापन, अनमेल ब्याह की गुत्थियाँ पर गुत्थियाँ — सब कुछ जैसे जाग पड़ा, बोल उठा इस किताब में।

देखिए, निर्मला के ब्याह की तैयारियाँ हो रही हैं —

बाबू उदयभानुलाल का मकान बाजार बना हुआ है। बरामदे में सुनार के हथौड़े और कमरे में दर्जी की सुइयाँ चल रही हैं। सामने नीम के नीचे बढ़ई चारपाइयाँ बना रहा है। खपरैल में हलवाई के लिए भट्ठा खोदा गया है। मेहमानों के लिए अलग एक मकान ठीक किया गया है। यह प्रबन्ध किया जा रहा है कि हरेक मेहमान के लिए एक-एक चारपाई, एक-एक कुर्सी और एक-एक मेज हो। हर तीन मेहमानों के लिए एक-एक कहार रखने की तजवीज हो रही है। अभी बारात आने में एक महीने की देर है लेकिन तैयारियाँ अभी से हो रही हैं। बारातियों का ऐसा सत्कार किया जाय कि किसी को जबान हिलाने का मौका न मिले। वे लोग भी याद करें कि किसी के यहाँ बारात में गये थे। एक पूरा मकान बर्तनों से भरा हुआ है। चाय के सेट हैं, नाश्ते की तश्तरियाँ, थाल, लोटे, गिलास। जो लोग नित्य खाट पर पड़े हुक्का पीते रहते थे बड़ी तत्परता से काम में लगे हुए हैं। यहाँ एक आदमी को जाना होता है, पाँच दौड़ते हैं। काम कम होता है, हुल्लड़ अधिक।

बड़ा उत्साह है बाबू साहब के दिल में लेकिन उनकी बीबी कल्याणी इसमें पूरी तरह उनके साथ नहीं है। उसे दुनिया का तजुर्बा ज्यादा है। कहती है — जब से ब्रह्मा ने सृष्टि रची तब से आज तक कभी बारातियों को कोई प्रसन्न नहीं रख सका। उन्हें दोष निकालने और निन्दा करने का कोई न कोई अवसर मिल ही जाता है। जिसे अपने घर सूखी रोटियाँ भी मयस्सर नहीं वह भी बारात में में जाकर तानाशाह बन बैठता है। तेल खुशबूदार नहीं, साबुन टके सेर का जाने कहाँ से बटोर लाये, कहार बात नहीं सुनते, लालटेनें धुआँ देती हैं, कुर्सियों में खट

मत है चारपाइयाँ ढीली हैं, जनवासे की जगह हवादार नहीं। अगर यह मौका न मिला तो और कोई ऐब निकाल लिये जायेंगे। भई, यह तेल तो रंडियों के लगाने लायक है हमें तो सादा तेल चाहिए। जनाब ने यह साबुन नहीं भेजा है अपनी अमीरी की शान दिखायी है, मानों हमने साबुन देखा ही नहीं। ये कहार नहीं यमदूत हैं जब देखिए सिर पर सवार। लालटेनें ऐसी भेजी हैं कि आँखें चमकने लगती हैं, अगर दस-पाँच दिन इस रोशनी में बैठना पड़े तो आँखें फूट जायें। जनवासा क्या है अभागे का भाग्य है जिस पर चारों तरफ से झोंके आते रहते हैं।

चित भी मेरी पट भी मेरी। उसी का नाम बारात है।

बहरहाल बाबू उदयभानुलाल के उत्साह का ठिकाना नहीं है। लेकिन उन्हें पता नहीं है कि विधि उनके लिए कैसा प्रपंच रच रही है। बाबूसाहब एक गुंडे के हाथ जिसको उन्होंने कभी सजा दी थी मारे जाते हैं। और उनके मरते ही उनके घरवालों की दुनिया बदल जाती है। जहाँ आठों पहर कचहरी-सी लगी रहती थी वहाँ अब खाक उड़ती है। वह मेला ही उठ गया। जब खिलानेवाला ही न रहा तो खानेवाले कैसे पड़े रहते। धीरे-धीरे एक महीने के अन्दर सभी भांजे भतीजे विदा हो गये। जिनका दावा था कि हम पानी की जगह खून बहानेवाला में हैं वे ऐसा सरपट भागे कि पीछे फिरकर भी न देखा।

लड़केवाले फिर कैसे पीछे रहते उन्होंने भी आँखें फेर लीं। स्थिति के अन्तर को न समझते ऐसे भोले वह भी न थे। खास मुआहिदा तो लड़के के बाप का —ठेठ कायस्थ आदमी धूर्त, कमीने जैसे कि मुंशीजी ने अपनी बिरादरी में न जाने कितने देखे होंगे —

● बाबू भालचन्द्र दीवानखाने के सामने आरामकुर्सी पर नंग-धड़ंग लेटे हुए हुक्का पी रहे थे। बहुत ही स्थूल ऊँचे कद के आदमी थे। ऐसा मालूम होता था कि काला देव है या कोई हब्शी अफ्रीका से पकड़कर आया है। सिर से पैर तक एक ही रंग था —काला। आपको गर्मी बहुत सताती थी। दो आदमी खड़े पंखा झल रहे थे उस पर भी पसीने का तार बँधा हुआ था। आप आबकारी के विभाग में एक ऊँचे ओहदे पर थे। पाँच सौ रुपये वेतन मिलता था। ठेकेदारों से खूब रिश्वत लेते थे। ठेकेदार शराब के नाम पानी बेचें चौबीसों घंटे दुकान खुली रखें आपको खुश रखना काफ़ी था। सारा कानून आपकी खुशी थी। जैसे पक्का मुसलमान पाँच बार नमाज पढ़ता है, वैसे ही आप भी पाँच बार शराब पीते थे।

बाबू साहब ने पंडित जी को देखते ही कुर्सी से उठकर कहा—अख्खाह आप

है! आइए आइए, धन्य भाग! अरे कोई है! कहाँ चले गये सब के सब भगड़ू गुरदीन छकौड़ी भवानी रामगुलाम कोई है? क्या सब के सब मर गये? चलो रामगुलाम भवानी छकौड़ी गुरदीन भगड़ू! कोई नहीं बोलता सब मर गये!

तीन चार मिनट के बाद एक काला आदमी खाँसता हुआ आकर बोला—सरकार, इतना की नौकरी हमार कीन न होई। कहाँ तक उधार-बाकी लै लै खाई। माँगत माँगत बेपर होइ गयेन।

भाल०—बको मत जाकर कुर्सी लाओ। जब कोई काम करने को कहा गया तो रोने लगता है। कहिए पंडित जी यहाँ सब कुशल है!

पंडित जी—क्या कुशल कहूँ बाबूजी अब कुशल कहाँ। सारा घर मिट्टी में मिल गया।

इतने में कहार ने एक टूटा हुआ चीड़ का सन्दूक लाकर रख दिया और बोला—कुर्सी-मेज हमारे उठाये नाहीं उठत है।

भाल०—अब और कैसे मिट्टी में मिलेगा! इससे बड़ी और कौन विपत्ति पड़ेगी। बाबू उदयभानुलाल से मेरी पुरानी दोस्ती थी। आदमी नहीं हीरा था! क्या दिल था क्या हिम्मत थी (आँखें पोंछकर) मेरा तो जैसे दाहिना हाथ ही कट गया। खाने बैठता हूँ तो कौर मुँह में नहीं जाता। उनकी सूरत आँखों के सामने खड़ी रहती है। मुँह जूठा करके उठ आता हूँ। किसी काम में दिल नहीं लगता। भाई के मरने का रंज भी इससे कम ही होता। आदमी नहीं हीरा था! •

जिन्दगी देखी है मुंशीजी ने यह कपट लीला अपने समाज में जो नागफनी के रूप में निचुड़कर यहाँ आयी है। जिधर नजर उठायी है उधर मिली है यह चीज। जीवन के एक अंग का जिन्दगी भर का अनुभव है यह जो एक वाक्य की तरह रूप हो गया है इस कृति में—लड़के भले पाँच पढ़ने जा सकते हैं चौका-बर्तन भी अपने हाथ से किया जा सकता है, रूखा-सूखा खाकर निर्वाह किया जा सकता है झोंपड़े में दिन काटे जा सकते हैं लेकिन युवती कन्या घर में नहीं बैठायी जा सकती।

आखिरकार निर्मला का वही सपना सच होता है जो किसी दिन उसने देखा था— सामने एक नदी लहरें मार रही है और वह नदी के किनारे नाव की बाट देख रही है। सन्ध्या का समय है। अँधेरा किसी भयंकर जन्तु की भाँति बढ़ता चला आता है। वह घोर चिन्ता में पड़ी हुई है कि कैसे यह नदी पार होगी कैसे घर पहुँचूँगी। रो रही है कि रात न हो जाय नहीं तो मैं अकेली यहाँ कैसे रहूँगी। एकाएक उसे एक सुन्दर नौका घाट की ओर आती दिखायी देती है। वह खुशी से उछल पड़ती है और ज्योंही नाव घाट पर आती है वह उस पर चढ़ने के लिए बढ़ती

है और ज्योंही नाव के पटरे पर पैर रखना चाहती है उसका मल्लाह बोल उठता है—तेरे लिए यहाँ जगह नहीं है! वह मल्लाह की खुशामद करती है उसके पैरों पड़ती है रोती है लेकिन वह कहे जाता है—तेरे लिए यहाँ जगह नहीं है। एक क्षण में नाव खुल जाती है। वह चिल्ला-चिल्लाकर रोने लगती है कि इतने में कहीं से आवाज आती है— ठहरो ठहरो वह नाव तुम्हारे लिए नहीं है। मैं आता हूँ मेरी नाव पर बैठ जाओ। मैं उस पार पहुँचा दूँगा। वह भयभीत होकर इधर-उधर देखती है कि यह आवाज कहाँ से आयी। थोड़ी देर के बाद एक छोटी-सी डोंगी आती दिखायी देती है। उसमें न पाल है न पतवार न मस्तूल। पेंदा फटा हुआ है तख्ते टूटे हुए, नाव में पानी भरा हुआ है और एक आदमी उसमें पानी उलीच रहा है। वह उससे कहती है—यह तो टूटी है यह कैसे पार लगेगी? मल्लाह कहता है—तुम्हारे लिए यही भेजी गयी है आकर बैठ जाओ!
और निर्मला की शादी मजबूरन एक पचास बरस के बुड्ढे वर बाबू तोताराम से करनी पड़ती है। 'बाँका सवार बूढ़े लद्दू टट्टू पर सवार होना कब पसन्द करेगा। निर्मला की दशा उसी बाँके सवार की-सी थी। लेकिन दूसरा उपाय भी तो न था।

घर में बड़े-बड़े लड़के हैं, जिनमें से एक सबसे बड़ा खुद निर्मला की उम्र का है—और एक बेवा ननद है जिसे निर्मला फूटी आँख नहीं सुहाती यानी कि प्रलय का हर सामान मौजूद है।

● रुक्मिणी देवी का स्वभाव सारे संसार से निराला था यह पता लगाना कठिन था कि वह किस बात से खुश होती थी और किस बात से नाराज एक बार जिस बात से खुश हो जाती थी दूसरी बार उसी बात से जल जाती थी। अगर निर्मला अपने कमरे में बैठी रहती तो कहती कि न जाने कहाँ की मनहूसिन है, अगर वह कोठे पर चढ़ जाती या महरियों से बातें करती तो छाती पीटने लगती— न लाज है न शरम निगोड़ी ने हया भून खायी! अब क्या कुछ दिनों में बाजार नाचेगी!

निर्मला को लड़कों का चटोरापन अच्छा न लगता था। कभी-कभी पैसे देने से इनकार कर देती। रुक्मिणी को अपने वाग्बाण सर करने का अवसर मिल जाता — अब तो मालकिन हुई हैं लड़के काहे को जियेंगे। बिना माँ के बच्चे को कौन पूछे। रुपयों की मिठाइयाँ खा जाते थे अब धेले धेले को तरसते हैं!

निर्मला अगर चिढ़कर किसी दिन बिना कुछ पूछे-ताछे पैसे दे देती तो देवी जी उसकी दूसरी ही आलोचना करती — इन्हें क्या लड़के मरें या जियें। इनकी बला से! माँ के बिना कौन समझाये कि बेटा बहुत मिठाइयाँ मत खाओ। आयी-गयी तो मेरे सिर जायगी इन्हें क्या! ●

ग़रज़ कि एक दोधारी तलवार थी जो हर तरफ़ काट करती थी।

उधर अधेड़ उम्र हुए तोताराम को फ़िक्र है कि जवान बीवी को क्योंकर ख़ुश रखें। दोस्तों से सलाह-मशविरा होता है तो एक साहब एक अकसीर नुस्ख़ा बताते हैं—

रँगीलेपन का स्वाँग रचो यह ढीला-ढाला कोट फेंको तंजेब की चुस्त अचकन हो चुन्नटदार पाजामा गले में सोने की ज़ंजीर पड़ी हुई, सिर पर जयपुरी साफ़ा बँधा हुआ आँखों में सुर्मा और बालों में हिना का तेल पड़ा हुआ। तोंद का पिचकना भी ज़रूरी है। दोहरा कमरबन्द बाँधो। ज़रा तकलीफ़ तो होगी पर अचकन सज उठेगी। ख़िज़ाब मैं ला दूँगा। सौ-पचास ग़ज़लें याद कर लो और मौक़े-बेमौक़े से शेर पढ़ो। बातों में रस भरा हो। ऐसा मालूम हो कि तुम्हें दीन और दुनिया की कोई फ़िक्र नहीं है बस जो कुछ है प्रियतमा ही है। जवाँमर्दी और साहस के काम करने का मौक़ा ढूँढ़ते रहो। रात को झूठमूठ शोर करो—चोर—चोर और तलवार लेकर अकेले पिल पड़ो। हाँ ज़रा मौक़ा देख लेना ऐसा न हो कि सचमुच कोई चोर आ जाय और तुम उसके पीछे दौड़ो नहीं तो सारी क़लई खुल जायगी और मुफ़्त में उल्लू बनोगे। उस वक़्त तो जवाँमर्दी इसी में है कि दम साधे पड़े रहो जिसमें वह समझे कि तुम्हें ख़बर ही न हुई लेकिन ज्योंही चोर भाग खड़ा हो तुम भी उछलकर बाहर निकलो और तलवार लेकर कहाँ? कहाँ? कहते दौड़ो।

निर्मला के दिल पर यह सब स्वाँग कितना भारी गुज़रता है यह तो अलग बात है लेकिन तोताराम के खुद अपने दिल के भीतर जो चोर है, उसका भी तो कोई इलाज इस नुस्ख़े के पास नहीं है। आख़िरकार उन्हें अपने ही बेटे और निर्मला पर शक हो जाता है। घर की बरबादी के लिए फिर और क्या सामान चाहिए।

इतनी सच्ची मार्मिक ख़ासकर औरतों के दिल को मथनेवाली कहानी मुंशीजी ने दूसरी नहीं लिखी। पढ़नेवाले दहल उठे, रो-रो पड़े। कैसा डरावना आईना उन्होंने समाज के सामने उठाकर रख दिया था। हर रोज़ जो इतने बेमेल ब्याह होते हैं पैसे की मजबूरी से जवान लड़की बूढ़े के पल्ले बाँध दी जाती है उसी का नतीजा क्या रूप होता है। इतनी सच है कहना कोई नहीं। मुंशीजी ने वह लिखा और क़लम तोड़कर रख दिया। सच्चाई और न्याय इस छोड़कर मुंशीजी का दूसरा धर्म नहीं है। और इस धर्म में मनोरंजन के लिए कहीं जगह नहीं है। अब से क़रीब साल ही भर पहले उन्होंने 'मृत' नाम की एक कहानी लिखी थी जिसमें उन्होंने पत्नी की ओर से आन एक प्रतीकी निरीक्षण की ग़ुज़र की थी जिसके बाद अपनी

बीवी के मरने पर अपनी एक बहुत ही छोटी साली से शादी कर ली थी — जो उन्हीं के घर में पलकर बड़ी हुई थी और जिसे उन्होंने गोद में खिलाया था। मुंशीजी का इलाहाबाद में उनके यहाँ बराबर का आना-जाना था लेकिन वह और बात है।

निर्मला की असाधारण लोकप्रियता ने 'चाँद' के सम्पादक को प्रेरित किया कि वह मुंशीजी से फिर कोई धारावाहिक उपन्यास इसी तरह का ले। मुंशीजी का भी दिल बढ़ा हुआ था और फिर जहाँ रोज कुआँ खोदने और पानी पीने की हालत हो वहाँ आमदनी की यह एक सूरत थी जिसे हाथ से जाने न दिया जा सकता था। नवम्बर के महीने में 'निर्मला' का सिलसिला खत्म हुआ और बीच का एक महीना छोड़कर जनवरी १९२७ से एक दूसरा उपन्यास छपना शुरू हो गया। इसका नाम 'प्रतिज्ञा' था। इतनी जल्दी में एक बिलकुल नयी और ताजा चीज बनती भी तो कैसे। लिहाजा मुंशीजी ने अपनी बीस साल पुराने लिखे 'प्रेमा' को ही दुबारा लिखने की ठानी। विधवा-विवाह की समस्या थी, महिलाओं की पत्रिका के लिए अत्यन्त उपयुक्त। चरित्र भी सब वही रहे। हाँ, कथान्तर में कुछ अन्तर जरूर आ गया। वह छब्बीस बरस के नौजवान और सैंतालिस बरस के अधेड़ का अन्तर था। तब मुंशीजी को खुद अपने दूसरे ब्याह की पड़ी थी — किसी विधवा स्त्री से। लिहाजा अमृतराय पहले पूर्णा से ब्याह कर लेते हैं — जिस पर कि हाल ही में वैधव्य का शोक पड़ा है। पीछे एक बड़े पेचिश-से, जासूसी-तिलिस्मी घटनाचक्र में इधर पूर्णा मारी जाती है, उधर प्रेमा के पति दाननाथ मारे जाते हैं और इस तरह मैदान साफ हो जाने पर दोनों पुराने प्रेमी अमृतराय और प्रेमा विवाह-सूत्र में सदा के लिए बँध जाते हैं। यहाँ वह सब कुछ नहीं है। दृष्टि प्रौढ़ हो चुकी है। दाम्पत्य में ही समाधान पा लेनेवाला मन अब नहीं है। जीवन उससे ज्यादा जटिल है। अतः विधवा-आश्रम बनता है। पूर्णा उसमें आकर रहने लगती है। लेकिन दोनों दो समानान्तर रेखाओं की तरह रहते हैं जो किसी बिन्दु पर आपस में नहीं मिलतीं। उधर प्रेमा शीलवती स्त्री की तरह दाननाथ के साथ अपने दाम्पत्य का निर्वाह करते हुए दिन गुजार रही है। जैसा कि जीवन का क्रम है।

अभी यह नया सिलसिला शुरू ही हुआ था कि ८ फरवरी १९२७ को मुंशीजी के पास बाबू विष्णु नारायण भार्गव का बुलौआ आया। 'माधुरी' की एडीटरी के लिए, वेतन दो सौ रुपया महीना। अंधा क्या माँगे दो आँखें।

उन दिनों मुंशीजी [illegible] बेनी पर रहते थे। मणिकर्णिका का रास्ता पड़ता था। दिन रात रामनाम सत्य है। मरघटों का जीना मुहाल था। डर था कहीं बच्चे की माँ मारे दहशत के बिस्तर से न लग जाय। लिहाजा जब जब मुंशी

जी के लखनऊ जाने का सवाल पैदा हुआ तो इस घर में रहना असम्भव हो गया। सबको लेकर जाने में यह मुश्किल थी कि बड़ा लड़का स्कूल में पढ़ता था साल खराब होता। चुनांचे लड़के को शहर ही में एक गुजराती वकील के घर पर रखकर और बाकी सबको लमही पहुँचाकर मुंशीजी इकले घर में लखनऊ पहुँच गये और १५ तारीख से काम सँभाल लिया। मकान इस बार उन्होंने मारवाड़ी गली में लिया। उसी हाते में मुंशीजी के घर से लगा हुआ रामतीर्थ पब्लिकेशन लीग का दफ्तर था। बाल-बच्चे जुलाई में बनारस से आये और लखनऊ की छः साल की जिन्दगी शुरू हुई — जिनमें से पाँच मुल्क की जिन्दगी के बहुत तूफानी साल रहे।

२२

लेकिन इस बड़े तूफ़ान से कुछ महीने पहले एक छोटा-सा तूफ़ान मुंशीजी की ज़िन्दगी में भी आया। ज़ोर तो इस तूफ़ान का भी कम न था, मगर टाँय टाँय फिस वाली कहावत का उदाहरण होकर रह गया।

क़िस्सा यह हुआ कि मुंशी जी ने 'मोटेराम शास्त्री' के नाम से एक कहानी लिखी जो जनवरी १९२८ की माधुरी में छपी। इसमें उन्होंने एक नामी कबाली वैद्य की खिल्ली उड़ायी थी — अपनी वैदकी जमाने के लिए वह कैसी-कैसी माया रचता है और पीछे भेद खुलने पर उसकी कैसी-कैसी दुर्गत होती है।

लाटूश रोड पर गंगा पुस्तकमाला के पास ही, बिलकुल पास, जहाँ मुंशीजी अपने पिछले प्रवास में साल भर रहे थे, एक पंडित शालिग्राम शास्त्री वैद्य की दुकान थी। यह तो भगवान ही जाने (और खुद मुंशीजी) कि उन्होंने इन्हीं वैद्य जी का खाका खींचा था या किसी और का या किसी का भी नहीं। बहरहाल पंडित शालिग्राम शास्त्री को पूरा यक़ीन हो गया या करा दिया गया कि हो न हो मोटेराम शास्त्री आप ही हैं और आप ही को ज़लील करने के लिए यह कहानी लिखी गयी है। शास्त्रीजी ने खुद ही अपने इस्तग़ासे में लिखा था कि मेरे कई मित्रों ने मेरा ध्यान इस कहानी की ओर उस समय आकर्षित किया जब मैं बीमार था और मुझको बतलाया कि इससे तुम्हारी बड़ी बेइज़्ज़ती हुई है। ग़रज़ कि खूब-खूब भरा लोगों ने शास्त्रीजी को। कोई पटखनी खाय किसी की पीठ में धूल लगे, हमें तो अपने तमाशे से मतलब है। कब-कब मिलता है ऐसा फोकट का तमाशा देखने को! दंगल की तैयारियाँ पूरे ज़ोर-शोर से होने लगीं। पहलवान मला-दला जाने लगा। गवाहियाँ-साखियाँ बनने लगीं। उधर से गवाहों की जो सूची पेश हुई उसमें बड़े-बड़े लोगों के नाम थे — पं. दुलारेलाल भार्गव, पं. रूपनारायण पाण्डेय, पं. बद्रीनाथ भट्ट, पं. मातादीन शुक्ल, पं. ज्वालादत्त ठाकुर। बाहर से जिन गवाहों को बुलाने की बात थी उनमें पं. पद्मसिंह शर्मा और रत्नाकरजी भी थे। जहाँ इतनी बड़ी-बड़ी तोपें साथ हों वहाँ फिर कैसा आगा पीछा। शास्त्रीजी ने फ़ौरन स्थानीय फ़ौजदारी अदालत में माधुरी के सम्पादकों

पर मानहानि का दावा ठोंक दिया। मजिस्ट्रेट ने इस्तग़ासा दायर होने पर पाण्डेजी की ओर से माधुरी-सम्पादकों को पाँच-पाँच सौ के ज़मानती वारंटों के ज़रिये तलब किया। मगर इसके पहले कि सरकारी कर्मचारी वारंट लेकर उनके पास जाये माधुरी के संपादकगण स्वयं अदालत में उपस्थित हो गये — और अपने क़ानूनी सलाहकारों के निर्देश पर, जिनमें दो वकील थे और एक बैरिस्टर, उन्होंने एक दरख़्वास्त पेश की। और उसी ने सब खेल बिगाड़ दिया। समझौता होकर मामला रफ़ा-दफ़ा हो गया। खेल जम नहीं पाया।

लेकिन यह दरख़्वास्त देखने से ताल्लुक़ रखती है —

● ऩक़ल दरख़्वास्त मुवर्रिख़ा १२।४।२८ मिनजानिब बाबू प्रेमचन्द व पंडित कृष्ण बिहारी मिश्र मुक़दमा नं० १४९, शालिग्राम बनाम कृष्णबिहारी मिश्र व प्रेमचन्द हस्बे दफ़ा ५००।१ ९ ताज़ीरात हिन्द मुनफ़सला १२।४।२८ पुलिस स्टेशन हज़रतगंज बअदालत सिटी मजिस्ट्रेट लखनऊ।

मुलज़िमान बज़रिये इस दरख़्वास्त के हिदायत अदब से ज़ाहिर करते हैं —

१) यह कि जनवरी १९२८ की माधुरी के ८१२ लगायत ८१५ सफ़हात पर मोटेराम शास्त्री नाम से जो मज़मून छपा है वह इस इरादे से लिखा गया था कि किसी नीमहकीम का ख़ाका खींचा जाय। इस मज़मून को मुलज़िम नं० २ ने मौजूदा ज़माने के नीमहकीमों की हजो करने के लिए लिखा था।

२) यह कि मज़मून हाज़ा के ज़रिये से मुस्तग़ीस की हजो करने का इरादा मुलज़िम नम्बर २ का न था।

३) यह कि मुलज़िम नं० १ व मुलज़िम नं० २ दोनों पंडित शालिग्राम शास्त्री को एक शरीफ़ आदमी समझते हैं जो इल्म वैदक व संस्कृत व हिन्दी के आलिम हैं। मुलज़िमान क़तई यह नहीं समझते हैं और न उनकी यह ख़्वाहिश है कि वह जैसे कुछ हैं उनका तमाशा और किसी सूरत में उनका ख़ाका खींचा जाय।

४) यह कि दोनों मुलज़िमान इन वाक़यात को अच्छी तरह से मुश्तहिर करने के लिए तैयार हैं जिससे मुस्तग़ीस के दिमाग़ में अगर किसी तरह का शक हो तो वह रफ़ा हो जाय।

५) यह कि मुलज़िमान हुज़ूर को यक़ीन दिलाते हैं कि यह मज़मून मुस्तग़ीस के ऊपर नहीं लिखा गया। लेकिन अगर उनका ख़याल है कि यह उन्हीं के लिए लिखा गया है और मुलज़िमान ने सहवन भी उनके दिल को चोट पहुँचाई है तो मुलज़िमान को सख़्त अफ़सोस है, हालाँकि वह इस बात को नहीं तसलीम करते हैं कि मुस्तग़ीस का ऐसा सोचना सही है। ●

कहीं पकड़ नहीं है। हाँ, इधर-उधर निरर्थक टुकड़े ज़रूर हैं (जिन्हें हमने रेखांकित कर दिया है) जिनका कुछ भी मतलब हो सकता है।'

और इसमें शक नहीं कि जब मुंशीजी चौथे नुक्ते की रू से उन वाक़यात को अच्छी तरह मुन्तहिर करने पर आये तो उनके 'मुस्तक़ीम' के दिमाग़ में अगर किसी तरह का शक था तो वह ख़त्म हो गया।

पहला काम मुंशीजी ने इस सिलसिले में यह किया कि जिस कहानी के छापने पर यह हंगामा खड़ा हुआ था उसे उन्होंने दुबारा छाप दिया और इस टिप्पणी के साथ 'जो किसी शरारती बच्चे के मुँह चिढ़ाने जैसी है' : ले अपना के बड़ा बना था शिकायत करने! अब देता हूँ जाने भर को!

इसी निर्दोष कहानी के सम्बन्ध में पंडित शालिग्राम शास्त्री को यह भ्रम हुआ था कि यह उन पर लिखी गयी है। उन्होंने इस कहानी को लेकर माधुरी सम्पादकों पर फ़ौजदारी अदालत में दावा भी दायर किया था पर जब संपादकों ने अदालत को विश्वास दिलाया कि यह एक कुत्सित पेशे पर व्यंग्य प्रहसन मात्र है — शास्त्री जी से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है — तो वे संतुष्ट हो गये और अब उनका यह विश्वास है कि कहानी उनको लक्ष्य करके नहीं लिखी गयी है।

ग़रज़ कि जो लोग पिछली बार कहानी पढ़ने से रह गये थे उन्होंने भी अब पढ़ ली। टीकाफ़ेटर में कोई कमी क्यों रह जाय! लेकिन असल मज़े की चीज़ तो है शास्त्री का वह क्षोभ जो इस तमाम वावैला के पीछे छिपा हुआ है — कुछ वैसी ही चीज़ जैसी एक बार बचपन में हुई थी जब खेल में उन्होंने बाँस की खपाची से रामू का कान काट लिया था और जब उसकी माँ उलाहना लेकर इनकी माँ के पास आयी थी और इनके अपने कान खिंचने की बारी आयी थी तो आपने बहुत ही भोलेपन से कहा था — हम तो नाऊ नाऊ खेल रहे थे! या जब आपकी चोरी के लिए बड़े भाई साहब पिट रहे थे और आप बड़े सरल निष्पाप भाव से प्रेमपूर्वक गुड़ का भोग लगा रहे थे।

यह वावैला जनाब के ख़ून में घुल गयी थी और अक्सर उनकी कहानियों में फूट पड़ती है। और यों तो हल्की-फुल्की चोटें मौक़ा-महल देखकर सभी पर हो जाती हैं लेकिन जब कुछ ख़ास चोटमारी करनी होती है तो मोटेराम शास्त्री को याद किया जाता है और फिर उन्हें ख़ूब ही मज़ा ले-लेकर खींचा जाता है।

इन पण्डित मोटेराम शास्त्री का इतिहास बताते हुए (वह भी शायद इन वाक़यात को अच्छी तरह से मुन्तहिर करने की ग़रज़ से!) मुंशीजी ने माधुरी में लिखा —

● मुंशी प्रेमचन्द जी के उपन्यासों और कहानियों में एक पात्र मोटेराम शास्त्री

नाम के हैं। हँसी-मज़ाक का आश्रय लेकर ही इस पात्र की सृष्टि हुई है। पिकविक पेपर्स पढ़कर ही मुंशीजी ने इस पात्र की कल्पना की है। जैसे सर राजर डी काबर्ली पात्र की सृष्टि करके ऐडिसन ने अंग्रेज़ी के उपन्यास-जगत् में हास्यधारा बहायी है वैसे ही हिन्दी में प्रेमचन्दजी के मोटेराम शास्त्री लोगों को हँसाते हैं।

● इस पात्र की सृष्टि पहले पहल सन् १९१२ में मुंशीजी के लिखे एक उर्दू उपन्यास में हुई। (जलवए ईसार जो क़रीब दस साल बाद 'वरदान' के नाम से हिन्दी में छपा। —अ) फिर ये धीरे-धीरे हिन्दी-साहित्य में भी पहुँचे। इन्हीं महाराज की बदौलत माधुरी पर मानहानि का दावा तक दायर हुआ। ये बड़े हज़रत हैं। हिन्दी में 'मनुष्य का परम धर्म' नाम की कहानी में इनका पहले पहल १९२ में दर्शन हुआ फिर 'सत्याग्रह' कहानी में १९२३ में ये साक्षात् रूप से माधुरी में पधारे और बड़े रंग लाये। आपने १९२६ में 'सरस्वती' पत्रिका पर भी कृपा की और 'निमन्त्रण' कहानी में अपने दिव्य दर्शन दिये। १९२७ में 'प्रेम-प्रतिमा' नाम की एक पुस्तक निकली। इसमें 'गुरुमंत्र' नाम की एक कहानी है। इसमें भी मोटेरामजी की झाँकी झाँकी है। फिर 'चाँद' कार्यालय से 'निर्मला' पुस्तक निकली। इसमें भी मोटेराम जी शास्त्री की व्यवहारकुशलता का दर्शन मिला। आपके लखनऊ पधारने का शुभ-संवाद पहले-पहल इसी ग्रन्थ में है। लखनऊ आपके मन भाया इसलिए साक्षात् मोटेराम शास्त्री के नाम से आप लखनऊ पहुँचे और यहाँ धड़ल्ले से वैद्यक करने लगे। माधुरी के द्वारा आपकी सुख्याति लखनऊ में खूब हुई। हाल ही में 'साहित्य समालोचक' में आपके जीवन-चरित्र का एक पटल और भी दिखलायी पड़ा है। आपकी सुकीर्ति की कथाएँ अब बहुत व्यापक हो गयी हैं इसलिए सम्भव है शीघ्र ही किसी विशालकाय पुस्तक में आपके दिव्य चरित्र का वर्णन विस्तार के साथ पढ़ने को मिले। मोटेराम जी आदर्श दंभी पेटू पात्र एवं अपने आतंक और यशोविस्तार के इच्छुक दिखलायी पड़ते हैं। आप व्याख्याता भी हैं लीडर भी बनना चाहते हैं और धर्माचार्य एवं साहित्यवेत्ता भी हैं। इधर पिछले दिनों से वैद्यक का भी आपने अभ्यास किया है। अपनी स्त्री चिंता से आपकी प्रायः गप लड़ा करती है। 'मनुष्य का परम धर्म' में जब हमने आपको पहले पहल देखा तो जाना कि आप खूब न्योता खानेवाले संगीतप्रेमी व्याख्याता अव्वल नम्बर के धूर्त एवं ज़बर्दस्त पेटू हैं। फिर 'सत्याग्रह' में आपके पेटू स्वभाव का तो पता चला ही पर आपके भीरुपन का भी हाल मालूम हुआ। प्रायः सर्वत्र आप अपने प्रयत्नों में असफल रहते हैं। असफलता आपकी विशेषता है। लखनऊ में आपकी वैद्यक वृत्ति का जो चित्रण 'मोटेराम शास्त्री' नाम से जिस ढंग की माधुरी में छपा वह बहुत रंग लाया। लखनऊ के कई वैद्यों का बोध हुआ कि

मोटेराम हमीं हैं। हमारे परिचित वैद्य श्री गया प्रसाद जी शास्त्री श्रीहरि तो एक दिन हँसी-मजाक में कहने लगे, लेकिन इस कहानी की कल-सी बातें मुझ पर चस्पाँ होती हैं। मैंने हरिद्वार में सम्पादकी की है। मैं साहित्याचार्य होने के कारण अलंकारशास्त्र भी जानता हूँ और अभी हाल ही में मैंने अपनी बैठक की व्यवस्था मैं प्रारम्भ की है। पर जब उनसे यह बात अनजानी गयी कि सम्पादकी तो स्थानीय वयोवृद्ध वैद्य बनारसीजी एम० ए० रामनारायण जी ने भी की है एवं अलंकारशास्त्र के ज्ञाता और उस विषय पर ग्रन्थ लिखनेवाले प० शालग्राम वाजपेयी प्रयाग भी हैं तो वे हँसने लगे। इन पंक्तियों ने आयुर्वेद-महत्त्व-दर्शन नेम भी लिखे हैं। खैर, यहाँ तक तो विनोद की बात रही पर वास्तविक भेद है कि प० शालिग्राम शास्त्री सचमुच कहानी को अपने ऊपर समझ बैठे और आकर अदालत का द्वार खटखटाया। और, अब तो उनको भी विश्वास हो गया है कि हम मोटेराम नहीं हैं। इधर स्थानीय साप्ताहिक पत्र 'प्रदीप' ने मोटेराम की तलाश में अपने गुप्तचर छोड़े हैं। शायद वह उनका पिण्ड पता लगा सकें। मुंशी प्रेमचन्द जी मोटेराम पर बारीक निगाह रखते हैं। •

काशी चन्द्रकान्त ले-लेकर मुंशीजी यह कहानी कह रहे हैं — और क्यों न कहें अब तो वैराग्य निकल आये। लेकिन जब कि मुकदमा इजलास के सामने था और उन्हें पता न था कि ऊँट किस करवट बैठता है, उस वक्त भी मुंशीजी को इस खेल में मज़ा ही ज़्यादा आ रहा था, बावजूद इसके कि अदालत में आ जाने के पोंगे से सन्देह थे। बस एक बात बुरी थी — खामखाह इस चीज़ ने कुछ ब्राह्मण-अब्राह्मण झगड़े का रूप ले लिया था। उधर से गवाहों की जो फ़ौज पेश हुई थी उस पर एक नज़र डालने से यह बात साफ़ हो जाती है — जैसे सब लोग आ जुटे हों इस ब्राह्मण-द्रोही का मान-मर्दन करने के लिए! यह एक बुरी चीज़ थी क्योंकि जाति-द्वेष फैलाने के लिए उन्होंने मोटेराम या दूसरे किसी चरित्र की सृष्टि नहीं की, इसका विश्वास उनके मन में था। अच्छे ब्राह्मण चरित्रों की भी उनके यहाँ कमी नहीं है — और न धोखेबाज़ फ़रेबी मुनाफ़ाखोर लोगों की कमी है। बात उन्हें इन्सान की कहनी है, जात-पाँत में उलझने से कैसे बनता। लेकिन हाँ, उस बात के कहने में जिस पर चोट आयेगी, वह तो आयेगी, उससे बचने का कोई उपाय नहीं है। अपनी सारी ज़िन्दगी में मुंशीजी से ज़्यादा मुरौवतवाला आदमी मिलना मुश्किल है, लेकिन जिसके आगे वह किसी का सगा नहीं है। समाज में जो अन्याय है, ढोंग-ढकोसले हैं, ऊँच-नीच और छूत-अछूत है, उसकी तह में पहुँचना ज़रूरी है।

समाज का यह विधान किसने किया? आज भी समाज को सुधारने के रास्ते में सबसे बड़ी बाधा कौन है? जिसके चलते हिन्दू-समाज में नारी की यह हीन

दशा है? किसके अन्याय से पीड़ित होकर करोड़ों हिन्दू मुसलमान हो गये? बिना हाथ-पैर हिलाये दूसरे की कमाई पर हलवा पूरी खानेवालों की यह जो अमी-हिली साधु-महात्माओं के रूप में घुन की तरह हमारे समाज को खा रही है वह कौन लोग हैं? ढोंग-पाखंड लेकर सरल-विश्वासी जनता को ठगनेवाले कौन हैं?

मुंशीजी इतिहास और समाजशास्त्र के विद्यार्थी हैं और इन सब प्रश्नों का उन्हें एक ही उत्तर मिलता है — ब्राह्मण देवता। इन्हीं ब्राह्मण देवता ने आज हिन्दू समाज को इस दशा को पहुँचाया है और अगर समय रहते इसका उपचार न किया गया तो भगवान भी हिन्दू समाज को रसातल में जाने से नहीं बचा सकते। इसलिए जितनी जल्दी हो सके इन ब्राह्मण देवता का असली चेहरा लोगों के सामने उघाड़कर रख दो। यह ब्राह्मण वह नहीं है जो ज्ञान का आगार था विनय की मूर्ति था सरल था सत्यचारी था निस्पृह था जो निर्जन एकान्त में बैठा तप करता था जिसे पठन-पाठन और यज्ञ-याग के सिवा दूसरी किसी चीज़ से प्रयोजन न था। यह ब्राह्मण वह नहीं है यह ढोंगपंथी पंडा-पुरोहित साधु-महात्मा

और इस तरह मोटेराम का जन्म हुआ सन् ११ १२ में लेकिन जैसा कि हम देख चुके हैं उसके भी सात-आठ बरस पहले मुंशीजी की पहली प्राप्त कहानि 'देवस्थान रहस्य' में सन् ५ में ही मुंशीजी का कुठार उन दुराचारी-व्यभिचारी पंडों-पुरोहितों पर गिर चुका था। पहले का परोपकारी ब्राह्मण आज जिस अर्थ में और जिस सीमा तक परोपजीवी बन गया है और दूसरे की गाढ़ी कमाई पर रबड़ी-मलाई चाभता है वह सच्चे ब्राह्मण के पद से गिरा हुआ है, पतित है और उसका पर्दा फ़ाश करना इन्साफ़ का तक़ाज़ा है।

सन् १९ ६ में मुंशीजी ने अपने एक लेख 'सरर और सरशार' में लिखा था —

बुद्धिमान जानते हैं कि बुराइयों की रोक-थाम के लिए कोई औज़ार इतना कारगर और असरदार नहीं है जितना की मज़ाक का कोड़ा और सरशार ने बड़ी बेरहमी से ऐसे कोड़े लगाये हैं। मसलन रेवेन्यू एजेन्ट और सलारजरम को मज़ाक का निशाना बनाया गया है उससे सिर्फ़ वकीलों की बहुतायत और उनकी बेफ़िक्री का खाका उड़ाना उद्दिष्ट है। डिकेन्स ने भी ममस्ट बवाफ़क्ष के पर्दे में वकीलों की खूब खबर ली है। मगर सरशार की बेपनाह ठिठोली डिकेन्स के गम्भीर व्यंग्य से अधिक प्रभावशाली है।

इन्हीं सरशार और डिकेन्स से इशारा लेकर मुंशीजी ने पंडित मोटेराम की सृष्टि की और क़रीब पच्चीस साल तक अपने कलेजे से लगाये रखा। यह भी मालूम है कि मुंशीजी ने सरशार के ढंग को ही अपने मिज़ाज के ज़्यादा क़रीब पाया और उसी मिट्टी और पानी से मोटेराम की मूरत बनायी।

वक़्त के तक़ाज़े से नयी-नयी बातें भी मोटेराम में जुड़ जाती हैं, लेकिन एक बात सब में समान है—उनकी अजगरी वृत्ति।

देखिए अजगरी वृत्ति के मौन्मर्द बाबाजी लोगों की कसी खिल्ली इस छोटे से चुटकुले में उड़ाई है—

● रामधन अहीर के द्वार पर एक साधु आकर बोला—बच्चा तेरा कल्याण हो कुछ साधु पर श्रद्धा कर।

रामधन ने जाकर स्त्री से कहा—साधु द्वार पर आये हैं, उन्हें कुछ दे दो।

स्त्री बर्तन माँज रही थी और इस घोर चिन्ता में मग्न थी कि आज भोजन क्या बनेगा घर में अनाज का एक दाना भी न था। चैत का महीना था लेकिन यहाँ दोपहर ही को अँधेरा छा गया था। उपज सारी की सारी खलिहान से उठ गयी। आधी महाजन ने ले ली आधी ज़मीन्दार के प्यादों ने वसूल की भूसा बेचा तो बैल के व्यापारी से गला छूटा बस थोड़ी-सी गाँठ अपने हिस्से में आयी। उसी को पीट-पीटकर एक मन भर दाना निकाला था। किसी तरह चैत का महीना पार हुआ अब आगे क्या होगा।●

ऐसे में आफ़त के मारे वह बाबाजी पहुँच जाते हैं और किसान की सरल आस्तिकता जब कोई और उपाय नहीं सूझता तो देवताओं के लिए जो थोड़ा-सा अँगोछा निकालकर रखा है उसी में से एक कटोरा आटा ले जाकर बाबाजी की झोली में डाल देता है।

● महात्मा ने आटा लेकर कहा—बच्चा अब तो साधु आज यहीं रहेंगे। कुछ थोड़ी-सी दाल दे तो साधु का भोग लग जाय।

रामधन ने फिर जाकर स्त्री से कहा। संयोग से दाल घर में थी। रामधन ने दाल नमक उपले जुटा दिये फिर कुएँ से पानी खींच लाया। साधु ने बड़ी विधि से बाटियाँ बनायीं दाल पकायी और आलू झोली में से निकालकर भुरता बनाया। जब सब सामग्री तैयार हो गयी तो रामधन से बोले—बच्चा भगवान के भोग के लिए कौड़ी भर घी चाहिए। रसोई पवित्र न होगी तो भोग कैसे लगेगा।

रामधन—बाबाजी घी तो घर में न होगा।

साधु—बच्चा भगवान का दिया तेरे पास बहुत है। ऐसी बात न कह।

रामधन—महाराज मेरे गाय-भैंस कुछ नहीं है, घी कहाँ से होगा।

साधु—बच्चा भगवान के भण्डार में सब कुछ है, जाकर मालकिन से कह तो।

रामधन ने जाकर स्त्री से कहा—घी माँगते हैं। माँगने को भीख पर घी बिना कौर नहीं धँसता।

स्त्री—तो इसी थाल में से थोड़ी लेकर बनिये के यहाँ से ला दो। जब सब किया है तो इतने के लिए उन्हें नाराज़ क्यों करते हो।

घी आ गया। साधुजी ने ठाकुरजी की पिंडी निकाली, घंटी बजायी और भोग लगाने बैठे। खूब तनकर खाया, फिर पेट पर हाथ फेरते हुए द्वार पर लेट गये। थाली, बटुली और कलछुली रामधन घर में माँजने के लिए उठा ले गया।

उस रात रामधन के घर चूल्हा नहीं जला, खाली दाल पकाकर ही पी ली। ●

२३

३ फ़रवरी १९२८ को साइमन कमीशन ने हिन्दुस्तान की धरती पर पैर रखा—और अंगारे बिछे हुए पाये। श्रीगणेश उसी दिन एक देशव्यापी हड़ताल से हुआ। फिर तो कमीशन जहाँ-जहाँ गया वहाँ-वहाँ उसे जनता के इसी रोषानल का सामना करना पड़ा। हर जगह लोगों की ज़बान पर वही एक नारा था—'साइमन गो बैक गो बैक साइमन' जो अशिक्षित कंठों से निकलकर 'साइमन गोबर गोबर साइमन' बन जाता था। दस हज़ार, पचीस हज़ार, पचास हज़ार कंठों से निकलकर वही स्वाधीनता की हवा में गूँज रही थी। हुकूमतवालों को स्वभावतः यह अच्छी नहीं लगी और उन्होंने उसको बन्द करने के लिए कहीं लाठी और कहीं गोली का सहारा लिया। बम्बई कलकत्ता दिल्ली मद्रास सब जगह एक ही किस्सा था। बेचारों का सोना-जागना हराम हो गया। हर वक़्त हर तरफ़ उन्हें वही चीखें नज़र आतीं और वही शोर कानों में बजता रहता। नींद में भी एक पत्थर सा सीने पर धरा रहता। दिल्ली का ही लतीफ़ा तो है यह जिसका ज़िक्र जवाहरलाल ने अपनी आत्मकथा में किया है। कमीशन के मेम्बर एक रोज़ वेस्टर्न होटल में सो रहे थे। रात के सन्नाटे में उनकी नींद यकायक उचट गयी। बेपनाह शोर मच रहा था। पहुँच गये हड़तालवाले, यहाँ भी पहुँच गये! अब शायद रात को सोना भी मयस्सर न होगा।

मगर नहीं, वे तो महज़ सियार थे जो इस वक़्त सब एक साथ हुआँ हुआँ कर रहे थे!

जो हो, सरकार बहादुर को अब यक़ीन हो गया था कि डंडे का सहारा लिये बिना काम न चलेगा। बादशाह सलामत की तरफ़ से यह कमीशन आया है, उसके साथ ऐसा बेहूदा सलूक! सबक देना पड़ेगा इन बाग़ियों को किसी और वजह से नहीं तो सिर्फ़ अपनी नाक बचाने के लिए।

लिहाज़ा कमीशन जब लाहौर पहुँचा और वहाँ भी हज़ारों लोगों ने लाला लाजपतराय के नेतृत्व में कमीशन का वैसा ही ज़बर्दस्त स्वागत किया तो डंडे का जौहर दिखलाना ज़रूरी हो गया। खूब जमकर लाठियाँ बरसायी गयीं और

एक चोधीसे गोरे सार्जेण्ट ने आगे बढ़कर लालाजी के सीने पर अपने बेटन से ऐसा तुला हुआ वार किया कि वह फिर उसके बाद पचास दिन न चल सके।

बुड्ढे आदमी थे। कमज़ोर थे। जाना ही था। चले गये। लेकिन वह वार जो उस गोरे सार्जेण्ट ने किया था वह सिर्फ लालाजी पर नहीं क़ौम की इज्ज़त क़ौम की गैरत पर भी था। हमें इतना गिरा हुआ समझ लिया है इन मरदूदों ने! हमारा खून क्या खून नहीं पानी है। एक सकता-सा छा गया सारे मुल्क में फिर एक ज़ालिम तिलमिलाहट

कुछ ही रोज़ बाद किसी हिन्दुस्तानी ने उस गोरे सार्जेण्ट को अपनी गोली का निशाना बना दिया। लेकिन उतने से वह आग क्या बुझती।

वह तो थोड़ी-सी उस रोज़ बुझी जिस रोज़ भगतसिंह ने असेंबली में बम फेंका। बम पहले भी बहुत फेंके गये थे बाद को भी बहुत फेंके गये और देश के रहनेवालों ने उनके रास्ते को ठीक समझा हो या न समझा हो उन बहादुरों को जो इस तरह अपनी ज़िन्दगी के साथ खेलते थे श्रद्धा के फूल चढ़ाने में उन्होंने कभी कोताही नहीं की। लेकिन सारे उत्तर भारत में जो मान भगतसिंह को मिला वह और किसी को न मिला जिस तरह उसका नाम बच्चे-बच्चे की ज़बान पर चढ़ गया किसी और का न चढ़ा। किसी की स्मृति को इस तरह मानों की माला में गूँथकर लोगों ने अपनी छाती से नहीं लगाया। इसलिए नहीं कि भगतसिंह की जान जान थी दूसरे की जान जान न थी इसलिए कि इसके पीछे लाला लाजपत राय की हत्या थी और भगतसिंह ने इस तरह जैसे उनकी हत्या का बदला लिया था देश की लाज रखी थी। भगतसिंह प्रतीक बन गया था देश के अभिमान का साहस का

जिसको कुचलकर गोरी सत्ता साइमन कमीशन का रास्ता समतल करना चाहती थी।

और इधर उधर ही मुक़ाबले में देश की अपराजेय विद्रोही आत्मा एक बार फिर अपने को पहचान रही थी संगठित हो रही थी।

लाहौर से कमीशन लखनऊ पहुँचा। यहाँ भी सब जगह मस्जिदों में बाज़ारों में घरों के अन्दर और खुले मैदानों में औरत-मर्द बच्चे-बड़े-जवान सब की ज़बान पर वही एक मूल-मन्त्र मंत्र था—साइमन गो बैक।

हुकूमत भी अब हर चीज़ के लिए तैयार थी—चारों तरफ पैदल और घुड़सवार सिपाही लाठी बंदूक किसी चीज़ की कमी न थी पुरज़ोर लड़ाई के मैदान का नक़्शा था। सिपाहियों को अनन्त अधिकार दे दिए गए थे चाहे जो करें कहीं कोई सुनवाई न थी।

साइमन दूसरे शहरों की तरह लखनऊ के रहनेवाले भी अपने इरादों में मज़बूत

थे। साइमन कमीशन आया और उसकी आवभगत यहाँ भी उसी शान-बान से हुई। लाठी भी चली, जुलूस पर घोड़े भी दौड़ाये गये, सर भी फटे लेकिन लोगों के हौसले पस्त न हुए। जवाहरलाल नेहरू को लाठियों का पहला तजुर्बा यहीं हुआ और गोविन्दवल्लभ पंत तो सारी उम्र उस दिन की याद को गरदन की शक्ल में ढोते रहे। लेकिन लोगों का दमखम नहीं था — एक ज्वार था जिसमें सब बह रहे थे।

यहाँ तक कि लखनऊवाले अपनी कार्रवाइयों को मज़ाक का वह हल्का-सा पुट देने से भी बाज न आये जो कि उनकी खास चीज है।

कैसरबाग में अवध के पुराने ताल्लुकेदारों ने साइमन कमीशन को एक शानदार पार्टी दे रखी थी। शहर के तमाम बड़े-बड़े लोग, अमीर उमरा आमंत्रित थे। पुलिस ने अच्छी तरह नाकेबन्दी कर रखी थी ताकि परिन्दा भी पर न मार सके और सब विधिवत् सम्पन्न हो जाय। आसपास की सड़कों तक पर आने की लोगों को मनाही थी।

और इस तरह इस किलेबन्दी के भीतर सरकारी खैरख्वाहों की महफ़िल गर्म थी—कि अचानक लोगों की नज़र ऊपर जा उठी तो वह क्या देखते हैं कि आसमान में अनगिनत गुब्बारे और पतंगें उड़ रही हैं (कनकौआ का शहर ही ठहरा लखनऊ) और उन सब में एक दुमछल्ला लगा हुआ है, साइमन गो बैक!

मुँह का मज़ा बिगड़ गया कुछ लोगों का, लेकिन शहर सारा हँस रहा था और उन हँसनेवालों में मुंशी प्रेमचन्द भी थे जो उन दिनों नं० २ हिवेट रोड पर पाठक जी के ठाठ मकान में रहते थे। सारा नाटक उनकी आँखों के आगे हो रहा था। कभी कभी जोश भी आ जाता था मगर वह बस एक वक़्ती उबाल था और मुंशीजी अलग थलग अपने कोने में पड़े रहे। अपनी ताक़त का पता उन्हें हो न हो, अपनी कमज़ोरी का पता खूब था। जैसा कि अब से करीब छः साल बाद इन्द्रनाथ मदान को लिखे हुए अपने एक ख़त में उन्होंने कहा था—नहीं, मैं कभी जेल नहीं गया। मैं कर्मक्षेत्र का आदमी नहीं हूँ। मेरी रचनाओं ने कई बार सत्ता को कुपित किया है। सब के पास अभिव्यक्ति का अपना माध्यम होता है। लेकिन यह पूरी बात नहीं है। परिस्थिति की विवशता भी कोई चीज़ होती है। बच्चों गृहस्थी है। खुद ही कमानेवाले हैं, काम किये बिना दो रोज़ भी खाने का ठिकाना नहीं है। ऐसे में यही ठीक है कि तेली के बैल की तरह जुते रहो और लिख-पढ़कर जितना कुछ कर सको, करो। बुरा भी क्या है, सब काम सबके करने के नहीं होते। जिससे जो बन सके वही उसका काम है।

लेकिन क़ौम की ज़िन्दगी में ऐसे भी मौक़े आ जाते हैं जब ये सब बातें मन

को समझाने की दलीलें काम पड़ने लगती हैं। जैसे-जैसे आन्दोलन में तेज़ी आ रही थी वैसे-वैसे संकल्प-विकल्प की ये स्थितियाँ अधिकाधिक सामने आने लगी थीं और तब पति-पत्नी में अक्सर इस बात को लेकर बहस छिड़ती कि कौन जेल जाये और कौन घर को सँभाले। इस पर दोनों एकमत थे कि एक न एक को जेल जाना ज़रूर चाहिए। सब घरों से लोग जा रहे हैं तो क्या हमीं सबसे पिछड़ी सबसे गये-बीते हैं! बाल-बच्चे सभी के हैं। सबकी अपनी-अपनी मजबूरियाँ हैं। पैसेवाले लोग कितने हैं। ज़्यादातर हमीं जैसे लोग हैं, फ़ाक़ेमस्त घर में भूनी भाँग नहीं। मगर तब भी जा रहे हैं। घर में कोई बड़ा लड़का होता तो उसी को जेल भेजकर अपना कोटा पूरा कर देते। वह भी बात नहीं है। जाना हमीं दो में से एक को है। मुंशीजी को शिवरानी जाने न देना चाहतीं — घर का क्या होगा अस्सी रुपये महीने का भी तो ठीक नहीं है और फिर इनकी सेहत क्या जेल जाने की है! न जाने क्या काठ-कबाड़ खाने को दें बीमार आदमी जैसे तैसे तो जान बची है अभी रक्खा है परहेज़ी खाना वहाँ शायद ही फिर घर का मुँह देखना नसीब हो!

गरज़ कि इसी हैस-बैस में बेचारे पड़े थे और उधर मुल्क तेज़ी से एक नये संघर्ष की ओर जा रहा था।

और मुंशीजी की ज़िन्दगी अपने उसी बँधे-टँधे रास्ते पर चली जा रही थी — घर से नरही माधुरी दफ़्तर, और नरही से घर। दस बजे जाना पाँच-छः बजे लौटना और वहाँ सारे दिन माधुरी के अलावा और भी दुनिया भर के अगड़म बगड़म काम (संयोग से एक डायरी में ये कुछ टीपनें मिल गयी हैं, ठीक उन्हीं दिनों की जब साइमन कमीशन आया हुआ था।) ——

• ११ फ़रवरी — घरेलू गणित की पाण्डुलिपि पढ़ी और उस पर रिपोर्ट दी।
मैनुअल ग्रामर का एक इश्तहार लिखा।
माधुरी सिरीज़ के लिए एक प्रस्ताव तैयार किया।
सैरे कोहसार के दो पन्ने तर्जुमा किये।

१२ फ़रवरी — इतवार।

१३ फ़रवरी — क़रीब तीन पेज रूपान्तर किया। विद्यारत्न को 'भास्कर' के लिए ख़त लिखा। बुकलिस्ट के लिए कुछ इश्तहारों को सोचा। प्रूफ़ में काँटा के कुछ पन्नों का संशोधन किया। भारत कथा कौमुदी के चित्र ब्लाक डिपार्टमेन्ट को भेजे।

१४ फ़रवरी — प्रूफ़ में काँटा के १५ पृष्ठों का संशोधन किया। सैरे कोहसार के २ पन्नों का रूपान्तर किया।

१५ फ़रवरी — प्रेम में कीटा के १६ पृष्ठों का संशोधन किया। लाइब्रेरी में भेजने के लिए ढेरों किताबें आ गयी थीं। टेक्स्ट बुक कमेटी के पास भेजने के ख़याल से उनकी विषयवस्तु देखी।

१८ फ़रवरी — सारे दिन उन्हीं पुस्तकालयोपयोगी पुस्तकों को देखने में लगा रहा। चौदह थीं। उनकी विषयवस्तु देखनी थी और उनका सारांश तैयार करना था।

२४ फ़रवरी — २ पेज प्रेम में कीटा का संशोधन किया।

लड़कियों के उपयोग की कई पुस्तकों का सारांश देते हुए भी पी मार्ई को रद्द किया। कहानियों के साथ ब्लाक लगाकर भारत कथा कौमुदी प्रेस को दी। ●

इन्हीं सब उल्टे-सीधे कामों को देखकर जो मुंशीजी पर लाद दिये गये थे और जिन्हें वह सर झुकाये ढोते चले जा रहे थे, मिर्ज़ा मुहम्मद अस्करी जो उनके साथ वहीं नवलकिशोर प्रेस में काम करते थे, अक्सर मज़ाक़ में कहा करते थे — देखिए घुड़दौड़ का घोड़ा इक्के और तांगे में जुते तो कैसा लगता! लेकिन जब उन्हीं टेक्स्टबुकों की उर्दू पर नज़र सानी के लिए अस्करी साहब से कहा गया तो मुंशीजी ने भी मौक़ा ताककर फ़िक़रा कसा — मिर्ज़ा साहब, अब खूब से जोड़ी हो गयी!

टेक्स्टबुकें तैयार करना ही नहीं, उनका नाम व लगावट का काम भी मुंशीजी के सुपुर्द कर दिया गया था और इसके सिलसिले में ग़रीब को अक्सर दूसरे शहरों की ख़ाक छाननी पड़ती थी, कभी इलाहाबाद तो कभी कानपुर, कभी पटना तो कभी नैनीताल — और यह सब माधुरी के सम्पादकीय काम के अलावा। लेकिन मुंशीजी के चेहरे पर शिकन न थी। अस्करी साहब लिखते हैं — मैंने उनको दो-तीन बरस के दौरान में हमेशा हँसमुख पाया। उनका चेहरा हमेशा खिला रहता था। कभी गुस्सा उनके चेहरे पर न देखा। कभी-कभी मैं उनसे मज़ाक़ में कहता था कि क्यों साहब, क्या आपको कभी गुस्सा नहीं आता? क्या आप घर में भी कभी गुस्सा नहीं करते? इस पर वह हमेशा हँस देते थे। माधुरी का दफ़्तर एक कमरे में कोठे पर था मगर मुंशी साहब की और माधुरी के स्टाफ़ के दूसरे लोगों की बैठक मेरे कमरे से लगे हुए एक कमरे में होती थी। मुंशी साहब की ज़िन्दादिली, बेफ़िक्री और हँसोड़पन से उनके तमाम साथी जो कमरे में बैठे थे बेहद ख़ुश थे। उनके क़हक़हों की आवाज़ से कमरा गूँज जाता था और एक ताज़गी-सी फैल जाती थी। जब मैं अपनी किताब तवारीख़ लिख रहा था तो उसके लतीफ़े कभी-कभी उनको भी सुनाता था। एक मर्तबा मैंने एक मुस रिफ़ का लतीफ़ा सुनाया जो मकान बेचे वक़्त दूर भागता जाता था और जब

उससे पूछा गया कि यह क्या हरकत है तो उसने जवाब दिया कि अपने जवान की आवाज़ मैं भी सुनना चाहता हूँ कि दूर से कैसी मालूम होती है। इस लतीफ़े को सुनकर मुंशी साहब इतना हँसे कि आँखों में आँसू आ गये।

निर्मला धारावाहिक रूप से 'चाँद' में निकलकर बेहद कामयाब हुई थी फिर प्रतिज्ञा निकली जो उतनी कामयाब नहीं हुई, और अब गबन की तैयारी हो रही थी। निम्न मध्यम वर्ग का सहज जीवन उसी की सहज कथाएँ, उन्हीं के नैतिक-सामाजिक प्रश्न। अब एक नया अग्नि-ज्वार उठ रहा था जिसका संस्पर्श चेतना को रचना को एक नया संस्कार, एक नयी दिशा देगा। अभी तो वही रोज़ की दिनचर्या दफ़्तर और घर, और सवेरे-शाम कुछ लिखना-पढ़ना न कहीं जाना न कहीं आना न कोई खास मेल-मुलाक़ात। बस वही दो-चार दोस्त थे। उन्हीं के साथ उठ-बैठ लेते थे।

एक तो जैसे घर में ही थे—हरिनन्दन भट्ट उनकी पत्नी और साल-डेढ़ साल की उनकी बच्ची कुसुम जिसे मुंशीजी बहुत चाहते थे। उसी घर से लगे हुए बराबर के हिस्से में यह लोग रहते थे और उनसे घरौपा होने में ज़रा भी देर न लगी। बहुत भले बेहद मुहब्बती लोग थे और तब जिस दोस्ती की शुरुआत हुई वह आज तक उसी तरह ज़िन्दा है और किसी भी खून के रिश्ते से ज़्यादा मज़बूत साबित हुई। हरिनन्दन घर के बाकी बच्चों की तरह मुंशीजी को बाबूजी कहते थे उनकी पत्नी अम्माँजी की बहू थीं और कुसुम घर भर का खिलौना थी। उसी साल हरिनन्दन ने मेडिकल कालेज से प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान पाकर एम० बी० बी० एस० पास किया था और उन्हें हाउस सर्जन बनाया गया था।

दूसरे एक हकीम साहब थे। हकीम उनका नाम था पेशे से वह चित्रकार थे। पहले 'सुधा' के स्टाफ़ आर्टिस्ट हो गये थे। बाँस की तरह लंबे और गन्ने-से आदमी थे और वैसा ही सूता हुआ लंबा-सा दुबला-पतला चेहरा था। आँखों में बड़ी नर्मी बड़ी घुलावट थी। मुंशीजी पर जान देते थे और मुंशीजी भी उन्हें बेहद चाहते थे। तंग मोरी का पाजामा अचकन तुर्की टोपी—बना-ठना से हकीम साहब ठेठ मुसलमान थे। रोज़ा-नमाज़ के भी शायद काफ़ी पाबन्द थे। लेकिन हैरत है कि मज़हबी तंगदिली या कट्टरपन उन्हें छू भी नहीं गया था। उनका मज़हब अपनी जगह पर था और मज़बूती के साथ था लेकिन उससे भी बड़ा जो इन्सानियत का मज़हब है, उसके लिए भी उनके कान बहरे न थे और न दोनों में उन्हें कोई बैर दिखायी पड़ता था। नौ गज़ पर उनका घर था अक्सर शाम को चले आते। बच्चे भी उनसे बहुत खुश रहते थे—हाथी-घोड़ा ऊँट-बन्दर जब जो बनवाना हो जाकर बनवा ले आओ।

तीसरे एक निगम साहब थे कृपाशंकर निगम। उनसे भी यही दो-तीन साल की मुलाक़ात थी लेकिन इतने ही दिनों में दोनों की चूल खूब बैठ गयी थी। पुराने विधुर थे। जवानी में ही पत्नी-वियोग हो गया था लेकिन दुबारा ब्याह नहीं किया और न शायद कोई सन्तान ही थी। बिल्कुल अकेले रहते थे। बहुत ही नेक, बहुत ही मीठे, बहुत ही समझदार आदमी थे। साँवला रंग था, मझोला कद, मामूली इकहरा जिस्म। इन्तहाई सादगी से रहते थे, न पान की लत थी न सिगरेट की। वहीं युनिवर्सिटी कालेज में पढ़ाते थे। लाटूश रोड पर मकान था। मुंशीजी अक्सर उनके यहाँ पहुँच जाते थे। दोनों में यह जो दोस्ती थी उसके लिए निगम साहब का साहित्यरसिक होना ज़रूरी नहीं था पर वह साहित्यरसिक थे और उनके साथ बैठकर साहित्यचर्चा करना मुंशीजी को बहुत अच्छा लगता था।

उन्हीं के यहाँ कभी-कभी बेदार साहब और दो-एक और मित्रों को लेकर महफ़िल जमती। बेदार कुछ ज़माने के लिए नवलकिशोर प्रेस में नौकर भी हो गये थे और टेक्स्टबुक कमेटियों के मेम्बरों के यहाँ हाज़िरी बजाने के लिए मुंशीजी के साथ दौरों पर भी निकलते थे। शौक़ीन रँगीली तबीयत के आदमी थे, बाद को गेरुआ बाना पहन लिया पर उस वक़्त तो काफ़ी लम्बी पीनेवाले थे। ग़ज़लें टूटी-फूटी रहती हों मगर पीने में वह बड़े से बड़े शायर से टक्कर ले सकते थे। अपने और दूसरों के बहुत से शेर उनको याद थे, लिहाज़ा महफ़िल जम जाती और मुंशीजी भी कभी-कभार उसमें शरीक हो बैठते। इसमें वह बात कहाँ जो बीस-बाईस बरस पहले मुंशी दयानारायण निगम के घर पर कानपुर में उन सोहबतों में थी जिनकी रौनक़ मुंशी नौबतराय 'नज़र' और मुंशी दुर्गासहाय 'सरूर' जैसे लोगों की ज़ात से थी। वह रंग अब सब उड़ गये थे, नशा उतर गया था, उम्र ढल चली थी, परेशानियाँ बढ़ गयी थीं, मगर फिर, अपना एक मज़ा तो उसमें था ही।

लत तो दूर की बात है, मुंशीजी को पीने का चस्का भी न था लेकिन सोहबत में बैठने पर कभी-कभी लगाम आप ही आप ढीली हो जाती और मुंशीजी ना ना करते हुए भी पेग दो पेग चढ़ा जाते। ऐसी ही एक सोहबत में एक रोज़ मुंशीजी को रात घर पहुँचने में काफ़ी देर हो गयी। दरवाज़ा बन्द हो चुका था और पत्नी शाम से ही सर लपेटे सोयी-जागती-सोयी पड़ी थीं, दोनों कानों में फुड़ियाँ निकली हुई थीं। उनको छोड़कर घर में बस बच्चे थे — बड़ी बेटी और उसके दोनों छोटे भाई। उनकी भी आँख लग गयी होगी। ग़रज़ कि मुंशीजी को दरवाज़ा खुलवाने में काफ़ी मुश्किल हुई और दरवाज़ा खुलते ही मुंशीजी बच्चों पर बरस पड़े। नशा चढ़ा हुआ था।

मा सर लपेटे पड़ी थीं, कान में थोड़ी-सी भनक उनको भी पड़ी। बेटी को

घुमाकर उन्होंने पूछा — बेटी घर में कोई कुत्ता घुस आया है क्या? बेटी ने कहा — कुत्ता नहीं है अम्माँ बाबू जी हैं हमको घूघू की बिगड़ रहे हैं। शराब पीकर आये हैं। मुँह से बदबू आ रही है।

यह सुनकर तो अम्माँ की आँखें कपार पर चढ़ गयीं और वह उठने को हुईं कि जाकर जरा अच्छी तरह खरी-खोटी सुनायें लेकिन बेटी ने रोक दिया और वह भी न जाने क्या सोचकर रुक गयीं जाकर मुँह से मोड़ की ओर करवट बदलकर फिर सो गयीं।

अगले दिन सबेरा होने के साथ मुंशीजी की लानत-मलामत हुई और कसकर हुई। नशा तो रात को ही उतर चुका था अब उस नशे का खुमार भी हिरन हो गया। मुंशीजी ने कान पकड़ा कि अब फिर कभी ऐसी गलती नहीं करूँगा।

एक पखवारा भी नहीं बीतने पाया था कि फिर वही गलती कर बैठे दोस्तों की महफ़िल में कहाँ ख़याल रहता है ऐसे सब बातों का और अब फिर वही बन्द दरवाज़ा सामने था और मुंशीजी दस्तक दे रहे थे और दरवाज़ा बन्द का बन्द था। सिद्धान्त-गरिष्ठ पत्नी ने उन्हें सबक देने का फ़ैसला कर लिया था — जायें वहीं मरदूदों के यहाँ जिनकी संगत में बैठकर

उनका बस चलता तो मुंशीजी को शायद वह रात बाहर सड़क पर ही गुज़ारनी पड़ जाती लेकिन ख़ैरियत हुई कि बच्चों की मामी उन दिनों आयी हुई थी उन्होंने अपनी ननद की सुनी अनसुनी करके दरवाज़ा खोल दिया। रात को मुंशीजी को तीन-चार कै भी हुई (या तो ज़्यादा पी गये थे बातों-बातों में या नये थे कतई बर्दाश्त न थी) लेकिन पत्नी पास नहीं फटकीं। हाँ अगले रोज़ फटकार उन्होंने खूब कसकर सुनायी। मुंशीजी कान दबाये सुनते रहे और इस बार जो तग़ाने क़सम खायी तो फिर शायद कभी लाल परी का मुँह नहीं लगाया।

साइमन कमीशन को लेकर देश में जो कुछ हुआ था वह तो दो पहलवानों का अखाड़े में उतरकर मिट्टी लेकर एक-दूसरे से हाथ मिलाने जैसा था असल कुश्ती शुरू होने में अभी थोड़ी देर थी। हिन्दुस्तानी पहलवान तो भी बेतरह थक गया था और गोरा पहलवान अपनी ताक़त के मद में चूर घमण्ड से सिर उठाये खड़ा था और ज़ोर-ज़ोर से उसकी मालिश चल रही थी।

इन्हीं दिनों की बात है। जाड़े के दिन थे। शायद बड़े लाट की सवारी आयी थी। एक रोज़ मुंशीजी ने दफ़्तर से लौटकर कहा — आज लखनऊ में कोई चालीस हज़ार रुपया आतिशबाज़ी और रोशनी में ख़र्च होगा।

पत्नी बोली — किसको मुफ़्त पैसा मिला है जो इस क़दर बेरहमी से ख़र्च कर रहा है?

मुंशीजी ने कहा — ख़र्च कौन कर रहा है? मैं पूछता हूँ चलोगी देखने? चाहो तो बच्चा को लेती चलो सब को दिखला दो।

पत्नी ने पूछा — आप चलेंगे?

मुंशीजी बोले — हाँ क्यों नहीं चलूँगा अमीरों का परपूँच तमाशा देखा जायगा

पत्नी का समाधान न हुआ। उन्होंने पूछा कि आख़िर इस सब के लिए पैसा कहाँ से आता है।

मुंशीजी ने कहा — जो राजे-महाराजे हर साल यहाँ आते हैं वे कुछ न कुछ इसीलिए यहाँ रखते जाते हैं कि जब-जब वाइसराय और युवराज यहाँ पधारें तो वह उनके स्वागत में ख़र्च हो। और जो कमी पड़ती है वह तुम्हारे यहाँ के काश्तकारों से वसूल की जाती है! उन ग़रीबों के ख़ून की कमाई कूड़ा-घास की तरह आतिशबाज़ी में फूँक दी जाती है। जिस मुल्क के आदमी की कमाई औसत छः पैसे रोज़ हो उस मुल्क में किसी को क्या हक़ है कि एक-एक शहर में चालीस-चालीस और पचास-पचास हज़ार रुपया आतिशबाज़ी में फूँका जाय? जहाँ पर तन ढकने को कपड़ा न हो दोनों जून रूखी रोटियाँ भी न मिलें उस मुल्क में इस बेरहमी से पैसा फूँका जाय और इसलिए कि वाइसराय साहब ख़ुश होंगे और इन मोटे आदमियों को ख़िताब देंगे!

और मज़ाक़ तो देखिए कि इन्हीं दिनों ख़ुद मुंशीजी को रायबहादुरी का ख़िताब देने का एक सूक्ष्म गवर्नर मैल्कम हेली की तरफ़ से छोड़ा गया! किसी दोस्त के मार्फ़त गवर्नर साहब की यह ख़्वाहिश श्री सीताराम ने मुंशीजी तक पहुँचायी लेकिन मुंशीजी ने बड़ी नर्मी से यह कहकर इनकार कर दिया कि मैं तो जनता की रायबहादुरी का भूखा हूँ।

लेकिन अभी तो हम आतिशबाज़ी का तमाशा देखने जाने की बात कर रहे थे।

इसी बातचीत की रौ में उनकी पत्नी ने पूछा — जब स्वराज्य हो जायगा तब क्या चूसना बन्द हो जायगा। मुंशीजी ने जवाब दिया — चूसा तो थोड़ा-बहुत हर जगह जाता है। यही शायद दुनिया का नियम हो गया है कि कमज़ोर को ज़बरदस्त चूसे। हाँ रूस है जहाँ पर कि बड़ों को मार-मारकर दुरुस्त कर दिया गया अब वहाँ ग़रीबों को आनन्द है। शायद यहाँ भी कुछ दिनों के बाद रूस जैसा ही हो। पत्नी ने शंका की — तो क्या रूसवाले यहाँ भी आयेंगे? मुंशीजी ने

प्रकाशित करवाने की युक्ति करेंगे। उनकी राय में यह कहानी मास्टरपीस है। ●

ताराचंद राय साहब को भी 'मंत्र' कहानी के अन्त पर आपत्ति थी। १७ अक्तूबर १९२८ को बनारसीदास चतुर्वेदी ने लिखा—

"ताराचंद राय को आपकी 'मंत्र' कहानी बहुत अच्छी लगी लेकिन उनकी राय है कि कहानी एक चिलम तमाखू का भी रवादार न हुआ पर खत्म हो जानी चाहिए।

यह सब मन की खुशी के लिए अनमोल सामान था लेकिन एक लापरवाही थी और उससे भी ज्यादा एक कबीलापन जो पीछे से दामन पकड़कर खींचता रहता था। मुंशीजी चुप्पी साधे बैठे रहे। न उन्होंने अपनी तस्वीर खिंचवायी न अपना जीवन-वृत्त लिखा और न किताबें ही जर्मनी भिजवायीं। आखिरकार २७ नवम्बर १९२८ को ताराचन्द राय ने लिखा— पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी ने एक बार मुझको लिखा था कि उन्होंने आपसे अपनी हर पुस्तक की एक-एक प्रति मुझको भेजने का अनुरोध किया है। मुझे खेद है कि अब तक आपने मुझको कुछ खबर नहीं दी। मैं यह कहने की जरूरत नहीं समझता कि आप आधुनिक युग के सबसे महान हिन्दी लेखक हैं। आपने आज के जीते-जागते हिन्दुस्तान को वाणी दी है। आपने हमारी मातृभूमि की जीवन-मरण की समस्याओं पर अपनी विराट् मनीषा का आलोक फेंका है। फिर अपने बारे में लिखा — मैं अभी-अभी वीसबेडन से लौटा हूँ जहाँ मुझे एक बड़े हाल में पन्द्रह सौ श्रोताओं के आगे भारतीय संस्कृति पर बोलने के लिए आमंत्रित किया गया था। वीसबेडन जर्मनी के प्रसिद्धतम स्वास्थ्य केन्द्रों में से है। मुझे आपको यह बतलाते हुए हर्ष होता है कि मेरा व्याख्यान बहुत सफल रहा। दिसम्बर में मुझे राइनलैण्ड में बोलने के लिए आमंत्रित किया गया है।

यह क्या छोटी बात है कि ऐसे अच्छे-अच्छे लोग मेरी कहानियों को दूर देशों में फैला रहे हैं? और न मुंशीजी में यह पाखण्ड ही था कि भीतर-भीतर तो फूल-कर कुप्पा हो जाते और बाहर से दिखाते कि जैसे कुछ हुआ ही नहीं। ताराचन्द का खत मिलने के कुछ ही रोज बाद २० जनवरी को मुंशीजी ने अपने अन्तरंग सखा शिवपूजन जी को जिनसे उन्हें डाह का भय न था लिखा— आपको यह सुन-कर आनन्द होगा कि मेरी कई कहानियों के जापानी भाषा में अनुवाद प्रकाशित हुए हैं और वहाँ की सर्वश्रेष्ठ पत्रिका में प्रकाशित हुए हैं। जापानी जनता ने उनका वही सम्मान किया है जो टाल्सटाय और टैगोर की कहानियों का करते हैं। पत्रों में खूब चर्चा रही।

ध्रुव सब्बरवाल को उन्होंने लिखा — आपने मेरे बारे में जो सौहार्दपूर्ण बातें कही हैं उनसे मैं बहुत गौरवान्वित हुआ हूँ। किसी लेखक के लिए सुधीजनों की प्रशंसा से अधिक काम्य वस्तु और क्या हो सकती है। जापानी जनता से परिचित कराया जाना मैं अपने लिए सम्मान की बात समझूँगा पर मुझे भय है कि जीवन का मेरा चित्रण उन्हें न भायेगा। उनके जापान को देने के लिए एक गरीब हिन्दी लेखक के पास क्या है।

चिट्ठी-पत्री का सिलसिला फिर साल भर कुछ ढीला रहा। ३ सितम्बर १९२९ को मुंशीजी ने शायद सब्बरवाल की आपत्ति का समाधान करते हुए लिखा — इधर माधुरी और विशाल भारत में मेरी जो कहानियाँ छपी हैं उनमें से कोई आपको अच्छी लगी? हो सकता है कि उनकी उद्देश्यात्मकता आपको अच्छी न लगे लेकिन जब तक हिन्दुस्तान विदेशी जुए के नीचे पड़ा कराह रहा है वह कला के उच्चतम शिखरों पर नहीं पहुँच सकता। यहीं पर एक गुलाम देश और एक आज़ाद देश के साहित्य में अन्तर आ जाता है। हमारी सामाजिक और राजनीतिक स्थितियाँ हमको विवश करती हैं कि हम जब भी मौक़ा पायें कुछ सिखा दें। भावना जितनी ही प्रबल होती है रचना उतनी ही शिक्षा-परक हो जाती है। नौजवान लेखक इस मामले में सबसे बड़े पापी हैं। अपने युवकोचित उत्साह में वे कला के सिद्धान्त भूल जाते हैं। वे क्षम्य नहीं हैं क्या?

और फिर ५ दिसंबर १९२९ को सब्बरवाल ने लिखा —

● जापान के लोग आपकी रचनाओं के बड़े प्रशंसक हैं। खेद यही है कि उन्हें आपकी रचनाएँ अपनी भाषा में पढ़ने के लिए काफ़ी नहीं मिलतीं।

डा॰ टैगोर इस साल दो बार यहाँ आये थे अमेरिका जाते हुए और अमेरिका से लौटते हुए। मैं प्रायः हर रोज़ उनके साथ रहा क्योंकि वह सदा से मेरे ऊपर असाधारण रूप से कृपालु रहे हैं। लेकिन, मेरी तुच्छ बुद्धि में, जापान में आपकी रचनाओं का मान डा॰ टैगोर की रचनाओं से अधिक होगा। पहली बात तो यह है कि जापानियों ने गुरुदेव का लिखा बहुत कुछ पढ़ा है और वे उनसे भिन्न कुछ पाना चाहते हैं और फिर आप में अपनी एक खास बात है जो हिन्दुस्तान के दूसरे किसी लेखक के पास नहीं है और जो जापानियों के स्वभाव को खास तौर पर भाती है। ●

२५

विनय उपाध्याय की उछलकूद, फिर कुछ और महानुभावों की पैंतरेबाजियाँ करीब साल भर तक और फिर पंडित मोटेराम शास्त्री की क़ानूनी लड़ाई— गरज कि इस 'ब्राह्मणद्रोही' का वध करने के लिए कुछ उठा नहीं रखा गया। लेकिन वह भी एक ही चीमड़ सख्तजान आदमी था जो न तो मारा ही जा सका इस व्यूह-रचना से और न जिसने एक दिन के लिए अपने रास्ते से इधर-उधर होना स्वीकार किया।

आखिर जब कोई उपाय न चला तो एक बंगाली ब्राह्मण-कुमार ने किसी अज्ञात दैवी प्रेरणा से मुंशीजी को शास्ति देने का बीड़ा उठाया! इस ब्राह्मण कुमार का नाम था कृष्णकुमार मुखोपाध्याय। दुबला-सा आदमी साँवला रंग लंबा मुँह बड़ी-बड़ी आँखें अंग्रेजी वेश एक अजब सलोनापन था चेहरे पर जो देखते ही आँखों में खुब जाता था। बेतहाशा सिगरेट पीता था। होंठ काले पड़ गये थे। गाता था। हारमोनियम बजाता था। कविताएँ सुनाता था।

मुंशीजी दुनिया देखे हुए आदमी थे। तमाम तरह के लोगों से उनका साबक़ा पड़ता रहता था। क़िस्से-कहानी लिखना उनका काम था। आदमी के दिल के भीतर उनकी पैठ थी।

कृष्णकुमार मुखोपाध्याय बड़े मज़े में उनकी किसी कहानी का नायक हो सकता था — भगवान ने उसे सिरजा ही था कथा की पात्रता के लिए। लेकिन वास्तविक जीवन में स्रष्टा और सृष्टि की भूमिकाएँ बदल गयी थीं। कहानी होती तो मुंशीजी चाहे जैसे इस पात्र को नचाते लेकिन कहानी नहीं थी इसलिए यह पात्र मुंशीजी को चाहे जैसा नचा रहा था। पहले उसने मुंशीजी के दिल में सेंध लगायी फिर उनके घर में।

एक न एक तरह की कमज़ोरी हर इन्सान के दिल में होती है और उसी के हिसाब से कोई एक चीज़ से चित होता है कोई दूसरे। और दुनिया को उँगलियों पर नचानेवाला कलाकार वही है जो हर आदमी की कमज़ोरी को समझता है!

मुंशीजी की नब्ज़ को भी उसने ख़ूब ही पकड़ा। नामी-गरामी लिखनेवाले हैं, इन्सान के दुख-दर्द की बात करते हैं, यानी कि दर्दमन्द दिल तो होगा ही होगा, उसी दर्द को जगाने की ज़रूरत है। लेकिन दाँव ऐसा सटीक बैठना चाहिए कि चित गिरें मुंशीजी! लिहाज़ा बम्बई से चिट्ठी-पत्री का सिलसिला शुरू हुआ। मुंशीजी लखनऊ में और उनकी कहानियों का प्रेमी, उन कहानियों से अपने दुखी पीड़ित जीवन में शक्ति और प्रेरणा प्राप्त करनेवाला यह आदर्शवादी नवयुवक जो किसी क़ीमत पर अपने सिद्धान्तों के साथ समझौता नहीं करना चाहता, वह बम्बई में!

मुंशीजी को चिट्ठियाँ सँभालकर रखने की आदत न थी, जवाब देते थे और तत्पश्चात् चिट्ठी चिन्दी-चिन्दी करके रद्दी की टोकरी में। लेकिन सौभाग्य से इन श्रीमान् कृष्णकुमार मुखोपाध्याय की कुछ चिट्ठियाँ मुंशीजी के काग़ज़ों में मिल गयीं।

सभी पत्र नहीं हैं। शुरू के ही कुछ पत्र नहीं हैं। जिनके बग़ैर कहना मुश्किल है कि साहबज़ादे ने अपनी कैसे पटरी थी जो बात को इस तरह पहुँचा पकड़ा! तो भी काफ़ी शुरू का एक पत्र है जिसमें एक हज़ार मील दूर बैठे हुए इस ग़रीब प्रतिभाशाली दुनिया के सताए हुए नौजवान ने निहायत टूटी-फूटी बाबू अंग्रेज़ी में अपनी ग़म की दास्तान लिखी थी। कैसे न होती मुंशीजी को हमदर्दी ऐसे एक नौजवान से। और जो आदमी आपकी चीज़ें पढ़कर ही अपने पैरों पर खड़े होना सीख रहा है, उससे कैसे कोई किनाराकश हो जाय! यह ग़लत बात है, इन्सानियत से गिरी हुई बात है

कृष्णकुमार ने २८ अगस्त १९२८ को 'प्रभवीर' नामक पत्र के पैड पर लिखा —

आपका स्नेहपूर्ण पत्र और 'तुलसीदास' की पाण्डुलिपि मिली। आपकी शुभ कामनाओं के लिए मैं हृदय से आपको धन्यवाद देता हूँ। मैं एक ही दो रोज़ में आपकी इच्छानुसार माधुरी के विशेषांक के लिए लेख भेजूँगा। मैं पत्रिकाओं में लेख लिखता रहूँगा। मैं जानता हूँ कि साहित्यिक क्षेत्र में प्रतिष्ठा पाने का यही रास्ता है।

मित्रवर, मैं दुखी आदमी हूँ। मेरे कष्टों को समझनेवाला दुनिया में कोई नहीं है। आपकी अनुज्ञा से आज मैं आपको अपने पिछले जीवन के बारे में बतलाना चाहता हूँ। मेरे भीतर जो कुछ अच्छा या बुरा है (उसकी मुझे परवाह नहीं है) उसे आज आपको बतलाये बिना मेरा जी नहीं मानता। ख़ासकर आपको क्योंकि दुनिया में मेरे मित्रों के दोस्त हैं और उस छोटी-सी गोष्ठी के आप मुकुट मणि हैं। मैंने आपको कभी देखा नहीं है मगर पता नहीं क्यों आपकी तरफ़ ऐसी

किसी कशिश महसूस करता हूँ। कभी-कभी मेरा दिल सचमुच तड़पता है कि आपके सान्निध्य में पहुँच जाऊँ। और भी स्पष्ट व्याख्या करूँ तो यह एक तरह का प्रेम है और साथ ही असीम आदर, जिसने अपनी जादू की डोर से मुझे बाँध लिया है। आज मैं अपना दिल हल्का करना चाहता हूँ और अपने सीने के बोझ का कुछ हिस्सा उस आदमी को देना चाहता हूँ जिसका मैं सबसे ज्यादा आदर करता हूँ

साफ़ सीधा-सट्टी का खत है—बिल्कुल क़िस्से-कहानी के रंग में रँगा हुआ जैसे कितने ही खत मुंशीजी ने अपने क़िस्सों में बख्त बख्त लिखे होंगे। लेकिन मुंशीजी पूरी तरह उसके चकमे में आ गये। अपनी रचना के पाठक के प्रति लिखने वाले के मन में शायद कुछ खास कमजोरी होती है। मुंशीजी पर बड़ों जल्दी रंग गया छा गया।

वर्मा जवाँमर्द यक़ीन कर लिया उन्होंने इस कहानी पर जो मुकर्जी ने अपने बारे में लिख भेजी थी—

मेरे पिता मध्यभारत के एक नगर के चोटी के डाक्टरों में हैं। उनकी आम दनी बहुत अच्छी है और मैं उनका अकेला बेटा हूँ। मेरे एक चाचा भी हैं जो अच्छे खासे पैसेवाले भी हैं और निस्संतान हैं। मैं जब छोटा-सा था तभी से वह और उनकी पत्नी मुझे बहुत प्यार करती रहीं और मैं जैसे-जैसे बड़ा हुआ मेरे लिए उनका प्यार भी बढ़ता गया। चाचा का मेरे प्रति यह प्यार देखकर सबको विश्वास हो गया कि वह अपनी बहुत धन-संपत्ति मुझे वसीयत कर जायेंगे।

मेरे चाचा का एक मकान कलकत्ते में था जहाँ मैं दस साल की उम्र से उनके साथ रहता था। उस घर से लगा हुआ घर ईस्ट इण्डियन रेलवे के एक टिकट चेकर महाशय का था। हमारे और उनके परिवार में बहुत अच्छे संबंध थे। इन महाशय की मान लीजिए कि उनका नाम श्री अ—है, एक बड़ी सुन्दर कन्या थी जो उस वक्त जब कि यह कहानी शुरू होती है सिर्फ़ पाँच साल की थी

इसी तरह पूरी मनगढ़ंत कहानी की तीन टाइप किये हुए पन्नों में। पता नहीं मुंशीजी ने इसे मुकर्जी के जीवन की सच्ची कहानी समझा या ताड़ गये कि बनायी हुई दास्तान है। जो भी हो उन्हें एक बनी-बनायी कहानी मिल गयी और उन्होंने इसके झूठ-सच की ज्यादा चिंता किये बिना फ़ौरन उसे ज्यों का त्यों लिख मारा 'विद्रोही' के नाम से।

यह तो मुंशीजी का तुरत दान महाकल्यान हुआ मगर मुकर्जी अलग अपनी घेराबन्दी में था। खतों का सिलसिला जारी रहा—लम्बे-लम्बे खत प्यार और भक्ति में डूबे हुए, और थोड़ी-सी आगामी कविता और दर्शन भी। जाल धीरे-धीरे घना बना जा रहा था। १५ जनवरी १९२९ के खत में उसने लिखा—

आप जो कहती हैं, शायद ठीक ही हो। लेकिन पता नहीं वह कौन सी चीज़ है जो कभी-कभी आदमी को भगवान में विश्वास करने के लिए मजबूर कर देती है। काश कि मैं नास्तिक हो सकता मगर मैं मजबूर हूँ। जिन मुसीबतों के बीच से मैं गुज़रा हूँ वह मुझे नास्तिक बना देती हैं लेकिन जब मैं इसके बारे में सोचता हूँ तो कोई नयी शक्ति आकर मेरी बुद्धि को ढँक लेती है, और अन्त में उसी की जीत होती है। मैं हैरान रहता हूँ कि अधिकांश आदमी क्यों सदा इतने दुखी रहते हैं। जीवन कभी सुखान्त नहीं हो सकता। उसमें अगर गुलाब हैं तो काँटे भी हैं अगर प्रेम है तो असफलता और पराजय भी है। मैं रोमांस और यथार्थ का विचित्र संमिश्रण हूँ। और इस पर मेरा कोई बस नहीं है। सच तो यह है कि न तो कोई पूरी तरह रोमांसवादी हो सकता है न पूरी तरह यथार्थवादी। शेक्सपियर से बड़ा कोई यथार्थवादी नहीं है जिसका कहना था कि आनन्द और शोक के ताने-बाने से ज़िन्दगी की चादर बुनी हुई है और एक के बिना दूसरे का अस्तित्व असम्भव है।

सच कहूँ आपको चिट्ठी लिखने में मुझे इतना आनन्द आता है — लेकिन आप इसे किस प्रकार ग्रहण करती हैं, मैं निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता। मेरे विचार भी सब मूर्खतापूर्ण हो सकते हैं—लेकिन क्या मूर्खों के पास अपने आनन्द नहीं होते? मुझे बस सहानुभूति चाहिए। आप मेरे बारे में बहुत अच्छा कोई विचार न रखें। मैं बड़ा पापी हूँ। मेरे भीतर शैतान है मुझे अपना एक बेवकूफ़ दोस्त खयाल कीजिए और तब आपका सोचना सही होगा। मुझे अपना भाई खयाल कीजिए और तब आप मेरे साथ नेकी करेंगी। मुझे एक ऐसा आदमी खयाल कीजिए जो अँधेरी रात में खो गया है, जिसे रास्ता दिखाने की और मदद की ज़रूरत है मुझे ज्ञान से और बुद्धि की चमक-दमक से घृणा है। मुझे सहानुभूति चाहिए। कोई बात नहीं अगर आप मुझसे प्यार नहीं करतीं लेकिन हमदर्दी मुझे आपकी वैसी ही होगी।

कुछ आत्म-प्रताड़ना कुछ दुनिया की बेदर्दी का रोना कुछ काव्य और दर्शन-चर्चा —

किसी दार्शनिक ने एक बार कहा था कि हम जीते नहीं सिर्फ़ सपना देखते हैं। कुछ लोग ज़्यादा सपना देखते हैं कुछ लोग कम। मैं पहली श्रेणी में आता हूँ क्योंकि पीछे फिरकर अपनी ज़िन्दगी पर नज़र डालकर मैं कह सकता हूँ कि वह एक सुन्दर सपना रही है। काश कि मैं सदा बच्चा बना रहता और ज्ञान के पाप से मेरा परिचय भी न हुआ होता। बच्चों की फ़िलासफ़ी मुझे पागल कर देती है, जब भी मैं इस चीज़ के बारे में सोचता हूँ। मुझे याद आता है, मनातोल

प्रसंग में किसी जगह उनके बारे में ऐसी कुछ बात लिखी है—सारी प्रकृति दर्पन के समान उनकी आँखों में प्रतिबिम्बित रहती है, ऐसी एक अद्भुत पवित्रता से कि दुनिया में कुछ भी उनके लिए गन्दा नहीं है, कूड़े की टोकरी भी नहीं। इसी लिए तो वह प्रशंसा की ऐसी चकित चमत्कृत आँखों से पातगोभी की पत्तियों प्याज़ के छिल्कों और मुर्गे की दुम को निहारती दिखायी पड़ते हैं एक अजब कीमियागरी है जो प्रकृति को रूपान्तरित करके स्वर्ग बना देती है।

लगता है कि नियति के संकेत से सरस्वती आकर उसके क़लम की नोक पर बैठ गयी है और वह अनजाने ही खूब मुंशीजी का परिचय देने लगा है! ज़रूर उनमें भी बच्चे का यह गुन है, तभी तो उन्हें कूड़े की टोकरी में भी प्रतिभा की मंजूषा दिखायी देने लगती है।

उसकी तो और बात न कहो वह मुंशीजी की पुरानी कमज़ोरी है। आँखें बिछाये बैठे रहते हैं कि कब कोई प्रतिभावान दिखायी पड़े और वह उसका स्वागत करें। खुद बहुत पापड़ बेले हैं इसलिए और भी सावधान रहते हैं कि कोई प्रतिभा समय से पहचानी न जाने के कारण कुम्हला न जाय।

मुकर्जी पहुँचा हुआ खिलाड़ी है। उसने मुंशीजी की इस कमज़ोरी को अच्छी तरह पकड़ लिया है, यही वह नस है जिसको दबाने से काम बनेगा।

शेक्सपियर, बर्जिल अनातोल फ्रांस—किसका हवाला उन दस-बारह पन्नों के सतरों में नहीं है!

बिन देखे ही मुंशीजी के मन में उस नौजवान की पूरी तस्वीर खिंच गयी है। अच्छे खान्दान का लड़का है। बाप पैसेवाले हैं। आराम से ज़िन्दगी बसर कर सकता था। लेकिन एक आदर्श की खातिर अपने को मिटाये दे रहा है। कौन है जिसने जवानी में मुहब्बत नहीं की लेकिन कितने हैं जिनमें इतनी हिम्मत हो, इतना नैतिक बल हो कि अपने बड़ों से आँखें मिलाकर कह सकें—मैं अमुक लड़की से प्रेम करता हूँ और मैं चाहता हूँ कि आप मेरा ब्याह उसी से कर दें। नहीं मुझे अमीर घराने की लड़की नहीं चाहिए, उसकी धन-दौलत नहीं चाहिए। मैं तो इसी लड़की से प्रेम करता हूँ और इसी के साथ सुखी रह सकता हूँ। क्या हुआ जो उसका बाप ग़रीब है और तोड़े नहीं गिन सकता। क्या दौलत ही सब कुछ है? इंसानियत कुछ भी नहीं? और जब वह पुरनिए नहीं राज़ी हुए तो सब कुछ छोड़-छाड़कर भाग खड़ा हुआ। उस गुलामी की रोटी से अच्छा है यह दर-ब-दर की ठोकरें खाना! सबके बूते की चीज़ नहीं है पर जिगरा चाहिए इसके लिए! पढ़ा-लिखा भी अच्छा-खासा है। इबारत में कच्चापन है लेकिन सोचने-विचारने का माद्दा है प्रतिभा का अंकुर है

तभी कोई छः महीने बाद एक रोज़ बनारस से ख़त आया, जहाँ उन दिनों श्रीमान् अपने फ़र्म की तरफ़ से मिलिट्री की सप्लाई के सिलसिले में रह रहे थे —

हाँ इन दिनों मैं एक उपन्यास लिख रहा हूँ। नाम अभी नहीं सूझा। इसका विषय आजकल के रोमांस हैं और थोड़ा-सा ज़िक्र मज़दूर आन्दोलन का है। मैंने क़रीब सौ पन्ने लिख लिये हैं कोई पचास पन्ने और लिखने हैं। मैं उसे आपके पास भेज सकता हूँ बशर्ते कि आपका वक़्त बहुत न जाये। लेकिन इतना मैं यक़ीन के साथ कह सकता हूँ कि आपका हाथ लगने से किताब सँवर जायगी इसमें कोई शक नहीं।

बात असल में यह है कि मेरे लिए अपनी साहित्यिक प्रवृत्ति को जीवित रखना बहुत कठिन है, जब तक कि मैं बिज़नेस लाइन में हूँ। पिछले कुछ महीनों में मुझे यही तजुर्बा हुआ है। काश कि मैं किसी दूसरी अधिक अनुकूल लाइन में काम कर सकता! मगर जब तक कि और कुछ नहीं है, मैं अपनी सारी शक्ति इसी काम में लगाऊँगा। डाइरेक्टर लोग अच्छे हैं। दूसरी परेशानी यह है कि मेरी एक तिहाई तनख़्वाह कपड़ों की भेंट चढ़ जाती है। अपने फ़र्म के प्रतिनिधि की हैसियत से मुझे तरह-तरह के सूट पहनने पड़ते हैं, मार्निंग सूट, ईवनिंग सूट वग़ैरह वग़ैरह वर्ना मैं डिपार्टमेण्टों के अफ़सरों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकता जिसका मतलब होगा कि मेरे फ़र्म को आर्डर नहीं मिलेगा। यह सचमुच बड़ी भयानक बात है। हाँ मेरे शरीर को ख़ूब चिकनी ख़ुराक मिल रही है लेकिन मेरी आत्मा भूखी है। कैसी विडम्बना है कि जब मेरी आत्मा तृप्त रहती है तो शरीर भूखा रहता है और जब शरीर तृप्त रहता है तो आत्मा भूखी है। कैसे समझाऊँ आपको। मेरी ज़िन्दगी में मज़े तो हैं पर तो भी मैं दुखी हूँ क्योंकि मज़े तो पैसे से मिलते हैं मगर सुख आत्मा से। जब मैं दिन भर की कड़ी मशक़्क़त के बाद अपने क्वार्टर को लौटता हूँ मेरा बिस्तर, मेरी चीज़ें मुझे काटती हैं। मेरा सूना कमरा किसी बदज़ात शैतान की तरह मुझ पर बोलियों की बौछार करता है और मैं डर के मारे काँपकर मन ही मन चिल्ला उठता हूँ — ऐसा क्यों? ऐसा क्यों? और मुझे अपने वातावरण के बेज़बान होंठों से जवाब मिलता है — तेरी आत्मा भूखी है!

इसी तरह ख़त लम्बा होता जाता है घाव गहरा होता जाता है। ये मुंशीजी के अपने मन की बातें हैं जो मुखोपाध्याय मोशाइ के मुखारविन्द से निकल रही हैं। ज़्यादा कहने की ज़रूरत नहीं है। मुंशीजी को ख़ूब पता है आत्मा की इस भूख का। इसीलिए तो इतनी हमदर्दी है — और इसीलिए तो मुखोपाध्याय मोशाइ ने कुशल वैद्य की तरह अचूक नाड़ी-ज्ञान से और सब छोड़कर यह दुखती

रग पकड़ी है। बेचारा कृष्णा! कहाँ होना चाहिए था गरीब को और कहाँ लाकर पटका तक़दीर ने! कहाँ मिलिटरी की सप्लाई और कहाँ उपन्यास का लिखना है कोई जोड़ दोनों में! कैसा तड़प रहा है। आत्मा मरी नहीं है अभी तो तड़प रहा है, वर्ना औरों को देखो बस अपने हलवे-माँड़े से ग़रज़ है!

बाबू यह जो सिर पर चढ़कर बोले। और फिर बंगाल का बाबू — छड़ी घुमायी और आदमी भेड़ बना!

भूमिका पूरी हो गयी थी अब असल किताब शुरू होगी।

उसमें भी देर नहीं लगी। कुछ ही रोज़ बाद मुंशीजी को ख़त मिला। कृष्णा ने लिखा था कि मैं अपनी इस नौकरी से बहुत तंग आ गया हूँ संयोग से दूसरी नौकरी मुझे मिल भी रही है। तनख़्वाह तो कम ही मिलेगी सिर्फ़ सौ रुपये मगर मैं इससे ज़्यादा ख़ुश रहूँगा। शर्त एक ही है, सौ रुपये की ज़मानत देनी है जो मेरे पास नहीं है।

मुंशीजी ने घर में आकर पत्नी से कहा और इतनी अच्छी तरह उसकी वकालत की कि पत्नी जी भी पिघल गयीं — सौ रुपया भेज देने से अगर किसी को अपने मन की नौकरी मिलती है

ग़रज़ कि बेचारी गयी और काट-कसर करके जोड़ गये अपने सौ रुपये उठा लायीं जिन्हें मुंशीजी ने फ़ौरन तार से बम्बई भेज दिया।

रुपया पाते ही कृष्णाजी लखनऊ आ धमके — बोरिया-बकचा लेकर। सामान काफ़ी ठाट-बाट का था जिसका गँवई मुंशीजी पर वाजिब असर हुआ। एक दिन तो अतिथि महाशय घर पर रहे लेकिन घर छोटा था और घर में जवान लड़की थी और दुनिया की ज़बान किसने पकड़ी है, पत्नी ने अगले रोज़ मुंशीजी से कहा कि इन्हें कहीं और ठहराने का बन्दोबस्त करो। मुंशीजी के पास जगह और कहाँ रक्खी थी मुखोपाध्याय मोशाइ अगले रोज़ मुंशीजी के ख़र्चे पर एक होटल में पहुँच गये। अब न वह आज जाने का नाम लेते हैं न कल। रह रहे हैं तो रहे ही रहे हैं। ऐसे कब तक चलता। मुंशीजी को बात खलने लगी लेकिन मुरौवत ने ज़बान पकड़ रखी थी कहें तो कैसे कहें। बारे उनको वहाँ से हटाकर अजितकुमार बोस के यहाँ रखने का इन्तज़ाम हुआ। अजित जिसका घर का नाम बुच्चो था बराबर मुंशीजी के यहाँ आया जाया करता था। घर के सभी लोग उसे बहुत चाहते थे। बहुत नेक आदमी था बहुत ग़रीब घर में बूढ़ी माँ थी और एक छोटा भाई। किसी वर्कशाप में काम करता था अपने पसीने की कमाई खाता था। उसकी इतनी समाई कहाँ थी कि किसी को अपने घर में ठहरा सकता मगर 'बाबूजी (घर के बच्चों की तरह वह भी उन्हें बाबूजी कहता था) की बात कैसे टालता।

और कृष्णाजी बूढ़ी के घर पहुँच गये और उस बेचारे को भी चोट दी। किसी की ग़रीबी पर तरस खाने का वहाँ क्या सवाल।

मगर वह तो लम्बा खिलाड़ी था, उतने से जी क्या भरता। और फिर अपनी शादी की तैयारी भी तो करनी थी। पटने की कोई लड़की थी, अमिया नाम था। उसी से सधी-बधी थी। मगर गहने-कपड़े भी तो कुछ चाहिए। लिहाज़ा इधर उधर की बातें बनाकर मुंशीजी से चोरी-छिपे उन्हीं के नाम में उसने इस-उस सुनार से, बजाज से काफ़ी चीज़ें लीं।

लेकिन यह सब तो खुला बाद में, न सिर्फ़ बेटी की शादी के बाद जो कि उसी साल गर्मी में हुई, बल्कि ख़ुद कृष्णा की शादी के बाद जिसमें मुंशीजी नौशे के पिता की हैसियत से शरीक हुए। अपनी ओर से काफ़ी भेंट-सौग़ात लेकर पटना गये और आर्यसमाजी रीति से विधिवत् अपने इस नये बेटे का विवाह सम्पन्न कराके लौटे।

महीने भर बाद लखनऊ लौटने पर सारी बातें एक-एक करके खुलने लगीं। सबसे पहले तो बजाज और सुनार के तक़ाज़े आना शुरू हुए। (अपने ठगे जाने का यह क़िस्सा मुंशीजी ने ढपोरशंख में लिखा है) बीबी के कान खड़े हुए, यह कैसे तक़ाज़े, बेटी की शादी के लिए तो मैंने जो कुछ ख़रीदा उसका पैसा कब का चुका दिया गया, उधार-बाढ़ी मुझे यों ही नापसन्द है। और फिर शादी का सामान मैंने लखनऊ में ख़रीदा ही कितना, मेरी ख़रीदारी तो ज़्यादातर बनारस में हुई है। फिर यह तक़ाज़ा किस चीज़ का? तब यह बात खुली कि यह सब मुंशीजी के इस नये बेटे की करतूत थी। और तब मुंशीजी के क्षोभ के मारे उनकी आँखें अपनी बीबी के सामने न उठती थीं। और, जिसका जो देना था वह तो देना ही था और मुंशीजी महीनों तक बीबी की आँख बचाकर बाहर ही बाहर लेखों और कहानियों की अपनी फुटकर आमदनी से यह रुपया भरते रहे। बाद में उनकी डायरी में यह रक़में इस तरह मुखोपाध्याय मोशाय के खाते में दर्ज हुईं, शायद आइन्दा के रोज़ उनसे हिसाब करने के लिए! —

१०० रुपया तार से बम्बई
२१ रुपया होटल का ख़र्च
१ रुपया सफ़र ख़र्च को भेजा गया
२ रुपया बूढ़ी को
४ रुपया सफ़ाई के लिए
३ रुपया चूड़ियों के लिए
२० रुपया सफ़र ख़र्च

२५ रुपया चेक से बनारस बैंक की इलाहाबाद शाखा पर
३ रुपया (किस काम के लिए साफ़ पता नहीं चलता)
१ रुपया साड़ी और ब्लाउज के लिए
और इसके बाद
२ रुपया विदा करने के लिए बिदाई!

तो वहाँ मुंशीजी खुद ही इतना सब कर रहे थे वहाँ अगर उसने भी अपनी तरफ़ से थोड़ा-बहुत कर लिया तो ऐसा कौन-सा बड़ा गुनाह किया। मुंशीजी को इसका कोई खास दुख न था। दुख की ऐसी बात भी क्या थी। मुंशीजी ने खुद ही तो लिखा है कि ठगने से ठगा जाना बेहतर है! लेकिन हाँ ठगे बुरे गये थे और जब भी इसका ज़िक्र आता मुंशीजी कुछ झेंप जाते। बाद में तो उस आदमी के बारे में और भी बातें खुलीं—कि वह आदमी नम्बरी जालिया था और दूसरे शहरों में भी उसने इस क़िस्म की हरकत की थी और पुलिस उसके पीछे लगी हुई थी कि वह लड़की जिससे मुंशीजी ने अपने कृष्ण्या की शादी करायी थी भगायी हुई या कुछ इसी तरह की लड़की थी। यह बादवाली बात मुंशीजी के लिए सरासर भाक भी हो सकती थी। एकाध बार पुलिस तहक़ीक़ात के लिए आयी भी। लेकिन इन बेचारे को क्या पता था—वह तो ऐसा उड़ंछू हुआ कि फिर उसकी धूल भी मुंशीजी को नहीं मिली। हाँ बस एक गुमनाम बिना तारीख का खत औलिया राज आगरा से आया। (अगर अंग्रेज़ी में लिखा हुआ 'ओलिया' असल में 'औलिया' है तो यह खुद काफ़ी दिलचस्प बात है क्योंकि 'औलिया' का अर्थ हिन्दी कोष में दिया गया है—सिद्ध पुरुष संत महात्मा पहुँचा हुआ फ़क़ीर।)

खत में लिखा था—

प्रिय भाई साहब

आपने बहुत धोखा खाया है लेकिन तब भी आपके दिल के किसी नर्म कोने में मेरे लिए थोड़ी-सी जगह होगी। (इतने प्यारे शब्दों में शायद ही किसी ने किसी के जले पर नमक छिड़का हो!—अ)

मैं अपने को सुधारने की कोशिश कर रहा हूँ और जो बहुत परीशान हूँ मेरा खयाल है, सुधार लूँगा।

कृपया मेरा पता-ठिकाना किसी को मत बतलाइएगा वर्ना मैं बर्बाद हो जाऊँगा।

मैं बहुतों का देनदार हूँ और कुछ रुपया इकट्ठा करने की पूरी कोशिश में हूँ। मैं जानता हूँ आप मेरा यक़ीन नहीं करेंगे लेकिन मेरे पास सिवाय

इस गुनाहगार के और क्या चारा है। उम्मीद की इसी एक किरन के सहारे

सादर नमस्कार

आपका
पापी

जो थोड़ा-बहुत गुस्सा मुंशीजी के दिल में इस आदमी के खिलाफ़ रहा होगा उसे भी इस आखिरी रुक्क़े ने धो डाला और उनका दिल एक बार फिर उसकी तरफ़ से नर्म हो गया और शायद यही वजह है कि जहाँ मुंशीजी ने हजारों खत पढ़कर फेंक दिये वहाँ ये थोड़े से उलजलूल खत बचाकर रख लिये।

इसी से कुछ मिलती-जुलती कहानी इस क़िस्से से सात-आठ बरस पहले की है जिसे मुंशीजी ने आपबीती में बयान किया है। आपबीती सन् २१ २२ की कहानी है कानपुर की और उसके नायक या खलनायक शिवनारायण नाम के एक महाशय हैं जो कहानी में आकर उमापतिनारायण हो गये हैं। बहुत रस ले-लेकर मुंशीजी ने इस क़िस्से को भी बयान किया है—

● प्रायः अधिकांश साहित्यसेवियों के जीवन में एक ऐसा समय आता है जब पाठकगण उनके पास श्रद्धापूर्ण पत्र भेजने लगते हैं। कोई उनकी रचनाशैली की प्रशंसा करता है, कोई उनके सद्विचारों पर मुग्ध हो जाता है। लेखक को भी कुछ दिनों से यह सौभाग्य प्राप्त है। ऐसे पत्रों को पढ़कर उसका हृदय कितना गद्गद हो जाता है, इसे किसी साहित्यसेवी ही से पूछना चाहिए। अपने फटे कंबल पर बैठा हुआ वह गर्व और आत्मगौरव की लहरों में डूबा जाता है। भूल जाता है कि रात को गीली लकड़ी से भोजन पकाने के कारण सिर में कितना दर्द हो रहा था, खटमलों और मच्छरों ने रात भर कैसे नींद हराम कर दी थी। पिछले साल सावन के महीने में मुझे एक ऐसा ही पत्र मिला। उसमें मेरी कुछ रचनाओं की दिल खोलकर दाद दी गयी थी।

पत्र-प्रेषक महोदय स्वयं एक अच्छे कवि थे। मैं उनकी कविताएँ पत्रिकाओं में अक्सर देखा करता था। यह पत्र पढ़कर फूला न समाया। उसी वक्त जवाब लिखने बैठा। उस तरंग में जो कुछ लिख गया इस समय याद नहीं। इतना ज़रूर याद है कि पत्र आदि से अन्त तक प्रेम के उद्गारों से भरा हुआ था। मैंने कभी कविता नहीं की और न कोई गद्यकाव्य ही लिखा पर भाषा को जितना सँवार सकता था उतना सँवारा। यहाँ तक कि जब पत्र समाप्त करके दुबारा पढ़ा तो कविता का आनन्द आया। सारा पत्र भाव-लालित्य से पूर्ण था। पाँचवें दिन कवि महोदय का दूसरा पत्र आ पहुँचा। वह पहले पत्र से भी कहीं अधिक मर्मस्पर्शी

था। प्यारे भैया कहकर मुझे संबोधित किया गया था। मेरी रचनाओं की सूची और प्रकाशकों के नाम-ठिकाने पूछे गये थे। अंत में यह शुभ-समाचार था कि मेरी पत्नी जी को आपके ऊपर बड़ी श्रद्धा है। वह बड़े प्रेम से आपकी रचनाओं को पढ़ती हैं। वही पूछ रही हैं कि आपका विवाह कहाँ हुआ है, आपकी संतानें कितनी हैं तथा आपका कोई फोटो भी है? हो तो कृपया भेज दीजिए। मेरी जन्मभूमि और वंशावली का पता भी पूछा गया था।

यह पहला ही अवसर था कि मुझे किसी महिला के मुख से चाहे वह प्रति-निधि द्वारा ही क्यों न हो अपनी प्रशंसा सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। पढ़कर नशा छा गया। धन्य है भगवान्! अब रमणियाँ भी मेरे हृदय की सराहना करने लगीं! मैंने तुरन्त उत्तर लिखा। जितने कर्णप्रिय शब्द मेरी स्मृति के कोष में थे सब खर्च कर दिये। मैत्री और बंधुत्व से सारा पत्र भरा हुआ था। अपनी वंशावली का वर्णन किया। कदाचित् मेरे पूर्वजों का ऐसा कीर्तिगान किसी भाट ने भी न किया होगा। मेरे दादा एक जमीन्दार के कारिन्दे थे मैंने उन्हें एक बड़ी रियासत का मैनेजर बतलाया। अपने पिता को जो एक दफ्तर में क्लर्क थे उस दफ्तर का प्रधानाध्यक्ष बना दिया। और काश्तकारी को जमीन्दारी बना देना तो साधारण बात थी। अपनी रचनाओं की संख्या तो न बढ़ा सका पर उनके महत्व आदर और प्रचार का उल्लेख ऐसे शब्दों में किया जो नम्रता की ओट में अपने गर्व को छिपाते हैं। कौन नहीं जानता कि बहुधा तुच्छ का अर्थ उससे विपरीत होता है और दीन के माने कुछ और ही समझे जाते हैं। स्पष्ट रूप से अपनी बड़ाई करना उच्छृंखलता है मगर सांकेतिक शब्दों से आप इसी काम को बड़ी आसानी से पूरा कर सकते हैं। खैर, मेरा पत्र समाप्त हो गया और तत्क्षण लेटरबक्स के पेट में पहुँच गया। ●

इसके बाद श्री उमापतिनारायण का प्रवेश रंगमंच पर हुआ— श्यामवर्ण नाटा डील मुँह पर चेचक के दाग लंबा सिर, मांग सँवारे हुए, सिर्फ सादी कमीज गले में फूलों की एक माला पैर में फुलबूट और हाथ में एक मोटी-सी पुस्तक। गरज कि पूरा शायर का हुलिया था।

परिचय और कुशलक्षेम के बाद घर पर पहुँचे बाजार से भोजन मँगवाया फिर बातें होने लगीं। उन्होंने मुझे अपनी कई कविताएँ सुनायीं। कविताएँ तो मेरी समझ में खाक न आयीं पर मैंने तारीफों के पुल बाँध दिये। झूम-झूमकर वाह-वाह करने लगा जैसे मुझसे बढ़कर काव्यरसिक संसार में न होगा। संध्या को हम रामलीला देखने गये। लौटकर उन्हें फिर भोजन कराया। अब उन्होंने अपना वृत्तान्त सुनाना शुरू किया। इस समय वह अपनी पत्नी को लेने के लिए

कानपुर जा रहे हैं। उनका मकान कानपुर ही में है। उनका विचार है कि एक मासिक पत्रिका निकालें। उनकी कविताओं के लिए एक प्रकाशक एक हजार रुपये देता है। कानपुर में उनकी जमींदारी भी है। पर वह साहित्यिक जीवन व्यतीत करना चाहते हैं। जमींदारी से उन्हें घृणा है। आधी रात तक बातें होती रहीं। अब उनमें से अधिकांश याद नहीं हैं। हाँ इतना याद है कि हम दोनों ने मिलकर अपने भावी जीवन का एक कार्यक्रम तैयार कर लिया था। मैं अपने भाग्य को सराहता था कि भगवान ने बैठे-बिठाए ऐसा अच्छा मित्र भेज दिया। आधी रात बीत गयी तो सोये। उन्हें दूसरे दिन आठ बजे की गाड़ी से जाना था। मैं जब सोकर उठा तब सात बज चुके थे। उमापति जी मुँह हाथ धोये तैयार बैठे थे। बोले — अब आज्ञा दीजिए। लौटते समय इधर ही से आऊँगा। इस समय आपको कुछ कष्ट दे रहा हूँ। क्षमा कीजिएगा। मैं कल चला तो प्रातःकाल के चार बजे थे। २ बजे रात से पड़ा जाग रहा था कि कहीं नींद न आ जाय। बल्कि यों समझिए कि सारी रात जागना पड़ा क्योंकि चलने की चिन्ता लगी हुई थी। गाड़ी में बैठा तो झपकियाँ आने लगीं। कोट उतारकर रख दिया और लेट गया। तुरन्त नींद आ गयी। मुगलसराय में नींद खुली। कोट गायब! नीचे-ऊपर चारों तरफ़ देखा कहीं पता नहीं। समझ गया किसी महाशय ने उड़ा दिया। सोने की सजा मिल गयी। कोट में पचास रुपये खर्च के लिए रखे थे वे भी उसके साथ उड़ गये। आप मुझे पचास रुपये दें। पत्नी को मैके से लाना है, कुछ कपड़े वगैरह ले जाने पड़ेंगे। फिर ससुराल में सैकड़ों तरह के नेग-जोग लगते हैं। क़दम क़दम पर रुपये खर्च होते हैं। न खर्च कीजिए तो हँसी हो। मैं इधर से लौटूँगा तो देता जाऊँगा।

लौटे तो वह उधर से जरूर लेकिन एक नया ही क़िस्सा लेकर और रुपया लौटाना तो दूर रहा उल्टे पचीस रुपये और मूड़ ले गये।

इस तरह ठगे जाने के छोटे-बड़े क़िस्से बहुत बार होते थे और हर बार वह वैसे आँख खोलकर ठगे जाते थे। लेकिन हर बार उनकी जान पर बनती थी उस वक्त जब कि उन्हें पत्नी के सामने जाकर हाथ फैलाना पड़ता जो एक नेक बीबी की तरह रुपये तो कहीं न कहीं से पैदा करके जरूर दे देती लेकिन दो-चार खरी-खोटी सुनाने से भी बाज न आतीं। दोनों के संबंध की यह कुछ अक्खड़-सी चरपरी-सी तिक्त-सी मिठास जिसमें शायद इसीलिए कुछ और ज़्यादा ठहराव है, उनके सुख में घुल गयी थी और इसीलिए फिर वह चाहे जोगी हो चाहे बनिया उन सब के पीछे उनकी अपनी पत्नी बैठी हुई नज़र आती है जो एक साथ ही कोमल भी है और कठोर भी। कितने प्यारे, कोमल मार्मिक ढंग से यह चीज़ मंत्र कहानी

आयी है, कि जैसे हज़ारों क़ंदीलें यकायक जगमगा उठें। और यह सब उस एक
...ाम का चमत्कार है जो भगत और उसकी घरवाली के गहरे प्यार का तीता-
मीठा स्वाद एक पल के लिए हमारी ज़बान पर भी रख देता है।

भगत का बेटा मर जाता है क्योंकि डाक्टर चड्ढा एक शाम अपनी टेनिस नहीं
छोड़ सकते। उन्हीं डाक्टर चड्ढा के लड़के को साँप काटता है और भगत जाकर
झाड़-फूँक करके उसका प्राण बचाता है लेकिन एक चिलम तमाखू का भी रवादा...
नहीं होता। चारों ओर भगत की तलाश हो रही थी 'और भगत लपका हुआ...
चला जा रहा था कि बुढ़िया के उठने से पहले घर पहुँच जाऊँ नहीं तो ब...
सुनायेगी।



२६

लड़की सयानी हुई या नहीं हुई, यह चीज हमारे यहाँ बहुत कुछ इस पर भी निर्भर होती है कि उसे स्कूल-कालेज की शिक्षा मिल रही है या नहीं। जो लड़की पढ़ रही है उसके शादी-ब्याह के बारे में समाज भी ज्यादा चिन्तित नहीं होता। लेकिन जिस लड़की के साथ ऐसी कोई कैद नहीं है उसके पन्द्रह-सोलह की उम्र तक पहुँचते ही समाज उसके ब्याह को लेकर व्यस्त और चंचल हो उठता है। कहने वाले कहने लग जाते हैं कि अमुक ने सयानी लड़की बिनब्याही घर में डाल रखी है। लड़की में कहीं कोई ऐब तो नहीं है जो उसका ब्याह नहीं होता। सद्गृहस्थ की परम चिन्ता का कारण यही वाचाल समाज है।

मुंशीजी की बेटी के साथ भी यही बात थी। स्कूल-कालेज की पढ़ाई का सुयोग उसको नहीं मिला—या नहीं दिया गया। कुछ रोज लखनऊ के आर्य महिला विद्यालय में पढ़ी मगर फिर वहाँ से भी उसे छुड़ा लिया गया।

आज जहाँ अनपढ़ लड़की पर उँगलियाँ उठती हैं, चालिस-पैंतालिस साल पहले पढ़ी लिखी लड़की पर उठा करती थीं। लड़की को पढ़ाना अपने आप में एक क्रान्ति थी।

मुंशीजी भी शायद इस क्रान्ति के लिए तैयार न थे। यह ठीक है कि उनके जीवन की परिस्थितियाँ काफी अव्यवस्थित रहीं। बेटी महोबे में पैदा हुई थी। बस्ती में वह बहुत ही छोटी थी। गोरखपुर में भी छोटी ही थी और जब कुछ-कुछ इस उम्र को पहुँची कि घर में ककहरा और बारहखड़ी पढ़ाने से ज्यादा कुछ पढ़ाने की बात सोची जा सकती तभी मुंशीजी का गोरखपुर का आबदाना छूट गया।

सरकारी नौकरी से इस्तीफा देते समय मुंशीजी ने सोचा था कि शान्ति से घर बैठेंगे लिखेंगे-पढ़ेंगे देशसेवा करेंगे। लेकिन शुरू से ही गरीबी ने पैर में जो चक्कर बाँध दिया था वह अब भी नहीं छूटा। तंगदस्ती भी बनी रही और दर दर का भटकना भी बना रहा। कानपुर, बनारस और लखनऊ, किसी जगह जम कर रहना नहीं हो सका। बनारस में बहुत बार शहर छोड़कर देहात में रहना

पढ़ा जहाँ से लड़की को शहर भेजकर पढ़ाना संभव न था। जो कुछ इत्मीनान या
आमूज़्गी मिली वह लखनऊ में। बेटों की पढ़ाई, जो दोनों अपनी बहन से छोटे
थे, वहीं शुरू हुई लेकिन बेटी की पढ़ाई शुरू करने के लिए तब तक ज़्यादा देर हो
चुकी थी। आधे मन से कुछ कोशिश ज़रूर हुई लेकिन आधे मन से ही। किस्सा
कोताह वह पढ़ नहीं सकी और चूल्हा पकड़े बैठी रही जो कि घर की सयानी लड़की
का काम है। माँ उन दिनों बराबर बीमार रहती थीं, संभव है बेटी को स्कूल
से हटाकर घर के कामकाज में लगाये रखने का यह भी एक कारण हो।

इन सब के बावजूद भी यह मानना कठिन है कि बेटी को ठीक से शिक्षा का सुयोग
न देने के पीछे और भी कोई कारण नहीं था। जहाँ तक प्रमाण मिलता है—
जिसमें उनकी इसी काल की लिखी हुई शान्ति-जैसी कहानियों का प्रमाण
भी है—उसका बड़ा कारण यह था कि पढ़ी-लिखी लड़कियों की तरफ़ से उनके
मन में कहीं यह चोर था कि लड़कियाँ पढ़-लिखकर गृहस्थी के काम की नहीं रह
जातीं, तितली बनकर यहाँ-वहाँ घूमती रहने में ही उनका जी लगता है। अगर
इससे अलग भी कोई बात उनके मन में थी तो वह कमज़ोर थी और चारों तरफ़
एक पिछड़ा हुआ समाज था जो लड़कियों की पढ़ाई को अच्छी निगाह से नहीं देखता
था। लिहाज़ा बेटी घर के भीतर और घर के बाहर समाज के पिछड़ेपन का शिकार
हुई और मामूली हिन्दी से ज़्यादा कुछ न पढ़ सकी।

अब उसके ब्याह का मसला दरपेश था। उन दिनों मुंशी प्रेमचन्द लखनऊ
में नंबर २ हिवेट रोड के मकान में रहते थे जिसमें आजकल डाक्टर पाण्डे का
होमियोपैथिक दवाख़ाना है। नीचे मकान-मालिक रहते थे यानी पाठक साहब और
ऊपर के दो हिस्सों में किरायेदार। एक में मुंशीजी और दूसरे में हरिनन्दन या
डाक्टर भट्ट जिनका ज़िक्र ऊपर आ चुका है।

मुंशीजी ने एक रोज़ उनसे कहा। उन्होंने सागर ज़िले के अपने एक सहपाठी
प्रभुदयाल से कहा। प्रभुदयाल ने जो खुद विवाहित थे अपने एक छोटे भाई
का नाम पेश किया।

मुंशीजी ने फ़ौरन उसी पते पर वसन्तलाल साहब को ख़त लिखा जो वर
के बड़े भाई थे और घर का सारा कामकाज देखते थे। ख़त कुछ इस प्रकार
था—मैं बनारस के पास एक देहात का रहनेवाला कायस्थ ही बिरादरी का
एक व्यक्ति हूँ। बनारस से चार मील दूर, आज़मगढ़ रोड पर एक गाँव है लमही
मौज़ा मढ़वाँ, वहीं मेरा मकान है। इन दिनों माधुरी कार्यालय में सम्पादक
का काम करके आजीविका चला रहा हूँ। मैं सामाजिक अत्याचारों से सताया
हुआ एक व्यक्ति हूँ। इस समय मेरे सामने एक गम्भीर समस्या अपनी लड़की की

शादी भी है। मुझे ऐसा लगता है कि आपके सहयोग से यह सुलझ सकती है। मेरे कई रिश्तेदार य. पी. में फैले हुए हैं। मैं चाहता हूँ कि आप चिरंजीव वासुदेव प्रसाद के लिए मेरा प्रस्ताव स्वीकार करें। मेरे विषय में और जो कुछ जानना चाहें लिखिए, सहर्ष उत्तर दूँगा।

यह ख़त पाकर दशरथलाल साहब ने फ़ौरन जैसा कि वर के बड़े के लिए उचित था प्रभुदयाल साहब का एक ख़त यह मालूम करने के लिए लिखा कि क्या यह वही मशहूर उपन्यासकार प्रेमचंद हैं। प्रभुदयाल साहब ने जवाब दिया कि जी हाँ यह वही मशहूर मुंशी प्रेमचंद हैं।

तब फिर दशरथलाल साहब ने कुछ इन विनम्र किन्तु अनुभवसिद्ध शब्दों में मुंशी प्रेमचन्द के ख़त का जवाब दिया—आपका पत्र मिला। ऐसा पत्र तो सौभाग्य उदय से ही प्राप्त होता है। आपने अपना पूरा परिचय नहीं दिया है पर मुझे पता चल चुका है। सूरज को चिराग़ लेकर नहीं देखा जाता।

आप ही की तरह मुझ पर भी यह एक महान उत्तरदायित्व है और उससे मुझ उबार लेने के लिए आपका सहयोग भी उतना ही आवश्यक है।

यह अवश्य बता देना चाहता हूँ कि यह देहात है सामाजिक कुरीतियों का अभाव यहाँ भी नहीं है यद्यपि मुझे और अनुमानतः मेरी सास साहबा को भी इसकी ज़्यादा परवाह नहीं है। तो भी इस घर के इतिहास उसकी प्रतिष्ठा और मर्यादा के प्रभाव में मेरे कर्तव्यपालन में कुछ विवशताएँ रहेंगी और मुझे आशा है कि आप उसकी सुविधा मुझे देंगे। अतः मुझे पहले से मालूम हो जाना चाहिए कि शादी में आप कितना ख़र्च करना चाहते हैं और उस ख़र्च का कितना हिस्सा ऐसा होगा जिससे मुझे व्यावहारिक सहायता मिल सकेगी। और यह भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि यह किसी रईस का घर नहीं है। साधारण ज़मींदारी परिवार है और लड़का अपने घर का आप मालिक है। हाँ दाल-रोटी का सुख उसे अवश्य प्राप्त है।

बातचीत का सिलसिला शुरू हुआ। चिट्ठियाँ दौड़ने लगीं। फिर बाबू दशरथ लाल अपने एक अन्तरंग सखा के साथ किसी बहाने से लखनऊ भी पहुँच गए और बातों-बातों में लड़की को देखने की इच्छा भी व्यक्त की।

मुंशीजी अन्दर गये। पत्नी से कहा कि यह लोग लड़की देखना चाहते हैं। पत्नी ने कहा—ठीक है, यह आप लड़की देखना चाहते हैं तो हम आप दिखायेंगे लेकिन घर पर नहीं दिखायेंगे। फिर जब मुंशीजी उठकर बाहर जाने लगे तो उनकी पत्नी ने स्त्री की सहज व्यवहार-बुद्धि से पूछा—अरे उन लोगों का मुँह मुँह भी कुछ मीठा कराओगे कि यों ही

घर में उस समय और कोई न था इसलिए मुंशीजी खुद ही गये और पास के एक हलवाई के यहाँ से मिठाई ले आये।

मुँह मीठा होने के बाद यह तय पाया कि अगले रोज़ दोपहर को तीन बजे आप लोग अजायबघर पहुँच जाइएगा, हम लोग भी लड़की को लेकर पहुँच जायँगे। वहाँ हम लोग आपस में पुराने मुलाक़ातियों-जैसी बातें करेंगे और फिर वहीं से बनारसीबाग चलेंगे चिड़ियाघर, और सब देख-दाखकर साथ-साथ घर लौटेंगे। इतनी देर में आपको काफ़ी मौक़ा लड़की को देखने और समझने का मिल जायगा।

सब कुछ हुआ और जैसे कि इस बातचीत में थोड़ी-सी बदमज़गी भी एक ज़रूरी चीज़ हो, वह भी हुई। लड़का खुद लड़की को देखे, इस बात को लेकर। मुंशीजी ने उसके लिए क़तई इन्कार कर दिया और दो-एक तेज़ चिट्ठियों का विनिमय भी हुआ। आख़िर बाबू दशरथलाल ही को झुकना पड़ा और तान इस पर टूटी कि लड़के की माँ और बहन जाकर लड़की को देख लें।

लेकिन जिस चीज़ ने मुंशीजी का मन अपने होनेवाले दामाद की तरफ़ बहुत नर्म बना दिया था वह थी उसकी एक चिट्ठी जिसकी नक़ल दशरथलाल साहब ने भेजी थी — शादी मुझे मंज़ूर है। इसका खयाल रहे कि जिस घर में मेरी शादी हो वह घर दिवालिया न किया जाय। शादी-ब्याह एक दिन का रिश्ता नहीं, हमारा-उनका यह तीन पुश्तों का रिश्ता होगा। इसलिए आप उनको दिवालिया न कीजिएगा।

ख़ानदान भी कोई ऐसा-वैसा नहीं था। वासुदेव के पिता मुंशी भवानी प्रसाद क़स्बा मदारीपुर, ज़िला जालौन यू. पी. के रहनेवाले थे। दो साल की अवस्था में ही उनके पिता की मृत्यु हो गयी। तब उनके मामा जो मौज़ा कपुर्दा ज़िला छिन्दवाड़ा सी. पी. के रहनेवाले थे उनको अपने साथ लिवा ले गये और वहीं उनकी शिक्षा-दीक्षा हुई। शासन-व्यवस्था उन दिनों की बहुत अस्त-व्यस्त थी। उनके मामा कुछ लोगों की शरारत से एक क़त्ल के मुक़दमे में फाँस लिये गए और कालेपानी की सज़ा पा गये। फिर मुंशी भवानीप्रसाद की शादी देवरी ज़िला सागर, के लाला मधुलाल की इकलौती लड़की से हुई। संयोग की बात कि लाला मधुलाल १८५७ के कुछ बाद जब कि वह लगान की वसूली पर गये हुए थे मार डाले गये। अब घर में उनकी बेटी के सिवा और कोई न था इस ख़याल से मुंशी भवानीप्रसाद को देवरी बुला लिया गया। देवरी के अलावा और भी पाँच-छ गाँव उनकी मिल्कियत में थे। मुंशी भवानीप्रसाद ही उन सब का इंतज़ाम करते रहे और विरासतन भी जायदाद उन्हीं को मिली।

मुंशी भवानी प्रसाद बड़े धार्मिक व्यक्ति थे। सवेरे चार बजे उठकर स्नान करते थे और गाय की पूजा करते थे। फिर मंदिर जाकर पुजारी की पूजा करते थे और उसके उपरान्त श्री देव मुरलीधर की पूजा करते थे जिनके नाम पर देवरी का कस्बा बहुत पहले से वक्फ़ था।

वह म्युनिसिपैल्टी के उप-सभापति थे, आनरेरी मजिस्ट्रेट थे, आर्म्स ऐक्ट से मुस्तसना थे यानी उनको हथियार रखने की आजादी थी। लेन-देन में वह बहुत साफ़ थे और अपने व्यक्तित्व और शिष्ट व्यवहार के कारण जनता के बीच और सरकारी क्षेत्रों में उनका एक-सा मान था। अर्द्ध-सरकारी पत्र व्यवहार में देवरी के गवर्नर के नाम से उनका उल्लेख होता था और जनता उन्हें सरकार कहकर पुकारती थी। यह उनके पद से अधिक उनके व्यक्तित्व का ही सम्मान था।

धर्मप्रचार में उनकी बड़ी रुचि थी। इसी प्रसंग में वह अक्सर उस समय के बड़े-बड़े विद्वानों जैसे पं॰ ज्वाला प्रसाद मिश्र, पं॰ दीनदयाल वाजपेयी, स्वामी हंसस्वरूप आदि को बुलाकर उनके व्याख्यान कराया करते थे। कट्टर सनातनधर्मी होने के नाते उन्होंने 'सत्यार्थ प्रकाश' के खंडन में एक पुस्तक भी लिखी — दयानन्द-मत-विद्रावण। इसी तरह की एक पुस्तक उन्होंने और लिखी — भास्कराभास निवारण। उनके पुस्तकालय में चारों वेद, अठारहों पुराण, छः शास्त्र और उनकी अनेक टीकाएँ, महाभारत, वाल्मीकि रामायण, निर्णय-सिन्धु और धर्म सिन्धु आदि पुस्तकें दूर-दूर से मँगाकर एकत्र की गयी थीं।

सन् १९०५ में बंगभंग आन्दोलन के समय जो राजनीतिक लहर उठी उसने उनको भी अपने साथ लपेट लिया। उस आन्दोलन के साथ-साथ, जैसा कि विदित है, स्वदेशी का आन्दोलन, विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार का आन्दोलन, मद्य-निषेध और विदेशी चीनी के परित्याग का आन्दोलन भी धीरे-धीरे उठ खड़ा हुआ।

जब यह चीज कुछ जड़ पकड़ने लगी तो अंग्रेज अधिकारियों के कान खड़े हुए। उनकी तहकीकात शुरू हुई और उनका सबसे पहला वार, जैसा कि उचित ही था, मुंशी भवानीप्रसाद पर हुआ। उनके विरुद्ध सबसे बड़ा प्रमाण रुड़की के हीरालाल गुप्त द्वारा प्रकाशित 'विलायती चीनी से धर्मनाश होता है' नामक पुस्तक थी जिसकी पुश्त पर इस आशय की कुछ बात छपी थी कि हम देवरी के मुंशी भवानी प्रसाद का साधुवाद करते हैं जिन्होंने प्रचारार्थ इस पुस्तक की १   प्रतियाँ मँगायीं। इसी प्रकार उन्होंने लोकमान्य तिलक की लिखी हुई 'स्वदेशी और बायकाट' भी बड़ी संख्या में मँगवायी और लोगों में बाँटी। तभी सुनते हैं कि लोकमान्य तिलक से उनका पत्रव्यवहार भी हुआ जिसमें अधिकतर राजनीतिक

और धार्मिक प्रश्नों की चर्चा रहा करती थी। घर की तलाशी में पुलिस को लोकमान्य तिलक के कुछ पत्र भी मिले थे।

मुकदमे की दूसरी पेशी देवरी से १६ मील दूर एक निर्जन स्थान में रखी गयी — ताकि लोग वहाँ न पहुँच सकें और कोई बलवा न हो। वहाँ उनसे बाईस हजार रुपये नकद की जमानत माँगी गयी — और लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ जबकि वहाँ से तीस मील दूर रहनेवाले एक सुनार ने जो और बहुत से तमाशाइयों के साथ वहाँ खड़ा था जमानत की इतनी बड़ी रकम देना मंजूर किया। लेकिन किसी वजह से जमानत उस वक्त नहीं की गयी और बाद को अपील करने पर जमानत की रकम घटकर दो हजार रह गयी। यह जमानत एक साल के लिए देनी पड़ी और यह एक साल का समय देवरी से बाहर रहकर गुजारना पड़ा।

इस फ़ैसले की अपील जबलपुर के सेशन जज के यहाँ की गयी पर जमानत बहाल रही और अन्त में जुडिशल कमिश्नर के यहाँ अपील हुई। जुडिशल कमिश्नर स्टीवेन्स नाम का एक मायरिश आदमी था। उसने बड़ी हिम्मत से काम लिया जो ऐसे एक मुकदमे में जो कि शायद प्रान्त का पहला राजद्रोह का मुकदमा था और जिसकी जड़ें इतनी दूर-दूर तक पहुँचती थीं कि उसमें नासिक और मालवे की जेलों से लोकमान्य तिलक तक की गवाही रिकार्ड की गयी मुजरिम की अपील मंजूर की और उसे इज्जत के साथ बरी करते हुए अपने फ़ैसले में लिखा — यह बड़े खेद की बात है कि महज सुनी-सुनायी बातों के आधार पर इतने धर्मभीरु न्यायपरायण और धर्मात्मा व्यक्ति को इतना ज्यादा सताया और परेशान किया गया।

यह स्टीवन्स की सरकारी जिन्दगी का आखिरी मुकदमा था। इसके बाद ही वह यहाँ से चला गया।

स्टीवेन्स के फ़ैसले से सरकार काफ़ी मुश्किल में पड़ गयी उसे बहुत नीचा देखना पड़ा और उसने अपने मुँह की लाज बचाने के ख़याल से मिस्टर ब्लारचन्ट को जो सेटिलमेण्ट कमिश्नर थे मुंशी भवानी प्रसाद के पास राजीनामा का पैग़ाम लेकर भेजा। राजीनामे की एक शर्त यह थी कि देवरी के किसी प्रमुख स्थान पर शाही दरबार की यादगार के तौर पर एक चबूतरा बनवा दिया जाय। उसके एवज में मुंशी भवानीप्रसाद के तमाम अग्नियास्त्र और हथियार उन्हें वापस दे देने का वायदा सरकार की तरफ़ से किया गया। ब्लारचन्ट साहब ने उनको समझाया कि यह एक सुनहरा मौक़ा है इसको हाथ से न जाने दीजिए।

इसके जवाब में मुंशी भवानीप्रसाद ने वही बात कही जिसकी उनसे आशा की जा सकती थी। उन्होंने कहा — मैं आत्मनाशी आदमी हूँ। दो रुपये की मानी

टरी से मैंने अपनी जिन्दगी शुरू की थी और भाग्य के ही बल पर आज मैं इतनी बड़ी सरकार का विरोधी स्वीकार किया गया और भाग्य के ही भरोसे इस आक्षेप और दुर्दशा से मुक्त हुआ। अब मुझे कुछ नहीं चाहिए, आप अपना पत्रीनामा वापस ले जाइए।

अब क्या बचा जानने-समझने को। दो-चार व्यावहारिक बातें हुईं और शादी तै हो गयी।

बरात बनारस के स्टेशन पर सबेरे आठ बजे पहुँची। वहाँ से पाँच मील दूर कमही जाना था। रास्ता खराब। ईंट के भट्ठेवालों की कृपा से सड़क में तमाम गड्ढे ही गड्ढे। सूखा है तो धुस्सा जारिश है तो कीचड़—यानी इक्का-बग्घी के फँसाने का और हिचकोलों का बंदोबस्त दोनों हालतों में अच्छा। शहर से चलने में ही देर हो गयी थी कमही पहुँचते-पहुँचते शाम हो गयी। जनवासा स्कूल में दिया गया था।

द्वारचार हुआ। बताशे भी फेंके गये पैसे भी लुटाये गये। लेकिन सब कुछ मुंशीजी के बड़े भाई बलदेव लाल ने किया। द्वारपूजा भी मुंशीजी ने न की।

द्वारचार के बाद जब बारात जनवासे गयी तो उनकी पत्नी ने कहा—द्वार पूजा आपको करनी चाहिए थी। उन्होंने जवाब दिया—मुझसे ये रस्में न होंगी। पत्नी ने कहा—कन्यादान तो आखिर आपको ही करना होगा?

उन्होंने कहा—कन्यादान कैसा? बेजान चीज दान में दी जाती है। जान दार चीजों में तो गाय ही दी जा सकती है। फिर लड़की का दान कैसा? यह सब मुझे पसन्द नहीं।

आखिर जब रात को शादी हुई और कन्यादान का अवसर आया तो मुंशीजी उठकर अपनी जगह से नहीं आये। बहुत समझाया गया मगर न माने। आखिर र डाक्टर भट्ट जाकर उनको जबर्दस्ती गोद में उठा लाये और मण्डप में बैठा या। तो भी कन्यादान किया लड़की की माँ ने ही मुंशीजी मूर्तिवत् बैठे रहे।

२७

बेटी की शादी करके पति-पत्नी दोनों ही कुछ हल्का अनुभव कर रहे थे। इस बार मकान अमीनुद्दौला पार्क में मिला। छः माह लखनऊ रहे और छः मकान बदले। दो महीने गर्मी की छुट्टियों का (जब कि सब लमही चले जाते थे) किराया मुफ्त में क्यों दें।

२ सितम्बर १९२९ के अपने खत में मुंशीजी ने दयानारायन निगम को लिखा — 'अब मैं अमीनुद्दौला पार्क में रहता हूँ। मकान का नम्बर कहीं नहीं मिलता। हाँ पहल्वा की दुकान पर पूछने से पता चल सकता है। बिल्कुल कांग्रेस के दफ्तर से मुलहिक[1] मेरा मकान इसी लाइन में है। दरवाज़ा अक़ब[2] से है। मेरे मकान के ठीक नीचे एक सोइंग मशीन की एजेन्सी है। चिरंजीलाल पारचाफ़रोश भी वहीं रहता है। उससे पूछने से पता चल जायेगा। यह तो मकान हुआ अब घर की हालत — मैं सनीचर को आनेवाला था मगर उसके एक रोज़ क़ब्ल ही से घर में तीन मरीज़ हो गये। धुन्नू की वालिदा के दाँतों में दर्द और बुख़ार, बेटी की उँगली में फूटी जो बिसहरी कहलाती है और निहायत दर्द पैदा करनेवाली होती है और धुन्नू की मामी को बुख़ार और पेचिश। कल बेटी की उँगली चिरवा दी। अब दर्द कम है। धुन्नू की माँ के दाँतों का दर्द अभी बदस्तूर है हाँ बुख़ार बन्द हुआ। अब दाँत निकलवा देने की सलाह है। और धुन्नू की मामी का बुख़ार भी साबिक़ दस्तूर है।'

देश तेज़ी से एक नये संग्राम की ओर बढ़ रहा था। पिछले साल साइमन कमीशन के बहाने से जो उभार आया था वह बराबर बढ़ता ही जा रहा था। युवक समाज में अलग एक ज्वार दिखायी पड़ रहा था जगह-जगह उनकी यूथ लीगें और छात्र फ़ेडरेशन क़ायम हो रहे थे और उधर मज़दूरों में एक नयी संघर्ष-चेतना थी। उनकी हालत की जाँच करने के लिए विलायत से एक सरकारी कमीशन ह्विटले कमीशन आया हुआ था और वामपन्थी नेताओं के असर में मज़दूर उसका

---

१ लगा हुआ २ पीछे

बायकाट कर रहे थे। वैसे ही जैसे सारे मुल्क ने पिछले साल साइमन कमीशन का बायकाट किया था। मगर इतनी ही बात न थी। लड़ाई के बाद के कुछ साल तक तो उद्योगपतियों के लिए बड़ी खुशहाली के दिन रहे खासकर हिन्दुस्तानी और हिन्दुस्तान में पूँजी लगाकर काम करनेवाले ब्रिटिश उद्योगपतियों के लिए जिनके उद्योग-धन्धों का जन्म ही आधुनिक अर्थों में महायुद्ध के समय हुआ। लेकिन लड़ाई के दस साल बाद अब सारी दुनिया में भयानक मन्दी आयी हुई थी और मुमकिन न था कि हिन्दुस्तान उसकी लपेट में आने से बचा रहता। जैसे भी हो इस मन्दी का सामना करना था और इसका एक ही तरीका उनको मालूम था — मजदूरों की गर्दन और दबाओ काम के घंटे बढ़ाओ, पगार कम करो।

लेकिन मजदूर भी अब जाग रहा था अपने अधिकारों के लिए मोर्चा लेना सीख रहा था। आज यहाँ तो कल वहाँ बराबर मजदूरों की हड़तालें होती रहती थीं — और इन्हीं लड़ाइयों की आग में तपकर जंगजू मजदूरों के बड़े तगड़े संगठन बन गये थे जैसे जी० आई० पी० रेलवेमन्स यूनियन बम्बई के सूताकल मजदूरों का जबर्दस्त संगठन गिरनी कामगार यूनियन। बंगाल जूट मिल्स जमशेदपुर आयरन वर्क्स कोई इन सरगर्मियों से खाली न था।

मगर सरकार भी कब खामोश बैठी थी — मार्च के महीने में देश भर के बड़े-बड़े नामवरी मजदूर नेता पकड़ लिये गये और मेरठ षड्यन्त्र केस के नाम से उन पर मुकदमा चलना शुरू हो गया। यह एक बड़ा राजनीतिक केस था दुनिया भर में उसकी चर्चा थी। न्यू स्पार्क के संपादक हचिंसन और ब्रिटिश कम्युनिस्ट ब्रैडले जैसे दो-एक अंग्रेज अभियुक्त भी उसमें शामिल थे कोई बम फेंकने का मामला न था — सोचने विचारनेवालों का उससे बहुत और ही सरोकार।

यह भी एक संयोग ही था कि मुंशीजी उन दिनों गाल्सवर्दी के नाटक स्ट्राइफ का अनुवाद हिन्दुस्तानी एकेडमी के लिए कर रहे थे जो इसी पूँजी और श्रम के संघर्ष की कहानी है। उनका अपना नया उपन्यास गबन उन्हीं दिनों कभी शुरू हुआ था और धीमे-धीमे चल रहा था। [illegible] में उसकी जान बसती थी। उसमें बड़ी प्रेरणा एक ही थी — आजादी की लड़ाई। उसके लिए जमीन तैयार हो रही थी और बड़ी धूम-धाम से तैयार हो रही थी लेकिन लड़ाई अभी शुरू न हुई थी। ठीक यही हाल मुंशीजी का था वह भी आनेवाले संघर्ष के लिए तैयार हो रहे थे और इस बीच अपने हमेशा के रंग में एक नया किस्सा शुरू कर दिया था — बीबी को गहने का उन्माद मियाँ आदि [illegible] के गुलाम।

गबन खुलते ही यह दृश्य सामने आता है —

"बरसात के दिन हैं, सावन का महीना। आकाश में सुनहरी घटाएँ छायी

हुई है। रह-रहकर रिमझिम वर्षा होने लगती है। अभी तीसरा पहर है पर ऐसा मालूम हो रहा है शाम हो गयी। आमों के बागों में झूला पड़ा हुआ है। लड़कियाँ भी झूल रही हैं और उनकी माएँ भी। दो-चार झूल रही हैं, दो-चार झुला रही हैं। कोई कजली गाने लगती है, कोई बारहमासा।

इसी समय एक बिसाती आकर झूले के पास खड़ा हो गया। उसे देखते ही झूला बन्द हो गया। छोटी-बड़ी सबों ने आकर उसे घेर लिया। बिसाती ने अपना सन्दूक खोला और चमकती-दमकती चीज़ें निकालकर दिखाने लगा। कच्चे मोतियों के गहने थे, कच्चे लैस और गोटे, रंगीन मोज़े, खूबसूरत गुड़ियाँ और गुड़ियों के गहने, बच्चों के लट्टू और झुनझुने। किसी ने कोई चीज़ ली, किसी ने कोई चीज़। एक बड़ी-बड़ी आँखोंवाली बालिका ने वह चीज़ पसन्द की जो उन चमकती हुई चीज़ों में सबसे सुन्दर थी। वह फ़ीरोज़ी रंग का एक चन्द्रहार था। माँ से बोली — अम्माँ, मैं यह हार लूँगी।

माँ ने बिसाती से पूछा — बाबा, यह हार कितने का है?

बिसाती ने हार को रूमाल से पोंछते हुए कहा — खरीद तो बीस आने की है, मालकिन जो चाहें दे दें।

माँ ने कहा — यह तो बड़ा महँगा है। चार दिन में इसकी चमक-दमक जाती रहेगी।

बिसाती ने मार्मिक भाव से सिर हिलाकर कहा — बहू जी, चार दिन में तो बिटिया को असली चन्द्रहार मिल जायगा। ●

यहाँ पर बीज रोप दिया गया। इसी बीज में से पेड़ निकलना।

इस लड़की की ऐसी मति कैसे बनी?

दीनदयाल जब कभी प्रयाग जाते तो उसके लिए कोई न कोई आभूषण ज़रूर लाते। उनकी व्यावहारिक बुद्धि में यह विचार ही न आता था कि जालपा किसी और चीज़ से अधिक प्रसन्न हो सकती है। गुड़िया और खिलौने वह व्यर्थ समझते थे, इसलिए जालपा आभूषणों से ही खेलती थी। यही उसके खिलौने थे। वह बिल्लौर का हार जो उसने बिसाती से लिया था अब उसका सबसे प्यारा खिलौना था।

बाल्यावस्था में जिस व्यक्ति के कंधों पर इस कामना की पूर्ति का बोझ पड़नेवाला है, जालपा का पति, इधर दो साल से वह बेकार था। शतरंज खेलना, सैर-सपाटे करना और माँ और छोटे भाइयों पर रोब जमाना। दोस्तों की बदौलत शौक पूरा होता रहता था। किसी का चेस्टर माँग लिया और शाम को हवा खाने निकल

गये। किसी का पैगाम् पहुँच किया किसी की घड़ी कलाई पर बाँध ली। कभी बनारसी फ़ैशन में निकले कभी लखनवी फ़ैशन में।

ट्रैजेडी के लिए ज़मीन बनी-बनायी तैयार है—एक तरफ़ पहुनों का गावदूपन और दूसरी तरफ़ अपनी हैसियत को छिपाने की बढ़ाकर दिखाने की कोशिश ख़ास बीमारी मुंशीजी के अपने वर्ग की सबसे ज़्यादा जानलेवा

कितनी तकलीफ़, कितनी मुसीबत की जड़ इस एक चीज़ में है, और कितना मुबारक दिन होगा वह जब इसकी जड़ खोदकर फेंकी जा सकेगी—लेकिन जड़ बहुत गहरी है, खोदकर फेंकना इतना आसान न होगा। कितनी तरह कितने रास्तों से कितने रूपों में वह आकर आदमी को बरगलाती है। शादी का तमाशा भी तो ऐसी ही चीज़ है नाम ख़ानदान की आबरू के नाम पर, हित-मीत टोले-मुहल्ले वालों के आगे नाक न कटाने के नाम पर जगहँसाई से बचने के नाम पर, अपनी झूठी रईसी का सिक्का जमाने के नाम पर क़र्ज़ लेकर यह सब नाटक करते हैं लेकिन कौन समझाये इन अक़्ल के मारों को और किसे ग़रज़ है समझने की ! कुएँ में भाँग पड़ी है।

"नाटक उस वक़्त पास होता है जब रसिक समाज उसे पसन्द कर लेता है। बारात का नाटक उस वक़्त पास होता है जब राह चलते आदमी उसे पसन्द कर लेते हैं। नाटक की परीक्षा चार-पाँच घण्टे तक होती रहती है बारात के नाटक की परीक्षा के लिए केवल इतने ही मिनटों का समय होता है। सारी सजावट सारी दौड़धूप और तैयारी का निपटारा पाँच मिनटों में हो जाता है। अगर सबके मुँह से वाह वाह निकल गया तो तमाशा पास नहीं फ़ेल ! रुपया मेहनत फ़िक्र, सब अकारथ। दयानाथ का तमाशा पास हो गया। शहर में वह तीसरे दर्जे में आता गाँव में अव्वल दर्जे में आया। कोई बाजों की पों पों पों पों सुनकर मस्त हो रहा था कोई मोटर को आँखें फाड़-फाड़कर देख रहा था, कुछ लोग फुलवारियों के तख़्ते देखकर लोट-पोट जाते थे। आतिशबाज़ी सबके मनोरंजन का केन्द्र थी। हवाइयाँ जब सन से ऊपर जातीं और आकाश में लाल हरे, नीले, पीले कुमकुमे-से बिखर जाते और जब चर्ख़ियाँ छूटतीं और उनमें नाचते हुए मोर निकल आते तो लोग मंत्रमुग्ध-से हो जाते थे। वाह, क्या कारीगरी है !

बढ़ावा जाने का सीन देखिए—

● दस बजे सहसा फिर बाजे बजने लगे। मालूम हुआ कि बढ़ावा आ रहा है। बारात में हरेक रस्म डंके की चोट अदा होती है। दूल्हा कलेवा करने आ रहा है बाजे बजने लगे। समधी मिलने आ रहा है, बाजे बजने लगे। बढ़ावा ज्योंही पहुँचा घर में हलचल मच गयी। वहाँ सभी इस कला के विशेषज्ञ थे। मर्दों

ने गहने बनवाये थे औरतों ने पहने थे सभी आलोचना करने लगे। चूड़ियाँ कितनी सुन्दर हैं कोई दस तोले की होंगी! वाह! साढ़े ग्यारह तोले से रत्ती भर भी कम निकल जाय तो कुछ हार जाऊँ! यह शेरदहाँ तो देखो क्या हाथ की सफ़ाई है! जी चाहता है, कारीगर के हाथ चूम लें। यह भी बारह तोले से कम न होगा। वाह! कभी देखा भी है सोलह तोले से कम निकल जाये तो मुँह न दिखाऊँ। हाँ माल उतना चोखा नहीं है। यह कंगन तो देखो बिल्कुल पक्की जुड़ाई है। कितना बारीक काम है कि आँख नहीं ठहरती। कैसा दमक रहा है सच्चे नगीने हैं, झूठे नगीनों में यह आब कहाँ! चीज तो यह गुलूबन्द है कितने खूबसूरत फूल हैं! और उनके बीच में हीरे कैसे चमक रहे हैं!

इस गोलाकार जमघट के पीछे अँधेरे में आशा और आकांक्षा की मूर्ति-सी जालपा भी खड़ी थी। और सब गहनों के नाम आते थे चन्द्रहार का नाम न था। उसकी छाती धकधक कर रही थी। चन्द्रहार नहीं है क्या? शायद सब के नीचे हो! जब मालूम हो गया चन्द्रहार नहीं है, तो उसके कलेजे पर चोट सी लग गयी। मालूम हुआ देह में रक्त की एक बूँद भी नहीं है। मानो उसे मूर्च्छा आ जायगी। वह लालसा जो सात वर्ष हुए उसके हृदय में अंकुरित हुई थी जो इस समय पुष्प और पल्लव से लदी खड़ी थी उस पर वज्रपात हो गया। वह हरा-भरा लहलहाता सा पौधा जल गया — केवल उसकी राख रह गयी।●

मगर नहीं घबराने की ऐसी कोई बात नहीं है — स्त्री को अपने पुरुषार्थ का भरोसा करना चाहिए!

जालपा की एक सहेली शहजादी कहती है — नहीं यह बात नहीं है अम्माँ आग्रह करने से सब कुछ हो सकता है। सास-ससुर को बार-बार याद दिलाती रहना। बहनोई जी से दो-चार दिन रूठे रहने से भी बहुत कुछ काम निकल सकता है। बस यही समझ लो कि घरवाले चैन न लेने पायें यह बात हरदम उनके ध्यान में रहे उन्हें मालूम हो जाय कि बिना चन्द्रहार बनाये कुशल नहीं। तुम जरा भी ढीली पड़ीं और काम बिगड़ा।

यहाँ राजनीति के ऐसे-ऐसे विलक्षण अनुभवी परामर्शदाता हों वहाँ किला फ़तेह होने में फिर क्या देर! और किला फ़तेह हो जाता है — लेकिन पति देवता को घर से निर्वासित करके कलकत्ते की देहली पर पहुँचाकर!

उपन्यास जिस रंग में शुरू हुआ था शायद उसी रंग में खत्म भी हो जाता। लेकिन हो नहीं सका उन्हीं दिनों मेरठ षड्यन्त्र केस चल पड़ा।

ग़बन का उत्तरार्द्ध पूरे का पूरा क्रान्तिकारियों के खिलाफ़ पुलिस के झूठे केस की दास्तान है। इस तरह के झूठे केस पुलिस ने पहले भी बहुत चलाये

ये आये दिन चलाती रहती थी यही धंधा था उसका। लेकिन यह कुछ और ही चीज थी। २० मार्च १९२९ तक जब कि देश भर में तलाशियाँ और लोगों की धर-पकड़ हुई, 'गबन' शायद आधे से कुछ कम ही लिखा गया था — और बाद के आधे से ज्यादा हिस्से पर अगर उस केस की छाया हो तो यह कुछ अचरज की बात न होगी क्योंकि यह एक ऐसा केस था जिसने सारी दुनिया में तहलका मचा दिया था। लेकिन उसको भी केवल निमित्त ही मानना चाहिए — सम्पूर्ण काल ही ऐसा था। आजादी की लहरें हल्के-हल्के उठने लगी थीं, क्रान्तिकारियों की सरगर्मियाँ — कहीं किसी अंग्रेज हाकिम का वध और कहीं बम का धड़ाका — काफी बढ़ी हुई थीं, पुलिस का बर्बर रूप नित नये ढंग से उद्घाटित हो रहा था।

साइमन कमीशन के उपसंहार के रूप में साण्डर्स-वध और लाहौर षड्यन्त्र केस की शुरुआत पिछले साल की बातें थीं।

नया साल मेरठ षड्यन्त्र केस से शुरू हुआ।

८ अप्रैल १९२९ को भगत सिंह और बटुकेश्वर दत्त ने दिल्ली असेम्बली में बम फेंका।

१३ सितम्बर १९२९ को यतीनदास की मृत्यु लाहौर जेल में ६४ दिन की भूख-हड़ताल से हुई।

२८ सितम्बर १९२९ को यहीं लखनऊ में ए. आई. सी. सी. की बैठक हुई जिसमें कांग्रेस के अगले कराची अधिवेशन के मनोनीत अध्यक्ष गांधीजी ने अपना नाम वापस लेकर जवाहरलाल का नाम प्रस्तावित किया।

३१ अक्तूबर १९२९ को बड़े लाट अर्विन ने विलायत से लौटकर इंग्लैण्ड की नयी लेबर सरकार की इच्छानुसार भारत के राजनीतिक सुधारों के संबंध में एक महत्वपूर्ण वक्तव्य दिया।

२३ दिसम्बर १९२९ को गांधी-अर्विन मिलन हुआ और सरकार की दुरंगी नीति की कलई खुलना शुरू हुई।

३१ दिसम्बर १९२९ को बारह बजे रात कांग्रेस ने लाहौर में पूर्ण स्वराज्य का प्रस्ताव स्वीकार किया। आनेवाली २६ जनवरी पूर्ण स्वराज्य दिवस घोषित हुआ — देश की चतुर्मुख स्वाधीनता के लिए सामूहिक प्रतिज्ञा का दिन।

ताज्जुब की बात होती अगर मुंशीजी का लिखना इस जबर्दस्त हलचल का असर न लेता — और असर उसने लिया, बाकायदा लिया। एक अच्छे शिल्पी के सधे हुए हाथों का काम है इसलिए जोड़ का पता नहीं चलता मगर गौर से देखो तो 'गबन' के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में जोड़ है। दोनों का रंग, दोनों की हवा, दोनों की बू-बास — सब कुछ अलग है। रमानाथ के इलाहाबाद से

भागकर कलकत्ता पहुँचते ही दुनिया बदल जाती है। सामाजिक रूढ़ियों की काई और गर्द और घुँघलके में छिपते हुए मर्दों और औरतों की टोली पीछे छूट जाती है और आज़ादी के लड़ाई में अपने दो होनहार बेटों की भेंट चढ़ा देनेवाले देवीदीन का तेजस्वी चेहरा उभरकर सामने आ जाता है सत्य और असत्य न्याय और अन्याय के संघर्ष में आत्मा क नये शिखर दिखायी पड़ते हैं जालपा एक नयी ही जालपा है, और क़िस्सा में जैसे कि ज़िन्दगी में पुलिस का नंगा नाच हो रहा है—सामाजिक उपन्यास राजनीतिक उपन्यास बन जाता है।

५ दिसम्बर १९२९ को जवाहरलाल ने जापान से अपने एक लंबे ख़त में लिखा था—

बेचारा पंजाब जो अभी कुछ रोज़ पहले प्रकृति की ऐसी बुरी मार सह चुका है अब अपने को पुलिस अत्याचारों के आतंक-राज्य में पाता है। यह चीज़ पंजाब में ही या यों कहें कि हिन्दुस्तान में ही मुमकिन है कि पुलिस अंडर ट्रायल क़ैदियों को मार-मारकर लहूलुहान कर दे और उसका बाल भी बाँका न हो।

'पुलिस ने जैसा वातावरण तैयार कर दिया है उससे यही नतीजा निकालना पड़ता है कि वाइसराय ने जो घोषणा की है और लेबर सरकार ने हिन्दोस्तान के लिए डामिनियन गवर्नमेण्ट की जो उम्मीदें दिलायी हैं वह जनता की आँखों म धूल झोंकने और राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं के बीच फूट डालने की एक और कोशिश के अलावा कुछ नहीं है। बड़े खेद की बात है कि जहाँ एक ओर सारा मुल्क़ सरकार जाग रहा है वहाँ हिन्दोस्तान के मुसलमान अपने देश क विदेशी शासकों के हाथ का खिलौना बन हुए है और अपनी सम्मिलित मातृभूमि क स्वराज्य की ओर आगे बढ़न के रास्त म रोड़ अटका रहे हैं।

मुंशीजी ने ख़त क इस टुकड़े क जवाब में लिखा था—

आपको ख़बर मिली होगी कि इस साल कांग्रेस ने एक क़दम और आगे बढ़ाया और पूर्ण स्वराज्य का निश्चय किया। इस प्रश्न पर बड़ा मतभेद है। माडरेट मध्यममार्गी लोग इतना आगे तक जाना नहीं चाहते और तरुण राजनीतिज्ञ इससे कम की बात सुनने के लिए तैयार नहीं हैं। मेरा ख़याल है कि पूर्ण स्वराज्य इंग्लैण्ड क समर्थ साम्राज्यवाद का अच्छा जवाब है। डामिनियन स्टेटस घास की टट्टी है। एक चीज़ जो मैं समझ नहीं पाता वह है कौंसिल का कौंसिल-बहिष्कार का निश्चय। जहाँ से अपन धुन भर जो कुछ ताक़त-माया मिले हम न लेना चाहिए। कौंसिल को प्रगति-विरोधी विधान बनाने का मौक़ा क्यों दो? आज़ादी ऐसा मुँह का कौर तो नहीं है कि हम मज़े में उन्हें और भी दो-एक साल तारांग करते दे सकें।

अपने इसी पत्र में उम्मरखाम ने यह भी लिखा था —

जापान की जनता हिन्दोस्तान की ओर से वैसी उदासीन नहीं है जैसा कि आपको जापान टाइम्स देखने से लगा होगा। जापानी भाषा के पत्रों में बराबर हिन्दोस्तान के बारे में ढेरों चीजें निकलती रहती हैं, और यहाँ पर असल महत्त्व जापानी भाषा के पत्रों का ही है अंग्रेजी के पत्र तो केवल विदेशी निवासियों के लिए छपते हैं और उनका प्रचार बहुत सीमित है क्योंकि जापानी उनकी खास परवाह नहीं करते। जापानी भाषा के पत्र बहुत ही शक्तिशाली हैं और उनमें से कुछ तो ऐसे हैं जो दुनिया के किसी पत्र से टक्कर ले सकते हैं। हर आदमी दो-एक पत्र मँगाता है, चाहे वह पुलिसमैन हो चाहे सड़क की सफ़ाई करनेवाला मेहतर।

महात्मा गांधी का नाम यहाँ बच्चा-बच्चा जानता है। यहाँ पर उनकी जितनी इज्जत है उतनी आज के दूसरे किसी हिन्दोस्तानी या योरोपियन की शायद न होगी। अगर वह कभी यहाँ आयें तो साधारण जनता उनके दर्शन या हस्ताक्षर के लिए पागल हो जायगी। बड़े अफ़्सोस की बात है कि भारतीय नेता कभी जापान नहीं आते हमेशा योरोप और अमेरिका के चक्कर लगाते रहते हैं। जापानियों के लिए हिन्दोस्तान को जानना-समझना बहुत मुश्किल है जब तक कि हमारे आदमी यहाँ आयें नहीं और दिल खोलकर उनसे बात नहीं करते।

और फिर अंत में — मैं आपसे अनुरोध करूँगा कि आप उस संघर्ष से प्रेरणा लेकर, जो हमारे युवक-युवतियाँ अपनी पददलित मातृभूमि की मुक्ति के लिए कर रहे हैं, कुछ कहानियाँ देशप्रेम के विषय को लेकर लिखें।

यह भी कोई कहने की बात है, और सो भी मुंशीजी से ! यही तो उन्होंने किया है सारी जिन्दगी — और अब फिर वह घड़ी आ रही है जब कि संपूर्ण चेतना सब ओर से सिमटकर इसी एक बिन्दु पर केन्द्रित कर देनी होगी। मन की सहज वृत्ति यही है संघर्ष की परिस्थितियाँ उसी को और भी रेखांकित कर देती हैं। १ सितम्बर १९२९ को उन्होंने विनोदशंकर व्यास को लिखा — मेरे विचार में सभी के विचार में साहित्य के तीन लक्ष्य हैं — परिष्कृति मनोरंजन और उद्घाटन। लेकिन मनोरंजन और उद्घाटन भी उसी परिष्कृति के अन्तर्गत आ जाते हैं क्योंकि लेखक का मनोरंजन केवल मोटों या नकचालों का मनोरंजन नहीं होता उसमें परिष्कार का भाव छिपा रहता है। उसका उद्घाटन भी परिष्कृति का उद्देश्य सामने रखकर ही होता है। हम गुप्त मनोभावों को इसलिए नहीं दर्शाते कि हमें उनकी दार्शनिक विवेचना करनी है बल्कि इसलिए कि हम सुन्दर को आकर्षक और असुन्दर को हेय दिखाना चाहते हैं।

२२ जनवरी १९३ को एक तरुण लेखक को उन्होंने लिखा—
"युवक को आशावादी मन से लिखना चाहिए, उसकी आशावादिता
संक्रामक होनी चाहिए, जिससे कि वह दूसरों में भी उसी भावना का संचार
कर सके। मेरे विचार में साहित्य का सबसे ऊँचा लक्ष्य दूसरों को उठाना उन्नत
करना है। हमारे यथार्थवाद को भी यह बात भूलनी न चाहिए। कितना अच्छा
हो कि आप 'मनुष्यों की सृष्टि करें, निर्भीक सच्चे स्वाधीन मनुष्य हीनभावना
साहसी मनुष्य ऊँचे आदर्शों वाले मनुष्य। इस वक्त ऐसे ही आदमियों की जरूरत
है। तीन दिन बाद २६ जनवरी को सारा देश आज़ादी की प्रतिज्ञा लेगा — और
फिर हर साल लेना पड़ेगा जब तक कि आज़ादी मिल नहीं जाती। ज़ाहिर है कि
इस वक्त ऐसे ही आदमियों की ज़रूरत है।

इसी बात को कहानी के शिल्प पर डालते हुए मुंशी जी ने दो रोज़ बाद २४
जनवरी को विनोदशंकर व्यास को लिखा— "मैं जो चाहता हूँ वह यह है कि
कहानियों के प्लाट जीवन से लिए जायें और जीवन की समस्याओं को हल करें।
कहानी व कविता का काम लेना मुझे नहीं जँचता। गद्यकाव्य हृदय के तारों पर
चोट करता है कहानी से अधिक क्योंकि वह तो चोट करने के लिए ही लिखा जाता
है। लेकिन उसकी चोट उस संगीत की ध्वनि के सदृश है जो एक बार कान में पड़कर,
एक चुटकी लेकर गायब हो जाती है। कहानी आपकी आँखों के सामने चरित्रों
को खेलते हुए दिखाती है।

भावना के चिन्तन के रचना के स्तर पर राष्ट्रीय जीवन की आँधियों के
तमाम बराबर उनका क्रम रहे हैं लेकिन बाहर से कुछ पता नहीं चलता दिनचर्या
में कोई अन्तर नहीं पड़ता वही घर से दफ़्तर, दफ़्तर से घर — और एक कोने में
बैठकर लिखना-पढ़ना।

इन्हीं दिनों, सन् २९ के किसी महीने में उनका परिचय एक ऐसे व्यक्ति से
हुआ था एक तरफ गांधीवाद का अच्छा काम करनेवाला था तो दूसरी तरफ प्रतिभा
सम्पन्न कथाकार। उस व्यक्ति का नाम जैनेन्द्रकुमार था। दोनों में वय का बड़ा
अन्तर था लेकिन मुंशीजी के लिए उसका कोई महत्व न था और यों ही एक कहानी
को लेकर जो परिचय का सूत्र स्थापित हुआ था उसने जन्मजात स्वभाव के
बावजूद मान वयस् के भीतर-भीतर एक सच्ची और गहरी मैत्री का रूप ले लिया
जिसमें दोनों ओर एक-सा आदर था स्नेह था। इसकी कहानी गुरु जैनेन्द्रकुमार
की जबानी सुनिए—

●सन् २ आते आते में अकस्मात् कुछ लिख बैठा। इस आने दुम्बाहुन पर
मैं पहल-पहल तो बहुत ही संकुचित हुआ। पर विधि पर विमरा बन। जब मुझ पर

यह आविष्कार प्रकट हुआ कि मैं लिखता हूँ तब यह ज्ञान भी मुझे था कि वही प्रेमचंद जो पूरी रंगभूमि को अपने भीतर से प्रकट कर सकते हैं, लखनऊ से निकलने वाली 'माधुरी' के संपादक हैं। सो कुछ दिनों बाद एक रचना बड़ी हिम्मत बाँधकर डाक से मैंने उन्हें भेज दी। लिख दिया कि यह संपादक के लिए नहीं है, कथाकार प्रेमचंद के लिए है। छापे में आने योग्य तो मैं हो सकता नहीं पर लेखक प्रेमचंद उन पंक्तियों को एक निगाह देख सकें और मुझे कुछ बता सकें तो मैं अपने को धन्य मानूँगा। कुछ दिनों के बाद वह रचना ठीक-ठीक तौर पर लौट आयी। साथ एक कार्ड भी मिला जिस पर छपा हुआ था कि यह रचना धन्यवाद के साथ वापस की जाती है। यह मेरे दुस्साहस के योग्य ही था फिर भी मन कुछ बैठने-सा लगा। मैं तब अपनी कहानी को तभी एक बार फिर पढ़ गया। आखिरी स्लिप समाप्त करके उसे लौटता हूँ कि पीठ पर फीकी लाल स्याही में अंग्रेजी में लिखा है — पूछो कि यह अंग्रेजी से अनुवाद तो नहीं है। जाने किस अलक्ष्य पद्धति से यह प्रतीति उस समय मेरे मन में असंदिग्ध रूप से भर गयी कि हो न हो यह प्रेमचंद जी के शब्द हैं, उन्हीं के हस्ताक्षर हैं। उस समय मैं एक ही भाव मानो कृतज्ञता में नहा उठा। मेरा मन तो एक प्रकार से मुर्झा ही चला था लेकिन इस छोटे से वाक्य ने मुझे संजीवन दिया। तब से मैं खूब समझ गया हूँ कि सच्ची सहानुभूति का एक कण भी कितना प्राणदायक होता है और हृदय को निर्मल रखना अपने आप में कितना बड़ा उपकार है।)

कुछ दिनों बाद एक और कहानी मैंने उन्हें भेजी। पहली कहानी का कोई उल्लेख नहीं किया। यह फिर लिख दिया कि लेखक प्रेमचंद की उस पर सम्मति पाऊँ, यही अभीष्ट है, छपने लायक तो यह होगी ही नहीं। उत्तर में मुझे एक कार्ड मिला। उसमें दो-तीन पंक्तियों से अधिक न थीं। स्वयं प्रेमचंद जी ने लिखा था — प्रिय महोदय दो (या तीन) महीने में माधुरी का विशेषांक निकलनेवाला है। आपकी कहानी उसके लिए चुन ली गयी है।

इस पत्र पर मैं विस्मित होकर रह गया। पत्र में प्रोत्साहन का बधाई का प्रशंसा का एक शब्द भी नहीं था। लेकिन जो कुछ था वह ऐसे प्रोत्साहनों से भारी था। प्रेमचंद जी की प्रच्छन्न-प्रकृति की झलक पहली ही बार मुझे उस पत्र में मिल गयी। वह जितने सद्भावनाशील थे उतने ही उन सद्भावनाओं के प्रदर्शन में संकोची थे। नेकी हो तो कर देना पर कहना नहीं — यह उनकी आदत हो गयी थी। मैंने उस पत्र को कई बार पढ़ा था और मैं दंग रह गया था कि यह व्यक्ति कौन हो सकता है जो एक अनजान लड़के के प्रति इतनी बड़ी दया का उपकार का काम कर सकता है, फिर भी उसका तनिक भी श्रेय लेना नहीं चाहता। अगर उस पत्र के

साथ कृपाभाव से भरे वाक्य भी होते तो क्या बेजा था। लेकिन प्रेमचंद वह व्यक्ति था जो उससे ऊँचा था। उसने कभी जाना ही नहीं कि उसने कभी उपकार किया है या कर सकता है। नेकी उससे होती थी उसे नेकी करने की ज़रूरत न थी।

लेकिन मैं तो तब बच्चा था न अपने को छपा देखने को उतावला था। लिखा—अगर वह कहानी छपने योग्य है तो अगले अंक में ही छपा दीजिए। विशेषांक के लिए और भेज दूँगा।

उत्तर आया—प्रिय महोदय लिखा जा चुका है कि वह कहानी विशेषांक के लिए चुन ली गयी है, उसी में छपेगी।

इस उत्तर पर मैं उसके लेखक की ममताहीन सद्भावना पर चकित होकर रह गया। अब भी मैं उसको याद कर विस्मय से भर जाता हूँ। मुझे मालूम होता है कि प्रेमचंद जी की सबसे घनिष्ठ विशेषता यही है। यही साहित्य में निष्ठा और धर्म है। उनके साहित्य की रग-रग में सद्भावना व्याप्त है। लेकिन भावुकता में वह सद्भावना किसी भी स्थल पर कच्ची या उथली नहीं हो गयी। वह अपने में समायी हुई है छलक-छलक नहीं पड़ती। प्रेमचंद का साहित्य इसीलिए पर्याप्त कोमल न दीखे पर ठोस है और खरा है।●

मुलाकात की कहानी कुछ कम दिलचस्प नहीं है—

कुम्भ के मेले पर इलाहाबाद जाना हुआ। वहीं प्रेमचंदजी का जवाब भी मिल गया। लिखा था—अमीनुद्दौला पार्क के पास लाल मकान है। लौटते वक्त आओ हाँ। जरूर आओ।

सन् ३० की जनवरी थी। खासे जाड़े थे। बनारस से गाड़ी लखनऊ रात के कोई चार बजे ही जा पहुँची थी। अँधेरा था और ठंड भी कुछ कम न थी। ऐसे वक्त अमीनुद्दौला पार्क के पासवाला लाल मकान तो मिल जायगा ही पर मुमकिन है असुविधा भी कुछ हो। लेकिन दर-असल जो परेशानी उठानी पड़ी उसके लिए मैं बिलकुल तैयार न था।

पाँच बजे के लगभग अमीनुद्दौला पार्क की सड़क के बीचोबीच आ खड़ा हो गया हूँ सामान सामने निर्जन एक दुकान के तख्तों पर रखा है। इक्का-दुक्का शरीफ़ आदमी टहलने के लिए आ-जा रहे हैं। मैं लगभग प्रत्येक से पूछता हूँ—जी माफ़ कीजिएगा। प्रेमचंदजी का मकान आप बतला सकते हैं? नज़दीक ही कहीं है। जी हाँ यमचर।

उसी सड़क पर ही मुझे छ बज आये। साढ़े छ भी बजने लगे। तब तक दर्जनों सज्जनों को मैंने थाम लिया। लगभग सभी को मैंने अपने अनुसन्धान का लक्ष्य बताया था लेकिन मेरे सामने मैं सभी ने जाने का निरा असमर्थ प्रकट किया।

आसपास मकान कम न थे और लाल भी कम न थे। और वहाँ मैं खड़ा था वहाँ से प्रेमचन्दजी का मकान मुश्किल से बीस गज निकला लेकिन उस रोज सम्भ्रान्त श्रेणी से प्रेमचंदजी तक के उस बीस गज के दुर्लंघ्य अन्तर को लाँघने में काफ़ी देर लगी। और क्या इसे एक संयोग ही कहूँ कि अन्त में जिस व्यक्ति के नेतृत्व का सहारा पाकर मैं उन बीस गजों को पारकर प्रेमचन्दजी के घर पर आ लगा वह कुल-शील की दृष्टि से समाज का उच्छिष्ट ही था?

जीने के नीचे से झाँकने पर मुझे जो कुछ ऊपर दीखा उससे मुझे बहुत अचम्भा लगा। जो सज्जन ऊपर खड़े थे उनकी बड़ी घनी मूँछें थीं पाँच रुपयेवाली लाल इमली की चादर ओढ़े थे जो काफ़ी पुरानी और चिकनी थी बालों ने आगे आकर माथे को कुछ ढँक-सा लिया था और माथा छोटा मालूम देता था। सिर ज़रूरत से छोटा प्रतीत हुआ। मामूली धोती पहने थे जो घुटनों से ज़रा नीचे तक आ गयी थी। मैंने जान लिया कि प्रेमचन्द यही हैं। इस परिज्ञान से बचने का अवकाश न था। पर उनको ही प्रेमचंद जानकर मेरे मन को कुछ सुख उस समय नहीं हुआ। क्या जीते जी प्रेमचंद इनको ही मानना होगा? प्रेमचंद के नाम पर यह सामने खड़ा व्यक्ति इतना साधारण इतना स्वस्थ इतना देहाती मालूम हुआ कि

इतने में उस व्यक्ति ने फिर कहा—आओ भाई, आ जाओ।

मैं एक हाथ में बक्स उठा जीने पर जो बढ़ने लगा कि उस व्यक्ति ने झटपट आकर उस बक्स को अपने हाथ में ले लेना चाहा।

घर सुव्यवस्थित नहीं था। आँगन में पानी निरुद्देश्य फैला था। चीज़ें भी ठीक अपने-अपने स्थान पर नहीं थीं। पर पहली निगाह ही यह जो कुछ दीखा दीख सका। आगे तो मेरी निगाह इन बातों को देखने के लिए खाली ही नहीं रही।

सब काम छोड़कर प्रेमचंदजी मुझे लेकर बैठ गये। सात बज गये साढ़े सात बज गये आठ होने आये बातों का सिलसिला टूटता ही न था। इस बीच मैं बहुत कुछ भूल गया। भूल गया कि यह प्रेमचंद हैं हिन्दी के साहित्य सम्राट हैं। यह भी भूल गया कि मैं उसी साहित्य के तट पर भौंचक खड़ा अनजान बालक हूँ। यह भी भूल गया कि क्षण भर पहले इस व्यक्ति की मुद्रा पर मेरे मन में अप्रीति अनास्था उत्पन्न हुई थी।

उस व्यक्ति की बाहरी अनाकर्षकता उस क्षण से आगे किस प्रकार मुझे अपने आप में सार्थक वस्तु जान पड़ने लगी। उनके व्यक्तित्व का बहुत कुछ आकर्षण उसी अ-कोमल आवरण में था।

इस जगह आकर प्रेमचंद की मेरी अपनी काल्पनिक मूर्तियाँ जो अतिशय

छटामयी और प्रियदर्शन थी एकदम बहकर चूर-चूर हो गयी और मुझे तनिक भी दुःख नहीं होने पाया।

मैं यह देखकर विस्मित हुआ कि आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियों से वह कितने घनिष्ठ रूप में अवगत हैं। योरोपीय साहित्य में जानने योग्य उन्होंने जाना है। जानकर ही नहीं छोड़ दिया उसे भीतर से पहचाना भी है और फिर परखा और तौला है। वह अपने प्रति सचेत हैं, Consistent हैं, स्वनिष्ठ हैं।

मैंने कहा — बंगाली साहित्य हृदय को अधिक छूता है — इससे आप सहमत हैं? तो इसका कारण क्या है?

प्रेमचन्दजी ने कहा — सहमत तो हूँ। कारण उसमें स्त्री भावना अधिक है। मुझमें वह काफ़ी नहीं है।

सुनकर मैं उनकी ओर देख उठा। पूछा — स्त्रीत्व है इसी से वह साहित्य हृदय को अधिक छूता है?

बोले — हाँ तो। वह जगह-जगह स्मरणशील हो जाता है। स्मृति में भावना की तरलता अधिक होती है, संयम में भावना का काठिन्य अधिक होता है विधायकता के लिए दोनों चाहिए—

कहते-कहते उनकी आँखें मुझसे पार कहीं देखने लगी थीं। उस समय उन आँखों की सुर्खी एकदम गायब होकर उनमें एक प्रकार की पारदर्शिता भर गयी थी मानों अब उनकी आँखों के सामने जो हो स्वप्न हो। उनकी वाणी में एक प्रकार की धीमी कातरता बजने लगी। वह स्वर मानो उच्छ्वास में निवेदन करता हो कि मैं कह तो रहा हूँ पर जानता मैं भी कुछ नहीं हूँ। शब्द तो शब्द हैं तुम उन पर मत रुकना। उनके अगोचर में जो भाव व्यंजित होना हो उसी में पहुँचकर जो पाओगे पाओगे। वहीं पहुँचो हम-तुम पर रुको नहीं। राह में जो बाधा है लाँघते जाओ लाँघते जाओ उत्सर्गित होने में ही बाधा की सार्थकता है।

बोले — जैनेन्द्र मुझे कुछ ठीक नहीं मालूम। मैं बंगाली नहीं हूँ। वे लोग भावुक हैं। भावुकता से जहाँ पहुँच सकते हैं वहाँ मेरी पहुँच नहीं। मुझमें उतनी देन नहीं? ज्ञान से जहाँ नहीं पहुँचा जाता वहाँ भी भावना से पहुँचा जाता है। वहाँ भावना से ही पहुँचा जाता है। लेकिन जैनेन्द्र मैं सोचता हूँ काठिन्य भी चाहिए।

कहकर प्रेमचन्द जैसे कन्या की भाँति लज्जित हो उठे। उनकी मूँछें इतनी घनी थीं कि बेहद। उनमें सफ़ेद बाल तब भी रहे होंगे। फिर भी मैं कहता हूँ वह कन्या की भाँति लज्जा में घिर गये। बोले — जैनेन्द्र रवीन्द्र शरत् दोनों महान् हैं। पर हिन्दी के लिए क्या वही रास्ता है? मेरे लिए तो वह राह नहीं ही है।

उनकी वाणी में उस समय स्वीकारोक्ति ही बजती मुझे सुन पड़ी। व्यंग्योक्ति की तो वहाँ संभावना ही न थी।

बातों का सिलसिला अभी और भी चलता लेकिन भीतर से खबर आयी कि अभी डाक्टर के यहाँ से दवा तक लाकर नहीं रखी गयी है, ऐसा हो क्या रहा है! दिन कितना चढ़ गया क्या इसकी भी खबर नहीं है?

प्रेमचंद अप्रत्याशित भाव से उठ खड़े हुए। बोले — ज़रा दवा ले आऊँ, जैनेन्द्र। देखो बातों में कुछ खयाल ही न रहा।

कहकर इतने ज़ोर से क़हक़हा लगाकर हँसे कि छत के कोनों में लगे मकड़ी के जाले हिल उठे। मैंने इतनी खुली हँसी जीवन में शायद ही कभी सुनी थी।*

गांधीजी ने वाइसराय को जो खत २ मार्च को लिखा था उसका बहुत ही ठण्डा, बहुत ही रूखा, नौकरशाहियत से भरा हुआ जवाब उधर से आया — हमें बड़ा खेद है कि मि. गांधी एक ऐसा रास्ता अपनाने की सोच रहे हैं जिसमें स्पष्ट रूप से कानून का उल्लंघन होगा और सार्वजनिक शान्ति के लिए संकट उपस्थित होगा

गांधीजी ने जवाब दिया — घुटने टेककर मैंने रोटी माँगी थी और मुझे पत्थर मिला। अंग्रेज जाति केवल शक्ति की भाषा समझती है। वाइसराय के जवाब से मुझे कोई ताज्जुब नहीं हुआ। वह क़ौम एक ही सार्वजनिक शान्ति जानती है और वह सार्वजनिक कारागार की शान्ति है। हिन्दुस्तान एक विराट् क़ैदखाना है। मैं इस (अंग्रेजी) कानून को मानने से इन्कार करता हूँ और इस अनिवार्य निर्विकल्प शान्ति की संतप्त एकरसता को भंग करना अपना पुनीत कर्तव्य समझता हूँ जिससे राष्ट्र का हृदय भीतर ही भीतर घुटा जा रहा है।

महाभारत आरम्भ होनेवाला है। कुरुक्षेत्र में सेनाएँ आमने-सामने खड़ी हैं। रणभेरी बजने की देर है।

मुंशीजी भी अपने घर के एक कोने में बैठे हुए इसी महाभारत की अपनी तैयारियों में लगे हैं। मुल्क को क़लम के सिपाहियों की कुछ कम ज़रूरत नहीं है। वह क़लम के सिपाही हैं। अकबर ने कहा है, जब तोप मुक़ाबिल हो अख़बार निकालो। बात मज़ाक़ में कही गयी है मगर मज़ाक़ नहीं है।

सन् २९ खत्म और ३० शुरू होते-होते उन्होंने चारों तरफ़ डोरे डाल दिये थे कि वह 'हंस' के नाम से एक साहित्यिक-राजनीतिक मासिकपत्र निकालने जा रहे हैं।

१२ फ़रवरी १९३० को निगम साहब को लिखा — "मैं फागुन यानी नये साल से एक हिन्दी रिसाला 'हंस' निकालने जा रहा हूँ। ६४ सफ़हात का होगा और

ज़्यादातर अफ़सानों से ताल्लुक़ रखेगा। है तो हिमाक़त[1] ही, दर्दे सर बहुत और नफ़ा कुछ नहीं, लेकिन हिमाक़त करने को जी चाहता है। ज़िन्दगी हिमाक़तों में गुज़र गयी, एक और सही।"

मानो कि मुंशीजी अपनी तैयारियों में किसी से पीछे रह जानेवाले असामी नहीं हैं। गांधीजी की डांडी यात्रा २५ मार्च को शुरू हुई। मुंशीजी उसके पन्द्रह रोज पहले ही अपना मार्च का अंक लेकर, मैदान में आ डटे थे।

हंस की नीति की घोषणा करते हुए उन्होंने लिखा —

"हंस के लिए यह परम सौभाग्य की बात है कि उसका जन्म ऐसे शुभ अवसर पर हुआ है जब भारत में एक नये युग का आगमन हो रहा है, जब भारत पराधीनता की बेड़ियों से निकलने के लिए तड़पने लगा है। इस तिथि की यादगार एक दिन देश में कोई विशाल रूप धारण करेगी।

कहते हैं, जब श्री रामचन्द्र जी समुद्र पर पुल बांध रहे थे उस वक्त छोटे छोटे पशु-पक्षियों ने मिट्टी ला-लाकर समुद्र के पाटने में मदद दी थी। इस समय देश में उससे कहीं विकट संग्राम छिड़ा हुआ है। भारत ने शान्तिमय समर की भेरी बजा दी है। हंस भी मानसरोवर की शान्ति छोड़कर, अपनी नन्हीं-सी चोंच में चुटकी भर मिट्टी लिये हुए समुद्र पाटने — आज़ादी की जंग में योग देने — चला है। समुद्र का विस्तार देखकर उसकी हिम्मत छूट रही है, लेकिन संघ-शक्ति ने उसका दिल मज़बूत कर दिया है।

न डोमिनियन मांगे से मिलेगा न स्वराज्य। जो शक्ति डोमिनियन छीनकर ले सकती है, वह स्वराज्य भी ले सकती है। इंगलैण्ड के लिए दोनों समान हैं। डोमिनियन स्टेटस में गोलमेज़ कान्फ्रेन्स का उलझावा है, इसलिए वह भारत को इस उलझावे में डालकर भारत पर बहुत दिनों तक राज्य कर सकता है। फिर उसमें किस्तों की गुंजाइश है। और किस्तों भी अवधि एक हज़ार वर्षों तक बढ़ाई जा सकती है। इसलिए इंगलैण्ड का डोमिनियन स्टेटस के नाम से न घबड़ाना समझ में आता है। स्वराज्य में किस्तों की गुंजाइश नहीं, न गोलमेज़ का उलझावा है, इसलिए वह स्वराज्य के नाम से भाला पर हाथ रखता है, लेकिन हमारे ही भाइयों में इस प्रश्न पर क्यों मतभेद है, इसका रहस्य आसानी से समझ में नहीं आता। वे इतने नासमझ तो हैं नहीं कि इंगलैण्ड की इस चाल को न समझते हों। अनुमान यही होता है कि इस चाल को समझकर भी वे डोमिनियन के पक्ष में हैं तो इसका कुछ और आशय है। डोमिनियन पक्ष को गौर से देखिए तो उसमें हमारे राजे

---

१ मूर्खता

महराने हमारे जमींदार, हमारे धनीमानी भाई ही ज्यादा नजर आते हैं। क्या इसका यह कारण है कि वे समझते हैं कि स्वराज्य की दशा में उन्हें बहुत कुछ दबकर रहना पड़ेगा ? स्वराज्य में मजदूरों और किसानों की आवाज इतनी निर्बल न रहेगी ? क्या यह लोग उस आवाज के भय से थरथरा रहे हैं ? हमें तो ऐसा ही जान पड़ता है। वह अपने दिल में समझ रहे हैं कि उनके हितों की रक्षा अंग्रेजी शासन ही से हो सकती है। स्वराज्य कभी उन्हें गरीबों को कुचलने और उनका रक्त चूसने न देगा। स्वराज्य गरीबों की आवाज है डोमिनियन गरीबों की कमाई पर मोटे होनेवालों की। •

सभी स्वाधीनता चाहनेवालों का सम्मिलित आन्दोलन है यह लेकिन स्वाधीनता का अर्थ सबके लिए एक नहीं है। सबके अलग-अलग चित्र हैं अलग-अलग परिकल्पनाएं हैं। समान बात सब में एक ही है — विदेशी दासता से मुक्ति। उसके बाद सबको छूट है, जैसे चाहे जिस ओर चाहे वे चलें। मुंशीजी के पास भी अपनी तसवीर है, उसी को उन्हें रखना है देश के सामने और जुटाना है देशवालों के लिए नैतिक-मानसिक आहार जिस पर आजादी के सैनिक पलते हैं और राजनीति की कहानी शुरू होती है।

महात्माजी के पत्र के बारे में मुंशीजी ने लिखा —

• महात्माजी ने वाइसराय को जो पत्र लिखा है उसे अल्टीमेटम कहना उस पत्र के महत्व को मिटाना है। वह एक सच्चे आत्मदर्शी हृदय के उद्गार हैं। उसमें एक भी ऐसा शब्द नहीं है जिसमें अभिमान क्रोध द्वेष या कटुता की गंध हो। महात्मा गांधी ने स्पष्ट कर दिया है कि हम पद के लिए अधिकार के लिए स्वराज्य नहीं चाहते हम स्वराज्य चाहते हैं उन भूखे बेजबान आदमियों के लिए जो दिन-दिन दरिद्र होते जा रहे हैं। अगर आज सभी अंग्रेज अफसरों की जगह हिन्दोस्तानी हो जायें तब भी हम स्वराज्य से उतने ही दूर रहेंगे जितने इस वक्त हैं। हमारा उद्देश्य तो तभी पूरा होगा जब हमारी दरिद्र क्षुधित वस्त्रहीन जनता की दशा कुछ सुधरेगी। मगर हमारे ही देश में हमारे ही कुछ ऐसे भाई हैं जिन्हें इस निवेदन में कोई नयी बात कोई नया सन्देश नहीं नजर आता। वह अब भी यही रट लगाये जा रहे हैं कि महात्मा जी आग से खेल रहे हैं, समाज की जड़ खोदनेवाली शक्तियों को उभार रहे हैं। जिन्हें अंग्रेजों के साथ मिलकर प्रजा को लूटते हुए अपना स्वार्थ सिद्ध करने का अवसर प्राप्त है वे इसके सिवा और कह ही क्या सकते हैं। वे अपना स्वार्थ देखते हैं, अपनी प्रभुता का सिक्का जमते देखना चाहते हैं। उनके स्वराज्य में गरीबों को, मजदूरों को किसानों को स्थान नहीं है, स्थान है केवल अपने लिए। मगर जिस व्यक्ति के हृदय में गरीबों की दिन-दिन गिरती हुई दशा

देखकर ज्वाला-सी उठती रहती है, जो उसकी मूक वेदना देख-देखकर तड़प रहा है वह किसी ऐसे स्वराज्य की कल्पना से संतुष्ट नहीं हो सकता जिसमें कुछ ऊँचे दर्जे के आदमियों का हित हो और प्रजा की दशा ज्यों की त्यों बनी रहे। हमारी लड़ाई केवल अंग्रेज सत्ताधारियों से नहीं हिन्दुस्तानी सत्ताधारियों से भी है। हमें एस लक्षण नजर आ रहे हैं कि यह दोनों सत्ताधारी इस अधार्मिक संग्राम में आपस में मिल जायेंगे और प्रजा को दबाने की इस आन्दोलन को कुचलने की कोशिश करेंगे ●

मुंशीजी पुराने बागी हैं। राष्ट्रीय आन्दोलन के जोशीले सिपाही हैं—कलम के सिपाही—लेकिन अपने सोचने-विचारने पर किसी तरह की कैद या पाबन्दी उन्हें मंजूर नहीं है। हमेशा सबसे दो कदम आगे रहते हैं। कोई गम नहीं अगर आज लोग उस तरह से नहीं सोचते या सोचते डरते हैं—कल के रोज सोचेंगे उनकी हिम्मत खुलेगी।

और इस तरह वह अपनी चौकी सँभालकर बैठ जाते हैं योगी की तरह अपना ध्यान सब ओर से समेटकर प्रस्तुत संघर्ष पर केन्द्रित कर लेते हैं और कलम तेजी से दौड़ने लगता है। हर महीने एक कहानी और एक-आ लेख कभी दो कहानियाँ भी (जुलूस समर-यात्रा पत्नी से पति शराब की दूकान मैकू) और गहन क्षोभ से तिलमिलाते हुए संपादकीय

नये उपन्यास की घोषणा भी पहले ही अंक में आ गयी थी (कि वह अगले अंक से धारावाहिक प्रकाशित होगा) लेकिन काम की उस भीड़ में वह संभव नहीं हुआ बस कथानक और चरित्रों का एक हल्का-सा प्रारूप समर-यात्रा कहानी म अपनी झलक दिखाकर रह गया कर्मभूमि लिखने की घड़ी आयी तब जब एक ओर संघर्ष तेज हुआ उसकी शक्ल कुछ और साफ हुई और दूसरी ओर प्रेम की जमानत और पत्नी की गिरफ्तारी से रणभूमि घर क भीतर घुस आयी!

लेकिन वह अभी कुछ आगे की बात है।

२५ मार्च को गांधीजी ने डांडी-यात्रा शुरू की और ६ अप्रैल को वहीं समुद्र किनारे नमक सत्याग्रह और नमक बनाना शुरू हुआ—जो कि सारे देश क लिए आन्दोलन शुरू करने का संकेत था। जगह-जगह नमक बनने लगा शराब और विदेशी कपड़ा की दूकानों पर धरना दिया जाने लगा।

मुंशीजी ने ७ अप्रैल को निगम साहब को लिखा— इस समर ने तरद्दुद[1] में डाल रखा है। इत्मीनाने-कल्ब[2] रुख्सत हो रहा है।

---

१ मानसिक उलझन २ हृदय की शांति

इसके जवाब में भारत के सारे नियम साहब ने कहीं शायद यह लिख दिया कि नमक-आन्दोलन बेवक़्त छेड़ा गया है। फिर क्या था, मुंशीजी ने फ़ौरन पलटकर २१ अप्रैल १९३० के अपने लेख में कहा गया—

नमक को आप क़ब्ल-अज़-वक़्त[1] ख़याल करते हैं। जिस तरह मौत हमेशा क़ब्ल-अज़-वक़्त होती है, साहूकार का तक़ाज़ा हमेशा क़ब्ल-अज़-वक़्त होता है उसी तरह ऐसे सारे काम जिनसे हमें माली या जिस्मानी नुक़सान का अंदेशा हो क़ब्ल-अज़-वक़्त मालूम होते हैं। इस तहरीक[2] की मक़बूलियत[3] ही बतला रही है कि यह क़ब्ल-अज़-वक़्त नहीं है।

और फिर हंस में लिखा—

'पहले किसी की समझ में न आया कि महात्मा जी क्या करने जा रहे हैं। मज़ाक़ भी उड़ाया गया। एक अख़बार ने अपने सरकारी टट्टुओं को जमा करके अपने दिल के फफोले फोड़ते हुए इस संग्राम को दुस्साहस प्रहसन बतलाया। गवर्नर साहब को क्या मालूम था कि यह दुस्साहस प्रहसन दो सप्ताह ही में आज़ादी का एक प्रचण्ड प्रवाह सिद्ध हो जायगा जिसे नौकरशाही की सारी संगठित शक्ति भी न रोक सकेगी। वह सब किया गया जो ऐसी परिस्थितियों में स्वेच्छाचारी शासन किया करता है। हमारे नेता चुन-चुनकर जेल भेज दिये गये, अफ़सरों को नये-नये अधिकार दिये गये, वाइसराय ने भी अपने सुरक्षित अस्त्र निकाल लिये, यहाँ तक कि इस लू और गर्मी में देवताओं को पर्वतशिखरों से दो-एक बार उतरकर नीचे आना पड़ा, जो भारत के इतिहास में अनहोनी बात थी—लेकिन स्वराज्य सेना के क़दम आगे ही बढ़ जाते हैं। जैसे बच्चे हार जाते हैं तो दाँत काटने लगते हैं, वही हाल नौकरशाही का हो रहा है। कहीं निहत्थी जनता पर डंडों और गोलियों की बौछार हो रही है, कहीं जनता में फूट डालने की कोशिश हो रही है। छापों पर रोक लगायी जा रही है। तार की ख़बरों का सेन्सर हो रहा है। न कोई क़ानून है न क़ायदा न नीति न धर्म। बस विकार देखिए, बदहवासी, एक घबराये हुए आदमी की बौखलाहट। मगर हम इन बातों की शिकायत नहीं करते। इन्हीं अत्याचारों से तो हमारी विजय है। सन्निपात मौत के चिह्न हैं। हम तो महात्माजी की सूझ-बूझ के क़ायल हैं। [illegible]' न जाने कहाँ से नमक-कर खोज निकाला कि उसने देखते-देखते देश में आग लगा दी। अंग्रेज़ी राज्य के पहले भारत में यह कर कभी न लगाया गया था। आज भी दुनिया भर में भारत ही एक ऐसा देश है जहाँ नमक पर कर लगाया

---

१ समय से पहले २ आन्दोलन ३ लोकप्रियता

देखकर ज्वाला-सी उठती रहती है, जो उनकी मूक वेदना देख-देखकर तड़प रहा है वह किसी ऐसे स्वराज्य की कल्पना से संतुष्ट नहीं हो सकता जिसमें कुछ ऊँचे दर्जे के आदमियों का हित हो और प्रजा की दशा ज्यों की त्यों बनी रहे। हमारी लड़ाई केवल अंग्रेज सत्ताधारियों से नहीं हिन्दुस्तानी सत्ताधारियों से भी है। हमें ऐसे लक्षण नज़र आ रहे हैं कि यह दोनों सत्ताधारी इस अधार्मिक संग्राम में आपस में मिल जायँगे और प्रजा को दबाने की इस आन्दोलन को कुचलने की कोशिश करेंगे

●

मुंशीजी पुराने बागी हैं। राष्ट्रीय आन्दोलन के जोशीले सिपाही हैं—क़लम के सिपाही—लेकिन अपने सोचने-विचारने पर किसी तरह की क़ैद या पाबन्दी उन्हें मंज़ूर नहीं है। हमेशा सबसे दो क़दम आगे रहते हैं। कोई ग़म नहीं अगर आज लोग उस तरह से नहीं सोचते या सोचते डरते हैं—कल के रोज़ सोचेंगे उनकी हिम्मत खुलेगी।

और इस तरह वह अपनी चौकी सँभालकर बैठ जाते हैं, योगी की तरह अपना ध्यान सब ओर से समेटकर प्रस्तुत संघर्ष पर केन्द्रित कर लेते हैं और क़लम तेज़ी से दौड़ने लगता है। हर महीने एक कहानी और एक-दो लेख कभी दो कहानियाँ भी (जुलूस समर-यात्रा पत्नी से पति शराब की दूकान मैकू) और सघन भाव से तिलमिलाते हुए संपादकीय

नये उपन्यास की घोषणा भी पहले ही अंक में आ गयी थी (कि वह अगले अंक से धारावाहिक प्रकाशित होगा) लेकिन काम की उस भीड़ में वह संभव नहीं हुआ बस कथानक और चरित्रों का एक हल्का-सा प्रारूप समर-यात्रा कहानी में अपनी झलक दिखाकर रह गया कर्मभूमि लिखने की घड़ी आयी तब जब एक ओर गबन तैयार हुआ उसकी राजनीति कुछ और साफ़ हुई और दूसरी ओर प्रेस की ज़मानत और पत्नी की गिरफ़्तारी से कर्मभूमि घर के भीतर घुस आयी!

लेकिन वह अभी कुछ आगे की बात है।

२५ मार्च को गांधीजी ने डांडी-यात्रा शुरू की और ६ अप्रैल को वहाँ समुद्र किनारे नमक बटोरना और नमक बनाना शुरू हुआ—जो कि सारे देश में सविनय आन्दोलन शुरू करने का संकेत था। जगह-जगह नमक बनने लगा शराब और विदेशी कपड़ों की दूकानों पर धरना दिया जाने लगा।

मुंशीजी ने ७ अप्रैल को निगम साहब को लिखा— इस नमक ने हिन्दुस्तान में जान डाल दी है। इत्मीनाने-क़ल्ब हासिल हो रहा है।

---

१ मार्मिक उद्गार २ हृदय की वार्ता

इसके जवाब में आफ़त के मारे मिण्टो साहब ने कहीं शायद यह लिख दिया कि नमक-आन्दोलन बेवक़्त छेड़ा गया है। फिर क्या था, मुंशीजी ने फ़ौरन पलटकर २१ अप्रैल १९३० के अपने ख़त में दे मारा —

नमक को आप क़ब्ल-अज़-वक़्त[1] ख़याल करते हैं। जिस तरह मौत हमेशा क़ब्ल-अज़-वक़्त होती है, साहूकार का तक़ाज़ा हमेशा क़ब्ल-अज़-वक़्त होता है उसी तरह ऐसे सारे काम जिनमें हमें जानी या माली नुक़सान का अन्देशा हो क़ब्ल-अज़-वक़्त मालूम होते हैं। इस तहरीक[2] की मक़बूलियत[3] ही बतला रही है कि वह क़ब्ल-अज़-वक़्त नहीं है।

और फिर हंसवाणी में लिखा —

'पहले किसी की समझ में न आया कि महात्मा जी क्या करने जा रहे हैं। मज़ाक़ भी उड़ाया गया। एक गवर्नर ने अपने ख़ुशामदी टट्टुओं को जमा करके अपने दिल के फफोले फोड़ते हुए इस संग्राम को दुःखमय प्रहसन बतलाया। गवर्नर साहब को क्या मालूम था कि यह दुःखमय प्रहसन दो सप्ताह ही में आज़ादी का एक प्रचण्ड प्रवाह सिद्ध हो जायगा जिसे नौकरशाही की सारी संगठित शक्ति भी न रोक सकेगी। वह सब किया गया जो ऐसी परिस्थितियों में स्वेच्छाचारी शासन किया करता है। हमारे नेता चुन चुनकर जेल भेज दिये गये अफ़सरों को नये-नये अधिकार दिये गये वाइसराय ने भी अपने स्वरक्षित अस्त्र निकाल लिये यहाँ तक कि इस लू और गर्मी में देवताओं को पर्वतशिखरों से दो-एक बार उतरकर नीचे आना पड़ा जो भारत के इतिहास में अनहोनी बात थी — लेकिन स्वराज्य सेना के कदम आगे ही बढ़ते जाते हैं। जैसे बच्चे हार जाते हैं तो दाँत काटने लगते हैं वही हाल नौकरशाही का हो रहा है। कहीं निहत्थी जनता पर डंडों और गोलियों की बौछार हो रही है, कहीं जनता में फूट डालने की कोशिश हो रही है। फ़िल्मों पर रोक लगायी जा रही है। तार की ख़बरों का सेन्सर हो रहा है। न कोई क़ानून है न क़ायदा न नीति न धर्म। बस जिधर देखिए, जबड़ों से एक घबराये हुए आदमी की बौखलाहट। मगर हम इन बातों की शिकायत नहीं करते। इन्हीं अन्यायों से तो हमारी विजय है। दमनपात भीति के चिह्न हैं। हम तो महात्माजी की सूझ-बूझ के क़ायल हैं। जो बात की ख़ुदा की क़सम लाजवाब की! न जाने कहाँ से नमक-कर खोज निकाला कि उसने देखते-देखते देश में आग लगा दी। अंग्रेज़ी राज्य के पहले भारत में यह कर कभी न लगाया गया था। आज भी दुनिया भर में भारत ही एक ऐसा देश है जहाँ नमक पर कर लगाया

१ समय से पहले २ आन्दोलन ३ लोकप्रियता

जाता है। मुसलिम स्मृतिकारों ने तो नमक, हवा और पानी पर कर लगाना निषिद्ध बतलाया है पर हम १५० वर्षों से यह कर देते आये हैं और मजा यह कि जिस वस्तु पर दो आना मन लागत आवे उस पर बीस आने मन कर लिया जाता है।

सबसे बड़ी बात यह है कि इस कर को सामूहिक रूप से निहायत आसानी से तोड़ा जा सकता है। ऐसा कोई भू-भाग नहीं जहाँ लोनी मिट्टी न हो और शहर या गाँव दोनों ही जगहों के आदमी बड़ी संख्या में जमा होकर इसे तोड़ सकते हैं और सरकारी नमक को बाजार से निकाल बाहर कर सकते हैं।

नमक के इन तूफानी दिनों में मुंशीजी अमीनुद्दौला पार्क में रहे। घर से लगा हुआ कांग्रेस का दफ्तर था। यानी आन्दोलन का हेडक्वार्टर। और सामने अमीनुद्दौला पार्क। शहर के सारे जुलूस वहीं आकर खत्म होते थे और हर शाम एक न एक मीटिंग का आयोजन रहता था। वहीं पर नमक बनता, वहीं पर विदेशी कपड़ों की होली जलती। कितनों ही को मुंशीजी ने अपने हाथ से खद्दर का कुर्ता-टोपी पहनाकर, पान का बीड़ा देकर और उनकी पत्नी ने माथे पर तिलक लगाकर नमक पार्क में नमक बनाने के लिए भेजा।

आन्दोलन के दूसरे पहलुओं पर भी निगाह रखते हुए मुंशीजी ने लिखा—

'कहा जा रहा है, और लिखा जा रहा है कि मुसलमान इस आन्दोलन में कांग्रेस के साथ नहीं हैं। मुसलमान नेता जायदाद जब्त कराकर कैद हों, मार खायें, कितनी ही कांग्रेस कमेटियों के प्रधान और मंत्री हों लेकिन फिर भी यह कहा जाता है कि मुसलमान कांग्रेस के साथ नहीं हैं। मालूम नहीं यह यह कह-कहकर किसे धोखा देना चाहते हैं। हाँ हम यह मानने को तैयार हैं कि हमारे खान बहादुर साहबान जिनकी संख्या ईश्वर की दया से अंग्रेजों की अनुकम्पा होने पर भी बहुत ज्यादा नहीं बेशक हमारे साथ नहीं हैं। मगर राय साहब नहीं हैं तो राय साहब भी तो नहीं हैं। यों कहिए कि यह उन लोगों का आन्दोलन है जो अपने सारे कष्टों का साधन एकमात्र स्वराज्य ही को समझते हैं, जो गरीब हैं, भूखे हैं, दलित हैं या जो रोष से भरा हुआ देशाभिमान से धड़कता हुआ हृदय रखते हैं और यह देखकर जिनका खून खौलने लगता है कि कोई दूसरा हमारे ऊपर शासन करे। इसमें न हिन्दू की कैद है न मुसलमान की।'

इन्हीं दिनों मुंशीजी की मुलाकात एक खुशमिजाज मुसलमान नवयुवक से हुई जो प्रेस का काम करता था। इस अचानक मुलाकात ने धीरे-धीरे बड़ी अच्छी दोस्ती का रूप ले लिया और आगे चलकर हुसेन बराबर घर आने लगे। अपनी इस पहली मुलाकात के बारे में वह लिखते हैं—

"बिल्कुल अचानक अप्रैल १९३० की एक शाम लगभग कांग्रेस के दफ्तर में

उनसे मेरी मुलाक़ात हुई। मैं किसी छोटे-मोटे काम से वहाँ गया था एकाएक मेरे दिल में ख़याल आया कि किसी से सफ़ेदवाले गाने का मतलब पूछना चाहिए। मार्च करते वक़्त मैं भी अपने साथ के दूसरे वालंटियरों के साथ उसको गाता था लेकिन उसका मतलब मैं कुछ न समझता था हिन्दी की मेरी जानकारी नहीं के बराबर थी। वहाँ पर जो लोग थे उनमें से ज़्यादातर मुझसे कुछ बहुत ज़्यादा लायक़ न थे। तभी किसी ने कहा चलो प्रेमचन्दजी से पूछें और यह कहकर एक आदमी की ओर मुड़ा जो खद्दर की धोती-कुर्ता-टोपी पहने कुछ यों ही से फटीचर लोगों के साथ चुपचाप एक बेंच पर बैठा था। मैंने पहले भी उसको देखा था जब कभी शाम को मुझे वहाँ दफ़्तर में जाने का मौक़ा आया था—वैसे मैं अक्सर वहाँ जाता नहीं था और अपने हल्क़े यानी मदरास और चौक में बना रहता था—लेकिन कभी कोई ख़ास ध्यान नहीं दिया था। उसके चेहरे-मोहरे कपड़े-लत्ते किसी में कोई ख़ास बात न थी और फिर वह बहुत ख़ामोश और दीन हीन-सा आदमी था। मैंने कभी उसे बड़े लोगों से बातें करते नहीं देखा वह तो अपने ही जैसे दीन-हीन अति साधारण लोगों के साथ बस एक बेंच पर बैठा रहता था कि जैसे वहाँ पर बैठने और लोगों की बातचीत सुनने के अलावा उसे और किसी चीज़ से कोई मतलब न हो। इन सारी बातों से वह आदमी इतना साधारण इतना अ-विशेष जान पड़ता था कि प्रेमचन्द जी नाम का भी तत्काल मेरे मन पर कोई असर नहीं हुआ। मुझे कुछ देर लगी उनको पहचानने में।

अपनी इच्छाओं आकांक्षाओं के बारे में अपने मन की झाँकी देते हुए उन्होंने इन्हीं दिनों अपने मित्र बनारसीदास चतुर्वेदी को लिखा था—

मेरी आकांक्षाएँ कुछ नहीं हैं। इस समय तो सबसे बड़ी आकांक्षा यही है कि हम स्वराज्य-संग्राम में विजयी हों। धन या यश की लालसा मुझे नहीं रही। खाने भर को मिल ही जाता है। मोटर और बँगले की मुझे हवस नहीं। हाँ यह ज़रूर चाहता हूँ कि दो-चार ऊँची कोटि की पुस्तकें लिखूँ पर उनका उद्देश्य भी स्वराज्य-विजय ही है। मुझे अपने दोनों लड़कों के विषय में कोई बड़ी लालसा नहीं है। यही चाहता हूँ कि वह ईमानदार, सच्चे और पक्के इरादे के हों। विलासी धनी ख़ुशामदी सन्तान से मुझे घृणा है। मैं शान्ति से बैठना भी नहीं चाहता। साहित्य और स्वदेश के लिए कुछ न कुछ करते रहना चाहता हूँ। हाँ रोटी दाल और तोला भर घी और मामूली कपड़े मयस्सर होते रहें।

आन्दोलन दिनोंदिन ज़ोर पकड़ता जा रहा है। मुंशीजी भी अपनी चौकी सम्हाले बैठे हैं। उनके हाथ में भी एक मज़बूत हथियार है सांस्कृतिक अस्त्र पूरी

लाग धड़ाधड़ गिरने लगे और हमारे अफ़सर लोग   खुश हो-होकर तालियाँ बजाने लगे। वाह क्या बहादुरी है, क्या डिसिप्लिन है!

हुकूमत के लिए इसको पचा पाना मुश्किल था। अगले महीने प्रेस से एक हज़ार की ज़मानत माँग ली गयी। अब तक चार अंक निकले थे और पाँचवें अंक के चार फ़ार्म छपे थे। ज़मानत हंस से नहीं प्रेस से माँगी गयी थी इसलिए मुंशीजी ने चाहा कि दूसरे किसी प्रेस में छपाने का प्रबन्ध कर लें लेकिन कोई प्रेस तैयार न हुआ यहाँ तक कि वह अधूरा अंक भी पूरा नहीं किया जा सका।

ज़मानत तलब होने के अगले ही रोज़ मुंशीजी ने निगम साहब को लिखा—प्रेस ऐक्ट का वार मुझ पर भी हो ही गया। एक हज़ार की ज़मानत तलब हुई है। कल बनारस जा रहा हूँ। ज़मानत देकर रिसाला इस निकालना तो मुझे ख़तरनाक मालूम होता है। मैं तो सोचता हूँ रिसाला बंद कर दूँ और इसके साथ ही प्रेस भी।

इसी जुलाई के महीने में बीस तारीख को स्वरूपरानी नेहरू लखनऊ आयीं। सीधी-सादी घरेलू स्त्री थीं लेकिन संघर्ष की पुकार ने उन्हें भी घर से बाहर ला खड़ा किया। बेटा १४ अप्रैल को ही जेल चला गया था, १० जून को पति भी पकड़ लिये गये, फिर वह कैसे घर में बन्द रही आतीं। गांधीजी भी इधर कुछ महीनों से ताड़ी-शराब और विदेशी कपड़े की दुकानों पर धरना देने के लिए विशेषरूप से स्त्रियों का आवाहन कर रहे थे। लखनऊ में अब तक स्त्रियाँ आगे नहीं आयी थीं, जवाहरलाल की माँ के दौरे ने जैसे सबको झकझोरकर जगा दिया।

और शिवरानी देवी भी, जिन्हें बेटी की शादी के बाद अब अपने कंधे यों भी कुछ हल्के लग रहे थे, कांग्रेस का झंडा लेकर मैदान में निकल पड़ीं—लेकिन पति की नज़र बचाकर क्योंकि सेहत अच्छी न थी। मुंशीजी उधर दफ़्तर जाते, लड़के स्कूल जाते और शिवरानी देवी अपने साथ की दूसरी औरतों को लेकर कांग्रेस के काम पर निकल जातीं।

एक रोज़ चन्दा माँगते-माँगते वह लोग एक बड़ी ओहदेदार स्त्री के पास जा पहुँचे। पूरी दीवान की पत्नी थी। बहुत बुढ़िया धनवानिन भी थीं। मीठी तो गालियाँ दीं उसने इन लोगों को एक से एक चुनी हुई और पैसा धर नहीं। लेकिन शिवरानी देवी ने भी ज़िद पकड़ ली कि इसमें कुछ लिये बिना हम न जायेंगे। सब औरतें धरना देकर बैठ गयीं। आख़िर जब बुढ़िया सब कुछ करके हार गयी और इन औरतों ने टलने का नाम न लिया तो उसने खीझकर एक दुअन्नी फेंकी—जा पास ही नाली में जा गिरी। अब कोई उसे वहाँ से निकाले नहीं। लेकिन छोड़ा भी कैसे

आय उस मेहनत — और हिम्मत — की कमाई को। आखिरकार इकट्ठी निकली और स्त्रियों की वह टोली गाती-बजाती वहाँ से विदा हुई।

लेकिन कहीं बड़ा मीठा बड़ा सुहाना तजुर्बा भी होता था — जैसे कि लेडी वज़ीर हसन के यहाँ। ऊँची हवेली घर का लिहाज़ — एकाएक हिम्मत न पड़ती किसी को उनके यहाँ जाने की। आखिर एक रोज़ शिवरानी देवी ने हिम्मत की — अरे, फाँसी तो चढ़ा न देंगी बहुत करेंगी कुछ न देंगी जाने में क्या बुराई है। और वह लोग गये। लेडी वज़ीर हसन ने शायद कभी देखा होगा या कुछ सुना होगा शिवरानी देवी से पूछ बैठीं — बहन आप आज कहाँ निकल पड़ीं? शिवरानी देवी ने जवाब दिया — ऐसे बने निकले बिना बहन? सब लोग अगर घर में

लेडी वज़ीर हसन ने उन्हें जुमला नहीं पूरा करने दिया बोलीं आप ज़रा मेरे साथ आइए और अन्दर अपने कमरे में ले गयीं जहाँ एक चर्खा रखा था और ढेरों सूत की पुंडियाँ पड़ी थीं।

होते-होते महिला वालंटियरों की संख्या सात से साठ सौ पर पहुँची बाक़ायदा महिला आश्रम की स्थापना हुई जिसने कांग्रेस के ग़ैरक़ानूनी क़रार दिये जाने के बाद उसके एक खुले संगठन के रूप में काम किया जब तक कि खुद उस पर भी रोक नहीं लग गयी और शिवरानी देवी जो अपने निर्भीक अक्खड़ दबंग स्वभाव के कारण इस बीच अपनी स्वयंसेविकाओं में काफ़ी लोकप्रिय हो चुकी थीं अपनी टोली की कप्तान बनायी गयीं। मुंशीजी ने उस वक़्त मोहनलाल सक्सेना से जिनकी मुंशीजी शहर के सब कांग्रेस नेताओं से ज़्यादा इज़्ज़त करते थे शायद कहा भी कि यह तो ठीक नहीं हुआ यह तो उनको जेल भेजने की तैयारी है और उनका शरीर इस योग्य नहीं है

आखिर नवम्बर की ९ तारीख़ को वह पिकेटिंग करते हुए पकड़ ली गयी। मुंशीजी चार-पाँच रोज़ के लिए कहीं गये हुए थे — शायद बनारस।

११ तारीख़ के अपने ख़त में उन्होंने रामेश्वर बाबू (नन्हू जी) को इसकी ख़बर देते हुए लिखा —

तुम्हारी मौसी ९ तारीख़ को एक विलायती कपड़े की दुकान पर पिकेटिंग करते हुए पकड़ ली गयी। मैं कल उनसे जेल में मिला और हमेशा की तरह प्रसन्न पाया। उन्होंने हम लोगों को पछाड़ दिया और मैं अब अपनी ही आँखों में छोटा लग रहा हूँ। उनकी इज़्ज़त मेरी आँखों में सौ गुना बढ़ गयी। लेकिन अब जब तक कि वह आकर मुझे मुक्त नहीं कर देतीं मुझे गृहस्थी का बोझ उठाना पड़ेगा।

२४ को उनका फ़ैसला हुआ। दो महीने की सज़ा हुई। मुंशीजी ने अगले दिन जैनेन्द्र को लिखा —

इधर पन्द्रह दिन से इसी में परीशान रहा। मैं जाने का इरादा ही कर रहा था पर उन्होंने खुद आकर मेरा रास्ता बन्द कर दिया।

१२ नवम्बर से गोलमेज कान्फ्रेंस हो रही थी। मुंशीजी को उसमें कोई खास दिलचस्पी न थी — बस इतनी कि समझौता अगर हो तो इज्जत के साथ हो वर्ना अपने घर लौट आओ।

तब तक प्रेस आर्डिनेन्स उठ चुका था और तीन चार महीने का ग़ोता लगाने के बाद मुंशीजी फिर नवम्बर के महीने में उसी पुरानी आन-बान के साथ अपने मोर्चे पर आ डटे। आन्दोलन का भाटा अब तक शुरू हो गया था और लोगों में मुर्दनी छा चली थी। मुंशीजी का हौसला अब भी उसी बुलन्दी पर था। न उन्होंने नेताओं के साथ कहने पर आनन-फानन स्वराज्य हासिल करने की बात पर विश्वास किया था और न इसीलिए अब उन्हें अपने भीतर किसी तरह की पस्ती मालूम होती थी। यह तो लंबी बीमारी की तरह एक लंबी लड़ाई है — और सभी बीमारियों का उन्हें पुराना तजुर्बा था।

चार महीने की खामोशी के बाद फिर अपने मोर्चे पर लौटने पर पहली ज़रूरी चीज़ इन महीनों का लेखा-जोखा करना था और मुंशीजी ने 'स्वराज्य संग्राम में किसकी विजय हो रही है' शीर्षक से ऊपर-नीचे दायें-बायें सब तरफ़ से लोगों के मन के चोर को अपनी शक्ति भर बाहर घसीटते हुए लिखा —

हमें चारों ओर अपनी विजय के लक्षण दिखायी देते हैं और हम इसी तरह क्षेत्र में डटे रहेंगे तो निस्सन्देह हमारी मनोकामना पूरी होगी। जब राज सत्ता अपने ही बनाये हुए कानूनों को पैरों से रौंदना शुरू करे तो उसकी दशा उस पागल की-सी समझनी चाहिए जो आप ही अपनी देह को दाँतों से काटता है, आप ही अपना मांस नोचता है। ऐसा प्राणी बहुत दिन जीवित नहीं रह सकता। उसकी जिन्दगी का पैमाना लबरेज हो चुका है। आखिर इन विशेष कानूनों का क्या परिणाम हुआ? वही जो होना स्वाभाविक था। पिकेटिंग को सरकार ने बन्द करना चाहा था। पिकेटिंग का दिन-दिन जोर बढ़ता जा रहा है। समाचार पत्रों के बन्द करने से बेशक सरकार को सफलता हुई लेकिन कानून तोड़कर साइक्लोस्टाइल पर छपनेवाले पत्रों ने तो जागरण की लहर ही उठा दी। आन्दोलन का जोर सौ गुना बढ़ गया। इसमें भी सरकार को सफलता नहीं मिली। कहीं खादी पहनना अपराध है कहीं तकली का व्यवहार करना अपराध है। लार्ड इर्विन अगर मातहतों की इन हिमाकतों का समर्थन करते हैं तो वह अनुगामी हैं अगर नापसन्द करते हैं और कुछ नहीं बोल सकते तो कमज़ोर। मगर हमें न

उसमें कोई शिकायत है न उसके मामलों से। आपको डंड चलाना मुबारक हमें हल चलाना मुबारक।

ज़मींदारों का दल कांग्रेस से बिलकुल फिरंट था। लेकिन अगर उसे किसी तरह खींचकर न लाया जा सकता तो गाँवों में आन्दोलन को बड़ी ताक़त पहुँचती। बूढ़ों से उन्हें ज़्यादा उम्मीद न थी। बूढ़ा तोता राम राम नहीं पढ़ता। लेकिन जवान पीढ़ी से उम्मीद थी और भरपूर उम्मीद थी। लिहाज़ा बूढ़ों को लताड़ते हुए, कस-कसकर लगाते हुए और नयी पीढ़ी की ग़ैरत दिलाते हुए, जोश दिलाते हुए मुंशीजी ने वैसे ही बेबाक जैसे आप में उनका हुंकार लिखा अगर तुम क्षत्रिय हो —

अपने क्षत्रिय धर्म को पालो। क्या हम तुम्हें बतावें कि क्षत्रिय धर्म क्या है? यह तुम हमसे कहीं ज़्यादा जानते हो। यह धर्म अपने संस्कारों के रूप में लेकर तुमने जन्म लिया है। बत्तख के बच्चे को कोई तैरना सिखाता है या सिंह के बालक को शिकार करने की शिक्षा देनी होती है? क्या हम नौजवान क्षत्रियों से कहें आज तुम्हारा धर्म क्या है? तुम्हारे बुज़ुर्गों ने किस तरह अपने धर्म का पालन किया था? क्या ग़रीबों को पीसकर, किसानों का गला दबाकर छोटी-छोटी नौकरियों के लिए अफ़सरों की चौखट पर नाक रगड़-रगड़कर, ज़रा-सी रियायत के लिए नीच से नीच ख़ुशामद करके उपाधि और पदवी के लिए अधिकारियों के सामने मत्था टेककर ही उन्होंने धर्म का पालन किया था? कभी नहीं। वे सत्य की रक्षा में जानें लड़ा देते थे। मजाल न थी कि उनके देखते कोई बलवान किसी दुर्बल को दबा ले। उसका खून पी जाते। दीन की पुकार सुनकर उनके खून में जोश आ जाता था। ज़ुल्म की हेकड़ी देखकर आँखों में ख़ून उतर आता था। उनकी वीरता अफ़सरों के लिए शिकार खेलाने या उनको खुश करने के लिए पोलो खेलने तक रिज़र्व न थी।

क्या तुम भी उसी नीति को पालोगे जो अफ़सरों के स्वागत में ग़रीबों के पैसे उड़ाती है, जो दीनों के रक्त से अमीरों और विशेषतः अधिकारियों की दावतें करती है? नहीं जो लोग बूढ़े हो गये हैं जिनमें जोश नहीं जान नहीं मान नहीं जिनकी नसों में अभी तक नवाबों के ज़माने की आरामतलबी और ऐशपरस्ती भरी हुई है, उनको सलामियाँ करने या दावतें खिलाने या डालियाँ पेश करने या ख़ान-सामों और बैरों की ताबेदारियाँ करने दो, मगर तुम नौजवानों से हम यह आशा नहीं रखते क्योंकि तुमने उस युग में जन्म लिया है जब पृथ्वी के हरेक भाग में गुलामी की बेड़ियाँ टूट रही हैं। परम्परा के बन्धन ढीले हो रहे हैं। अन्याय एड़ियाँ रगड़ रहा है। सत्य और न्याय की विजय हो रही है। तुम्हारी आँखों के सामने

संसार में क्या-क्या तब्दीलियाँ हो गयीं, तुम नहीं जानते? रूस की बादशाही मिट गयी, ईरान की कजरशाही मिट गयी, टर्की की बादशाही मिट गयी, चीन की ख़ाक़ानी मिट गयी, जर्मनी की क़ैसरशाही मिट गयी, यहाँ तक कि स्पेन ने भी स्वाधीनता की साँस ली। मगर भारत कहाँ है? वहीं जहाँ था। चीन दुखी रहा। इसीलिए कि धर्मियों ने धर्म का पालन करना छोड़ दिया। क्या तुम जवान होकर भी उसी बूढ़ी, खूसट, लज्जास्पद, कायरता से भरी हुई, कुधारणा में डूबी हुई नीति का पालन करोगे? कभी नहीं। तुम नये युग के नामलेवा हो, तुम जवान हो, सजग हो, अभी नीच स्वार्थ ने तुम्हें अपने रंग में नहीं रँगा, अभी तुम्हारी कमर ने झुकना नहीं सीखा, तुम्हारे सिर ने सिजदे करना नहीं सीखा, तुममें जोश है।●

२८

मुंशीजी ने १२ जनवरी १९३१ को जैनेन्द्र को लिखा — हाँ पत्नी जी जा तो गयीं मगर शायद फिर जायें। अभी उन्हें सन्तोष नहीं। सारा स्वराज्य एक बार ही मैं न लेंगी किस्तों में नहीं चाहतीं।

बाहर अब हलचल न थी यों कहने को आन्दोलन अभी चल रहा था। अब न हवा में वह गर्मी थी और न नारों का वह शोर, न वह मीटिंगें न वह जुलूस न वह होलियाँ विलायती कपड़ों की न वह नमक के कड़ाहे न वह शराब की दुकानों पर न वह पुलिस की दरिन्दगी — सभी कुछ मगर पाले का मारा जैसे ठण्डा पड़ गया था।

बड़े जोश बड़ी उमंग बड़ी कुर्बानियों के बीच बीता था यह साल जो अभी गुज़रा था — मगर क्या हासिल? सब कुछ तो वैसे का वैसा था कहाँ पहुँचे हम? जब तक जोश का उफ़ान था ये सवाल नीचे कहीं दब पड़े थे। अब जोश उतर रहा था तो ये सवाल उठ रहे थे। यह ठीक है कि हमने एक बार गोराशाही को हिला दिया। यह भी ठीक है कि हमारे अन्दर थोड़ा-सा यह आत्मविश्वास आया कि हमारी मिट्टी पोली नहीं है, मुसमुसी नहीं है उसमें जान है जीवट है वक़्त पड़ने पर हम अनुशासन में बँध सकते हैं जान पर खेलकर लाठी-गोली का सामना कर सकते हैं। यह कुछ कम उपलब्धि नहीं है। इसीलिए तो मन में निराशा जैसी निराशा न थी। लेकिन थोड़ी पस्तहिम्मती ज़रूर थी — क्योंकि ऐसी कोई चीज़ न थी जिसे हम हाथ में लेकर कह सकते यह देखो हमने यह चीज़ अपने खून की कीमत देकर पायी है।

२६ जनवरी १९ १ पूर्ण स्वराज्य दिवस की पहली वर्षगाँठ के दिन गांधीजी जवाहरलाल और दूसरे बड़े नेता छोड़े गये। मोतीलाल नेहरू मृत्युशय्या पर थे। गांधीजी बम्बई से सीधे इलाहाबाद आये। मोतीलाल जी के दिन पूरे हो चुके थे। ६ फरवरी को उनका देहान्त हो गया। गोलमेज़ कान्फ्रेंस के लोग भी उन्हीं दिनों लौट रहे थे। जितने मुँह उतनी बातें। लेकिन असल बात एक न कहता था — कि बस घूमना हाथ लगा एक गोलमेज़ के चारों तरफ़, गोल गोल

गांधीजी ने अर्विन को पत्र भेजा और उसके कुछ रोज बाद समझौते की बातचीत का लम्बा सिलसिला चला। महीने भर बाद और डांडी यात्रा के पहले भेजे गये 'अल्टीमेटम' वाले खत के ठीक एक साल बाद जब ५ मार्च को समझौता तैयार हुआ और कुछ रोज बाद उस कांग्रेस के कराची अधिवेशन के सामने पेश किया गया तो बड़े-बड़े दिमागों की बड़ी-बड़ी वकालत के बाद ही लोग उसका सर पैर समझ सके।

हंगामी दौर खत्म हो गया। यह ठहरकर दम लेने का वक्त है अपने मन के भीतर मंथन का—क्योंकि अभी फिर उठकर चलना है।

जनवरी के महीने में मुंशीजी ने 'मानसिक पराधीनता' पर लिखा—

● हम दैहिक पराधीनता से मुक्त होना तो चाहते हैं पर मानसिक पराधीनता में अपने आपको स्वेच्छा से जकड़ते जा रहे हैं।

कल्चर (सभ्यता या परिष्कृति) एक व्यापक शब्द है। हमारे धार्मिक विचार, हमारी सामाजिक रूढ़ियाँ, हमारे राजनैतिक सिद्धान्त, हमारी भाषा और साहित्य, हमारा रहन-सहन, हमारे आचार-व्यवहार, सब हमारे कल्चर के अंग हैं पर आज हम कितनी बेदर्दी से उसी कल्चर की जड़ काट रहे हैं। भाषा ही को ले लीजिए। दफ्तरों में तो हमें अंग्रेजी में काम करना ही पड़ता है पर उस भाषा की सत्ता के हम ऐसे भक्त हो गये हैं कि निजी चिट्ठियों में घर की बातचीत में भी उसी भाषा का आश्रय लेते हैं। स्त्री पुरुष को अंग्रेजी में पत्र लिखती है पिता पुत्र को अंग्रेजी में पत्र लिखता है। दो मित्र मिलते हैं तो अंग्रेजी में वार्तालाप करते हैं कोई सभा होती है तो अंग्रेजी में। डायरी अंग्रेजी में लिखी जाती है। वाह! क्या भाषा है! क्या ओज है! कितनी मार्मिकता है! विचारों को व्यक्त करने की कितनी शक्ति! शब्द भण्डार कितना विशाल! साहित्य कितना बहुमूल्य! कितना परिष्कृत! कविता कितनी मर्मस्पर्शिनी! गद्य कितना मनमोहक! जिसे देखो अंग्रेजी ज़बान पर लट्टू, उसके नाम पर कुर्बान है।

भाषा को छोड़िए, वेश-भूषा पर आइए। आप उन साहब बहादुर को देख रहे हैं जो हैट-कोट लगाये अकड़ से इधर उधर देखते चले जा रहे हैं। यह हमारे हिन्दुस्तानी यूरोपियन हैं। रास्ते से हट जाओ साहब बहादुर आते हैं। साहब को सलाम करो आप पूरे साहब बहादुर हैं! कुछ तो आप सिर से पाँव तक गुलाम नज़र आते हैं जो अपनी गुलामी का उसी बेशर्मी से प्रदर्शन कर रहे हैं जैसे कोई वेश्या अपने हाव-भाव का। माना आत्मबल अवश्य है, वह ऊँचे दर्जे का आत्म गौरव और लोकमत को ठुकरा देते हैं। लेकिन उसी आत्मगौरव के पुतले ने

चाहिए कि ज़रा शाम को बिना फ्रेल्टकैप लगाये किसी अंग्रेज़ी क्लब में चला जाय तो उसके हाथ-पाँव फूल जायँगे, खून ठण्डा हो जायगा, चेहरा फक हो जायगा। इसलिए कि उसका आत्मगौरव केवल अपने भाइयों पर रोब जमाने के लिए है, उसमें सार का नाम नहीं। वह जिस समाज में मिलना चाहता है, उसकी छोटी से छोटी रूढ़ियों की भी अवहेलना नहीं कर सकता। जनता को वह समझता है, हमारा कर ही क्या लेगी, यह खुश रहे तो क्या और नाराज़ रहे तो क्या, यह हमारा कुछ बना-बिगाड़ नहीं सकती। जिनसे कुछ बनने-बिगड़ने का भय है उनके सामने वह भीगी बिल्ली बन जाता है। अपने एक मित्र साहब बहादुर से मैंने पूछा — तुम इस ठाट से क्यों रहते हो? तो बड़े दार्शनिक भाव से बोले — इसलिए कि अंग्रेज़ों से मिलने जाता हूँ तो जूते बाहर नहीं उतारने पड़ते। जो लोग अचकन और टोपी पहनकर जाते हैं उन्हें जूते उतार देने पड़ते हैं। मैं कहता हूँ जो स्वार्थ लेकर अंग्रेज़ों से मिलने नहीं जाते वह अचकन नहीं मिर्ज़ई भी पहने हों तो उन्हें जूते उतारने की ज़रूरत नहीं और जो स्वार्थ लेकर जाते हैं वह किसी वेश में हों उनकी आत्मा दबी रहती है। एक दूसरे मित्र से यही प्रश्न किया तो बोले — इससे सफ़र करने में बड़ा सुभीता होता है, जनता समझती है यह कोई साहब है, मेरे डब्बे में नहीं आती। एक और साहब ने कहा — अंग्रेज़ी कपड़े पहनने से देह में बड़ी चुस्ती और फुर्ती आ जाती है। गरज़ लोग तरह-तरह की दलीलों से अपना समाधान कर लेंगे। मैं पूछता हूँ — क्यों साहब क्या सारी चुस्ती और फुर्ती अंग्रेज़ी कपड़ा में ही है? क्या यह कोई तिलिस्माती चीज़ है कि बदन पर आयी और आपकी देह में स्फूर्ति दौड़ी! ●

मार्च में कांग्रेस का अधिवेशन होने जा रहा था करांची में। मुंशीजी का इरादा उसके लिए जाने का था लेकिन सरकार तो पुरानी चलने पर तुली थी। एक तरफ़ तो गांधीजी के साथ अर्विन की वह महीने भर की बातचीत और गांधी अर्विन पैक्ट और दूसरी तरफ़ इतना भी नहीं कि देश की भावनाओं का, गांधीजी और कांग्रेस के आग्रह का ख्याल करके भगत सिंह की फाँसी मंसूख कर दी जाती। हाँ इतना आश्वासन अर्विन ने ज़रूर दिया कि अगर आप चाहें तो फाँसी कांग्रेस अधिवेशन के बाद हो। उस समय गांधीजी ने अपने अपूर्व नैतिक बल का परिचय देते हुए कहा कि अगर फाँसी होनी ही है तो अधिवेशन से पहले हो, ताकि किसी का किसी तरह का धोखा न रहे, बाद को कोई उँगली न उठा सके, सब खुला खेल हो, समझौते को अगर कांग्रेस महासभा की स्वीकृति मिलनी है तो वह इस तथ्य को दबा-छिपाकर नहीं, उसके होते हुए मिलेगी — या नहीं मिलेगी। जो भी हो धोखेबाज़ी के लिए यहाँ जगह नहीं है।

और २४ मार्च १९३१ को भगतसिंह, राजगुरु और सुखदेव को फाँसी दे दी गयी। उसी रोज मुंशीजी ने निगम साहब को लिखा —

कराची का इरादा था मगर आज भगतसिंह की फाँसी ने हिम्मत तोड़ दी। अब किस उम्मीद पर जाऊँ। वहाँ गांधी का मज़ाक़ उड़ेगा, कांग्रेस ग़ैरज़िम्मेदार, इन्तिहापसन्द[1] तबक़े के हाथ में आ जायगी और हम लोगों के लिए उसमें जगह नहीं है। आइन्दा क्या तर्ज़े अमल अख़्तियार करना पड़े, कह नहीं सकता मगर फ़िलहाल दिल बैठ गया है और मुस्तक़बिल[2] बिलकुल तारीक[3] नज़र आता है। इधर बनारस, मिर्ज़ापुर, आगरे में जो हालात हुए उनसे गवर्नमेण्ट का हौसला बढ़ेगा। यही मेरा क़यास[4] है। मगर इससे ज़्यादा हिमाक़त कोई गवर्नमेंट नहीं कर सकती थी। तीन आदमियों की सज़ा में तब्दीली करके गवर्नमेण्ट कितना अच्छा असर पैदा कर सकती थी। पर उसके तर्ज़े अमल ने अब साबित कर दिया कि तालीफ़क़ल्ब[5] उसने अभी तक नहीं किया और अब भी वह अपनी उसी क़दीम[6] ग़ैरज़िम्मेदाराना रविश[7] पर क़ायम है।

भगत सिंह की फाँसी के एक रोज़ पहले २१ मार्च को जैनेन्द्र ने कराची से लिखा था — यहाँ चहल-पहल है। नौजवानों ने मौक़ा देखा है, उठ पड़े हैं और गांधीजी को बैठा देना चाहते हैं। वह जानते नहीं कि गांधी मरकर ही बैठेगा।

जैनेन्द्र की बात कुछ ग़लत न थी, मुंशीजी का डर ही ग़लत साबित हुआ। नौजवानों के उठने का एक बड़ा नतीजा तो निकला कि कांग्रेस ने मज़दूरों-किसानों के बुनियादी अधिकारों का प्रस्ताव पास करके समाजवाद की ओर एक क़दम उठाया — लेकिन गांधीजी के नेतृत्व पर ज़रा सी आँच न आयी।

मुंशीजी ने तो अपने ख़त में बनारस, आगरे और मिर्ज़ापुर के दंगों की ही तरफ़ इशारा किया था, उसके दो ही चार रोज़ बाद कानपुर का हिन्दू-मुस्लिम दंगा हुआ जो इन सबसे भयानक था।

यह और कुछ नहीं केवल इतिहास की पुनरावृत्ति थी। हर बार यही हुआ था। स्वाधीनता की लड़ाई जब तक उभार पर है, ये आपसी झगड़े-फ़साद की, बैर-द्वेष की ताक़तें दबी पड़ी हैं, और जैसे ही भाटे का दौर शुरू हुआ कि सब न जाने कहाँ किन कोनों से निकलकर अपना वहशी चेहरा और ख़ूनी पंजे लिये सामने आ गयीं।

मगर दोनों में थोड़ा अन्तर है जिसकी तरफ़ इशारा करते हुए मुंशीजी ने

---

१ उग्रपंथी २ भविष्य ३ अँधेरा ४ अनुमान ५ हृदय-परिवर्तन
६ पुराने ७ ढंग

लिखा — इस वक्त के सभी दंगों का कारण धार्मिक या मसजिद के सामने बाजा बजाना या कुर्बानी। इस समय जो दंगे हो रहे हैं उनके कारण राजनीतिक हैं। काशी में एक विदेशी कपड़े के व्यापारी की हत्या ने बारूद में आग लगायी। कानपुर में मुसलमानों को दूकानें बन्द कराने की चेष्टा ने पुआल में चिनगारी का काम किया। पुआल पहले से मौजूद था। केवल चिनगारी की कमी थी। हम खुद कांग्रेसमैन हैं। आज से नहीं हमेशा से। असहयोग में हमारा विश्वास है लेकिन हम कहने से बाज नहीं रह सकते कि कांग्रेस ने मुसलमानों को अपना सहायक बनाने की ओर उतनी कोशिश नहीं की जितनी करनी चाहिए थी। वह हिन्दू सहायता प्राप्त करके ही संतुष्ट रह गयी। भारत में हिन्दू २२ करोड़ हैं। २२ करोड़ अगर कोई काम करने का निश्चय कर लें तो उन्हें कौन रोक सकता है। हिन्दुओं में इसी मनोवृत्ति ने प्रधानता प्राप्त कर ली।

यह तो अपने समझने की, अपनों से कहने की बातें हैं। सरकार से कहने की बात कहने से भी वह बाज नहीं रहे —

> बुद्धि यह मानने को तैयार नहीं होती कि जो सरकार राजनीतिक आन्दोलन का दमन करने में इतनी तत्परता से काम ले सकती है इतनी आसानी से गोलियाँ चलवा सकती है वह इस अवसर पर इतनी अशक्त हो गयी कि उसकी उपस्थिति में रक्त की नदी बह गयी और वह कुछ न कर सकी।[1] संभव है सरकार की इस दलील में कुछ सत्य हो कि वह इस दंगे को दबाने के लिए काफी शक्ति न रखती थी, पर साधारण जनता जिस नतीजे पर पहुँची है वह यह है कि सरकारी कर्मचारियों ने जान-बूझकर, केवल यह दिखाने के लिए कि बगैर सरकारी सहायता के तुम लोग कुछ नहीं कर सकते, यहाँ तक कि तुम शान्तिपूर्वक रह भी नहीं सकते और तुम्हें एक-दूसरे को खा जाने से बचाने के लिए एक तीसरी बल-वान शक्ति का रहना अनिवार्य है, इस हत्याकाण्ड को रोकने की कोशिश नहीं की।

और इस दंगे के शहीद गणेशशंकर विद्यार्थी को अपनी श्रद्धा के ये फूल चढ़ाए —

> कानपुर के इस हत्याकाण्ड में राष्ट्र को सबसे भयंकर जो क्षति पहुँची है वह विद्यार्थीजी की शहादत है। लुटा हुआ धन फिर आ जायगा, उजड़े हुए घर फिर आबाद हो जायेंगे, माताओं की गोद में फिर बच्चे खेलेंगे — पर वह कर्मवीर भारत से सदैव के लिए उठ गया। विद्यार्थीजी के जीवन की सरलता और पवित्रता सात्विक थी। हम यह तो नहीं कह सकते कि हमारी उनसे घनिष्ठता थी पर साल में दो-तीन बार हमें उनके दर्शनों का सौभाग्य अवश्य हो जाता था और उनके दर्शनों से आत्मा पर आशीर्वाद का-सा जो असर पड़ता था वह अकथनीय है। स्वार्थ-चिन्ता ने कभी उनकी आत्मा को मलिन नहीं किया। उनका समस्त जीवन

पक्षमय था और कदाचित् ईश्वर की इच्छा थी कि उनकी मृत्यु उस यज्ञ की पूर्णाहुति हो। इस विद्रोह के एक या दो दिन पहले लखनऊ कांग्रेस कमेटी के दफ़्तर में हमें उनके दर्शन हुए थे। उनके जेल से लौटने के बाद मैं उनसे न मिल सका था। कितने तपाक से गले मिले!

इधर इस बीच माधुरी दफ़्तर में गड़बड़ शुरू हो गयी। पण्डित विष्णु नारायण भार्गव की अचानक मौत हो गयी और चूँकि उनके दोनों बेटे अभी नाबालिग थे रियासत कोर्ट आफ़ वार्ड्स के हाथ में चली गयी।

१२ जनवरी को मुंशीजी ने जैनेन्द्र को लिखा—

हमारे प्रोप्राइटर बाबू विष्णुनारायण भार्गव का मद्रास में स्वर्गवास हो गया। घुड़दौड़ में गये थे, बाज़ी हार गये। अब देखना है कि यहाँ कैसे काम होता है, माधुरी चलती है या बन्द होती है। मुझे तो इसके चलने की आशा नहीं है।

पाँच हफ़्ते बाद १८ फ़रवरी को लिखा—

माधुरी से अब मेरा संबंध नहीं रहा। मैं बुरहिया में आ गया। था तो पहले ही गया था, अब पूर्णरूप से आ गया। एप्रिल तक शायद यहाँ और रहूँगा फिर काशी चला जाऊँगा और वहीं देहात में बैठकर कुछ लिखता-पढ़ता रहूँगा।

यों मुंशीजी कभी बाबू साहब से मिलते-जुलते न थे लेकिन अब जब कि वह नहीं रहे मुंशीजी को मालूम हुआ कि उनके दिल में बाबू साहब के लिए क्या जगह थी और उनके बिना वहाँ रह पाना उनके लिए कितना मुश्किल है।

उसी महीने ज़माना में मुंशीजी ने एक लेख लिखकर इस तरह अपने मन के आदर और स्नेह को वाणी दी—

●मुंशी नवलकिशोर के ख़ान्दान का यह सूरज ऐन उस वक़्त डूबा जब वह अपने पूरे उठान पर था।

स्वर्गीय मुंशी विष्णु नारायण के व्यक्तित्व का नक़्श-नक़्श रौशन था। रंगा की खूबियाँ सब थीं बुराइयाँ एक भी नहीं। मुरौवत के पुतले थे। किसी साइल को निराश करना उन्होंने सीखा ही न था। किसी दोस्त की दिलशिकनी उनके बूते से बाहर थी। मुलाज़िमों की तादाद हज़ारों तक पहुँचती थी मगर कभी किसी का तन सिपाहों से न लेना। ग़बन के मामले पेश हुए, अयोग्यता और सुस्ती की शिकायतें रोज़ ही आती रहती थीं मगर इन कमज़ोरियों के बावजूद भी बार-बार सामने आने पर हमेशा दरगुज़र कर जाते थे। यह ख़ूबी उनमें कमज़ोरी की हद तक थी।

रियासत की अवस्था अभी कुछ न थी। लखनऊ का यह विख्यात ख़ान्दान

अल्पायु है। मुंशी प्रयाग नारायण साहब का देहान्त ५२ साल की उम्र में हुआ। उनके साहबज़ादे ने कुछ और कमी कर दी। अभी चालीसवाँ ही साल था।

मझोला क़द, चकली हड्डी और दुहरे जिस्म के सुन्दर आदमी थे। चम्पई रंग, रोबदार मूँछें, बड़ी-बड़ी आँखों में सज्जनता और क्षमा की झलक। पहनावा बिल्कुल सादा था। बाहर निकलते तो अचकन और चुस्त पाजामा बदन पर होता, सिर पर फ़ेल्ट कैप। घर पर कुर्ता और धोती पहनते थे। हुक़्क़े और पान का शौक़ था।

उनका दरबार हर ख़ास व आम के लिए खुला रहता था — न कार्ड भेजने की ज़रूरत न इत्तला कराने की पाबन्दी। दीवानख़ाने के सामने बरामदे में बैठे हुक्का पी रहे हैं। मित्र और कर्मचारी, याचक और असामी सभी आते हैं और अपनी बात कहकर चले जाते हैं। सबसे उसी शराफ़त और मुहब्बत से पेश आते हैं। मिज़ाज में झूठी शान का नाम नहीं, घमण्ड की बू नहीं, आडम्बर की छाया नहीं। अफ़सोस कि वह जगह हमेशा के लिए ख़ाली हो गयी।[1]

२१ जुलाई को मुंशीजी ने निगम साहब को लिखा : यहाँ कोर्ट आफ़ वार्ड्स का इन्तज़ाम है। मगर अभी कोई तब्दीली नहीं हुई है। स्पेशल मैनेजर आ गये हैं। इन्तज़ाम बाज़ाब्ता[2] दस्तूर है। शायद तख़फ़ीफ़ होने वाली है। मगर तफ़सील मालूम नहीं। मेरी तो मैनेजर साहब से मुलाक़ात ही नहीं हुई। न उन्होंने बुलाया न मैं गया।

३ अगस्त को लिखा — ख़बर है कि रियासत कोर्ट आफ़ वार्ड्स से निकल गयी। लेकिन ख़बर ही ख़बर है। वसूक़[3] नहीं। सरकारी कारख़ाने हैं। मुमकिन है महीनों लग जायँ।

२४ सितम्बर को लिखा — मैं मैनेजर साहब से अभी नहीं मिला। सोचता हूँ वह अफ़सरी जताने लगें तो क्या फ़ायदा।

आये दिन एक न एक झगड़ा लगा रहता। ऐसे नहीं चल सकता। यहाँ का आबदाना अब ख़त्म होता है।

और पहली अक्तूबर को मुंशीजी ने निगम साहब को लिखा —

इन लोगों ने तय कर लिया है और अब किसी की हक़तल्फ़ी[4] बेइन्साफ़ी या अपने नुक़सान का ख़याल इन्हें अपने इरादे से बाज़ नहीं रख सकता। मुझे अफ़सोस यही है कि आपको नाहक़ तकलीफ़ दी। ख़ैर, अभी तो यहीं हूँ। ९ को

---

१ [illegible] २ प्रामाणिक रूप में ३ पक्की बात ४ अधिकार-अपहरण

वहाँ से अलहदा होकर ग़ालिबन अक्टूबर लखनऊ में काटूँगा। उसके बाद दीदा ख़्वाहद शुद¹।

तबीयत यों ही बहुत अनमनी उचाट हो रही थी और फिर जैनेन्द्र कितनी ही बार बुला चुके थे। इस बार का कार्ड आया तो मुंशीजी फ़ौरन चल पड़े।

दिल्ली पहुँचने की दास्तान जैनेन्द्र से सुनिए —

● एक सवेरे गली में दीखता क्या है कि कंधे पर कम्बल डाले लरामा लरामा चले आ रहे हैं प्रेमचंद जी। महात्मा भगवानदीन जी और पं. सुन्दरलाल जी भी तब घर पर थे। सुन्दर लाल जी चबूतरे पर से दातुन करते-करते बोले — देखना जैनेन्द्र यह प्रेमचंद जी तो नहीं आ रहे हैं?

मैंने कहा — वही तो हैं।

प्रेमचंद जी के पास आने पर मैंने अचरज से पूछा — यह क्या किस्सा है न तार न चिट्ठी और आप करिश्मे की भाँति आविर्भूत हो पड़े!

बोले — तार की क्या ज़रूरत थी। बारह आने पैसे कोई फ़ालतू हैं। और देखो तुम्हारे मकान का पता लग गया कि नहीं।

मैंने कहा — यह क्या ग़ज़ब करते हैं। पहले से कुछ ख़बर तो दी होती। इस तरह से तो आपको बड़ी दिक्क़त हुई होगी। ग़नीमत मानिए कि दिल्ली बंबई नहीं है। और ऐसे क्या आप दिल्ली से बेहद वाक़िफ़ हैं?

बोले — नहीं जी सोचा तुम्हारा मकान मिल ही जायगा और बारह आने बचाओ क्यों न। और मकान मिल गया कि नहीं? वैसे दिल्ली ज़िन्दगी में पहली मर्तबा आया हूँ।

ज़िन्दगी में पहली बार! मैंने अविश्वास के भाव से कहा — आप कहते क्या हैं! तिस पर आप हैं मधाद!●

इस बार मुंशीजी वहाँ दस-ग्यारह दिन रह गये। और जैसी कि उनकी तबीयत थी बिल्कुल घर के एक आदमी होकर रहे। कोई अनजान उन दिनों घर पहुँचता तो किसी तरह मालूम न कर सकता था कि प्रेमचंद कौन हैं। उनका लिबास और उठने-बैठने और रहने-सहने का तरीक़ा इस कदर घरेलू था कि कोई उन्हें अलग से पहचान ही न सकता था। (जैनेन्द्र) उनकी जो हुलिया ऋषभ चरण ने बनारस में मुंशीजी के अपने मकान पर देखी थी — 'वह एक निहायत सीधी-सादी बैठक में निवार के पलंग पर बैठे थे जहाँ न गद्दा था न तकिये थे न गलीचों की बहार थी और न झाड़-फ़ानूस ही दिखायी देते थे। बदन पर खादी

---

१ देखा जायगा

खद्दर की एक घटिया सिलाई की कमीज और धोती थी और उसपर वही बाल और किसान जैसा चेहरा ... वही दुनिया यहाँ दिल्ली में जैनेन्द्र के मकान पर थी— खाना खाने साथ बैठते और बाद में भी नीम की सींक से दाँत कुरेदते हुए वे मेरे ही साथ बैठकर बात करते रहते। घरेलू बातें—तुम कितना कमाते हो, कितना अपने ऊपर खर्च करते हो, कितना घर के खर्च के लिए भगवती (जैनेन्द्र की पत्नी) को देते हो ... और जैनेन्द्र अगर बात का उड़ाने या दार्शनिक लापरवाही के खोल में लपेटकर खत्म करने की कोशिश करते तो मुंशीजी गिले के तौर पर यह कह देते कि तुमको खुद तो तकलीफ़ उठाने का हक़ है लेकिन अपने बीवी-बच्चों को तकलीफ़ देने का हक़ नहीं है। ऐसा ही था तो तुम्हें इस चक्कर में ही न पड़ना चाहिए था।

और यह सिर्फ़ ज़बानी जमा-खर्च न था। मुंशीजी को बराबर इस बात का ख़याल रहता कि मेरी वजह से कोई नया बोझ इस ग़रीब पर न पड़े। कहीं जाना आना हो तो अक्सर पैदल ही चल पड़ते—अरे, दूर ही कितना है, अभी पहुँचे जाते हैं, दिन भर तो बैठे बैठे बीत गया, पेट का पानी भी तो हिलना चाहिए ... और अगर जगह बहुत दूर हुई और इक्का-ताँगा कुछ लेना ही पड़ा तो बड़ी खूबसूरती से कुछ ऐसी जुगत बैठाते कि जैनेन्द्र के दिल को ठेस पहुँचाये बग़ैर या तो वह खुद ही किराया चुका देते या आधमआध चुका देते।

यह वज़ादारी, यह घरेलूपन, यह सादगी ज़िन्दगी भर की उनकी कमाई थी। इसमें सरमू चूक न होती। कभी कहीं खाना खाने जाते या किसी के घर ठहरते तो खाना ख़त्म होने पर ज़रूर दो-एक बातें खाने की तारीफ़ में कह देते — इसलिए नहीं कि तहज़ीब सिखलानेवाली किताबों में ऐसा लिखा है बल्कि इसलिए कि इससे पर्दे की ओट में बैठी हुई घर की स्त्री का जी खुश होगा। अपने बड़ों की यह वज़ादारी मुंशीजी में कूट-कूटकर भरी थी मगर दिखावटी तकल्लुफ़ की शक्ल में नहीं जो कि दूसरे के लिए काफ़ी तकलीफ़देह भी हो सकता है, सहज ढंग से।

यह सहजता ही उन्हें हर बात में प्रिय थी। कैसा भी आडम्बर उनके दिल पर भारी गुज़रता था, विचारों तक का आडम्बर।

इसका एक अच्छा नमूना है वह जो मुंशीजी को इसी दिल्ली यात्रा में पेश आया। जैनेन्द्र कहते हैं—

● उस वक़्त दो बुज़ुर्ग घर में और थे। प्रेमचंद जी की जगह उनके साथ थी। वे ऊँचे ख़याल के लोग थे और छोटी बातें अक्सर उनके पास नहीं फटक पाती थीं। बातें देश की और दुनिया की होतीं, सुधार की और उद्धार की या किसी नीति के या तत्व के मसले की। मैं उन बातों के बीच अक्सर अजनबी रहता। समझ तो वहाँ रहता ही न था, पास हुआ तो बस सुनता भर रह जाता था।

प्रेमचंद का भी मैंने यही हाल देखा। बात गहरी हो रही है और मज़ेदार, लेकिन प्रेमचंद को सिर्फ़ सुनना है, कहने को उनके पास गोया कुछ है ही नहीं। एक बुजुर्ग उनमें पुख्ता कमाल के थे। उनके पास सदा कुछ बताने और सुधारने का रहता था। हर बहस में आख़िरी लफ़्ज़ उनका होता। यानी सही वही है जो उनका कहना है। इस तरह तीन चार रोज़ बर रहकर खासकर उन बुजुर्ग से वह बहुत कुछ इसलाह और नसीहत पाते रहे।

एक रोज़ जाते-जाते उन्होंने पूछा — भई, उन साहब की उम्र क्या होगी?

मैंने बताया कि मेरा अंदाज़ तो यह है।

बोले — क्या कहते हो?

मैंने कहा — एकाध साल से ज़्यादा फ़र्क़ नहीं हो सकता क्योंकि मैंने एक बार तसदीक़ किया था।

प्रेमचन्द कहकहा लगाकर हँसे — यह खूब रही। तब तो यार बड़े हम हैं। अच्छा अब की कहूँगा

यही हुआ। अगली मर्तबा मंडली बैठी और बहस शुरू हुई। प्रेमचंद सुनते रहे। बहस ने लेक्चर की शक्ल अख़्तियार की और आख़िर सबक़आमोज़ नसीहतें मिलने लगीं। प्रेमचंदजी ने मौक़ा देख धीमे से पूछा — पंडित जी, आपकी उम्र क्या होगी? बुजुर्ग ने अपनी उम्र बतलायी। प्रेमचंद ने कहा — वाह, तब तो बड़ा आपसे मैं हूँ।

यह बात ऐसे कही गयी कि बुजुर्ग को ज़र्रा नागवार नहीं हुई बल्कि वह खुश हुए, हँस पड़े और उसके बाद बातचीत आपसी और बराबर सतह पर होने लगी।●

तबीयत में मिठास थी, कहनेवाली बात भी मीठी बनकर निकलती थी। सादगी भी बेहद सादगी इतनी कि उस चलने और उस लिबास को देखकर बहुत आसान था धोखा खा जाना कि यह कोई गँवइया शख्स है। वैसा लगता लगा था उस शख्स को अब से क़रीब तीस साल पहले जब मुंशीजी हँसते-हँसाते इलाहाबाद में एक गश्त सम्मेलन में पहुँचे अपना (शायद इकलौता) बेहद शुष्क बेढंगा-सा ऊनी पतलून और वैसा ही शुष्क बेढंगा-सा कोट पहने (कुछ वैसी ही पतलून जैसी आजकल इश्तहारों में बिना सैनफोराइज़्ड कपड़ा पहननेवालों की दिखायी जाती है।) और बाल बेतरतीब बिखरे हुए, [illegible] या क़रीब चार साल बाद १९३५ में जब वह आख़िरी बार लाहौर गये और इम्तियाज़ अली ताज ने उन्हें चाय पर बुलाया। मुंशीजी ने समझा यों ही कोई चाय होगी और जब वह इत्मीनान से पतलून के साथ पैदल शहर भर का चक्कर लगाकर दिन भर के

चिथड़े-चिथड़े कपड़े अपनी वही मिल की धोती और गाढ़े का कुर्ता पहने और धूल से अटे हुए बाल लिये पहुँचे तो उन्होंने देखा कि सौ से ऊपर मोटरें खड़ी हैं, एक से एक शानदार (शहर के तमाम धुरन्धर वकील बैरिस्टर, डाक्टर, जज प्रोफेसर सब बुलाये गये थे) और बाहर जिन मुन्तजिमकारों ने उनको देखा उन्हें यह समझने में थोड़ी देर लगी कि यह वही आदमी है जिसके सम्मान में यह आयोजन है और जिसका इन्तजार किया जा रहा है!

लेकिन यह केवल बहिरंग है। भीतर से उसका मन बिलकुल आधुनिक है आधुनिक से आधुनिक। अपनी मिट्टी से सम्पर्क बनाये रखकर उसने योरप के नये से नये ज्ञान-विज्ञान को पढ़ा और साहित्य को देखा है समझा है और उससे पहले सादी के कसीदों और हाफ़िज़ की ग़ज़लों ने अच्छी तरह उसके मन को रँगा है। वह शोखी वह गुलगुलापन वह रंगीनी वह हाज़िरजवाबी जो फ़ारसी की जान है मुंशीजी के खून में भी घुल गयी है।

दिल्ली की इसी यात्रा की बात है कि एक रात ऋषभचरण ने मुंशीजी से पूछा कि आपकी सबसे अच्छी कहानी कौन-सी है? मुंशीजी ने जवाब दिया — वह तो अभी लिखी ही नहीं गयी।

ऋषभचरण ने उस समय की अपनी स्मृतियों को लेकर लिखा है —

उनकी कलम में और सूरत में जो सिधाई हम देखते हैं, उनकी बातों से ऐसा न लगता था। वह एक मिठासभरे आदमी थे जिनके चेहरे-मोहरे पर चाहे वक्त की सख्ती असर कर गयी हो लेकिन दिल ज्यों का त्यों बच्चे दूध की तरह मधुर और स्वच्छ था।   मैं जैनेन्द्र और वह कुतुबमीनार की सैर को गये। साथ में थोड़ी-सी पूरियाँ थीं। खाने बैठे तो सवाल हुआ कि पानी कौन लावे। मैंने कहा — जो लायेगा वह घाटे में रहेगा क्योंकि पूरियाँ कम हैं। जैनेन्द्र की राय थी कि मुझे ही यह खतरा लेना चाहिए। लेकिन प्रेमचन्द ने कहा — मैं बूढ़ा आदमी हूँ मैं जाता हूँ मुझ पर आप लोग जरूर ही रहम करेंगे! पानी तो उन्हें न लाने दिया गया लेकिन उनकी बात ने हमें खूब हँसाया। जब मैंने उनसे कहा कि कुतुब की लाट पर चढ़ा जाये तो हजरत जवाब देते हैं कि नीचे खड़े हुए इस लाट का बड़प्पन हमारे दिलों पर है, ऊपर चढ़ने से वह कम हो जायगा। इसी मौक़े पर हमने एक फ़ोटो खिंचवाया। जब इस फ़ोटो की कापी प्रेमचन्द को भेजी गयी तो उन्होंने लिखा — 'फ़ोटो मिला। मेरा मुँह टेढ़ा आया है। क्या करूँ, नसीब ही टेढ़ा है!

इसी बार की कहानी है यह भी एक कलाकार के सच्चे पुरस्कार की —

●स्थानीय हिन्दी सभा की ओर से प्रेमचन्द जी के सम्मान में सभा की जा रही

थी। उन्हें अभिनन्दनपत्र भेंट होनेवाला था। उस वक्त एक पंजाबी सज्जन बड़े परीशान मालूम होते थे। वह कभी सभा के मंत्री के पास आते थे कभी इनके या उनके पास जाते थे। प्रेमचंद जी के पास जाने की शायद हिम्मत न होती थी। प्रेमचंद जी को उसी रात दिल्ली से जाना था। सभा का काम जल्दी हो जाना चाहिए और वह जल्दी किया जा रहा था। प्रेमचंद जी ने अपना वक्तव्य कहने में शायद दो मिनट लगाये। सभा की कार्यवाही समाप्तप्राय थी। तभी वह पंजाबी सज्जन उठे और सभा के सामने हाथ जोड़कर बोले — मैं प्रेमचन्द को आज रात किसी हालत में नहीं जाने दूँगा। उनके साथ इस सारी सभा को मैं कल अपने यहाँ आमन्त्रित करना चाहता हूँ।

लोगों को बड़ा विचित्र मालूम हुआ। तैयारी सब हो चुकी थी। और प्रेमचंद जी का इरादा निश्चित था। लेकिन वह सज्जन अपनी प्रार्थना से बाज न आये।

उन्होंने हाथ जोड़कर कहा कि मेरी अरदास आप लोग सुन लीजे फिर जो चाहे आप कीजिएगा। जब से अखबार में प्रेमचंद जी के यहाँ आने की खबर पढ़ी तभी से उनसे ठहरने की जगह पाने की कोशिश करता रहा हूँ। वह जगह नहीं मिली। अब इस सभा में मैं उनको पा सका हूँ। मैं उनकी तलाश करता हुआ दर्शनों की इच्छा से लखनऊ दो बार गया एक बार बनारस भी गया। तीनों बार वह न मिल सके। कई बरस पहले की बात है मैं कमाने के खयाल से पूरब की तरफ़ गया था। पर भाग्य की बात कि मेरे पास जो कुछ था सब खतम हो गया। मैं घूमता-घामता स्टेशन पर आया। मुझे कुछ सूझता न था आगे क्या होगा। सब अँधेरा मालूम होता था। जेब में दो रुपये और कुछ पैसे बचे थे। प्रेमचंद जी के अफ़सानों को मैं शौक से पढ़ा करता था। यों ही टहलता हुआ व्हीलर की दुकान पर एक रिसाले के स्पेशल नम्बर के सफ़े लौटने-पलटने लगा। उसमें प्रेमचंद जी का एक अफ़साना नज़र आया। मैंने रुपया एक रिसाला खरीद लिया और प्रेमचंद जी की उस कहानी को पढ़ गया। पढ़कर मेरे दिल की पस्ती जाती रही। हौसला खुल गया। मैं लौटकर आया और हार न मानने का इरादा कर लिया। तब से मेरी तरक्की ही होती गयी है और आज यहाँ आपकी खिदमत में हूँ। बरसों से मैं उस मेरी कहानी के मनदाता प्रेमचंद जी की तलाश में हूँ। अब यहाँ पा गया हूँ तो किसी तरह छोड़ नहीं सकता। मेरी बीबी बीमार है वह उठ-बैठ नहीं सकती। वह कब से प्रेमचंद जी के दर्शन की आस बाँधे बैठी है। और फिर हाथ जोड़कर उन्होंने कहा — अब फ़ैसला आप सब साहबान के हाथ है। ●

दिल्ली से लौटे तो सर्दी से कुछ ऐसा हुआ कि दस रोज के भीतर ही फिर उन्हें

के लिए बिस्तर गोल करना पड़ा। हिन्दी साहित्य परिषद् का कोई आयोजन था। केसरीकिशोर शरण मंत्री थे। स्टेशन पर मुंशीजी के अद्भुत स्वागत की कहानी उन्हीं के मुँह से सुनिए। यहाँ मुंशीजी दिल्ली की तरह नहीं पहले से खबर देकर पहुँच रहे थे—

●१९३१ नवम्बर की २१वीं तारीख। शाम का वक्त साढ़े छ बजे। पश्चिम से आनेवाली एक्सप्रेस पटना जंक्शन पर अभी लगी हुई थी। प्रेमचन्द जी आज पटना आनेवाले थे और उन्हीं के स्वागत के लिए हम लोग स्टेशन पहुँचे हुए थे परन्तु हममें से किसी ने उन्हें देखा न था इसलिए बड़ी चिन्ता थी उन्हें कैसे पहचाना जायगा। हिन्दी भाषा और साहित्य का प्रथम संस्करण हाल में ही निकला था। उसमें प्रेमचन्द जी की एक तसवीर थी। चौड़ा गोल मुँह उभरा हुआ ललाट, बड़ी-बड़ी धनुषाकार घनी मूँछें। पोशाक थी सोफियाना थी—फ्लैनेल का पैंट पतलून और कोट। इसी तसवीर को लेकर हम लोग स्टेशन पर आये थे। रेलगाड़ी आयी और सेकंड क्लास इंटर, फर्स्ट क्लास सभी के डिब्बे हम लोगों ने देख लिये पर हमारे अनुमान का कोई आदमी नजर नहीं आया। तब थर्ड क्लास की बारी आयी। गाड़ी का डिब्बा-डिब्बा हम लोगों ने छान डाला   कहीं नहीं।

दो घंटे के बाद पंजाब मेल आयी। इस बार भी हम लोगों ने बड़ी तत्परता के साथ खोज की। तीन-चार साहब उतरे   पर उनमें से कोई हमारी कल्पना का हमारी किताब की तसवीर का प्रेमचन्द न निकला।

सभी मित्र हताश और निरुत्साह घर लौट चले। मेरी आँखों तले अँधेरा छा गया

रविवार की शाम को बैठक थी और सवेरे छ बजे के करीब एक एक्सप्रेस आती थी। बस यही आखिरी आसरा था। स्टेशन पर ठीक वक्त पर जा पहुँचा।

ट्रेन आयी, लगी और चली गयी। सैकड़ों आदमी उतरे और चढ़े पर प्रेमचन्द नहीं आये नहीं आये। हम   मुसाफिरखाने की तरफ बढ़े। देखा सीढ़ी के पास एक अधबयस सज्जन जिनके बाल कुछ सफ़ेद हो चले थे और जो सफ़र की थकावट से कुछ खिन्न-से हो रहे थे गुमसुम खड़े हैं और कुली उनका ट्रंक सर पर और बिस्तरा हाथ में लिये पूछ रहा है—बाबू कहाँ चलें?

इस मुसाफिर को कल रात ही को पंजाब मेल से उतरते देखा था नजदीक जा कर पूछा—क्यों जनाब आप लखनऊ से आ रहे हैं?

—हाँ भाई, लखनऊ से ही आ रहा हूँ।

—आप प्रेमचंद जी हैं?

—हाँ प्रेमचंद हूँ।

स्वर उनका कुछ कठोर हो पड़ा था। मैंने प्रणाम करते हुए उनके हाथ से मैले खद्दर के रूमाल में बँधे पीतल के लोटे को ले लिया और अत्यन्त ग्लानि के साथ कहा — मैं केसरीकिशोर हूँ।

उनके चेहरे पर किंचित् क्षोभ किंचित् संतोष और प्रसन्नता की रेखा एक साथ ही झलक पड़ी पर कोई शब्द उनके मुँह से न निकला। तब तक फ़िटन आ गयी

मेरा मन गर्व से खुशी से संकोच और ग्लानि से ऐसा भर गया था कि मैं यह भी न पूछ सका रास्ते में कोई तकलीफ़ तो न हुई?

तब तक वह भी कुछ स्थिर और संतुष्ट-से दीख पड़े। हिम्मत बढ़ी। पूछा — रास्ते में कोई तकलीफ़ तो नहीं हुई?

— तकलीफ़? मैं तो रात भर इसी पसोपेश में पड़ा रहा कि रहूँ या लौट जाऊँ। रात पंजाब मेल से उतरा। आप लोगों के दर्शन नहीं हुए तो मुसाफ़िरख़ाने में जाकर पड़ रहा। तबियत बहुत झुँझला रही थी। जब यहाँ कोई पूछनेवाला नहीं तो किसलिए ठहरूँ! ३॥ बजे रात की गाड़ी से लौट चलने की इच्छा हुई। रिटर्न टिकट था ही। प्लेटफ़ार्म पर गया गाड़ी आ गयी पर चढ़ नहीं सका। सोचा तुम्हें दुःख होगा ●

२९

लंदन में दूसरी गोलमेज सभा हो रही थी। गांधीजी भी गये थे लेकिन जैसा कि मुंशीजी ने यहाँ से उनके चलते वक्त लिखा था—'इस समय महात्माजी के सामने जो काम है वह आसान नहीं है। लंदन में वह गोलमेज के चारों तरफ बैठे हुए एक-से-एक चतुर खिलाड़ियों के बीच में खड़े होंगे जिन्होंने राज्य-संचालन को जीवन-तत्त्व बना लिया है। जहाँ अंग्रेजी सेना असफल हो गयी है वहाँ बहुधा अंग्रेजी डिप्लोमसी ने विजय पायी है।'

वही हुआ। हिन्दू-मुसलमान और छूत-अछूत के सवाल खड़े कर दिये गये जिनका हमारे पास कोई जवाब न था क्योंकि वह हमारी सच्ची कमजोरी थी। दुश्मन अगर उसका फायदा उठा रहा था तो क्या बुरा कर रहा था।

मुंशीजी यह भी खूब समझते हैं कि असल झगड़ा किनका है और किस चीज के लिए है—

सरकारी नौकरियों के लिए अभी तक शिक्षित समाज के मन में मोह है। यही मोह, यही लोभ इस वैमनस्य का कारण है। लेकिन अगर अभी वह समय नहीं आया तो अब उसके आने में देर नहीं है जब वास्तविक राष्ट्र शिक्षित समाज की संकीर्ण स्वार्थपरता के विरोध में विद्रोह करेगा। मुट्ठी भर पढ़े-लिखे आदमियों को कोई अधिकार नहीं कि वह अपने हलवे-माँड़े के लिए सम्पूर्ण राष्ट्र का जीवन कष्टमय बनायें

मुंशीजी का गुस्सा अपनी जगह पर कितना ही ठीक हो उस दिन के आने में अभी काफी देर है।

गोलमेज का स्वाँग खत्म हुआ तो मुंशीजी ने दिसंबर १९३१ को हंसवाणी में लिखा—

गोलमेज सभा जिस तरह पहली बार गपशप करके समाप्त हो गयी उसी तरह दूसरी बार भी ग प करके समाप्त हो गयी। समाप्त क्यों हुई, अभी कुछ और गपशप होगी और यह सिलसिला शायद दो-चार साल चलेगा।

यह तो चलता रहेगा क़यामत तक लेकिन असल भरोसे की चीज है जंग

आर्डिनेंसों का राज था। पुलिस और मजिस्ट्रेटों को अंधाधुंध अधिकार दे दिये गये थे। जो मन आये करते थे। कहीं कोई सुनवायी न थी।

२६ दिसंबर को जवाहरलाल पकड़ लिये गये। आठ रोज़ बाद गांधीजी और सरदार पटेल पकड़ लिये गये। उधर सीमांत गांधी अब्दुल ग़फ़्फ़ार ख़ाँ दो-चार रोज़ के हेर-फेर से उठाकर जेल में डाल दिये गये।

इस तरह सब बड़े नेताओं को जेलख़ाने में ठूँसकर और चारों तरफ़ पुलिस का राज क़ायम करके हुकूमत अब इत्मीनान से कांग्रेस के अगले क़दम पर निगाह जमाये बैठी थी। जवाहरलाल ने आत्मकथा में लिखा—

राष्ट्रीय सप्ताह आया — ६ अप्रैल से १३ अप्रैल — और हमें पता था कि इसमें बहुत-सी अनहोनी घटनाएँ घटेंगी। जो कि घटी भी लेकिन जहाँ तक मेरी बात है एक घटना के आगे दूसरी सब घटनाएँ फीकी पड़ गयीं। इलाहाबाद में मेरी माँ एक जुलूस में थीं जिसे पुलिस ने रोका और फिर लाठीचार्ज किया। जुलूस ठहर गया तो कोई मेरी माँ के लिए एक कुर्सी ले आया। इसी पर वह जुलूस के आगे-आगे सड़क पर बैठी हुई थीं। कुछ लोग जो ख़ास तौर पर उनकी देख-रेख कर रहे थे और जिनमें मेरा सेक्रेटरी भी था गिरफ़्तार करके वहाँ से हटा दिये गये और तब फिर पुलिस का चार्ज हुआ। मेरी माँ धक्का खाकर कुर्सी से गिर पड़ीं और फिर बार बार बार बार उनके सर पर बेंत पड़ने लगे। सर फट गया और ख़ून बहने लगा। वह बेहोश हो गयी और सड़क किनारे पड़ी रहीं जहाँ न अब कोई जुलूसवाला था न कोई जनता सबकी सफ़ाई कर दी गयी थी। कुछ देर बाद पुलिस का एक अफ़सर उन्हें अपनी मोटर में उठाकर आनंदभवन ले गया। उसी रात इलाहाबाद में यह अफ़वाह उड़ी कि मेरी माँ मर गयी। ग़ुस्से से पागल भीड़ ने शान्ति और अहिंसा की सुध-बुध खोकर पुलिस पर हमला कर दिया। पुलिस ने गोली चलायी जिसमें कुछ लोग मारे गये। इस सबकी ख़बर जब कुछ रोज़ के बाद मेरे पास आयी तो और सब बातें जैसे ग़ायब हो गयीं और यही एक ख़याल मेरे मन में चक्कर काटता रहा कि मेरी कमज़ोर बूढ़ी माँ धूलभरी सड़क पर बेहोश पड़ी हैं और उनके सर से ख़ून बह रहा है

इसी के बारे में मुंशीजी ने तिलमिलाकर १ अप्रैल १९३२ के अपने ख़त में निगम साहब को लिखा —

गवर्नमेण्ट की ज़्यादतियाँ[1] अब नाक़ाबिले बर्दाश्त हो रही हैं। पंडित जवाहरलाल की वालिदा के साथ जितनी बेदर्दी की गयी। अब ख़ामोश रहना मुझे भी बेहयाई मालूम हो रही है।

---

१ ज़्यादतियाँ

लेकिन वह भी जानते हैं कि रहना उन्हें बाहर ही है। क्या बुरा है। बाहर रहकर वह बहुत कुछ कर सकते हैं जो जेल में बैठकर नहीं कर सकते।

उसी महीने 'दमन की सीमा' शीर्षक से मुंशीजी ने 'हंस' में लिखा—

"कांग्रेस स्वराज्य मांगती है। सरकार स्वराज्य देने को तैयार है। तो फिर यह दमन क्यों? यह सत्याग्रह क्यों? या तो कांग्रेस स्वराज्य नहीं कुछ और माँगती है या सरकार स्वराज्य नहीं कुछ और देना चाहती है।

कांग्रेस के स्वराज्य मांगने का क्या उद्देश्य है? क्या केवल अधिकार या ओहदे? ... देश में आधे आदमी बेकार पड़े हुए हैं, सौ में नब्बे आदमियों को पेट भर भोजन नहीं मिलता, सौ में नब्बे आदमी लिख-पढ़ नहीं सकते ... कहीं साहूकार उनके मुँह का कौर छीन लेता है, कहीं पुलिस।

प्रजा भूखों मर रही है, हमारे विधाताओं को अपने हलवे-माँड़े में रत्तीभर की कमी भी स्वीकार नहीं। सब खर्च ज्यों का त्यों चल रहा है। प्रजा के पास लगान देने को कुछ न हो, मगर सरकार अपना लगान वसूल करके ही छोड़ेगी, चाहे किसान बिक जाय, तबाह हो जाय, चाहे उसकी जमीन बेदखल हो जाय, उसके बर्तन-भाँड़े बैल-बछिये अनाज-भूसा सबका सब बिक जाय ... प्रजा के रहने को झोंपड़े मयस्सर नहीं, सरकार को नई दिल्ली बनवाने की धुन है, प्रजा को रोटियों का ठिकाना नहीं, अधिकारियों को दस-दस और पाँच-पाँच हजार वेतन अवश्य मिलना चाहिए। ... इस सरकारी नीति से कांग्रेस का आश्वासन नहीं हो सकता और न होना चाहिए। सरकार यों तो जनता के हित-साधन का राग अलापते नहीं थकती, लेकिन जब उसका परिचय देने का समय आता है तो बगलें झाँकने लगती है। गोलमेज सभा में भी विधाताओं को इसकी फ़िक्र न थी कि प्रजा की दशा क्योंकर सुधारी जाय, बल्कि यह फ़िक्र थी कि कांग्रेस की शक्ति क्योंकर तोड़ी जाय।

इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए पृथक् निर्वाचन का विधान खोज निकाला गया ... एक तरह से यह निश्चय कर लिया गया कि विच्छेद नीति को बरता जाय।"

इस विच्छेद नीति की बखिया अच्छी तरह उधेड़ने के बाद मुंशीजी ने बैठे ही बढ़ते हुए शब्दों में लिखा—

"जो कुछ रही-सही आशा थी, उसका फ़ेडरेशन ने चिराग़ गुल कर दिया। धन्य है वह मस्तिष्क जिसने फ़ेडरेशन की कल्पना की। सुनने में तो ऐसा मालूम होता है कि यह विधान संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के नमूने पर रचा जा रहा है पर वास्तव में यह केवल राष्ट्र को चिरकाल तक दासता में जकड़े रखने का एक चमत्कारपूर्ण साधन है। राजाओं को एक तिहाई जगहें दे दी जायगी। मुसलमान

भाई एक तिहाई लिये ही बैठे हैं। बाक़ी एक तिहाई में अछूत दलित हिन्दू, ईसाई, सिख ज़मींदार, व्यापारी किसान सभी और और न जाने कितने विशेषाधिकारों के लिए स्थान दिया जायगा। राष्ट्र का अंत हो गया। राजाओं के प्रतिनिधि राजसत्ता की उपासना करेंगे ही मुसलमान जिस तरफ़ अपना फ़ायदा देखेंगे उधर जायेंगे। सभी दल अपनी-अपनी रक्षा करेंगे राष्ट्र की रक्षा कौन करेगा? पूरा चक्रव्यूह है।

कर्मभूमि इन्हीं दिनों में जाकर पूरी हुई —

अमरकान्त की झोंपड़ी में एक लालटेन जल रही है। पाठशाला खुली हुई है। पन्द्रह-बीस लड़के खड़े अभिमन्यु की कथा सुन रहे हैं। अमर खड़ा वह कथा कह रहा है। सभी लड़के कितने प्रसन्न हैं। उनके पीले चेहरे चमक रहे हैं, आँखें जगमगा रही हैं। शायद वे भी अभिमन्यु जैसे वीर, वैसे ही कर्तव्यपरायण होने का स्वप्न देख रहे हैं। उन्हें क्या मालूम एक दिन उन्हें दुर्योधनों और जयद्रथों के सामने घुटने टेकने पड़ेंगे माथे रगड़ने पड़ेंगे कितनी बार वे चक्रव्यूह से भागने की कोशिश करेंगे और भाग न सकेंगे।

घुटने क्यों टेकें भागें क्यों हम इस चक्रव्यूह को तोड़ेंगे।

इसी आवेग में अपनी टिप्पणी समाप्त करते हुए मुंशीजी ने लिखा —

देश में हमेशा फ़ौजी कानून से शासन न किया जा सकेगा क्योंकि देश के सेवक चुप होकर न बैठेंगे और उनकी वाणी में सत्य का ऐसा आकर्षण है कि जनता उनके झंडे के नीचे जमा होने से रुक नहीं सकती। अतएव इंगलैण्ड के सामने दो रास्ते हैं। एक तो राजसत्ता का मार्ग है। तलवार के ज़ोर से प्रजा को दबाये रखना उनका गला कटवाकर मालगुज़ारी वसूल कर ले। वह जो कुछ गाढ़ा पसीना बहाकर कमायें वह रेल तार नमक आदि के महसूल बढ़ाकर आमदनी के टैक्स के रूप में वसूल कर ले। दूसरा जनसत्ता का मार्ग है। प्रजा पर प्रजा के हित के लिए शासन करे, राजा और प्रजा का भाव दिल से निकाल डाले [illegible] मगर इस वक्त इंगलैण्ड इस तरह की बातें सुनने को तैयार नहीं है। वह भारत में अपना आतंक जमाकर छोड़ेगा मानो भारत ने कभी उसके आतंक को न माना था। आतंक तो वह समभाव से भी मान न देता चला आता है। पहले वह इतना भय भीत होता था अब भयभीत भी नहीं होता। अब तो आतंक न उसके मन में जलन होती है अब तो उसे राजसी ठाटबाट धूमधाम चमक-दमक देखकर घृणा होती है सरदारों की शानदार गाड़ियाँ और मखमली पोशाक उस [illegible] उसके दिल में घृणा का भाव उत्पन्न करते हैं। [illegible] सरकार का वैभव भारत के रूप में देखता है। उसकी पुलिस उसे मारती है। उसके कर्म

चारी उसके मुँह का कौर छीनकर खा जाते हैं। उसके बनाये हुए जमींदार उसे बेदर्दी से कुचलते हैं। उसकी बनायी हुई अदालतें उसे तबाह करती हैं। देहात से सुधार और सहयोग और शिक्षा और स्वास्थ्य और वह सभी आमोजनाएं जिनसे राष्ट्र बनता है, जिनसे उसका विकास होता है, लापता हैं। हम दावे से कह सकते हैं कि आज सरकार के विषय में अगर जनता से वोट लिया जाय तो समस्त भारत में पाँच वोट भी न मिलेंगे। और जब तक हमारे विधाता भारत का शासन भारत के हित के लिए न करेंगे, जब तक भारत को इंगलैण्ड का मजूर समझा जायगा, जब तक भारत को धनोपार्जन का अखाड़ा, मोटी नौकरियों का क्षेत्र और इंगलैण्ड के माल का बाजार समझा जायगा, जब तक कसाइयों की भाँति इंगलैण्ड की निगाह भारत के मांस पर रहेगी उस वक्त तक देश में न शान्ति होगी और न उन्नति। दमन सब कुछ कर सकता है पर देश का उद्धार नहीं कर सकता और जब तक देश के उद्धार का आदर्श सामने न हो, शासन केवल लूट है और कुछ नहीं।

कोरा गर्जन-तर्जन होता तो भी शायद सरकार इसको पचा जाती, लेकिन धान्त संयत क्षोभ-संवलित इस लेख को, जिसमें राजसत्ता की पैशाचिक शासन नीति का तार-तार बिखेर दिया गया था, पचा पाना बहुत मुश्किल था और अगले महीने जिस समय मुंशीजी अपने मित्र पद्मसिंह शर्मा की अकाल मृत्यु का शोक मना रहे थे एक हजार की जमानत का परवाना आ चुका था —

"कौन जानता था कि हिन्दी-साहित्य का यह सूर्य अपनी साहित्यिक जीवन के मध्याह्न में ही यों अस्त हो जायगा। पूज्य शर्माजी उन युग के पूरे मनुष्यों में थे जो कभी बूढ़े नहीं होते। आपकी अकाल मृत्यु से हिन्दी साहित्य का एक स्तम्भ उठ गया। आज हम चारों ओर निगाह दौड़ाते हैं और हमें कोई ऐसा आदमी नहीं दीखता जो मुखेबक होने के साथ ही इतना प्रकाण्ड विद्वान् भी हो। आपमें नवीन और प्राचीन का अभूतपूर्व मेल हो गया था। क्या संस्कृत क्या हिन्दी क्या उर्दू क्या फ़ारसी आप इन सभी साहित्यों के ज्ञाता थे। अकबर मरहूम के तो आप आशिक़ ही कहे जा सकते हैं। मैंने आपकी जबान से अकबर की सैकड़ों सूक्तियाँ सुनी हैं। आप उन पर मस्त हो जाते थे। हिन्दी में आप एक खास शैली के जन्म दाता हैं — जिसमें चुलबुलापन है, शोख़ी है, प्रवाह है और उसके साथ ही गांभीर्य भी। उनका साहित्य उनके क़ाबू में है। वह उस पर शहसवार की भाँति सवार होते हैं। उसकी लगाम ढीली नहीं करते उसे बहकने नहीं देते। सूक्तियों के आप भण्डार थे और इसमें तो कलाम ही नहीं कि काव्यशास्त्र के आप मर्मज्ञ थे। शर्माजी जितने बड़े साहित्य-प्रेमी थे उससे कहीं बड़े मनुष्य थे। आपसे मिलकर कभी जी नहीं भरता था। नये लेखकों को आप बड़ा प्रोत्साहन देते थे जो मात्रा

अपने लटपटे बालक को देती है। मेरे ऊपर तो उनकी असीम कृपा थी। सेवासदन उपन्यास क्षेत्र में मेरा पहला प्रयास था। शर्मा जी ने जिस तरह दिल खोलकर उसकी दाद दी वह मैं भूल नहीं सकता। उस समय उनकी कठोर आलोचना ने मेरा अंत कर दिया होता। उसके बाद जब-जब मुझे उनसे मिलने का सुअवसर मिला इस तरह टूटकर गले लगाते थे "

कभी ऐसा भी होता है कि एक आदमी दूसरे के लिए आईना बन जाता है। बहुत-सी बातों में साम्य है दोनों का। उनमें से एक और बहुत बड़ी चीज है — नयी प्रतिभा को पहचानना सहारा देना आगे ले आना।

अपने हंस में उन्हें अच्छे से अच्छे बड़े से बड़े नये और पुराने लिखनेवालों का सहयोग मिला है।

पुरानों में सबसे बड़ा नाम प्रसाद का है जिन्होंने पहले अंक से उसमें लिखा और बराबर लिखा कहानियाँ भी लिखीं कविताएँ भी लिखीं। हंस नाम भी उन्हीं का दिया हुआ है।

पिछले साल चन्द्रगुप्त को लेकर मुंशीजी की उनसे हल्की-सी झपझपी हो गयी थी। माधुरी में उसकी आलोचना करते हुए मुंशीजी ने लिख दिया था कि प्रसाद जी गड़े मुर्दे उखाड़ने में लगे रहते हैं। इस वर्ष कंकाल सामने आया तो मुंशीजी की तबियत फड़क उठी और उन्होंने बड़े तपाक से उसका स्वागत करते हुए लिखा —

यह प्रसाद जी का पहला ही उपन्यास है पर आज हिन्दी में कितने कम ऐसे उपन्यास हैं जो इसके सामने रखे जा सकें। मुझे अब तक आपसे यह शिकायत थी कि आप क्यों प्राचीन वैभव का राग अलापते हैं ऐसी चीजें क्यों नहीं लिखते जिनमें वर्तमान समस्याओं और गुत्थियों को सुलझाया गया हो। न जाने क्यों मेरी यह धारणा हो गयी है कि हम आज से दो हजार वर्ष पूर्व की बातों और समस्याओं का चित्रण सफलता के साथ नहीं कर सकते। मुझे यह असम्भव-सा मालूम होता है।

शायद यह मेरी प्रेरणा का फल है कि प्रसाद जी ने इस उपन्यास में समकालीन सामाजिक समस्याओं को हल करने की चेष्टा की है और खूब की है। मेरी पहली शिकायत पर कुछ लोगों ने मुझे खूब आड़े हाथों लिया था पर अब मुझे वह कठोर बातें बहुत प्रिय लग रही हैं। अगर ऐसी ही दस-पाँच रचनाओं के बाद ऐसी सुन्दर वस्तु निकल आये तो मैं आज भी उसको सहन करने को तैयार हूँ।

नये लोगों में मुंशीजी की सबसे बड़ी उपलब्धि जैनेन्द्र हैं जिन पर उन्हें गर्व है और जिन्हें सामने लाने का कोई मौका मुंशीजी हाथ से नहीं जाने देते। जैनेन्द्र

का रंग मुंशीजी का नहीं है, मगर उससे क्या अपना एक रंग तो है बिलकुल अछूता मौलिक सुन्दर। कौन इन्कार कर सकता है कि जैनेन्द्र में स्फूर्ति है, अपना एक सौरभ है।

जैनेन्द्र का पहला उपन्यास परख इन्हीं दिनों निकला था। उसे पढ़कर मुंशीजी ने २५ नवंबर १९३ के अपने पत्र में लिखा था—

परख मैंने पढ़ लिया था और पढ़कर मुग्ध हो गया था। परख के चारों चरित्र—सत्य कट्टो बिहारी और गरिमा—खूब हुए हैं। सत्य का मनीर, मानसिक संग्राम। बिहारी का चरित्र उससे भी पवित्र किन्तु सरल और विनोद मय समा। कट्टो तो देवी है। आपकी शैली और चरित्र प्रदर्शन का ढंग मुझे बहुत पसन्द आया।

४ दिसम्बर को स्पेशल जेल गुजरात (पंजाब) से भेजे हुए अपने खत में जैनेन्द्र ने एक सवाल परख को लेकर पूछा था—

ऋषभचरण का खत मिला कि आप परख को प्रसाद स्कूल के अधिक निकट समझते हैं। उसका भी खुलासा मैं जानना चाहूँगा।

उसके जवाब में मुंशीजी ने १७ तारीख को लिखा—

अब आपके उस प्रश्न का जवाब कि परख को मैं प्रसाद स्कूल के निकट क्यों समझता हूँ। मैं तो कोई स्कूल नहीं मानता आप ही ने एक बार प्रसाद-स्कूल प्रेमचंद स्कूल की चर्चा की थी। शैली में जरूर कुछ अंतर है मगर वह अंतर कहाँ है वह मेरी समझ में खुद नहीं आता। आपकी शैली में स्फूर्ति सजीवता कहीं अधिक है। रियलिस्ट हममें से कोई भी नहीं है। हममें से कोई भी जीवन को उसके यथार्थ रूप से नहीं दिखाता बल्कि उसके वांछित रूप में ही दिखाता है। मैं नग्न यथार्थवाद का प्रेमी भी नहीं हूँ।

उसी महीने हंस में मुंशीजी ने उस पर लिखा—

परख है तो छोटी किताब पर हिन्दी में एक चीज है। भाषा इतनी सजीव शैली इतनी आकर्षक चरित्र इतना मार्मिक कि चित्त मुग्ध हो जाता है। मगर यह नयी विवाह प्रथा हमारी समझ में नहीं आयी। यदि कट्टो और बिहारी को सेवा-व्रत ही धारण करना था—और ऐसा प्रतीत होता है कि जीवन में वह फिर न मिले होंगे—तो विवाह-बंधन की क्या जरूरत थी? विवाह वासना की चीज न हो सन्तान पैदा करने की चीज न हो पर सम्पत्ति की चीज तो है ही ऐसी गाड़ी तो है ही जिसके दो पहिये होते हैं। यदि स्त्री और पुरुष को एक-दूसरे के प्रेम सहारे और सहानुभूति की जरूरत न हो तो विवाह का नाम ही कौन ले।

जैनेन्द्र जी से हमारी थोड़ी देर की मुलाकात है। सीधे-सादे खद्दरधारी

आदमी हैं, हृदय में देशभक्ति और सेवा का भाव कूट-कूटकर भरा हुआ, न लंबे लंबे सँवारे हुए केश हैं न आँखों पर सुनहरी ऐनक, न कोई टीमटाम। चुपचाप काम करनेवाले आदमियों में हैं, पूरे सत्याग्रही। आजकल गुजरात सेंट्रल जेल में जेल-जीवन पर कोई उपन्यास लिखने की सामग्री जमा कर रहे हैं।

यह आखिरी बात इस निहायत छोटी-सी रिव्यू में भी आये बिना न रही और कैसे न आती, इसी ने तो मुंशीजी के हृदय को इस नये प्रतिभाशाली लेखक के प्रति और भी कोमल बना दिया है और शायद हल्की-सी स्पर्द्धा भी कहीं मन के किसी कोने में रख दी है।

लेकिन जैनेन्द्र ही क्यों, नये लोगों की एक पूरी फ़ौज मुंशीजी के साथ चल रही है जिसके एक-एक सिपाही को उन्होंने बड़े प्यार से गुन अपने हाथों से बनाया सँवारा है, उसी तरह जैसे अच्छे माली की निगाह अपने एक-एक फूल पर रहती है किस फूल का क्या रंग है, कैसी उसकी खुशबू है, वह ठीक बढ़ रहा है या नहीं, कहीं कोई कीड़ा तो उसे नहीं खा रहा है।

मुंशीजी वह बरगद का पेड़ नहीं हैं जिसके नीचे दूसरी कोई चीज़ पनप नहीं सकती। हर जगह अपना ही रंग, अपनी ही छाया, अपनी ही अनुकृति, अपने ही छोटे बौने सुटक्के संस्करण देखने का मोह या वासना मुंशीजी के मन में नहीं है। वह तो बस एक माली हैं जो हर फूल को प्यार करता है और हर फूल को उसके अपने रंग में खिलते, अपनी खुशबू बिखेरते देखना चाहता है।

नये-नये मैदान मारती हुई नयी प्रतिभा को देखकर बहुत बार बड़े आदमियों में एक छोटी अहमिका, एक दुष्ट द्वेष भी पैदा होता है—जो पर्दा डाल देता है उनकी आँखों पर   उसका तो यहाँ ज़िक्र ही बेकार है।

१९ मार्च १९३२ के अपने पत्र में मुंशीजी ने कानपुर के श्री सद्गुरुशरण अवस्थी को लिखा था—

आपके क्लास में यदि कुछ साहित्यिक रुचि के छात्र हों तो उन्हें कुछ लिखते रहने की प्रेरणा करते रहिए। युवक कभी-कभी सुन्दर वस्तु लिख जाते हैं जो हम लोगों से नहीं बन पड़ती। हमारी जीत अभ्यास में है। नवीनता और विचित्रता तो उनके साथ है।

छोटी बात है लेकिन शायद ही सब लोग इसको इतने निश्छल ढंग से कह सकें।

मुंशीजी बार-बार कहते हैं कि आलोचक की दृष्टि उनके पास नहीं है। न होगी। बहस करने से क्या फ़ायदा। तो भी जो कुछ लिखा जा रहा है उस सब पर उनकी नज़र है और उसके बारे में अपनी एक राय और कसौटी रखते हैं। बनारसीदास चतुर्वेदी के एक सवाल के जवाब में उन्होंने ३ जून १९[illegible] को लिखा था—

'हिन्दी में गल्प साहित्य अभी अत्यन्त प्रारम्भिक दशा में है। कहानी लिखनेवालों में सुदर्शन कौशिक जैनेन्द्र कुमार, उग्र प्रसाद, राजेश्वरी यही नजर आते हैं। मुझे जैनेन्द्र और उग्र में मौलिकता और माधुर्य के चिह्न मिलते हैं। प्रसाद जी की कहानियाँ भावात्मक होती हैं रियलिस्टिक नहीं। राजेश्वरी अच्छा लिखती हैं मगर बहुत कम। सुदर्शनजी की रचनाएँ सुन्दर होती हैं पर गहराई नहीं होती और कौशिक जी अक्सर बात को बेजरूरत बढ़ा देते हैं। किसी ने अभी तक समाज के किसी विशेष अंग का विशेषरूप से अध्ययन नहीं किया। उग्र ने किया मगर बहक गये। मैंने कृषक समाज को लिया। मगर अभी कितने ही ऐसे समाज पड़े हैं जिनपर रोशनी डालने की जरूरत है। साधुओं के समाज को किसी ने स्पर्श तक नहीं किया। हमारे यहाँ कल्पना की प्रधानता है अनुभूति की नहीं। बात यह है कि अभी तक साहित्य को हम व्यवसाय के रूप में नहीं ग्रहण कर सके।

दो बरस बाद चतुर्वेदीजी की फिर उसकी जिज्ञासा 'भविष्य किनका है?' के उत्तर में मुंशीजी ने लिखा—

• नाटककार हमारे पास बहुत ही कम हैं। रोमांटिक स्कूल के प्रसाद हैं, बुद्धिवादी स्कूल के पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र हैं, हास्यरस के श्री जी० पी० श्रीवास्तव हैं। इस क्षेत्र में सबसे नये भुवनेश्वर हैं जिनके एकांकी नाटकों का संग्रह 'कारवाँ' अभी हाल में ही प्रकाशित हुआ है। मेरी समझ में भुवनेश्वर सबसे अधिक प्रतिभासम्पन्न हैं शर्त एक ही है कि वह अपनी प्रतिभा को आलस्य, खयाली पुलाव पकाने, सिगरेट फूंकने और हवाबाजी के चक्कर में बरबाद न कर दें। उनके पास अभिव्यक्ति की असाधारण शक्ति है, मास्टर बाइल्ड और शा के रंग में। सियारामजी को मैं पसंद नहीं कर सका। विचार उनके पास हो सकते हैं पर उनमें शक्ति नहीं है अभिव्यक्ति का वेग नहीं है। मिलिन्द और हरिकृष्ण प्रेमी हैं दोनों में नाटकीय शक्ति है पर नाटक की आधुनिक पकड़ नहीं है।

उपन्यासकारों में वृन्दावनलाल वर्मा, भगवतीचरण वर्मा, निराला, सियारामशरण गुप्त, प्रसाद, प्रतापनारायण मिश्र आदि हैं। मैं समझता हूँ कि वृन्दावनलाल वर्मा सबसे बढ़-चढ़कर हैं।

कहानीकारों में चुनाव करना इससे भी ज्यादा कठिन है—अज्ञेय हैं, चन्द्रगुप्त, कमला देवी, सुभद्रा, उषा मित्रा, सत्यजीवन, भुवनेश्वर, जनार्दन झा, जनार्दन राय नागर, अंचल, ओझा, राधाकृष्ण, वीरेन्द्र कुमार और दूसरे बहुत-से लोग हैं।

हास्यरस के लिखनेवालों में अन्नपूर्णानन्द मशहूर हैं गो कि वह बहुत ही कम लिखते हैं।

रचनात्मकता ही मूल वस्तु है रचनात्मक प्रतिभाएँ हमारे यहाँ बहुत कम हैं। कहानीकारों में मैदान जैनेन्द्र के हाथ है।

निबन्धों में पं० रामचन्द्र शुक्ल एकछत्र सम्राट् हैं

आपके मित्र बाबू व्रजमोहन वर्मा भी हँसी-मज़ाक़ में बहुत ही प्यारे लिखते जाते हैं और द्विवेदी ग्रन्थ में उनका 'धोखा' एक मास्टरपीस था। ये कुछ बातें हैं यों ही राह चलती-सी जिनमें आपको नया कुछ न मिलेगा पर (यह तो मैं आपसे पहले ही कह चुका हूँ) मैं कोई आलोचनाबुद्धि-सम्पन्न पाठक नहीं हूँ। सच तो यह है कि मुझमें तनिक भी आलोचनात्मक प्रतिभा नहीं है।

आपने जो विषय चुना है वह साहित्य के पूरे क्षेत्र को अपनी परिधि में लेता है लेकिन उसमें कोई भविष्यवाणी नहीं कर सकता। जिनमें आज सबसे अधिक सम्भावनाएँ दिखायी पड़ रही हैं हो सकता है कि वह बिल्कुल बुझ साबित हों और जो आज अति साधारण जान पड़ रहे हैं चमक जायें।●

मुंशीजी देखते सबको हैं लेकिन उनकी असल निगाह मँजे हुए खिलाड़ियों पर नहीं है, उन्होंने तो अपना रास्ता पा लिया है, उनके हाथ सध गये हैं उनकी बुद्धि पक चुकी है उन्हें अपने रास्ते पर जाने दो। लेकिन जो अभी इस मैदान के नये खिलाड़ी हैं—वह अभी कुम्हार की गीली मिट्टी हैं, उन्हें अभी गढ़ा जा सकता है।

मगर मुंशीजी खुद भी कभी इस तरह के बछेड़े रह चुके हैं उन्हें पता है कि यह जल्दी किसी को पुट्ठे पर हाथ नहीं रखने देता। लेकिन दोस्त की तलाश सबको होती है, नये लिखनेवाले को खासकर। और दोस्त ही उसे नहीं मिलता। मिलने हैं कौन? अपने से छोटे आदर-विगलित प्रशंसक या अपने से बड़े दम्भपशु मौनव्रती पत्थर-गंभीर, दिग्गज महारथी

मुंशीजी उम्र में बड़े हैं तो क्या दिग्गज महारथी हैं तो क्या सबसे पहले यह दोस्त आदमी हैं जिन्हें अपने से दस बरस छोटे आदमी से भी गले में बाँहें डालकर बात करना अच्छा लगता है।

वीरेश्वर सिंह एक नए लेखक हैं। उन्हीं दिनों उनकी कुछ कहानियाँ इधर उधर निकलना शुरू हुई थीं। मुंशीजी ने उनकी एक कहानी पढ़कर उनको लिखा (इस तरह के कार्ड मुंशीजी काफ़ी छोड़ते रहते थे)—

चाँद में आपकी कहानी पढ़कर बड़ा आनन्द आया। कई जगह तो मन मुग्ध हो गया। मैं आपकी बड़ाई या निन्दा तो नहीं करना चाहता लेकिन कभी कभी कुछ लिखा करें तो एहसान समझूँगा।

अर्थात बात किसी दूसरी कहानी के प्रसंग में लिखा—

कहानी मिली। धन्यवाद। पढ़ा और जी खुश हुआ। प्रोपेगण्डा से बचे तो अच्छा हो। मैं खुद इस मर्ज में मुब्तिला हूँ पर है यह दोष। फिर भी तुमने कहानी में इतना रस भर दिया है कि उसका यह दोष जरा भी नहीं खटकता। नख-शिख खींचने में तुम्हें बहुत कम लोग पहुँच सकते हैं। संसार की सर्वोत्कृष्ट कहानियाँ पढ़ते रहा करो और लिखना तो ईश्वरीय शक्ति है। अभ्यास से इसे चमकाया जा सकता है लेकिन जहाँ नहीं है वहाँ पूरा पुस्तकालय पढ़ जाने से भी नहीं आता।

फिर दो महीने बाद —

"आज तुम्हारा जैसी का बाप पढ़कर मुग्ध हो गया। तुम यहाँ होते तो तुम्हारा हाथ चूम लेता। लेकिन अब तारीफ न करूँगा नहीं समझोगे पीठ ठोंक रहा है।"

बी० ए० के एक छात्र के लिये प्रेमचंद की ये चिट्ठियाँ कच्ची शराब के नश्शे से कम न थीं। किसी ऐसी ही चिट्ठी का जिक्र करते हुए उपेन्द्रनाथ अश्क ने लिखा है कि वह गर्मी की सारी दोपहर और न जाने कितनी दोपहरें चिट्ठी जेब में डाले साइकिल पर जालन्धर का चक्कर लगाते और मुसकरा-मुसकराकर सोचा कि जालंधर के हर बाशिन्दे को यह खबर देते घूमते रहे थे कि यह देखो यह प्रेमचन्द का खत आया है, हाँ हाँ प्रेमचंद का पढ़कर भी तो देखो

लेकिन सिर्फ तारीफ ही नहीं। २३ मार्च १९३२ के अपने खत में मुंशीजी ने अश्क को लिखा —

• तुमने नरेन्द्र को बिना काफी कारणों के शादी करने पर आमादा कर दिया। वह शादी से बेजार है। मित्र हित जीवन का दृश्य देखकर उसकी तबीयत और उदासीन हो जाती है। फिर यकायक वह शादी करने पर तैयार हो जाता है। लेकिन यह कौन कह सकता है कि जिन मियाँ-बीबी को उसने लड़ते देखा था, उनका जीवन भी जीवन की पहली मधु ऋतु में इतना ही आकर्षक न रहा होगा? तुम्हें कोई ऐसा सीन दिखाना चाहिए था कि जिसमें इंसान को अपना अकेलापन असह्य हो जाता या मियाँ-बीबी में जंग होने के बावजूद भी उनमें ऐसा चारित्रिक सौन्दर्य होता जो इंसान को शादी की तरफ झुकने पर विवश करता। मौजूदा हालत में किस्सा convincing नहीं है।

पढ़ने के लिए लाइब्रेरी से मनोविज्ञान की एक किताब ले लो स्कूली कोर्स की किताब नहीं अभी एक किताब निकली है The Aspects of a Novel, इस विषय पर अच्छी पुस्तक है। मतलब सिर्फ यह है कि इंसान उदार विचारवाला हो जाय उसकी संवेदनाएँ व्यापक हो जायें। डाक्टर टैगोर के साहित्यिक और

दार्शनिक निबन्ध बहुत ही आला दर्जे के हैं। रोमाँ रोलाँ का विवेकानन्द जरूर पढ़ो। उनकी गांधी भी पढ़ने के काबिल है। डाक्टर राधाकृष्णन की दर्शन संबंधी किताबें टालस्टाय का What is Art वगैरह किताबें जरूर देखनी चाहिए।

तारीफ़ भी है इसलाह भी है हल्की-फुल्की नसीहत भी है, कहीं गुस्सा और झुँझलाहट भी है (जैसे कि भुवनेश्वरप्रसाद पर) लेकिन जो है सब दोस्ताना है। इसलिए जी पर भारी नहीं पड़ता।

बहुत अच्छी सद्भावना है। उपादेवी मित्रा हिन्दी की ड्योढ़ी पर आकर खड़ी थीं जब ७ जून १९३३ को मुंशीजी ने उन्हें लिखा —

मुझे यह जानकर हर्ष हुआ कि आपको हिन्दी से प्रेम है और आप हिन्दी साहित्य में आना चाहती हैं। मैं आपका स्वागत करने को तैयार बैठा हूँ।

मगर फूल पौधों की परवरिश के साथ-साथ माली का एक उतना ही जरूरी काम झाड़-झंखाड़ की सफ़ाई भी है। संयोग से इन्हीं दिनों जनवरी-फ़रवरी १९३२ में इसका प्रसंग उठा 'हंस' के आत्मकथांक को लेकर। महापुरुषों की आत्मकथाएँ नहीं जिनका आम चलन है, साधारण जनों साहित्यसेवियों समाजसेवियों की आत्मकथाएँ। पंडित नन्द दुलारे वाजपेयी को जो उसी साल एम० ए० पास करके 'भारत' के सम्पादक बने थे यह बात कुछ अच्छी नहीं लगी। उन्होंने तरुणाई के पूरे आवेश के साथ उसका विरोध किया और बहुत सी अनगहनी बातें कह गये। मुंशीजी को बेतरह लगी और एक अच्छा खासा झगड़ा खड़ा हो गया।

मुंशीजी कब बाज आते ऐसी बातों की 'डिफ़ेन्स' से मैदान में कूद पड़े और बहस छिड़ गयी। वाजपेयी जी के एक-एक आक्षेप को लेकर मुंशीजी उत्तर देने लगे —

● वाजपेयी जी फ़रमाते हैं — प्रेमचन्द के सभी समीक्षक जानते हैं कि उनका सबसे बड़ा दोष था उनकी साहित्य कला को कलंकित करने में समर्थ हुआ है वही प्रोपेगेंडा है।

इसका क्या जवाब दिया जा सकता है। सभी लेखक कोई न कोई प्रोपेगेंडा करते हैं — सामाजिक नैतिक या बौद्धिक। अगर प्रोपेगेंडा न हो तो संसार में साहित्य की जरूरत न रहे। जो प्रोपेगेंडा नहीं कर सकता वह विचारशून्य है और उसे कलम हाथ में लेने का कोई अधिकार नहीं। मैं उस प्रोपेगेंडा को गर्व से स्वीकार करता हूँ ... । मेरा विरोध तो उस प्रोपेगेंडा से ... से है जो नाम और यश और कीर्ति और धन-दौलत के वास्ते किया जाता है। जिस आदमी ने जीवन में एक बार भी किसी साहित्य सम्मेलन या सभा में शरीक होने का गुनाह न किया हो,

जो प्लेटफ़ार्म को सूली का तख्ता समझता हो उसको अपना ढिंढोरा पीटनेवाला कहना न्याय नहीं है। ●

वाजपेयीजी ने अपने लेख में कहीं यह भी लिखा था —

जहाँ व्यक्ति के व्यक्तित्व के कोई स्वतन्त्र विषय नहीं रह जाते उच्च साहित्य की वह भावभूमि है। जहाँ अपरिग्रह का साम्राज्य है फ़ोटो नहीं छापे जाते। जहाँ वाणी मौन रहती है गाथा गाने में सुख नहीं मानती

उसका जवाब देते हुए मुंशीजी ने कहा —

●जहाँ वाणी मौन रहती है वह साहित्य है? वह साहित्य नहीं मूँगापन है। साहित्य का काम भावों को अन्तःकरण में अनुभव करना ही नहीं उनको व्यक्त करना है। तुलसीदास ने रामायण द्वारा अपनी आत्मा को व्यक्त किया है अन्यथा आज उनका कोई नाम भी न जानता

इन वाक्यों का सीधा-सादा अर्थ जो हम समझ सके हैं यह यह मालूम होता है कि साहित्यकारों को आत्मविज्ञापन नहीं करना चाहिए। यह सभी के लिए सिद्ध है और साहित्यिक प्राणियों के लिए और भी अधिक। इसके मानने में किसी को मतभेद नहीं हो सकता। लेकिन क्या आत्मकथा और आत्मविज्ञापन समान हैं? थोड़े-बहुत अच्छे या बुरे अनुभव सभी प्राणियों के जीवन में हुआ करते हैं। जो लोग साहित्य के क्षेत्र में आकर अपना तन-मन घुलाते हैं, वह केवल आत्म विज्ञापन के भूखे नहीं होते। आप अपने दार्शनिक गाम्भीर्य के कारण उन्हें जितना चाहें पतित समझ लें पर साहित्य-क्षेत्र में जो कोई भी आता है वह अपनी आत्मा की प्रेरणा ही से आता है। यह दूसरी बात है कि वह परमपद को प्राप्त कर सके या न कर सके। स्कूल में सभी लड़के तो गांधी और बोसले नहीं हो जाते न सभी भारत-संचालक हो जाते हैं पर यह कहना कि वे केवल विद्याभ्यास का स्वांग रचने वाले हैं ऐसी बात है जिसका जवाब खामोशी है। हम तो कहते हैं कि एक मामूली मजदूर के जीवन में भी खोजने से कुछ ऐसी बातें मिल जायेंगी जो अमर साहित्य का विषय बन सकती हैं। केवल देखनेवाली आँख और लिखनेवाली क़लम चाहिए ●

मुंशीजी अपने सात्विक क्रोध के आवेश में आँधी-तूफ़ान की तरह लिखते चले जा रहे हैं, उन्हें दायें-बायें देखने तक की फ़ुर्सत नहीं है और न कोई लिहाज़-मुरौवत हन-हनाकर चोटें मार रहे हैं।

कोरी शास्त्रीय बहस होती तो भी शायद मुमकिन होता बहुत सोच-सोचकर, तौल-तौलकर शब्दों को बिठाना। यहाँ तो हमला हुआ है अपने और अपने ही

दार्शनिक निबन्ध बहुत ही आला दर्जे के हैं। रार्म रोलाँ का विवेकानन्द जरूर पढ़ो। उनकी गांधी भी पढ़ने के काबिल है। डाक्टर राधाकृष्णन की दर्शन संबंधी किताबें टाल्सटाय का What is Art वगैरह किताबें जरूर देखनी चाहिए।

तारीफ़ भी है इसलाह भी है हल्की-फुल्की नसीहत भी है कहीं गुस्सा और *झुँझलाहट भी है (जैसे कि भुवनेश्वरप्रसाद पर) लेकिन जो है सब दोस्ताना है।* इसलिए जी पर भारी नहीं पड़ता।

बहुत सच्ची सद्भावना है। उषादेवी मित्रा हिन्दी की ड्योढ़ी पर आकर खड़ी थीं जब ७ जून १९३१ को मुंशीजी ने उन्हें लिखा —

मुझे यह जानकर हर्ष हुआ कि आपको हिन्दी से प्रेम है और आप हिन्दी साहित्य में आना चाहती हैं। मैं आपका स्वागत करने को तैयार बैठा हूँ।

मगर-फूल पौधों की परवरिश के साथ-साथ माली का एक उतना ही जरूरी काम झाड़-झंखाड़ की सफाई भी है। संयोग से इन्हीं दिनों जनवरी-फरवरी १९३२ में इसका प्रसंग उठ खड़ा हुआ हंस के आत्मकथांक को लेकर। महापुरुषों की आत्मकथाएँ नहीं बल्कि आम जनता की, साधारण जनों साहित्यसेवियों समाजसेवियों की आत्मकथाएँ। पंडित नन्द दुलारे वाजपेयी को जो उसी साल एम० ए० पास करके भारत के सम्पादक बने थे यह बात कुछ अच्छी नहीं लगी। उन्होंने तरुणाई के पूरे आवेश के साथ उसका विरोध किया और बहुत सी बेसिरपैर की बातें कह गये जो मुंशीजी को बेतरह खलीं और एक अच्छा खासा बखेड़ा खड़ा हो गया।

मुंशीजी कब ताव खाते ऐसी बातों की हिमाकत से मैदान में कूद पड़े और बहस छिड़ गयी। वाजपेयी जी के एक-एक आक्षेप को लेकर मुंशीजी उत्तर देने लगे —

● वाजपेयी जी फरमाते हैं — प्रेमचन्द के सभी समीक्षक जानते हैं कि उनका सबसे बड़ा दोष जो उनकी साहित्य कला को कलंकित करने में समर्थ हुआ है, वही प्रोपेगेंडा है।

इसका क्या जवाब दिया जा सकता है। सभी लेखक कोई न कोई प्रोपेगेंडा करते हैं — सामाजिक नैतिक या बौद्धिक। अगर प्रोपेगेंडा न हो तो संसार में साहित्य की जरूरत न रहे। जो प्रोपेगेंडा नहीं कर सकता वह विचारशून्य है और उसे कलम हाथ में लेने का कोई अधिकार नहीं। मैं उस प्रोपेगेंडा को गर्व से स्वीकार करता हूँ। मेरा विरोध तो उस प्रोपेगेंडा से ही है जो नाम और यश और कीर्ति और धन-मोह के वश किया जाता है। जिस आदमी ने जीवन में एक बार भी किसी साहित्य सम्मेलन या सभा में शरीक होने का गुनाह न किया हो,

जैसे और न जाने कितने ग़रीब साहित्यकारों के जीवन भी सारी कमाई पर, उनके समस्त जीवन-आदर्शों पर, निष्ठा पर, जिन्हें कैसी-कैसी हालतों में सोलह-सोलह और अठारह-अठारह घंटे काम करने के बाद भी आधे पेट खाकर, फटे-पुराने कपड़े पहनकर, नंगे पाँव रहकर, हम अपनी छाती से लगाये रहे हैं। सब कुछ झेलकर भी हमने अपनी आत्मा नहीं बेची, सरकार बहादुर की चीरदस्ती करके तर माल खाने और अपना घर भरने की तमीज़ नहीं थी, अमीर-उमरा के टुकड़ों पर नहीं गिरे — और न कभी किसी से भीख माँगी। न मेरे-तेरे आगे जाकर अपनी तक़-लीफ़ गायी। वह एक ओछी बात होती, उससे हमारे दर्द का मूल्य घटता। हमने शांत भाव से उसे अपने दिल के भीतर बंद रखा। इसी में उसकी सार्थकता थी, गौरव था, तृप्ति का आस्वाद था। तुम क्या जानो (जब दशा तुमने हमें कष्ट की पराजय की घड़ियों में) हम क्यों कभी-कभी सबकी नज़र बचाकर अपने भीतर झाँक लेते थे कहाँ हमारे हृदय की वह रत्न-मंजूषा है जिसका हाट में कौड़ी मोल नहीं है। सब बातें सबसे कहने की नहीं होतीं लेकिन क्या हमें दर्द नहीं होता? हम क्या पत्थर हैं?

तब फिर कैसे हिम्मत पड़ी इस आदमी को कि इस तरह सरीहन् हमको गाली दे? सारी ज़िन्दगी भाड़ झोंककर क्या हमने बस हाथ काला किया?

मुंशीजी समझ रहे हैं कि वह सिर्फ़ अपने लिए नहीं, अपने जैसे और भी न जाने कितने लोगों के लिए लड़ रहे हैं जो गुमनाम हैं मगर जिन्होंने आँखें खोलकर किसी बड़े आदर्श के लिए सच्चा कष्ट सहा है और जिनके पास कुछ कहने को है — बड़े-बड़े लोगों के अनुभव बड़े-बड़े होते हैं, लेकिन जीवन में ऐसे कितने ही अवसर आते हैं जब छोटों के अनुभव से ही हमारा कल्याण होता है। सुई की जगह तल-वार नहीं काम दे सकती। मेरा ख़याल है कि मेरे घर के मेहतर के जीवन में भी कुछ ऐसे रहस्य हैं जिनसे हमें प्रकाश मिल सकता है। किसी भी मनुष्य का जीवन इतना तुच्छ नहीं है जिसमें बड़े से बड़े महत्वाकांक्षियों के लिए भी कुछ न कुछ विचार की सामग्री न हो

मई १९३२ के दिन हैं, लखनऊ के शायद आख़िरी दिन। मुंशीजी गणेश गंज के पीछे छिपा लेनेवाले मकान से उठकर पास ही ग्रेन मार्केट के घर में आ गये हैं। इतवार की दोपहर है। मुंशीजी अपने किसी दोस्त के साथ शतरंज खेल रहे हैं। चारपाई पर आप हैं, सामने कुर्सी पर दूसरे सज्जन, बीच में छोटी-सी मेज़ पर शतरंज की बिसात। काठ के मोहरे दौड़ाने में, फ़ील और रुख़ चलाने में दोनों तल्लीन हैं। कमरे में सन्नाटा छाया हुआ है। थोड़ी देर बाद उस ख़ामोशी को तोड़ती

हुई मुंशीजी की आवाज़ सुनायी पड़ती है—पैसा तो मैं मरने न दूँगा फीता भले कट जाय। पैदल रहेंगे तो फिर धीमे बन जायेंगे

मुंशीजी खुद छोटे आदमी हैं और छोटे आदमियों के प्रति तिरस्कार का भाव उन्हें बिल्कुल सह्य नहीं।

बहरहाल लेख का अंत आते-आते गुस्सा ठण्डा पड़ चुका था—

मेरी तो अच्छी-बुरी किसी तरह कट गई, मन तो हाथ न लगा हालाँकि कोशिश बहुत की और अब इस फ़िक्र में हूँ कि कोई आठ का पूरा ग्रंथ फँस जाय तो अपनी कोई रचना उसे समर्पण कर दूँ। लेकिन आपको अभी बहुत कुछ करना है, बहुत कुछ सीखना है बहुत कुछ देखना है। आदर्श बहुत अच्छी चीज़ है। लेकिन संसार में बड़े से बड़े आदर्शवादियों को भी कुछ न कुछ झुकना ही पड़ता है। यह न समझिए कि जो कुछ आप समझते हैं वही सत्य है, दूसरे निरे गावदी हैं। मतभेद होना स्वाभाविक है। लेकिन जिनसे मतभेद हो उन्हें नीचा न समझिए। जिसे आप नीचा समझेंगे वह आपकी पूजा न करेगा। अब गुस्सा थूक दीजिए। आपने बिगड़कर मन को शान्त कर लिया मैंने आपके बिगड़ने का आनन्द उठाकर मन को शान्त कर लिया। आइए, हाथ मिला लें।

यह मुंशीजी की एक ख़ास मोहिनी अदा है (जो अदा नहीं उनका सहज स्वभाव है) जिसके आगे सब ढेर हो जाते हैं—वह स्वच्छ पानी जैसी पारदर्शिता सरल निश्छल

पूरे छत्तीस बरस बाद ५ फ़रवरी १९५९ को आकाशवाणी से बोलते समय इस घटना को याद करके वाजपेयीजी के मन में बस अपनी भूल की प्रतीति और मुंशीजी के प्रति निष्कलुष स्नेह और आदर का भाव रह गया और उसके साथ ही उन्हें याद आयी उसके भी एक बरस पहले सन् इकत्तीस की एक घटना जब उन्होंने मुंशीजी पर 'भारत' में एक काफ़ी तीखा लेख लिखा था जिसे पढ़कर मुंशीजी ने उनको लिखा था—तारीफ़ तो बहुत से लोग करते हैं पर कमियों को दिखाने वाले नहीं मिलते। आपका मैं शुक्रगुज़ार हूँ, आपने कई मानों में मेरा उपकार किया। ऐसा ही अनुभव इलाचन्द्र जोशी को हुआ—

यद्यपि सामयिक पत्रों में प्रेमचंद जी की कला-संबंधी धारणा से मेरा मतभेद कुछ कड़वे रूप में व्यक्त हो चुका था पर जब मैं उनसे मिला तो उन्होंने अपनी बातों में किसी सामान्य संकेत से भी यह बात प्रकट न होने दी कि मेरे विचारों से मतभेद होने के कारण मेरे प्रति उनके मन में किसी प्रकार का द्वेषभाव उत्पन्न हुआ है। प्रारम्भ में उन्होंने कुछ संकोच के साथ बातें अवश्य कीं पर कुछ ही देर

बाद वह ऐसे खुले कि दोनों को ऐसा अनुभव होने लगा जैसे हम लोगों की बड़ी पुरानी मैत्री हो।

रूप का यही काम नहीं हाँ क्रोध है प्रबल अधिक छोटी बातों में नहीं उनमें जहाँ कोई उनकी इज्जत पर ईमान पर जीवन के गहरे विश्वासों पर चोट करता है। उस वक्त उन्हें फिर और कुछ नहीं सूझता गुस्से से थरथराने लगते हैं और कनपटी की रगें फूल जाती हैं। युद्ध

जो रक्षणीय है उसकी रक्षा करने में कैसी दुविधा कैसा संकोच?

३०

लखनऊ का आबदाना खतम हुआ। अब यहाँ से तंबू-खेमा उखड़ता है। लमही का रस्ता पर तो कहीं नहीं गया। होगी गुजर, जैसे भी होगी। मगर उसके पहले और भी कहीं हाथ-पैर मार लेने में क्या बुराई है।

निज़ाम सरकार की उर्दू-करण की नीति के अन्तर्गत उस्मानिया युनिवर्सिटी के अधीन अनुवादकों का एक ब्यूरो कायम किया गया था जिसका काम ज्ञान विज्ञान की अधिक से अधिक पुस्तकों का अनुवाद करना था। शायद उसी की तरफ उदाहरण-स्वरूप इशारा करते हुए मुंशीजी ने २१ जनवरी १९३२ के अपने पत्र में लिखा था — हैदराबाद में आपको मेरी याद न आयी कुदरती बात है। याद तो उनकी आती है जो बार-बार याददिहानी करते रहें। मैंने तो मुद्दत से ज़िक्र कर दिया था। जब तक क़लम और दिमाग़ काम करता है तब तक ग़म नहीं। जब बेकार हो जाऊँगा तब देखी जायगी। तीन महीने और यहाँ हूँ। फिर मेरा देहाती मकान है और मैं हूँ। अब तक दौलतमन्द न हो सका तो अब क्या होऊँगा। आदमी की कमज़ोरी है कि वह बेफ़िक्री चाहता है वर्ना कुछ छोड़कर मरे तो क्या और ख़ाली हाथ गये तो क्या।

अगला खत बतारीख २५ फरवरी दर्द की एक पूरी दास्तान है —
चार फोड़े लगातार निकले। इनसे नजात न होने पायी थी कि दाँतों में दर्द हुआ। दाँत से फुर्सत मिली तो पेट में दर्द शुरू हुआ

मैं अप्रैल में बनारस चला जाऊँगा। देहात में बैठकर लिटरेरी काम करता रहूँगा। अगर रीडरें मंजूर हो गयीं तो तीन साल तक कोई परेशानी न होगी। ऐसी उम्मीद है। क्या होगा ईश्वर जाने। अगर आपकी मआरफ़त हज़रत साहब से कोई तर्जुमा या तालीफ़ का काम माकूल मुआवज़े पर मिल जाय तो मेरे लिए हासिल करने की कोशिश क्यों नहीं करते? साल में पाँच सौ का काम भी कर लूँ तो मुझे पूरा बेफ़िक्री हो जाये। नाविल वगैरह का बाजार बहुत ठण्डा है। बड़ी हिम्मत शिकन हालत पैदा हो गयी है।

गाल्सवर्दी के ड्रामों का तर्जुमा करके मुंशीजी ने निगम साहब को दे दिया

था लेकिन निगम साहब ने अब तक उन पर नज़र डालकर उन्हें एकेडेमी के हवाले नहीं किया था। १ अप्रैल १९१२ को मुंशीजी ने उन्हें लिखा—

माफ़ कीजिए साल भर से ग़ायब हो गया। इस काम में मैं और बाबू हरप्रसाद सक्सेना दोनों ही शरीक थे। वह बेचारे जेल में हैं। *उन्होंने अपना नाम पोशीदा रखने की ताकीद कर दी थी* इसलिए मैंने कभी ज़िक्र नहीं किया। मगर मैंने महज़ उनकी ख़बरगिरी का ख़याल करके उनकी इमदाद की थी। आज फ़ैज़ाबाद जेल से उनका दर्दनाक ख़त आया है। इसलिए मैं फिर ख़ाकसारी करने पर मजबूर हुआ हूँ। अगर आप इस वक़्त एक सौ रुपये की पेशगी वसूल कर सकें तो मैं उनकी बीवी को दे दूँ। वह अभी-अभी यहाँ आयी थीं। मेरी हालत इस वक़्त ऐसी नहीं है कि सौ रुपये निकाल कर दे दूँ। मैं अभी बाहर हूँ और मुझे ऐसी शदीद¹ ज़रूरत नहीं। मगर उनकी हालत हमदर्दीतलब है।

ख़ुद मुंशीजी की हालत कुछ कम हमदर्दीतलब नहीं। जिस रौशनख़याली कुतुबख़ाने ने लखनऊ के राय उमानाथ बली ने मुंशीजी को मुख़ातिब किया था उसका भी आख़िरकार कोई नतीजा नहीं निकला और मुंशीजी ने लिखा—'मेरा हिन्दी सेट तो बरबाद हो गया। ताल्लुक़ेदार प्रेस किताबों की छपाई का इन्तज़ाम न कर सका। कारकुनों में कुछ ऐसी बदमज़गियाँ पैदा हो गयीं कि राय साहब की कुछ न चली और उनका नुक़सान भी हुआ। कम्पोज़ वग़ैरह पहले ही से रख लिये गये थे। एक हज़ार का टाइप भी आ गया था। मगर सब धरा रह गया। साझे की खेती थी। मुअल्लिफ़ों³ में तीन साहब थे एक बच्चा भी था। और बसहाब हवा खाने पहाड़ों पर तशरीफ़ ले गये मैं रह गया। मैंने भी प्रेस की हालत देखी तो चुपका हो रहा।

काफ़ी मज़ा ले-लेकर कहानी कह रहे हैं—मगर यह तो उनकी तबीयत में दाख़िल है। अपनी नोटबुक में न जाने किस सन्दर्भ में उन्होंने एक जगह टाँक रखा है—टेल्स आफ़ मिज़री टोल्ड इन ह्यूमरस स्टाइल ग़म की कहानी मज़ा ले लेकर

यह भी एक ऐसा ही चुटकुला है। और इसी रंग में साल दो बरस पहले उन्होंने अपनी बेहतरीन कहानियों में से एक पूस की रात लिखी थी जिसमें किसान अपनी फ़सल के चौपट होने पर ख़ुश होता है कि चलो छुट्टी हुई, अब पूस की ठिठुरती हुई रात में उस पर पहरा तो न देना पड़ेगा।

---

१ सख़्त २ कट गया ३ सम्पादकों

दर्द का हद से गुज़रना है दवा हो जाना

आखिरकार मई का महीना आधा गुज़रने के पहले मुंशीजी बनारस पहुँच गये और गर्मी की छुट्टियाँ हस्बे दस्तूर लमही में बीतीं।

खूब भोर में उठते और लोटा लेकर दूर बाग़ान सिवहना की तरफ़ निकल जाते। लौटते तो लोटे में टपके हुए आम होते।

घर के सामने दो पत्थर की बेंचें थीं। उन्हीं पर बैठकर इत्मीनान से कुल्ला दतुवन होता।

नौकरी के सिलसिले में मुंशीजी को काफ़ी लंबे-लंबे अर्सों के लिए बाहर रह जाना पड़ता पर गाँव आकर सबसे घुल-मिल जाने में उन्हें एक दिन का भी समय न लगता। चिरकी-चमारन सुंदर-गरीब, झींगुर-सींगुर, रमन-बेलावन (जिसमें वह किसी के भैया थे किसी के चच्चा किसी के बब्बा)—सब जैसे उनके लिए तड़पते रहे हों और देखते ही दौड़कर अँकवार में ले लेना चाहते हों।

गाँव से बाहर खेतों को जाने का रास्ता मुंशीजी के घर के बगल से गया है और अक्सर सुबह-शाम वहीं पत्थर की बेंच पर बैठे-बैठे मुंशीजी की मुलाकात सबसे हो जाती। जो उधर से गुज़रता वहीं थोड़ी देर के लिए बैठ जाता कुछ अपनी कहता कुछ उनकी सुनता। किसकी कहाँ कितनी खेत है किसके यहाँ कब कौन बीमार है किसके यहाँ भाइयों में अनबन चल रही है—सब कुछ उनको पता रहता और जो पता न रहता उसकी पूछताछ करके अपनी जानकारी अपटूडेट कर लेते।

किसान भोलू नहीं होता बहुत चाघ होता है (वर्ना जिये कैसे?) लेकिन उसके भीतर इन्सानियत और हमदर्दी का जो एक स्तर है, वह भी उनसे छिपा न था। शायद यही वजह थी कि उनके मित्र सब कुर्मियों में थे कायस्थों में वैसा मित्र एक न था। सभी मुख्तार मुहर्रिर अहलमद पटवारी थे अदालती लोग जिनकी देह नियत में अदालत घुस गयी थी—उनसे मुंशीजी की पटरी न बैठती हो। रिश्तों के नाते उनकी बेशेतर दिलचस्पी और राह-रस्म उनसे भी थी, लेकिन वह और चीज़ है।

प्रेस अपनी उसी पुरानी खड़खड़ चाल से चल रहा था। कितनी बार उसे बंद कर देने का ख़याल आता था लेकिन हर बार तीस चालीस लोगों की रोज़ी का ख़याल उसे दबा देता था। हंस निकालने के पीछे दूसरी बातों के साथ-साथ प्रेस को काम देने का ख़याल भी था। लेकिन हंस कोढ़ में खाज साबित हो रहा था।

बस चलता और जहाँ दूसरे लोग अपना-अपना बस्ता सँभालकर कचहरी की राह लेते वहाँ मुंशीजी भी किरमिच या चमड़े के तल्लेदार जूतों पर अपनी घर की धुली धोती और देहाती दर्ज़ी के हाथ का सिला हुआ मटमैला-सा कुर्ता पहनकर छाता लेकर शहर चल पड़ते। जो समय अड्डे पर इक्का मिल जाता तो एक सवारी का अधन्नी लगता और जो कभी दो मील दूर पिसनहरिया तक पैदल रास्ता नापना पड़ जाता तो दो ही आने में काम चल जाता।

प्रेस पहुँचकर दिन उसी सब शोरगुल में कट जाता। मशीन धड़धड़ा रही है। बड़े-से हाल के एक कोने में मुंशीजी तमाम मैली प्रूफ़ों और दूसरे कागज़ात से घिरे हुए अपनी मेज़ पर बैठे हैं। ग्राहक भी आ रहे हैं, मिलनेवाले भी आ रहे हैं, कंपोज़ीटर और मशीनमैन भी आ रहे हैं। मुंशीजी सर उठाकर उनसे बात कर लेते हैं और फिर उन्हीं प्रूफ़ों में डूब जाते हैं।

उन्हीं दिनों की बात है एक रोज़ कैलाशनाथ जी प्रेस पहुँचे। कैलाशनाथ गोरखपुर के जूनियर ट्रेनिंग कालेज (मुंशीजी के वक़्त के नार्मल स्कूल) में कई बरस तक प्रिंसिपल रहे। तब वह अठारह-बीस साल के नौजवान थे। उन्हें कोई अभिनन्दनपत्र छपाने के लिए दिया गया। अब सुनिए —

बनारस के सभी छोटे-बड़े प्रेस बंद थे। कहीं जाओ कोरा जवाब मिलता प्रेस बन्द है। लाचार निराश घूमता हुआ मैं विश्वेश्वरगंज में सरस्वती प्रेस के सामने आया। देखा प्रेस बंद है पर कपाट आधे खुले हैं। अंदर झाँका एक साधारण-सा व्यक्ति खादी का मैला कुर्ता-धोती पहने बैठा था। मैंने पूछा — क्यों साहब प्रेस बंद है?

—जी प्रेस तो बंद है पर कहिए आपका क्या काम है?

नौजवान ने अपना काम और उसकी अहमियत बतलायी तो वह आदमी ठठाकर हँस पड़ा और बोला — आपको बिलकुल ऐन वक़्त पर यह काम सूझा! पहले क्यों नहीं आये?

नौजवान ने अपनी सफ़ाई दी — मुझे तो कल ही यह काम सौंपा गया है और तभी से मैं दौड़-भाग कर रहा हूँ पर न तो कल ही किसी प्रेस ने इस काम को लेना मंज़ूर किया और न आज ही।

तो इसमें घबराने की ऐसी कौन-सी बात है, हाथ से ही लिखकर तैयार कर दीजिए।

पर जब इससे नौजवान की तसल्ली नहीं हुई तो उस आदमी ने कहा — अच्छा घबराओ नहीं, देखता हूँ पास ही में एक कंपाज़ीटर रहता है, अगर वह आज काम करने के लिए तैयार हो जाय तो क्या कहना। तुम थोड़ी देर यहीं बैठो।

यह कहकर वह आदमी कंपोज़ीटर को ढूँढने चल दिया। आध घंटे बाद लौटा तो कंपोज़ीटर साथ था। पर वह छुट्टी का दिन था सभी मेले की तैयारी में लगे थे और कंपोज़ीटर काम करने में आनाकानी कर रहा था। तब उस आदमी ने बड़े प्यार और आग्रह से कहा — यह लड़का बहुत परेशान है। अगर आज इसका काम न हुआ तो बनारस की बड़ी भद होगी।

कंपोज़ीटर काम में जुट गया और वह आदमी नौजवान से बातें करने लगा।

जब पैसे चुकाने का वक़्त आया तो उसने जो दाम बतलाया वह दूसरे प्रेसों के साधारण रेट से भी कम था। नौजवान ने कुछ सकुचाते हुए कहा — आज तो छुट्टी का दिन है, आपको दुगना चार्ज लेना चाहिए

मगर वह आदमी इसके लिए राज़ी न हुआ और पैसे कंपोज़ीटर के हाथ में देते हुए बोला — भाई, जो तुम्हारा पैसा हो वह तुम ले लो और बाकी इन्हें दे दो। चलो दोनों का काम चला।

शाम हुई, प्रेस का काम ख़त्म हुआ और मुंशीजी कम्पनीबाग़ के सामनेवाले चौराहे पर आ खड़े हुए, एक ऐसे इक्के की तलाश में जिस पर एक ही सवारी की जगह बची हो और जो लमही की ओर जाता हो।

लमही से यानी कचहरी से ऐसे ही किसी एक सवारीवाले देहात के इक्के पर बैठकर आगे की मंज़िल तय होगी।

यानी जिन दिनों वह देहात में होते। शहर में रहने पर — गर्मी की छुट्टियाँ ख़त्म होते ही मुंशीजी बेनियाबाग़ में मकान लेकर रहने लगे थे बड़े लड़के ने क्वीन्स कालेज में दाख़िला लेकर इण्टर में नाम लिखा लिया था, और छोटे ने दया नन्द स्कूल में सातवें दर्जे में — सबेरे चाहे इक्का कर भी लें मगर शाम को यह ख़र्च उन्हें बिलकुल फ़िज़ूल मालूम होता और वह चौक से कुछ फल-फलेरी पान-वान लेकर पोटली को छाते के एक सिरे पर लटकाकर और छाता लाठी की तरह कन्धे पर रखकर दालमंडी से (जहाँ तब तक बन-ठन बाँके छैलों का आवागमन शुरू हो गया रहता) राजा दरवाज़ा कबूतर बाज़ार होते हुए घर पहुँच जाते। चौक से दालमण्डी में घुसते ही एक गली दाहिने को फूटती है। यह नारियल गली है। इसमें दाख़िल होते ही बायीं तरफ़ सुंघनी साहु की पुरानी और मशहूर तम्बाकू की दूकान है जिस पर प्रसाद जी अक्सर दो-चार साहित्यिक मित्रों के साथ बैठे मिलते। मुंशीजी का तो वह रास्ता ही था कभी वह भी दस-पाँच मिनट बैठ लेते पान के दो-चार बीड़े मुँह में डालते मय खुशबूदार ज़ाफ़रानी तम्बाकू के दो-एक चुटकुला छोड़ते और अपनी राह लगते। दो-एक बार प्रसाद

जी ने उनके इस ठेठ देहाती हुलिये पर आपत्ति भी की लेकिन मुंशीजी के पास उसका एक ही जवाब था, ज़ोर का एक ठहाका।

बेनियाबाग़ आकर मुंशीजी का एक पुराना नियम फिर शुरू हुआ, रोज़ सवेरे घूमना। लखनऊ में कुछ सध नहीं पाता था, वहाँ पार्क में ही भर था और फिर अब उम्र भी तेज़ी से ढल रही थी, सवेरे घूमे-घामे बगैर काम चलता नज़र नहीं आता था। उधर से प्रसाद जी, गहमरी जी और कभी-कभी बेढब जी आ जाते और फिर चारों जन घण्टे भर बेनियाबाग़ के चक्कर लगाते। देश-विदेश, साहित्य-समाज, दुनिया भर की बातें होतीं, बीच-बीच में मुंशीजी का ठहाका जो सौ सौ गज़ दूर से भी गूँजता हुआ सुनायी पड़ता।

प्रसाद जी संस्कृत की परम्परा के आदमी थे, मुंशीजी फ़ारसी के। दोनों के लिखने का रंग बिलकुल अलग था, सोचने-विचारने के ढंग में भी बड़ा अन्तर था, इधर की उधर लगानेवालों की भी कुछ कमी न थी, ताहम दोनों की दोस्ती बराबर गाढ़ी होती जा रही थी।

३ अक्टूबर १९३२ के अपने पत्र में मुंशीजी ने बनारसीदास को अंग्रेज़ी में लिखा — आपको 'कंकाल' अच्छा नहीं लगा। मुझे खेद है। मैं उदार साहित्यिक रुचि का आदमी हूँ और आलोचना-बुद्धि मुझमें बहुत कम है। 'कंकाल' में मुझे सच्चा आनन्द मिला। और मैं किताब से भी ज़्यादा उस आदमी का प्रशंसक हूँ। वह बहुत खुले हुए, साफ़गो आदमी हैं।

१४ नवम्बर १९३२ के ख़त में दुबारा उन्होंने शायद कुछ मुँझलाकर लिखा —

'कंकाल' आपको अच्छा नहीं लगता मुझे अफ़सोस है, बात ख़त्म हुई। प्रसाद जी बड़े प्यारे आदमी हैं (loveable chap) अब मुझे उनको पास से देखने का मौक़ा मिला है तो मैं पाता हूँ कि साल भर पहले मैं उनके बारे में जो कुछ सोचता था वह उसके बिलकुल उल्टे हैं। ग़लतफ़हमियाँ एक-दूसरे के क़रीब आने से ही दूर हो सकती हैं।

'हंस' जब से दो-ढाई साल पहले जब निकला था, उस वक़्त दस साल के बाद एक नया जन-आन्दोलन छिड़ने की तैयारी थी। वह आन्दोलन इधर साल छः महीने से काफ़ी ठण्डा पड़ गया था, लेकिन साल के शुरू में ही तमाम नेताओं की गिरफ़्तारी से हवा में फिर कुछ गर्मी आ गयी थी और लगता था कि एक नये संघर्ष के लिए ज़मीन तैयार हो रही है।

माधुरी से छुट्टी पाकर घर आ बैठने पर अब मुंशी जी के पास समय भी था और शक्ति भी। पैसा नहीं था तो क्या। देखा जायगा।

और मुंशीजी आने के साथ एक साप्ताहिक निकालने की जोड़-तोड़ में लग गये।

आये दिन अखबारों से जमानत माँगी जा रही थी। १५ अगस्त १९३२ को उन्होंने जैनेन्द्र को लिखा—

इस पर जमानत लगी। मैंने समझा था आर्डिनेंस के साथ जमानत भी समाप्त हो जायगी। पर नया आर्डिनेंस आ गया और उसी के साथ जमानत भी बहाल कर दी गयी। अब मैंने गवर्नमेंट को एक स्टेटमेण्ट लिखकर भेजा है। अगर जमानत उठ गयी तो पत्रिका तुरन्त ही निकल जायगी। छप स्ट लिखकर तैयार रखी है। अगर आज्ञा न दी तो समस्या टेढ़ी हो जायगी। मेरे पास न रुपये हैं न प्रामेसरी नोट न सिक्योरिटी। किसी से कर्ज लेना नहीं चाहता। यह शुरू साल है चार पाँच सौ वी पी आते कुछ रुपये हाथ आते। लेकिन यह नहीं होना है। तो भी नया पत्र साप्ताहिक निकालने के उनके इरादे में कोई कमजोरी नहीं है। इसी खत में यह भी सूचना है—

"इस बीच मैंने 'जागरण' को ले लिया है। 'जागरण' के बारह अंक निकले लेकिन ग्राहक संख्या दो सौ से आगे न बढ़ी। विज्ञापन तो व्यास जी ने बहुत किया लेकिन किसी वजह से पत्र न चला। वह अब बन्द करने जा रहे थे। मुझसे बोले यदि आप इसे निकालना चाहें तो निकालें। मैंने उसे ले लिया।

"हंस में कई हजार का घाटा उठा चुका हूँ। लेकिन साप्ताहिक के प्रलोभन को न रोक सका। कोशिश कर रहा हूँ कि सर्व-साधारण के अनुकूल पत्र हो। इसमें भी हजारों का घाटा ही होगा पर करूँ क्या यहाँ तो जीवन ही एक लम्बा घाटा है।

इसको कहते हैं लँगोटी पर फाग खेलना। पास में पैसे नहीं हैं एक पर्चा हजारों का घाटा देने के बाद बन्द होने जा रहा है और आप हैं कि न आगे किस बल-बूते पर गुरत-गुरत उसे ले बैठते हैं।

आखिरकार २२ अगस्त को यानी खत के हफ्ते भर बाद 'जागरण' निकल गया और इस नये रूप में पाठकों से उसका परिचय कराते हुए मुंशीजी ने अपने खास अन्दाज में लिखा—

उसका जन्म अच्छे कुल में हुआ उसका लालन-पालन भी सुयोग्य हाथों में हुआ। परखनेवाले परख गये कि यह बालक होनहार है पर साहित्य के परिमित क्षेत्र में उसका विकास जैसा होना चाहिए, वैसा न हो सकता था।

हाथ-पाँव मारनेवाला बालक पालने में कैसे रहता इसलिए उसके जन्मदाताओं को ऐसे अभिभावक की ज़रूरत पड़ी जो ज़रा निष्ठुर हाथों से उसकी गोशमाली कर दिया करे, जो ममताभरे माखन और मिश्री की जगह सूखे चने और रूखी रोटियाँ खिलाये क्योंकि संसार पहले चाहे लाड़-प्यार में पले बालकों को बढ़ने का अवसर देता हो अब तो समय उनके अनुकूल नहीं रहा। आज संसार में वही बालक बाजी ले जाते हैं जिन्होंने बालपन में घुड़कियाँ झेली हों धक्के खाये हों भूखे सोये हों जाड़ों ठिठुरे हों। गमले का पौधा धूप और वर्षा का सामना क्या करेगा। वह मरुद्यान पर उगा हुआ पौधा ही है जो जेठ की जलती लू माघ के तीखे तुषार और भादों की मूसलाधार वर्षा में डटा खड़ा रहता है, और फलता फूलता है। हमारे ऊपर इन्तखाब की निगाह पड़ी। हम कह नहीं सकते हम क्यों इस काम के लिए चुने गये। हम इस काम में कुछ बहुत अभ्यस्त नहीं हैं। अभी तक केवल एक चिड़िया पाली है पर उसे भी कई बार संकट में डाल चुके हैं। शिकारियों के दो निशाने उस पर लग चुके हैं। पहले निशाने से तो वह किसी तरह बचा। यह दूसरा निशाना उसे ले मरता है या छोड़ता है कह नहीं सकते। हम शिकारियों की चिरौरी-विनती कर रहे हैं, कि भैया इस बेचारे को अबकी और जाने दो तुम्हारे पैरों पड़ते हैं। अब जो कभी तुम्हारे दाव में आवे या तुम्हारा कुछ नुकसान करे तो जो चाहे करना।

पिता हमेशा बच्चे को अपने ही साँचे में ढालने की कोशिश करता है। 'जागरण' के सामने मुंशीजी यह आदर्श रखते हैं—

बालक को निर्भीक सत्यवादी परिश्रमी स्वस्थ आचारवान्, विचारशील बनाने का प्रयत्न करेंगे। हमारी यही चेष्टा होगी कि वह किसी की खुशामद न करे, लेकिन विनय को हाथ से न जाने दे। वह कभी-कभी कड़वी बातें भी कहेगा पर सेवाभाव से। उसमें आस्था और श्रद्धा अवश्य होगी पर अंध-विश्वास नहीं। उसका ध्येय होगा सत्य की खोज। वह वितंडावादी नहीं सत्य का पुजारी होगा चाहे उसे सत्य को स्वीकार करने में कितना ही अपमान हो। वह अप्रिय सत्य कहने से कभी न चूकेगा। वह केवल दूसरों के दोष न देखेगा बल्कि अपने दोषों को स्वीकार करेगा।

वह निर्भीक होगा पर दुस्साहसी नहीं। वह सत्यवादी होगा सत्य से जौ भर न टलेगा पर पक्षपात से अपना दामन बचायेगा। वह बूढ़ों में बूढ़ा जवानों में जवान और बालकों में बालक होगा। वह जिस दृढ़ता से न्याय का पक्ष लेगा उतनी ही दृढ़ता से अन्याय का विरोध करेगा चाहे वह राजा की ओर से हो समाज की ओर से हो अथवा धर्म की ओर से। समाज का बुराई और

दुर्बल अंश उसे सदा अपनी चकाचौंध करते हुए पायगा। वह कोरा न्यायवादी गम्भीर और शुष्क न रहेगा। वह मनुष्य केवल आधा ही जिन्दा है जो कभी दिल खोलकर नहीं हँसता। वह हँसने की बातें कहेगा, खुद हँसेगा और दूसरों को हँसायेगा।

फिर अपने ही ऊपर चुटकी लेते हुए मुंशीजी अपनी प्रतिज्ञा इस प्रकार समाप्त करते हैं—

हमारे पास न सम्बल है न अनुभव। और धन का तो सदा पुश्तैनी बैर है। किसी ने हिन्दी पत्रकारों का परिहास करते हुए लिखा था—वह केवल एक कलम और एक रीम कागज लेकर समाचारपत्र निकाल बैठता है। यह व्यंग हमारे ऊपर अक्षरशः लागू है, पर हम

राजनीति में आजकल बड़ा सन्नाटा है, बस दाँव-पेंच की लड़ाई चल रही है। सरकार अपनी भेदनीति से राष्ट्र के टुकड़े-टुकड़े कर देना चाहती है और राष्ट्र अपनी आत्मा और अपनी एकता की रक्षा में लगा है। हवा में आजकल एक ही चर्चा है—साम्प्रदायिक मताधिकार। और मुंशीजी को अपनी प्रतिज्ञा के प्रति सच्चे रहकर उसके ही सम्बन्ध कुछ भाषण करना पड़ा—

● इस समय हमें बड़ी दूरदर्शिता और बुद्धिमत्ता से काम लेना पड़ेगा। दुनिया की निगाहें हमारी तरफ लगी हुई हैं। यदि हमने मताधिकारों के लिए आपस में लड़ाई ठान ली तो मानों हम प्रत्यक्ष रूप से सरकार की इस दलील का समर्थन करेंगे कि भारत में राष्ट्रीयता का नाम नहीं है। जब मुसलमानों को कुछ अधिकार मिल जाते हैं तो हमें क्या तुरन्त यह विचार होता है कि हमारे साथ अन्याय हुआ। कारण यही है कि हम मुँह से चाहे राष्ट्रीयता की दुहाई दें दिल में हम सभी सम्प्रदायवादी हैं और हर एक बात को सम्प्रदाय की आँखों से देखते हैं। क्या यह सत्य नहीं है कि जब कोई साम्प्रदायिक दंगा हो जाता है तो हम तुरन्त यह जानने के लिए उत्सुक हो जाते हैं कि उस दंगे में कितने हिन्दू हताहत हुए और कितने मुसलमान। अगर हिन्दुओं की संख्या अधिक होती है तो हम कितने उत्तेजित हो जाते हैं। इसके विपरीत अगर मुसलमानों की संख्या अधिक होती है तो हम आराम की साँस लेते हैं।

यह हम नहीं कहते सरकार की घोषणा निर्दोष है। उसका साम्प्रदायिक आधार ही आपत्तिजनक है। उसमें उलट-फेर करके हम उसका रूप नहीं बदल सकते। हिन्दुओं और सिक्खों को दस-पाँच जगह और मिल जाने से यह कम आपत्तिजनक न रहेगा। उसका सम्प्रदायत्व कैसे मिटेगा? क्या हिन्दू अथवा सिक्ख आन्दोलन से? इससे तो परस्पर द्वेष की आग और भी भड़केगी और

राष्ट्रघातक भावनाएँ और भी प्रबल होंगी। इसका केवल एक ही उपाय है — साम्प्रदायिक मनोवृत्ति का दमन। अब आनेवाले वरसों में हमें इसी साम्प्रदायिकता से संग्राम करना है।

छूत-अछूत का अभिशाप भी उसी से जुड़ा हुआ है। और उसी ने सरकार को मौक़ा दिया है कि वह दूसरी गोलमेज सभा में अछूतों को हिन्दुओं से अलग करने की योजना सामने लाये। गांधीजी ने उस समय घोषणा की थी कि अगर यह चीज़ की गयी तो मैं अपने प्राणों की बाज़ी लगाकर उसका मुक़ाबला करूँगा।

आज १९ सितम्बर १९३२ है और कल से गांधीजी यरवदा जेल में अपना आमरण अनशन शुरू कर रहे हैं। सारा देश थर्रा गया है। मुंशी जी की भी सम्पूर्ण संज्ञा भी अब वहीं केन्द्रित है। महान तप शीर्षक से उन्होंने लिखा —

कल यरवदा जेल में वह महान तप आरम्भ होगा जिसकी कल्पना से ही रोमांच हो जाता है। भारत की तपोभूमि में इससे पहले भी बड़ी-बड़ी तपस्याएँ की गयी हैं पर राष्ट्र के लिए प्राणों की आहुति देने का सकल्प महात्मा गांधी ही की कीर्ति है। एक समय दधीचि ने भी राष्ट्र की रक्षा के लिए प्राणों का बलिदान किया था। हम अपनी अज्ञता के कारण उसे पौराणिक कथा समझे बैठे थे पर आज तुमने उस प्राचीन मर्यादा को उस प्राचीन आदर्श को उस प्राचीन आत्मोत्सर्ग को पुनर्जीवित कर दिया।

फिर हफ्ते भर बाद लिखा —

उस महान आत्मा के अनशन व्रत ने उसकी तपस्या ने केवल सात दिनों में यह दिखला दिया कि वास्तव में तपस्या कितनी बलवती होती है। उस महान आत्मा की तपस्या ने ब्रिटेन के महान राजनीतिज्ञों के द्वारा तैयार की हुई उस सुदृढ़ दीवार को जो हिन्दू और अछूतों को अलग करने के लिए बड़े बहुत कौटिल्य के सीमेन्ट से तैयार की गयी थी विध्वस्त कर दिया।

लेकिन सामाजिक रूढ़ियों की दीवार उससे कहीं ज्यादा मज़बूत थी। अछूतों को मन्दिर-प्रवेश का अधिकार देने के लिए हिन्दू समाज तैयार न था। ऐसे लोगों को चेतावनी देते हुए मुंशीजी ने लिखा था —

यह युग प्रकाश का युग है। इसमें अब अंधकार नहीं रह सकता। अब विवश होकर *युग-धर्म के अनुसार ही चलना पड़ेगा।* क्या कोई भी वर्णाश्रम अपने हृदय पर हाथ रखकर कह सकता है कि वास्तव में यह छुआछूत उन्हें *धर्म की दृष्टि से उचित प्रतीत होती है? नहीं कोई भी यह नहीं कह सकता।* एक स्वार्थ ही इसका कारण है। पर याद रहे, यह इस समय का स्वार्थ बर्ष-दो बर्ष चाहे उनकी छाती को ठण्डा भले ही कर दे, पर आज वह उनकी पुरानी

स पुरानी घृद से धृद बुनियाद को भी उखाड़ फेंकेगा। वे स्वार्थ के जिस मुन्दर खिलौने से बच्चों की तरह खिलवाड़ कर रहे हैं वह असल में डायनामाइट है जो उनकी सात पुश्तों को ध्वस्त कर डालेगा।

यह सब हो लेकिन दीवार अपनी जगह पर अटल थी।

दो महीने बाद जब गांधी जी ने इसी मन्दिर प्रवेश को लेकर दुबारा अपना आमरण अनशन रखा तो मुंशी जी ने लिखा—

> पढ़े-लिखे समाज में चाहे धर्म केवल ढोंग रह गया हो और मन्दिर प्रवेश को चाहे वे एक व्यर्थ-सी बात समझते हों लेकिन जनता अभी तक अपने धर्म को और अपने देवताओं को प्राणों से चिपटाये हुए है। उत्तर भारत में तो कुछ देवता ऐसे भी हैं जिनके पुरोहित हमारे हरिजन भाई ही हैं। किसी गाँव में चले जाइए, चमारों या भरों के पुरवे में आपको किसी नीम के वृक्ष के नीचे दस-बीस मिट्टी के बड़े-बड़े हाथी लाल रंगे हुए एक जगह रखे हुए मिलेंगे। वहीं एक त्रिशूल भी गड़ा होगा एक लाल पताका भी पेड़ से बंधी होगी। यह देवी का स्थान है। इस चबूतरे का पुजारी कोई चमार, पासी या भर होगा। वर्णवाले हिन्दू स्त्री पुरुष बड़ी श्रद्धा से देवी के चबूतरे पर जाते हैं वहाँ बताशे धूप-दीप फूल-माला चढ़ाते हैं। जब वर्णवाले हिन्दुओं को हरिजनों के इन देवताओं की उपासना करने और हरिजनों को अपना पुरोहित बनाने में शर्म नहीं आती तो हम नहीं समझते कि हरिजनों के हिन्दू मन्दिरों में आ जाने से कौन-सा अधर्म हो जायगा।

कैसी बात करते हैं मुंशीजी सब आप जैसे विधर्मी नहीं हैं! और सो भी काशी में! वर्णाश्रम स्वराज्य संघ की ओर से बाकायदा इसके खिलाफ़ आन्दोलन चल रहा है वाइसराय की सेवा में डेपुटेशन जा रहा है और मुंशीजी खड़े उनको ललकार रहे हैं—

● मंगल के दिन सन्ध्या समय काशी की धर्मभरी सड़कों पर वह दृश्य देखने में आया जो हिन्दू जाति के लिए लज्जाजनक ही नहीं हास्यास्पद भी था। दो ढाई सौ संस्कृत पाठशालाओं के छात्र हाथों में लाल झण्डे लिये एक जुलूस के रूप में यह हाँक लगाते चले आ रहे थे—अछूतों को मन्दिरों में जाने देना पाप है।

हाँक का पहला अंश एक आदमी के मुख से निकलता था और दूसरा अंश सैकड़ों कण्ठों से कोरस के रूप में निकल रहा था लेकिन उन आवाजों में उत्साह न था भक्ति न थी अनुराग न था। ऐसा जान पड़ता था जैसे कोई जीर्ण रोगी मृत्यु-शैया पर पड़ा हुआ कराह रहा है। जुलूस के पीछे एक जोड़ी थी जिस पर कई वाचस्पति और मार्तण्ड फूलों के हारों से लदे, विद्या के निर्जीव भार से दबे

मर्यादित भाव से बैठे हुए थे। विद्या का अभिमान उन्हें धरती पर पाँव न रखने देता था जैसे कोई सेनापति अपने सैनिकों को पहली पंक्ति में खड़ा करके आप सबके पीछे निश्चिन्त बैठा हुआ हो। या यों कहिए कि ये महानुभाव उस बरात के दूल्हे थे जिन्हें अपने पद की गरिमा ज़मीन पर पाँव न रखने देती थी। इस नाजुक मौक़े पर भी जब उनके विचार में हिन्दू धर्म पर चारों ओर से आक्रमण हो रहे हैं, वे अपनी महानता को नहीं भूल सकते। इधर महात्मा गाँधी को देखिए। साबरमती से डाँडी की तरफ़ प्रस्थान कर रहे हैं। आगे आप हैं, पीछे उनके सिपाही हैं। अपने उत्सर्ग से अपने सैनिकों में उत्सर्ग की शक्ति का संचार करते हुए चले जा रहे हैं। इन सिंहासन-आरोही मार्तण्डों में एक पुरी के श्री १०८ शंकराचार्य भी थे। इस निवृत्ति की उस प्रवृत्ति से तुलना कीजिए। वह संसार की सबसे महान् शक्ति के सामने न्याय के बल और आत्मा के विश्वास के साथ एक जाति के उद्धार के लिए अग्रसर हो रही है और यह न्याय को पैरों से कुचलती आत्मा की आँखों पर पर्दा डाले हुए, जाति के दलित और पीड़ित अंग को ठोकरें मार रही है। फिर क्यों न धर्म का संसार में ह्रास हो क्यों न नयेवाले धर्म को अफ़ीम का नशा समझें क्यों न गिरजे ढाये जायें और धर्म को कलंकित करने वाले इन स्तम्भों का समाज से बहिष्कार कर दिया जाय

हमारे पास अंग्रेज़ी में छपा हुआ वाइसराय के नाम एक मेमोरियल वर्णाश्रम संघ का आया है। उस पर बड़े-बड़े तर्कचूड़ामणियों और विद्यावाचस्पतियों के हस्ताक्षर हैं। वाइसराय से फ़रियाद की गयी है कि वह हिन्दू मन्दिरों की अछूतों से रक्षा करें। वाह रे मार्तण्डो क्यों न हो कितनी दूर की सूझी है! अब भी अगर वाइसराय की कृपादृष्टि का परवाना न मिले तो यह आप लोगों का दुर्भाग्य है! आपकी सेवा में दूसरे व्यवस्था लेने आया करते थे! आपका फ़तवा बड़े बड़े मसलों को हल कर दिया करता था और आज आप एक धर्म के विषय को लिये वाइसराय के पास कुत्तों की तरह दुम हिलाते दौड़े हुए चले जा रहे हैं! वह आपकी विद्या कहाँ गयी? आपने आठ करोड़ हिन्दुओं को मुसलमान बना दिया। यह छः करोड़ अछूत भी आप ही के विधा-बाण के बेधे हुए हैं क्या आप हिन्दू धर्म को संसार से मिटाकर ही दम लेंगे?

क्या मन्दिरों के पुजारियों और मठों के महन्तों से हिन्दू जाति बनी हुई है? पूजा करनेवाले भी रहेंगे या पूजा करानेवाले ही मन्दिरों का स्वामी रहेंगे?

एक वह जातियाँ हैं जो दूसरों को अपने में मिलाकर फूली नहीं समाती। आज एक चमार मुसलमान हो जाय सारा मुसलिम समाज उसका स्वागत करेगा लेकिन यह मेमोरियलवाले लोग जो हिन्दू जाति के रक्षक होने का दावा करते

हैं, यह भी नहीं चाह सकते कि कोई बाहर का आदमी उनके देवताओं के दर्शन कर सके। अछूत के पैसे तो आप बेधड़क ले लेते हैं, अछूत कोई मन्दिर बनावे आप दल-बल के साथ जायँगे मन्दिर में देवता की स्थापना करेंगे तर माल खायेंगे—हाँ अछूत ने उसे छुआ न हो—दक्षिणा लेंगे इसमें कोई पाप नहीं न होना चाहिए, लेकिन अछूत मन्दिर में नहीं जा सकता इससे देवता अपवित्र हो जायँगे! अगर आपके देवता ऐसे निर्बल हैं कि दूसरों के स्पर्श से ही अपवित्र हो जाते हैं तो उन्हें हमारा दूर ही से नमस्कार है।

कहा जाता है कि अछूतों की आदतें गन्दी हैं वे रोज स्नान नहीं करते निषिद्ध कर्म करते हैं क्या जितने सछूत हैं वे रोज स्नान करते हैं, क्या कश्मीर और अल्मोड़ा के ब्राह्मण रोज नहाते हैं? हमने इसी काशी में ऐसे ब्राह्मणों को देखा है जो जाड़ों में महीने में एक बार स्नान करते हैं। फिर भी वे पवित्र हैं!

फिर शराब क्या ब्राह्मण नहीं पीते? इसी काशी में हजारों मद्यसेवी ब्राह्मण—और वह भी तिलकधारी—निकल आयेंगे फिर भी वे ब्राह्मण हैं! ब्राह्मणों के घरों में चमारियाँ हैं, फिर भी उनके ब्राह्मणत्व में बाधा नहीं आती। किन्तु अछूत नित्य स्नान करता हो कितना ही आचारवान् हो वह मन्दिरों में नहीं जा सकता।

मुंशीजी को कुछ भ्रम नहीं रहता कि लोग क्या कहेंगे कहीं वह बिलकुल अकेले तो नहीं पड़ जायँगे। उससे क्या? हमारा अन्तःकरण निर्मल हो, असल चीज इतनी ही है। अभी पिछले ही सप्ताह १४ नवम्बर १९३२ को तो मुंशीजी ने बनारसीदास जी को ढाढ़स देते हुए लिखा था—

मैं इस बात से इनकार नहीं करता कि साहित्यिकों में कुछ ऐसे लोग हैं जो आपको बदनाम करते हैं लेकिन किसके बदनाम करनेवाले नहीं हैं। मैं खुद निन्दकों से घिरा हुआ हूँ जो मुझ पर चोट करने का एक मौका हाथ से नहीं जाने दे सकते। एक वर्ग ऐसे लोगों का है जिन्हें दूसरों की चर्चा में अमित्र कीर्ति को अटिचामेंट करने में मजा आता है। मगर उससे क्या? हमारा अन्तःकरण निर्मल हो, यही असल चीज है। जब नीयत में शुबहा किया जाने लगता है तब मामला संगीन हो जाता है। यह मैं किसी तरह बर्दाश्त नहीं कर सकता। ऐसी जिन्दगी की चुटकियों का आपको बुरा न मानना चाहिए। अगर आप अपने को इतना जुदरूमिजाज बना लेंगे तो इससे आपके निन्दकों को और शह मिलेगी। मुसकराता हुआ चेहरा लेकर उनका सामना कीजिए।

स्थितप्रज्ञता एक अपने ढंग की।

किसी दिलजले ने मुंशीजी को एक बेहूदा-सी चिट्ठी लिखी है। मुंशीजी बेझिझक उसे छपा देते हैं—

शायद दो हफ्ते से ज्यादा हो गये होंगे मैंने आपके पास एक प्रार्थनापत्र भेजा था यह आशा कर कि आप एक दुखी हृदय के उन सच्चे उद्गारों पर सच्ची सहानुभूति प्रदर्शित करके दो-चार बूँद आँसुओं की बहायेंगे। मगर सब व्यर्थ। मुझे बाल्यावस्था का भ्रम था। जिला हमीरपुर में आप ग़ालिबन १९१६ में आये थे और मुझे इनाम में एक किताब दी थी। तब आप ऐसे दयालु और सहृदय थे पर उन दिनों तो आप केवल धनपतराय सब-डिप्टी-इंस्पेक्टर थे और दरिद्रता के दलदल से कुछ ही दिन पहले निकलकर आये थे। आपके दिमाग़ में उस समय वह समय के थपेड़े—पिता का स्वर्गवास आदि—ताज़े होंगे। मगर अब ज़मीन-आसमान का फ़र्क़ है। कहाँ एक मामूली कर्मचारी कहाँ उपन्यास सम्राट! एक ही आदमी की दो सूरतें राजा भोज और भोजवा तेली! एक बात याद कर मुझे ज़रूर थोड़ा-सा खेद होता है, क्या हिन्दी साहित्य की उन्नति इसी प्रकार होगी? यदि कोई दुखिया उपन्यास-सम्राट से विनती करे तो उन्हें चूतड़ घुमा लेना चाहिए कि उस ग़रीब जीव (प्रार्थी) पर नज़र न पड़े। रंगभूमि कायाकल्प आदि की मेहरबानी से लाखों रुपये पैदाकर धर लिये। अब मुक़दमें लड़ाते हैं और देशभक्त होने का दावा करते हैं। मैं आपको स्वार्थी पाषाण-हृदय और नास्तिक क्यों न कहूँ? आप जैसे हज़ारों प्रेमचन्द धूल में मिल गये और मिल जायँगे।

बस इतना हाशिया मुंशीजी ने उस पर लगाया—

मेरे इस युवक मित्र को ग़लतफ़हमी हुई है। मैं न लखपती हूँ न हज़ारपती न सौपती। मैं केवल एक मजदूर हूँ उसी तरह जैसा पहले कभी था। जब धन ही नहीं तो अभिमान कहाँ से हो। अभिमान के लिए कोई आधार तो हो। मुझे अपने मित्र से सच्ची सहानुभूति है और मेरे हाथ में कोई अख़्तियार होता तो मैं सबसे पहले उन्हें किसी पद पर आरूढ़ कर देता। लेकिन पीर ख़ुद माँदे इलाज किसका करें?

और जैसे उनकी बात की तसदीक़ के लिए सरस्वती प्रेस और जागरण से दो हज़ार की ज़मानत माँग ली गयी। पूरे चार महीने बन्द रहने के बाद हंस ने अभी-अभी फिर दर्शन दिये थे कि यह चोट पड़ी और ७ दिसम्बर १९३२ को मुंशीजी ने जैनेन्द्र को लिखा—

बहुत परेशान हुआ भागा हुआ लखनऊ पहुँचा वहाँ चीफ़ सेक्रेटरी (ममफ़ोर्ड) से मिलकर कहानी का आशय समझाया। और भी अपनी लायल्टी के प्रमाण दिये। अब आशा है ज़मानत मंसूख़ हो जायगी। ज़रा-ज़रा सी बात में गर्दन पर छुरी चल जाती है।

नया साल तीसरी गोलमेज सभा पर बड़े चुलबुले अन्दाज की छींटेबाजी से शुरू हुआ—

● गोलमेज की महफ़िल का तीसरा दौर भी ख़त्म हो गया लेकिन साक़ी ने शराब में कुछ ऐसी कारस्तानी की कि न कुछ रंग जमा न सुरूर गठा। शायद ऐसे ही मौक़े के लिए स्वर्गवासी सुरूर ने यह शेर कहा था—

बजाय मै दिया पानी का एक गिलास मुझे
समझ लिया मेरे साक़ी ने बदहवास मुझे।

साक़ी ने तैयारियाँ तो ऐसी-ऐसी की थी कि पीनेवाले शायद उनसे ये सैम्पेन न सही [illegible] तो कहीं नहीं गया। बड़े-बड़े खुम मँगवाये थे जिनकी खुशबू से दिमाग ताजा हो जाता था। साफ़-सुथरी बोतलों में उनकी लाली देखकर पीनेवालों के मुँह में पानी भर-भर आता था। मैख़ाने के द्वार पर मैकशों की भीड़ लगी हुई थी। लोग बेक़रार होकर मिन्नतें कर रहे थे—ख़ुदा के लिए हमें भी अन्दर जाने दो। बदमिजाज साक़ी बड़ी मुश्किलों से दरवाजा खोलता था। पहला दौर चला। लोग मुँह फीका करके एक-दूसरे का मुँह देखने लगे मानो कह रहे हों—यार, यह तो कुछ समझ में नहीं आती कुछ फीकी-फीकी-सी है। साक़ी उनका रुख़ देखकर मुस्कराया और बोला—तुम लोग ठर्रा पीनेवाले हो इसका मज़ा क्या जानो। इसका लुत्फ़ इसके फीकेपन में ही है। फिर दूसरा दौर शुरू हुआ। अबकी दो-एक मैकशों ने साफ़-साफ़ कह दिया—हज़रत साक़ी यह तो कुछ है नहीं फीकी फीकी-सी लगती है। साक़ी ने झिड़का नहीं त्योरियाँ नहीं बदलीं मृदुभाव से मुसकराकर बोला—इसके फीकेपन पर न जाओ यह वो चीज़ है जो अपना सानी नहीं रखती। तीसरा दौर शुरू हुआ बिलकुल पानी। पहले दोनों दौरों में कुछ गर्मी कुछ तेज़ी कुछ तल्ख़ी थी इस दौर में तो निखालिस पानी। पीनेवाले हैरान होकर कभी बोतल की ओर देखते हैं कभी खुम की ओर, कभी साक़ी की ओर और कभी एक-दूसरे के मुँह की ओर। अगर यह पानी

ही पिलाना था तो यह महफ़िल सजाने की, इस बोतल, खुम सुराही और प्याले की क्या ज़रूरत थी। मगर पीनेवालों का सुरूर गठे या न गठे यह तो कोई कह ही नहीं सकता कि महफ़िल नहीं जमी और नहीं चले। साक़ी के दाम खरे हो गये। ●

लेकिन इतने से भी नहीं भरा तो बीस रोज़ बाद मुंशीजी ने फिर उसका मर्सिया पढ़ा —

● गोलमेज सभा ने अपने तीनों पन भोगकर जीवनलीला समाप्त कर दी। भारत को उससे पहले भी कोई आशा न थी लेकिन यह इस हद तक बंध्या होगी इसका हमें ख़याल न था। हम समझ रहे थे पहाड़ खोदा जा रहा है तो कम से कम चुहिया तो निकलेगी ही। कितना धूम-धड़ाका किया गया। सर सायमन आये। महीनों उसकी हलचल रही। फिर गोलमेजों का तांता बँधा। राजे-महराजे मैं-तू, ऐरे-गैरे-नत्थूखैरे सब जमा हुए और तीन साल की खुदाई के बाद निकला क्या कि कुछ नहीं। चुहिया भी निकल आती तो कुछ तमाशा तो होता देखते कैसे दौड़ती है कैसे उछलती है। लेकिन कुछ भी न हुआ। फेडरेशन का हाथी जहाँ था वहीं खड़ा झूम रहा है बल्कि कई क़दम पीछे हट गया। वाइसराय के अख्तियार ज्यों के त्यों फ़ौज का मामला ज्यों का त्यों माल का विषय ज्यों का त्यों। हाँ पहाड़ खोदने से सड़क अवश्य निकल आयी। और उस साम्प्रदायिकता के खंदक में सारा देश डूब गया। ●

यहाँ तक कि नगर का स्वराज्य भी जाता रहा। स्वयं काशी की म्युनिसिपैल्टी मुअत्तल कर दी गयी।

यह चीज़ काशी का कितना भयंकर अपमान है, इस स्वराज्य के युग में नागरिकता की कैसी छीछालेदर है, यह अभी काशीवासी नहीं समझ रहे हैं। मुंशीजी लोगों को सावधान करते हैं — जाग नगरिया चोर है आया — और नगर-स्वराज्य की प्राणरक्षा के संघर्ष में जी-जान से कूद पड़ते हैं।

उधर मार्च के जर्मन चुनाव में हिटलर विजयी हुआ। हिटलर कौन है क्या है उसकी जीत का क्या मतलब है यह मुंशीजी से छिपा न था। अन्त तक वह उम्मीद लगाये रहे कि हिटलर न जीतेगा। पर वह जीत गया। मुंशीजी को धक्का लगा। लेकिन ऐसे मौक़ों पर अक्सर उनकी व्यंग्य-सरस्वती जाग उठती है। हिटलर की नीति को वाइसराय की बढ़ती हुई तानाशाही से मिलाकर उन्होंने अपना व्यंग्य का कोड़ा चलाया —

●प्रजातन्त्रवाद असफल हो गया। १५ वर्ष के बाद जब मालूम हुआ कि

यह चलनसारी चीज नहीं। रूस ने इसे बना बनाया इटली ने पका पकाया अब जर्मनी ने भी बना बना लिया। और आखिर में भारतवर्ष ने भी इसे बना बना लिया। समझ में नहीं आता वाइसराय के अधिकार बढ़ जाने पर इस सिरे से उस सिरे तक हाय-हाय क्यों हो रही है। कोई कहता है यह गुलामी का पट्टा है कोई पुकारता है भारत में अंग्रेजी राज्य अनन्त काल तक जमे रहने की योजना है कोई हांक लगाता है यह भारत का अपमान है। हम समझते हैं लेखपत्र की रचना में जरूर विधि का हाथ है। आखिर डिक्टेटरशिप को एक न एक दिन आना ही है जब पश्चिम के देशों ने जनतंत्र को ठुकरा दिया तो हिन्दुस्तान में भी एक न एक दिन उसे ठुकराया ही जायगा। हमारे त्रिकालदर्शी देवता तो एक ही सयाने। उन्होंने सोचा स्वयं भारत में खून-खच्चर क्यों हो क्यों हिटलर और मुसोलिनी और स्टालिन पैदा हों। पहले ही से न डिक्टेटर बना दो। बस हमारे देवता अंग्रेज राजनीतिज्ञों के हृदय में अपने देव-बल से घुस गये और यह व्यवस्था जमवा दी। अब यही समझ लो कि चौकीदार से लेकर वाइसराय तक हमारे डिक्टेटर हैं। इसमें रोना-पीटना काहे का। हम तो कहते हैं यह काउंसिल और एसेम्बली सब व्यर्थ व्यर्थ ही नहीं विनाशकारी हैं। हजारों आदमी वहाँ सब काम-धंधा छोड़कर चिल्लाते हैं। क्या फायदा! सब तोड़ दो वाइसराय को डिक्टेटर बना दो। तब कम से कम रुपये तो बचेंगे खिताबों का बोझ तो हल्का होगा टैक्स तो कम हो जायगा। कुछ न होगा तो इस हाय-हाय से तो छुट्टी मिलेगी। अभी तो मेम्बर और मिनिस्टर बने मूँछों पर ताव दे रहे हैं और दुनिया को दिखा रहे हैं कि मानो वह देश का उद्धार किये डाल रहे हैं। तब मजे से नोन-तेल बेचेंगे या कहीं पड़े रहेंगे! केवल चोरों को बाँधकर खिलाने का खर्च तो जनता के सिर न पड़ेगा। मुफ्त की हाय हाय और काँव काँव। हम तो अपना डिक्टेटर वाइसराय मानते हैं और उसी की जय मनाते हैं! ●

पूत के पाँव पालने में हिटलर ने आते ही यहूदियों पर धावा बोल दिया। मुंशीजी ने तत्काल उसकी खबर लेते हुए कहा—

यूरोपियन संस्कृति की तारीफें सुनते-सुनते हमारे कान पक गये। हम एशिया वाले तो मूर्ख हैं, बर्बर हैं, असभ्य हैं, लेकिन जब हम उन सभ्य वर्गों की पशुता देखते हैं तो जी में आता है कि यह उपाधियाँ सूद के साथ क्यों न उन्हें लौटा दी जायें! जर्मनी में नाजी दल के आते ही आते यहूदियों पर धावा बोल दिया है। यहूदियों की दुकानें लूटी जा रही हैं, यहूदियों की जायदादें जब्त की जा रही हैं, यहूदी विद्वानों और पदाधिकारियों का अपमान किया जा रहा है। मार-पीट, खून-खच्चर होना शुरू हो गया है और यहूदियों को जर्मनी से भागने भी नहीं दिया-

जाता। चारों ओर माराकाटी हो गयी है। वह अपने प्राणों की रक्षा नहीं कर सकते। यहूदियों ने वहाँ सल्तनत अख्तियार कर ली है। कई पीढ़ियों से वहाँ रहते आये हैं। जर्मनी की जो कुछ उन्नति है उसमें उन्होंने कुछ कम भाग नहीं लिया है लेकिन अब जर्मनी में उनके लिए स्थान नहीं है। प्रोफेसर आइंस्टाइन जैसे विद्वानों को केवल यहूदी होने के कारण देश से बहिष्कृत कर दिया गया और उनकी सम्पत्ति छीन ली गयी

सन् २९ की भयानक ससारव्यापी मन्दी न सारी महाजनी दुनिया की चूलें हिला दी हैं। उनमें आपस में प्राणघाती आर्थिक संघर्ष छिड़ा हुआ है। महाजनी व्यवस्था के लिये संकट का समय उपस्थित है। प्रजातन्त्र का मुखौटा उतार फेंको। आ जाओ अपने नंगे आक्रामक रूप में। जरूरी है। अस्तित्व-रक्षा के लिए जरूरी है। वही इस समय हो रहा है। जापान का सैनिकवाद इटली का फ़ासिज़्म जर्मनी का नात्सीवाद इंगलैण्ड की कठोरतर साम्राज्यवादी नीतियाँ — सब का एक ही संकेत है। अपनी व्यवस्था के संकट को टालने के लिए सब हाथ-पैर फैलायेंगे। जिनके पास पहले से बड़ा साम्राज्य है वह उसे किसी तरह अपने हाथ न खिसकने न देंगे और भी मजबूती से जकड़कर बैठ जायेंगे और जिनके पास नहीं है वह साम्राज्य-विस्तार का आयोजन करेंगे। हिटलर ने कह दिया है कि उसे रहने को और जगह चाहिए। जापान ने चीन पर धावा बोल दिया है। दुनिया की शान्ति खतरे में है एक नये महाभारत की तैयारी है। लीग आफ़ नेशन्स यानी राष्ट्र संघ का असल काम इसी शान्ति की रक्षा करना है। लेकिन वह सदस्य राष्ट्रों के आपसी झगड़ों के कारण दिन-ब-दिन नपुंसक होता जा रहा है।

लेकिन उसकी इस नपुंसकता का कारण महाजनी देशों के आपसी झगड़े ही नहीं हैं। उससे भी बड़ा कारण महाजनी दुनिया और समाजवादी रूस का परस्पर संघर्ष है।

और दुनिया तेजी से आत्मघात की ओर बढ़ती रहती है। सोचने-विचारनेवाले चिन्तित हैं और इधर साल-डेढ़ साल स योरप में एक शान्ति अभियान नाम से आन्दोलन भी काम कर रही है जिसके पीछे रोमें रोलाँ और आँरी बारबुस जैसे लोग हैं। उसका एक मुखपत्र भी निकलता है, इसी नाम का जो पता नहीं कहाँ से मुंशीजी के पास भी आता है।

२८ नवंबर १९३२ को एक टिप्पणी में उन्होंने लिखा था —

सोवियट रूस के पंचसाला कार्यक्रम का फल आशातीत हो रहा है। व्यावसायिक उन्नति की यह रफ्तार संसार के इतिहास में विस्मयजनक है। यहाँ जनता पर जनता के हित के लिए शासन किया जाता है वहाँ ऐसी ही सफलता प्राप्त

छोड़ने को जी न चाहता था। अंत में जब मैंने ज़ोर देकर कहा कि किसी से इस बात का ज़िक्र न करना, मेरे पास फ़रियादियों का मेला लग जायगा, तो मामा ने स्वीकार कर लिया कि मैंने सिफ़ारिश की — और ज़ोरों से की।●

ऐसी ही नये ढंग की नयी कथावस्तु और नये शिल्प की कहानियाँ मुंशीजी ने कई लिखीं जिनमें उनकी पहले की कहानियों जैसा कसा और मज़बूती से बुना हुआ कथा का जाल नहीं है, बस एक कोई नन्ही-सी बात है, कोई हल्का-सा मुस्का कोई यों ही सी मनःस्थिति, किसी चीज़ को देखने का अपना एक ढंग, सौन्दर्य की सत्य की कोई उड़ती-सी झलक, जिसे कथानक की बहुत चिन्ता किये बगैर यों ही बातचीत के अंदाज़ में कह दिया गया है। मुंशीजी के लिए यह कोई नयी और अनहोनी बात नहीं है, पहले भी उन्होंने ऐसी कहानियाँ लिखी हैं, पर भावनाओं में एक नयी गौढ़ता ज़रूर आ गयी है कि जैसे यथार्थ का रंग और गहरा हो गया हो, ईंट और पक गयी हो।

'दूध का दाम' यों तो वही छूत-अछूत, ऊँच-नीच की कहानी है लेकिन अब गुस्से की जगह दिल का असीम दनेपाक और देनवाल एक दर्द ने ले ली है, 'मंदिर'-जैसी कहानी में जो आक्रोश की एक चीख़ थी वह यहाँ दर्द की एक मीड़ बन गयी है। एक ग़रीब भंगी माँ अपने दुधमुँहे बच्चे को भूखा रखकर एक बाबू साहब के बच्चे को, जिसकी माँ को दूध नहीं उतरा, दूध पिलाने पर नौकर रखी जाती है। साल भर यह सिलसिला चलता है, फिर समाज के ठेकेदारों के आपत्ति करने पर भंगिन इस काम से छुड़ा दी जाती है। आगे चलकर ऐसा दुःख संयोग होता है कि यह भंगिन का बच्चा मंगल अनाथ हो जाता है — बाप प्लेग का शिकार होता है और माँ को परनाला साफ़ करते समय साँप काट खाता है। अब मंगल उन्हीं बाबू साहब के यहाँ रहता है और उनके टुकड़ों पर पलता है।

● मकान के सामने एक नीम का पेड़ था। इसी के नीचे मंगल का डेरा था। एक फटा-सा टाट का टुकड़ा, दो मिट्टी के सकोरे और एक धोती, जो सुरेश बाबू ी उतारन थी। जाड़ा, गर्मी, बरसात हरेक मौसम में वह जगह एक-सी आरामदेह ी और भाग्य का बली मंगल झुलसती हुई लू, गलते हुए जाड़े और मूसलाधार वर्षा न भी ज़िन्दा और पहले से कहीं स्वस्थ था। बस उसका कोई अपना था तो गाँव का एक कुत्ता … दोनों एक ही खाना खाते, एक ही टाट पर सोते, तबीयत भी दोनों की एक-सी थी और दोनों एक दूसरे के स्वभाव को जान गये थे।

मंगल और टामी में गहरी छनती थी। मंगल कहता — देखो भाई टामी, ज़रा और खिसककर सोओ। आख़िर मैं कहाँ लेटूँ? सारा टाट तो तुमने घेर लिया!

टामी भूँ भूँ करता दुम हिलाता और खिसक जाने के बदले और ऊपर चढ़ जाता और मंगल का मुँह चाटने लगता।

शाम को वह एक बार रोज अपना घर देखने और थोड़ी देर रोने जाता

एक दिन कई लड़के खेल रहे थे। मंगल भी पहुँचकर दूर खड़ा हो गया क्यों रे मंगल खेलेगा ?

मंगल बोला —ना भैया कहीं मालिक देख लें तो मेरी चमड़ी उधेड़ दी जाय। तुम्हें क्या तुम तो अलग हो जाओगे।

सुरेश ने कहा —तो यहाँ कौन आता है देखने ये ? चल हम लोग सवार सवार खेलेंगे तू घोड़ा बनेगा हम लोग तेरे ऊपर सवारी करके दौड़ायेंगे।

मंगल ने शंका की —मैं बराबर घोड़ा ही रहूँगा कि सवारी भी करूँगा ? ●

मंगल के मुँह से इस समय इतिहास बोल रहा है दलित अछूतों का नया पुष्ट स्वर, बहुत दिन पड़ी गाँठ ली उनके ऊपर ऊँची जातवालों ने!

●यह प्रश्न टेढ़ा था। किसी ने इस पर विचार न किया था। सुरेश ने एक क्षण विचार करके कहा —तुझे कौन अपनी पीठ पर बिठायेगा सोच ? आखिर तू भंगी है कि नहीं ?

मंगल भी कड़ा हो गया। बोला —मैं कब कहता हूँ कि मैं भंगी नहीं हूँ लेकिन तुम्हें मेरी ही माँ ने अपना दूध पिलाकर पाला है। जब तक मुझे भी सवारी करने को न मिलेगी मैं घोड़ा न बनूँगा। तुम लोग बड़े चघड़ हो। आप तो मजे से सवारी करोगे और मैं घोड़ा ही बना रहूँगा। ●

अधिकारों के इस बुनियादी सवाल पर झगड़ा हो जाता है और होते-हवाते नौबत यहाँ तक पहुँचती है कि सुरेश बाबू 'छोटी लाइन के इंजन' की तरह भोंपू बजाने लगते हैं।

मंगल को बुरी तरह फटकार पड़ती है और वह मर्माहत होकर संकल्प करता है कि मैं अब इस घर में नहीं रहूँगा इस घर का खाना नहीं खाऊँगा। लेकिन भूख की मार विकट होती है और वह फिर हारकर जूठी पत्तल चाटने पहुँचता है।

अब आखिरी दृश्य —

●उसने पत्तल को ऊपर उठाकर मंगल के फैले हुए हाथों में डाल दिया। मंगल ने उसकी ओर ऐसी आँखों से देखा जिनमें दीन कृतज्ञता भरी हुई थी।

टामी भी अंदर से निकल आया था। दोनों वहीं नीम के नीचे पत्तल में खाने लगे।

मंगल ने एक हाथ से टामी का सिर सहलाकर कहा —देखा पेट की आग ऐसी होती है! यह लात की मारी हुई रोटियाँ भी न मिलतीं तो क्या करते ?

टामी ने दुम हिला दी।

'सुरेश का अम्मां ने पाला था।'

टामी ने फिर दुम हिलायी।

'लोग कहते हैं दूध का दाम कोई नहीं चुका सकता और मुझे दूध का यह दाम मिल रहा है।'

टामी ने फिर दुम हिलायी। ●

हमारा समाज बर्बरता की सीमा तक कठोर है उस स्त्री के प्रति जिसका दूसरे किसी पुरुष से संबंध हो जाता है। 'बालक' इस [illegible] वातावरण में एक नयी उदारता, एक नयी कोमलता, एक नयी संवेदना की सृष्टि करता है।

एक सीधा-सच्चा ब्राह्मण गंगू अच्छी तरह आँख खोलकर, सब कुछ जान समझकर विधवा आश्रम से निकाली हुई एक चंचल 'कुलटा' स्त्री से विवाह करता है।

आखिर एक दिन वह औरत गंगू के घर से भी भाग जाती है। मगर गंगू के चेहरे पर एक शिकन नहीं आती। उसके दिल में रत्ती भर मैल नहीं है। और वह उसकी तलाश में दर-दर की खाक छानने निकल जाता है।

भागने की वजह पीछे खुलती है। उसके बच्चा होनेवाला है और वह लाज के मारे भाग जाती है क्योंकि वह बच्चा गंगू का नहीं, शादी के पहले का है।

मगर गंगू को उसे वापस अपने आलिंगन में ले लेने में कोई बाधा नहीं होती और इसके लिए वह जो युक्ति देता है वह तो स्त्री-पुरुष के संबंध की नैतिकता का एक नया धरातल, एक नया आयाम है—

मैंने तुमसे इसलिए विवाह नहीं किया कि तुम देवी हो, बल्कि इसलिए कि मैं तुम्हें चाहता था और सोचता था कि तुम भी मुझे चाहती हो। यह बच्चा मेरा बच्चा है। मेरा अपना बच्चा है। मैंने एक बोया हुआ खेत लिया तो क्या उसकी फसल को इसलिए छोड़ दूँगा कि उसे किसी दूसरे ने बोया था? और कहानी कहनेवाले की आँखें न जाने क्यों भीग जाती हैं।

'नया विवाह' लाला डंगामल के नये विवाह की कहानी है। अधेड़ लालाजी ने अपनी पहली पत्नी, उनके सात बच्चों की माँ को अपनी निष्ठुर उपेक्षा से मारकर एक जवान लड़की से, जो उनकी बेटी हो सकती थी, अपना नया विवाह किया है। उन्हें अपनी मुर्दा रगों में एक नयी सनसनाहट, एक नयी गरमी की चाह है। लेकिन उस जवान लड़की के दिल में भी कोई चाह, कोई उमंग हो सकती है

लिए एक बंद किताब है और हमारा पुरुष-शासित पुरुष-प्रधान समाज इसी में अपनी खैरियत समझता है कि वह किताब बंद रही आये।

नयी पत्नी के आ जाने से 'जीवन के उपभोग की जो शक्ति दिन-दिन क्षीण होती जाती थी अब वह छींटे पाकर सजीव हो गयी थी, सूखा पेड़ हरा हो गया था, उसमें नयी-नयी कोंपलें फूटने लगी थीं।' लालाजी की बूढ़ी जवानी जवानों की जवानी से भी प्रखर हो गयी थी उसी तरह जैसे बिजली का प्रकाश चन्द्रमा के प्रकाश से। वह अपने को किसी गबरू जवान से जौ भर घटकर नहीं समझते और बहुत घमण्ड से कहते हैं, "जवानी का उम्र से उतना ही संबंध है जितना धर्म का आचार से, रुपये का ईमानदारी से, रूप का शृंगार से।"

लेकिन उनकी नवेली बीवी ऐसा नहीं सोचती, उसका ख्याल है कि जवानी का संबंध उम्र से होता है। वह किसी तरह उनकी सोहबत में खुश नहीं हो पाती, उसका दिल बुझा-बुझा-सा रहता है। लाला जी तरह-तरह के स्वाँग भरते हैं, तरह-तरह की सौगातें लाते हैं, लेकिन उसके दिल की कली नहीं खिलती।

वह कली खिलती है घर के जवान रसोइये जुगल की संगत में, ऐसी कि हाँ। जवान खून जवान खून को पुकारता है।

पातिव्रत हवा में नहीं रह सकता। उसको भी मिट्टी चाहिए, पानी चाहिए। जिन्दगी अपना मोल चुकाये बिना नहीं रहती। उसको भुठलाओगे तो तुम्हारा आदर्श खुद झूठा हो जायगा, खोखला। रखते रहो अपने खोखले आदर्श, चाटो उन्हें शहद लगाकर।

और एक दिन आता है जब जुगल के मुँह से अपनी सुन्दरता का बखान सुनकर लालाजी की नवेली के बदन में झुरझुरी दौड़ जाती है! और उनमें संकेतों के हल्के-से झीने आवरण में लुकी-छुपी बातें होने लगती हैं जो अपने इसी अर्थ-गम्भीर ढँकेपन के कारण और भी लुभी मालूम होती हैं।

जुगल और भी आगे बढ़कर लालाजी के लिए कहता है — आपके साथ चलते हैं तो आपके बाप-से लगते हैं।

"तुम बड़े मुँहफट हो। खबरदार, जबान सम्हालकर बातें किया करो।

किन्तु अप्रसन्नता का यह झीना आवरण उसके मनोरहस्य को न छिपा सका।

जुगल ने फिर उसी निर्भीकता से कहा — मेरा मुँह कोई बंद कर ले, यहाँ तो सभी यही कहते हैं। मेरा ब्याह कोई पचास साल की बुढ़िया से कर दे तो मैं घर छोड़कर भाग जाऊँ। या तो खुद जहर खा लूँ या उसे जहर देकर मार डालूँ। फाँसी ही तो होगी।

आशा उस कृत्रिम क्रोध को कायम न रख सकी। जुगल ने उसकी हृदयवीणा

के तारों पर जिन्दगी ने ऐसी चोट मारी थी कि उसके बहुत जब्त करने पर भी मन की व्यथा बाहर निकल आयी। उसने कहा — भाग्य भी तो कोई चीज़ है!

— ऐसा भाग्य जाय भाड़ में!

— तुम्हारा ब्याह किसी बुढ़िया से ही करूँगी देख लेना।

— तो मैं भी ज़हर खा लूँगा देख लीजिएगा।

— क्यों, बुढ़िया तुम्हें जवान स्त्री से ज्यादा प्यार करेगी ज्यादा सेवा करेगी। तुम्हें सीधे रास्ते पर रखेगी।

— यह सब माँ का काम है। बीबी जिस काम के लिए है उसी काम के लिए है।

— आखिर बीबी किस काम के लिए है?

मोटर की आवाज़ आयी। न जाने कैसे माथा के सिर का आँचल खिसककर कंधे पर आ गया। उसने जल्दी से आँचल खींचकर सिर पर कर लिया और यह कहती हुई अपने कमरे की ओर लपकी कि लाला भोजन करके चले जायें तब आना।●

कहानी का पर्दा यहीं गिर जाता है। चाहिए भी। मगर ताज्जुब है कि मुंशीजी का क़लम यहीं ठिठका क्या नहीं? कैसे लिख गए यह ऐसी उच्छृंखल कहानी

अभी तो बहरहाल जीवन का सबसे बड़ा सत्य यह है कि अब यहाँ निर्वाह नहीं हो रहा है, बम्बई शायद आना ही होगा।

तो लिख क्यों नहीं देते भवनानी को? बेचारा मरा जा रहा है चिट्ठी लिख लिखकर, तार दे-देकर

हर बार मुंशीजी क़लम उठाते हैं मगर —

और २१ मई १९३४ को उन्होंने 'जागरण' को मुखातिब हुए मीर का शेर पढ़ा —

अब तो जाते हैं मैकदे से मीर,
फिर मिलेंगे अगर खुदा लाया।

अभी 'जागरण' की समाप्ति को लेकर मुंशीजी की खटपट विनोदशंकर व्यास से चल ही रही थी कि भवनानी ने दस रोज बाद ३१ मई को लिखा —

मेरी दृष्टि से यह मुआमला बेहद जरूरी है क्योंकि और भी कुछ लोगों से बातचीत चल रही है। बहरहाल मेरी बहुत ख्वाहिश है कि आप हमारे यहाँ आयें। कहानियों की संख्या से डरने की जरूरत नहीं है क्योंकि मैं आपसे उतनी ही

लिए एक बंद किताब है और हमारा पुरुष-शासित पुरुष-प्रधान समाज इसी में अपनी खैरियत समझता है कि वह किताब बंद रही आय।

नयी पत्नी के आ जाने से जीवन के उपभोग की जो शक्ति दिन-दिन क्षीण होती जाती थी अब वह छींटे पाकर सजीव हो गयी थी सूखा पेड़ हरा हो गया था उसमें नयी-नयी कोंपलें फूटने लगी थीं। लालाजी की बूढ़ी जवानी जवानों की जवानी से भी प्रखर हो गयी थी उसी तरह जैसे बिजली का प्रकाश चन्द्रमा के प्रकाश से वह अपने को किसी जवान से जौ भर घटकर नहीं समझते और बहुत घमण्ड से कहते हैं 'जवानी का उम्र से उतना ही संबंध है जितना धर्म का आचार से रुपये का ईमानदारी से रूप का शृंगार से

लेकिन उनकी नवेली बीवी ऐसा नहीं सोचती उसका खयाल है कि जवानी का संबंध उम्र से होता है। वह किसी तरह उनकी सोहबत में खुश नहीं हो पाती उसका दिल बुझा-बुझा-सा रहता है। लाला जी तरह-तरह के स्वांग भरते हैं, तरह-तरह की सौगातें लाते हैं लेकिन उसके दिल की कली नहीं खिलती।

वह कली खिलती है घर के जवान रसोइये जुगल की सख्त में एसी कि हाँ। जवान खून जवान खून को पुकारता है।

पातिव्रत हवा में नहीं रह सकता। उसको भी मिट्टी चाहिए, पानी चाहिए। जिन्दगी अपना मोल चुकाये बिना नहीं रहती। उसको झुठलाओगे तो तुम्हारा आदर्श खुद झूठा हो जायगा लालाजी। रखो यहीं अपने खोखले आदर्श चाटो उन्हें शहद लगाकर।

और एक दिन आता है जब जुगल के मुँह से अपनी सुन्दरता का बखान सुनकर लालाजी की नवेली के बदन में झुरझुरी दौड़ जाती है। और उनमें संकेतों के हल्के-से झीने आवरण में खुली-खुली बातें होने लगती हैं जो अपने इसी अर्थ-गम्भीर ढँकेपन के कारण और भी सुर्ख मालूम होती हैं।

जुगल और भी आगे बढ़कर लालाजी के लिए कहता है — आपके बाप जस्त हैं या आपके बाप-से लगते हैं।

•तुम बड़े मुँहफट हो। खबरदार, जबान सम्हालकर बातें किया करो।

किन्तु असभ्यता का यह झीना आवरण उसके मनोरहस्य को न छिपा सका।

जुगल ने फिर उसी निर्भीकता से कहा — मेरा मुँह कोई बंद कर ले यहाँ तो सभी यही कहते हैं। मेरा ब्याह कोई पचास साल की बुढ़िया से कर दे तो मैं घर छोड़कर भाग जाऊँ। या तो खुद जहर खा लूँ या उसे जहर देकर मार डालूँ। फाँसी ही तो होगी।

नाना उस कृत्रिम क्रोध को कायम न रख सकी। जुगल ने उसकी हृदयवीणा

के तारों पर मिजराब की ऐसी चोट मारी थी कि उसके बहुत जब्त करने पर भी मन की व्यथा बाहर निकल आयी। उसने कहा — भाग्य भी तो कोई चीज है।

— ऐसा भाग्य जाय भाड़ में।

— तुम्हारा ब्याह किसी दुखिया से ही करूँगी, देख लेना।

— तो मैं भी जहर खा लूँगा, देख लीजिएगा।

— क्या दुखिया तुम्हें तमाम स्त्री से ज्यादा प्यार करेगी, ज्यादा सेवा करेगी। तुम्हें सीधे रास्ते पर रखेगी।

— यह सब माँ का काम है। बीवी जिस काम के लिए है, उसी काम के लिए है।

— आखिर बीवी किस काम के लिए है?

मोटर की आवाज आयी। न जाने कैसे आना के सिर का आँचल खिसककर कंधे पर आ गया। उसने जल्दी से आँचल खींचकर सिर पर कर लिया और यह कहती हुई अपने कमरे की ओर लपकी कि लाला भोजन करके चले आयें तब आना।●

कहानी का पर्दा यहीं गिर जाता है। चाहिए भी। मगर ताज्जुब है कि मुंशीजी का कलम कहीं ठिठका क्यों नहीं? कैसे लिख सके वह ऐसी उच्छृंखल कहानी

अभी तो बहरहाल जीवन का सबसे बड़ा सत्य यह है कि अब यहाँ निर्वाह नहीं हो रहा है, बंबई शायद आना ही होगा।

तो लिख क्यों नहीं देते भगनानी को? बेचारा मरा जा रहा है चिट्ठी लिख लिखकर, तार दे-देकर

हर बार मुंशीजी कलम उठाते हैं मगर —

और २१ मई १९३४ को उन्होंने 'जागरण' को सुलाते हुए मीर का शेर पढ़ा —

अब तो जाते हैं मैकदे से मीर,
फिर मिलेंगे अगर खुदा लाया।

अभी 'जागरण' की समाधि को लेकर मुंशीजी की खटपट विनोदशंकर व्यास से चल ही रही थी कि भगनानी ने दो रोज बाद २१ मई को लिखा —

मेरी दृष्टि से यह मुनासिब बहुत जरूरी है क्योंकि और भी कुछ लोगों से बातचीत चल रही है। बहरकैफ मेरी बहुत ख्वाहिश है कि आप हमारे यहाँ आयें। कहानियों की संख्या से डरने की जरूरत नहीं है क्योंकि मैं आपसे उतनी ही

लिए एक बंद किताब है और हमारा पुरुष-शासित पुरुष प्रधान समाज इसी में अपनी खैरियत समझता है कि यह किताब बंद रही आये।

नयी पत्नी के आ जाने से 'जीवन के उपभोग की जो शक्ति दिन-दिन क्षीण होती जाती थी अब वह छींटे पाकर सजीव हो गयी थी सूखा पेड़ हरा हो गया था उसमें नयी-नयी कोंपलें फूटने लगी थीं। लालाजी की बूढ़ी जवानी जवानों की जवानी से भी प्रखर हो गयी थी उसी तरह जैसे बिजली का प्रकाश चन्द्रमा के प्रकाश से वह अपने को किसी युवक जवान से जौ भर घटकर नहीं समझते और बहुत घमण्ड से कहते हैं, 'जवानी का उम्र से उतना ही संबंध है जितना धर्म का आचार से रुपये का ईमानदारी से रूप का शृंगार से

लेकिन उनकी नवेली बीवी ऐसा नहीं सोचती उसका ख्याल है कि जवानी का संबंध उम्र से होता है। वह किसी तरह उनकी सोहबत में खुश नहीं हो पाती उसका दिल बुझा-बुझा-सा रहता है। लाला जी तरह-तरह के स्वांग भरते हैं तरह तरह की सौगातें लाते हैं लेकिन उसके दिल की कली नहीं खिलती।

वह कली खिलती है पर एक जवान रसोइये जुगल की सोहबत में। ऐसी कि हाँ। जवान खून जवान खून को पुकारता है।

पातिव्रत हवा में नहीं रह सकता। उसको भी मिट्टी चाहिए, पानी चाहिए। जिन्दगी अपना मोल चुकाये बिना नहीं रहती। उसको भुठलाओगे तो तुम्हारा आदर्श खुद झूठा हो जायगा बालका। रक्खे रहो अपने सोने के आदर्श जाओ उन्हें शहद लगाकर!

और एक दिन आता है जब जुगल के मुँह से अपनी सुन्दरता का बखान सुनकर लालाजी की नवेली के बदन में झुरझुरी दौड़ जाती है। और उनमें उक्तियों के हल्के से झीने आवरण में चुभी-चुभी बातें होने लगती हैं जो अपने इसी अर्थ-गम्भीर ढँकेपन के कारण और भी चुभी मालूम होती हैं।

जुगल और भी आगे बढ़कर लालाजी के लिए कहता है —आपके साथ चलते हैं तो आपके बाप-से लगते हैं।

•तुम बड़े मुँहफट हो। खबरदार, जबान सम्हालकर बातें किया करो।

किन्तु अप्रसन्नता का यह झीना आवरण उसके मनोरहस्य को न छिपा सका।

जुगल ने फिर उसी निर्भीकता से कहा—मेरा मुँह कोई बंद कर के यहाँ तो सभी यही कहते हैं। मेरा ब्याह कोई पचास साल की बुढ़िया से कर दे तो मैं घर छोड़कर भाग जाऊँ। या तो खुद जहर खा लूँ या उसे जहर देकर मार डालूँ। फाँसी ही तो होगी।

आशा उस कृत्रिम कोप को कायम न रख सकी। जुगल ने उसकी हृदयवीणा

के तारों पर मिज़राब की ऐसी चोट मारी थी कि उसके बहुत यत्न करने पर भी मन की व्यथा बाहर निकल आयी। उसने कहा — भाग्य भी तो कोई चीज है।

—ऐसा भाग्य जाय भाड़ में।

—तुम्हारा ब्याह किसी बुढ़िया से ही करूँगी देख लेना।

—तो मैं भी जहर खा लूँगा देख लीजिएगा।

—क्या बुढ़िया तुम्हें जवान स्त्री से ज्यादा प्यार करेगी ज्यादा सेवा करेगी। तुम्हें सीधे रास्ते पर रखेगी।

—यह सब माँ का काम है। बीबी जिस काम के लिए है, उसी काम के लिए है।

—आखिर बीबी किस काम के लिए है ?

मोटर की आवाज आयी। न जाने कैसे आशा के सिर का आँचल खिसककर कंधे पर आ गया। उसने जल्दी से आँचल खींचकर सिर पर कर लिया और यह कहती हुई अपने कमरे की ओर लपकी कि लाला साहब चले आयें तब आना।●

कहानी का पर्दा नहीं गिर जाता है। चाहिए भी। मगर ताज्जुब है कि मुंशीजी का क़लम कहीं ठिठका क्या नहीं ? कैसे लिख सके वह ऐसी उच्छृंखल कहानी

अभी तो बहरहाल जीवन का सबसे बड़ा सत्य यह है कि अब यहाँ निर्वाह नहीं हो रहा है, बंबई शायद जाना ही होगा।

तो लिख क्यों नहीं देते भवनानी को बेचारा मरा जा रहा है चिट्ठी लिख लिखकर, तार दे-देकर

हर बार मुंशीजी क़लम उठाते हैं मगर —

और २१ मई १९३४ को उन्होंने 'जागरण' को बुझाते हुए मीर का शेर पढ़ा —

अब तो जाते हैं मैकदे से मीर,
फिर मिलेंगे अगर खुदा लाया।

अभी 'जागरण' की समाप्ति को लेकर मुंशीजी की खटपट विनोदशंकर व्यास से चल ही रही थी कि भवनानी ने दो रोज बाद २१ मई को लिखा —

मेरी दृष्टि से यह मुआमला बेहद जरूरी है क्योंकि और भी कुछ लोगों से बातचीत चल रही है। बहरहाल मेरी बहुत ख्वाहिश है कि आप हमारे यहाँ आयें। कहानियों की संख्या से डरने की जरूरत नहीं है क्योंकि मैं आपसे उतनी ही

कहानियाँ और डायलाग लूँगा जितने की मुझे अपने प्रोग्राम के लिए काफ़ी ज़रूरत होगी। फ़ौरन जवाब देने की कृपा करें ताकि मुझे अपनी स्थिति का ठीक ठीक पता चले।

अब ज्यादा सोच-विचार के लिए गुंजायश न थी। मुंशी जी अपना बोरिया-बकचा सँभालने लगे।

'डूबते को सहारा मिला। बल बड़ा हुआ।' —मुंशीजी ने निगम साहब को लिखा।



धर्मेता मिनेगीन के साथ अनुबंध पर हस्ताक्षर करते हुए



रामलक्ष्मी ठनिम सिवासवन की सुमन

३४

मैं २१ को यहाँ पहुँच गया था। तब से एक मित्र का मेहमान हूँ। कई मकान देखे। ५०) के मकान में तीन कमरे मिलते हैं। ७५) में पाँच कमरे। अभी कोई मकान ठीक नहीं किया। लेकिन आजकल में कुछ न कुछ इंतज़ाम कर लेना पड़ेगा। अभी मैं नहीं कह सकता कि मैं यहाँ रह भी सकूँगा या नहीं। जगह बहुत अच्छी है साफ़-सुथरी सड़कें हवादार मकान लेकिन जी नहीं लगता। जैसी कहानियाँ मैं लिखता हूँ उन्हें खेलने के लिए यहाँ कोई एक्ट्रेस ही नहीं है। मेरी एक कहानी यहाँ सब को अच्छी लगी लेकिन यहाँ की ऐक्ट्रेसें उसे खेल नहीं सकतीं। उसे खेलने के लिए कोई पढ़ी-लिखी ऐक्ट्रेस रखनी पड़ेगी। मैं तो ऐसी ही कहानियाँ लिखूँगा। इन लोगों की इच्छानुसार तो लिख नहीं सकता। मुंशीजी ने बंबई पहुँचते ही पत्नी को लिखा।

बेचारे यहाँ अकेले पड़े थे नयी जगह, नये लोग और बाल-बच्चे इलाहाबाद से चौदह मील दूर तहसील सोरांव में अपनी मौसी के घर चैन की बंसी बजा रहे थे। शादी-ब्याह का मौसम था और पत्नी का इरादा जल्दी बंबई की ओर रुख करने का नहीं जान पड़ता था। उधर सवा सोलह आने गृहस्थ मुंशीजी को अकेलापन बुरी तरह काट रहा था। पन्द्रह रोज़ बाद उन्होंने कुछ झुँझलाकर लिखा —

तुम लिखती हो कि २२ जून को शादी है और दूसरी बहन के यहाँ जो शादी है वह २८ जून की है। मेरी समझ में नहीं आता कि ये शादियाँ उन लोगों के घर हों तो उसका तावान अकेला मैं दूँ। मैं समझता हूँ कि तुम जुलाई से पहले आने का शायद नाम भी न लोगी। अच्छा बेटी और ज्ञानू आ गया है यह सुनकर मुझे खुशी हुई। तुम तो इन सबों के साथ खुश हो। इधर मैं सोचता हूँ कि एक-डेढ़ महीने कैसे बीतेंगे। इसे समझ ही नहीं पाता हूँ। आखिर काम भी करूँ तो कितना करूँ बैल तो नहीं हूँ फिर आदमी के लिए मनोरंजन भी तो कोई चीज़ होती है। मेरा मनोरंजन तो सबसे अधिक घर पर बाल-बच्चों से ही हो सकता है। मेरे लिए दूसरा कोई मनोरंजन ही नहीं है। खाना भी खाने बैठता हूँ तो अच्छा नहीं मालूम होता क्योंकि यहाँ साहबी ठाट-बाट है और साहब बनने से मेरी तबियत

घबराती है। यहाँ होता बाबू आया था उसको देखता। मेरी तो यह समझ में नहीं आता कि जो लोग घर-बार से अलग रहते होंगे वह कैसे रहते हैं। मुझे तो यह महीना डेढ़ महीना याद करके मेरी नानी मरती है कि किस तरह यह दिन कटेंगे।

उसी दिन जैनेन्द्र को उन्होंने लिखा —

पहली को आ गया। मकान ले लिया। दादर में होटल में खाता हूँ और पड़ा हूँ। यहाँ दुनिया दूसरी है यहाँ की कसौटी दूसरी है। अभी तो समझने की कोशिश कर रहा हूँ।

फिर २४ जून को अपनी पत्नी को लिखा —

मेरा ख़याल है कि पहली जुलाई को तुम्हारे यहाँ पहुँच जाऊँगा। तुम्हारे यहाँ तो काफ़ी चहल-पहल होगी और धुन्नू* तो फ़ेल हो गया। ख़ैर, कोई अफ़सोस की बात नहीं है, फ़ेल-पास तो लगा ही रहता है, फिर भी अपने बच्चों का फ़ेल होना अच्छा नहीं मालूम होता। रंजीदा हो तो समझा देना ग़लती उसी की है।

और फिर ख़ुद भी उसको समझाते हुए लिखा —

इस फ़ेल होने की चिन्ता मत करो। मुझे तो पहले ही आशंका थी। कभी-कभी असफलता सफलता से ज़्यादा फल देनेवाली होती है। अपने जीवन को संयम में बाँधो, कसरत करो, नियमित रूप से काम करो, सफल होगे।

श्रीपत इलाहाबाद जाकर पढ़ना चाहते थे, छोटा लड़का क्या करे, कुछ तय नहीं हो पा रहा था। नवीं में गया था। बम्बई ले जाने का ख़याल आता था मगर बेकार-सी बात थी क्योंकि दोनों प्रान्तों का कोर्स बिल्कुल अलहदा था और मुंशीजी का इरादा वहाँ साल भर से ज़्यादा रहने का नहीं था। फिर क्या होगा बेचारा न इधर का रहेगा न उधर का। लिहाज़ा मुंशीजी की तो यही इच्छा थी कि दोनों बच्चे वहीं बनारस में रहकर ही पढ़ें, कोई वहाँ आये-जाये नहीं, क्या फ़ायदा ख़र्च बढ़ाने से, साल भर बाद क्या होगा, कहाँ से आयेगा सौ रुपया महीना।

यही बात मुंशीजी ने लिखी और लिखा कि मैंने तीन कमरे का मकान ले लिया है, ज़रूरी फ़र्नीचर ख़रीद लिया है यानी पाँच कुर्सियाँ एक मेज़, नौकर अभी नहीं मिला है, बारह रुपये और खाने पर मिलता है, गेहूँ आठ सेर का है, दूध आठ आने सेर, आम ढेरों मिलते हैं और बहुत मीठे, दो आने का एक या सवा रुपये दर्जन, अंडे बहुत सस्ते हैं, छः आने दर्जन।

---

* बड़ा लड़का श्रीपत

अपने काम के बारे में लिखा —

यह एक बिल्कुल नयी दुनिया है। साहित्य से इसको बहुत कम सरोकार है। इन्हें तो रोमांचकारी सनसनीखेज़ तस्वीरें चाहिए। अपनी ख्याति को ख़तरे में डाले बग़ैर मैं जितनी दूर तक डाइरेक्टरों की इच्छा पूरी कर सकूँगा उतनी दूर तक करूँगा मुझे करना पड़ेगा। ज़िन्दगी में समझौता करना ही पड़ता है। आदर्शवाद महँगी चीज़ है और बाज़ औक़ात उसको दबाना पड़ता है। बम्बई की आबहवा रास न आने पेट की ख़राबी और दमे की शिकायतें भी इसी ख़त में आ गयी।

पहली जुलाई तक गिरस्ती का मसला मुंशीजी के मन में साफ़ हो गया था —

मुझे उम्मीद है कि मैं १५ जुलाई को तुम्हारे पास पहुँच जाऊँगा। बेटी को अभी विदा न करना। मैं उसको अपने साथ लेता जाऊँगा। बच्चों को पढ़ने के लिए मेरे ख़याल से प्रयाग में अच्छा होगा। बच्चों का वहीं नाम लिखा देना। वह दोनों आराम से वहाँ पढ़ेंगे। बच्चों के यहाँ नाम लिखाने से मैं यहाँ बँध जाऊँगा और मैं कहीं बँधना नहीं चाहता। अभी मैं यहाँ रहने का निश्चय नहीं कर सका हूँ इसलिए यहाँ लड़कों का नाम लिखाना ठीक नहीं होगा। उनका वहीं रहना ज़्यादा ठीक है। बाद को उनकी पढ़ाई में गड़बड़ी हो जाने का डर है। तुम अपने ख़त में यह लिखोगी कि मैं ख़ुद रह कर बच्चों को यहीं पढ़ाऊँ। उसके लिए मैं यह लिखता हूँ कि बच्चों को सबसे ज़्यादा रुपयों की ख़्वाहिश होती है। मैं उनको सौ रुपया महीना देता रहूँगा। वह आराम से वहाँ रहेंगे। उनको ज़रूरत न मेरी है न तुम्हारी।

स्नेह की ज़रूरत नहीं यह मुंशीजी का दुखी हृदय बोल रहा है। बच्चों की इलाहाबाद जाने की बला टली।

बहरहाल, जुलाई ख़त्म होते-होते शिवरानी देवी बेटी और उसके बच्चे के साथ बम्बई पहुँच गयीं और मुंशीजी की गिरस्ती जम गयी।

मगर महानगरियों की हवा में शायद कुछ जादू होता है (मुंशीजी के लिए तो था ही) कि आदमी काम कुछ नहीं करता मगर व्यस्त हरदम रहता है। 'मोहब्बत' पर काम चल रहा था मगर चींटी की चाल से। उधर 'मज़दूर' बनना शुरू हो गया था। जैसा कि निज़ामउद्दीन बर्नी साहब कहते हैं, जो उन दिनों बम्बई में ही थे और मुंशीजी से अक्सर मिलते रहते थे और जिस की तसदीक़ उस फ़िल्म के निर्देशक मोहन भवनानी ने भी की 'उस फ़िल्म की कहानी का ढाँचा कम्पनी ने तैयार किया था और उस पर महज़ मोहर मुंशीजी साहब ने लगा दिया था। काफ़ी अतिनाटकीय-सी कहानी थी जिसका उद्देश्य यह दर्शाना था कि पूँजीपति

उदार और उन्नत विचारों का होकर देश की जनता का कितना भला कर सकता है। बात थोड़ी-सी मुंशीजी के मन की थी भी और बहुत कुछ नहीं भी थी। मगर ख़ाका खींचा तो यहाँ पहले से तैयार ही था बस गोश्त चढ़ाना बाक़ी था और उसमें मुंशीजी ने कोताही नहीं की। डायलाग में जितनी जान डाल सकते थे डाली जितनी तेज़ी ला सकते थे लाये। भवनानी ने भी जिनकी फ़िल्मी ज़िन्दगी शुरू ही हो रही थी ख़ूब जी तोड़कर काम किया एक मिल-मालिक दोस्त की कपड़ा मिल में लगातार शूट की गयी और पूरी बात उस वास्ते पर खोल। बम्बई की फ़िल्मी दुनिया में लोकेशन शूटिंग आज भी कम ही देखने में आती है। रुपये में पन्द्रह आना तसवीरें आज भी पूरी की पूरी नक़ली सेट बनाकर स्टूडियो में ही बना ली जाती हैं उस वक़्त तो हिन्दी फ़िल्मों के उस आरम्भिक युग में यह एक बिलकुल नयी और अनहोनी बात थी। बिहारा मिल के हज़ारों मज़दूरों समेत वह सीन चित्रपट पर बहुत ही सजीव उतरे और यों कहानी काफ़ी लचर-सी थी डायलाग ने उसमें काफ़ी जान फूँक दी थी। और तसवीर जब सेंसर बोर्ड के सामने पहुँची तो बम्बई के बड़े पूँजीपति और मिल-ओनर्स असोसिएशन के सभापति सर जीजीभाई ने जो बोर्ड के भी सदस्य थे और बहुत प्रभावशाली सदस्य थे डटकर उसका विरोध किया और तसवीर सेंसर बोर्ड से पास नहीं हो सकी। तब भवनानी और अजंता सिनेटोन के दूसरे लोगों ने बोर्ड के सभापति और बम्बई के पुलिस कमिश्नर किन्हीं मिस्टर विल्सन से अपील की। मिस्टर विल्सन ने कुछ दृश्य काट देने के लिए कहा। कम्पनी ने उनकी सलाह पर अमल किया लेकिन तब भी बम्बई के सेंसर बोर्ड ने जिसमें बहुत से बड़े-बड़े पूँजीपति भरे थे फ़िल्म को पास नहीं किया।

लेकिन पंजाब में सेंसर बोर्ड ने फ़िल्म को पास कर दिया और लाहौर के इम्पीरियल सिनेमा में गाजे बाजे के साथ उसके दिखाये जाने की बारी आयी। बम्बई के सेंसर बोर्ड ने फ़िल्म को पास नहीं किया यह बात फैल ही चुकी थी। पहले ही रोज़ भवनानी साहब का कहना है साठ हज़ार मज़दूरों की भीड़ सिनेमा के फाटक पर जमा हुई — और सात रोज़ तक कुछ इसी तरह का हाल रहा फाटक पर भीड़ की रोक-थाम के लिए पुलिस और मिलिटरी का बन्दोबस्त करना पड़ा। आख़िर कार पंजाब सरकार ने भी घबराकर उस पर रोक लगा दी।

लाहौर के बाद वह फ़िल्म दिल्ली में रिलीज़ हुई। वहाँ भी अनिष्टकारी यहीं से उसका पीछा नहीं छोड़ा। कोई मज़दूर फ़िल्म के एक सीन की ही तरह किसी मिल मालिक की मोटर के आगे लेट गया और एक अच्छा-ख़ासा हंगामा खड़ा हो गया। नतीजा दिल्ली की प्रान्तीय सरकार ने भी उस पर रोक लगा दी।

यू० पी० सी० पी० में जहाँ-तहाँ यह तसवीर दिखायी गयी पर कुछ अर्से के बाद जब भारत सरकार ने उस पर रोक लगा दी तो बात खत्म हो गयी। बाद को सन् ३७ में एक बार फिर उसके मामले को उभारा गया और किसी प्रकार उसके और भी कुछ हिंसात्मक दृश्य काट-छाँट करके उसके ऊपर लगी हुई रोक हटाने का उपाय किया गया — लेकिन तब तक लोहा ठंडा पड़ चुका था और लोग दिलचस्पी खो चुके थे।

मगर फ़िल्म को दूसरी जगह के देखनेवाले लोग भी थे और उसकी बहुत अच्छी रिव्यू अमेरिका की मशहूर पत्रिका 'एशिया' में निकली।

लेकिन यह तो आगे अभी बाद की बात है। अभी तो तसवीर बन रही है और भवनानी ने बहुत कह-सुनकर मुंशीजी को इसके लिए राज़ी कर लिया है कि वह खुद एक-दो मिनट के लिए पर्दे पर आयें। मुंशीजी को न जाने कैसी लगती है यह बात लेकिन भवनानी का हठ देखकर वह राज़ी हो जाते हैं, शर्त एक ही है कि वह अपने रोज़ के कपड़ों में ही रहेंगे और किसी तरह का कोई मेक-अप नहीं करायेंगे। भवनानी इसको भी मंज़ूर कर लेते हैं — और तब मुंशीजी अपनी खद्दर धोती और कुर्ते में ज़रा-सी देर के लिए मिलवालों और मज़दूरों के झगड़े में सरपंच बनकर रजत पट पर आते हैं।

और इधर खुद उनके कारखाने में मज़दूरों ने हड़ताल कर दी। मुंशीजी को इस बात से बड़ी चोट लगी और उन्होंने २५ सितम्बर १९३४ को 'भारत' में सम्पादक के नाम एक चिट्ठी छपाई जो खुद अपनी दर्दनाक कहानी कह रही है —

• सरस्वती प्रेस के प्रोप्राइटर होने के नाते हड़ताल की कितनी ज़िम्मेदारी मुझ पर आती है उसे स्पष्ट करना आवश्यक है ताकि आपके पाठकों को उससे मेरे बारे में जो ग़लतफ़हमी हो सकती है वह दूर हो जाय।

सरस्वती प्रेस लगातार कई साल से घाटे पर चल रहा है। पहले 'हंस' निकला और उससे तीन साल तक बराबर घाटा होता रहा। इसके बाद प्रेस में काम की कमी को पूरा करने और साहित्य की कुछ सेवा करने के लिए मैंने 'जागरण' निकालने का भार भी ले लिया और दो साल अपने समय का बहुत बड़ा भाग खर्च करके उसे चलाता रहा लेकिन उसमें भी बराबर घाटा ही रहा यहाँ तक कि प्रेस पर कोई चार हज़ार का ऋण हो गया जिसमें कर्मचारियों का देना और कागज़वालों का बकाया दोनों शामिल है। फिर भी मैंने हिम्मत नहीं हारी और जब अपनी बिगड़ी आर्थिक दशा से तंग आकर मैं काशी से चलने लगा

तो मैंने 'जागरण' का सम्पादन-भार बाबू सम्पूर्णानन्द को सौंपा। मगर घाटा बराबर होता रहा। मेरी पुस्तकों की बिक्री के रुपये भी प्रेस के खर्च में आते रहे फिर भी खर्च पूरा न पड़ता था क्योंकि इधर पुस्तकों की बिक्री भी घट गयी है। बाबू सम्पूर्णानन्द जी के हाथों में 'जागरण' ने सोशलिस्ट नीति की जैसी जोरदार वकालत की वह हिन्दी संसार भलीभाँति जानता है। मैं खुद सोशलिस्ट विचारों का आदमी हूँ और मेरी सारी जिन्दगी गरीबों और दलितों की वकालत करते गुजरी है। हिन्दी में 'जागरण' एक ऐसा पत्र था जिसने घाटे की परवाह न करते हुए वीरता के साथ सोशलिज्म का प्रचार किया। जब प्रेस की आमदनी का यह हाल था तो कर्मचारियों का वेतन कहाँ से पाबन्दी के साथ दिया जा सकता था? मेरी किताबों से जो कुछ आमदनी होती है, वह इतनी भी नहीं है कि उससे मेरा निबाह हो सकता। न मुझमें यह फ़न है कि धनिकों से अपील करके कुछ धन संग्रह कर सकता।

मुझे ऐसी दशा में 'जागरण' को अवश्य बन्द कर देना चाहिए था जैसा मेरे अनेक मित्रों ने कहा लेकिन दुनिया उम्मीद पर कायम है और मैं बराबर यही सोचता रहा कि शायद अब पत्र का प्रचार बढ़े। उसके पीछे कई हजार का नुकसान उठा चुकने के बाद उसे बन्द करते मोह आता था। मेरे कई मित्रों ने प्रेस को ही बन्द करने की सलाह दी क्योंकि प्रेस के बन्धन से मुक्त होकर मैं अपनी पुस्तकों और लेखों से सस्टम-मस्टम अपना निर्वाह कर सकता हूँ। कम से कम उस दशा में मुझ पर किसी का कर्ज तो न रहता लेकिन मुझे यही संकोच होता था कि ये पचीस-तीस आदमी बेकार होकर कहाँ जायेंगे। प्रेस से मुझे कुछ नहीं मिलता मेहनत भी मुफ्त में करनी पड़ती है मगर इतने आदमियों की रोजी तो लगी हुई है। इस ख्याल से मैं हर तरह की दुश्वारी उठाकर प्रेस और पत्र चलाता रहा। दिल में समझता था कर्मचारियों को प्रेस का हाल ज्ञात है ही क्या वह मेरी मजबूरी नहीं समझते? जब उन्हें मालूम है कि मैंने आज तक प्रेस से एक पैसे का लाभ नहीं उठाया और अपनी गाढ़ी कमाई से कम से कम दस हजार रुपये प्रेस और पत्रों के पीछे फूँक दिये तो उनको मेरे नादिहन्द होने की कोई शिकायत नहीं होनी चाहिए। मैं तो उल्टे अपने को उनकी हमदर्दी का पात्र समझता था। मैं मानता हूँ कि गरीबों को समय पर वेतन न मिलने से बड़ा कष्ट होता है लेकिन क्या वे खुद ही इस प्रेस के मालिक होते तो वे भी मेरी ही तरह सिर पीटकर न रह जाते? क्या उन्हें किताबों में घाटा नहीं हो रहा है और वे प्रेस की मजबूरी का ख्याल नहीं कर रहे हैं? कर्मचारी को मालिक से असंतोष तब होता है जब मालिक खुद तो आमदनी हजम कर जाता है और उन्हें भूखा रखता है। जब उन्हें

मालूम है कि मालिक खुद बगार में रात-दिन पिस रहा है उसकी जेब में एक पाई भी नहीं आती तो उनको मालिक से शिकायत करने का कोई वाजिब मौका नहीं है। फिर भी इन परिस्थितियों पर जरा भी विचार न करके प्रेस संघ ने प्रेस में हड़ताल करवा दी। मैंने समर पात ही संघ के सभापति महोदय को सारा हाल समझा दिया लेकिन उन्हें तो अपनी शानदार फतेह का पड़ी थी मेरी मुश्किलों पर क्यों ध्यान देते ? उन्हें यहां तक विचार न हुआ कि इस प्रेस को साहित्य या समाज की सेवा हो के कारण यह घाटा हो रहा है। और यही प्रेस है जो मजदूरों की बकालत कर रहा है और इस लिहाज से मजदूरों की हमदर्दी का हकदार है, ऐसी कोशिश करें कि वह सफल हो और ज्यादा एकाग्रता से उनकी बकालत कर सके। उनके सोशलिज्म में ऐसे तुच्छ विचारों के लिए स्थान ही नहीं था। वहां तो सीधा-सादा सूखा हुआ सिद्धान्त था कि प्रेस ने मजदूरी काफी लगा रक्खी है इसलिए हड़ताल करवा दो। मैं अब भी प्रेस को बन्द कर सकता था क्योंकि मैं पहले ही कई बार कह चुका हूं कि प्रेस से मुझे कोई आर्थिक लाभ नहीं है, बल्कि हमेशा कुछ न कुछ घर से देना पड़ता है लेकिन फिर यह खयाल करके कि इतने आदमी उसी प्रेस से कुछ न कुछ पा रहे हैं उसे बन्द कर देने से उन्हीं का नुकसान होगा और उन्हें अपने बाकी वेतन के लिए कई महीने का इन्तजार करना पड़ेगा प्रेस को जारी कर दिया। यह है उस शानदार विजय का वृत्तान्त जो संघ को सरस्वती प्रेस पर प्राप्त हुई है। अपने वकील का मला घोंटना अगर विजय है तो बेशक उसे विजय हुई, क्योंकि इस झमेले में आमरण बन्द हो गया। जिन मजदूरों के लिए वह सैकड़ों का माहवार घाटा सह रहा था अब उन्हीं मजदूरों को उस पर दया नहीं आती तो फिर उसका बन्द हो जाना ही अच्छा था।

रह गयीं अन्य शर्तें। वे सब अच्छी हैं और मैं हमेशा से उनकी पाबन्दी करता आया हूं। मेरे कर्मचारियों में से किसी का साहस नहीं है कि वह मेरे विरुद्ध अपशब्द या डॉट-डपट का आक्षेप कर सके। मैं खुद मजदूर हूं और मजदूरों का दोस्त हूं। उनके साथ किसी तरह का अन्याय या सख्ती देखकर मुझे दुख होता है। और मेरे मैनेजर ने मारपीट की थी तो कर्मचारियों को मुझसे कहना चाहिए था अगर मैं मैनेजर की तम्बीह न करता तो उनका जो जी चाहता करते। इन शर्तों में एक भी ऐसी नहीं है जो मैं सच्चे हृदय से न मान लेता बल्कि मैं तो मजदूरों को आधे महीने की पेशगी देने की शर्त भी मानता अगर कोष में रुपये होते। मैं खुद चाहता हूं कि वह समय आये जब मजदूरों को (जिनमें मैं भी हूं) कम से कम काम करके अधिक से अधिक मजदूरी मिले खूब छुट्टियां मिलें और जितनी सुविधाएं दी

पा सकें दी जायें मगर शर्त यही है कि आमदनी काफी हो। घाटे पर चलने-वाले उद्योग को बड़ी बड़ी सदिच्छाएँ रखने पर भी बदनाम होना पड़ता है और उस पर कोई भी बड़ी आसानी से शानदार फ़तेह पा सकता है।

जिसके लिए अपना पेट काटा और सारी ज़िन्दगी आराम नहीं जाना वही कहे कि तुम मेरा पेट काट रहे हो मेरा ख़ून चूस रहे हो! बड़ी गहरी पीड़ा हुई मुंशीजी को और उसी तैश में उन्होंने दो-तीन जगह चिट्ठियाँ दौड़ा दीं। उसके चौथे रोज़ २९ तारीख़ को उन्होंने जैनेन्द्र को लिखा — मैंने सोचा तीन महीने की मजबूरी एक हज़ार रुपये से कम न होगी। कागज़वालों के भी दो हज़ार देने हैं। क्यों न प्रेस और स्टाक किसी को देकर उससे रुपये ले लूँ और सब बकाया चुकाकर प्रेस से हमेशा के लिए पिण्ड छुड़ा लूँ। तभी दो-तीन जगह खत लिखे। एक खत ऋषभ जी को भी लिखा। स्टाक लेना तो सबने स्वीकार किया पर प्रेस पर कोई न राज़ी हुआ। इस बीच में हड़ताल टूट गयी। एक महीने का वेतन लेकर सब काम करने आ गये।

मुंशीजी की ज़िन्दगी का नक़्शा यहाँ भी वही था जो बनारस में या लखनऊ में या कानपुर में या गोरखपुर में — न किसी से दोस्ती न किसी से मुलाक़ात। मुल्ला की दौड़ मसजिद तक। स्टूडियो गये घर आ गये। ७ फ़रवरी १९३५ के ख़त में मुंशीजी ने जैनेन्द्र को लिखा। 'सात बजे उठता हूँ। साढ़े आठ तक घूम कर आता हूँ। नाश्ता करता हूँ। नौ बजे अख़बार पढ़ता हूँ। कभी घण्टा भर, कभी इससे ज़्यादा समय लग जाता है। कभी कोई मिलने आ जाता है। ग्यारह बज जाता है। नहा-खाकर स्टूडियो जाता हूँ। कुछ काम हुआ तो किया, नहीं उपन्यास पढ़ा। पाँच बजे लौटता हूँ। हिन्दी के पत्र-पत्रिकाओं को उलटता-पलटता हूँ चिट्ठी-पत्तर लिखता हूँ खाता हूँ और सो जाता हूँ। यही दिनचर्या है।

शब्द-शब्द में अपनी व्यर्थता का आक्रोश बोल रहा है

नाटककार हरिकृष्ण प्रेमी वहीं दादर की हिन्दू कालोनी में मुंशीजी के पड़ोसी थे। वह भी सिनेमा में किस्मत आज़माने आये थे। अक्सर गपशप के लिए चले आते। एक रोज़ उन्होंने मुंशीजी से पूछा — आप कैसे आ फँसे यहाँ?

मुंशीजी ने जवाब दिया — प्रेस के ऊपर कुछ कर्ज़ हो गया है उसी को पटाने के लिए आया हूँ। मगर तुम तुम क्यों अपने को बर्बाद करने आ गये?

प्रेमी ने कहा — मैं कुछ पैसा कमाकर प्रेस अपना खोलना चाहता हूँ।

मुंशीजी ने ज़ोर का एक क़हक़हा लगाया और फिर कुछ उदास होते हुए कहा — आज प्रेस चलाने को पैसा कमाने फ़िल्म कम्पनी में आये हो — कल प्रेस के क़र्ज़ को अदा करने के लिए आओगे

एक बार प्रेमी जी के एक दोस्त दिल्ली से बम्बई आये। उनकी सुन्दरी सलोनी युवती पत्नी साथ थी। प्रेमी जी की कहानी पर फ़िल्म बन रहा था। वहीं स्टूडियो में आकर उन्होंने प्रेमी जी से मुलाक़ात की। सारा दिन बड़ी दिलचस्पी से शूटिंग देखा। शाम को प्रेमचन्दजी से मिलने की ख़्वाहिश ज़ाहिर की तो प्रेमी उनको लेकर मुंशीजी के घर पहुँचे। पत्नी भीतर चली गयी। मर्दों में बातें होने लगीं।

मित्र ने कुछ इधर-उधर की बातों के बाद पूछा — मुंशीजी क्या भले घर की महिलाएँ फ़िल्मों में काम कर सकती हैं?

मुंशीजी ने तपाक से कहा — क्यों नहीं

मित्र का चेहरा खिल उठा लेकिन तभी मुंशीजी ने अपनी बात पूरी करते हुए कहा — लेकिन उन्हें अपनी नाक अपने घर पर रख आनी होगी।

हर रोज़ स्टूडियो जाना ज़रूरी नहीं है लेकिन कुछ यही तबीयत का उनका मन है कि पहुँच जाते हैं घर रहकर ही ऐसा क्या कर लूँगा! सिगरेट पीना भी बहुत बढ़ गया है — नहीं तो बस दिन-रात में तीन बीड़ी पीते थे। अब यों ही धुआँ उड़ाते दोपहर गुज़र जाती है।

कम्पनी के लोग डेरेक्टर वग़ैरह मुंशीजी की बहुत इज़्ज़त करते हैं ख़ासकर परामर और मवीन मालिक। मगर बोर्ड आफ़ डाइरेक्टर्स में कुछ लोग काफ़ी करीमाय हैं। ठेठ पूँजीपति क़िस्म हैं न उनके पास कोई संस्कार न संस्कृति। कभी-कभी मुंशीजी से ज़ोर-ज़ोरकर पूछा जाता है — फ़लाँ कहानी कितनी हुई? कब तक पूरी होगी? और वह डायलाग उस तसवीर का? कुछ देर तक तो मुंशीजी का संतुलन क़ायम रहता है और वह बड़े शान्त भाव से जवाब दे देते हैं लेकिन कभी-कभी जब बहुत ज़्यादा छानबीन की बातें चलती हैं तो मुंशीजी का पारा चढ़ जाता है और उनके तैश या झुँझलाहट का कुछ आभास उनके चेहरे पर भी उतर आता है — क्या मतलब इस जाँच-पड़ताल का? मेरा कहना काफ़ी नहीं है कि मैं फ़लाँ कहानी पर काम कर रहा हूँ

सच पूछिए तो उस मतलब में मुंशीजी कम्पनी के नौकर भी नहीं हैं उनका तो साल भर का ठेका है कहानियाँ लिखकर देने का और लिखने का काम घर पर भी किया जा सकता है, ज़्यादा अच्छी तरह किया जा सकता है। मगर

मुंशीजी खुद कम्पनी का काम कम्पनी में बैठकर करना पसन्द करते हैं इसी लिए तो रोज दिन भागा पहुँच जाते हैं अपने घर से। घर अपने लिखने के लिए है जो कि ढंग से हो नहीं पा रहा है

११ नवम्बर को मुंशीजी ने हैदराबाद के हुसामउद्दीन गोरी साहब के एक फ़िल्म-संबंधी लेख पर, जिसमें उन्होंने जन-रुचि के संस्कार के लिए फ़िल्म की उपयोगिता की बात उठायी थी लेखक को बधाई देते हुए कहा—

मुझे आपके खयाल से हर्फ़-ब-हर्फ़ इत्तफ़ाक़ है। मगर जिन हाथों में फ़िल्म की क़िस्मत है वह बदक़िस्मती से इसे इंडस्ट्री समझ बैठे हैं। इंडस्ट्री को मज़ाक़[1] और इस्लाह[2] से क्या निस्बत? वह तो एक्सप्लायट करना जानती है और यहाँ इंसान के मुक़द्दसतरीन[3] जज़बात[4] को एक्सप्लायट कर रही है। बरहना[5] और नीमबरहना[6] तसवीरें, क़त्ल-ओ-खून और जंग की वारदातें मार पीट, बुग्ज़ और ग़ज़ब और नफ़सानियत ही इस इंडस्ट्री के औज़ार हैं और इन्हीं से वह इंसानियत का खून कर रही है।

और २६ दिसम्बर को इन्द्रनाथ मदान को लिखा— सिनेमा साहित्यिक आदमी के लिए ठीक जगह नहीं है। मैं इस लाइन में यह सोचकर आया था कि आर्थिक रूप से स्वतन्त्र हो सकने की कुछ संभावनाएँ इसमें दिखायी देती थीं लेकिन अब मैं देख रहा हूँ कि यह मेरा भ्रम था और अब मैं फिर साहित्य की ओर लौट रहा हूँ। सच तो यह है कि मैंने लिखना कभी बन्द नहीं किया। मैं उसे अपने जीवन का लक्ष्य समझता हूँ। सिनेमा मेरे लिए वैसा ही है जैसी कि वकालत होती अन्तर बस इतना है कि यह अधिक स्वस्थ है।

पन्द्रह रोज बाद फिर जैनेन्द्र को लिखा—

"फ़िल्मी हाल क्या लिखूँ। मिल यहाँ पास न हुआ। लाहौर में पास हो गया और दिखाया जा रहा है। मैं जिन इरादों से आया था उनमें एक भी पूरा होता नजर नहीं आता। ये प्रोड्यूसर जिस ढंग की कहानियाँ बनाते आये हैं, उसकी लीक से जौ भर भी नहीं हट सकते। वल्गैरिटी को ये लोग एण्टरटेनमेण्ट वैल्यू कहते हैं। अद्भुत ही में इनका विश्वास है। राजा रानी उनके मंत्रियों के षड्यन्त्र नकली लड़ाई, बोसेबाजी यही उनके मुख्य साधन हैं। मैंने सामाजिक कहानियाँ लिखी हैं जिन्हें शिक्षित समाज भी देखना चाहे, लेकिन उनको फ़िल्म करते इन लोगों को सन्देह होता है कि चले या न चले। यह साल तो

---

१ रुचि २ परिष्कार ३ पवित्रतम ४ भावनाओं ५ नग्न ६ अर्द्ध-नग्न

पूरा करना है हाँ। कर्ज़दार हो गया था, क़र्ज़ा पटा दूँगा, मगर और कोई काम नहीं। उपन्यास के अन्तिम पृष्ठ लिखने बाकी हैं, उधर मन ही नहीं जाता। यहाँ से छुट्टी पाकर अपने पुराने अड्डे पर आ बैठूँ। वहाँ धन नहीं है, मगर सन्तोष अवश्य है। यहाँ तो जान पड़ता है कि जीवन नष्ट कर रहा हूँ।

इसके अभी दो ही महीने पहले मुंशीजी ने बनारसीदास को लिखा था —

यहाँ स्थिति मेरे लिए काफ़ी अनुकूल है क्योंकि अब इस उम्र में मेरे बहकने का अंदेशा कम है।[1] दूसरी ओर मेरा इस लाइन में पहुँचना एक बड़ा काम कर सकता है। लेकिन इसी बीच जी खट्टा हो गया था, उम्मीदें धुल गयी थीं।

शायद इन्हीं दिनों, जिनका ज़िक्र वर्मा साहब बयान करते हैं — बम्बई टाकीज़ के डाइरेक्टर मिस्टर हिमांशु राय जो 'लाइट आफ़ एशिया' और कई ऐसी कामयाब फ़िल्में बना चुके हैं, यह चाहते थे कि मुंशी साहब किसी तरह उनकी कम्पनी से सम्बद्ध हो जायें। चुनांचे जब उन्होंने मुझसे अपनी इच्छा व्यक्त की तो मैंने मुंशी साहब से उनकी मुलाक़ात करा दी। लेकिन मुलाक़ात के वक्त उन्होंने बम्बई की ख़राब आबोहवा की बात कही और फ़रमाया कि मैं अजन्ता सिनेटोन से अलग होने के बाद बनारस जाना चाहता हूँ। मुझे उनकी बातचीत से ऐसा मालूम होता था कि फ़िल्मी काम से उनका जी उचाट हो चुका है, इसलिए जब मिस्टर हिमांशु राय ने उनसे दरख़्वास्त की कि वह बनारस ही से उनकी कम्पनी के लिए कहानियाँ लिखकर भेज दिया करें, तब भी उन्होंने अपनी असमर्थता बतलायी और अपनी जगह पर मिस्टर कश्यप[1] की सिफ़ारिश कर दी।

ज़िन्दगी अपने इसी ढंग में चली जा रही थी। सेहत गिरती जा रही थी। पेट की तमाम पुरानी बीमारियाँ जो न जाने कब से शरीर में अड्डा जमाये बैठी थीं अब फिर सिर उठाने लगी थीं।

राजनीति बिलकुल ठंडी थी। २९ सितम्बर को मुंशीजी ने जैनेन्द्र को लिखा था — यहाँ कांग्रेस में आ रहे हो न? कांग्रेस तो बेजान-सी चीज़ होती जा रही है। मगर तमाशा तो रहेगा ही।

हाँ राष्ट्रभाषा का आन्दोलन एक ऐसी चीज़ थी जो आजकल मुंशीजी की चेतना पर पूरी तरह छायी हुई थी।

---

1 जमुना स्वरूप जे. एस. कश्यप जिन्होंने बम्बई टाकीज़ के लिए बरसों काम किया और आजकल शायद मद्रास की किसी कंपनी में हैं।

२७ अक्टूबर को बम्बई में ही राष्ट्रभाषा सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष की हैसियत से भाषण करते हुए मुंशीजी ने कहा—

•यह दो पैरोंवाला जीव उसी वक्त आदमी बना जब उसने बोलना सीखा। समाज की बुनियाद भाषा है। भाषा का सीधा सम्बन्ध हमारी आत्मा से है। भाषा हमारी आत्मा का बाहरी रूप है। उसके एक-एक अक्षर में हमारी आत्मा का प्रकाश है। भाषा सदियों तक हमारा साथ देती रहती है और जितने लोग हमजबान हैं उनमें एक अपनापन एक आत्मीयता एक निकटता का भाव जगाती रहती है। मनुष्य में मेल डालनेवाला रिश्ता भाषा का है।

हमारे मुल्की फैलाव के साथ हमें एक ऐसी भाषा की जरूरत पड़ गयी जो सारे हिन्दुस्तान में समझी और बोली जाय

हम सूबे की भाषाओं के विरोधी नहीं हैं आप उनमें जितनी उन्नति कर सकें करें लेकिन एक कौमी भाषा का मरकजी सहारा लिये बगैर आपके राष्ट्र की जड़ मजबूत नहीं हो सकती। अगर हमने कौमियत की सबसे बड़ी शर्त यानी कौमी जबान की तरफ से लापरवाही की तो इसका अर्थ यह होगा कि आपकी कौम को जिन्दा रखने के लिए अंग्रेजी की मरकजी हुकूमत का कायम रहना लाजिमी होगा वर्ना कोई मिलानेवाली ताकत न होने के कारण हम सब बिखर जायेंगे और प्रान्तीयता जोर पकड़कर राष्ट्र का गला घोंट देगी

इस कौमी जबान के रास्ते में सबसे बड़ी रुकावट अंग्रेजी है उसका बढ़ता हुआ प्रचार और हममें आत्म-सम्मान की वह कमी जो गुलामी की शर्म को नहीं महसूस करती।•

अंग्रेजी की इस नागफांस को तोड़ना होगा हिन्दुस्तान की किसी जबान से। वह जबान हिन्दी या हिन्दुस्तानी ही हो सकती है। नाम से मुंशीजी को कोई झगड़ा नहीं है हिन्दी कहिए, उर्दू कहिए, हिन्दुस्तानी कहिए, कुछ भी कहिए, तत्व की बात यह है कि उसका रूप क्या होगा? वह हिन्दी उर्दू का मिला जुला रूप होगा। तो क्यों न उसे हिन्दुस्तानी कहो हिन्दुस्तान की भाषा हिन्दुस्तानी।

•ऐसी भाषा न पण्डिताऊ होगी न मौलवियों की। यह जाहिर है कि अभी इस तरह की भाषा में इबारत की चुस्ती और शब्दों के विन्यास की बहुत थोड़ी गुंजाइश है। और जिसे हिन्दी या उर्दू पर अधिकार है उसके लिए चुस्त और सजीली भाषा लिखने का लालच बड़ा जोरदार होता है। अगर हमें राष्ट्रभाषा का प्रचार करना है तो हमें इस लालच को दबाना पड़ेगा। हमें इबारत की चुस्ती पर नहीं अपनी भाषा को सलीस बनाने पर खास तौर से ध्यान रखना होगा। इस वक्त

ऐसी भाषा बनाना और सीखना कठिन जरूर है। कहीं शब्द-भंडार का बोझा भारी जायगा। कहीं एक उर्दू शब्द हिन्दी के बीच में इस तरह डटा मालूम होगा जैसे कौओं के बीच में हंस आ गया हो। कहीं उर्दू के बीच में हिन्दी शब्द हलुए में कंकड़ के ढले की तरह मज़ा बिगाड़ देंगे। पण्डितजी भिनभिनायेंगे और मौलवी साहब भी नाक सिकोड़ेंगे और चारों तरफ से शोर मचेगा कि हमारी भाषा का गला रेता जा रहा है, कुन्द छुरी से उसे जिबह किया जा रहा है। उर्दू को मिटाने के लिए यह साजिश की गयी है, हिन्दी को डुबाने के लिए यह माया रची गयी है। लेकिन हमें इन बातों को कलेजा मज़बूत करके सहना पड़ेगा। राष्ट्रभाषा केवल रईसों और अमीरों की भाषा नहीं हो सकती। उसे किसानों और मज़दूरों की भाषा बनना पड़ेगा। ... इधर तो हम राष्ट्र राष्ट्र का गुल मचाते हैं उधर अपनी अपनी ज़बानों के दरवाज़ा पर संगीनें लिये खड़े रहते हैं कि कोई उनकी तरफ आँख न उठा सके। ●

दिसम्बर में मद्रास की तैयारी हो गयी। हिन्दी प्रचार सभा ने दीक्षान्त भाषण करने के लिए आमंत्रित किया था। एक अहिन्दी प्रदेश में जाकर हिन्दी के प्रचार का सुयोग उनके मन की चीज़ थी और मन मन भर मथिया हिलाने वाली बात उनके लिए बिलकुल बिगानी थी। लिहाज़ा मुंशीजी ने न्योता पाकर तुरन्त उसे स्वीकार किया और अपनी पत्नी, बाबूराम जी प्रेमी और बम्बई हिन्दी प्रचार सभा के मकरन्द जी के साथ २७ दिसम्बर को बम्बई से चलकर २८ की रात को मद्रास जा पहुँचे। तीसरे दर्जे का सफ़र था मगर रास्ते में कोई ख़ास तकलीफ़ नहीं हुई। प्रेमी जी अपने साथ मथुरा के लड्डू और पूरियाँ रख लाये थे। हमने सब लड्डू खाये ●

मद्रास में इन लोगों को रामनाथ गोयनका के यहाँ ठहराया गया।

पदवीदान का जलसा गोखले हॉल में था। मेरा ख़याल था कि बहुत बड़ा जमघट होगा लेकिन मालूम हुआ कि छुट्टियों के कारण बहुत से हिन्दी प्रेमी बाहर चले गये हैं। मगर तमाशाइयों की तादाद चाहे कम हो, यहाँ जितने लोग थे प्रायः सभी हिन्दी प्रचार से संबंध रखने वाले थे और हिन्दी प्रचारकों के इस सिपाही दल को देखकर मन में आशा और गर्व की गुदगुदी होने लगती थी। कुछ लोग तो दो-दो सौ मील तय करके आये थे और उनमें देवियों की भी खासी तादाद थी।

यहाँ भी मुंशीजी ने अपने भाषण में अंग्रेज़ी पर अपना गुस्सा उतारने के बाद उसमें कहा —

●यह समझ लीजिए कि जिस दिन आप अंग्रेज़ी भाषा का प्रभुत्व तोड़ देंगे और

अपनी एक क़ौमी भाषा बना लेंगे उसी दिन आपको स्वराज्य के दर्शन हो जायेंगे।'[1] मुझे याद नहीं आता कि कोई भी राष्ट्र विदेशी भाषा के बल पर स्वाधीनता प्राप्त कर सका हो। राष्ट्र की बुनियाद राष्ट्र की भाषा है। आप उसी राष्ट्रभाषा के भिक्षु हैं और इस नाते आप राष्ट्र का निर्माण कर रहे हैं आप एक बिखरी हुई क़ौम को मिला रहे हैं, आप हमारे बंधुत्व की सीमाओं को फैला रहे हैं, भूले हुए भाइयों को गले मिला रहे हैं।

जीवित भाषा तो जीवित देह की तरह बराबर बनती रहती है। शुद्ध हिन्दी तो निरर्थक शब्द है। जब भारत शुद्ध हिन्दू होता तो उसकी भाषा शुद्ध हिन्दी होती। जब तक यहाँ मुसलमान ईसाई, पारसी अफ़ग़ानी सभी जातियाँ मौजूद हैं हमारी भाषा भी व्यापक रहेगी। अगर हिन्दी भाषा प्रान्तीय रहना चाहती है और केवल हिन्दुओं की भाषा रहना चाहती है, तब तो वह शुद्ध बनायी जा सकती है। उसका अंग-भंग करके उसका कायाकल्प करना होगा। प्रौढ़ से वह फिर शिशु बनेगी यह असम्भव है हास्यास्पद है। यह सच है कि फ़ारसी शब्दों से भाषा कठिन हो जाती है। शुद्ध हिन्दी के ऐसे पदों के उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनका अर्थ निकालना पंडितों के लिए भी लोहे के चने चबाना है। वही शब्द सरल है जो व्यवहार में आ रहा है। इससे कोई बहस नहीं है कि वह तुर्की है या अरबी या पुर्तगाली। उर्दू और हिन्दी में क्यों इतना सौतिया डाह है यह मेरी समझ में नहीं आता। मैं अपने अनुभव से इतना अवश्य कह सकता हूँ कि उर्दू को राष्ट्रभाषा के स्टैण्डर्ड पर लाने में हमारे मुसलमान भाई हिन्दुओं से कम इच्छुक नहीं हैं। मेरा मतलब उन हिन्दू-मुसलमानों से है जो क़ौमियत के मतवाले हैं। कट्टरपंथियों से मेरा कोई प्रयोजन नहीं। उर्दू का और मुसलिम संस्कृति का केन्द्र अलीगढ़ है। वहाँ उर्दू और फ़ारसी के प्रोफ़ेसरों और अन्य विषयों के प्रोफ़ेसरों से मेरी जो बातचीत हुई उससे मुझे मालूम हुआ कि मौलवियाऊ भाषा से वे लोग भी उतने ही बेज़ार हैं जितने पंडिताऊ भाषा से मैं यह भी मान लेता हूँ कि मुसलमानों का एक गिरोह हिन्दुओं से अलग रहने में ही अपना हित समझता है •

ऐसे मौलवी लोगों को मुख़ातिब करते हुए मुंशीजी ने अपने इस अधिकार से कि मेरा सारा जीवन उर्दू की सेवकाई करते गुज़रा है और आज भी मैं जितनी उर्दू लिखता हूँ उतनी हिन्दी नहीं लिखता और कायस्थ होने और बचपन से फ़ारसी

---

[1] (हिन्दी बहुत दिनों तक स्वराज्य-भाषा और हिन्दी की परीक्षाएँ स्वराज्य-परीक्षाएँ के नाम से पुकारी जाती रहीं। यह नाम गुरु राजगोपालाचारी ने दिया था।)

का अभ्यास करने के कारण उर्दू मेरे लिए जितनी स्वाभाविक है उतनी हिन्दी नहीं है, कहा —

• मैं पूछता हूँ आप हिन्दी को क्यों गर्दन-ज़दनी समझते हैं? क्या आपको मालूम है और नहीं है तो होना चाहिए, कि हिन्दी का सबसे पहला शायर जिसने हिन्दी का साहित्यिक बीज बोया, वह अमीर ख़ुसरो था? क्या आपको मालूम है, कम से कम पाँच सौ मुसलमान शायरों ने हिन्दी को अपनी कविता से धनी बनाया है जिनमें कई तो चोटी के शायर हैं? क्या आपको मालूम है अकबर और जहाँगीर और औरंगज़ेब तक हिन्दी कविता का शौक़ रखते थे और औरंगज़ेब ने ही आमों के नाम 'रसना-विलास' और 'सुधारस' रक्खे थे? क्या आपको मालूम है आज भी हसरत और हफ़ीज़ जालन्धरी जैसे कवि कभी-कभी हिन्दी में तबा-आज़माई करते हैं? क्या आपको मालूम है हिन्दी में हज़ारों शब्द, हज़ारों क्रियाएँ अरबी और फ़ारसी से आयी हैं और ससुराल में आकर घर की देवी हो गयी हैं? अगर यह मालूम होने पर भी आप हिन्दी को उर्दू से अलग समझते हैं तो आप देश के साथ और अपने साथ बेइंसाफ़ी करते हैं। मुझे अपने मुसलिम दोस्तों से यह शिकायत है कि वह हिन्दी के आमफ़हम शब्दों से भी परहेज़ करते हैं। •

यहाँ-वहाँ गोष्ठियों सभाओं लोगों से मिलने-जुलने और टिफ़ीकेन समुद्रतट और बाज़ार की सैर में चार रोज़ देखते-देखते निकल गये। पाँचवें रोज़ मुंशीजी का इरादा सीधे बंबई लौट जाने का था लेकिन जब मैसूर के हिन्दी प्रचारक हिरण्मय जी ने वहाँ की प्राकृतिक सुषमा का बखान किया तो मुंशीजी ललचा गये और छोटी लाइन के तीसरे दर्जे की ठेलमठेल सहते हुए अगले रोज़ सवेरे मैसूर पहुँचे। बड़े प्यार से लोगों ने उनका स्वागत किया और 'कृष्ण भवन' नाम के एक बहुत अच्छे बहुत साफ़-सुथरे बोर्डिंग हाउस में ठहराया जिसके मालिक उत्तर भारत के ही एक सज्जन थे। उनसे मिलकर मुंशीजी बहुत प्रभावित हुए, ख़ासकर इस बात से कि आदमी चाहे तो अपने पुरुषार्थ से क्या नहीं कर सकता। उनका बचपन बड़ी मुसीबतों में कटा था ऐसी कि बारह साल की उम्र में उन्हें अपना घर छोड़कर भागना पड़ा। भागकर वह बंगलोर आये और एक होटल में झाड़-बुहार और प्याला-तश्तरी धोने का काम करने लगे। होते-करते यह दिन आया कि अब वह मैसूर और बंगलोर के कई होटलों के मालिक सेठ शिवप्रसाद थे।

बम्बई पहुँचकर मुंशीजी ने अपनी इस यात्रा के बारे में ७ फ़रवरी १९३५ को जैनेन्द्र को लिखा —

मद्रास गया था, वहाँ से मैसूर और बंगलोर भी गया। अपना यात्रा-वृत्तान्त लिख रहा हूँ। कुछ नोट तो किया नहीं। जो कुछ याद है, वही लिखता हूँ। हिन्दी

का प्रचार बढ़ रहा है यह देखकर खुशी हुई। जो लोग राष्ट्र की और कोई सेवा नहीं कर सकते वे इसी ख़याल में मगन हैं कि वे राष्ट्रभाषा सीख रहे हैं। मुझे यह प्रदेश बड़ा सुन्दर लगा। गाने-बजाने का घर-घर प्रचार है मुहल्ले-मुहल्ले स्त्रियों के समाज हैं और प्राय: सभी में हिन्दी की क्लासें हैं। मैं बुद्धू की तरह मातमा पहनकर रह गया। बोल न सकने की कमी उस वक्त मालूम हुई। जनता कहती है कि हिन्दी का एक बड़ा लेखक है जाने क्या-क्या मोती उगलेगा और यहाँ हैं कि कुछ समझ में नहीं आता क्या कहें। खैर, ट्रिप अच्छा रहा। प्रेमी जी भी साथ थे। वे बेचारे भी इसी मरज़ में मुब्तिला हैं।

अपने यात्रा-वृत्तान्त में उन्होंने मैसूर का बखान करते हुए अगले महीने लिखा—

मैसूर बड़ा ही साफ़-सुथरा सुन्दर उद्यानों से सजा हुआ रमणीक स्थान है। जिधर जाइए उधर पार्क यहाँ तक कि रेलवे लाइन के किनारे भी फूलों की लाइन नज़र आती है। सड़कें चौड़ी हैं गर्द-गुबार से पाक चौरस्ते पर बेलों और पौधों से सजे हुए स्तम्भ बने हुए हैं। बिजली-शक्ति की तो यहाँ इतनी इफ़रात है कि देहातों में भी बिजली की रोशनी है। और बेहद सस्ती। देहातों में तो केवल दो आने यूनिट।

मुंशीजी के पास समय कम था इसलिए बस मैसूर शहर से लगी हुई और आस-पास की चीज़ें देखना मुमकिन था जैसे चामुण्डा पहाड़ी और उसकी चोटी पर बना हुआ मैसूर राज्य की कुलदेवी चामुण्डा का मंदिर, और शहर से दस-बारह मील दूर, सेरिंगापटम मैसूर की पुरानी राजधानी हैदर और टीपू की।

सेरिंगापटम से हम कृष्णराजसागर देखने आये। यह एक बहुत बड़ा सागर है जो कावेरी नदी को एक बाँध से रोककर बनाया गया है। बाँध कोई दो मील लंबा और ज़मीन से कोई १५ फ़ीट ऊँचा होगा। चौड़ा इतना है कि उस पर मोटरें बड़ी आसानी से आ-जा सकती हैं। इस सागर से नहर निकाली गयी है जो लगभग पचास मील तक की भूमि की सिंचाई करती है। इसका फल यह हुआ है कि अब यहाँ धान और ऊख की पैदावार कसरत से होने लगी है। इसी पानी से बिजली भी निकाली जाती है। इस निर्माण में रियासत के लगभग पाँच करोड़ खर्च हो गये हैं। भारत में इससे बड़ा दूसरा बाँध नहीं है। बाँध के नीचे एक रमणीक स्थान है जिसे वृन्दावन कहते हैं। यहाँ फ़ौवारों की विचित्र लीला देखने में आती है। एक नाली से दरिया का पानी लाकर एक ढालू नहर में बड़े वेग से प्रवाहित किया गया है। दोनों तरफ़ फ़ौवारों की छटा है जिनके पास रंग बिरंगे शीशों में बिजली का प्रकाश किया जाता है। उछलते पानी पर जब इस रंगीन प्रकाश का प्रतिबिम्ब पड़ता है तो ऐसा मालूम होता है, फ़ौवारों से रंगीन

पानी निकल रहा है। दूर से देखने पर इन्द्रधनुष का-सा दृश्य आँखों को मुग्ध कर देता है।

मैसूर का राजभवन भी देखने लायक है, मगर वह कोई उल्लेखनीय बात नहीं •

कैसे नहीं!

हिरण्मय लिखते हैं—

एक दिन सवेरे मैं उन्हें राजमहल और वहाँ की चित्रकला दिखाने ले गया। उन दिनों राजमहल देखने आने वालों को राजमहल द्वारा नियत दरबार-पुश पहनना पड़ता था—अचकन, जरी का कमरबंद, मैसूर की खास अपने ढंग की पगड़ी। नीचे चाहे धोती पहनो चाहे पतलून, ऊपर के लिए यह पोशाक जरूरी थी और बाजार में किराये पर मिलती थी। औरतों के लिए पोशाक की कोई कैद नहीं थी। लिहाजा हमने तीन पोशाकें किराये पर लीं। प्रेमचंद जी ने अचकन पहनकर, कमरबंद कसकर, पगड़ी सिर पर रखकर फ़ौरन पूछा—क्यों भाई, यहाँ कहीं आईना नहीं है? मैंने करीब ही एक बड़े से आईने की तरफ़ इशारा कर दिया। प्रेमचंद जी उसके सामने जाकर खड़े हुए और गर्व के साथ अपना यह वेश हुलिया देखते ही बरबस हँस पड़े, जोर से हँस पड़े और कभी इधर से कभी उधर से अपने को निहारकर अपनी उसी बच्चों-जैसी खुशी में नाचते हुए बोले—अल्लाह, मैं किस महाराजा से कम हूँ!

छोटी-बड़ी बहुत-सी पार्टियाँ मुंशीजी के सम्मान में आयोजित हुईं। उनमें महिलासभा हाई स्कूल के भवन में सम्पन्न चायपार्टी सबसे बड़ी और महत्त्वपूर्ण थी। मैसूर के तमाम हिन्दी-प्रेमी और प्रचारक उपस्थित थे। चाय के बाद मुंशीजी ने हिन्दी में व्याख्यान दिया और फिर प्रश्नोत्तर का सिलसिला चला। इस प्रश्नोत्तर की एक बात मुझे अच्छी तरह याद है। किसी ने पूछा—आपको अपनी कहानियों में कौन-सी कहानी अधिक प्रिय है? उन्होंने उत्तर दिया—माँ-बाप को जैसे अपनी सभी संतानें प्यारी होती हैं वैसे ही मुझे अपनी सभी कहानियाँ प्रिय लगती हैं। जब यह पूछा गया कि जिस तरह माँ-बाप को उनकी संतानों में से कोई एक सबसे ज्यादा प्यारी होती है उसी तरह आपको अपनी कौन-सी कहानी सबसे ज्यादा पसंद है? तो उन्होंने तुरन्त उत्तर दिया—बड़े घर की बेटी —हिरण्मय जी ने बतलाया।

मुंशीजी को लोग कुछ विद्यार्थी के निवास के लिए भी ले गये। उनमें से एक के यहाँ मुंशीजी को एक अत्यन्त मनोरंजक और अत्यन्त कष्टकर स्थिति का सामना करना पड़ा। एक रोज शाम को हिरण्मय मुंशीजी को प्रोफ़ेसर सी० आर० नरसिंह

का नाम लीजिए। वह आपकी तरफ़ इस तरह ताकेंगे मानो आपने किसी विचित्र वस्तु का नाम ले लिया। मैंने तो मालवीय जी पंडित जवाहरलाल जी को देखा और भी कितनों ही को देखा। ये लोग कुछ जानते ही नहीं उनके साहित्य में क्या हो रहा है। मुसलमान आमतौर पर उर्दू साहित्य से परिचित होता है चाहे वह कन्नड़-तमिल-भाषी ही क्यों न हो। शिक्षित मुसलमान से मेरा मतलब है।

मुंशीजी की तबीयत बंबई से उचाट हुई थी। अब बस दिन गिन रहे थे।

जैनेन्द्र ने मज़दूर दिल्ली में देखा। पसंद न आया। मुंशीजी से शिकायत की। मुंशीजी ने अपनी सफ़ाई देते हुए लिखा —

● मज़दूर तुम्हें पसन्द न आया। यह मैं जानता था। मैं इसे अपना कह भी सकता हूँ नहीं भी कह सकता। इसके बाद एक रोमांस आ रहा है। वह भी मेरा नहीं है। मैं उसमें बहुत थोड़ा-सा हूँ। मज़दूर में भी मैं इतना थोड़ा-सा हूँ कि नहीं के बराबर। फ़िल्म में डायरेक्टर सब कुछ है। लेखक क़लम का बादशाह क्यों न हो यहाँ डायरेक्टर की अमलदारी है और उसके राज्य में उसकी (लेखक की — अ) हुकूमत नहीं चल सकती। हुकूमत माने तभी वह रह सकता है। वह यह कहने का साहस नहीं रखता मैं जनरुचि को जानता हूँ। इसके विरुद्ध डायरेक्टर ज़ोर से कहता है मैं जानता हूँ जनता क्या चाहती है, और हम जनता की इसलाह करने नहीं आये हैं। हमने व्यवसाय खोला है, धन कमाना हमारी ग़रज़ है। जो चीज़ जनता माँगेगी वह हम देंगे। इसका जवाब यही है — अच्छा साहब हमारा सलाम लीजिए। हम घर जाते हैं। वही मैं कर रहा हूँ। मई के अंत में बंदा काशी में उपन्यास लिख रहा होगा। और कुछ मुझमें नयी कला न सीख सकने की भी सिफ़त है। फ़िल्म में मेरे मन को सन्तोष नहीं मिला। संतोष डायरेक्टरों को भी नहीं मिलता लेकिन वे और कुछ नहीं कर सकते झख मारकर पड़े हुए हैं। मैं और कुछ कर सकता हूँ चाहे वह बेगार ही क्यों न हो इसलिए चला जा रहा हूँ। मैं जो प्लाट सोचता हूँ उसमें आदर्शवाद घुस आता है और कहा जाता है उसमें एन्टरटेनमेंट वैल्यू नहीं होता। इसे मैं स्वीकार करता हूँ। मेरे लिए अपनी वही पुरानी लाइन भली की है जो चाहा लिखा ●

हफ़्ते भर बाद १४ फ़रवरी को गोरी साहब को लिखा —

मैं तो ज़िन्दगी में एक नया तजुर्बा हासिल करने के लिए यहाँ साल भर के लिए आया था। मई में वह मुद्दत ख़त्म हो जायगी और मैं अपने वतन बनारस लौट जाऊँगा और वहाँ साबिक़ अदबी मशाग़िल में बक़िया ज़िन्दगी सर्फ़ कर दूँगा।

१९ मार्च १९३५ को फिर अपने इन्हीं नये दोस्त ग़ाज़ी साहब को बंबई से अपना यह आख़िरी ख़त लिखा —

मेरा तस्फ़िया हो गया। मैं २५ तारीख़ को बनारस अपने वतन आ रहा हूँ। अजन्ता कंपनी अपना कारोबार बंद कर रही है। मेरा कंट्रैक्ट तो साल भर का था और अभी तीन महीने बाक़ी हैं। लेकिन मैं उनकी बरबादी से इस्तफ़ादा नहीं करना चाहता।

कंट्रैक्ट ख़त्म होने से भी पहले और अपना दो हज़ार रुपया छोड़कर मुंशीजी एकाएक बंबई से चल खड़े हुए। कहीं कोई बड़ी वारदात तो नहीं हो गयी? शायद हुई। शिवपूजन बाबू कहते हैं कि मुंशीजी ने उन्हें बतलाया।

एक रोज़ एक्स्ट्रा लड़कियों का इम्तहान लिया जा रहा था और किन्हीं डायरेक्टर साहब ने किसी लड़की के कुछ कम उभरे हुए सीने को अपने हाथ की छड़ी से छूते हुए कुछ कहा।

इस ख़त में गुस्सा जो उबला पड़ रहा है उसके पीछे भी तो कहीं यही बेशर्मी नहीं है —

सिनेमा में किसी इसलाह की तवक़्क़ो[1] करना बेकार है। यह सनअत[2] भी उसी तरह सरमायादारों के हाथ में है जैसे शराबफ़रोशी। इन्हें इससे बहस नहीं कि पब्लिक के मज़ाक़[3] पर क्या असर पड़ता है। इन्हें तो अपने पैसे से मतलब। बरहना[4] रक्स[5] बोसाबाज़ी[6] और मर्दों का औरतों पर हमला — यह सब उनकी नज़रों में जायज़ है। पब्लिक का मज़ाक़ इतना गिर गया है कि जब तक ये मुख़र्रिब[7] और हयासोज़[8] नज़ारे न हों उन्हें तसवीर में मज़ा नहीं आता। मज़ाक़ की इसलाह का बीड़ा कौन उठाये? सिनेमा के ज़रिये मग़रिब[9] की सारी बेहूदगियाँ हमारे अंदर दाख़िल की जा रही हैं, और हम बेबस हैं। पब्लिक में तमीज़[10] नहीं, न नेक-ओ-बद[11] का इम्तियाज़[12] है। आप अख़बारों में कितनी ही फ़रियाद कीजिए, वह बेकार है। जब ऐक्ट्रेसों और ऐक्टरों की तसवीरें बड़ा-बड़ा छपें और उनके कमाल के क़सीदे गाये जायें तो क्यों न हमारे नौजवानों पर उसका असर हो। साइंस एक बरकते-एज़दी[13] है मगर नाअहलों[14] के हाथों में पड़कर लानत[15] हो रहा है। मैंने ख़ूब सोच लिया और इस दायरे से निकल आना ही मुनासिब समझता हूँ।

---

१ आशा २ व्यवसाय ३ रुचि ४ नग्न ५ नाच ६ चुमाचाटी ७ घातक ८ निर्लज्ज ९ पश्चिम १० समझ ११ भले-बुरे १२ विवेक १३ ईश्वरीय वरदान १४ अयोग्य लोगों १५ अभिशाप

इस धमकी पर उठकर आये और नाश्ता किया। वह नाश्ता कर ही रहे थे जब नीचे से आदमी आया और बोला—हंस के लिए मैटर दीजिए।

मैं बोली—अभी एक घण्टे में देते हैं मैटर।

आदमी चला गया तो बोले—तुमने मुझे लिखने नहीं दिया आदमी व्यर्थ बैठे हैं।

मैं बोली—तो कौन हंस मोती उगल रहा है!

आप हँसकर बोले—साहब हंस मोती उगलता नहीं चुगता है!

मैं बोली—हाँ चुगता है। जब देखो एक न एक बला अपनी जान को पाले रहते हैं। आपको आराम से रहना ही नहीं आता। सूखकर हड्डी रह गये हैं। वही मसल है दाना न घास खरहरा दिन रात! परसों रात भर बुखार चढ़ा रहा कल दिन-रात पड़े रहे, आज जब बुखार उतरा तो बस सवेरे से हंस का चरखा लेकर बैठ गये और काम ऐसा कि जिसका कन छूटे न सूती

आप बोले—तुम व्यर्थ ही क्रोध करती हो।

—मैंने उसी दिन आपसे कह दिया था ऐसे काम से बाज आये इसको छोड़ो। मगर आप तो उसके पीछे हाथ धोकर पड़े हैं। मैं कहती हूँ ऐसे कामों से क्या फायदा जिनके पीछे तन-मन की आहुति चढ़ानी पड़े?

तब आप मेरे क्रोध को शान्त करते हुए बोले—रानी तुम भूलती हो मैं इसमें कोई त्याग नहीं कर रहा हूँ न कोई तपस्या। जब कोई त्याग-तपस्या न करता हो और अपने शौक से करता हो तो उसे आहुति चढ़ाना न कहना चाहिए। जैसे जुआरी को जुआ शराबी को शराब अफ़ीमची को अफ़ीम में मज़ा मिलता है और अगर उसको यह चीज़ें न मिलें तो वह परेशान होता है—इसमें उसका कोई त्याग थोड़े ही है

मैं बोली—तब कहिए आपको भी मज़ा है!

आप बोले—हाँ मज़ा है, मगर अच्छा मज़ा है, शायद मेरे इस नशे से किसी आदमी का फ़ायदा हो जाय।

मैं बोली—पहले आप अपना फ़ायदा तो कर लीजिए खुद तो सूखकर काँटा हो गये हैं और दूसरों की फ़िक्र में दीवाने हैं!

तब आप बोले—दिया जलता है उसका काम है रोशनी करना सो वह करता है। उससे किसी का फ़ायदा होता है या नुकसान इससे उसको कोई बहस नहीं। उसमें जब तक तेल और बत्ती रहेगी तब तक वह अपना काम करता रहेगा। जब तेल ख़त्म हो जायगा तब ठंढा हो जायगा •

(शिवरानी देवी)

न आत्मश्लाघा न अपने प्रति करुणा कुछ भी नहीं केवल निर्वैर एक स्थितप्रज्ञ कर्मयोगी का

मगर यह तो अभी कुछ महीने आगे की बातें हैं।

४ अप्रैल १९३५ को मुंशीजी ने इन्द्रपुरी बंबई को अंतिम नमस्कार किया।

खंडवा रास्ते में पड़ता था। माखनलाल जी का पुराना आग्रह था। लिहाजा पहला पड़ाव वहीं हुआ। चार-पाँच दिन रहे, खूब गपशप हुई, खूब सभाएँ और गोष्ठियाँ हुईं, और खूब घूमे-फिरे। शिवरानी देवी लिखती हैं—

● दूसरे दिन सुबह पंडित जी हम लोगों को जंगल में लिवा ले गये नदी का किनारा था खंडवा से पंद्रह-बीस मील की दूरी पर वहाँ पंडित जी ने हम दोनों आदमियों को खाट पर बिठाला और खुद भी बैठ गये। हम दोनों के हाथ में एक-एक सन्तरा रखते हुए बोले — अच्छा आप लोग इसको छीलकर खाइए। हम इसी तरह से फ़ोटो लेना चाहते हैं।

मैं बोली — मैं सन्तरा न छीलूँगी न खाऊँगी।

आप हँसकर बोले — सारे सन्तरे, टोकरी की टोकरी इनके सामने रख दीजिए। तब ऐसा मालूम होगा कि यह बेच रही हैं और हम लोग खरीदकर खा रहे हैं! ●

जेलखाने से छूटकर क़ैदी खुली हवा में आया है और अब अपने घर जा रहा है। बहुत हलका-सा लग रहा है कि जैसे एक बोझ उतर गया हो सीने पर से। सन्तरा-वन्तरा खाकर मुंशीजी ने वहीं पड़ी हुई एक लकड़ी में से जैसा-तैसा गुल्ली डंडा बनाकर दो-चार हाथ उसके भी सर किये

और फिर वहाँ से सागर, बेटी की ससुराल होते सबसे मिलते-जुलते इलाहाबाद पहुँचे। वहाँ भी पाँच रोज रहे अपनी ससुराल के रिश्तेदारों से मिले ढूँढ़-ढूँढ़कर एक-एक दोस्त से रिश्तेदार से मिले।

बनारस पहुँचते-पहुँचते अप्रैल का तीसरा हफ्ता हो गया। मुंशीजी का इरादा १७ तारीख को इन्दौर के हिन्दी-साहित्य सम्मेलन में जाने का था — वहाँ राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीय-साहित्य-संघटन का प्रश्न उठनेवाला था और इन दिनों मुंशीजी के मन पर यही भूत सवार था। जरूर कोई न कोई तदबीर इसकी निकलनी चाहिए कि हिन्दुस्तान में लोगों को अपने ही देश की विभिन्न भाषाओं में रचे जाने वाले साहित्य का परिचय हो। कितनी शर्मनाक बात है, जैसा कि मुंशीजी ने १९ जुलाई १९३५ को निगम साहब को लिखा था कि हम अंग्रेजी नावलकारों से वाकिफ़

है। जर्मनी फ्रांस इंगलैण्ड के अदीबों के असमाये-गरामी[1] हमारी नोके ज़बान पर हैं लेकिन हिन्दोस्तान में बोली जाने वाली ज़बानों में कौन-कौन से बाकमाल पड़े हुए हैं, इसकी हमें बिल्कुल खबर नहीं। साहित्य की एकता के बिना लोगों में एकता बोध जागे भी तो कैसे? इन्दौर में जहाँ गांधीजी के सभापतित्व में सम्मेलन का अधिवेशन होने जा रहा था इस प्रश्न का कुछ अच्छा समाधान निकल सकेगा इसी उम्मीद को लेकर मुंशीजी इन्दौर जाने के लिए सचमुच उत्सुक थे।

जैनेन्द्र ने लिखा था —

मेरे ख़याल से सम्मेलन ठीक-ठीक रूप में अब की पहली बार अपने राष्ट्रभाषा सम्मेलन के रूप को अनुभव कर सका है। जैसे और प्रान्तीय भाषाएँ हैं हिन्दी को अब वैसा ही नहीं रहना है हिन्दी अखिल राष्ट्र की होगी। यह काम गांधीजी के सभापतित्व के तले न हो तो और कैसे हो? बहरहाल मुंशीजी का इन्दौर जाना नहीं हो सका। ४ मई को उन्होंने इलाहाबाद से जैनेन्द्र को लिखा —

मैं तो इन्दौर जाते-जाते रह गया। सबसे वायदे कर लिये थे एक भी पूरा न कर सका। इस उम्मीद से कि तुमसे इन्दौर में गपशप होगी तुम्हें ख़त भी नहीं लिखा। जब पूरा भोजन मिलने की आशा हो तो पानी पी-पीकर क्यों भूख को दुर्बल बनाया जाय। लेकिन कुछ तो प्रेमी जी के न आने और कुछ नासेबारियों में आकर मिलने-मिलाने के कारण सारा प्रोग्राम भ्रष्ट हो गया। अब धुन्नू को चेचक निकल आयी है और २७ से वह पड़े हुए हैं। हम भी उसके साथ हैं।

जैनेन्द्र ने उसका जवाब देते हुए लिखा —

इन्दौर में मैंने पहली बात यह पूछी कि आप आये हैं? पता लगा नहीं आये। हाँ मुंशीजी वहाँ मिले थे। बातें भी हुईं। जो सोचा था वह तो न हुआ। उसका भी इतिहास है। एक सीधा-सादा-सा प्रस्ताव अलबत्ता हुआ है। कमेटी बनी है जिसमें मुंशीजी संयोजक हैं। अब सब उन पर है।

काम का क्या ढंग हो। आने-जाने से ख़र्च तो बहुत पड़ता है लेकिन पाँच चार मित्रों को मिल लेना चाहिए, तब काम आगे बढ़ सकता है। गांधीजी, मुंशीजी, कालेलकर आप और मैं ये सब लोग वर्धा में ही यथाशीघ्र सुविधानुसार मिल लें लेकिन यह मुंशी पर है।

'यह भी बात हुई थी कि अपना अलग पत्र न निकालकर आपसे हंस ही देने के लिए कहा जाय। मैं समझता हूँ इसमें आपके लिए भी अयुक्त कुछ नहीं है।

---

1 भारी-भारी नाम

कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने टूटी-फूटी गुजराती हिन्दी में खत लिखा —

आप तो इन्दौर नहीं आये। लेकिन भाई जैनेन्द्र प्रसाद (जैनेन्द्र कुमार — अ.) आदि ने बीच के हमारी योजना को आगे बढ़ाई। इसका परिणाम एक प्रस्ताव है आया जीससे आंतरप्रान्तीय परिषद् बुलाने में सुगमता होगी। अब सवाल रहा मासिक पत्र का। जैनेन्द्र कुमार ने कहा था के आप हंस को इस काम में दे देंगे। यदि आप हंस को इस प्रवृत्ति का मुखपत्र बना सकते हों तो हमारा काम बहुत ही सरल हो जायगा। आप मुझे शीघ्र लीखीयेगा कि इस बारे में आपकी क्या राय है। गांधीजी भी इस बाबत में बड़े प्रसन्न हैं और अच्छा सहकार दे देंगे ऐसी मुझे आशा है

अंधा क्या मांगे दो आँखें। मुंशी प्रेमचन्द का अपना स्वप्न यही था, बहुत पुराना स्वप्न, उम्मीद की शायद अकेली किरन इस अँधेरे वक्त में।

जहाँ गांधीजी का आशीर्वाद ही नहीं सीधा सहयोग मिल रहा हो एकता के इस नये यज्ञ में, वहाँ सोचना-विचारना कैसा। लेकिन हाँ थोड़ा मोह जरूर लगता था हंस किसी को देने। अब तक वह पूरी तरह अपना था, जैसे-जैसे मुसीबतों से उसको पाला था, मोह कैसे न हो। लेकिन उसी पर चोट करते हुए तो जैनेन्द्र ने पहले ही मई के आखिरी दिनों में लिखा था — मेरा तो खयाल है कि मुंशी की स्कीम कुछ बने तो हंस छोड़कर आप हल्के होंगे, छूटना मात्र झंझट से होगा क्योंकि तब भी पत्र तो संपादन के लिहाज से आपका ही होगा।

लेनेवाले और देनेवाले दोनों के सामने एक ही लक्ष्य था, व्यवसाय की कहीं गन्ध भी न थी, बातें तय होने में ज्यादा देर नहीं लगी, और गांधी जी के आशीर्वाद के साथ जुलाई में हंस लिमिटेड की रजिस्ट्री हो गयी और अक्टूबर से हंस भारतीय साहित्य परिषद् के मुखपत्र के रूप में निकलने लगा।

मकान अभी पूरा नहीं हुआ था। बम्बई से लौटकर मुंशीजी उसी में जी-जान से जुट गये और उसको पूरा करके ही कमर खोली। शहर में मकान लिया — अगस्त के महीने में। लड़के दोनों इलाहाबाद में पढ़ ही रहे थे और मुंशीजी का खुद भी इरादा अब इलाहाबाद में ही बसने का था। ४ मई १९३५ को उन्होंने जैनेन्द्र को लिखा था —

मैंने इरादा किया है कि जून से हंस को और प्रेस को प्रयाग लाऊँ और खुद भी वहीं रहूँ। काशी में न तो काम है और न साहित्यकारों का सहयोग। यहाँ जितने हैं वह सभी सम्राट हैं। कोई कवि-सम्राट कोई आलोचना-सम्राट कोई प्रहसन-सम्राट। यह गौरव तो काशी ही को है कि यहाँ सभी सम्राट मौजूद

है, मगर सम्राटों की सम्राटों से पटेगी? शिष्टाचार की बात और है हार्दिक सहयोग की बात और। मुझे डर लग रहा है कि कहीं तुम भी साल-छः महीने में सम्राट हो जाओ तो मेरा काम ही तमाम हो जाय। फिर तुमसे कोई मेल मामले का साहस भी न कर सकूँ। इसलिए अब प्रयाग आ रहा हूँ जहाँ सम्राट कम हैं।

मुंशीजी के बनारस से तम्बू-खेमा उखाड़ने की भनक पाकर लखनऊ से कालिदास कपूर ने वहीं आकर बसने की दावत दी, जैनेन्द्र ने दिल्ली बुलाया, मुंशीजी के बड़े बेटे ने इलाहाबाद में मकान, मकान भी ढूँढ़ लिया मगर मुंशीजी न कहीं आये न गये। एक हल्की उबाल था जो जिस तरह आया था उसी तरह ख़तम भी हो गया और मुंशीजी बदस्तूर बनारस में जमे रहे।

वहीं इसी नये मकान में उर्दू के मशहूर विद्वान् मुहम्मद आकिल साहब मुंशीजी से पहली बार मिले —

प्रेमचंद जी का मकान क्वींस कालेज के पीछे एक मुहल्ले में था। प्रेमचंद जी जिस मकान में रहते थे वह दोमंज़िला और बाज़े पुख़्ता किस्म का था। इसके गिर्द एक अहाता भी था लेकिन बनारस के इस हिस्से की आबादी कुछ ज़्यादा गुंजान न थी और आसपास की फ़िज़ा और माहौल में भी कुछ दिहाती कैफ़ियत पायी जाती थी। प्रेमचंद जी के अहाते में सब्ज़ी फूल-फुलवारी कुछ न थी, मकान में कुछ ठाट या शान नज़र न आती थी। प्रेमचंद जी मकान के बालाई हिस्से में रहते थे। नीचे के हिस्से में प्रेस का काम होता था जिसके सबूत के लिए टाइप के हुरूफ़ इधर उधर देखे जा सकते थे। नीचे के हिस्से में शायद किसी तरफ़ एक गाय रहती थी। मैंने दरवाज़े पर दस्तक दी। दो दफ़े कुण्डी बजाने पर एक आदमी निकला जो मुझे ज़ीने के रास्ते से ऊपर प्रेमचंद जी के कमरे में ले गया। उनकी मुलाक़ात का ख़ास कमरा या दफ़्तर, जिसमें कुर्सियाँ और मेज़ लगी हुई थीं, इस वक़्त बन्द था। उस कमरे का पता मुझे दूसरे रोज़ लगा था जब मैं मिस फ़्लिस्सबोर्न और डाक्टर अलीम के साथ दोबारा उनसे मिलने गया था। इस रोज़ जिस कमरे में मेरी उनसे मुलाक़ात हुई वह खासा बड़ा, खुला हुआ, साफ़ और हवादार कमरा था। ज़मीन पर सफ़ेद चाँदनी का एक फ़र्श बिछा हुआ था। एक कोने में एक नेवाड़ी पलंग था जिसके क़रीब एक पीकदान रखा हुआ था। प्रेमचंद जी फ़र्श पर बैठे हुए थे और एक कापी पर हिन्दी में अपने किसी नाविल के मसविदे को जिसको वह जल्द छपवाना चाहते थे लिख रहे थे।

मुंशीजी से अपनी बातचीत का ज़िक्र करते हुए आकिल साहब ने लिखा —

- ख़ास तौर पर बातचीत हिन्दू-मुसलमान के ताल्लुक़ात के बारे में थी।

इसी ज़माने में 'हम' में मैंने एक मज़मून 'हिन्दू मुसलमान किधर जा रहे हैं?' के उनवान से लिखा था। इसी ज़माने में कस्त की तनक़ीदें उर्दू के मुख्तलिफ़ अख़बारों और रिसालों में छपी थीं ख़ासकर डाक्टर अख़तर की तनक़ीद जो अलीगढ़ के रिसाले 'सुहेल' में निकली थी जिसमें प्रेमचन्द जी से ख़ास तौर पर शिकायत की गयी थी कि वह उर्दू के बेहतरीन अदीब होने के बावजूद बहुत कठिन हिन्दी लिखते हैं। फिर सरहदी सूबे में हिन्दी के बारे में जो सर्कुलर निकला था उसका भी तज़किरा हुआ। ग़रज़ यह कि ऐसी ही और बहुत सी बातें मेरे और उनके सामने थीं। और एक ऐसी ज़बान के पैदा करने का सवाल भी था जो एक तरफ़ अरबी और फ़ारसी की ठस-ठाँस से आज़ाद हो और दूसरी तरफ़ संस्कृत और भाषा का मुस्तक़ल उसमें बहुत ज़्यादा न हो। मेरा कहना था कि अगर आपस का इख़्तिलाफ़[1] और फ़र्क[2] इस तरह बढ़ता गया जैसा कि दोनों तरफ़ के इंतिहापसन्द कोशिश कर रहे हैं तो लाज़िमन यह नतीजा निकलेगा कि हिन्दुस्तान में एक तमद्दुन तहज़ीब और ज़बान की जगह दो मुख्तलिफ़ तमद्दुन तहज़ीबें और ज़बानें पैदा हो जायेंगी संस्कृतियों का इख़्तिलाफ़ मुमकिन है बढ़कर क़ौमी तफ़रीक़ का बाइस बन जाय और हिन्दुस्तान में एक हुकूमत और क़ौम की जगह दो मुख्तलिफ़ हुकूमतें और क़ौमें पैदा हो जायें।

प्रेमचन्द जी मौजूदा हालात पर अफ़सोस कर रहे थे और इसकी ज़िम्मेदारी मज़हब की ग़लत ताबीर[7] पर रख रहे थे। प्रेमचन्द जी ने मुझसे कहा कि मुझे रस्मी मज़हब पर कोई एतक़ाद नहीं है पूजा-पाठ और मन्दिरों में जाने का भी मुझे शौक़ नहीं। शुरू से मेरी तबीयत का यही रंग है। बाज़ लोगों की तबीयत मज़हबी होती है बाज़ लोगों की ला-मज़हबी। मैं मज़हबी तबीयत रखनेवालों को कुछ नहीं कहता लेकिन मेरी तबीयत रस्मी मज़हब की पाबंदी को बिलकुल गवारा नहीं करती। उन्होंने कहा कि मेरी संस्कृति और तर्ज़े-मआशरत भी मिला जुला है। बल्कि मुझ पर मुसलमानों की तहज़ीब का हिन्दुओं की तहज़ीब से ज़्यादा असर पड़ा है। मैंने मकतब में मिर्ज़ाजी से फ़ारसी-उर्दू पढ़ी। हिन्दी से बहुत पहले मैंने उर्दू में लिखना शुरू किया हिन्दी ज़बान मैंने बाद में सीखी। इस सिलसिले में देहली के रिसाले 'साक़ी' में जो तनक़ीद' की थी कि प्रेमचन्द जी उर्दू के लिए मरहूम हो चुके हैं उसके बारे में हँसकर कहने लगे कि 'साक़ी' के एडीटर को मैंने लिखा है कि मैं उर्दू के लिए न सिर्फ़ ज़िन्दा हूँ बल्कि ज़्यादा ज़ोरों से जी रहा हूँ।●

---

१ विरोध २ कट्टरपंथी ३ संस्कृति ४ सभ्यता ५ फूट ६ कारण ७ व्याख्या
८ विश्वास ९ रहन-सहन १ आलोचना

यह सब झगड़ा-तकरार तो ज़िन्दगी की एक ज़रूरी अलामत है। बंबई से आते ही आते मुंशीजी की एक छोटी-मोटी बहस फ़िल्म को लेकर नरोत्तम नागर से हो गयी जो उन दिनों दिल्ली से एक सिनेमा-पत्रिका का संपादन कर रहे थे।

हुआ यह कि मुंशीजी ने इलाहाबाद के 'विवेक' में 'सिनेमा और साहित्य' शीर्षक एक लेख लिखा —

● साहित्य में भावों की जो उच्चता भाषा की जो प्रौढ़ता और स्पष्टता सुन्दरता की जो साधना होती है वह हमें वहाँ नहीं मिलती। उनका उद्देश्य केवल पैसा कमाना है, सुरुचि या सुन्दर से उन्हें कोई प्रयोजन नहीं। व्यापार व्यापार है। वहाँ अपने नफ़े के सिवा और किसी बात पर ध्यान करना ही वर्जित है। व्यापार में भावुकता आयी और व्यापार नष्ट हुआ। वहाँ तो जनता की रुचि पर निगाह रखनी पड़ती है और चाहे संसार का संचालन देवताओं ही के हाथों में क्यों न हो मनुष्य पर निम्न मनोवृत्तियों ही का राज्य होता है। अगर आप एक साथ दो तमाशों की व्यवस्था करें — एक तो किसी महात्मा का व्याख्यान हो दूसरा किसी वेश्या का नग्न नृत्य तो आप यही देखेंगे कि महात्मा जी तो खाली कुर्सियों को अपना भाषण सुना रहे हैं और वेश्या के पंडाल में तिल रखने की जगह नहीं। वही भोला-भाला ईमानदार ग्वाला जो अभी ठाकुरद्वारे से चरणामृत लेकर आया है, बिना किसी झिझक के दूध में पानी मिला देता है। वही बाबूजी जो अभी किसी कवि की एक सूक्ति पर सिर धुन रहे थे अवसर पाते ही एक बेकस विधवा से रिश्वत के दो रुपये बिना किसी झिझक के लेकर जेब में दाखिल कर लेते हैं। उपन्यासों में भी ज़्यादा प्रचार डाके और हत्या से भरी हुई पुस्तकों का होता है। सिनेमा में भी वही तमाशे खूब चलते हैं जिनसे निम्न भावनाओं की विशेष तुष्टि हो। जिस शौक़ से लोग ताड़ी और शराब पीते हैं उसके आधे शौक़ से दूध नहीं पीते। इसकी दवा प्रोड्यूसर के पास नहीं। जब तक एक चीज़ की माँग है वह बाज़ार में आएगी। कोई उसे रोक नहीं सकता। अभी वह ज़माना बहुत दूर है जब सिनेमा और साहित्य का एक रूप होगा। लोक-रुचि जब इतनी परिष्कृत हो जायगी कि वह नीचे ले जानेवाली चीज़ों से घृणा करेगी तभी सिनेमा में साहित्य की सुरुचि दिखाई पड़ सकती है। ●

नागर ने मुंशी जी की बातों से अधिकतर सहमत और उनके कहने के ढंग से असहमत होते हुए एक खुली चिट्ठी लिखी जिसे मुंशीजी ने अपने विवादास्पद लेख के साथ अविकल छापते हुए अपनी सफ़ाई में लिखा —

● नागर जी ने हमारे सिनेमा-संबंधी विचारों को ठीक माना है, केवल हमारा जेनरेलाइज़ करना अर्थात् सभी को एक लाठी से हाँकना उन्हें अनुचित जान पड़ता

है। क्या वेश्याओं में शरीफ़ औरतें नहीं हैं? लेकिन इससे वेश्यावृत्ति पर जो दाग है वह नहीं मिटता।

सिनेमा की क्षमता से मुझे इंकार नहीं। अच्छे विचारों और आदर्शों के प्रचार में सिनेमा से बढ़कर कोई दूसरी शक्ति नहीं है मगर जैसा आप भी सुस्वीकार करते हैं यह कुपात्रों के हाथ में है। यही तो मैं कहना चाहता हूँ। सिनेमा जिनके हाथ में है उन्हें आप कुपात्र कहें मैं तो उन्हें उसी तरह व्यापारी समझता हूँ जैसे कोई दूसरा व्यापारी। और व्यापारी का काम जनरुचि का पथ प्रदर्शन करना नहीं धन कमाना है। एक फ़िल्म बनाने में पचास हज़ार से एक लाख तक बल्कि इससे भी ज़्यादा ख़र्च हो जाते हैं। व्यापारी इतना बड़ा ख़तरा नहीं ले सकता। ग़रीब का दीवाला निकल जाय

आप फ़रमाते हैं सिनेमा में जानेवाले साहित्यिकों में ऐसा कौन था जिसका मुख्य उद्देश्य सिनेमा को अपने रंग में रँगना रहा हो? हम ज़ोरों से कह सकते हैं कोई भी नहीं। वहाँ का जलवायु ही ऐसा है कि बड़े से बड़ा आदर्शवादी भी जाय तो नमक की खान में नमक ज़रूर हो जायगा। वहीं लोग जो साहित्य में आदर्श की सृष्टि करते हैं सिनेमा में दो-दो सौ वेश्याओं का नंगा नाच करवाते हैं। क्यों? इसीलिए कि वे एसे धंधे में पड़ गये हैं जहाँ बिना नंगा नाच नचाये पेट से भेंट नहीं होती। मैं आदर्शों को लेकर गया था लेकिन मुझे मालूम हुआ कि सिनेमावालों के पास बने-बनाये नुस्ख़े हैं और आप उन नुस्ख़ों से बाहर नहीं जा सकते। सिनेमा में एण्टरटेनमेण्ट वैल्यू साहित्य के इसी अंग से बिलकुल अलग है। साहित्य में यह काम शब्दों सूक्तियों या विनोदों से लिया जाता है। सिनेमा में यही काम नाच मारपीट धर-पकड़ मुँह चिढ़ाने और जिस्म को मटकाने से लिया जाता है।

रही उपयोगिता की बात। इस विषय में मेरा पक्का मत है कि परोक्ष या अपरोक्ष रूप से सभी कला उपयोगिता के सामने घुटना टेकती है। प्रोपेगैंडा बदनाम शब्द है लेकिन आज का विचारोत्तेजक बलदायक स्वास्थ्यवर्द्धक साहित्य प्रोपेगैंडा के सिवा न कुछ है, न हो सकता है न होना चाहिए, और इस तरह के प्रोपेगैंडे के लिए साहित्य से प्रभावशाली कोई साधन बनाया न नहीं गया वर्ना उपनिषद और बाइबिल दृष्टान्तों से न भरे होते।

सेक्स अपील को हम हौवा नहीं समझते। दुनिया उसी धुरी पर क़ायम है सेक्स अपील की निन्दा तब होती है जब वह विकृत रूप धारण कर लेता है। सुई कपड़े में चुभती है तो हमारा तन ढँकती है, लेकिन देह में चुभे तो उसे ज़ख़्मी कर देगी।

हम भी सिनेमा को उसके परिष्कृत रूप में देखने के इच्छुक हैं मगर इसका

सुधार तभी होगा जब हमारे हाथ में अधिकार होगा और सिनेमा जैसी प्रभावशाली सद्विचार और सद्व्यवहार की मशीन कला-मर्मज्ञों के हाथ में होगी धन कमाने के लिए नहीं जनता को आदमी बनाने के लिए, जैसा रूस में हो रहा है।●

दूसरी झड़प दुबारा श्रीनाथ सिंह से हुई।

श्रीनाथ सिंह ने जिनका पुराना घाव शायद अभी हरा था अगस्त १९३५ की सरस्वती में मुंशीजी पर चोट करते हुए एक लेख लिखा — प्रेमचंद जी की रचना-चातुरी का नमूना —और उसमें यह दिखाने की कोशिश की कि मुंशीजी ने अपनी कहानी जीवन का शाप उनके उपन्यास उलझन से चुरायी है और अपनी समझ में जुर्म साबित करके ठाकुर साहब ने अपना बयान खत्म करते हुए लिखा —

दूसरों की चीजों को अपनाते समय प्रेमचंद जी उन्हें इतना भद्दा बना देते हैं कि अर्थ का अनर्थ हो जाता है। अपनी इस कहानी में भी चोरी के अपराध से बचने के लिए उन्होंने मेरे उपन्यास के प्लाट पात्रों तर्कों और भावों की इतनी छीछालेदर की है कि पढ़कर दुख होता है। दूसरे की चीजों को अपनी करके जनता के सामने उपस्थित करने और इस प्रकार वाहवाही लूटने की धुन में वे उनमें जो परिवर्तन और परिवर्द्धन कर देते हैं उससे उनका सारा सौन्दर्य नष्ट हो जाता है और जिस लेखक का कृतिमहल ढहाकर उसी जमीन पर, उसी की नींव पर, उसी मसाले से वे अपना महल खड़ा करते हैं, उसके उद्देश्य भाव और संदेश की हत्या हो जाती है

मुंशीजी ने कहानी चुरायी हो या न चुरायी हो इसमें शक नहीं कि ठाकुर साहब ने साहित्यिक चोरी की यह एक नयी और अपूर्व सुविधाजनक कसौटी क़ायम कर दी थी जिसमें कोई भी व्यक्ति किसी भी रचना पर, चोरी का अभियोग लगा सकता है — अब यह कैद भी नहीं रही कि प्लाट, पात्रों तर्कों और भावों उद्देश्य और सन्देश में समानता हो सब कुछ भिन्न होने पर भी चोरी हो सकती है क्योंकि वह भिन्नता चोरी को छिपाने के लिए है। इसके बाद तो फिर कहीं जाय नहीं।

बहरहाल मुंशीजी कब सहनेवाले थे यह बेहूदगी। उन्होंने पलटकर हमला किया— हल्दी की गाँठवाला पंसारी —

●एक आदमी को हल्दी की कहीं एक गाँठ मिल गयी तो उसने समझा अब मैं पंसारी हो गया। आपने जिन्दगी में ले-देकर एक उपन्यास लिखा उलझन और अब उन्हें यह वहम हो गया है कि लोग उनके इस उपन्यास के आधार पर

कहानियाँ नाटक ड्रामे लिखने लगे हैं। मुझे कुछ दिनों से श्रीनाथ सिंह की ऊल-जलूल बातें सुन-सुनकर यह भय होने लगा है कि उन्हें एकाएक या माली पुलिया हो गया है। मैं उनसे नम्रता से अर्ज करूँगा कि वह जल्दी किसी होशियार चिकित्सक से परामर्श करें वर्ना शायद रोग और भी भयंकर रूप धारण कर ले। मालीपुलिया के लक्षण यही हैं कि उसका रोगी समझता है लोग उसका माल असबाब ढोये लिये जाते हैं और वह अंधे कुत्ते की भाँति बतासे भूँकने लगता है।

सरस्वती में यह लेख लिखने का मंशा यह मालूम होता है कि सरस्वती के भोले-भाले पाठकों के सामने उलझन की भरपेट प्रशंसा की जाय और यह दिखाया जाय कि यह रचना इतने ऊँचे दर्जे की है कि प्रेमचन्द जी ने भी इसे पढ़ा और पढ़ा ही नहीं इससे इतना प्रभावित हुए कि उसके आधार पर कहानी लिख डाली। मैं उन्हीं लेखकों की रचनाएँ पढ़ता हूँ जिनकी प्रतिभा का मैं कायल हूँ या जो अपनी रचनाएँ मुझे भेंट करते हैं और उन पर मेरी सम्मति माँगते हैं। ठाकुर साहब ने अपनी रचनाएँ मुझे भेंट नहीं कीं और उनकी प्रतिभा का मैं कभी कायल नहीं रहा। मैं उन्हें कलाकार समझता ही नहीं। हरेक ऐरे गैरे नत्थू खैरे की रचना पढ़ने के लिए मेरे पास समय नहीं है।

जीवन का शाप और उलझन में आपने जो सादृश्य दिखाया है उसे पढ़कर हँसी आती है। अगर दोनों में यही बात है कि दोनों के हीरो गरीब विद्वान् मेहनती और संतोषी हैं, और उनकी पत्नियाँ कटुभाषिणी हैं और दोनों के उपनायक धनी व्यापारी हैं और उनकी महिलाएँ पति से असन्तुष्ट हैं तो मैं कहूँगा कि ठाकुर साहब ने मेरे सेवासदन से प्लाट भी उड़ाया है चरित्र भी और समस्या भी। लेकिन मैंने उलझन पढ़ा होता तब भी यह आक्षेप न कर सकता क्योंकि ऐसे प्रसंग आये दिन के जीवन की बातें हैं, रोज देखने में आती हैं और उन पर किसी लेखक की मुहर नहीं है। मगर हमारे ठाकुर साहब बेचारे इस मालीपुलिया से मजबूर हैं क्या करें। पार्क का दृश्य सेवासदन में भी है उलझन में भी नायिका को सेवासदन में भी बेंच पर बैठाया गया है उलझन में भी ●

इस तरह की फिजूल बातों का सादृश्य दिखलाकर ठाकुर साहब ने मुंशीजी को चोरी का मुजरिम ठहराया और जो तत्व की बात थी कहानी की आत्मा कहानी का प्राण उसके बारे में यह कहकर छुट्टी पा ली कि उसे मुंशीजी ने तोड़-मरोड़कर कुछ का कुछ कर डाला! चोरी साबित करना कितना आसान हो जाता है इससे!

कहानी की आत्मा के बारे में मुंशी जी ने लिखा —

● जीवन का शाप में जो समस्या पेश की गयी है वह हमारे ठाकुर साहब की

कभी यों ही अपने मन से कभी गुरुदेव रवीन्द्रनाथ के संकेत पर, लेकिन मुंशीजी नहीं गये तो नहीं गये।

चतुर्वेदीजी पिछले क़रीब दस साल से इस कोशिश में थे। उनकी बड़ी तमन्ना थी कि मुंशीजी को गुरुदेव रवीन्द्रनाथ से मिलायें। इसके लिए उन्होंने कुछ भी उठा नहीं रखा। योने नोगूची शान्तिनिकेतन आये तो एक बार फिर उन्होंने ज़ोर लगाया। थोड़ी देर को शायद मुंशीजी का आसन डोल गया लेकिन फिर भी उतर गया और ९ दिसंबर १९३५ को उन्होंने जैनेन्द्र को लिखा —

चतुर्वेदीजी ने कलकत्ते बुलाया था कि आकर नोगूची जापानी कवि का भाषण सुन जाओ। यहाँ नोगूची हिन्दू युनिवर्सिटी आये उनका व्याख्यान भी हो गया मगर मैं न जा सका। भक्ति की बातें सुनते और पढ़ते उम्र बीत गयी। ईश्वर पर विश्वास नहीं आता कैसे श्रद्धा होती। तुम आस्तिकता की ओर जा रहे हो जा नहीं रहे बल्कि पक्के भगत बन रहे हो मैं सन्देह से पक्का नास्तिक होता जा रहा हूँ।

तीन महीने बाद फिर किसी प्रसंग में शान्तिनिकेतन का निमंत्रण मिला। वह भी निष्फल हुआ और १८ मार्च १९३६ को मुंशीजी ने चतुर्वेदीजी को लिखा –

मैं शान्तिनिकेतन न जा सका। मेरे लिए उसमें कोई आकर्षण नहीं है। वह लोग मुझसे विद्वत्तापूर्ण व्याख्यान की आशा करेंगे और वह मेरे बस का रोग नहीं। मैं कोई विद्वान् आदमी नहीं हूँ। तो भी अगर वह लोग मुझे पहले से आमंत्रित करें तो मैं आने का प्रयत्न करूँगा। तार से दी गयी एक मिनट की सूचना पर मैं तैयारी नहीं कर सकता।

यह बादवाला टुकड़ा सरासर झूठ है कोरा बहाना क्योंकि इससे साल भर पहले २६ माघ १९९१ को हजारीप्रसाद जी द्विवेदी ने मुंशीजी को समय से काफ़ी पहले इस प्रशस्ति के साथ आमंत्रित किया था किन्तु निष्फल —

●भंज मोहमहान्धकार यतति सत्पुरुषमुन्मीलयन्
वैराग्यं प्रथयन् सुसज्जनमनोवापीनिधिं ह्लादयन्।
भ्रान्तोद्भ्रान्त जनान् विदश्चनुविदः श्वान्तप्रियान् शोमयन्
चन्द्र कोऽपि चकास्त्यसावभिनवः श्री प्रेमचन्द्रः सुधी॥
प्रेमचन्द्रस्य चन्द्रस्य न कदापि समानता।
एकः पूर्णकलो नित्यमपरस्तु यदा कदा॥

मान्यवर, उस दिन पण्डित बनारसीदास जी के साथ गुरुदेव (कविवर रवीन्द्रनाथ टागुर) से मिलने गया था। बातों ही बातों वर्तमान हिन्दी साहित्य के सम्बंध में चर्चा चली। ऐसे अवसरों पर आपका नाम सबसे पहले आता है। उस

दिन भी आपने रस साहित्य की चर्चा बड़ी देर तक चलती रही। हम लोगों की इच्छा थी कि नववर्ष के अवसर पर आप जैसे आदरणीय साहित्यिकों का निमंत्रित करें और गुरुदेव से परिचित करायें। गुरुदेव ने हम लोगों के विचार का उत्साह के साथ स्वागत किया। इसीलिए हम लोगों ने निश्चित किया कि स्थानीय हिन्दी समाज का वार्षिकोत्सव नव वर्ष (१४ अप्रैल १९३५) को मनाया जाय। उस दिन गुरुदेव का प्रवचन होता है। उससे पहले दिन भी जिस दिन वर्ष समाप्त होता है उनका व्याख्यान होता है। कुछ और भी समारोह रहता है। गुरुदेव और आश्रम की ओर से निमंत्रण तो यथासमय जायगा ही इसके पहले ही हम हिन्दी समाज की ओर से आपको निमंत्रित करते हैं। इस बार आप जरूर पधारें। हमारे आग्रहपूर्ण निमंत्रण को आप अस्वीकार न करें। आपको गुरुदेव से मिलकर हम गर्व अनुभव करेंगे।

आपके साहित्य ने हिन्दी को समृद्ध किया है और हिन्दीभाषियों को दुनिया में मुँह दिखाने लायक। इसीलिए आपके यश को हम लोग निर्विचार बाँट लिया करते हैं। जब हम रंगभूमि या कर्मभूमि को दूसरे को दिखाते हैं तो मन ही मन गर्वपूर्वक पूछा करते हैं—है तुम्हारे पास कोई ऐसी चीज़! और इस प्रकार का गर्व करते समय हमें प्रेमचन्द नामक किसी अज्ञात अपरिचित व्यक्ति की याद भी नहीं रहती—मानों सब कुछ हमारी ही कृति है। आज उस व्यक्ति को पत्र लिखते समय उसकी अनुमति के बिना उसके सम्पूर्ण यश को स्वायत्त कर लेने के अपराध के लिए जो हम क्षमा नहीं माँगते वह भी मद का ही एक दूसरा रूप है।●

इस निमंत्रण पर भी जो आदमी न जाये वह शायद किसी दूसरी मिट्टी का ही बना है। और कुछ हो न हो कीर्ति के विज्ञापन का लोभी वह नहीं है।

जाने का प्रलोभन अगर उसके लिए कहीं है तो वहीं जहाँ उसका जाना उसके बृहत्तर जीवन-लक्ष्य के लिए उपयोगी है। केवल फूल माला पहनने के लिए दौड़ने को उसके पैर उठते ही नहीं

और सब बातों में जिन्हें मुंशीजी काम की बातें समझते हैं वह पूरी तरह मुस्तैद हैं। मुल्कराज आनन्द और सज्जाद ज़हीर ने कैसे ही कुछ अपने नौजवान हिन्दोस्तानी दोस्तों के साथ मिलकर लंदन में भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना की मुंशीजी ने यहाँ पर उसका स्वागत करते हुए जनवरी १९३६ में लिखा—

हमें यह जानकर सच्चा आनन्द हुआ कि हमारे सुशिक्षित और विचारशील युवकों में भी साहित्य में एक नई स्फूर्ति और जागृति लाने की धुन पैदा हो गयी है। लंदन में दि इंडियन प्रोग्रेसिव राइटर्स असोसिएशन की इसी उद्देश्य से बुनियाद

जमी गयी है और उसने जो अपना मैनिफेस्टो भेजा है उसे देखकर यह आशा होती है कि अगर यह सभा अपने इस नये मार्ग पर जमी रही तो साहित्य में नवयुग का उदय होगा।

इस मैनिफ़ेस्टो का कुछ अंश मुंशीजी ने आशयरूप में इस प्रकार दिया—

भारतीय समाज में बड़े-बड़े परिवर्तन हो रहे हैं। पुराने विचारों और विश्वासों की जड़ें हिलती जा रही हैं और एक नये समाज का जन्म हो रहा है। भारतीय साहित्यकारों का धर्म है कि वह भारतीय जीवन में पैदा होनेवाली क्रान्ति को शब्द और रूप दें और राष्ट्र को उन्नति के मार्ग पर चलाने में सहायक हों। भारतीय साहित्य पुरानी सभ्यता के नष्ट हो जाने के बाद से जीवन की यथार्थताओं से भागकर उपासना और भक्ति की शरण में जा छिपा है। नतीजा यह हुआ है कि वह निस्तेज और निष्प्राण हो गया है रूप में भी अर्थ में भी। हम भारतीय सभ्यता की परम्पराओं की रक्षा करते हुए, अपने देश की पतनोन्मुख प्रवृत्तियों की बड़ी निर्दयता से आलोचना करेंगे हमारी धारणा है कि भारत के नये साहित्य को हमारे वर्तमान जीवन के मौलिक तथ्यों का समन्वय करना चाहिए, और वह है हमारी रोटी का हमारी दरिद्रता का हमारी सामाजिक अवनति का और हमारी राजनीतिक पराधीनता का प्रश्न। तभी हम इन समस्याओं को समझ सकेंगे और तभी हममें क्रियात्मक शक्ति आएगी। वह सब कुछ जो हमें निष्क्रियता अकर्मण्यता और अंधविश्वास की ओर ले जाता है हेय है वह सब कुछ जो हममें समीक्षा की मनोवृत्ति लाता है, जो हमें प्रियतम रूढ़ियों को भी बुद्धि की कसौटी पर कसने के लिए प्रोत्साहित करता है, जो हमें कर्मण्य बनाता है और हममें संगठन की शक्ति लाता है, उसी को हम प्रगतिशील समझते हैं।

उसी महीने १२। १३। १४ जनवरी को युनिवर्सिटी के विजयनगरम हाल में हिन्दुस्तानी एकेडेमी का सालाना जलसा हुआ। मुंशीजी भी उसमें शरीक हुए। सभापति बिहार के प्रसिद्ध नेता साहित्यकार और हिन्दुस्तान रिव्यू के यशस्वी सम्पादक श्री सच्चिदानन्द सिनहा थे। साहित्यकारों का अच्छा सम्मेलन था। उन्हें उर्दू और हिन्दी दो विभागों में कर दिया गया था। उर्दू विभाग के सद्र मौलाना अब्दुल हक़ साहब और हिन्दी विभाग के डा गंगानाथ झा थे। दोनों विभागों में कई अच्छे-अच्छे विद्वत्ता और गवेषणा और खोज से भरे हुए लेख पढ़े गये मगर दोनों सम्मेलनों के अलग-अलग होने के कारण श्रोताओं को सारे निबंधों को सुनने का अवसर न मिला। और हानि यह हुई कि उर्दू और हिन्दी के बीच में जो दीवार खड़ी होती जा रही है वह और भी ऊँची हो गयी। अगर दोनों समुदाय

मिल नहीं सकते तो न मिलें। अपनी अपनी अलग बजाना चाहते हैं तो बजाते पायें लेकिन क्या इसमें भी कोई बुराई है कि दोनों एक दूसरे को सुन भी नहीं सकते !

कैसी बेतुकी हालत है इन बेचारे मुंशीजी की जो न पूरी तरह हिन्दी में हैं न पूरी तरह उर्दू में जो बीच में खड़े हैं संगम पर

सज्जाद ज़हीर इस बीच विलायत से लौट आये थे और यहाँ पर इस नये आन्दोलन का श्रीगणेश करने के सिलसिले में इलाहाबाद को ही अपना केन्द्र बनाकर रह रहे थे। और उनको सफलता भी मिली। हिन्दी कविता के अग्रणी सुमित्रानन्दन पन्त ने उनको अपना पूरा सहयोग दिया। युनिवर्सिटी में भी फ़िराक़ गोरखपुरी, डाक्टर एजाज़ हुसेन और अहमद अली की वजह से पैर टिकाने की जगह मिली और धीरे-धीरे काम चल निकला। संगठन तो अभी कहीं था नहीं (सज्जाद ज़हीर का घर ही उसका केन्द्रीय कार्यालय था!) लेकिन हाँ कुछ समानधर्मा लोग आपस में मिलने-बैठने लगे थे।

अहमद अली और सज्जाद ज़हीर की पहली मुलाक़ात मुंशीजी से इसी एकेडमी के जलसे में हुई। अपनी उस दिलचस्प मुलाक़ात के बारे में अहमद अली कहते हैं —

पुराने कवियों से अलग रंगनेवाले बहुत सब थोड़ निबन्ध सुनते सुनते हम लोग उकता गये थे और हममें से कुछ लोग अपनी टाँगें सीधी करने के लिए और थोड़ी सी ताज़ी हवा खाने के लिए उस थकाऊ वातावरण से निकलकर बाहर बरामदे में आ गये थे। मुझे याद आता है कि उस वक़्त मेरे दोस्त रघुपति सहाय फ़िराक़ और मुंशी दयानरायन निगम भी वहाँ मौजूद थे। उस वक़्त मुंशी दयानरायन निगम के साथ मेरी पहले पहल मुलाक़ात हुई थी और हम लोग 'अंगारे' नाम की अपनी किताब के बारे में बात कर रहे थे। शाम हो चली थी और म्योर सेन्ट्रल कालेज के इमली के दरख़्तों में क़रीब-क़रीब आधा सूरज उतर आया था। उसकी पीली पड़ी हुई किरणें हम लोगों के पैरों पर नाच रही थीं और बढ़िया ठंडी हवा चल रही थी। उस वक़्त अचानक बरामदे की ओर से एक ऐसे दुबले-पतले सज्जन आते हुए दिखायी दिये जिनका क़द कुछ ज़्यादा लंबा नहीं था लेकिन फिर भी वे जितने थे उसके मुक़ाबिले में अपने दुबलेपन के कारण कुछ ज़्यादा लंबे मालूम होते थे। उनके चेहरे से प्रसन्नता झलकती थी और आँखें करुणापूर्ण थीं और उनमें एक ऐसी कोमलता दिखायी देती थी जो जीवन की समस्याओं पर गंभीर विचार करने और अनेक प्रकार के कष्ट सहने से उत्पन्न होती है। वे एक शेरवानी और चुस्त पाजामा पहने हुए थे और उनकी गांधी टोपी में से दोनों तरफ़, आगे और पीछे गर्दन पर निकले हुए कुछ लंबे बाल दिखायी

रहते थे। उनकी घनी और बड़ी-बड़ी मूछों में काले बालों की बनिस्बत सफ़ेद बाल ही ज़्यादा थे और उनका तौर-तरीक़ा बहुत ही भले आदमियों का सा था। मेरे दोस्त रघुपतिसहायजी ने उनसे मेरा परिचय कराया। मुझे मालूम हुआ कि यही मुंशी प्रेमचंद हैं। वे खूब मज़े में खुलकर बातें करते थे। और लोग खूब खुले दिल से खुश हो-होकर उनकी बातें सुनते थे। उनके सीधे-सादे तौर-तरीक़ों का मुझ पर बहुत अच्छा असर पड़ा था। वे बहुत मज़ाक़पसन्द आदमी थे और मौक़े पर फ़ौरन ही एक से एक बढ़कर मज़ेदार बात कहते थे और सिगरेट पीते थे। डूबते हुए सूरज की पीली किरणें हम लोगों के पैरों पर खेल रही थीं। उस वक़्त मुझे ख़्वाब में भी इस बात का ख़याल नहीं होता था कि प्रेमचन्द जी के जीवन का सूर्य भी अब बहुत जल्दी अस्त होना चाहता है।

दो रोज़ बाद ये सब लोग प्रगतिशील लेखकों की आम्ज़ाबन का संगठन करने के सिलसिले में सज्जाद ज़हीर के मकान पर इकट्ठा हुए। मौलवी अब्दुल हक़ और जोश मलीहाबादी भी मौजूद थे। मुंशी दयानरायन निगम तो बहुत उत्साहित न अनुभव कर रहे थे पर मुंशी प्रेमचन्द का मन उमंग से भरा हुआ था और संघ के ड्राफ़्ट मैनिफ़ेस्टो पर दस्तख़त करते हुए मुंशीजी ने हँसकर कहा—

मैं तो बूढ़ा खूसट आदमी और तुम लोग हो कि सरपट भाग रहे हो! मैं कहाँ दौड़ सकता हूँ तुम्हारे साथ मेरा तो घुटना घुटना टूट जायेगा

हिन्दुस्तानी एकेडेमी का जलसा तो हो गया लेकिन हिन्दी और उर्दू को पास लाने का जो सपना मुंशीजी को उसमें बाँधे हुए था वह मृगजल की भाँति दूर से दूरतर सरकता जा रहा था और मुंशीजी को इसकी गहरी मनोव्यथा थी।

उसी पीड़ा में से ये शब्द निकले—

'जलसा समाप्त हो जाने के बाद पत्रों में पृथकता के समर्थन में बार-बार लेख लिखे जा रहे हैं और यह सिद्ध किया जा रहा है कि उर्दू और हिन्दी अब अलग-अलग रास्ते पर चलकर एक दूसरे से इतनी दूर निकल गई हैं कि उनका समीप आना असम्भव है और यह कि उनको मिलाने की कोशिश दोनों ही भाषाओं को मटियामेट कर देगी। एकतावादियों को बार-बार चुनौती दी जा रही है कि वे कोई ऐसी रचना करके दिखा दें जिसमें एकता का आदर्श निभाया गया हो और वह क़िस्से कहानी की पुस्तक न हो बल्कि कोई ऐतिहासिक या वैज्ञानिक या दार्शनिक या आलोचनात्मक कृति हो। हम अपने पृथकतावादी भाइयों से बड़े अदब के साथ पूछेंगे कि अगर ऐसी कोई ज़बान मौजूद होती तो इस संस्था की ज़रूरत ही क्यों पड़ती।

यह नया साल अच्छा पैर में सनीचर लेकर आया है, पैर टिकते ही नहीं घर पर। यहाँ तो साहित्यिक आयोजन से आये-दिन घिरते थे, अब यहाँ देखो वहीं पहुँचे हुए हैं। कौन जाने वह कौन सी अबूझ प्रेरणा है जो उन्हें हर जगह खींच ले जाती है — मिल लो सबसे, देख लो सब कुछ, बाँट दो सबको जो कुछ एक जीवन की यातना में से पाया है, सुख-दुख, अनुभव, ज्ञान, विवेक।

या शायद बात इतनी छोटी है, बस इतनी कि तबीयत उन जगहों से जान से भागती है जहाँ बस धुआँ-धुआँ है, या अपना तमाशा बनता है, लेकिन जहाँ नयी चीज है वहाँ जाने को तबीयत खुद ब खुद भागती है।

और फिर अब ज्यादा आजादी भी तो है। लड़के दोनों इलाहाबाद में पढ़ रहे हैं। घर में बस पति-पत्नी हैं, जहाँ जाने की राय बनी और दोनों जने चल खड़े हुए।

जो भी बात रही हो, नया साल मुंशीजी के पैर में सनीचर लेकर आया है।

अभी हिन्दोस्तानी एकेडमी के जलसे से लौटे और दस रोज बाद २१ जनवरी को इलाहाबाद में महिला-गल्प-लेखक सम्मेलन था जिसकी सभानेत्री शिवरानी देवी थीं। २८ को बनारस लौटे। ३१ को आगरे के लिए रवाना हो गये। अगले रोज आगरे पहुँचे। हरिहरनाथ टण्डन के घर ठहरे। नाश्ता-वाश्ता करके क़िला और ताज देखने गये। दिन में सेण्ट जान्स कालेज में जलसा था। मुंशीजी को अभिनन्दनपत्र दिया गया। शाम को नागरी प्रचारिणी सभा के वार्षिक अधिवेशन का सभापतित्व किया।

अगले दिन फतेहपुर सीकरी देखने की ठहरी और उसी रात इलाहाबाद के लिए रवाना हो गए।

यहाँ पर महादेवी वर्मा से मिलना कभी न भूलेंगे। और घर आकर अपनी डायरी में टाँका, महादेवी वर्मा से मिला और उनकी सुरुचित बातचीत से जी खुश हुआ। उनका मधुर शील-सौजन्य और उनकी निश्छल हँसी बड़ी मोहक है।

पत्नी अपने भाई के साथ रुकना चाहती थीं। उनको वहीं छोड़कर मुंशीजी उसी रोज बनारस चले गये। सूना घर काटे खाता था।

ऐसे ही कभी पत्नी को इलाहाबाद छोड़ आने पर मुंशीजी ने एक रोज दफ़्तर से, बहुत खिन्न होकर उन्हें उलाहना देते हुए लिखा था —

मैं तुम्हें छोड़कर काशी आया। मगर यहाँ तुम्हारे बिना सूना-सूना लग रहा है। क्या करूँ तुम्हारी बहन की बात कैसे न मानता। न मानने पर तुम्हें भी बुरा लगता। जिस समय पर तुम्हें उन्होंने रोका, मैं भी मसोसकर रह गया।

देते थे। उनकी घनी और बड़ी-बड़ी मूछों में काले बालों की बनिस्बत सफ़ेद बाल ही ज़्यादा थे और उनका तौर-तरीक़ा बहुत ही भले आदमियों का सा था। मेरे दोस्त रघुपतिसहायजी ने उनसे मेरा परिचय कराया। मुझे मालूम हुआ कि यही मुंशी प्रेमचंद हैं। वे खूब मज़े में झुककर बातें करते थे। और लोग खूब खुले दिल से खुश हो-होकर उनकी बातें सुनते थे। उनके सीधे-सादे तौर-तरीक़ों का मुझ पर बहुत अच्छा असर पड़ा था। वे बहुत मज़ाकपसन्द आदमी थे और मौक़े पर फ़ौरन ही एक से एक बढ़कर मज़ेदार बात कहते थे और सिगरेट पीते थे। ढलते हुए सूरज की पीली किरनें हम लोगों के पैरों पर खेल रही थीं। उस वक़्त मुझे ख़्वाब में भी इस बात का ख़याल नहीं होता था कि प्रेमचन्द जी के जीवन का सूर्य भी अब बहुत जल्दी अस्त होना चाहता है।

दो रोज़ बाद ये सब लोग प्रगतिशील लेखकों की आन्दोलन का संगठन करने के सिलसिले में सज्जाद ज़हीर के मकान पर इकट्ठा हुए। मौलवी अब्दुल हक़ और जोश मलीहाबादी भी मौजूद थे। मुंशी दयानरायन निगम तो बहुत उत्साहित न अनुभव कर रहे थे पर मुंशी प्रेमचन्द का मन उमंग से भरा हुआ था और संघ के ड्राफ्ट मैनिफ़ेस्टो पर दस्तख़त करते हुए मुंशीजी ने हँसकर कहा —

मैं तो ठहरा बूढ़ा आदमी और तुम लोग हो कि सरपट भाग रहे हो! मैं कहाँ दौड़ सकता हूँ तुम्हारे साथ मेरा तो घुटना घुटना फूट जायेगा

हिन्दुस्तानी एकेडेमी का जलसा तो हो गया लेकिन हिन्दी और उर्दू को पास लाने का जो सपना मुंशीजी को उससे बाँधे हुए था वह मृगजल की भाँति दूर से दूरतर सरकता जा रहा था और मुंशीजी को इसकी गहरी मनोव्यथा थी।

उसी पीड़ा में से ये शब्द निकले —

'जलसा समाप्त हो जाने के बाद पत्रों में पृथकता के समर्थन में बार-बार लेख लिखे जा रहे हैं और यह सिद्ध किया जा रहा है कि उर्दू और हिन्दी अब अलग-अलग रास्ते पर चलकर एक दूसरे से इतनी दूर निकल गई हैं कि उनका समीप आना असम्भव है और यह कि उनको मिलाने की कोशिश दोनों ही भाषाओं को मटियामेट कर देगी। एकतावादियों को बार-बार चुनौती दी जा रही है कि वे कोई ऐसी रचना करके दिखा दें जिसमें एकता का आदर्श निभाया गया हो और वह किस्से-कहानी की पुस्तक न हो बल्कि कोई ऐतिहासिक या वैज्ञानिक या दार्शनिक या आलोचनात्मक कृति हो। हम अपने पृथकतावादी भाइयों से बड़े अदब के साथ पूछेंगे कि अगर ऐसी कोई रचना मौजूद होती तो इस संस्था की ज़रूरत ही क्यों पड़ती

यह नया साल अक्सर पैर में सनीचर लेकर आया है, पैर टिकते ही नहीं घर पर। कहाँ तो साहित्यिक आयोजनों से भागे-भागे फिरते थे, अब जहाँ देखो वहीं पहुँचे हुए हैं। कौन जाने यह कौन सी अदृश्य प्रेरणा है जो उन्हें हर जगह खींच ले जाती है — मिल लो सबसे, देख लो सब कुछ, बाँट दो सबको जो कुछ एक जीवन की साधना में से पाया है, गुन-गुन अनुभव ज्ञान विवेक।

या शायद बात इससे छोटी है, बस इतनी कि तबीयत उन जगहों से पास से भागती है जहाँ बस पूजा-पुजैया है या अपना तमाशा बनता है, लेकिन जहाँ ऐसी चीज है वहाँ जाने को तबीयत खुद ब खुद चाहती है।

और फिर अब ज्यादा आज़ादी भी तो है। लड़के दोनों इलाहाबाद में पढ़ रहे हैं। घर में बस पति-पत्नी हैं, कहीं जाने की ठान ली और दोनों जने चल पड़े हुए।

जो भी बात रही हो, नया साल मुंशीजी के पैर में सनीचर लेकर आया है।

अभी हिन्दोस्तानी एकेडमी के जलसे से लौटे और दस रोज बाद २६ जनवरी को इलाहाबाद में महिला-पत्र-लेखक सम्मेलन था जिसकी सभानेत्री शिवरानी देवी थीं। २८ को बनारस लौटे। ३१ को आगरे के लिए रवाना हो गये। अगले रोज आगरे पहुँचे। हरिहरनाथ टण्डन के घर ठहरे। नाश्ता-वाश्ता करके किला और ताज देखने गये। दिन में सेन्ट जान्स कालेज में उत्सव था। मुंशीजी को अभिनन्दनपत्र दिया गया। शाम को नागरी प्रचारिणी सभा के वार्षिक अधिवेशन का सभापतित्व किया।

अगले दिन फतेहपुर सीकरी देखने की ठहरी और उसी रात इलाहाबाद के लिए रवाना हो गए।

यहाँ पर महादेवी वर्मा से मिलना कभी न भूलते। और घर आकर अपनी डायरी में टाँका, महादेवी वर्मा से मिला और उनकी सुरुचिपूर्ण बातचीत से जी खुश हुआ। उनका मधुर शील-सौजन्य और उनकी निश्छल हँसी बड़ी मोहक है।

पत्नी अपने भाई के साथ रुकना चाहती थीं। उनको वहीं छोड़कर मुंशीजी उसी रोज बनारस चल गए। सूना घर काटे खाता था।

ऐसे ही कभी पत्नी को इलाहाबाद छोड़ आने पर मुंशीजी ने एक रोज उकताकर, बहुत खिन्न होकर उन्हें उलाहना देते हुए लिखा था —

मैं तुम्हें छोड़कर काशी आया। मगर यहाँ तुम्हारे बिना सूना-सूना लग रहा है। क्या करूँ तुम्हारी बहन की बात कैसे न मानता। न मानने पर तुम्हें भी बुरा लगता। जिस समय पर तुम्हें उन्होंने रोका, मैं भी मसोसकर रह गया।

देते थे। उनकी घनी और बड़ी-बड़ी मूछों में काले बालों की बनिस्बत सफ़ेद बाल ही ज्यादा थे और उनका तौर-तरीका बहुत ही भले आदमियों का सा था। मेरे दोस्त रघुपतिसहायजी ने उनसे मेरा परिचय कराया। मुझे मालूम हुआ कि यही मुंशी प्रेमचंद हैं। वे खूब मज़े में घुलकर बातें करते थे। और लोग खूब खुले दिल से खुश हो-होकर उनकी बातें सुनते थे। उनके सीधे-सादे तौर-तरीकों का मुझ पर बहुत अच्छा असर पड़ा था। वे बहुत मज़ाकपसन्द आदमी थे और मौके पर फ़ौरन ही एक से एक बढ़कर मज़ेदार बात कहते थे और सिगरेट पीते थे। डूबते हुए सूरज की पीली किरनें हम लोगों के पैरों पर खेल रही थीं। उस वक़्त मुझे ख्वाब में भी इस बात का ख्याल नहीं होता था कि प्रेमचन्द जी के जीवन का सूर्य भी अब बहुत जल्दी अस्त होना चाहता है।

दो रोज़ बाद वे सब लोग प्रगतिशील लेखकों की आन्दोलन का समर्थन करने के सिलसिले में सज्जाद ज़हीर के मकान पर इकट्ठा हुए। मौलवी अब्दुल हक और जोश मलीहाबादी भी मौजूद थे। मुंशी दयानरायन निगम तो बहुत उत्साहित न अनुभव कर रहे थे पर मुंशी प्रेमचन्द का मन उमंग से भरा हुआ था और संघ के ड्राफ्ट मैनिफेस्टो पर दस्तख़त करते हुए मुंशीजी ने हँसकर कहा —

मैं तो ठहरा बुड्ढा आदमी और तुम लोग हो कि सरपट भाग रहे हो! मैं कहाँ दौड़ सकता हूँ तुम्हारे साथ मेरा तो घुटना टूटना फूट जायेगा

हिन्दुस्तानी एकेडेमी का जलसा तो हो गया लेकिन हिन्दी और उर्दू को पास लाने का जो सपना मुंशीजी को उससे बाँधे हुए था वह मृगजल की भाँति दूर से दूरतर सरकता जा रहा था और मुंशीजी को इसकी गहरी मनोव्यथा थी।

उसी पीड़ा में से ये शब्द निकले —

'जलसा समाप्त हो जाने के बाद पत्रों में पृथकता के समर्थन में बार-बार लेख लिखे जा रहे हैं और यह सिद्ध किया जा रहा है कि उर्दू और हिन्दी अब अलग-अलग रास्ते पर चलकर एक दूसरे से इतनी दूर निकल गई हैं कि उनका समीप आना असम्भव है और यह कि उनको मिलाने की कोशिश दोनों ही भाषाओं को मटियामेट कर देगी। एकतावादियों को बार-बार चुनौती दी जा रही है कि वे कोई ऐसी रचना पेश कर दिखा दें जिसमें एकता का आदर्श निभाया गया हो और वह किस्सा-कहानी की पुस्तक न हो बल्कि कोई ऐतिहासिक या वैज्ञानिक या दार्शनिक या आलोचनात्मक कृति हो। हम अपने पृथकतावादी भाइयों से बड़े अदब के साथ पूछेंगे कि अगर ऐसी कोई पुस्तक मौजूद होती तो इस संस्था की ज़रूरत ही क्यों पड़ती।

यह नया साल अच्छा पैर में सनीचर लेकर आता है पैर टिकते ही नहीं घर पर। यहाँ तो साहित्यिक आयोजन से आगे-आगे फिरते थ अब यहाँ ऐसा नहीं पहुँचे हुए हैं। कौन जाने यह कौन सी अद्भुत प्रेरणा है जो उन्हें हर जगह खींच ले जाती है — जिस को समझ देख लो सब कुछ और दो सबको जो कुछ एक जीवन की साधना में ले पाया है सुख-दुख अनुभव ज्ञान विवेक

या शायद बात इतनी छोटी है बस इतनी कि तबीयत उन जगहों में आने से भागती है जहाँ बस धुआँ-धुआँ है या अपना तमाशा बनता है लेकिन जहाँ नयी चीज़ है वहाँ जाने को तबीयत खुद ब खुद चाहती है।

और फिर अब ज़्यादा आज़ादी भी तो है। लड़के दोनों इलाहाबाद में पड़े हैं। घर में बस पति-पत्नी हैं जहाँ जाने की राय बनी और दोनों चले उठ खड़े हुए।

जो भी बात रही हो नया साल मुंशीजी के पैर में सनीचर लेकर आया है।

अभी हिन्दोस्तानी एकेडमी के जलसे से लौटे और दस रोज़ बाद २६ जनवरी को इलाहाबाद में महिला-गल्प-लेखक सम्मेलन था जिसकी सभानेत्री शिवरानी देवी थीं। २८ को बनारस लौटे। ११ को आगरे के लिए रवाना हो गये। अगले रोज़ आगरे पहुँचे। हरिहरनाथ टण्डन के घर ठहरे। खाना-वाना करके क़िला और ताज देखने गये। दिन में सेन्ट जान्स कालेज में उत्सव था। मुंशीजी को अभिनन्दनपत्र दिया गया। शाम को नागरी प्रचारिणी सभा के वार्षिक अधिवेशन का सभापतित्व किया।

अगले दिन फ़तेहपुर सीकरी देखने की ठहरी और उसी रात इलाहाबाद के लिए रवाना हो गए।

यहाँ पर महादेवी वर्मा से मिलना कभी न भूलते। और घर आकर अपनी डायरी में लिखा, 'महादेवी वर्मा से मिलकर और उनकी सुरुचिपूर्ण बातचीत से जी खुश हुआ। उनका मधुर शील-सौजन्य और उनकी निश्छल हँसी बड़ी मोहक है।'

पत्नी अपने भाई के साथ रहना चाहती थीं। उनको वहीं छोड़कर मुंशीजी उसी रोज़ बनारस चल गये। सूना घर काटे खाता था।

ऐसे ही कभी पत्नी को इलाहाबाद छोड़ आने पर मुंशीजी ने एक रोज़ उकताकर, बहुत खिन्न होकर उन्हें उलाहना देते हुए लिखा था —

मैं तुम्हें छोड़कर काशी आया। मगर यहाँ तुम्हारे बिना सूना-सूना लग रहा है। क्या करूँ तुम्हारी बहन की बात कैसे न मानता। न मानने पर तुम्हें भी बुरा लगता। जिस समय पर तुम्हें उन्होंने रोका मैं भी मसोसकर रह गया।

देते थे। उनकी घनी और बड़ी-बड़ी मूछों में काले बालों की बनिस्बत सफ़ेद बाल ही ज़्यादा थे और उनका तौर-तरीक़ा बहुत ही मज़े आदमियों का सा था। मेरे दोस्त रघुपतिसहायजी ने उनसे मेरा परिचय कराया। मुझे मालूम हुआ कि यही मुंशी प्रेमचंद हैं। वे खूब मज़े में घुलकर बातें करते थे। और लोग खूब जी से खुश हो-होकर उनकी बातें सुनते थे। उनके सीधे-सादे तौर-तरीक़ों का मुझ पर बहुत अच्छा असर पड़ा था। वे बहुत मज़ाक़पसन्द आदमी थे और मौके पर फ़ौरन ही एक से एक बढ़कर मज़ेदार बात कहते थे और सिगरेट पीते थे। डूबते हुए सूरज की पीली किरनें हम लोगों के पैरों पर खेल रही थीं। उस वक़्त मुझे ख़्वाब में भी इस बात का ख़याल नहीं होता था कि प्रेमचन्द जी के जीवन का सूर्य भी अब बहुत जल्दी अस्त होना चाहता है।

दो रोज़ बाद वे सब लोग प्रगतिशील लेखकों की आन्दोलन का संगठन करने के सिलसिले में सज्जाद ज़हीर के मकान पर इकट्ठा हुए। मौलवी अब्दुल हक़ और जोश मलीहाबादी भी मौजूद थे। मुंशी दयानरायन निगम तो बहुत उत्साहित न अनुभव कर रहे थे पर मुंशी प्रेमचन्द का मन उमंग से भरा हुआ था और संघ के ड्राफ्ट मैनिफेस्टो पर दस्तख़त करते हुए मुंशीजी ने हँसकर कहा —

मैं तो ठहरा बुड्ढा आदमी और तुम लोग हो कि सरपट भाग रहे हो! मैं कहाँ दौड़ सकता हूँ तुम्हारे साथ मेरा तो घुटना फूटना फूट जायेगा

हिन्दुस्तानी एकेडेमी का जलसा तो हो गया लेकिन हिन्दी और उर्दू को पास लाने का जो सपना मुंशीजी को उससे बाँधे हुए था वह मृगजल की भाँति दूर से दूरतर सरकता जा रहा था और मुंशीजी को इसकी गहरी मनोव्यथा थी।

उसी पीड़ा से ये शब्द निकले —

'जलसा समाप्त हो जाने के बाद पत्रों में पृथकता के समर्थन में बार-बार लेख लिखे जा रहे हैं और यह सिद्ध किया जा रहा है कि उर्दू और हिन्दी अब अलग-अलग रास्ते पर चलकर एक दूसरे से इतनी दूर निकल गई हैं कि उनका समीप आना असम्भव है और यह कि उनको मिलाने की कोशिश दोनों ही भाषाओं का मटियामेट कर देगी। एकतावादियों को बार-बार चुनौती दी जा रही है कि वे कोई ऐसी रचना करके दिखा दें जिसमें एकता का आदर्श निभाया गया हो और वह किस्से कहानी की पुस्तक न हो बल्कि कोई ऐतिहासिक या वैज्ञानिक या दार्शनिक या आलोचनात्मक कृति हो। हम अपने पृथकतावादी भाइयों से बड़े अदब के साथ पूछेंगे कि अगर ऐसी कोई रचना मौजूद होती तो इस संस्था की ज़रूरत ही क्यों पड़ती

यह नया साल अच्छा पैर में सनीचर लेकर आया है, पैर टिकते ही नहीं घर पर। कहाँ तो साहित्यिक आयोजन से भागे-भागे फिरते थे अब जहाँ देखो वहीं पहुँचे हुए हैं। कौन जाने यह कौन सी अदृश्य प्रेरणा है जो उन्हें हर जगह खींच ले जाती है — मिल लो सबसे देख लो सब कुछ बाँट दो सबको जो कुछ एक जीवन की साधना में से पाया है सुख-दुख अनुभव ज्ञान विवेक

या शायद बात इतनी छोटी है, बस इतनी कि तबीयत उन जगहों में जाने से भागती है जहाँ बस पूजा-पुजैया है या अपना तमाशा बनता है, लेकिन जहाँ नयी पौध है वहाँ जाने को तबीयत खुद ब खुद भागती है।

और फिर अब ज्यादा आज़ादी भी तो है। लड़के दोनों इलाहाबाद में पढ़ रहे हैं। घर में बस पति-पत्नी हैं, कहीं जाने की राय बनी और दोनों जने चल खड़े हुए।

जो भी बात रही हो नया साल मुंशीजी के पैर में सनीचर लेकर आया है।

अभी हिन्दोस्तानी एकेडेमी के जलसे से लौटे और दस रोज बाद २१ जनवरी को इलाहाबाद में महिला-गल्प-लेखक सम्मेलन था जिसकी सभानेत्री शिवरानी देवी थीं। २८ को बनारस लौटे। ११ को आगरे के लिए रवाना हो गये। अगले रोज आगरे पहुँचे। हरिहरनाथ टण्डन के घर ठहरे। नाश्ता-वाश्ता करके किला और ताज देखने गये। दिन में सेन्ट जान्स कालेज में उत्सव था। मुंशीजी को अभिनन्दनपत्र दिया गया। शाम को नागरी प्रचारिणी सभा के वार्षिक अधिवेशन का सभापतित्व किया।

अगले दिन फतेहपुर सीकरी देखने की ठहरी और उसी रात इलाहाबाद के लिए रवाना हो गए।

वहाँ पर महादेवी वर्मा से मिलना कभी न भूलेंगे। और घर आकर अपनी डायरी में टाँका, 'महादेवी वर्मा से मिला और उनकी सुशील बातचीत से जी खुश हुआ। उनका मधुर शील-सौजन्य और उनकी निश्छल हँसी बड़ी मोहक है।'

पत्नी अपने भाई के साथ रुकना चाहती थीं। उनको वहीं छोड़कर मुंशीजी उसी रोज बनारस चले गये। सूना घर काटे खाता था।

ऐसे ही कभी पत्नी को इलाहाबाद छोड़ आने पर मुंशीजी ने एक रोज उकताकर, बहुत खिन्न होकर उन्हें उलाहना देते हुए लिखा था —

मैं तुम्हें छोड़कर काशी आया। मगर यहाँ तुम्हारे बिना सूना-सूना लग रहा है। क्या कहूँ तुम्हारी बहन की बात कैसे न मानता। न मानने पर तुम्हें भी बुरा लगता। जिस समय पर तुम्हें उन्होंने रोका, मैं भी मसोसकर रह गया।

तुम तो अपनी बहन के साथ वहाँ खुश होगी मगर मैं यहाँ परीशान हूँ — जैसे एक घोंसले में दो पक्षी रह रहे हों और उनमें एक के न रहने पर एक परेशान हो। तुम्हारा यही न्याय है कि तुम वहाँ मौज करो और मैं तुम्हारे नाम की माला फेरूँ। तुम मेरे पास रहती हो तो मैं भरसक कहीं बाहर जाने का नाम नहीं लेता तुम आने का नाम नहीं लेतीं

मगर काम की भीड़ हर सुनेपन को मार देती है। १८ फरवरी को उन्होंने अपनी डायरी में टाँका —

'तार मिला कि रानी आ रही हैं और मैं उन्हें स्टेशन पर मिलूँ। दिन का काम खतम करने के बाद मैं भागा तो एकाएक लगा कि वह कहीं रात की गाड़ी से न आती हों। मैं बारह बजे रात पैदल ही भागा-भागा स्टेशन गया — सवारी नहीं मिली — पर रानी नहीं आयी।

वह अगले रोज आयीं और उसके अगले रोज मुंशीजी सवेरे ही इलाहाबाद के लिए रवाना हो गये — यूइंग क्रिश्चियन कालेज के जल्से में शरीक होने के लिए। दस बजे पहुँचा। हिन्दुस्तानी एकेडेमी गया। दोस्तों से मिला। तीन बजे मिस्टर सज्जाद ज़हीर के यहाँ पहुँचा मगर वह युनिवर्सिटी से लौटे न थे। पाँच बजे शाम मैं यूइंग कालेज पहुँचा। बड़ी शानदार इमारत है — जमुना किनारे कैसी खूबसूरत नज़र आती है। बड़े लम्बे चौड़े मैदान उससे लगे हुए हैं। जलसा गार्डेन पार्टी के बाद सात बजे शाम शुरू हुआ। धीरेन्द्र जी बाबूराम सक्सेना बोले। मैंने भी मजाकिया अंदाज में कुछ कहा। सत्यजीवन वर्मा के साथ स्टेशन लौट आया और दो बजे रात बनारस पहुँच गया।

इस जल्दबाज़ी की वजह शायद यह थी कि अगले रोज बनारस में क्वीन्स कालेज में एक कहानी प्रतियोगिता थी। कोई दस कहानियाँ पढ़ी गयीं मगर उनमें से एक भी उल्लेखनीय नहीं। सब में वही यौन-ग्रंथि

२२.२३ को पूर्णिया में बिहार प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन हो रहा था। उसके लिए मुंशीजी २२ को साढ़े ग्यारह बजे दिन रवाना हुए। चौबीस घंटे का बहुत लंबा और उकतानेवाला सफ़र करके अगले दिन बारह बजे पहुँचे और मुश्किल से आठ-नौ घंटे रहकर फिर उसी चौबीस घंटे के सफ़र के लिए रवाना हो गये! यह हो क्या गया है मुंशीजी को? मुंशीजी जो इतने माया-मोह में पड़कर घरघुसरू मूल से ? .... एकदम ऐसे यात्रा-प्रेमी कैसे हो गये!

हिन्दुस्तानी और प्रगतिशील साहित्य का भूत सवार है आजकल सर पर। जहाँ जिस मंच से अपनी बात कह सकें

भाषा को एकता का वाहन बनाकर एक नयी क्रान्ति का आवाहन

जैसा कि पूर्णिया से लौटकर उन्होंने लिखा —

● कविता में अगर जागृति पैदा करने की शक्ति नहीं है तो वह बेजान है। आप इश्क़ बाँधें या हुस्न के तार या बुलबुल और क़फ़स उसमें जीवन को तड़पाने वाली शक्ति होनी चाहिए। प्रेमिकाओं के सामने बैठकर आँसू बहाने का यह ज़माना नहीं है। इस व्यापार में हमने कई सदियाँ गवाँ दीं विरह का रोना रोते-रोते हम कहीं के न रहे। अब हमें ऐसे कवि चाहिए जो हुंकारते इक़बाल की तरह हमारी मरी हुई हड्डियों में जान डालें। देखिए, इस कवि ने लेनिन को ख़ुदा के सामने ले जाकर क्या फ़रियाद करायी है और उसका ख़ुदा पर इतना असर होता है कि वह अपने फ़रिश्तों को हुक्म देता है —

उट्ठो मेरी दुनिया के ग़रीबों को जगा दो
काख़े[1] उमरा के दरो-दीवार हिला दो।
गरमाओ ग़ुलामों का लहू सोज़े यक़ीं से
कुंजिश्क फ़रोमाया[2] को शाहीं से लड़ा दो।
सुल्तानिये[5] जम्हूर का आता है ज़माना,
जो नक़्शे कोहन तुमको नज़र आये मिटा दो।
जिस खेत से देहक़ाँ[8] को मयस्सर नहीं रोज़ी
उस खेत के हर ख़ोशए गंदुम को जला दो।
क्यों ख़ालिक़ो[1] मख़लूक़[11] में हायल रहें पर्दे,
पीराने[12] कलीसा को कलीसा से उठा दो। ●

---

१ महल २ चिड़िया ३ तुच्छ ४ शिकरा ५ ६ प्रजा-राज्य ७ पुराना ८ किसान ९ गेहूँ की बाल १० स्रष्टा ११ सृष्टि १२ मठधारी १३ गिरजा मंदिर-मसजिद

३६

पूर्निया से लौटते ही दस रोज के अन्दर दिल्ली का प्रोग्राम बन गया। जैनेन्द्र बहुत ज़ोर देकर बुला रहे थे — हिन्दुस्तानी सभा क़ायम करने के सिलसिले में। और वह एक ऐसी चीज थी जिसके लिए मुंशीजी दिल्ली तो क्या टिम्बकटू तक दौड़ते चले जा सकते थे।

होली गले मिलने का दिन है, मेल-मिलाप का दिन। हिन्दी और उर्दू के मेल-मिलाप के लिए, संगम के लिए, इससे अच्छा दिन और कौन हो सकता था।

लिहाजा मुंशीजी मार्च की चौथी तारीख को सियालकोट एक्सप्रेस से दिल्ली के लिए रवाना हो गये — रास्ते में पढ़ने के लिए हज़रत राशिद-उल-ख़ैरी की किताबें ले लीं। राशिद-उल-ख़ैरी बहुत कुछ मुंशीजी के अपने रंग और मिज़ाज के लिखने-वाले थे, बड़े लिखनेवाले थे और इसी महीने उनका देहान्त हुआ था। उन पर कुछ लिखना है।

होली का दिन दरियागंज में जैनेन्द्र के मकान पर गुज़रा — प्रेमचन्द जी नीम की सींक से दाँत कुरेदते हुए धूप में खाट पर बैठे थे। नाश्ता हो चुका था और पूरी निश्चिन्तता थी। बदन पर धोती के अलावा बस एक बनियान थी जिसमें उनकी दुबली और काली-पीली देह छिपती न थी। वक्त साढ़े नौ का होगा। ऐसे ही समय होलीवालों का एक दल घर में अनायास घुस आया और बाल्टियों पिचकारियों की मार से और गुलाल से उस दल ने उनका ऐसा सम्मान किया कि एक बार तो प्रेमचन्द चौंक गये। पलक मारते में वह तो सिर से पाँव तक कई रंग के पानी से भीग चुके थे। हड़बड़ाकर उठे, क्षण एक रुके, स्थिति पहचानी और फिर वह क़हक़हा लगाया कि मुझे अब तक याद है। बोले — अरे भाई जैनेन्द्र हम तो मेहमान हैं!

लेकिन जब आगत टोली ने आनेवाली टोलियों की ओर से 'मेहमान' को किसी प्रकार का अभय का आश्वासन नहीं दिया तो मुंशीजी ने कहा — तो फिर कौन कपड़े बदले। हम तो यहीं बैठे हैं खाट पर, आये जिसका जी चाहे!

उसी रोज़ शाम को उन्होंने जामिया मिल्लिया में हिन्दुस्तानी सभा का उद्घाटन किया। काफ़ी अच्छी उपस्थिति थी। मुंशीजी के मन में बड़ा सन्तोष हुआ। अगले महीने उन्होंने 'हंस' में लिखा—

'हिन्दुस्तान में शायद यह पहला मौक़ा था कि ८ मार्च को देहली की जामिया मिल्लिया में देहली के उर्दू और हिन्दी के अदीबों और साहित्यकारों ने मिलकर एक हिन्दुस्तानी सभा की बुनियाद डाली जिसका उद्देश्य यह होगा कि वह दोनों साहित्यिकों को एक-दूसरे के समीप लाये उनके अदीबों में मुहब्बत हमदर्दी और एकता पैदा करे उन्हें एक दूसरे के विचारों और भावों के जानने और समझने का मौक़ा दे, और हिन्दुस्तानी भाषा के विकास का आयोजन करे। एक समय था जब इल्म और फ़न की इतनी उन्नति और राजनीति में इतनी जागृति न होने पर भी आपस में बहुत कुछ मुहब्बत थी मगर ज़माने ने कुछ ऐसा पलटा खाया कि हिन्दी हिन्दुओं की ज़बान हो गयी और उर्दू मुसलमानों की। हिन्दुओं ने उर्दू से मुँह मोड़ना शुरू किया मुसलमानों ने हिन्दी से। अलग-अलग दो कैम्प हो गये और दोनों ज़बानें और साहित्य राजनीति के चक्कर में पड़ गये। हालाँकि अदब को राजनीति से कोई संबंध नहीं उसका विषय तो इंसान है और इंसान चाहे अपने माथे पर कोई लेबल लगाये वह इंसान ही है, मगर यह राजनीति का युग है और कोई उद्योग ऐसा नहीं जिस पर राजनीतिक संकीर्णता का रंग न चढ़ाया जा सके। इस तरह दोनों ज़बानें अलग होती जा रही हैं, और जिनसे हम अपनी ज़बान में बेतकल्लुफ़ बातचीत न कर सकें उनसे दिल क्योंकर मिलेगा। हिन्दी और उर्दू साहित्य बदकिस्मती से ऐसे ज़माने से गुज़रे जब साहित्य ने आम ज़िन्दगी से नाता तोड़-सा लिया था और उसकी सारी ताक़त विरह और विलाप के दुखड़े रोने में कटती थी या बहुत हुआ तो प्याले की तारीफ़ की और दुनिया की अनित्यता पर फ़िलासफ़ी बघारी लेकिन दुनिया में जो साहित्य पतित-जागत है उन्होंने क़ौम की तारीख़ बनायी है, उसकी संस्कृति बनायी है। अदीब ही क़ौम का पथदर्शक होता है। उसका दिल प्रेम की ज्योति से भरा होता है। उसमें तास्सुब और तंगख़याली के लिए जगह नहीं होती

मुंशीजी के लिए यह केवल भाषा का शास्त्रीय प्रश्न नहीं है और न केवल साहित्य का यह राष्ट्र की एकता का प्रश्न है। जिस काम को राजनीति के धुरंधर नहीं कर सके, बल्कि यों कहें कि जिस काम को राजनीति के धुरंधरों ने बिगाड़ने में कोई कसर नहीं उठा रखी, उसको बनाने की यह एक कोशिश है जिसकी सफलता में न जाने कितनी सुख-शान्ति और विफलता में न जाने कितना विध्वंस और विनाश छिपा हुआ है। इसीलिए तो मुंशीजी इस चीज़ के पीछे इस तरह पागल हैं—

एक काम जिसके लिए वह विशेषरूप से उपयुक्त हैं क्योंकि वह दुभाषिए हैं और समझते हैं कि एक की बात दूसरे को समझा सकते हैं। यह एक बड़ा काम है, राष्ट्र-निर्माणकारी काम जिसका बीड़ा मुंशीजी ने अपनी सीमित शक्तियों से ज़िन्दगी के इस आख़िरी दौर में उठाया है। भारतीय साहित्य परिषद् जवाब है उस प्रान्तीयता की भावना का जो जगह-जगह सिर उठा रही है और हिन्दुस्तानी का आन्दोलन जवाब है भारतीय इतिहास और भारतीय समाज के उस अनोखे हिन्दू-मुस्लिम सवाल का जिससे कावा काटकर निकल जाना किसी तरह मुमकिन नहीं। ज़िन्दगी भर उसी भाषा उसी संस्कृति को मुंशीजी ने बरता है लेकिन उतना शायद काफ़ी नहीं मुँडेर चढ़कर गुहार लगाना भी कभी-कभी ज़रूरी हो जाता है और इधर साल दो बरस से मुंशीजी यही तो कर रहे हैं, दौड़े जाते हैं कोसों कोस यही एक बात कहने के लिए, जिसके बारे में पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी को बतलाते हुए मुंशीजी ने ११ मार्च को लिखा —

इस बढ़ती हुई खाई को कैसे पाटा जाय। इन राजनीतिवालों से कुछ भी उम्मीद करना बेकार है। उनसे उदारमनस्क होने की आशा करना ही व्यर्थ है। लेखकों को ही अगुवाई करनी होगी। और मैं सब से अधिक मित्र के रूप में अगुवाई कर सकते हैं।

१ तारीख़ की रात को मुंशीजी बनारस लौटे तो इलाहाबाद से आया हुआ सज्जाद ज़हीर का ख़त उनकी राह देख रहा था। लखनऊ में कांग्रेस अधिवेशन के ही अवसर पर, प्रगतिशील लेखक सम्मेलन करने का प्रस्ताव था और उसका सभापतित्व करने के लिए मुंशीजी से अनुरोध किया गया था।

मुंशीजी ने लिखा —

●सभापतित्व की बात मैं इसके योग्य नहीं। नम्रतावश नहीं कहता मैं अपने में कमज़ोरी पाता हूँ। मिस्टर कन्हैयालाल मुंशी मुझसे बेहतर होंगे या डाक्टर ज़ाकिर हुसैन। पंडित जवाहरलाल नेहरू तो बड़े व्यस्त होंगे नहीं वे एकदम उपयुक्त होते। इस अवसर पर सभी राजनीति के नशे में चूर होंगे साहित्य से शायद ही किसी को दिलचस्पी हो। लेकिन हमें कुछ न कुछ तो करना है। अगर जवाहरलाल ने दिलचस्पी ली तो अधिवेशन सफल हो जायगा।

मेरे पास इस वक्त भी सभापतित्व के लिए दो जगह के निमंत्रण पड़े हैं — एक लाहौर के हिन्दी-सम्मेलन का दूसरा हैदराबाद (दकन) की हिन्दी प्रचार सभा का। मैं इनकार कर रहा हूँ पर वह लोग इसरार कर रहे हैं। कहीं-कहीं प्रिसाइड

करें। हमारी सभा में कोई बाहर का आदमी सभापति बने तो ज्यादा अच्छा हो। मजबूरी दर्जा मैं तो हूँ ही। कुछ सोच्या लेना।

और क्या लिखूँ। तुम जरा पण्डित अमरनाथ झा को तो आजमाओ। उन्हें तो साहित्य से दिलचस्पी भी है और शायद वे सभापति होना स्वीकार कर लें।●

पण्डित अमरनाथ झा की लायब्रेरी में बराबर स्थानीय शाखा की बैठकें होती थीं और लिखा जाता तो शायद वह राजी भी हो जाते। पर उन लोगों को सबसे ज्यादा मुंशीजी का नाम भाता था और वह इतनी आसानी से मुंशीजी को छोड़ने के लिए तैयार न थे। सज्जाद ज़हीर ने फिर लिखा, फिर फिर लिखा। आखिरकार १९ मार्च को मुंशीजी ने रजामंद होते हुए जवाब दिया —

अगर हमारे लिए कोई योग्य सभापति नहीं मिलता तो मुझी को रख लीजिए। मुश्किल यही है कि मुझे पूरे का पूरा भाषण लिखना पड़ेगा। मेरे भाषण में आप किन समस्याओं पर बहस चाहते हैं इसका कुछ इशारा कर दीजिए। मैं तो डरता हूँ मेरा भाषण अकेला ही ज्यादा निराशाजनक न हो। साथ ही लिख दो ताकि वहाँ आने से पहले तैयार कर लूँ।

भारतीय साहित्य परिषद् की बैठक १४ अप्रैल को वर्धा में होने की बात थी उसी की तरफ मुंशीजी का इशारा था लेकिन फिर वह बैठक स्थगित हो गयी और हिन्दी साहित्य सम्मेलन के नागपुर अधिवेशन के साथ-साथ २४ अप्रैल को हुई।

प्रगतिशील लेखक सम्मेलन ९,१० अप्रैल को था। संगठन की जो हालत थी उसके बारे में खुद सज्जाद ज़हीर का बयान सुनिए —

● ज्यों-ज्यों कान्फ्रेन्स का दिन निकट आता हमारी घबराहट बढ़ती जाती। रुपयों की कमी के कारण हम अपने प्रतिनिधियों को ठहराने और उनके खाने-पीने का प्रबंध भी न कर सकते थे। कुछ को हमने अपने मित्रों और रिश्तेदारों के यहाँ ठहराने की व्यवस्था की थी। बहुत से कांग्रेस के कैम्प में जाकर टिक गये थे वहाँ एक झोपड़ी चन्द रुपयों के किराये पर मिल जाती थी और खाना सस्ता था। कुछ युनिवर्सिटी के होस्टल के खाली कमरों में ठहरे।

बाहर से आनेवाले साथियों का स्वागत रेलवे स्टेशन पर करना भी हमारे बस का नहीं था। तीन-चार आदमी आखिर क्या-क्या करते? तो भी अपनी कान्फ्रेंस के प्रधान मुंशी प्रेमचन्द को स्टेशन से लेने के लिए जाने का फैसला हमने किया था। महमूद किसी और काम में लगे हुए थे इसलिए रशीदा और मैंने तय किया कि हम दोनों स्टेशन पर जायेंगे। कहीं से थोड़ी देर के लिए हमने एक कार भी माँग ली थी।

सुबह का समय था। गाड़ी नौ बजे के लगभग आने को थी। हमने सोचा कि साढ़े आठ बजे घर से रवाना होंगे। हम आठ बजे के करीब बैठे चाय पी रहे थे कि

घर में एक ताँगे के दाखिल होने की आवाज़ आयी और साथ ही साथ एक नौकर ने आकर मुझे इत्तिला दी कि बाहर कोई साहब मुझे बुला रहे हैं। मैं बाहर निकला तो देखा प्रेमचन्द जी

लेकिन इससे पहले कि मैं कुछ कहूँ प्रेमचन्द हँसते हुए बोले—भाई, तुम्हारा घर बड़ी मुश्किल से मिला। बड़ी देर से इधर-उधर चक्कर लगा रहे हैं।

इतने में रशीदा भी बाहर निकल आयी और हम दोनों अपनी सफ़ाई देने लगे। पता चला कि हमें ट्रेन के समय की सूचना ग़लत मिली थी। पहली अप्रैल से वक्त बदल गया। लेकिन अब उलटे प्रेमचन्द जी अपनी सफ़ाई देने लगे—हाँ मुझे चाहिए था कि चलने से पहले तुम लोगों को तार भेज देता लेकिन मैंने सोचा क्या ज़रूरत है अगर स्टेशन पर कोई न मिला तो ताँगा लेकर सीधा तुम्हारे घर चला आऊँगा

और मैं दिल में सोच रहा था कि दूसरे सम्मेलनों के सभापतियों का बड़ा शानदार स्वागत किया जाता है उन्हें प्लेटफ़ार्म पर हार पहनाये जाते हैं उनके जुलूस निकलते हैं और उनकी जय-जयकार होती है और एक हमारे सभापति मुंशी प्रेमचंद हैं कि खुद अपनी जेब से रेल का टिकट खरीदकर चुपके से आ गये हैं स्टेशन पर स्वागत करनेवाला तो क्या राह बतानेवाला भी उन्हें कोई न मिला। एक मामूली से ताँगे पर बैठकर खुद ही बड़ी बेतकल्लुफ़ी से सम्मेलन के मुंतज़िमों के घर चले आये हैं और शिकायत करना तो दूर की बात है उनके माथे पर एक बल नहीं पड़ा •

नाश्ते-वाश्ते के बाद ज़हीर ने उनके भाषण के बारे में पूछा तो मुंशीजी ने निकालकर दे दिया और एक ज़ोर का कहकहा लगाया। ज़हीर ने यहाँ-वहाँ उलट-पलटकर देखा और कहा—ज़बान तो आपकी ज़रा सकील हो गयी है।

मुंशीजी ने दुबारा कहकहा लगाया और कहा—मैंने कहा लाओ ऐसी ज़बान लिख दूँ कि यह लोग भी याद करें

और फिर ज़रा रुककर—आखिर कायस्थ का बेटा हूँ।

इसमें शक नहीं कि वह काफ़ी गरिष्ठ उर्दू थी जो गैर उर्दूदाँ लोगों ने कम ही पढ़ी होगी और ठीक ही था कि उन्होंने इसके लिए मुंशीजी की अच्छी खबर ली।

अहमद अली सज्जाद ज़हीर, अब्दुल हक़ जोश मलीहाबादी फ़िराक़ गोरखपुरी एजाज़ हुसैन—इस तहरीक के सिलसिले में अब तक मुंशीजी का उठना बैठना चिट्ठी-पत्री इन्हीं लोगों से हुई थी और शायद कुछ ऐसा ख़याल उनके दिल में बैठ गया था कि यह उर्दू लेखकों का सम्मेलन होने जा रहा है। फिर

गया था। मुंशीजी प्रगति के रंग में डूबी हुई, परिष्कृत-परिमार्जित उर्दू में अपना अभिभाषण लिखकर ले गये।

मगर बातें जो कहीं वह कलम मारा, बहुत साफ़, बहुत सच्ची और बड़े जोश और बड़ी गर्मी के साथ —

●भाषा साधन है साध्य नहीं।

निस्संदेह काव्य और साहित्य का उद्देश्य हमारी अनुभूतियों की तीव्रता को बढ़ाना है पर मनुष्य का जीवन केवल स्त्री-पुरुष प्रेम का जीवन नहीं है।

नीतिशास्त्र और साहित्यशास्त्र का लक्ष्य एक ही है — केवल उपदेश की विधि में अंतर है। नीतिशास्त्र तर्कों और उपदेशों के द्वारा बुद्धि और मन पर प्रभाव डालने का यत्न करता है साहित्य ने अपने लिए मानसिक अवस्थाओं और भावों का क्षेत्र चुन लिया है

पुराने ज़माने में समाज की लगाम मज़हब के हाथ में थी पुण्य-पाप के मसले उसके साधन थे। अब साहित्य ने यह काम अपने ज़िम्मे ले लिया है और उसका साधन सौन्दर्य प्रेम है ●

डेढ़-दो घंटे के इस व्याख्यान में साहित्य के सत्य शिव और सुन्दर तत्व की ही व्याख्या की गयी थी पर वह शास्त्रिक या निरी शास्त्रीय व्याख्या न थी — उसके एक-एक शब्द के पीछे एक गुनी साहित्यकार का अपना जीवन-अनुभव बोल रहा था उसके एक-एक शब्द में उसके हृदय का आवेग था उसकी निष्ठा का बल था।

सौन्दर्य की चर्चा करते हुए मुंशीजी ने अपने ध्यानमग्न श्रोताओं से कहा —

प्रश्न यह है कि सौन्दर्य है क्या वस्तु? हमने सूरज का उगना और डूबना देखा है, ऊषा और सन्ध्या की लालिमा देखी है सुन्दर सुगंध भरे फूल देखे हैं, मीठी बोलियाँ बोलनेवाली चिड़ियाँ देखी हैं, कलकलनिनादिनी नदियाँ देखी हैं, नाचते हुए झरने देखे हैं — यही सौन्दर्य है। इन दृश्यों को देखकर हमारा अंतःकरण क्यों खिल उठता है? इसलिए कि इनमें रंग या ध्वनि का सामंजस्य है। बाजों का स्वरसाम्य अथवा मेल ही संगीत की मोहकता का कारण है। हमारी रचना ही तत्वों के समानुपात में संयोग से हुई है इसलिए हमारी आत्मा सदा उसी साम्य तथा सामंजस्य की खोज में रहती है

और जब कहीं उसको यह चीज़ मिल जाती है वहीं रोयें फुरफुरा उठते हैं, आँखें गीली हो जाती हैं। यही रस है प्रकृति और पुरुष का आलिंगन आत्मा की ज्ञानहीन भाषा में आत्मा और विश्वात्मा का क्षणिक मिलन आत्मा की आत्म उपलब्धि और फिर वियोग और फिर यात्रा उसी एक खोज में जिसे इक़बाल ने इस तरह कहा है —

रम्जे हयात जोई जुज़ दर तपिश न याबी
दर क़ुल्ज़ुम आरमीदन नंगस्त आबे जू रा।
ब आशियाँ न नशीनम ज़े लज़्ज़ते परवाज़
गहे बशाख़े गुलम गहे बर लबे जूयम।

(अगर तुझे जीवन के रहस्य की खोज है तो वह तुझे संघर्ष के सिवा और कहीं नहीं मिलने का — सागर में जाकर विश्राम करना नदी के लिए लज्जा की बात है। उड़ने में मुझे जो आनन्द मिलता है उसके मारे मैं कभी घोंसले में नहीं बैठता — कभी फूलों की डालियों पर तो कभी नदी किनारे होता हूँ।)

इक़बाल मुंशीजी को बेहद पसन्द है। उन्हें जहाँ अपनी किसी बड़ी बात के लिए सनद की ज़रूरत होती है वह फ़ौरन इक़बाल के पास दौड़ते हैं। अक्षेप गति के अपने उसी जीवनदर्शन को मुंशीजी ने इक़बाल के शब्दों में यों रखा —

चूँ मौज साज़े वजूदम ज़े सैल बेपरवास्त
गुमाँ मबर कि दरीं बह्र साहिले जोयम।

(तरंग की भाँति मेरे जीवन की तरी भी लहरों की तरफ़ से बेपरवाह है यह न समझो कि मैं इस समुद्र में किनारा ढूँढ रहा हूँ।)

उद्दाम पौरुष की वाणी थी —

दर दश्ते जुनूने मन जिब्रील ज़बूँ सैदे,
यज़दाँ बकमन्द आवर, ऐ हिम्मते मर्दाना।

(मेरे उन्मत्त हाथों के लिए जिब्रील एक घटिया शिकार है। ऐ हिम्मते मर्दाना क्यों न अपनी कमन्द में तू ख़ुदा को ही फाँस लाय ?)

और अपने स्वाभिमान की झनकार सुनायी —

नखुस्त आज़ादम ओ चुनाँ ग़यूरम कि मरा
मी तवाँ कुश्त बयक जामे ज़ुलाले दिगराँ।

(मैं आज़ाद आदमी हूँ और इतना ख़ुद्दार, इतना ग़ैरतमंद हूँ कि मुझे दूसरों के निथारे हुए पानी के एक प्याले से मारा जा सकता है — यानी कि मैं पानी भी वही पी सकता हूँ जिसे मैंने ख़ुद निथारा हो।)

जीवन की कठोर पाठशाला में पढ़कर सारी उम्र में जो कुछ सीखा जो कुछ पाया वह सब मुंशीजी ने निचोड़कर अपने इस व्याख्यान में रख दिया — यक़ीन

जानिए, वह बड़ी तेज़ दो-आतिशा शराब थी जिसका मज़ा उन्हीं को मालूम है जो उस जलसे में मौजूद थे।

यहाँ कहीं कोई छिपाव-दुराव नहीं, लाग-लपेट नहीं, बस निर्भीक घोषणा अपने जीवन के सत्य की —

'मुझे यह कहने में हिचक नहीं कि मैं और चीज़ों की तरह कला को भी उपयोगिता की तुला पर तौलता हूँ। हमें सुन्दरता की कसौटी बदलनी होगी। कला नाम था और अब भी है संकुचित रूप-पूजा का... उसकी दृष्टि अभी इतनी व्यापक नहीं कि जीवन-संग्राम में सौन्दर्य का परमोत्कर्ष देखे। उसके लिए सौन्दर्य सुन्दर स्त्री में है — उस बच्चोंवाली गरीब रूपहीन स्त्री में नहीं जो बच्चे को खेत की मेड़ पर सुलाये पसीना बहा रही है। पर यह संकीर्ण दृष्टि का दोष है। अगर उसकी सौन्दर्य देखनेवाली दृष्टि में विस्तृति आ जाय तो वह देखेगा कि रँगे होठों और कपोलों की आड़ में अगर रूप-गर्व और निष्ठुरता छिपी है तो इन मुरझाये हुए होठों और कुम्हलाये हुए गालों के आँसुओं में त्याग, श्रद्धा और कष्ट-सहिष्णुता है।'

सत्य की, सुन्दर की यह एक नयी, सामंजस्यपूर्ण, जीवन-संवलित दृष्टि है जिसकी ऐसी स्पष्ट व्याख्या शायद पहली बार इस देश की धरती पर हो रही थी।

और फिर अंत में वह चीज़ जो शायद कभी मन में करकती थी, लेकिन अब ज़रा नहीं करकती, जीवन की उदात्त दृष्टि में उसे अपना शान्त समाहार मिल गया है —

'जिन्हें धन-वैभव प्यारा है, साहित्य-मंदिर में उनके लिए स्थान नहीं है। यहाँ तो उन उपासकों की ज़रूरत है जिन्होंने सेवा को ही अपने जीवन की सार्थकता मान लिया हो, जिनके दिल में दर्द की तड़प हो और मुहब्बत का जोश हो। अपनी इज़्ज़त तो अपने हाथ है। अगर हम सच्चे दिल से समाज की सेवा करेंगे तो मान, प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि सभी हमारे पाँव चूमेंगी। फिर मान-प्रतिष्ठा की चिन्ता हमें क्यों सताये? और उसके न मिलने से हम निराश क्यों हों? सेवा में जो आध्यात्मिक आनन्द है वही हमारा पुरस्कार है — हमें समाज पर अपना बड़प्पन जताने, उस पर रोब जमाने की हवस क्यों हो? दूसरों से ज़्यादा आराम के साथ रहने की इच्छा भी हमें क्यों सताये? हम अमीरों की श्रेणी में अपनी गिनती क्यों करायें? हम तो समाज का झण्डा लेकर चलनेवाले सिपाही हैं'

खचाखच भरे हाल में तिल रखने को जगह न थी और सन्नाटा छाया हुआ था। यह एक नयी ज़मीन थी और एक नयी ज़बान।

पहली अप्रैल को मुंशीजी ने दयानरायन निगम को लिखा था —

"मैंने तो इधर तीन माह से एक अफ़साना भी नहीं लिखा। बस 'जागरण' में कालम लिखा था। इसके बाद लिखने की नौबत ही न आयी। हाँ यार, इन जलसों के मारे परेशान हूँ। मैंने मिस्टर सम्पादक लाहौर से बहुतेरा कहा भाई, मुआफ़ करो मुझे अपना काम करने दो। मगर न माने। १० को लखनऊ, और लाहौर में आर्यसमाज की जुबली के साथ एक आर्यभाषा सम्मेलन हो रहा है जहाँ ११ को मुझे सम्मेलन का सद्र बनना है और वहाँ जाऊँगा तो चार-पाँच दिन लग ही जायेंगे। मैंने अपनी मजबूरी लिख दी है। मगर साहब माने तो ठीक वर्ना वहाँ भी जाना ही पड़ेगा। अगर मुझे बोलने का शऊर होता तो ऐसे न्योते बड़ी खुशी से मंजूर कर लिया करता मगर यहाँ तो वह गुन ही नहीं। इसलिए जान बचाता फिरता हूँ। मुफ़्त की परेशानी होती है और जिस काम से रोज़ी मिलती है उसमें खलल पड़ता है। इरादा तो यही था कि लखनऊ से एक-दो रोज़ के लिए कानपुर जाऊँगा मगर अब तो लखनऊ से १ की शब को लाहौर भागना पड़ेगा।"

निगम साहब बहरसूरत लखनऊ पहुँच गये थे दोनों दोस्त मिल लिये। निगम साहब ने मुंशीजी का वह जवाबी ख़ुतबा जिसने सब पर एक जादू सा फेर दिया था उसी वक़्त 'ज़माना' के लिए ले लिया और मुंशीजी १० की रात को लाहौर चले गये।

लाहौर में मुंशीजी का स्वागत बड़े ज़ोर-शोर से हुआ। अमृतधारा वालों के यहाँ उनको ठहराया गया। सैकड़ों लोग मिलने आये दर्जनों मीटिंगें हुईं और पहली बार मुंशीजी को इसका एहसास हुआ कि पंजाब में औरतों और मर्दों सबके बीच उनके पढ़नेवाले और उनके चाहनेवाले कितने हैं।

मुंशीजी ने अपने भाषण में सबसे पहले आर्यसमाज का बखान करते हुए कहा —

मैं तो आर्यसमाज को जितनी धार्मिक संस्था समझता हूँ उतनी तहज़ीबी (सांस्कृतिक) संस्था भी समझता हूँ। बल्कि आप क्षमा करें तो मैं कहूँगा कि उसके तहज़ीबी कारनामे उसके धार्मिक कारनामों से ज़्यादा प्रसिद्ध और रोशन हैं। हरिजनों के उद्धार में सबसे पहले आर्यसमाज ने क़दम उठाया। लड़कियों की शिक्षा की ज़रूरत को सबसे पहले उसने समझा। वर्ण-व्यवस्था को जन्मगत न मानकर कर्मगत सिद्ध करने का सेहरा उसके सर है। जातिभेद-भाव और खान पान में छूत-छात और चौके-चूल्हे की बाधाओं को मिटाने का गौरव उसी को प्राप्त है। यह ठीक है कि ब्रह्म समाज ने इस दिशा में पहले क़दम रखा पर वह थोड़े

से अंग्रेज़ी पढ़े-लिखों तक ही रह गया। इस विचार को जनता तक पहुँचाने का बीड़ा आर्यसमाज ही ने उठाया। अंधविश्वास और धर्म के नाम पर किये जाने वाले हज़ारों अनाचारों की कब्र उसने खोदी हालाँकि मुर्दे को उसमें दफ़न न कर सका और अभी तक उसका ज़हरीला दुर्गन्ध उड़ उड़कर समाज को दूषित कर रहा है

जिसके खिलाफ़ आर्यसमाज की अब एक नहीं चलती क्योंकि उसने चलते चलते कुछ नयी रूढ़ियों से अपने को जकड़ लिया है। लेकिन वह बात इस समय यहाँ कहने की नहीं है क्या फ़ायदा। हर बात हर वक्त कहने की नहीं होती।

उसके उपन्यासों ने वेदों और वेदान्तों के गहन विषयों को जनसाधारण की सम्पत्ति बना दिया जिन पर विद्वानों और आचार्यों के कई-कई तालेवाले ताले लगे हुए थे। गुरुकुलाश्रम को नया जन्म देकर आर्यसमाज ने शिक्षा को संपूर्ण बनाने का महान उद्योग किया है। संपूर्ण से मेरा आशय उस शिक्षा का है जो सर्वांग पूर्ण हो जिसमें मन-बुद्धि चरित्र और देह सभी के विकास का अवसर मिले। वह शिक्षा जो सिर्फ़ अक्ल तक ही रह जाय अधूरी है। जिन संस्थाओं में युवकों में समाज से पृथक रहनेवाली मनोवृत्ति पैदा हो जो अमीर और गरीब के भेद को न सिर्फ़ कायम रखे बल्कि और मज़बूत करे, जहाँ पुरुषार्थ इतना कोमल बना दिया जाय कि उसमें मुश्किलों का सामना करने की शक्ति न रह जाय जहाँ कला और संयम में कोई मेल न हो उस शिक्षा का मैं क़ायल नहीं हूँ।

फिर अपने असल विषय हिन्दी-उर्दू की एकता पर आते हुए मुंशीजी ने कहा —

"मैं यहाँ हिन्दी भाषा की उत्पत्ति और विकास की कथा नहीं कहना चाहता वह सारी कथा भाषा-विज्ञान की पोथियों में लिखी हुई है। हमारे लिए इतना ही जानना काफ़ी है कि आज हिन्दुस्तान के पन्द्रह-सोलह करोड़ लोगों के सभ्य व्यवहार और साहित्य की यही भाषा है। हाँ वह लिखी जाती है दो लिपियों में और उसी एतबार से हम उसे हिन्दी या उर्दू कहते हैं। पर है वह एक ही। बोलचाल में तो उसमें बहुत कम फ़र्क है। हाँ लिखने में वह फ़र्क बढ़ जाता है।

भाषा के विकास में हमारी संस्कृति की छाप होती है और जहाँ संस्कृति में भेद होगा वहाँ भाषा में भेद होना स्वाभाविक है। जिस भाषा का हम और आप व्यवहार कर रहे हैं वह दिल्ली प्रान्त की भाषा है। मुसलमानों ही ने दिल्ली प्रान्त की इस बोली को जिसको उस वक़्त तक भाषा का पद न मिला था व्यवहार में लाकर उसे दरबार की भाषा बना दिया और दिल्ली के उमरा और सामन्त

जिन प्रान्तों में गये हिन्दी भाषा को साथ लेते गये। उन्हीं के साथ वह दक्खिन में पहुँची और उसका बचपन दक्खिन ही में गुज़रा। आपको शायद मालूम होगा कि हिन्दी की सबसे पहली रचना खुसरो ने की है जो मुग़लों से भी पहले ख़िलजी राज्यकाल में हुए —

जब यार देखा नैन भर, दिल की गयी चिन्ता उतर।
ऐसा नहीं कोई अजब राखे उसे समझाय कर।
जब आँख से ओझल भया तड़पन लगा मेरा जिया
हक्का इलाही क्या किया आँसू चले भर लाय कर।
तू तो हमारा यार है तुझ पर हमारा प्यार है,
तुझ दोस्ती बिसियार है एक शब मिलो तुम आय कर।●

कौन कहेगा कि यह हिन्दी नहीं है मगर दुर्भाग्य से यह चीज़ चली नहीं और घटनाओं का कुछ ऐसा चक्र चला कि एक ही माँ के पेट से पैदा होनेवाली ये दोनों बहनें सौतें बन गयीं। और यह सारी करामात फ़ोर्ट विलियम की है जिसने एक ही ज़बान के दो रूप मान लिये। इसमें भी उस वक्त कोई राजनीति काम कर रही थी या उस वक्त भी दोनों ज़बानों में काफ़ी फ़र्क़ आ गया था यह हम नहीं कह सकते। लेकिन जिन हाथों ने यहाँ की ज़बान के उस वक्त दो टुकड़े कर दिये उसने हमारी क़ौमी ज़िन्दगी के दो टुकड़े कर दिये।

यह अलगाव का रास्ता एक तरफ़ संस्कृत और दूसरी तरफ़ फ़ारसी-अरबी की ठूँस-ठाँस का रास्ता गलत है, दोनों ही ज़बानों के लिए घातक है —

दोनों तरफ़ से इस मनमुटाव का सबब शायद यही है कि हमारा पढ़ा-लिखा समाज जनता से अलग-अलग होता जा रहा है और उसे इसकी खबर ही नहीं कि जनता किस तरह अपने भावों और विचारों को अदा करती है। ऐसी ज़बान जिसके लिखने और समझनेवाले थोड़े से पढ़े-लिखे लोग ही हों मसनूई, बेजान और बोझल हो जाती है। जनता का मर्म स्पर्श करने की उन तक अपना पैग़ाम पहुँचाने की उसमें कोई शक्ति नहीं रहती। वह उस तालाब की तरह है जिसके घाट संगमर्मर के बने हों जिसमें कमल खिले हों लेकिन उसका पानी बन्द हो। क्या उस पानी में वह मज़ा वह सेहत देनेवाली ताज़गी वह सफ़ाई है जो खुली हुई धारा में होती है? क़ौम की ज़बान वह है जिसे क़ौम समझे जिसमें क़ौम की आत्मा हो जिसमें क़ौम के जज़्बात हों। अगर पढ़-लिखे समाज की ज़बान ही क़ौम की ज़बान है तो क्यों न हम अंग्रेज़ी को क़ौम की ज़बान समझें क्योंकि मेरा तजरबा है कि आज पढ़ा-लिखा समाज जिस बेतकल्लुफ़ी से अंग्रेज़ी बोल सकता है और जिस रवानी के साथ अंग्रेज़ी

लिख सकता है उर्दू या हिन्दी बोल या लिख नहीं सकता। बड़े-बड़े दफ्तरों में और ऊँचे दायरे में आज भी किसी को उर्दू-हिन्दी बोलने की महीनों बरसों ज़रूरत नहीं होती। खानसामे और बैरे भी ऐसे रखे जाते हैं जो अंग्रेजी बोलते और समझते हैं। जो लोग इस तरह की ज़िन्दगी बसर करने के शौकीन हैं उनके लिए तो उर्दू हिन्दी-हिन्दुस्तानी का कोई झगड़ा ही नहीं। वह इतनी बुलन्दी पर पहुँच गये हैं कि नीचे की धूल और गर्मी उन पर कोई असर नहीं कर सकती। वह मुअल्लक हवा में लटके रह सकते हैं। लेकिन हम सब तो हज़ार कोशिश करने पर भी वहाँ तक नहीं पहुँच सकते। हम तो इसी धूल और गर्मी में जीना और मरना है।

हवा में लटके हुए उन अंग्रेजी के शैदाइयों को मुखातिब करके मुंशीजी ने इकबाल का शेर पढ़ा —

ता कुजा दर तहे बाले दिगराँ मी बाशी
दर हवाये चमन आज़ाद परीदन आमोज़।
दर जहाँ बालो-परे ख़ेश कुशूदन आमोज़
कि परीदन न तवाँ बा परो-बाले दिगराँ।

(दूसरों के डैनों का आश्रय तुम कब तक लोगे? चमन की हवा में आज़ाद होकर उड़ना सीखो। दुनिया में अपने डैने-पंखे को फैलाना सीखो क्योंकि दूसरे के डैने-पंखों के सहारे उड़ना संभव नहीं है।)

और अपने जैसे साधारण लोगों से कहा —

दिलों की दूरी भाषा की दूरी का मुख्य कारण है। आपस में हेलमेल से उस दूरी को दूर करना होगा। हम दोनों ही के लिए दोनों लिपियों का और दोनों भाषाओं का ज्ञान लाज़िमी है। और जब हम ज़िन्दगी के पन्द्रह साल अंग्रेजी हासिल करने में कुर्बान करते हैं तो क्या महीने दो महीने भी उस लिपि और साहित्य का ज्ञान प्राप्त करने में नहीं लगा सकते जिस पर हमारी क़ौमी तरक्की ही नहीं क़ौमी ज़िन्दगी का दारोमदार है?

यह एक ज़िन्दगी का सपना है जिसे मुंशीजी ने ख़ुद अपने अमल के भीतर से पाया है और जो अपनी आँखों के आगे बिखरा जा रहा है। कैसे बचायें उसको?

और मुंशीजी जो यात्रा के नाम से कान पर हाथ रखते आये हैं, अपने इस एकता के स्वप्न की रक्षा में अब तक बम्बई, मद्रास, दिल्ली, लाहौर, मैसूर, बेंगलूर, इलाहाबाद, पूर्णिया दूर-पास कहाँ-कहाँ की ख़ाक नहीं छान चुके हैं

जिन प्रान्तों में गये हिन्दी भाषा को साथ लेते गये। उन्हीं के साथ वह दक्खिन में पहुँची और उसका बचपन दक्खिन ही में गुज़रा। आपको शायद मालूम होगा कि हिन्दी की सबसे पहली रचना खुसरो ने की है जो मुग़लों से भी पहले खिलजी राज्यकाल में हुए —

जब यार देखा नैन भर, दिल की गयी चिन्ता उतर।
ऐसा नहीं कोई अजब राखे उसे समझाय कर।
जब आँख से ओझल भया तड़पन लगा मेरा जिया
हक्का इलाही क्या किया आँसू चले भर लाय कर।
तूँ तो हमारा यार है तुम पर हमारा प्यार है,
तुझ दोस्ती बिसियार है, यक शब मिलो तुम आय कर।●

कौन कहेगा कि यह हिन्दी नहीं है मगर दुर्भाग्य से यह चीज़ चली नहीं और घटनाओं का कुछ ऐसा चक्र चला कि एक ही माँ के पेट से पैदा होनेवाली ये दोनों बहनें सौतें बन गयी। और यह सारी करामात फ़ोर्ट विलियम की है जिसने एक ही ज़बान के दो रूप मान लिये। इसमें भी उस वक़्त कोई राजनीति काम कर रही थी या उस वक़्त भी दोनों ज़बानों में काफ़ी फ़र्क़ आ गया था यह हम नहीं कह सकते। लेकिन जिन हाथों ने यहाँ की ज़बान के उस वक़्त दो टुकड़े कर दिये उसने हमारी क़ौमी ज़िन्दगी के दो टुकड़े कर दिये।

यह अलगाव का रास्ता एक तरफ़ संस्कृत और दूसरी तरफ़ फ़ारसी-अरबी की ठूँस-ठाँस का रास्ता ग़लत है, दोनों ही ज़बानों के लिए घातक है —

दोनों तरफ़ से इस अलहदगी का सबब शायद यही है कि हमारा पढ़ा-लिखा समाज जनता से अलग-अलग होता जा रहा है और उसे इसकी ख़बर ही नहीं कि जनता किस तरह अपने भावों और विचारों को अदा करती है। ऐसी ज़बान जिसके लिखने और समझनेवाले थोड़े से पढ़े-लिखे लोग ही हों मसनुई बेजान और बोझल हो जाती है। जनता का मर्म स्पर्श करने की उन तक अपना पैग़ाम पहुँचाने की उसमें कोई शक्ति नहीं रहती। वह उस तालाब की तरह है जिसके घाट संगमर्मर के बने हों जिसमें कमल खिले हों लेकिन उसका पानी बंद हो। क्या उस पानी में वह मज़ा वह सेहत देनेवाली ताक़त वह सफ़ाई है जो खुली हुई धारा में होती है? क़ौम की ज़बान वह है जिसे क़ौम समझे जिसमें क़ौम की आत्मा हो जिसमें क़ौम के जज़्बात हों। अगर पढ़े-लिखे समाज की ज़बान ही क़ौम की ज़बान है तो क्यों न हम अंग्रेज़ी को क़ौम की ज़बान समझें क्योंकि मेरा तजरबा है कि आज पढ़ा-लिखा समाज जिस बेतकल्लुफ़ी से अंग्रेज़ी बोल सकता है और जिस रवानी के साथ अंग्रेज़ी

लिख सकता है, उर्दू या हिन्दी वाला या लिख नहीं सकता। बड़े-बड़े दफ़्तरों में और ऊँचे दायरे में आज भी किसी को उर्दू-हिन्दी बोलने की महीनों बरसों ज़रूरत नहीं होती। खानसामे और बैरे भी ऐसे रखे जाते हैं जो अंग्रेज़ी बोलते और समझते हैं। जो लोग इस तरह की ज़िन्दगी बसर करने के शौकीन हैं उनके लिए तो उर्दू हिन्दी-हिन्दुस्तानी का कोई झगड़ा ही नहीं। वह इतनी बुलंदी पर पहुँच गये हैं कि नीचे की धूल और गर्मी उन पर कोई असर नहीं कर सकती। वह मुअल्लक हवा में लटके रह सकते हैं। लेकिन हम सब तो हज़ार कोशिश करने पर भी वहाँ तक नहीं पहुँच सकते। हमें तो इसी धूल और गर्मी में जीना और मरना है।

हवा में लटके हुए उन अमीरों के शैदाइयों को मुख़ातिब करके मुंशीजी ने इक़बाल का शेर पढ़ा —

ता कुजा दर तह बाले दिगराँ मी बाशी
दर हवाए चमन आज़ाद परीदन आमोज़।
दर जहाँ बालो-परे खेश कुशूदन आमोज़
कि परीदन न तवाँ बा परो-बाले दिगराँ।

(दूसरों के डैनों का आश्रय तुम कब तक लोगे? चमन की हवा में आज़ाद होकर उड़ना सीखो। दुनिया में अपने डैने-पंख को फैलाना सीखो क्योंकि दूसरे के डैने-पंखों के सहारे उड़ना संभव नहीं है।)

और अपने जैसे साधारण लोगों से कहा —

दिलों की दूरी भाषा की दूरी का मुख्य कारण है। आपस में हेलमेल से उस दूरी को दूर करना होगा। हम दोनों ही के लिए दोनों लिपियों का और दोनों भाषाओं का ज्ञान लाज़िमी है। और जब हम ज़िन्दगी के पन्द्रह साल अंग्रेज़ी हासिल करने में सर्फ़ करते हैं तो क्या महीने दो महीने भी इस लिपि और साहित्य का ज्ञान प्राप्त करने में नहीं लगा सकते जिस पर हमारी क़ौमी तरक्की ही नहीं क़ौमी ज़िन्दगी का दारोमदार है?

यह एक ज़िन्दगी का सपना है जिसे मुंशीजी ने खुद अपने अन्तर के भीतर से पाया है और जो अपनी आँखों के आगे बिखरता जा रहा है। कैसे बचायें उसको?

और मुंशीजी भाषा के नाम से जान पर हाथ रखते आये हैं। उनने इस एकता के स्वप्न की रक्षा में अब तक बम्बई, मद्रास, दिल्ली, लाहौर, मैसूर, बैंगलूर, इलाहाबाद, लुधियाना, दूर-पास कहाँ-कहाँ की खाक नहीं छान चुके हैं

इस बार मुंशीजी दस-बारह रोज लाहौर रहे और दर्जनों मीटिंगों में बोले कहीं प्रगतिशील साहित्य के आन्दोलन के बारे में जिसकी सदारत करके वह सीधे चले आ रहे थे और कहीं हिन्दुस्तानी सभा के बारे में जिसके वह बानी थे संस्थापक थे।

एक मीटिंग में जिसके सभापति बख्शी टेकचंद थे और जिसमें इम्तयाज अली ताज और मियाँ बशीर अहमद जैसे लोग भी मौजूद थे प्रेमचंद ने हिन्दुस्तानी आन्दोलन के बारे में विस्तार से बतलाया। उनकी बातों का इतना असर पड़ा या यों कहिए कुछ ऐसी फ़िज़ा बन गयी कि सच्चे मन से लोग दोनों ज़बानों की एकता की तरफ़ एक कदम बढ़े जिसका एक छोटा सा मगर मार्मिक लक्षण यह था कि उसी मीटिंग में उर्दू लेखकों ने अपने भाषण में हिन्दी शब्दों का और हिन्दी लेखकों ने उर्दू शब्दों का प्रयोग किया और चाहे यहाँ वहाँ प्रयोग में कुछ ग़लती भी हुई हो (जैसे कि ताज साहब ने खुद अपने आने के लिए पधारना कहा और चन्द्रगुप्त विद्यालंकार ने कहा इससे पहले कि आप बर्खास्त हों) लेकिन उसके पीछे जो भावना काम कर रही थी उसमें कोई ग़लती न थी वह आदर करने की चीज़ थी।

हिन्दुस्तानी सभा बन गयी उसकी कार्यकारिणी भी चुन ली गयी—मगर कै दिन को ?

अगले हफ्ते नागपुर में कांग्रेस अधिवेशन हो रहा था और उसी मौक़े पर हिन्दी साहित्य सम्मेलन और भारतीय साहित्य परिषद् के अधिवेशन भी रखे गये थे।

२४ अप्रैल सन् ३६ का सबेरे नौ बजे नागपुर युनिवर्सिटी के कन्वोकेशन हाल में भारतीय साहित्य परिषद् का पहला (और अंतिम) अधिवेशन गांधीजी की अध्यक्षता में शुरू हुआ। पं जवाहर लाल नेहरू सम्मेलन के सभापति बाबू राजेन्द्र प्रसाद सरदार वल्लभ भाई पटेल सेठ जमनालाल बजाज चक्रवर्ती राजगोपालाचारी पुरुषोत्तमदास जी टण्डन कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी कस्तूरबा गांधी श्रीमती कमलाबाई किबे मुंशी प्रेमचन्द (जो लाहौर से सीधे भागे हुए आये थे) मौलाना अब्दुल हक़ काका कालेलकर जैनेन्द्रकुमार, माखनलाल चतुर्वेदी, जयचन्द्र विद्यालंकार, शंकरराव देव—साहित्य और राजनीति की दुनिया के एक से एक बड़े दिग्गज बैठे थे।

गांधीजी ने अपने खास हल्के-फुल्के घरेलू अंदाज में कहना शुरू किया—अगर मैंने जो लिखा है उसे व्याख्यान कहा जाय तो वह आपका छपा हुआ

बाँटा जा चुका है उसे आप पढ़ ही लेंगे। काका साहब ने कहा है कि हमारा मकसद देहातियों में देशसेवा का प्रचार करना है और भिन्न-भिन्न प्रान्तों में जो साहित्य पैदा हो रहा है उसका प्रचार अन्य प्रान्तों में करना है। इसका अर्थ यह है कि परिषद् परिभाषा हमें प्रचलित करना है इसलिए अपने बरेस सभापति ने मुझे यहाँ बैठा दिया है। मुझे मालूम नहीं है कि मुझे किसने सभापति चुन लिया। मेरा साहित्यिकों में क्या स्थान हो सकता है? मुझे हिन्दी साहित्य का तो क्या गुजराती साहित्य का भी अच्छा ज्ञान नहीं है। कुछ भाषों ने कहा है और मैं भी मानता हूँ कि मुझे गुजराती व्याकरण तक का पूरा ज्ञान नहीं है तब मैं यहाँ क्यों आया? मुझे काका साहब और मुंशीजी (कन्हैयालाल मुंशी) यहाँ लाये हैं। मुंशीजी ने मुझे बताया कि आप ही से यह काम हो सकेगा क्योंकि साहित्यिक तो बड़े-बड़े सिद्ध-से हैं। वे अपने पिंजड़े में सुरक्षित हैं। अगर वे इकट्ठे हो जायें तो कट भी मरें। इसलिए उनमें से किसी को नियुक्त करने से कोई काम नहीं है आपही उनको एकत्रित कर सकते हैं। मैं तो 'महात्मा' ही रहा। उन्होंने मान लिया कि महात्मा से सब कुछ हो सकता है

लोगों का ऐसा मानना कुछ गलत नहीं था लेकिन नियति या परिस्थिति का कुछ ऐसा व्यंग्य रहा कि उन्हीं के श्रीमुख से एक ऐसी बात सामने आयी जिसने लड़ाई का सूत्रपात किया—और जिससे कुछ ही महीने में भारतीय साहित्य परिषद् हमेशा के लिए ठण्डा हो गया।

हुआ यह कि उसी रोज उसी हाल में जब विषय-निर्वाचनी की बैठक हुई तो उसमें (पण्डित जवाहरलाल भी मौजूद थे) सबसे पहले बड़ी देर तक इसी बात पर चर्चा होती रही कि परिषद् की कार्रवाई का माध्यम कौन-सी भाषा हो। गांधी जी ने कहा कि वह भाषा 'हिन्दी या हिन्दुस्तानी' इस नाम से ही पहचानी जाय। केवल हिन्दी कहने से संस्कृत शब्दों से भरी हुई हिन्दी का ही बोध होता है और हिन्दुस्तानी से अरबी-फ़ारसी शब्दोंवाली उर्दू का बोध होता है। इसलिए 'हिन्दी या हिन्दुस्तानी' इस पद का प्रयोग परिषद के माध्यम के लिए किया जाय।

गांधीजी तो अपनी बात कहकर उठ गये लेकिन झगड़ा चलता ही रहा और वह झगड़ा विषय-निर्वाचनी तक ही सीमित न रहा अगले रोज खुले अधिवेशन में भी पहुँचा। झगड़ा क्या था?

प्रेमचंद के शब्दों में—

● हिन्दी शब्द से उर्दू को उतनी ही चिढ़ है जितनी उर्दू से हिन्दी को है। और यह भेद केवल नाम का नहीं है। हिन्दी जिस रूप में लिखी जा रही है, उसमें संस्कृत के शब्द बेतकल्लुफ़ आते हैं। उर्दू जिस रूप में लिखी जाती है उसमें फ़ारसी

इस बार मुंशीजी दस-बारह रोज लाहौर रहे और दर्जनों मीटिंगों में बोले कहीं प्रगतिशील साहित्य के आन्दोलन के बारे में जिसकी सदारत करके वह सीधे चले आ रहे थे और कहीं हिन्दुस्तानी सभा के बारे में जिसके वह बानी थे संस्थापक थे।

एक मीटिंग में जिसके सभापति बख्शी टेकचंद थे और जिसमें इम्तयाज अली ताज और मियाँ बशीर अहमद जैसे लोग भी मौजूद थे प्रेमचंद ने हिन्दुस्तानी आन्दोलन के बारे में विस्तार से बतलाया। उनकी बातों का इतना असर पड़ा था यों कहिए कुछ ऐसी फ़िज़ा बन गयी कि सच्चे मन से लोग दोनों ज़बानों की एकता की तरफ़ एक क़दम बढ़े जिसका एक छोटा सा मगर मार्मिक लक्षण यह था कि उसी मीटिंग में उर्दू लेखकों ने अपने भाषण में हिन्दी शब्दों का और हिन्दी लेखकों ने उर्दू शब्दों का प्रयोग किया और चाहे यहाँ वहाँ प्रयोग में कुछ ग़लती भी हुई हो (जैसे कि ताज साहब ने खुद अपने आने के लिए पधारना कहा और चन्द्रगुप्त विद्यालंकार ने कहा इसके पहले कि आप बर्ख़ास्त हों) लेकिन उसके पीछे जो भावना काम कर रही थी उसमें कोई ग़लती न थी वह आदर करने की चीज़ थी।

हिन्दुस्तानी सभा बन गयी उसकी कार्यकारिणी भी चुन ली गयी—मगर कै दिन को ?

अगले हफ्ते नागपुर में कांग्रेस अधिवेशन हो रहा था और उसी मौक़े पर हिन्दी साहित्य सम्मेलन और भारतीय साहित्य परिषद् के अधिवेशन भी रखे गये थे।

२४ अप्रैल सन् ३६ को सबेरे नौ बजे नागपुर युनिवर्सिटी के कन्वोकेशन हाल में भारतीय साहित्य परिषद् का पहला (और अंतिम) अधिवेशन गांधीजी की अध्यक्षता में शुरू हुआ। पं जवाहर लाल नेहरू सम्मेलन के सभापति बाबू राजेन्द्र प्रसाद सरदार वल्लभ भाई पटेल सेठ जमनालाल बजाज चक्रवर्ती राजगोपालाचारी पुरुषोत्तमदास जी टण्डन कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी कस्तूरबा गांधी श्रीमती कमलाबाई किबे मुंशी प्रेमचंद (जो लाहौर से शायद सीधे भागे हुए आये थे) मौलाना अब्दुल हक़ काका कालेलकर, जैनेन्द्रकुमार, माखनलाल चतुर्वेदी जयचन्द्र विद्यालंकार, शंकरराव देव—साहित्य और पॉलिटिक्स की दुनिया के एक से एक बड़े दिमाग़ बैठे थे।

गांधीजी ने अपने ख़ास हल्के-फुल्के घरेलू अंदाज़ में बोलना शुरू किया—मगर मैंने जो लिखा है उस व्याख्यान पढ़ा जाय तो वह आपको दिया हुआ

छोटा या बड़ा है उसे आप पढ़ ही लेंगे। काका साहब ने कहा है कि हमारा मकसद देहातियों में प्रेमसेवा का प्रचार करना है और भिन्न भिन्न प्रान्तों में जो साहित्य पैदा हो रहा है उसका प्रचार अन्य प्रान्तों में करना है। इसका अर्थ यह है कि घरेलू परिभाषा हमें प्रचलित करना है इसलिए अपने घरेलू सभापति को मुझे यहाँ बैठा दिया है। मुझे मालूम नहीं है कि मुझे किसने सभापति चुन लिया। मेरा साहित्यिकों में क्या स्थान हो सकता है? मुझे हिन्दी साहित्य का तो क्या गुजराती साहित्य का भी अच्छा ज्ञान नहीं है। कुछ लोगों ने कहा है और मैं भी मानता हूँ कि मुझे गुजराती व्याकरण तक का पूरा ज्ञान नहीं है तब मैं यहाँ क्या आता? मुझे काका साहब और मुंशीजी (कन्हैयालाल मुंशी) यहाँ लाये हैं। मुंशीजी ने मुझे बताया कि आप ही से यह काम हो सकेगा क्योंकि साहित्यिक तो बड़े-बड़े सिंह-से हैं। वे अपने पिंजड़े में सुरक्षित हैं। अगर वे इकट्ठे हो जायें तो लड़ भी पड़ें। इसलिए उनमें से किसी को नियुक्त करने से कोई लाभ नहीं है आप ही उनको एकत्रित कर सकते हैं। मैं तो 'महात्मा' ही रहा। उन्होंने मान लिया कि 'महात्मा' से सब कुछ हो सकता है

लोगों का ऐसा मानना कुछ गलत नहीं था लेकिन नियति या परिस्थिति का कुछ ऐसा व्यंग्य रहा कि उन्हीं के श्रीमुख से एक ऐसी बात सामने आयी जिसने लड़ाई का सूत्रपात किया — और जिससे कुछ ही महीनों में भारतीय साहित्य परिषद् हमेशा के लिए ठण्डा हो गया।

हुआ यह कि उसी रोज उसी हाल में जब विषय-निर्वाचनी की बैठक हुई तो उसमें (पण्डित जवाहरलाल भी मौजूद थे) सबसे पहले बड़ी देर तक इसी बात पर चर्चा होती रही कि परिषद् की कार्रवाई का माध्यम कौन-सी भाषा हो। गांधी-जी ने कहा कि यह भाषा 'हिन्दी या हिन्दुस्तानी' इस नाम से ही पहचानी जाय। केवल 'हिन्दी' कहने से संस्कृत शब्दों से लदी हुई हिन्दी का ही बोध होता है और 'हिन्दुस्तानी' से अरबी-फ़ारसी शब्दोंवाली उर्दू का बोध होता है। इसलिए 'हिन्दी या हिन्दुस्तानी' इस पद का प्रयोग परिषद के माध्यम के लिए किया जाय।

गांधीजी तो अपनी बात कहकर उठ गये लेकिन झगड़ा चलता ही रहा और यह झगड़ा विषय-निर्वाचनी तक ही सीमित न रहा अगले रोज खुले अधिवेशन में भी पहुँचा। झगड़ा क्या था?

प्रेमचंद के शब्दों में —

• 'हिन्दी' शब्द से उर्दू को उतनी ही चिढ़ है जितनी 'उर्दू' से हिन्दी को है। और यह भेद केवल नाम का नहीं है। हिन्दी जिस रूप में लिखी जा रही है उसमें संस्कृत के शब्द बेतकल्लुफ़ आते हैं। उर्दू जिस रूप में लिखी जाती है उसमें फ़ार

और अरबी के शब्द बेतकल्लुफ़ आते हैं। इन दोनों का मिलवा रूप हिन्दुस्तानी है
जिसका दावा है कि वह साधारण बोलचाल की ज़बान है जिसमें किसी भाषा के
शब्दों का त्याग नहीं किया जाता अगर वह बोलचाल में आते हैं। हिन्दी को हिन्दु
स्तानी चाहे उतना प्रिय न हो पर उर्दू को हिन्दुस्तानी के स्वीकार करने
में कोई बाधा नहीं है क्योंकि उसे वह अपनी परिचित-सी लगती है। मगर
परिषद् ने हिन्दुस्तानी को अपना माध्यम बनाना न स्वीकार करके हिन्दी
हिन्दुस्तानी को स्वीकार किया। उर्दूवालों को हिन्दी-हिन्दुस्तानी का मतलब
समझ में न आया शायद वह समझे कि हिन्दी-हिन्दुस्तानी केवल हिन्दी का ही
दूसरा नाम है। ●

लिहाज़ा अगले रोज़ जब यह प्रस्ताव खुले अधिवेशन में आया तो मौलवी
अब्दुल हक़ ने और उर्दू एकेडमी के मुहम्मद आक़िल साहब ने जो ऐंग्लिकन्बर
कालेज के बोर्डिंग हाउस में मुंशीजी के बगल के कमरे में ठहरे हुए थे उसका विरोध
करते हुए कहा कि ● 'हिन्दुस्तानी का लफ़्ज़ एक दरमियानी लफ़्ज़ है जो न हिन्दी
वालों को नागवार होना चाहिए न उर्दूवालों को। लेकिन यह बात तसलीम नहीं
की गयी। उस मौक़े पर मामला कुछ ऐसा आ पड़ा था कि महात्माजी की बात
की मुख़ालिफ़त करने की किसी की हिम्मत न होती थी। लेकिन प्रेमचंद जी
खड़े हुए और उन्होंने हिन्दुस्तानी के द्वारा भारतीय साहित्य परिषद् की कारवाई
की जाने पर एक निहायत ज़ोरदार तक़रीर की। उर्दू के हलक़े में यह बात मशहूर
है कि इसकी वजह से प्रेमचंद जी हिन्दी लिखनेवालों में बहुत बदनाम भी हो
गये। पता नहीं यह कहाँ तक सही है। लेकिन यह काम उन्होंने बहुत दिलेरी
और हिम्मत का किया था जिससे उर्दूवाले उनसे बहुत ख़ुश थे। ●

मौलवी अब्दुल हक़ ने भी वैसा कि उनके हैदराबाद के दोस्त गुलाम
रब्बानी साहब ने बतलाया नागपुरवाले इस प्रसंग के बारे में कहीं पर लिखा
था कि मुंशी प्रेमचन्द आख़िर तक हमारे साथ रहे जब कि कांग्रेस के बहुत से बड़े
बड़े लोग गांधी जी की बात के बाद ख़ामोश हो गये।

ताहम एक गाँठ जो मौलवी अब्दुल हक़ के दिल में पड़ गयी थी वह ढीली नहीं
पड़ी और उन्होंने अपने रिसाले 'उर्दू' में लिखा —

● एक दिन वह था कि महात्मा गांधी ने हिन्दुस्तानी यानी उर्दू ज़बान और
फ़ारसी हुरूफ़ में अपने हमोगराम में हकीम अजमल खाँ को ख़त लिखा था और
आज यह वक़्त आ गया है कि उर्दू तो उर्दू वह तनहा 'हिन्दुस्तानी' का लफ़्ज़ भी
लिखना और सुनना पसन्द नहीं करते। उन्होंने अपनी गुफ़्तगू में एक बार नहीं
कई बार फ़रमाया कि अगर रेज़ोल्यूशन में तनहा हिन्दुस्तानी का लफ़्ज़ रखा

गया तो उसका मतलब उर्दू समझा जायगा लेकिन उनको नेशनल कांग्रेस के रेज़ोल्यूशन में तनहा 'हिन्दुस्तानी' का लफ़्ज़ रखते हुए यह ख़याल न आया। आख़िर इसकी क्या वजह है? कौन से ऐसे असबाब पैदा हो गये हैं जो इस हैरत-अंगेज़ इन्क़लाब के बाइस हुए? ग़ौर करने के बाद मालूम हुआ कि इस तमाम तग़ैयुर व तबद्दुल जोड़-तोड़ दाव-पेच का बाइस हमारे मुल्क का बदनसीब पालिटिक्स है। जब तक महात्मा गांधी और उनके रफ़क़ा (सहकारियों) को यह तवक़्क़ो (आशा) थी कि मुसलमानों से कोई सियासी समझौता हो जायगा उस वक़्त तक वह हिन्दुस्तानी हिन्दुस्तानी पुकारते रहे जो पकड़कर फुसलाने के लिए अच्छी ख़ासी चारा थी। लेकिन जब उन्हें इसकी तवक़्क़ो न रही या उन्होंने इस समझौते की ज़रूरत न समझी तो रिया (फ़रेब) की चादर उतार फेंकी और असली रंग में नज़र आने लगे। वह शौक़ से हिन्दी का प्रचार करें। वह हिन्दी नहीं छोड़ सकते तो हम भी उर्दू नहीं छोड़ सकते। उनको अगर अपने वसीअ ज़राये और वसायल (विशाल साधनों) पर घमण्ड है तो हम भी कुछ ऐसे हेठ नहीं हैं। ●

ख़ुदा ने बाबाए उर्दू मौलवी अब्दुल हक़ साहब को लम्बी उम्र दी और उन्होंने भी बदक़िस्मत महात्मा गांधी को एक फ़िरक़ापरस्त हिन्दू के हाथों शहीद होते देखा होगा — उन्हीं बातों की हिमायत में जिन्हें मौलवी साहब ने गांधीजी का फ़रेब समझा था! मगर उसको तो अभी बारह बरस की देर है और अभी तो मौलवी साहब ने एकता के उस सपने में पलीता लगा ही दिया। कैसी-कैसी मुश्किलों से यह दिन आया था और ख़ुद मुंशीजी का उसमें किस क़दर हाथ था — और अब उम्मीदों के उस हसीन रंगमहल को बारूद से उड़ाने की तदबीर हो रही थी! कैसे छिपा लें दामन में अपने उस बच्चे को!

मुंशीजी मौलवी साहब को जवाब देने बैठे लेकिन स्वर में क्रोध नहीं है, केवल ममता की पीड़ा, केवल याचना, भीख छोड़ दो, मत मारो मेरे इस नन्हें से बच्चे को —

● हमें मौलाना अब्दुल हक़ जैसे गम्भीर विचारशील और नीतिचतुर बुज़ुर्ग के क़लम से ये शब्द देखकर दुख हुआ। जिस सभा में आप बैठे हुए थे उसमें हिन्दीवालों की कसरत थी। उर्दू के प्रतिनिधि तीन से ज़्यादा न थे। फिर भी जब हिन्दी-हिन्दुस्तानी और अकेले हिन्दुस्तानी पर वोट लिये गये तो हिन्दुस्तानी के पक्ष में आधी से कुछ ही कम रायें आयीं। अगर मेरी याद ग़लती नहीं कर रही है तो शायद पन्द्रह और पच्चीस का बटवारा था। एक हिन्दी-प्रधान जलसे में जहाँ उर्दू के प्रतिनिधि कुल तीन हों पन्द्रह रायों का हिन्दुस्तानी के पक्ष में मिल जाना हार होने पर भी जीत ही है। बहुत संभव है कि दूसरे जलसे में

हिन्दुस्तानी का पक्ष और मजबूत हो जाता। और जो हिन्दुस्तानी अभी व्यवहार में नहीं आयी उसके और ज्यादा हिमायती नहीं निकले तो कोई ताज्जुब नहीं। जो लोग 'हिन्दुस्तानी' का वकालतनामा लिये हुए हैं, और उनमें एक इन पंक्तियों का लेखक भी है वह भी अभी तक हिन्दुस्तानी का कोई रूप नहीं खड़ा कर सके।

और अंत में वही कातर स्वर—

हम मौलाना साहब से प्रार्थना करेंगे कि नीयतों पर शुबहा न करें, मुमकिन है आज जो बात मुश्किल नजर आ रही है वह साल दो साल में आसान हो जाय।

जून जाते जाते गोदान की छपाई पूरी हो गयी थी। १० तारीख को मुंशीजी ने उमँगकर जैनेन्द्र को लिखा — गोदान निकल गया। कल तुम्हारे पास चला आयगा। और फिर २२ तारीख को —

आज गोदान भेज रहा हूँ। पढ़ना और अच्छा लगे तो कहीं अर्जुन या विशाल भारत या हंस में आलोचना करना। अच्छा न लगे तो मुझे लिख देना आलोचना मत लिखना।

कैसा बौड़म आदमी है! कहनी-अनकहनी सब कह जाता है!

अपने नवोढ़ाई जोश में मुंशीजी ने कुछ खयाल नहीं किया लेकिन ज़रा सोचो तो कैसी धुआँधार यात्राएँ रही हैं पिछली!

शरीर (और मन भी) बहुत थका-थका सा टूटा-टूटा सा लग रहा है। तबीयत मुरझायी हुई सी रहती है और पेट की हालत ठीक नहीं है। इस तरह नहीं चलेगा।

अब तो गोदान भी हो गया। अब ज़रा डटकर आराम करो

३७

११ जून १९३६

निकली मन्द धूप है। खोलती खिड़की जाती है। हवा में लपटों के समान-से लगते हैं। लगता है आज मुश्किल आयेगी।

तीन बजे हैं। मुंशीजी प्रेस के लिए कागज का इन्तज़ाम करने बाहर गये हुए हैं।

लौटते-लौटते छः बज गये।

पत्नी ने पूछा — कहाँ गये थे?

मुंशीजी ने कहा — शहर चला गया था। कल छपाई के लिए कागज़ नहीं था।

पत्नी ने कहा — मुझसे तो कह जाते भले आदमी! इसी लू और घाम में बिना कहे चल दिये!

मुंशीजी बोले — मैं आया था। तुम सो रही थीं। जगाना ठीक न समझा

पत्नी ने कहा — कुछ थमकर जाते। उस लू और घाम से तो शाम ही अच्छी थी।

मुंशीजी ने कहा — यह सब अमीरों के नखरे हैं। क्या कोई काम बन्द रहता है?

विश्राम करने का वक्त हो गया था। पत्नी के झिड़के से जान निकालकर जाते हुए मुंशीजी अपनी बैठक में चले गये और नौ बजे रात तक काम करते रहे।

खाना खाने बैठे तो मुश्किल से एक रोटी खायी होगी। बोले — मुझे बिलकुल भूख नहीं है।

पत्नी ने कहा — आम का पना है उसे खा लीजिए

मुंशीजी बोले — नहीं जी अब कुछ खाने की तबीयत नहीं होती।

पत्नी ने आग्रह करते हुए कहा — गर्मी बहुत पड़ रही है फ़ायदा करता खैर, मत खाइए।

थोड़ी देर बाद शिवरानी देवी उनके कमरे में पानी देने पहुँचीं तो देखा कि वह मसनद के सहारे बैठे कुछ लिख रहे हैं।

पत्नी को देखकर बोले — न मालूम क्यों पेट में दर्द हो रहा है।

पत्नी ने पूछा — कब से?

बोले — जब से खाना खाकर आया हूँ तभी से।

पत्नी ने बड़ा हैरान होते हुए कहा — क्या बात है? आपने आज कुछ खाना भी नहीं खाया फिर क्यों दर्द होने लगा?

पत्नी अभी उसी जगह खड़ी थीं कि मुंशीजी को कै आने लगी। पत्नी दौड़ीं। उनकी पीठ और गर्दन पर हाथ फेरने लगीं फिर उनको पान और इलायची दी। पान मुँह में डालने को थे कि फिर दुबारा जब कै होने लगी तो पत्नी घबरा गयीं। बोलीं — कैसी तबीयत है?

मुंशीजी बोले — पेट में दर्द है। हाँ कै अब नहीं मालूम होती।

उसी दिन उन्हें खून के दस्त आने लगे। उस दिन से उन्होंने न भरपेट खाया न भर नींद सोये

१८ जून

गोर्की की मृत्यु। दो रोज बाद यहाँ खबर पहुँची है।

आज कार्यालय में अगले दिन शोक सभा है। मुंशीजी को नींद नहीं आ रही है। सारी रात उठकर वह अपना भाषण लिख रहे हैं।

दूसरे दिन मीटिंग में जाने को तैयार हुए तो पत्नी ने कहा — आप चल तो सकते नहीं नाहक जा रहे हैं।

मुंशीजी ने कहा — पैदल तो जा नहीं रहा हूँ। ताँगे पर जाना है।

पत्नी ने कहा — जीने पर तो चढ़ना उतरना है?

मुंशीजी किसी तरह रुकने के लिए तैयार नहीं हैं। बोले — यह तो लगा ही रहता है

मीटिंग से घर लौटे और ऊपर चढ़ने लगे तो बहुत सँभालने पर भी उनके पैर लड़खड़ा गये। किसी तरह ऊपर पहुँचे और लेट गये। थोड़ा सुस्ता लिये तो बोले — भाषण पढ़ना तो दूर रहा मैं वहाँ खड़ा भी न हो सका। एक और महाशय से पढ़वाया

२५ जून ढाई बजे रात

मुंशीजी ने कहा — बेटा धुन्नू ज़रा पंखा झोल दो। बड़ी गर्मी हो रही है।

छोटा लड़का भागा हुआ अपनी माँ के कमरे में गया और बोला — अम्माँ बाबूजी को कै हुई है।

अम्माँ चौंक पड़ीं, भागकर वहाँ पहुँचीं और खून की कै देखी तो सिहर उठीं 'मानों किसी ने मेरी देह में बिजली छुलाकर घाव कर दिया हो!'

मुन्शीजी धीमे से मुस्कुराये — रानी, अब मैं चला।

रानी ने अपने स्वाभाविक शासन-स्वर में कहा — चुप रहो! तुम मुझे छोड़कर नहीं जा सकते!

मुंशीजी ने गिरे हुए खून की तरफ़ इशारा किया और कहा — जिसके मुँह से इतना खून गिरे, क्या तुम उससे भी जीने की आशा करती हो!

रानी ने कहा — क्या न करूँ? मैंने किसी का कुछ नहीं बिगाड़ा है!

मुंशीजी ने मुँह फेर लिया।

उस दिन के बाद नींद एक बिरानी चीज़ हो गयी। रात की रात जागते पड़े रहते। बीमार की रात, न सोने की न जागने की।

और उस बीहड़ बियाबान सफ़र में जिसका कहीं ओर-छोर न था और साथी सब पीछे छूट गये थे और सामने एक लम्बा तनहा सफ़र था जहाँ न तुम किसी को आवाज़ देते थे, न कोई तुमको आवाज़ देता था, बस तुम थे और वह सन्नाटा था जो तुम्हारे कानों में बज रहा था और तुम्हारी आँखों के आगे रात के अँधेरे पर्दे पर एक के बाद एक तसवीरें आ रही थीं और जा रही थीं और तुम अपने सीने में मुँह गड़ाये अपने किसी अन्तरंग सखा से बातें कर रहे थे, खुद अपनी नेक और मुख़्लिस ज़िन्दगी की और उस चमकती-दमकती दुनिया की जिसे तुमने झूठ और दग़ा पर पनपते देखा, वह ज़लील सूरतें जिन्होंने इस दुनिया को जहन्नुम बना रखा है, एक दुनिया जो मर रही है और एक दुनिया जो पैदा होने के लिए मौत की ताक़तों से लड़ रही है।

सब कुछ हार गया, चुक गया, अब तो बस वह अंतिम संग्राम बचा है, महाभारत वह, जिसे तुम अपनी कोठरी में पड़े हुए रात के उस चुप अँधेरे और सन्नाटे में देखते रहते हो।

जिगर पत्थर की तरह सख़्त होता जा रहा है, पेट में पानी भर रहा है, बड़ा दर्द होता है रह-रहकर, और बदहवास बेचैनी जब पेट फूलने लगता है। लेटे नहीं रहा जाता तो उठ बैठते हो और बैठना दूभर हो जाता है तो फिर लेट जाते हो, पेट पकड़ लेते हो, ज़ोर से दबाते हो, मगर चैन किसी करवट नहीं मिलता। तो भी तबीयत तो लिखनी ही है ताकि बातें जो कहनी हैं वह अनकही न रह जायें

जो निचोड़ है एक उम्र के तजरबे का जिसमें पीड़ा भी है और उस पीड़ा का अभिमान भी।

और मुंशीजी अपनी उस तकलीफ़ में भी बिस्तर छोड़कर नीचे फ़र्श पर आ बैठे हैं और मंगलसूत्र उठा लेते हैं जिसके नायक देवकुमार वह खुद हैं एक नामी-गरामी सच्चे ईमानदार, स्वाभिमानी और ग़रीब कलाकार —

साहित्य-सेवा के सिवा उन्हें और किसी काम में रुचि न हुई और यहाँ धन कहाँ? हाँ यश मिला और उनके आत्मसंतोष के लिए इतना काफ़ी था। संपत्ति में उनका विश्वास भी न था संभव है परिस्थिति ने इस विश्वास को दृढ़ किया हो

अभी छः महीना पहले जब बनारसीदास जी ने बहुत ज़ोर देकर उन्हें कलकत्ता बुलाया था नोगूची का भाषण सुनने के लिए उस वक्त उन्होंने अपनी मजबूरी बतलाते हुए और बातों के साथ-साथ यह भी लिखा था —

दुनिया में बड़े-बड़े दिमाग़वाले ढेरों हैं। कौन असली बड़ा आदमी है और कौन नक़ली इसको परख करने के लिए बड़ी गहरी न्यायबुद्धि की ज़रूरत है। मैं कल्पना ही नहीं कर सकता कि कोई बड़ा आदमी बड़ा धनपति हो। जैसे ही मैं किसी आदमी को बहुत अमीर देखता हूँ उसकी तमाम कला और ज्ञान की बातों का नशा मेरे ऊपर से उतर जाता है। मैं उसे कुछ इस तरह देखने लगता हूँ कि उसने इस वर्तमान समाज-व्यवस्था के आगे घुटना टेक दिया है जो अमीरों द्वारा ग़रीबों के शोषण पर आधारित है। लिहाज़ा ऐसा कोई बड़ा नाम जो लक्ष्मी से असंपृक्त नहीं है मुझे आकर्षित नहीं करता। यह बिलकुल मुमकिन है कि इस दिमाग़ी ढाँचे के पीछे जीवन में मेरी अपनी असफलता हो। बैंक में अच्छी मोटी रक़म रखकर मैं भी शायद औरों जैसा ही हो जाता — मैं भी उस लोभ के सामने टिक न पाता। मगर मैं ख़ुश हूँ कि प्रकृति और भाग्य ने मेरी सहायता की है और मुझे ग़रीबों के साथ डाल दिया है। इससे मुझे आध्यात्मिक शान्ति मिलती है।

सम्मान के साथ अपना निबाह होता जाय इससे ज़्यादा वह और कुछ न चाहते थे। साहित्य-सेवियों में जो एक अकड़ होती है चाहे उसे शेखी ही क्यों न कह लो वह उनमें भी थी। कितने ही रईस और राजे इच्छुक थे कि वह उनके दरबार में आयें अपनी रचनाएँ सुनायें उनको भेंट करें, लेकिन देवकुमार ने आत्मसम्मान को कभी हाथ से न जाने दिया। किसी ने बुलाया भी तो धन्यवाद देकर टाल गए

वह नीतिवान सदाचारी आदमी हैं। उनका लड़का संतू अपने पिता की इन नीति और आदर्श की बातों से बेहद चिढ़ता है और जायदाद को बचाने के लिए अदालत में उन्हें पागल साबित करने तक के लिए तैयार है मगर देवकुमार अपनी जगह से नहीं हिल्ते।

देवकुमार कभी कानून के जाल में न फँसे थे। मुकदमेबाजों और धूर्तसेवकों ने उन्हें बारहा धोखे दिये मगर उन्होंने कभी कानून की शरण न ली। उनके जीवन की नीति थी — आप भला तो जग भला और उन्होंने हमेशा इसी नीति का पालन किया था। मगर वह कम्पू या डरपोक न थे। खासकर सिद्धान्त के मामले में तो वह समझौता करना जानते ही न थे।

मगर दुनिया का रंग-ढंग देखकर कभी-कभी उनका आसन डोल भी जाता है, बेतरह डोल जाता है —

इन दिनों वह यही पहेली सोचते रहते थे कि संसार की कुव्यवस्था क्यों है? धर्म और संस्कार लेकर वह कहीं न पहुँच पाते थे। सर्वात्मवाद से भी उनकी गुत्थी न सुलझती थी। अगर सारा विश्व एकात्म है तो फिर यह भेद क्यों है? क्यों एक आदमी जिन्दगी भर बड़ी से बड़ी मेहनत करके भी भूखों मरता है, और दूसरा आदमी हाथ-पाँव न हिलाने पर भी फूलों की सेज पर सोता है। यह सर्वात्म है या घोर अनात्म?

अन्दर कहीं एक आवाज़ है जो मुंशीजी से बराबर कहती रहती है कि यह तुम्हारी आखिरी बीमारी है इससे उठना नहीं है तुमको ताहम इस वक़्त भी जो सवाल उनको तंग कर रहे हैं वह आत्मा और परमात्मा स्वर्ग और नरक जिन्दगी और मौत के दार्शनिक सवाल नहीं हैं समाज के न्याय और अन्याय के सवाल हैं।

बुद्धि जवाब देती —यहाँ सभी स्वाधीन हैं सभी को अपनी शक्ति और साधना के हिसाब से उन्नति करने का अवसर है। मगर शंका पूछती — सब को समान अवसर कहाँ है? बाजार लगा हुआ है जो चाहे वहाँ से अपनी इच्छा की चीज खरीद सकता है मगर खरीदेगा तो वही जिसके पास पैसे हैं? और जब सबके पास पैसे नहीं हैं तो सब का बराबर अधिकार कैसे माना जाय? इस तरह का आत्ममंथन उनके जीवन में कभी न हुआ था इस वक्त उनकी दशा उस आदमी की सी थी जो रोज मार्ग में ईंट पड़ी देखता है और बचाकर निकल जाता है। रात में कितने लोगों को ठोकर लगती होगी कितनों के हाथ-पैर टूटते होंगे इसका ध्यान उसे नहीं आता। मगर एक दिन जब वह खुद रात को ठोकर

खाकर अपने घुटने फोड़ लेता है तो उसकी निवारण-शक्ति काम करने लगती है और वह उस सारे ढेर को मार्ग से हटाने पर तैयार हो जाता है। देवकुमार को वही ठोकर लगी थी। कहाँ है न्याय? कहाँ? एक गरीब आदमी किसी खेत से बालें नोचकर खा लेता है क़ानून उसे सजा देता है। दूसरा अमीर आदमी दिनदहाड़े दूसरों को लूटता है और उसे पदवी मिलती है सम्मान मिलता है। कुछ आदमी तरह-तरह के हथियार बाँधकर आते हैं और निरीह दुर्बल मजदूरों पर आतंक जमाकर अपना गुलाम बना लेते हैं। लगान और टैक्स और महसूल और कितने ही नामसे उसे लूटना शुरू करते हैं और आप लंबा-लंबा वेतन उड़ाते हैं शिकार खेलते हैं नाचते हैं रँगरेलियाँ मनाते हैं। यही है ईश्वर का रचा हुआ संसार? यही न्याय है?

और फिर शायद खुद को ही लताड़ बतायी —

हाँ देवता हमेशा रहेंगे और हमेशा रहे हैं। उन्हें अब भी संसार धर्म और नीति पर चलता हुआ नजर आता है। वे अपने जीवन की आहुति देकर संसार से विदा हो जाते हैं। लेकिन उन्हें देवता क्यों कहो? कायर कहो आत्मसेवी कहो। देवता वह है जो न्याय की रक्षा करे और उसके लिए प्राण दे दे। अगर वह जानकर अनजान बनता है तो धर्म से गिरता है और अगर उसकी आँखों में यह दुरवस्था खटकती ही नहीं तो वह अंधा भी है और मूर्ख भी देवता किसी तरह नहीं। और यहाँ देवता बनने की जरूरत भी नहीं। देवताओं ने ही न्याय और ईश्वर और भक्ति की मिथ्याएँ फैलाकर इस अनीति को अमर बनाया है। मनुष्य ने अब तक इसका अंत कर दिया होता या समाज का ही अंत कर दिया होता जो इस दशा में जिन्दा रहने से कहीं अच्छा होता। नहीं मनुष्यों में मनुष्य बनना पड़ेगा। दरिन्दों के बीच में उनसे लड़ने के लिए हथियार बाँधना पड़ेगा। उनके पंजों का शिकार बनना देवतापन नहीं जड़ता है।

ज़बान बन्द होने के पहले वह तो जो-जो कुछ कहता है, जो-जो कुछ देखा है सहा है भोगा है।

और मुंशीजी ने उसी वसीयतनामे के तौर पर उन्हीं विविध रूपों में उन्हीं दैहिक और मानसिक कष्टों के बीच महाजनी सभ्यता के माया-अवगुंठन को हटाकर उसका नग्न रूप लोगों के सामने रखा —

इस महाजनी सभ्यता में सारे कामों की गरज महज पैसा होती है। इस दृष्टि से मानो आज महाजनों का ही राज्य है। मनुष्य समाज दो भागों में बँट गया है। बड़ा हिस्सा तो मरने और खपनेवालों का है और बहुत ही छोटा हिस्सा उन लोगों का है जो अपनी शक्ति और प्रभाव से बड़े सम्प्रदाय को अपने

बन में किये हुए हैं। उन्हें इस बड़े भाग के साथ किसी तरह की हमदर्दी नहीं ज़रा भी रू-रियायत नहीं। उसका अस्तित्व केवल इसलिए है कि अपने मालिकों के लिए पसीना बहाये ख़ून गिराये और एक दिन चुपचाप इस दुनिया से विदा हो जाय

यौवन भर दीन-दुखियों का शोषितों का पक्ष लेकर लड़े लेकिन कभी माना नहीं कि समाज दो वर्गों में बँटा है। चलते-चलाते वह भी मान लिया।

२५ जुलाई ढाई बजे रात

बेहद कमज़ोर हो गये थे। कहते थे मैं चलता हूँ तो पैर कांपने लगते हैं। आँखों के नीचे अँधेरा छा जाता है।

ताहम वह एक दिन नहीं बैठे। बराबर कुछ न कुछ करते रहे। ताक़त न होने पर भी वह जैसे इस बात को अपने तईं स्वीकार न करना चाहते थे और अपनी इच्छाशक्ति से अपने आप को घसीटते रहे।

लेकिन शरीर के अपने नियम हैं और पिछली ख़ून की कै के ठीक एक महीने बाद और ठीक उसी समय दुबारा उनके मुँह से उसी तरह ख़ून गिरा। शिवरानी देवी लिखती हैं—

उन्हें नींद लाने के लिए मैं तलवे और सिर की मालिश करती थी। मैं रात को एक बजे उनका सर सहला रही थी

तभी मुंशीजी ने कहा—अब तुम सो रहो। कब तक बैठी रहोगी।

पत्नी ने कहा—मैं तो आपकी फ़िक्र में हूँ और आप मेरी।

मुंशीजी बोले—तुम सो जाओगी तो मैं भी सो जाऊँगा।

● मैं उसी कमरे में एक तख़्ते पर लेट गयी। आप धीरे से उठे। पाख़ाने जाने लगे। पाख़ाने में बैठते ही आपको फिर कै आ गयी। आवाज़ सुनकर दौड़ी गयी। उस समय इतनी शिथिलता उनमें आ गयी थी कि वे उठ-बैठ भी नहीं पा रहे थे। फिर दुबारा कै का ख़ून हम दोनों पर तैर गया उस समय तक तीनों बच्चे भी जाग गये थे। मैं धुन्नू से बोली—जाकर डाक्टर को बुला लाओ। आप बोले—लड़के को इस वक़्त मत परेशान करो। डाक्टर ईश्वर नहीं। सुबह जायगा। जाकर क़लम दवात और कागज़ लाओ। अब मैं नहीं बचने का। कम से कम कागज़ तो दो।

मैं बोली—क्या होगा?

—तुमको बैठने का तो ठिकाना करता जाऊँ।

मैं बोली—घबराइए नहीं। आप अच्छे हो जाएँगे।

खाकर अपने घुटने फोड़ लेता है तो उसकी निवारण-शक्ति हठ करने लगती है और वह उस सारे ढेर को मार्ग से हटाने पर तैयार हो जाता है। देवकुमार को वही ठोकर लगी थी। कहाँ है न्याय? कहाँ? एक गरीब आदमी किसी खेत से भुट्टे नोचकर खा लेता है कानून उसे सजा देता है। दूसरा अमीर आदमी दिनदहाड़े दूसरों को लूटता है और उसे पदवी मिलती है सम्मान मिलता है। कुछ आदमी तरह-तरह के हथियार बाँधकर आते हैं और निरीह, दुर्बल मजदूरों पर आतंक जमाकर अपना गुलाम बना लेते हैं। लगान और टैक्स और महसूल और कितने ही नामसे उसे लूटना शुरू करते हैं और आप लंबा-लंबा वेतन उड़ाते हैं शिकार खेलते हैं नाचते हैं रँगरेलियाँ मनाते हैं। यही है ईश्वर का रचा हुआ संसार? यही न्याय है?

और फिर सामने खुद को ही लताड़ बनाती —

हाँ देवता हमेशा रहेंगे और हमेशा रहे हैं। उन्हें अब भी संसार धर्म और नीति पर चलता हुआ नजर आता है। वे अपने जीवन की आहुति देकर संसार से बिदा हो जाते हैं। लेकिन उन्हें देवता क्यों कहो? कायर कहो आत्मसेवी कहो। देवता वह है जो न्याय की रक्षा करे और उसके लिए प्राण दे दे। अगर वह जानकर अनजान बनता है तो धर्म से गिरता है, और अगर उसकी आँखों में यह दुरवस्था खटकती ही नहीं तो वह अंधा भी है और मूर्ख भी देवता किसी तरह नहीं। और यहाँ देवता बनने की जरूरत भी नहीं। देवताओं ने ही भाग्य और ईश्वर और भक्ति की मिथ्याएँ फैलाकर इस अनीति को अमर बनाया है। मनुष्य ने अब तक इसका अंत कर दिया होता या समाज का ही अंत कर दिया होता जो इस दशा में जिन्दा रहने से कहीं अच्छा होता। नहीं मनुष्यों में मनुष्य बनना पड़ेगा। दरिन्दों के बीच में उनसे लड़ने के लिए हथियार बाँधना पड़ेगा। उनके पंजों का शिकार बनना देवतापन नहीं जड़ता है।

जबान बन्द होने के पहले कह जा जो-जो कुछ कहना है, जो-जो कुछ देखा है कहा है लिखा है।

और मुंशीजी ने उसी वसीयतनामे के तौर पर उन्हीं विभिन्न रूपों में उन्हीं दैहिक और मानसिक कष्टों के बीच महाजनी सभ्यता के माया-अवगुंठन को हटाकर उसका असल रूप लोगों के सामने रखा —

इस महाजनी सभ्यता में सारे कामों की गरज महज पैसा होती है। इस दृष्टि से मानों आज महाजनों का ही राज्य है। मनुष्य समाज दो भागों में बँट गया है। बड़ा हिस्सा तो मरने और खपनेवालों का है और बहुत ही छोटा हिस्सा उन लोगों का है जो अपनी शक्ति और प्रभाव से बड़े सम्प्रदाय को अपने

मन में छिपे हुए हैं। उन्हें इस बड़े समाज के साथ किसी तरह की हमदर्दी नहीं, ज़रा भी दिलचस्पी नहीं। उनका अस्तित्व केवल इसलिए है कि अपने मालिकों के लिए पसीना बहायें, खून गिरायें और एक दिन चुपचाप इस दुनिया से विदा हो जायँ।

जीवन भर दीन-दुखिया का, शोषितों का पक्ष लेकर लड़े, लेकिन कभी माना नहीं कि समाज दो वर्गों में बँटा है। चलते-चलाते यह भी मान लिया।

२५ जुलाई, ढाई बजे रात

बेहद कमज़ोर हो गये थे। कहते थे, मैं चलता हूँ तो पैर थरथराने लगते हैं। आँखों के नीचे अँधेरा छा जाता है।

ताहम वह एक दिन नहीं बैठे। बराबर कुछ न कुछ करते रहे। ताक़त न होने पर भी वह जैसे इस बात को अपने तईं स्वीकार न करना चाहते थे और अपनी इच्छाशक्ति से अपने आप को घसीटते रहे।

लेकिन शरीर के अपने नियम हैं और पिछली खून की कै के ठीक एक महीने बाद और ठीक उसी समय दुबारा उनके मुँह से उसी तरह खून गिरा। शिवरानी देवी लिखती हैं —

उन्हें नींद आने के लिए मैं तलवे और सिर की मालिश करती थी। मैं रात को एक बजे उनका सर सहला रही थी।

तभी मुंशीजी ने कहा — अब तुम सो रहो। कब तक बैठी रहोगी।

पत्नी ने कहा — मैं तो आपकी फ़िक्र में हूँ और आप मेरी।

मुंशीजी बोले — तुम सो जाओगी तो मैं भी सो जाऊँगा।

● मैं उसी कमरे में एक तख़्ते पर लेट गयी। आप धीरे से उठे। पाख़ाने जाने लगे। पाख़ाने में बैठते ही आपको फिर कै आ गयी। आवाज़ सुनकर दौड़ी गयी। उस समय इतनी शिथिलता उनमें आ गयी थी कि वे उठ-बैठ भी नहीं पा रहे थे। फिर दुबारा कै का खून हम दोनों पर तैर गया। उस समय तक तीनों बच्चे भी जाग गये थे। मैं धुन्नू से बोली — जाकर डाक्टर को बुला लाओ। आप बोले — लड़के को इस वक़्त मत परेशान करो। डाक्टर ईश्वर नहीं। सुबह आयगा। जाकर क़लम-दवात और कागज़ लाओ। अब मैं नहीं बचने का। कम से कम कागज़ तो दो।

मैं बोली — क्या होगा?

— तुमको बैठने का तो ठिकाना करता जाऊँ।

मैं बोली — घबराइए नहीं। आप अच्छे हो जाएँगे।

बोले — उठो लाओ।

मैं बोली — जरूर चलिए।

वे मेरे मुँह की तरफ देखकर रो पड़े। ●

तीन चार रोज बनारस में ही इलाज हुआ। एक्सरे कराने की बात उठी तो मालूम हुआ कि नहीं हो सकता, एक ही मशीन यहाँ पर है और वह भी इस वक्त खराब है।

लखनऊ जाने के शायद दो ही एक रोज पहले मुंशीजी ने २८ जुलाई के अपने खत में अख्तर हुसेन रायपुरी को लिखा था —

● अब मेरा क़िस्सा सुनो। मैं क़रीब एक माह से बीमार हूँ। मेदे में गैस्ट्रिक अल्सर की शिकायत है। मुँह से खून आ जाता है इसलिए काम कुछ नहीं करता। दवा कर रहा हूँ मगर अभी तक कोई इफ़ाक़ा नहीं। अगर बच गया तो 'बीसवीं सदी' नाम का रिसाला अपने लोगों के खयालात की इशाअत के लिए जरूर निकालूँगा। 'हंस' से तो मेरा ताल्लुक टूट गया। मुफ़्त की सरदर्दी। बनियों के साथ काम करके मुन्फ़िअ की जगह यह सिला मिला कि तुमने 'हंस' में ज्यादा रुपया सर्फ़ कर दिया। इसके लिए मैंने दिलोजान से काम किया बिल्कुल अकेला, अपने वक्त और मेहनत का कितना खून किया इसका किसी ने लिहाज न किया। मैंने 'हंस' उन लोगों को इस खयाल से दिया था कि वह मेरे प्रेस में छपता रहेगा और मुझे उसकी जानिब से गूना बेफ़िक्री रहेगी। लेकिन अब वह दिल्ली में सस्ता साहित्य मंडल की जानिब से निकलेगा और इस तबादले में परिषद् को अंदाज़न पचास रुपये महीने की बचत हो जायगी! मैं भी खुश हूँ। 'हंस' जिस लिटरेचर की इशाअत कर रहा था वह हमारा लिटरेचर नहीं है। वह तो वही मज्लिसवाला महाजनी लिटरेचर है जो हिन्दी ज़बान में काफ़ी है ●

मगर खैर 'हंस' के दिल्ली जाने की नौबत नहीं आयी। अगस्त में 'हंस' से जमानत माँगी गयी — गोविन्ददास के नाटक 'सिद्धान्त स्वातन्त्र्य' को लेकर। परिषद् ने जमानत भरने से इन्कार किया। मुंशीजी ने जमानत भर दी और अपना पत्र उनसे वापस ले लिया। लेकिन यह सब अगले महीने की बातें हैं और अभी तो मुंशीजी अपना इलाज कराने या तक़दीर आज़माने जो भी कहिए लखनऊ जा रहे हैं।

शरीर टूटा हुआ है, मन भी टूटा हुआ है, और बचने की उम्मीद कम ही है मगर लोग कहते हैं बार-बार कहते हैं कि लखनऊ जाओ, वहाँ बहुत बड़े-बड़े डाक्टर हैं।

और मुंशीजी लखनऊ पहुँचे — बड़ा बेटा जो इलाहाबाद में बी० ए० फ़ाइनल

में पढ़ रहा था छुट्टी लेकर घर आ गया था और मुंशीजी के साथ लखनऊ गया।

पहले मुंशीजी सीधे अपने पुराने दोस्त रूपाधरर निगम के घर पहुँचे और हा-दीन रोड कादूस रोड के उसी मकान में रहे जहाँ न जाने कितनी दिलचस्प शाम दोस्तों की सोहबत में गुजरी थी।

फिर शायद उन्हें इस हालत में अपने एक दोस्त के यहाँ पड़ा रहना कुछ नाग-वार लगा और मुंशीजी वहाँ से उठकर अमीनाबाद के सूर्या होटल में पहुँच गये।

डाक्टर हरगोविन्द सहाय बुलाये गये। उसकी जाँच और उसकी जाँच का सिलसिला शुरू हुआ एक्सरे लिया गया — और अंत में निदान हुआ अल्सर और जिगर का सख्त पड़ जाना सिरोसिस आफ लिवर।

उम्मीद किसे थी ठीक होने की मर्ज बहुत आगे बढ़ चुका था तबीयत भी इलाज से उखड़ चुकी थी। तो भी कुछ तो करना ही था। और भी दो-एक डाक्टरों को दिखाया गया। किन्हीं दो लोगों की राय न मिलती थी। इलाज चल रहा था पैसा पानी की तरह बह रहा था और कमजोरी बड़े जोर से बढ़ रही थी। रुपये जो साथ लेकर आये थे वह भी चुक गये थे — और मुंशीजी ने सौ रुपये निगम साहब से मँगाये।

एक दिन का जिक्र है बेटे ने खिचड़ी पकायी। मूँग की पतली मरीजू खिचड़ी थी।

बेटे ने कहा — बाबूजी खिचड़ी तैयार हो गयी है।

बाबूजी ने कहा — ऐसे खिचड़ी क्या खायें! खिचड़ी के साथ दो पापड़ होते हरी मिर्च होती अदरक होती नींबू का अचार होता तब तो खिचड़ी खाने का कुछ आनंद भी आता!

कहानीकार गंगाप्रसाद मिश्र ने जो उस वक्त वहाँ मौजूद थे फौरन बड़े तपाक से कहा मैं अभी सब चीजें लेकर आता हूँ और लोगों के मना करते-करते भी वहाँ से भाग चले।

करीब ही झाऊलाल के पुल पर उनका मकान था और गंगाप्रसाद दौड़े चले जा रहे थे ताकि मुंशीजी को ठण्डी खिचड़ी न खानी पड़े

एक रोज मुंशीजी ने गंगा से कहा — आजकल तबीयत बड़ी सुस्त रहती है। पिकविक पेपर्स कहीं से पढ़ने को मिले तो जरा तबीयत बहले।

शाम को अपने एक दोस्त के यहाँ से वह किताब लेकर गंगाप्रसाद मुंशीजी के पास

बोले — उठो भागो।

मैं बोली — अन्दर चलिए।

वे मेरे मुँह की तरफ़ देखकर रो पड़े। ●

तीन चार रोज़ बनारस में ही इलाज हुआ। एक्सरे कराने की बात उठी तो मालूम हुआ कि नहीं हो सकता, एक ही मशीन यहाँ पर है और वह भी इस वक़्त ख़राब है।

लखनऊ जाने के शायद दो ही एक रोज़ पहले मुंशीजी ने २८ जुलाई के अपने ख़त में अख़्तर हुसैन रायपुरी को लिखा था —

● अब मेरा क़िस्सा सुनो। मैं क़रीब एक माह से बीमार हूँ। मेदे में गैस्ट्रिक अल्सर की शिकायत है। मुँह से ख़ून आ जाता है इसलिए काम कुछ नहीं करता। दवा कर रहा हूँ मगर अभी तक कोई इफ़ाक़ा नहीं। अगर बच गया तो 'बीसवीं सदी' नाम का रिसाला अपने लोगों के ख़यालात की इशाअत के लिए ज़रूर निकालूँगा। 'हंस' से तो मेरा ताल्लुक़ टूट गया। मुफ़्त की सरदर्दी। बनियों के साथ काम करके शुक्रिए की जगह यह सिला मिला कि तुमने 'हंस' में ज़्यादा रुपया सर्फ़ कर दिया। इसके लिए मैंने दिलोजान से काम किया, बिल्कुल अकेला, अपने वक़्त और मेहनत का कितना ख़ून किया, इसका किसी ने लिहाज़ न किया। मैंने 'हंस' उन लोगों को इस ख़याल से दिया था कि वह मेरे प्रेस में छपता रहेगा और मुझे उसकी जानिब से गूना बेफ़िक्री रहेगी। लेकिन अब वह दिल्ली में सस्ता साहित्य मंडल की जानिब से निकलेगा और इस तबादले से परिषद् को अंदाज़न पचास रुपये महीने की बचत हो जायगी! मैं भी ख़ुश हूँ। हम जिस लिटरेचर की इशाअत कर रहा था वह हमारा लिटरेचर नहीं है। वह तो वही मक्खियाला महाजनी लिटरेचर है जो हिन्दी ज़बान में काफ़ी है। ●

मगर ख़ैर 'हंस' के दिल्ली जाने की नौबत नहीं आयी। अगस्त में 'हंस' से ज़मानत माँगी गयी — गोविन्ददास के नाटक 'सिद्धान्त स्वातन्त्र्य' को लेकर। परिषद् ने ज़मानत भरने से इन्कार किया। मुंशीजी ने ज़मानत भर दी और अपना पत्र उनसे वापस ले लिया। लेकिन यह सब अगले महीने की बातें हैं और अभी तो मुंशीजी अपना इलाज कराने या तक़दीर आज़माने, जो भी कहिए, लखनऊ जा रहे हैं।

शरीर टूटा हुआ है, मन भी टूटा हुआ है और बचने की उम्मीद कम ही है मगर लोग कहते हैं, बार-बार कहते हैं कि लखनऊ जाओ, वहाँ बहुत बड़े-बड़े डाक्टर हैं।

और मुंशीजी लखनऊ पहुँचे — बड़ा बेटा जो इलाहाबाद में बी० ए० फ़ाइनल

में पढ़ रहा था छुट्टी लेकर घर आ गया था और मुंशीजी के साथ लखनऊ गया।

पहले मुंशीजी सीधे अपने पुराने दोस्त रूपनारायण निगम के घर पहुँचे और दो-तीन रोज़ कटरा रोड के उसी मकान में रहे जहाँ न जाने कितनी दिलचस्प शामें दोस्तों की सोहबत में गुज़री थीं।

फिर शायद उन्हें इस हालत में अपने एक दोस्त के यहाँ पड़ा रहना कुछ नागवार लगा और मुंशीजी वहाँ से उठकर अमीनाबाद के सूर्या होटल में पहुँच गये।

डाक्टर हरगोविन्द सहाय बुलाये गये। इसकी जाँच और उसकी जाँच का सिलसिला शुरू हुआ एक्सरे लिया गया — और अन्त में निदान हुआ जलोदर और जिगर का सख़्त पड़ जाना सिरोसिस आफ़ लिवर।

उम्मीद किसे भी ठीक होने की मर्ज़ बहुत आगे बढ़ चुका था तबीयत भी इलाज से उखड़ चुकी थी। तो भी कुछ तो करना ही था। और भी दो-एक डाक्टरों को दिखाया गया। किन्हीं दो लोगों की राय न मिलती थी। इलाज चल रहा था पैसा पानी की तरह बह रहा था और कमज़ोरी बड़े ज़ोर से बढ़ रही थी। रुपये जो साथ लेकर आये थे वह भी चुक गये थे — और मुंशीजी ने सौ रुपये निगम साहब से मँगाये।

एक दिन का ज़िक्र है, बेटे ने खिचड़ी पकायी। मूँग की पतली मरीज़ू खिचड़ी थी।

बेटे ने कहा — बाबूजी, खिचड़ी तैयार हो गयी है।

बाबूजी ने कहा — ऐसे खिचड़ी क्या खायें! खिचड़ी के साथ दो पापड़ होते, हरी मिर्चें होतीं, अदरक होती, नींबू का अचार होता तब तो खिचड़ी खाने का कुछ आनंद भी आता!

कहानीकार गंगाप्रसाद मिश्र ने, जो उस वक़्त वहाँ मौजूद थे, फ़ौरन बड़े उत्साह से कहा मैं अभी सब चीज़ें लेकर आता हूँ और लोगों के मना करते-करते भी वहाँ से भाग चले।

क़रीब ही झाऊलाल के पुल पर उनका मकान था और गंगाप्रसाद दौड़े चले जा रहे थे ताकि मुंशीजी को ठण्डी खिचड़ी न खानी पड़े

एक रोज़ मुंशीजी ने गंगा से कहा — आजकल तबीयत बड़ी सुस्त रहती है। पिकविक पेपर्स कहीं से पढ़ने को मिले तो ज़रा तबीयत बहले।

शाम को अपने एक दोस्त के यहाँ से वह किताब लेकर गंगाप्रसाद मुंशीजी के पास

पहुँचे तो उन्होंने बनावटी नाराजगी दिखलाते हुए कहा— आज मैं तुमसे बहुत नाराज हूँ। तुम कहानियाँ लिखते हो और आज तक तुमने यह बात मुझे नहीं बतायी !

मुंशीजी ने बहुत आग्रह किया तो गंगाप्रसाद घर जाकर अपनी महराजिन कहानी ले आये। उस दिन को याद करके वह लिखते हैं—

●कहानी में एक स्थल पर पार्टी के बीच में मनमुटाव हो जाने के कारण बहू को विदा करवाये बिना ही बरात चल दी। बरात के चले जाने पर जनवासे का चित्र कुछ ऐसा था— शामियाना उखड़ चुका था। बैलों के बाँधने के खूँटे भी उखाड़ लिये गये थे। चारों तरफ भूसे और मिट्टी दिखायी दे रही थी। जिस चौपाल में कुछ देर पहले बड़ी चहल-पहल थी वहाँ एक कोने में बैठा हुआ कुत्ता हाँफ रहा था और दूसरी ओर उधारी की फसल के बारे में बात करते हुए बुद्धू और पैना ने अपनी चिलम सुलगा ली।

मुंशीजी बड़े तकिये के सहारे अधलेटे हुए कहानी सुन रहे थे। यह टुकड़ा सुनते ही अपनी उस हालत में भी उठ बैठे और मेरी पीठ ठोंकते हुए बोले — वाह, तुमने तो मेरी कलम छीन ली ! क्या चित्र खींचा है !

कहाँ यह दिल तोड़कर दूसरे का दिल बढ़ाना और कहाँ दूसरों की सम्भ्रमता हाँ अच्छी है लेकिन ।●

आर्टिस्ट अब्दुल हकीम साहब का घर बहुत छोटा मगर दिल बहुत बड़ा था। एक दिन वह जबरन् मुंशीजी को मूर्या होटल से अपने यहाँ उठा लाये वहीं उसी गली के नुक्कड़ पर जो काटन रोड से फटती है और मारवाड़ी गली को जाती है। अब मुंशीजी को ज्यादा दिन लखनऊ नहीं रहना था मगर हकीम नहीं माने और अपने घर उठा लाये। बिल्कुल सगे भाई की तरह उनकी सेवा की कमोड तक साफ किया थूक को सुखा देते और पूरा रात रात भर जागते मगर चेहरे पर शिकन नहीं। लेकिन उससे क्या होता है।

मुंशीजी की हालत दिनोंदिन बिगड़ती जा रही थी। एक शाम गंगाप्रसाद मिलने के लिए पहुँचे तो मुंशीजी उदास लेटे थे। इधर उधर की दो-एक बातों के बाद उन्होंने शून्य की ओर ताकते हुए कहा —गंगाप्रसाद मुझे लगता है अब मैं न बचूँगा और मैं सोचता हूँ कि मरना ही है तो अपने बच्चों के बीच में जाकर क्यों न मरूँ !

हड्डी हड्डी निकल आयी थी चेहरा बिल्कुल जर्द जैसे पुराना कागज आँखें गड्ढों में धँसी हुई

पत्नी ने सहारा देकर ऊपर पहुँचाते हुए पूछा — कैसी तबीयत है ?

मुंशीजी ने घुटी हुई आवाज़ में कहा — ठीक है

ऊपर पहुँचकर बिस्तर पर लेट गये। बुरी तरह हाँफ रहे थे। थोड़ी देर बाद फँसते हुए गले से आवाज़ निकली — मैं अब नहीं बचने का। मैंने सोचा कहीं मर गया तो देख भी न पाऊँगा !

१७ अगस्त

डाक्टरों ने ज्यादा खुले हुए, ज्यादा हवादार मकान में रहने की सलाह दी। संयोग से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का विलास भवन रामकटोरा बाग खाली मिल गया जहाँ कभी उनकी भंग-बूटी छनती थी, तंबूरी के बोल बजते थे, तबले ठनकते थे, घुँघरू छनकते थे।

अगस्त की तरह बारिश थी। पानी ज़ोरों से बरस रहा था। घर का सामान ढोया जा रहा था। पंडित ने नये घर में जाने के लिए वही दिन शुभ बतलाया था।

मुंशीजी के कमरे में कुछ किताबें बिखरी पड़ी थीं। सब सामान अस्त-व्यस्त था। उन्होंने एक बार उठने की कोशिश की। पत्नी को देखा तो लेट रहे।

पत्नी ने पूछा — आप यह क्या कर रहे हैं ?

बोले — कुछ नहीं। दोनों लड़के कहाँ गये ?

पत्नी ने जवाब दिया — कहीं सामान वगैरह ठीक कर रहे होंगे।

बोले — किताबों का बण्डल क्यों नहीं बँधवा देतीं ?

और कमरे से बाहर जाते-जाते शिवरानी देवी के कान में एक मद्धिम-सी आवाज़ पड़ी — कोई ठीक करे या न करे, अपने को क्या !

थोड़ी देर बाद वह फिर उसी कमरे में आयीं। कुछ ही मिनट पहले पानी की बूँदें थमी थीं। ताँगा आ गया था।

मुंशीजी बोले — चलती क्यों नहीं तुम ? पानी में भीग जाऊँगा नहीं तो !

(जैसे बच्चे ने ठुनकते हुए माँ से कहा !)

मैं थोड़ा-सा दही और शक्कर लाकर सामने रखकर बोली — ज़रा इसे ज़बान पर रखा लीजिए।

मेरे कहने से उन्होंने ज़बान पर तो शक्कर लगाया लेकिन गुस्सा करते हुए मेरी ओर देखकर मुस्करा दिये (शिवरानी देवी)

रामकटोरा पहुँचे तो चारपाई पहले से बिछी हुई थी — उत्तर दक्खिन। मुंशीजी लेट गये तब पत्नी का ध्यान इस पर गया।

पहुँचे तो उन्होंने बनावटी नाराज़गी दिखलाते हुए कहा— आज मैं तुमसे बहुत नाराज़ हूँ। तुम कहानियाँ लिखते हो और आज तक तुमने यह बात मुझे नहीं बतायी।

मुंशीजी ने बहुत आग्रह किया तो गंगाप्रसाद घर जाकर अपनी महराजिन कहानी ले आये। उस दिन को याद करके वह लिखते हैं—

●कहानी में एक स्थल पर बारी के बीच में मनमुटाव हो जाने के कारण बहू को विदा करवाये बिना ही बरात चल दी। बरात के चले जाने पर जनवासे का चित्र कुछ ऐसा था— शामियाना उखड़ चुका था। बैलों के बाँधने के खूँटे भी उखाड़ लिये गये थे। चारों तरफ़ पत्तलें और मिट्टी दिखायी दे रही थी। जिस चौपाल में कुछ देर पहले बड़ी चहल-पहल थी वहाँ एक कोने में बैठा हुआ कुत्ता हाँफ रहा था और दूसरी ओर उधारी की फ़सल के बारे में बात करते हुए बुढ़ू और पैन्ना ने अपनी चिलम सुलगा ली।

मुंशीजी बड़े तकिये के सहारे अधलेटे हुए कहानी सुन रहे थे। यह टुकड़ा सुनते ही अपनी उस हालत में भी उठ बैठे और मेरी पीठ ठोंकते हुए बोले — वाह तुमने तो मेरी क़लम छीन ली! क्या चित्र खींचा है!

कहाँ यह दिल खोलकर दूसरे का दिल बढ़ाना और कहाँ दूसरों की शब्द हड़पता हाँ अच्छी है लेकिन ।●

आर्टिस्ट अब्दुल हकीम साहब का घर बहुत छोटा मगर दिल बहुत बड़ा था। एक दिन वह ज़बरदस्ती मुंशीजी को मुर्गा होटल से अपने यहाँ उठा लाये वहीं उसी गली के नुक्कड़ पर जो लाटूश रोड से फूटती है और मारवाड़ी गली को जाती है। अब मुंशीजी को ज़्यादा दिन लखनऊ नहीं रहना था मगर हकीम नहीं माने और अपने घर उठा लाये। बिलकुल सगे भाई की तरह उनकी सेवा की कमोड तक साफ़ किया धुन्नू को सुला देते और खुद रात-रात भर जागते मगर चेहरे पर शिकन नहीं। लेकिन उससे क्या होता है।

मुंशीजी की हालत दिनादिन बिगड़ती जा रही थी। एक शाम गंगाप्रसाद मिलने के लिए पहुँचे तो मुंशीजी उदास बैठे थे। इधर-उधर की दो-एक बातों के बाद उन्होंने शून्य की ओर ताकते हुए कहा—गंगाप्रसाद मुझे लगता है अब मैं न बचूँगा और मैं सोचता हूँ कि मरना ही है तो अपने बच्चों के बीच में जाकर क्यों न मरूँ।

हड्डी-हड्डी निकल आयी थी चेहरा बिलकुल ऐसे जैसे पुराना काग़ज़ आँखें गड्ढों में धँसी हुई

छोटे-मोटे कच्चे कुओं की भी कमी न थी। रोज सवेरे, निहार मुँह एक किसान अपने हल-बैल लेकर उसी पगडंडी से अपने उन खेतों को जाता था और दिन भर उस तपी हुई कड़ी धरती को जोतता था, घास-फूस की निराई करता था, बीज छिड़कता था — और दोपहर को सूरज जब सिर पर होता था उसकी धनिया रस-गुड़ और जौ के मोटे मोटे टिक्कड़ लेकर पहुँच जाती थी।

रोज वही पगडंडी, उन्हीं कुओं का पानी, अपने वही खेत-हार

और कभी एक भूखा-सा हास्य बिखरती आर्द्रता उसके भूखेपन में है —

●होरी ने उसकी ओर आँखें तरेरकर कहा — क्या ससुराल जाना है जो पाँचों पोशाक लायी है? ससुराल में कौन जवान साली-सलहज भी तो नहीं बैठी है जिसे जाकर दिखाऊँ?

होरी के गहरे साँवले, पिचके हुए चेहरे पर मुस्कराहट की मृदुता झलक पड़ी। धनिया ने लजाते कहा — ऐसे ही तो बड़े सजीले जवान हो कि साली-सलहजें तुम्हें देखकर रीझ जायेंगी!

होरी ने फटी हुई मिर्जई को बड़ी सावधानी से तह करके खाट पर रखते हुए कहा — तो क्या तू समझती है, मैं बूढ़ा हो गया? अभी तो चालीस भी नहीं हुए। मर्द साठे पर पाठे होते हैं।

जाकर सीसे में मुँह देखो। तुम जैसे मर्द साठे पर पाठे नहीं होते। दूध-घी अंजन लगाने तक को तो मिलता नहीं, पाठे होंगे! तुम्हारी दसा देख-देखकर तो मैं और भी सूखी जाती हूँ कि भगवान यह बुढ़ापा कैसे कटेगा। किसके द्वार भीख माँगेंगे।

होरी की वह क्षणिक मृदुता यथार्थ की इस आँच में जैसे झुलस गयी। लकड़ी सँभालता हुआ बोला — साठे तक पहुँचने की नौबत न आने पायेगी धनिया, इसके पहले ही चल देंगे।●

मन की रहस्यमयी प्रेरणा

सब को जाना है एक दिन। अमरित की गगरिया पीकर कोई नहीं आया है।

कहीं कोई अतृप्ति नहीं है, जो कुछ करना था कर चुके, कहना था कह चुके।

भारतीय महाश्मशान, दो समय करके वह सावधानी भी हो गयी या भीतर ही भीतर हहरी को जगा रही थी।

और मुंशीजी बिलकुल शान्त निर्विकार मन से रामकटोरा बाग की उस सर्दी-सी कोठरी में पड़े हुए अपने मन के आकाश में उस पुरानी महाजनी

बाली — ज़रा चारपाई को ठीक करने दीजिए।

मुंशीजी ने कहा — इससे क्या होगा जी। जो होना है वही होगा।

२५ अगस्त ढाई बजे रात

शिवरानी देवी लिखती हैं —

अगस्त महीने की २५ तारीख को दो बजे मैं जाग रही थी। उस दिन सुबह ही से चिन्तित थी। रात को आप सोये हुए थे। मैं ख़ामोश पड़ी सिर दबा रही थी। सामने घड़ी थी। बार-बार उसी पर निगाह जाती। बार-बार ईश्वर से प्रार्थना करती कि ईश्वर क्या करे।

दो या सवा दो का समय था। मुझसे बोले — रानी मुझे गर्मी मालूम हो रही है। शायद मुझे फिर ख़ून की क़ै होगी। आज २५ तारीख़ है न?

मैंने कहा — नहीं आज २४ है।

आप बोले — मुझे बड़ी गर्मी लग रही है। देखो घड़ी में ढाई तो नहीं बज रहे हैं।

इन्हीं दिनों जैनेन्द्रजी आये — प्रेमचन्द खाट पर पड़े थे। रोग बढ़ गया था। उठ-चल न सकते थे। देह पीली, पेट बढ़ा था, पर चेहरे पर शान्ति थी। मैं तब उनकी खाट के बराबर काफ़ी-काफ़ी देर तक बैठा रहा हूँ। उनके मन के भीतर कोई खीझ कोई कड़वाहट कोई मैल उस समय कसकराता मैंने नहीं देखा।

क्यों कसकराये मन में कुछ भी।

कसकराते हैं वह झूठ जो आदमी बोला, वह बेईमानियाँ जो उसने कीं, वह छोटे-बड़े अत्याचार जो उसने कभी इस कभी उस बहाने से अपने अन्तःकरण के ऊपर किये।

कसकराती हैं वह लिप्साएँ जो पूरी नहीं हुईं। यहाँ तो वह सब कुछ भी नहीं। एक ज़िन्दगी मिली थी — झीनी झीनी बीनी एक चादर, जिसे कबीरदास ने जतन से ओढ़कर ज्यों की त्यों धर दिया था।

फिर क्या है जो कसकराये?

कसकराती तो है वह रेत जिसे तुमने ज़िन्दगी के रेगिस्तानी सफ़र में धोखे से पानी समझकर पी लिया था और जो अब जुगाली करते वक़्त दाँतों के नीचे आ-आ जाती है।

यहाँ तो ज़िन्दगी सूने खेतों और चरागाहों को जानेवाली एक लंबी सीधी मेंड़री पगडंडी थी जिसके चारों तरफ़ खुले मैदान थे और रास्ते में मीठे पानी के

छोटे-मोटे कच्चे कुओं की भी कमी न थी। रोज़ सबेरे, निहार मुँह एक किसान अपने हल-बैल लेकर उसी पगडंडी से अपने उन खेतों को जाता था और दिन भर उन तपी हुई कड़ी धरती को जोतता था घास-फूस की निराई करता था बीज छिड़कता था — और दोपहर को सूरज जब सिर पर होता था उसकी धनिया रस-गुड़ और जौ के मोटे मोटे सिट्टे लेकर पहुँच जाती थी

रोज़ वही पगडंडी उन्हीं कुँओं का पानी अपने वही खेत-डार

और कभी एक गूँगा-सा हास्य जिसकी आर्द्रता उसके सूखेपन में है —

●होरी ने उसकी ओर आँख तरेरकर कहा — क्या ससुराल जाना है जो पाँचों पोशाक लायी है? ससुराल में कोई जवान साली-सलहज भी तो नहीं बैठी है जिसे जाकर दिखाऊँ।

होरी के गहरे साँवले पिचके हुए चेहरे पर मुस्कराहट की मृदुता झलक पड़ी। धनिया ने लजाते हुए कहा — ऐसे ही तो बड़े सजीले जवान हो कि साली-सलहजें तुम्हें देखकर रीझ जायेंगी!

होरी ने फटी हुई मिर्जई को बड़ी सावधानी से तह करके खाट पर रखते हुए कहा — तो क्या तू समझती है मैं बूढ़ा हो गया? अभी तो चालीस भी नहीं हुए। मर्द साठे पर पाठे होते हैं।

जाकर शीशे में मुँह देखो। तुम जैसे मर्द साठे पर पाठे नहीं होते। दूध-घी अंजन लगाने तक को तो मिलता नहीं पाठे होंगे! तुम्हारी दशा देख-देखकर तो मैं और भी सूखी जाती हूँ कि भगवान यह बुढ़ापा कैसे कटेगा। किसके द्वार भीख माँगेंगे।

होरी की वह क्षणिक मृदुता यथार्थ की इस आँच में जैसे झुलस गयी। लकड़ी सँभालता हुआ बोला — साठे तक पहुँचने की नौबत न आने पायेगी धनिया इसके पहले ही चल देंगे।●

मन की रहस्यमयी प्रेरणा

सब को जाना है एक दिन। अमरित की घरिया पीकर कोई नहीं आया है। कहीं कोई अतृप्ति नहीं है जो कुछ करना था कर चुके कहना था कह चुके। भारतीय महाजनवाद को लक्ष्य करके वह आपधापी भी हो गयी जो भीतर ही भीतर हड्डी को जला रही थी।

और मुंशीजी बिलकुल शान्त निर्विकार मन से रामकटोरा बाग की उस नन्हीं-सी कोठरी में पड़े हुए अपने मन के आकाश में उस पुरानी महाजनी

सभ्यता के सूरज का डूबना और एक नयी सभ्यता के सूरज का उगना देखते रहते हैं।

एक प्राकृतिक-सी अनिवार्यता है इसके पीछे। जो व्यवस्था समाज के प्रश्नों का उत्तर नहीं दे पाती उसका मिट जाना निश्चित है। कोई उसको बचा नहीं सकता।

महाजनी सभ्यता के पास ईर्ष्या, जोर-जबर्दस्ती, बेईमानी, झूठ, मिथ्या अभियोग-आरोप, वेश्यावृत्ति, व्यभिचार, चोरी-डाके आदि का कोई इलाज नहीं है। ये सारी बुराइयाँ दौलत की देन हैं, पैसे के प्रसाद हैं, महाजनी सभ्यता ने इनकी सृष्टि की है। वही इनको पालती है और वही यह भी चाहती है कि जो दलित पीड़ित और विजित हैं वे इसे ईश्वरीय विधान समझकर अपनी स्थिति पर सन्तुष्ट रहें

साफ बात यहाँ से वहाँ तक उनके सामने आइने की तरह साफ है। कहीं कोई दुविधा नहीं मोह नहीं संशय नहीं दुःख नहीं ताप नहीं खीज नहीं पछतावा नहीं। मन बिल्कुल पक्का है — अच्छी तपायी हुई झाँवर ईंट की तरह।

तभी एक पल उन्होंने जैनेन्द्र से कहा — जैनेन्द्र, लोग ऐसे समय ईश्वर को याद किया करते हैं। मुझे भी याद दिलायी जाती है। पर अभी तक मुझे ईश्वर को कष्ट देने की जरूरत नहीं मालूम हुई।

शब्द हौले-हौले दृढ़ता से कहे गये थे और मैं इस अत्यन्त शान्त नास्तिक सन्त की शक्ति पर विस्मित था। (जैनेन्द्रकुमार)

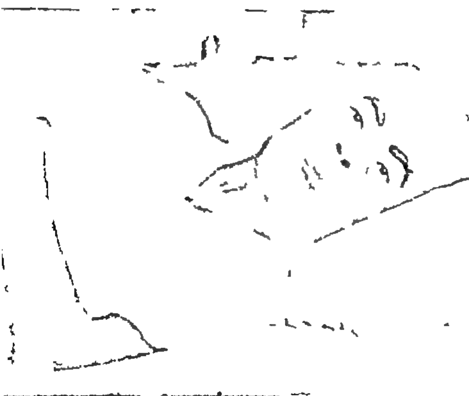
विस्मय की ऐसी कोई बात नहीं। इस नास्तिक सन्त के पास अपना एक ईश्वर है जिसका स्मरण, जिसका अभिनन्दन करते हुए वह कहता है —

मुज़्दः ऐ दिल कि मसीहा नफ़से मी आयद
कि ज़े अनफ़ास खुशश बूए कसे मी आयद।

उसका हृदय प्रसन्न है कि पीयूषपाणि मसीहा सशरीर उसकी ओर आ रहा है। उसे साँसों की साँसों से किसी की सुगंध आ रही है।

यह पीयूषपाणि मसीहा नयी सभ्यता का नया युग है, जिसके प्रति अपने हृदय की परिधि की सारी निष्ठा उँडेलते हुए मुंशीजी अपने इस वसीयतनामे में कहते हैं —

'हाँ महाजनी सभ्यता और उसके गुर्गे अपनी शक्ति भर उसका विरोध करेंगे, उसके बारे में भ्रमजनक बातों का प्रचार करेंगे, जनसाधारण को बहकायेंगे, उनकी आँखों में धूल झोंकेंगे, पर जो सत्य है, एक न एक दिन उसकी विजय होगी और अवश्य होगी।



अंतिम बीमारी

जहाँ मन में इतने गहरे विश्वास का पाथेय हो वहाँ यात्रा से फिर भय कैसा। जनम भर के यात्रा-वीर प्रेमचन्द को अपनी इस अन्तिम यात्रा से तनिक भय नहीं लग रहा है।

भय है तो उनके लिए जिन्हें छोड़कर वह जा रहे हैं। युद्ध की छाया गहरी होती जा रही है। सारे संसार के शिल्पी और विचारक उद्विग्न हैं कैसे इस विकराल दैत्य को रोकें। रोमें रोलां और बारबूस उस शान्ति-महायज्ञ के अग्निहोत्र हैं। पेरिस में संस्कृति रक्षा सम्मेलन हो रहा है। ब्रसेल्स में विश्वशान्ति सम्मेलन हो रहा है।

जवाहरलाल नेहरू ने ब्रसेल्स में हिन्द की आत्मा को वाणी दी। भारत के शिल्पी और विचारक भी पीछे नहीं रहे। उनकी ओर से एक घोषणापत्र ब्रसेल्स और पेरिस दोनों जगह भेजा गया जिस पर दूसरे कुछ लोगों के साथ-साथ रवीन्द्रनाथ ठाकुर, रामानन्द चट्टोपाध्याय, शरत्चन्द्र बसु, प्रफुल्लचंद्र राय, जवाहरलाल नेहरू और मृत्यु शैया पर लेटे हुए प्रेमचन्द के हस्ताक्षर थे।

सिडनी और बिएट्रिस वेब की किताब 'सोवियत कम्युनिज़्म' रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'रशियार चिठि' के अंग्रेज़ी अनुवाद, अंग्रेज कार्टूनिस्ट डेविड लो की 'रूसी स्केचबुक' और ऐसी ही और भी न जाने कितनी किताबों और अखबारों की ज़ब्ती का सिलसिला जो सेंसर और कस्टम्सवालों ने चला रखा था उसकी तीव्र भर्त्सना करने के बाद घोषणापत्र में कहा गया था —

●महायुद्ध की प्रेतछाया सारी पृथ्वी पर मँडरा रही है। फ़ासिस्ट तानाशाही ज्ञान के बदले शस्त्र-संग्रह करके और संस्कृति के सुयोग से बदले साम्राज्य गठन के प्रलोभन को पकड़कर अपना नैतिकवादी रूप दिखला रही है। एबिसिनिया का पतन करने के लिए इटली ने जिन सब पद्धतियों का सहारा लिया है उनसे बुद्धि और सभ्यता के प्रति विश्वासी सब लोगों को गहरा धक्का लगा है। बड़ी बड़ी साम्राज्यवादी शक्तियों की प्रतिद्वंद्विता और परस्पर विरोध संकीर्ण राष्ट्रीयतावादी मनोवृत्ति को मनचाहा बढ़ावा लड़ाई के सामानों की तेज़ वृद्धि — ये सब संकटमय परिस्थिति की पूर्व सूचना हैं। इस समय हम अपनी ओर से और अपने सभी देशवासियों की ओर से दूसरे देशों के जनसाधारण के स्वर में स्वर मिलाकर कहना चाहते हैं कि हम युद्ध से घृणा करते हैं और चाहते हैं कि युद्ध का रास्ता छोड़ा जाय युद्ध में हमारा कोई भी हित नहीं है। किसी भी साम्राज्यवादी युद्ध में भारतवर्ष के योगदान के हम घोर विरोधी हैं क्योंकि हम जानते हैं कि आगामी युद्ध में सभ्यता का विध्वंस हो जायगा।●

और कुछ ही अपनी मृत्यु की छाया मन पर नहीं है। एक रोज पंडित मन्य दुलारे बाजपेयी मिलने आये—

'अपराह्न के प्राय: चार बजे होंगे। उनकी पत्नी शिवरानी जी उनके पास आती-जाती रहती थीं। मैं उनके सिरहाने बैठा उन्हें आश्वासन दे रहा था। इसी समय हकीम साहब आ गये जो उन दिनों उनका इलाज कर रहे थे। मुझे ऐसा जान पड़ा कि प्रेमचन्द जी को अब जीवन की आशा नहीं रह गयी है लेकिन हकीम साहब से उन्होंने जिस विनोद के साथ बातचीत शुरू की उसे देखकर मुझे आश्चर्य हुआ। मैंने देखा कि हकीम जी से बातें करते करते ठहाका लगाने की स्थिति आ गयी। उन्होंने हकीम जी से कुछ इस प्रकार कहा—खाँ साहब आपकी बड़ी इनायत है अब दवा देना बन्द कर दीजिए, अंतिम घड़ी नज़दीक आ गयी है अब तो आप भी आराम कीजिए और मुझे भी आराम करने दीजिए। थोड़े दिनों के लिए इतना पचड़ा क्यों? और जब हकीम साहब अपनी दवा के गुणों का बखान करने लगे तो प्रेमचंद जी मेरी ओर देखकर ठहाका मारकर हँस पड़े

पंडित रामनरेश त्रिपाठी का भी यही अनुभव रहा—

मैं एक इच्छा लेकर गया था कि यदि उनमें चलने-फिरने की शक्ति हो तो उन्हें सुल्तानपुर ले जाता जहाँ की आबहवा उनके बहुत मुआफ़िक पड़ती। पर वह तो करवट बदलने से भी लाचार थे। मुझे देखकर वह मुस्कराये और धीरे से बोले—किनारे लग चुका हूँ पता नहीं कब नाव छोड़ दूँ।

और एक शेर जिसे जो त्रिपाठी जी सुन नहीं सके मगर जो शायद यही मर था जिसे मुंशीजी इन दिनों अक्सर गुनगुनाया करते थे—

दरो दीवार पे हसरत से नज़र करते हैं,
खुश रहो अहले वतन हम तो सफ़र करते हैं।

जीने की अब शायद उन्हें कोई उम्मीद न रह गई थी लेकिन यह बात कह कर किसी का जी दुखाने से क्या फ़ायदा। लिहाजा १८ सितम्बर को उन्होंने धीरेश्वर सिंह को एक छोटा सा खत अपने छोटे बेटे के हाथ से लिखवाया—

मैं तो अब बेहद कमज़ोर हो गया हूँ। उठ-बैठ भी नहीं सकता। लेकिन मर्ज़ घट रहा है। डाक्टर का कहना है कि पन्द्रह दिन में मर्ज़ बिल्कुल घट जायगा। फिर भी अच्छा होने में बड़ा समय लगेगा

और किसी अज्ञात प्रेरणा से अपना आशीर्वाद भी टाँक दिया जो कि धीरेश्वरसिंह कहते हैं उनके लिए एक नयी चीज़ थी।

मौत से पन्द्रह दिन पहले उन्होंने मुंशी दयानरायन निगम को तार देकर बुलाया —

सुबह को आख़िरी मुलाक़ात का समाँ उम्र भर न भूलेगा। वही प्रेमचंद जी जो अपनी सुर्ख़-सफ़ेद सूरत के लिहाज़ से हज़ारों में एक थे ऐसे पीले और कमज़ोर हो गये थे कि मुश्किल से पहचान पड़ते थे। धँसी हुई आँखें [illegible] हुए गाल काँटे की तरह सूखे हुए हाथ-पाँव देखकर आँखों के सामने अँधेरा छा गया। उनके न थमनेवाले क़हक़हे बात करने की भी मुहलत न देते थे मगर अब आँसुओं का तार बँधा हुआ था।

यह अपने जाने का ग़म न था दोस्त के बिछड़ने का दर्द था —

न उठने की ताक़त थी न बैठने की सकत। लेटे ही लेटे हाथ पकड़ लिया और गले से चिमटा लिया जैसे कोई डरा हुआ बच्चा बिलख-बिलखकर सीने से चिपटने की कोशिश करे। इतने कमज़ोर हो गये थे कि बात करने में भी थकन होती थी ताहम दम ले-लेकर आहिस्ता-आहिस्ता बातें करते ही रहे। मैंने मना करना चाहा तो कहने लगे कि दुबारा मुलाक़ात की उम्मीद नहीं वर्ना तुम्हारा कहना न टालता

इन्हीं आख़िरी दिनों में निराला जी कई बार मिलने के लिए आये और अपनी इन मुलाक़ातों के बारे में बहुत भरे हुए दिल से पहली अक्तूबर १९३६ को 'भारत' में लिखते हुए मुंशीजी की ये आख़िरी झलकियाँ पेश कीं —

●हिन्दी के युगान्तर-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ रत्न अन्तर्प्रान्तीय ख्याति के हिन्दी के प्रथम साहित्यिक प्रतिकूल परिस्थितियों से निर्भीक वीर की तरह लड़नेवाले उपन्यास-संसार के एकछत्र-सम्राट् रचना-प्रतियोगिता में विश्व के अधिक से अधिक लिखनेवाले मनीषियों के समकक्ष आदरणीय श्रीमान् प्रेमचन्दजी आज महाव्याधि से ग्रस्त होकर शय्याशायी हो रहे हैं। कितने दुख की बात है हिन्दी के जिन पत्रों में हम राजनीतिक नेताओं के मामूली बुख़ार का तापमान प्रतिदिन पढ़ते रहते हैं उनमें भी प्रेमचन्दजी की हिन्दी का महान उपकार करनेवाले प्रेमचन्दजी की अवस्था की साप्ताहिक ख़बर भी हमें पढ़ने को नहीं मिलती। दुख नहीं यह लज्जा की बात है हिन्दी-भाषियों के लिए मर जाने की बात है। उन्होंने अपने साहित्यिकों की ऐसी दशा नहीं होने दी थी कि वे हँसते हुए जीते और आशीर्वाद देते हुए मरते। इसी अभिशाप के कारण हिन्दी महारानी होकर अपनी प्रान्तीय सखियों की भी दासी है।

मैं जब बाबू राजेन्द्र प्रसाद और पं जवाहरलाल नेहरू जैसे राष्ट्र के समादृत नेताओं को देखता हूँ और साथ-साथ मुझे भी प्रेमचन्दजी की याद आती है मेरा

हृदय आनन्द और भक्ति से पूर्ण हो जाता है। मैं देखता हूँ राजनीति के सामने साहित्य का सर नहीं झुका बल्कि और ऊँचा है केवल देखनेवाले नहीं हैं। हिन्दी-भाषी मुझे अच्छी तरह जानते हैं। वे यह भी जानते होंगे मेरे कानों में डंके की आवाज कम जाती है। जिस साधना से आदमी आदमी है जिसके कारण नेता सम्मान पाते हैं मैं उसी की खोज करता हूँ। वही प्रेमचन्दजी दरिद्र प्रेमचन्दजी अपने अध्यवसाय से शिक्षा प्राप्त करनेवाले प्रेमचन्दजी साहित्य की साधना में यहाँ-वहाँ भटकते फिरनेवाले प्रेमचन्दजी फिर भी एकनिष्ठ होकर दिन पर दिन महीने पर महीने वर्ष पर वर्ष साधना करते रहनेवाले प्रेमचन्दजी बड़े बड़े बहुत बड़े हैं।

इस बार प्रायः साढ़े तीन महीने मैं बनारस रहा। प्रेमचन्दजी के सरस्वती प्रेस में मेरी गीतिका छप रही थी। प्रकाशक भारती भण्डार। एक दिन पं॰ वाचस्पति पाठक जिनका मैं अतिथि था बोले — प्रेमचन्दजी से मिल लीजिए। उस समय प्रायः आधा जून दुपहर की लू चलती थी। प्रेमचन्दजी के नाम से मैंने चलना स्वीकार कर लिया। प्रेस पहुँचकर दोमंजिले पर चढ़कर देखा प्रेमचन्दजी बैठे हैं। मैं उनके परिवार भर से परिचित था। श्रीमती शिवरानी जी भी आयीं। मैंने प्रणाम किया। फिर एक ग्लास पानी माँगा। बहुत दिनों बाद प्रेमचन्दजी को देखा था। मालूम होता था वे और दुबले हो गये हैं। उनसे कहा। उन्होंने कहा जैसा कहा करते हैं नहीं यह तो मेरी काठी है। कुछ देर तक साहित्यिक बातचीत हुई। फिर मैं विदा हुआ। उस दुर्बल देह में शक्ति और ओज पूर्ण मात्रा में थे।

कुछ दिन बीत गये। प्रेमचन्दजी के गोदान की काफी चर्चा हो रही थी। एक दिन सुना प्रसाद जी प्रेमचन्दजी से मिलने गये थे वे सख्त बीमार हैं। फिर सुना प्रेमचन्दजी एक्स रे कराने के लिए लखनऊ गये हैं। फिर मालूम हुआ वे लखनऊ से वापस आ गये हैं। एक दिन पं॰ नन्ददुलारे जी वाजपेयी के साथ उन्हें देखने गया। वे उसी कमरे में बैठे हुए थे। पर इस बार फर्श पर न थे बिछे पलँग पर बैठे हुए थे। श्रीमती शिवरानी देवी उनके लिए दवा तैयार कर रही थीं। उनकी लड़की अपने लड़कों को लेकर आ गयी थी एक ओर खड़ी थी मुझे देखकर नमस्ते किया मैं प्रेमचन्दजी की बीमारी की चिन्ता में था कुछ कहा नहीं सिर्फ हाथ उठाकर नमस्कार किया। वह खड़ी हँस रही थी। मेरी दृष्टि की सियाही उसके मुख पर पड़ी — उसके मुख पर मुझे झाईं सी दिखी। अगर बीच उसके अत्यन्त गुप्त या लड़की को गलते हुए मैंने न देखा होता उसका परिचय मालूम कर उस दरबार न हुआ होता तो पहचान न पाता कि यह लड़की है। फिर भी मैंने

प्रेमचन्दजी से पूछा। लड़की ने लड़की की सुखी आवाज़ से कहा क्या आपने मुझे पहचाना नहीं? मैंने तो आपको पहचान लिया। मैंने कहा मुझमें तो कोई परिवर्तन हुआ नहीं पर तुम पहले लड़की थीं अब माँ हो गई हो। लड़की झेंप गयी। प्रेमचन्दजी खुलकर हँसे। देवी शिवरानी जी दवा तैयार करती हुई मुस्कराईं।

प्रेमचन्दजी दुर्बल थे जलोदर का पूरा प्रकोप था फिर भी एक वीर की तरह बैठे हुए वार्तालाप करते रहे। वही ज़िन्दादिली सुननेवालों पर उसका असर पड़ता हुआ जैसे सुननेवालों को ही वे स्वास्थ्य पहुँचा रहे हों। मैं उस विजयिनी ध्वनि को तौल रहा था जिसका स्वर नीचा नहीं हुआ जो हिन्दी की महाशक्ति है और रह-रहकर दुर्बल अस्थिशेष प्रेमचन्दजी को देख रहा था। दूसरे प्रसंग पर पूछा आप लखनऊ गये थे वहाँ क्या कहा डाक्टरों ने? कुछ नहीं संतोषजनक उत्तर नहीं मिला। वहाँ कुछ नहीं ठहरने के लिए कहा पर कुछ डिसेन्ट्री की शिकायत मालूम दी परदेस देख भालवाला कोई नहीं लड़के को ले गया था कौन तीमारदारी करे, लौट आया। वाजपेयीजी से लेख आदि के लिए प्रेमचन्दजी ने कहा। कुछ देर तक बातचीत करके फिर हम लोगों ने उनसे विदा ली।

कुछ दिन और बीते। 'गीतिका' छप चुकी थी। अन्तिम दो-एक फार्म थे। मैं प्रेस गया हुआ था। प्रेमचन्दजी के बड़े लड़के मिले। प्रेस की आवश्यक बातें कहकर मैंने उनसे प्रेमचन्दजी से मिलने की इच्छा प्रकट की। उन्होंने कहा अब तो वह यहाँ नहीं रहते। मुझे उनका मुकाम बतलाया। मेरे रास्ते में ही मकान पड़ता था। मैं चला। बादल घिरे थे। चलते-चलते पानी गिरने लगा। छाता नहीं था। भीगते हुए आनन्द आने लगा। मकान के पास आकर अनिश्चय में पड़ गया कि कौन-सा मकान होगा। फाटक बतलाया था वहाँ फाटक न दिखा एक दरवाज़ा सिर्फ़ देख पड़ा। डरते हुए खोला। भीतर लम्बा मैदान देखा। किनारे से रास्ता गया था। मैदान के उस तरफ मकान था। कोई था नहीं जिससे पूछता। हिम्मत बाँधकर बढ़ा। किनारे चमेली की झाड़ कहीं-कहीं अपराजिता लिपटी हुई। दोनों खिले। चमेली के रात के खिले कोमल फूल बूँदों के थपेड़ों से व्याकुल थे। देखता हुआ एक फूल चुना। फूल घास पर रखे से थे। उठा लिया। लिये हुए उनकी दशा पर विचार करता हुआ मकान के सामने आया। दूर से दो-एक अपरिचित देवियाँ देख पड़ीं। एक जोड़ी छोटे जूते पड़े थे। सोचा ये उसी लड़की के लड़के के जूते होंगे। एक बालक चिक पकड़ी हुई देख पड़ी। उधर चला तब तक शिवरानी जी देख पड़ीं। उनसे पूछा। क्षीण स्वर से उन्होंने कहा सोये हैं आइए। मैं गया। देखा प्रेमचन्दजी अत्यन्त दुर्बल हो गये हैं।

पेट फूला हुआ है। प्रेमचन्दजी ने आँखें खोलीं मुझे देखा। बड़ी प्रसन्न

दृष्टि। मैंने प्रणाम किया। पूछा आप कैसे हैं? दोनों बाँहों की ओर दृष्टि फेरकर
उन्होंने कहा देखिए। बड़ा करुण स्वर। अत्यन्त दुर्बल बाँहें। मुझे शंका हो
चली। सिंह की मोम्मी भरपूर लग गई है। अब वह आवाज नहीं रही।
मैं चुपचाप कुर्सी पर बैठ गया। कैसे सँभलेगा? प्रेमचन्दजी बोले। उन्हें अपने
बच्चों की चिन्ता हो रही थी। मैं भरसक अपने को सँभाल रहा था। मेरे हाथ
का फूल वहीं छूटकर गिर गया।

कुछ दिन और बीते। नन्ददुलारे जी के हाथ एक गीत मैंने हंस कार्यालय
को भेज दिया। बड़ी कविता लिख रहा था वह तैयार न हुई थी फिर भेजने के
लिए कहला भेजा। नन्ददुलारे जी अपना लेख लेकर आनेवाले थे प्रेमचन्दजी को
देखने के उद्देश्य से। इसके कुछ दिन बा' वाचस्पति जी पाठक और पद्मनारायण
जी आचार्य के साथ काशी छोड़ने से पहले प्रेमचन्दजी के दर्शनों के लिए चला।
पद्मनारायण जी गीता धर्म के संपादक हैं अभी तक प्रेमचन्दजी से व्यक्तिगत
रूप से परिचित नहीं हो सके। मैथिली-मान के लिए उनकी कुछ आशा है।
हम लोग एक्के से चले। रास्ते भर गुप्तजी के अभिनन्दन की बात होती रही।
मुझ बार-बार प्रेमचन्दजी की याद आती रही। गुप्तजी को आदर की दृष्टि से देखता
हूँ उसके अनेक प्रमाण दे चुका हूँ सोच रहा था प्रेमचन्दजी को न तो मंगलाप्रसाद
पारितोषिक मिला न कोई अभिनन्दन। वे हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति
भी नहीं चुने गये। मन ने कहा — तुम्हारे लिए भी यही फैसला है जिसने जैसा
दिया वैसा पाया। मैंने कहा मैं इसी तरह गुजरूँगा। अगर कुछ काम कर सका
तो नाम-धाम मुझे नहीं चाहिए।

अब तक प्रेमचन्दजी का मकान आ गया। हम लोग एक्के से उतरकर भीतर
चले। मकान के सामने पहुँचे तो दो नवागन्तुक बैठे हुए देख पड़े। पर ऐसे बैठे
थे जैसे घर के आदमी हों। मैंने सोचा ये सम्पादक होंगे या रिश्तेदार। साथियों
के साथ भीतर गया। सन्नाटा था। बड़ी धीमी आवाज में एक आगन्तुक ने कहा
बैठिये। मैं चप्पल उतारकर चारपाई पर बैठ गया। इधर उधर देखा पहचान
का कोई न देख पड़ा। तब उन्हीं महाशय से कहा हम लोग प्रेमचन्दजी को देखने
के लिए आये हैं। नवागन्तुक ने मेरा नाम पूछा। मैंने अपना नाम बतलाया।
इस समय देवी शिवरानीजी बाहर आयीं। प्रेमचन्दजी वहीं चारपाई पर थे।
रस्सी बाँधकर पर्दा कर दिया गया था। पर्दा हटाने लगीं। मैं प्रेमचन्दजी के
सामनेवाली चारपाई की ओर बढ़ा तो आगन्तुक महोदय ने कहा ज्यादा बातचीत
मना है। मैं अपने स्तर पर नमस्कार कर गया। बगते ही मेरे होश उड़ गये।
प्रेमचन्दजी ने हाथ जोड़कर कहा — अब तो अन्तिम विदा है। ●

लेख समाप्त करते हुए निरालाजी ने अपने ईश्वर से प्रार्थना की—हे ईश्वर! केवल दस वर्ष!

लेकिन दस वर्ष की कौन कहे दस दिन की भी मंजूरी वहाँ से नहीं मिली और वह आँखें हमेशा के लिए मुँद गयीं जिनके बारे में निरालाजी ने कभी अपने घर की बैसवाड़ी बोली में कहा था—आँखि कानो के पास आय तो नहि के पास आय!

मौत से पहली रात की बात है—

●मैं उनकी खटिया के बराबर बैठा था। सवेरे सात बजे उन्हें इस दुनिया पर आँख मींच लेनी थी। उसी सवेरे तीन बजे मुझसे बातें होती थीं। चारों ओर सन्नाटा था। कमरा छोटा और अँधेरा था। सब सोये पड़े थे। शब्द उनके मुँह से फुसफुसाहट में निकलकर खो जाते थे। उन्हें कान से अधिक मन से सुनना पड़ता था।

तभी उन्होंने अपना दाहिना हाथ मेरे सामने कर दिया। बोले—दाब दो।

हाथ पीला क्या सफ़ेद था और फूला हुआ था। मैं दबाने लगा

इतने में प्रेमचन्दजी बोले—जैनेन्द्र!

बोलकर चुप मुझे देखते रहे। मैंने उनके हाथ को अपने दोनों हाथों में दबाया। उनको देखते हुए कहा—आप कुछ फ़िक्र न कीजिए बाबूजी। आप अब अच्छे हुए। और काम के लिए हम सब लोग हैं ही।

वह मुझे देखते रहे देखते रहे। फिर बोले—आदर्श से काम नहीं चलेगा

मैंने कहना चाहा—आदर्श

बोले—बहस न करो   कहकर करवट लेकर आँखें मींच लीं।

थोड़ी देर में बोले—गर्मी बहुत है, पंखा करो।

मैं पंखा करने लगा। उन्हें नींद न आती थी तकलीफ़ बेहद थी। पर कराहते न थे चुपचाप आँखें खोलकर पड़े थे।

दस-पन्द्रह मिनट बाद बोले—जाओ सोओ। ●

और पत्नी से कहा—रानी तुम मेरे पास से कहीं मत जाया करो। तुम पास बैठी रहती हो तो मुझे ढाढ़स रहता है। कल तुमने आम की चटनी जो खिला दी थी वह मुझे नहीं पची। तुम ऐसी चीज़ें मुझे क्यों खिलाती हो?

पत्नी ने कहा—डाक्टर की राय से मैंने वह चीज़ आपको खिलायी है। डाक्टर की राय मानूँ कि आपकी?

मुंशीजी ने हँसकर कहा—डाक्टर को तो तकलीफ़ नहीं है तकलीफ़ तो मुझे है!

पत्नी ने कहा — उससे आपको कुछ नुकसान हुआ क्या ?

मुंशीजी बोले — देखा नहीं तुमने कितनी ज़ोर का दस्त मुझे हुआ था।

पत्नी ने कहा — इससे फ़ायदा ही है, सब पानी निकल जायगा।

मुंशीजी ने कहा — पानी के साथ सब कुछ निकला जा रहा है रानी !

आठ अक्टूबर। सुबह हुई। जाड़े की सुबह। सात-साढ़े सात का वक्त होगा।

मुँह धुलाने के लिए शिवरानी गरम पानी लेकर आयीं। मुंशीजी ने दाँत माँजने के लिए खरिया मिट्टी मुँह में ली दो-एक बार मुँह चलाया और दाँत बैठ गये। कुल्ला करने के लिए इशारा किया पर मुँह नहीं फैल सका। पत्नी ने उनको ज़ोर लगाते देखा कुछ कहने के लिए

पाँव तले ज़मीन खिसक गई। कान में कोई कुछ कह गया।

घबराकर बोलीं — कुल्ला भी नहीं कीजिएगा क्या ?

वहाँ तो उल्टी साँस चल रही थी।

नवाब ने बेबस आँखों से रानी को देखा और दम उखड़ते-उखड़ते रुकती अटकती कुएँ के भीतर से आती हुई-सी भारी गूँजती आवाज़ में डूबते आदमी की तरह पुकारा — रानी

रानी लपकीं — कि शायद मेरे हाथ से कुल्ला करना चाहते हैं। रामकिशोर ने बीच में ही पकड़ लिया — बहन अब वहाँ क्या रखा है।

सबको खबर पहुँची। बिरादरीवाले जुटने लगे।

अर्थी बनी। ग्यारह बजते-बजते बीस-पचीस लोग किसी गुमनाम आदमी की लाश लेकर मणिकर्णिका की ओर चले।

रास्ते में एक राह चलते ने दूसरे से पूछा — के रहल ?

दूसरे ने जवाब दिया — कोई मास्टर था।

उधर, बाम्पुर में रवीन्द्रनाथ ने धीमे से कहा — एक रतन मिला था तुमको तुमने खो दिया।

परिशिष्ट १

उपन्यासों का काल-निर्देश

असरारे मआबिद उर्दू देवस्थान-रहस्य	८ अक्तूबर १९ ३ से १ फ़र्वरी १९ ५ तक बनारस के उर्दू साप्ताहिक 'आवाजए खल्क' में क्रमशः प्रकाशित।
हम ख़ुर्मा व हम सवाब	दो संस्करण हुए। पहला संस्करण बाबू महादेव प्रसाद वर्मा के यहाँ से और दूसरा नवलकिशोर प्रेस से प्रकाशित हुआ। प्रकाशन की तिथि किसी पर नहीं है। इम्तयाज़ अली ताज' के नाम २९ जनवरी १९२१ के अपने खत में प्रेमचंद ने इसको १९ की तसनीफ़ कहा है। कहना मुश्किल है पर हो सकता है कि यह क़िस्सा लिखा इससे ही पहले गया हो पर इसका प्रकाशन १९ ६ में ही मानना संगत जान पड़ता है। इस अनुमान का आधार यह है कि इसका पहला विज्ञापन सितंबर १९ ६ के 'ज़माना' में मिलता है और फिर बराबर मिलता है।
प्रेमा	'हम ख़ुर्मा व हमसवाब' का हिन्दी रूपान्तर। जैसा कि उपलब्ध पुस्तक से स्पष्ट है उसका प्रकाशन १९ ७ में इण्डियन प्रेस से हुआ। दयानरायन निगम के नाम १७ जुलाई १९२९ के अपने ख़त में प्रेमचंद ने लिखा है— '१९ ४ में एक हिन्दी नाविल प्रेमा लिखकर इण्डियन प्रेस से छापा कराया। अब इस बात का यही आशय लेना ठीक होगा कि यह उपन्यास लिखा गया १९ ४ में पर छपा १९ ७ में जिसके बारे में अब कोई संदेह नहीं।
कृष्णा	संभवतः १९ ७ में बनारस मेडिकल हाल प्रेस से प्रकाशित हुआ। इस अनुमान का आधार इतना ही है कि उसकी

समालोचना अक्तूबर-नवंबर १९ ७ के 'ज़माना' में निकली। 'ज़माना' के साथ प्रेमचन्द के गहरे आत्मीय संबंधों को देखते हुए, पुस्तक के प्रकाशन का समय उसके आसपास मानना बहुत असंगत न होगा।

रूठी रानी — अप्रैल १९ ७ से अगस्त १९ ७ तक 'ज़माना' में क्रमशः प्रकाशित।

जलवए ईसार — १९१२ में इण्डियन प्रेस इलाहाबाद से प्रकाशित।

सेवासदन (बाज़ारे हुस्न) — लिखा पहले उर्दू में गया छपा पहले हिन्दी में। दयानारायन निगम के नाम पत्रों के आधार पर मूल उर्दू पाण्डुलिपि का लेखन-काल जनवरी १९१७ से जनवरी १९१८ तक ठहरता है। कुछ ही समय बाद उसका हिन्दीकरण हुआ और 'सेवासदन' को प्रेस में देने के लिए प्रेमचंद ११ जून १९१८ को कलकत्ता गये।

पुस्तक का प्रकाशन १९१९ के मध्य में किसी महीने हुआ। उसकी पहली समालोचनाओं में पंडित पद्मसिंह शर्मा और श्री रामदास गौड़ की लिखी हुई समालोचना है जो दोनों के हस्ताक्षर से ८ सितंबर १९१९ के 'स्वदेश' में निकली।

प्रेमाश्रम (गोशाए आफ़ियत) — लिखा पहले उर्दू में गया छपा पहले हिन्दी में। मूल उर्दू पाण्डुलिपि का लेखन-काल २ मई १९१८ से २५ फ़र्वरी १९२० तक है जो कि पाण्डुलिपि पर ही अंकित है। प्रकाशन १९२१ के पूर्वार्द्ध में हुआ। लेखक ने शुरू में इसके दो नाम सोचे थे—'नाकाम' और 'नेकनाम'।

वरदान — 'जलवए ईसार' का हिन्दी रूपान्तर। इसका प्रकाशन उर्दू संस्करण के लगभग नौ बरस बाद १९२१ में ग्रंथ भण्डार, बंबई से हुआ। लेखक की ओर से प्रकाशक को दिये गये अधिकार-पत्र पर १८ अक्तूबर १९२ की तिथि अंकित है। मई १९२१ में प्रकाशित एक पुस्तक के पीछे छपा विज्ञापन भी मिलता है।

रंगभूमि (चौगाने हस्ती)

लिखा पहले उर्दू में गया छपा पहले हिन्दी में। मूल उर्दू पाण्डुलिपि का लेखन-काल—१ अक्तूबर १९२२ से १ अप्रैल १९२४ तक जो कि पाण्डुलिपि पर ही अंकित है। इसी पाण्डुलिपि पर मुंशी जी के अपने अक्षरों में यह भी टँका हुआ है—

Hindi finished dated August 12 1924

पुस्तक के प्रथम संस्करण पर बसंत पंचमी १९८१ छपा है लेकिन शिवपूजन सहाय के नाम चिट्ठी से प्रकट है कि पुस्तक शुरू जनवरी १९२५ में ही निकल गयी थी।

कायाकल्प (पर्दए मजाज)

मूल पाण्डुलिपि हिन्दी में। उसको देखने से पता चलता है कि आरंभ में पुस्तक के तीन नाम रखे गये थे—असाध्य साधना माया स्वप्न आर्तनाद। इसका लेखन १ अप्रैल १९२४ को शुरू हुआ। यह तिथि पाण्डुलिपि के प्रथम पृष्ठ पर ही अंकित है। प्रकाशन १९२६ मे हुआ।

अहंकार

अनातोल फ्रांस के 'थायस' का भारतीय परिवेश मे रूपान्तर। रूपान्तर और प्रकाशन का काम साथ-साथ चलता रहा। 'कायाकल्प' के साथ ही १९२६ में सरस्वती प्रेस से प्रकाशित।

निर्मला

नवम्बर १९२५ से नवम्बर १९२६ तक 'चाँद' में क्रमशः प्रकाशित।

प्रतिज्ञा (प्रेमा)

जनवरी १९२७ से नवंबर १९२७ तक 'चाँद' में क्रमशः प्रकाशित। 'प्रेमा' के ही कथानक को लेखक ने फिर से उठाया पर कथा के विकास में महत्वपूर्ण अंतर आ गया।

गबन

१९३१ के आरंभ में सरस्वती प्रेस से प्रकाशित।

कर्मभूमि (मैदाने अमल)	पाण्डुलिपि के उपलब्ध अंश के आधार पर इसका लेखन १६ अप्रैल १९३१ को आरंभ हुआ। प्रकाशन अगस्त १९३२ में हुआ।
गोदान (गऊदान)	पत्रों के आधार पर इसका लिखना १९३२ में ही शुरू हो गया था पर 'हंस' और 'जागरण' की अनेक कठिनाइयों और बाद को साल भर के बम्बई-प्रवास के कारण इसकी गति बहुत धीमी रही। पुस्तक का प्रकाशन जून १९३६ में हुआ।
मंगलसूत्र	अपूर्ण उपन्यास जो अधिकतर अंतिम बीमारी के दिनों में लिखा गया। प्रकाशन लेखक के देहान्त के अनेक वर्ष बाद १९४८ में हुआ।

परिशिष्ट २

कहानियों का काल-निर्णय

क्रम	नाम कहानी	कहाँ प्रकाशित	कब प्रकाशित
१	अंधेर	ज़माना	जुलाई १९१३
२	अग्निसमाधि	विशालभारत	जनवरी १९२८
३	अधिकार-चिन्ता	माधुरी	अगस्त १९२२
४	अनाथ लड़की	ज़माना	जून १९१४
५	अपनी करनी	ज़माना	अक्तूबर १९१४
६	अभिलाषा	माधुरी	अक्तूबर १९२८
७	अमावस की रात	ज़माना	अप्रैल १९१३
८	अमृत	उर्दू प्रेमपचीसी	१९१४ से पूर्व
९	अलग्योझा	माधुरी	अक्तूबर १९२९
१	आखिरी तोहफ़ा	चंदन	अगस्त १९३१
११	आख़िरी मंज़िल	ज़माना	सितंबर १९११
१२	आखिरी हीला	हंस	अप्रैल १९३१
१३	आगा-पीछा	माधुरी	दिसंबर १९२८
१४	आत्म-संगीत	माधुरी	अगस्त १९२७
१५	आत्माराम	ज़माना	जनवरी १९२
१६	आदर्श विरोध		जुलाई १९२१
१७	आपबीती	माधुरी	जुलाई १९२३
१८	आभूषण	माधुरी	अगस्त १९२३
१९	आल्हा	ज़माना	जनवरी १९१२
२	आहुति	हंस	नवंबर १९३
२१	इज़्ज़त का ख़ून		अप्रैल १९२
२२	इस्तीफ़ा	भारतेन्दु	दिसंबर १९२८
२३	ईदगाह	चाँद	अगस्त १९३३

कर्मभूमि (मैदाने अमल) — पाण्डुलिपि के उपलब्ध अंश के आधार पर इसका लेखन १६ अप्रैल १९३१ को आरंभ हुआ। प्रकाशन अगस्त १९३२ में हुआ।

गोदान (गऊदान) — पत्रों के आधार पर इसका लिखना १९३२ में ही शुरू हो गया था पर 'हंस' और 'जागरण' की अनेक कठिनाइयों और बाद को साल भर के बंबई-प्रवास के कारण इसकी गति बहुत धीमी रही। पुस्तक का प्रकाशन जून १९३६ में हुआ।

मंगलसूत्र — अपूर्ण उपन्यास जो अधिकतर अंतिम बीमारी के दिनों में लिखा गया। प्रकाशन लेखक के देहान्त के अनेक वर्ष बाद १९४८ में हुआ।

परिशिष्ट २

कहानियों का काल-निर्देश

क्रम	नाम कहानी	कहाँ प्रकाशित	कब प्रकाशित
१	अंधेर	ज़माना	जुलाई १९१३
२	अग्निसमाधि	विशालभारत	जनवरी १९२८
३	अधिकार-चिन्ता	माधुरी	अगस्त १९२२
४	अनाथ लड़की	ज़माना	जून १९१४
५	अपनी करनी	ज़माना	अक्तूबर १९१४
६	अभिलाषा	माधुरी	अक्तूबर १९२८
७	अमावस की रात	ज़माना	अप्रैल १९१३
८	अमृत	उर्दू प्रेमपचीसी	१९१४ से पूर्व
९	अलग्योझा	माधुरी	अक्तूबर १९२९
१	आखिरी तोहफा	चाँद	अगस्त १९३१
११	आखिरी मंज़िल	ज़माना	सितंबर १९११
१२	आखिरी हीला	हंस	अप्रैल १९३३
१३	आगा-पीछा	माधुरी	दिसंबर १९२८
१४	आत्म-संगीत	माधुरी	अगस्त १९२७
१५	आत्माराम	ज़माना	जनवरी १९२
१६	आदर्श विरोध		जुलाई १९२१
१७	आपबीती	माधुरी	जुलाई १९२३
१८	आभूषण	माधुरी	अगस्त १९२३
१९	आल्हा	ज़माना	जनवरी १९१२
२	आहुति	हंस	नवंबर १९३
२१	इज्ज़त का खून		अप्रैल १९२०
२२	इस्तीफ़ा	भारतेन्दु	दिसंबर १९२८
२३	ईदगाह	चाँद	अगस्त १९३३

क्रम	नाम कहानी	कहाँ प्रकाशित	कब प्रकाशित
२४	ईश्वरीय न्याय	सरस्वती	जुलाई १९१७
२५	उद्धार	चाँद	सितंबर १९२४
२६	उन्माद	माधुरी	जनवरी १९३१
२७	उपदेश	ज़माना	मई १९१७
२८	ऐक्ट्रेस	माधुरी	अक्तूबर १९२७
२९	क्षमा	माधुरी	जून १९२४
३०	कज़ाकी	माधुरी	अप्रैल १९२६
३१	कप्तान साहब	ज़माना	दिसंबर १ १७
३२	कफ़न	जामिया	१९३६
३३	कर्मों का फल	उर्दू प्रेमपचीसी	१९१४ से पूर्व
३४	कवच	विशालभारत	दिसंबर १९२९
३५	कानूनी कुमार	माधुरी	अगस्त १९२९
३६	कामना-तरु	माधुरी	अप्रैल १९२७
३७	कायर	विशालभारत	जनवरी १९३३
३८	कुत्सा	जागरण	जुलाई १९३२
३९	कुसुम	चाँद	अक्तूबर १९३२
४०	कैदी	हंस	जुलाई १९३३
४१	कौशल	चाँद	अगस्त १९२३
४२	क्रिकेट मैच	ज़माना	जुलाई १९३७
४३	खुचड़	माधुरी	फ़र्वरी १९२९
४४	गुसाईं फ़ौजदार	चाँद	नवम्बर १९३४
४५	गुल मफ़र	ज़माना	जुलाई १९१४
४६	ग़रीब की हाय	ज़माना	अक्तूबर १९११
४७	गिला	हंस	अप्रैल १९३२
४८	गुल्ली डंडा	हंस	फ़र्वरी १९२९
४९	गैरत की कटार	ज़माना	जुलाई १९१५
५०	गृहदाह		जून १९२३
५१	गृहनीति	चाँद	अगस्त १९३५
५२	घमंड का पुतला	ज़माना	अगस्त १९१६

क्रम	नाम कहानी	कहाँ प्रकाशित	कब प्रकाशित
५३	घरजमाई	माधुरी	नवंबर १९२९
५४	घासवाली	माधुरी	दिसंबर १९२९
५५	चकमा		नवंबर १९२२
५६	चमत्कार	माधुरी	मार्च १९३२
५७	चोरी	माधुरी	सितंबर १९२५
५८	जादू	हंस	मई १९३४
५९	जीवन का शाप	हंस	जून १९३५
६	जुगनू की चमक	ज़माना	अक्तूबर १९१६
६१	जुलूस	हंस	मार्च १९३
६२	जेल	हंस	फर्वरी १९३१
६३	ज्योति	चाँद	मई १९३३
६४	ज्वालामुखी	ज़माना	मार्च १९१७
६५	झाँकी	जागरण	अगस्त १९३२
६६	ठाकुर का कुआँ	जागरण	अगस्त १९३२
६७	डामुल का क़ैदी	हंस	नवंबर १९३२
६८	डिक्री के रुपये	माधुरी	जनवरी १९२५
६९	डिमांस्ट्रेशन	प्रेमा	अप्रैल १९३१
७	ढपोरसंख	हंस	मार्च १९३१
७१	ताँगेवाले की बड़	ज़माना	सितंबर १९२६
७२	तावान	हंस	सितंबर १९३१
७३	त्रिया चरित्तर	ज़माना	जनवरी १९१३
७४	तेंतर	चाँद	दिसंबर १९२४
७५	त्यागी का प्रेम	मर्यादा	नवंबर १९२१
७६	दण्ड	चाँद	अक्तूबर १९२५
७७	दफ़्तरी	कहकशाँ	जनवरी १९२
७८	दारोग़ा जी	माधुरी	अगस्त १९२८
७९	दिल की रानी	चाँद	नवंबर १९३३
८	दीक्षा	माधुरी	सितंबर १९२४
८१	दुनिया का सबसे अनमोल रतन	ज़माना	१९ ७

क्रम	नाम कहानी	कहाँ प्रकाशित	कब प्रकाशित
८२	दुर्गा का मन्दिर	सरस्वती	दिसंबर १९१७
८३	दूध का दाम	हंस	जुलाई १९३४
८४	दूसरी शादी	चंदन	सितंबर १९३१
८५	देवी	चाँद	अप्रैल १९३५
८६	दो क़ब्रें	माया	जनवरी १९३
८७	दो बहनें	माधुरी	अगस्त १९३६
८८	दो बैलों की कथा	हंस	अक्तूबर १९३१
८९	दो भाई	ज़माना	जनवरी १९१६
९०	दो सखियाँ	माधुरी	मई १९२८
९१	धर्मसंकट	ज़माना	मई १९१३
९२	धिक्कार १	माधुरी	फ़रवरी १९३
९३	धिक्कार २	चाँद	फ़रवरी १९२५
९४	धोखा	ज़माना	नवंबर १९१६
९५	नबी का नीति-निर्वाह	सरस्वती	मार्च १९२४
९६	नमक का दारोग़ा	उर्दू प्रेमपचीसी	१९१४ से पूर्व
९७	नरक का मार्ग	चाँद	मार्च १९२५
९८	नशा	चाँद	फ़रवरी १९३४
९९	नसीहतों का दफ़्तर	ज़माना	जून १९१२
१००	निमंत्रण	सरस्वती	नवंबर १९२६
१०१	निर्वासन	चाँद	जून १९२४
१०२	नेउर	हंस	जनवरी १९३३
१०३	नेकी	उर्दू प्रेमपचीसी	१९१४ से पूर्व
१०४	नैराश्य	चाँद	जुलाई १९२४
१०५	नैराश्य-लीला	चाँद	अप्रैल १९२३
१०६	न्याय	माधुरी	मार्च १९२६
१०७	पंच परमेश्वर	सरस्वती	जून १९१६
१०८	पंडित मोटेराम की डायरी	जागरण	जुलाई १९३४
१०९	पछतावा	ज़माना	नवंबर १९१४
११०	पत्नी से पति	माधुरी	अप्रैल १ ३

क्रम	नाम कहानी	कहाँ प्रकाशित	कब प्रकाशित
१११	पर्वत-यात्रा	माधुरी	अप्रैल १९२९
११२	परीक्षा	चाँद	जनवरी १९२३
११३	पशु से मनुष्य	—	फ़रवरी १९२
११४	पाप का अग्निकुंड	ज़माना	मार्च १९१
११५	पिसनहारी का कुआँ	माधुरी	जून १९२८
११६	पुत्र प्रेम	सरस्वती	जून १९२
११७	पूर्व-संस्कार	माधुरी	दिसंबर १९२२
११८	पूस की रात	माधुरी	मई १९३
११९	पैपुजी	माधुरी	अक्तूबर १९३५
१२	प्रायश्चित्त	सरस्वती	जनवरी १९२९
१२१	प्रारब्ध	—	अक्तूबर १९२१
१२२	प्रेम का उदय	हंस	जून १९३३
१२३	प्रेमसूत्र	सरस्वती	अप्रैल १९२६
१२४	प्रेरणा	विशालभारत	मई १९३३
१२५	प्रवेह	ज़माना	अप्रैल १९१८
१२६	फ़ातिहा	विशालभारत	मार्च १९२९
१२७	बड़े घर की बेटी	ज़माना	दिसंबर १९१०
१२८	बड़े बाबू	बहारिस्तान	फ़रवरी १९२७
१२९	बड़े भाई साहब	हंस	नवंबर १९३४
१३	बलिदान	सरस्वती	मई १९१८
१३१	बहिष्कार	चाँद	दिसंबर १९२६
१३२	बाँका ज़मींदार	ज़माना	अक्तूबर १९१३
१३३	बाउल	हंस	अप्रैल १९३३
१३४	बासी भात में खुदा का साझा	हंस	अक्तूबर १९३४
१३५	बूढ़ी काकी	—	१९२१
१३६	बेटोंवाली विधवा	चाँद	नवंबर १९३२
१३७	बेटी का धन	ज़माना	नवंबर १९१५
१३८	बोहनी	भारत	१९२८
१३९	बौड़म		अप्रैल १९२३

क्रम	नाम कहानी	कहाँ प्रकाशित	कब प्रकाशित
१४	भाग्य का स्वीम	—	मई १९२०
१४१	भाड़े का टट्टू	माधुरी	जुलाई १९२५
१४२	भूत	माधुरी	अगस्त १९२४
१४३	मन्दिर	चाँद	मई १९२७
१४४	मन्दिर और मसजिद	माधुरी	अप्रैल १ २५
१४५	मनुष्य का परम धर्म	स्वदेश	मार्च १९२०
१४६	मनोवृत्ति	हंस	मार्च १ ३४
१४७	मंत्र १	माधुरी	फर्वरी १९२६
१४८	मंत्र २	विशालभारत	मार्च १९२८
१४९	ममता	ज़माना	फ़र्वरी १९१२
१५	मर्यादा की वेदी	ज़माना	जनवरी १९१७
१५१	महातीर्थ	ज़माना	सितम्बर १९१७
१५२	माँ	माधुरी	जुलाई १९२९
१५३	माँगे की घड़ी	माधुरी	जुलाई १९२७
१५४	माता का हृदय	चाँद	जुलाई १९२५
१५५	मिलाप	ज़माना	जून १९१३
१५६	मुक्तिधन	माधुरी	मई १९२४
१५७	मुक्तिमार्ग	माधुरी	अप्रैल १९२४
१५८	मुफ्त का यश	हंस	अगस्त १ ३४
१५९	मूठ	मर्यादा	जनवरी १९२२
१६	मैकू	हंस	जून १९३
१६१	मोटेराम शास्त्री	माधुरी	जनवरी १ २८
१६२	मृत्यु के पीछे	सुबहे उम्मीद	सितंबर १९२०
१६३	रसिक सम्पादक	जागरण	मार्च १९३३
१६४	रहस्य	हंस	सितंबर १९३६
१६५	राजा हरदौल	ज़माना	अप्रैल १९११
१६६	राज्य भक्त	माधुरी	फ़रवरी १०२३
१६७	राजहठ	ज़माना	सितंबर १ १२
१६८	रानी सारंधा	ज़माना	सितंबर १ १०

क्रम	नाम कहानी	कहाँ प्रकाशित	कब प्रकाशित
१६९	रामलीला	माधुरी	अक्तूबर १९२६
१७०	रियासत का दीवान	हंस	मई १९३४
१७१	लांछन १	माधुरी	अगस्त १ २६
१७२	लांछन २	माधुरी	फरवरी १९३३
१७३	लाग-डाट	—	जुलाई १९२१
१७४	लाटरी	हंस	अक्तूबर १९३५
१७५	लाल फीता	ज़माना	जुलाई १९२१
१७६	लेखक	हंस	नवम्बर १ ३१
१७७	लैला	सरस्वती	जनवरी १९२६
१७८	वज्रपात	माधुरी	मार्च १९२४
१७९	वफ़ा का खंजर	ज़माना	नवम्बर १९१८
१८०	विक्रमादित्य का तेगा	ज़माना	जनवरी १ ११
१८१	विचित्र होली	स्वदेश	मार्च १९२१
१८२	विद्रोही	माधुरी	नवम्बर १९२८
१८३	विनोद	माधुरी	नवम्बर १९२४
१८४	विमाता	—	अप्रैल १९२१
१८५	विश्वास	चाँद	अप्रैल १९२५
१८६	विषम समस्या	ज़माना	मार्च १९२१
१८७	विस्मृति	ज़माना	फ़रवरी १९१५
१८८	वेश्या	चाँद	फरवरी १९३३
१८९	शतरंज के खिलाड़ी	माधुरी	अक्तूबर १९२४
१९०	शराब की दुकान	हंस	मई १९
१९१	शादी की वजह	ज़माना	मार्च १९२७
१९२	शान्ति १	प्रभावती	१९२१ से पूर्व
१९३	शान्ति २	माधुरी	फ़रवरी १९३४
१९४	शाप (सैरे दरवेश)	हंस	अगस्त १९३१
१९५	शिकार	ज़माना	जून १९१०
१९६	शिकारी राजकुमार	ज़माना	अगस्त १९१४
१९७	शेख मखमूर	सोज़ेवतन	१९ १ से पूर्व

क्रम	नाम कहानी	कहाँ प्रकाशित	कब प्रकाशित
१९८	धुआ	चाँद	जनवरी १९२६
१९९	धोक का पुरस्कार	सोजे वतन	१९ ९ से पूर्व
२	सज्जनता का दण्ड	सरस्वती	मार्च १९१६
२ १	सती	माधुरी	मार्च १९२७
१०२	सत्याग्रह	माधुरी	दिसंबर १९२३
२ ३	सद्गति	मानसरोवर	अक्तूबर १९३१
२ ४	सभ्यता का रहस्य	माधुरी	मार्च १९२५
२ ५	समर यात्रा	हंस	अप्रैल १९३
२०६	सवा सेर गेहूँ	चाँद	नवंबर १९२४
२०७	सांसारिक प्रेम और देशप्रेम	जमाना	अप्रैल १९ ८
२ ८	सिर्फ एक आवाज	जमाना	दिसंबर १९१३
२०९	सुजान भगत	माधुरी	मई १९२७
२१	सुभागी	माधुरी	मार्च १९३०
२११	सुहाग का शव	माधुरी	जुलाई १९२८
२१२	सेवामार्ग	स्वदेश	फर्वरी १९१९
२१३	सैलानी बंदर	माधुरी	फर्वरी १९२४
२१४	सौत १	सरस्वती	दिसंबर १९१५
२१५	सौत २	विशालभारत	दिसंबर १९३१
२१६	सौभाग्य के कोड़े	—	जून १९२४
२१७	स्मृति का पुजारी	हंस	अप्रैल १९३५
२१८	स्वत्व-रक्षा	माधुरी	जुलाई १९२२
२१९	स्वर्ग की देवी	—	सितंबर १९२५
२२	स्वामिनी	विशालभारत	सितंबर १९३१
२२१	हजरत अली	प्रभा	जुलाई १९२३
२२२	हार की जीत	मर्यादा	मई १९२२
२२३	हिंसा परमोधर्म	माधुरी	दिसंबर १९२६
२२४	होली का उपहार	माधुरी	अप्रैल १९३१

अनुक्रमणिका